तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. **Reg: No. N 352.**

सूचना—पाठकोंके आग्रहानुसार जैनजगत परिवर्तितरूपमें प्रकट होरहा है। पाठक देखेंगे कि इस परिवर्तनसे पन्नों की पृष्ठवृद्धिके साथ साथ उसकी सुंदरता आदिमें भी वृद्धि हुई है। इतने परिवर्तनके उपलक्षमें मूल्यमें केवल आठ आना वार्षिक—या सवा पैसा प्रति अंककी वृद्धि की गई है। वास्तवमें यह मूल्यवृद्धि इस परिवर्तनके लिये यथेष्ट नहीं है और इससे जैनजगतके घाटेकी मात्रामें वृद्धि ही होगी। परन्तु हमने जैनजगतके प्रेमी पाठकोंकी कृपाके विश्वास पर उनकी सुविधा व इच्छाकी पूर्तिके लिये यह आयोजन करनेका साहस किया है। हम आशा करते हैं कि वर्तमान ग्राहकगण आगेभी जैनजगत्के प्रति कृपा बनाये रखेंगे, यही नहीं बल्कि अपने इष्टमित्रोंमें इसका प्रचार बढ़ानेका प्रयत्न करेंगे।

पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे कृपया शीघ्र वार्षिक मूल्य तीन रुपया मनीआर्डर द्वारा भिजवादें। वी. पी. द्वारा मूल्य वसूल करनेमें ग्राहकोंको विशेष खर्च पड़ता है, तथा हमें भी काफी झंझट करनी पड़ती है। इसलिये जहाँतक सम्भव हो मूल्य मनीआर्डर द्वारा ही भिजवा दिया जाय।

जो महाशय किसी कारणवश आगे ग्राहक न रहना चाहें वे कृपया निःसंकोच सूचना देदें जिससे पत्र उन्हें न भेजा जाये। हम ता० ३० नवम्बर तक मनीऑर्डरकी प्रतीक्षा करेंगे। उस अवधि तक जिनका मनीऑर्डर प्राप्त नहीं होगा अथवा इनकारी नहीं आवेगी उन्हें यह समझकर कि वे ग्राहक रहना चाहते हैं किंतु पत्र वी. पी. द्वारा मँगवाना चाहते हैं, वी. पी. भेजदी जावेगी। वी.पी. लौटा देनेसे ग्राहकोंको कोई लाभ नहीं होता किंतु पत्रको प्रत्येक वी.पी. पर सवा तीन आनेकी हानि होती है। इसके अलावा हमारे समयका दुरुपयोग होता है। आशा है ग्राहकगण हमें इस तरहकी शिकायतका मौका न देंगे।

परिवर्तन आदि के आयोजन के कारण १६ अक्टूबरका अंक बन्द रखकर नया वर्ष १ नवम्बरसे प्रारम्भ करना पड़ा। इस कारण पाठकोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा उसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं। —प्रकाशक।

स्थानीय चर्चा—ता० १५ १६,१७ अक्टूबर को कलकत्ता निवासी श्री० बा० पूर्णचन्द्रजी नाहर ऐम. ए बी. ऐल. के सभापतित्व में श्री अ० भा० ओसवाल महासम्मेलन हुवा। सभापतिजीका भाषण बहुत महत्वपूर्ण था और उसमें धर्म का वास्तविक स्वरूप, विवाहक्षेत्र की विस्तीर्णता, स्वदेशी प्रचार. स्त्रियोंकी वेषभूषा, परदा, स्त्रीशिक्षा, बाल-वृद्ध-अनमेलविवाह, बहुविवाह, व्यर्थव्यय, मृतक-भोज (मुकता आदि) अछूतोद्धार आदि विषयों पर अच्छा विवेचन किया गया था। प्रथम प्रस्ताव द्वारा "अहिंसाव्रतके व्रती, वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष महात्मा गाँधीको हार्दिक बधाई" दी गई और 'जिस महान उद्देश्यको लेकर उन्होंने कठिन अनशन व्रतको धारण किया था' उसके सफल होजाने व उनका जीवनसंकट टल जाने पर हर्ष प्रकट किया गया। व्यर्थव्यय, मृतकभोज, वर-कन्या विक्रय, पर्दा, बाल वृद्धविवाह व बहुविवाह आदिके निषेधमें तथा "ओसवाल समाज के वे अंग जो कुछ समय से किसी कारणवश न्यारे न्यारे भागों में दिखते हैं, उन्हें सामिल लेने तथा उनके साथ रोटीबेटी-व्यवहार खोल देनेके समर्थन में प्रस्ताव पास हुए। अछूतोद्धार आंदोलनके प्रति सहानुभूति दिखलाने तथा प्रत्येक हरिजनको कुए, नल, विश्रामगृह, स्कूल, आदि सार्वजनिक स्थानोंके उपयोगका अन्य मनुष्यों के समान अधिकारको स्वीकार करनेका प्रस्ताव भी रखागया और सम्मेलनका अत्यधिक बहुमत उसके अनुकूल था किन्तु अजमेर के कतिपय व्यक्ति उद्दंडतापूर्वक हो हल्ला मचाने लगे और मारने पीटने तकपर आमादा होगये। इसपर सभापति महोदयने शान्तिभङ्ग न होने देने की इच्छासे प्रस्तावको स्थगित कर दिया। परन्तु इससे समझदार लोगों में काफी जोश फैला। सम्मेलन का कार्य समाप्त होने पर उसी पंडाल में श्रीयुत [illegible]लालजी नाहर अध्यक्ष मुसाफिर म्युनिसिपैलिटी के सभापतित्व में एक सभा कर श्री ओसवाल नवयुवक परिषद् की स्थापना की गई और जातिसुधारके अन्य कार्योंके साथ साथ विशेषतया अछूतोद्धारके देशव्यापी आंदोलन में अपना क्रियात्मक सहयोग देनेका निश्चय किया।

इसी अवसर पर श्रीमान् सेठ घनश्यामदासजी रीयावालों की धर्मपत्नी की अध्यक्षता में ओसवाल महिलापरिषद् का अधिवेशन हुआ था जिसमें स्वदेशीप्रचार समर्थन तथा पर्दाप्रथा के विरोध में प्रस्ताव पास हुए। —प्रकाशक।

शोकसमाचार—हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त खेद होता है कि ता० २३ अक्टूबरको पाठकोंके सुपरिचित तथा सुप्रसिद्ध समाज सुधारक व साहित्यसेवी श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी की धर्मपत्नी श्रीमती रमाबाईका देहान्त हो गया। श्रीमती जी करीब दो हफ्तेसे मोतीझरा रोगसे आक्रांत थीं। कौन जानता था कि यह साधारणसा ज्वर ही इतना भीषण रूप धारण करलेगा और साक्षात् काल बनकर अकालमें ही एक विदुषी व विचारशील महिलाको कवलित कर एक सुखी परिवार की शांतिको नष्टभ्रष्ट कर देगा! श्रीमती रमाबाई, प्रेमीजीके प्रत्येक कार्यमें दाहिने हाथके समान थीं और उन्हें सदा प्रोत्साहन द्वारा शक्ति प्रदान करती थीं, अतः उनको यह वियोग कितना दुःखद होगा, यह अनुमान नहीं किया जासकता। हम श्रीमान् प्रेमीजी व उनके पुत्र चिरंजीव हेमचन्द्रके प्रति इस दुःख में हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। —प्रकाशक।

[पृष्ठ २६ से आगे]

जी भी उनके पास चले गये थे; बाकी चार मुनि जयपुर में थे, पर पंचायत के दूसरे दिन श्री कुंथसागरजी और [illegible]सागरजी भी उनके पास खानियों चले गये। अब जयपुर शहर में चन्द्रसागरजी और [illegible]सागरजी केवल दो मुनि रहे हैं। सुना है कि इनका भी इरादा शीघ्र ही शांतिसागरजी के पास चले जाने का है। कुछ ऐसी ही अफवाह है कि शायद मण्डली दो टुकड़ों में बँट जाय, एक संघमें शांतिसागरजी और नेमिसागरजी यानी चतुर्थ और पंचम जातियों के मुनि रह जायें और दूसरे संघ में चन्द्रसागरजी, वीरसागरजी और [illegible]सागरजी यानी खंडेलवाल और परवार जातियों के रह जायें। देखना है, क्या क्या होता है। —संवाददाता।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

वीर संबोधन ।

(रचयिता—श्रीयुत् "वत्सल" विशारद)

अहह वीरवर ! क्यों व्याकुल हो,
आँसू-धार बहाते हो ?
विपदाओं सम्मुख क्यों अपना,
धैर्य समस्त गँवाते हो ॥१॥

हुए विलीन निराशातम में,
क्यों इतना दुख पाते हो ?
साहस, दृढ़ता, आत्मशक्ति को,
भूले से क्यों जाते हो ॥२॥

उठो ! अरे हतज्ञान हुए क्यों !
सहते कठिन यातनाएँ ।
मानव के साहस, दृढ़ता की,
कठिन कसौटी विपदाएँ ॥३॥

कंचन तीव्र अनल में पड़कर,
द्विगुणित प्रभा बढ़ाता है ।
जलकर चंदन निज सौरभ से,
सुयश राशि फैलाता है ॥४॥

मृदुल चमेली कुसुम यंत्र में,
पिल, बनजाता सुरभित इत्र ।
पिल, कर ईख स्वरस द्वारा,
करता जगको संतोषित मित्र॥५॥

कर्मठ, वीर निजात्म शक्ति की,
दृढ़ सामर्थ्य दिखाने को ।
गिरते हुए समाज, देश को,
उन्नतशील बनाने को ॥६॥

अपने प्रबल आत्म-विक्रम की,
कठिन परीक्षा देने को ।
जन समाज को कर्मयोग की,
गुरुतर दीक्षा देने को ॥७॥

दृढ़ संकल्प शक्ति से भर,
विपदाओं सम्मुख आते हैं ।
क्षमता, धैर्य अलौकिक—
साहस के प्रयोग दिखलाते हैं ॥८॥

बढ़कर कार्यक्षेत्र में दृढ़ हो,
सत्-संग्राम मचाते हैं !
अकथनीय वीरत्व शक्ति से,
विजय वधू वर लाते हैं ॥९॥

असफल बना आपदा-दल को,
अपना दास बनाते हैं ।
सभी सफलताओं पर वे,
अपना अधिकार जमाते हैं ॥१०॥

सुर-समूह प्रमुदित हो उन पर,
कुसुम राशि बरसाता है ।
जय जय ध्वनि के उच्च नाद से,
विश्व ध्वनित होजाता है ॥११॥

ऊँचा होता मुकुट देश का,
पाता राष्ट्र पुनर्जीवन ।
धर्म, समाज समुन्नत होता,
रक्षित रहता गौरव-धन ॥१२॥

कालसर्वज्ञ' तक कहनेकी धृष्टता करते हैं ! यदि जैनसमाज के हितेच्छु लोग इस प्रकार गुरुडमके प्रवाह में न बहकर परीक्षाप्रधानी बनकर, उचित अनुचित का विचार कर, साधुओंको शान्तिके साथ उनके गुण—दोष समझा देनेकी चिन्ता रखें तो क्या ही अच्छा हो। ऐसा होनेसे आदर्श जैनसाधुओं की निर्मलकीर्त्ति ज्यों की त्यों बनी रह सकेगी और आजकलके जैनसाधु नामधारी लोगोंके कृत्यों के कारण उस पवित्र मार्गके नाम पर बट्टा न लगेगा।

शान्तिसागर मण्डली का ख़याल था कि वे अब तक जिस प्रकार स्वच्छंदतापूर्वक विचरते हुये आये हैं, उसी प्रकार जयपुरमें से भी गुज़र जायेंगे। उन्हें यह पता नहीं था कि जयपुर पं० जयचन्द्रजी और टोडरमल्लजी सरीखे विद्वानोंकी जन्मभूमि रही है और यहाँ पर आजभी उनके त्रष्टपंथ और नग्नभट्टारकपनका प्रचार होना बहुत कठिन है। सुधारकोंने इन लोगों के विरुद्ध आवाज़ उठाई और इन लोगों की असली हालत का दिग्दर्शन कराते हुये कई एक ट्रैक्ट निकाले कि जिससे भोली जनता की भी आँखें खुल गईं और वह इन लोगोंकी ओरसे सशंकित हो गई। मण्डली और उसके भक्त इससे बहुत चिढ़े, पर कर क्या सकते थे? बेचारोंसे जवाब तो कुछ बन नहीं पड़ता था। वे लोग किसी ऐसे मौक़ेकी तलाशमें थे कि जब वे सुधारकोंसे इस सबका बदला ले सकते।

आख़िर बहुत इन्तिज़ारी के बाद एक ऐसा मौक़ा ढूँढा गया। पूज्य महात्मा गांधीजी के उपवासोंसे देशमें अछूतोद्धारके लिए बहुत ज़ोरका प्रयत्न हुआ और हरएक देशप्रेमीने, वह इस सम्बन्धमें जो कुछ कर सकता था सो करनेका, संकल्प लिया। जयपुरमें भी एक दिन कोलियों की और एक दिन रेगरोंकी सभायें हुईं जिनमें जैनसमाजके सुधारकदलके कुछ लोगोंने भी जाकर सफ़ाईसे रहने तथा मद्यमांसादि घृणित चीज़ोंसे परहेज़ करने आदिका उपदेश दिया। इस बातको लेकर जैनसमाजमें एक आन्दोलन खड़ा करनेकी कोशिश की गई, पर इसमें सफलता न मिली। इसके तीन दिन बाद, रामनिवास बाग़ में कुछ लोगों ने अछूत समझे जाने वालोंके हाथसे उच्चवर्ण के हिन्दुओं को मिठाई बँटवाने की व्यवस्था की। इसमें कोई भी जैनी शामिल नहीं हुआ था, क्योंकि अछूतोद्धार के लिये यह क़तई आवश्यक नहीं है कि अछूत समझे जानेवाले लोगों के हाथकी चीज़ों का खानपान जारी किया जाय। केवल एक सज्जन बतौर सैर चले गये थे पर उन्होंने भी किसी प्रकारका खानपान नहीं किया था। इतना होने पर भी एक शास्त्री उपाधिधारी ने और उसके साथ के कुछ धूर्तों ने जो बहुत वर्षों से सुधारकदल पर दाँत पीसा करते थे, एक षड्यंत्र रचा और ये झूठी ख़बरें फैलाईं कि जैनियों में से सुधारकदल के अमुक अमुक आदमी रामनिवास बाग़ में भंगियों के साथ खानपान कर आये। मुनिमण्डली ने भी इस काम को अपने हाथ में लिया और पंचनामधारी लोगों पर दबाव डालना शुरू किया कि सुधारकों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करें। बहुतसे पंच तो अपनी स्थिति समझते थे और उनकी, इस मामले को हाथमें लेकर अपनी हँसी करानेकी इच्छा न थी, पर मुनियों को नाराज़ करना उनके लिए बहुत कठिन काम था। इस सबमें मज़ेदारी यह थी कि कोई भी शख़्स यह कहने को तैयार न होता था कि मैंने अमुक अमुक आदमियोंको भंगियोंके हाथका खानपान करते देखा है। जो कहता था, सो यही कहता था कि ऐसी अफ़वाह सुनी है। पर इतना होने पर भी पंचनामधारियों ने सच झूठ की थोड़ी भी जाँच किये बिना, मिती आसोज सुदी २ को समस्त बिरादरी की आम पंचायत बुलवा डाली, पर कोई भी पैर पूँछ न चलने से बेचारे कुछ न कर सके। लेकिन कुछ गुंडों ने समाज को भड़काना जारी रक्खा और मुनिमंडली ने पंचों को यहाँ तक कह डाला कि यदि सुधारकों के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की गई तो हम लोग जयपुर छोड़कर बाहिर चले जायेंगे। आख़िर मुनियों को ठंडा करने की कोई तरकीब सोची जाने लगी क्योंकि यह भय था कि अगर मुनि महाराज रूठ कर बाहिर चले गये तो जयपुरकी सारी डूब जायगी। पर फिर से आम पंचायत करने की किसी को हिम्मत न होती थी क्योंकि यह डर था कि कहीं बड़े बड़े नामधारी पंचों की असली क़लई न खुल जाय। आख़िर दारोग़ा मोतीलालजी के मकान पर चारों पंचायतियों के सभी ख़ास ख़ास पंच इकट्ठे हुए और वहाँ दलील तक़रीर के बाद यह तै हो गया कि इस मामले में कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। उस दिन कुछ पंचों की यहाँ तक मनशा थी कि यदि अब भी शान्तिसागरजी इस निर्णय को न मानें तो उन्हें कह दिया जाय कि पंचायत इस मामलेमें कुछ नहीं कर सकती और अगर आप बाहिर ही
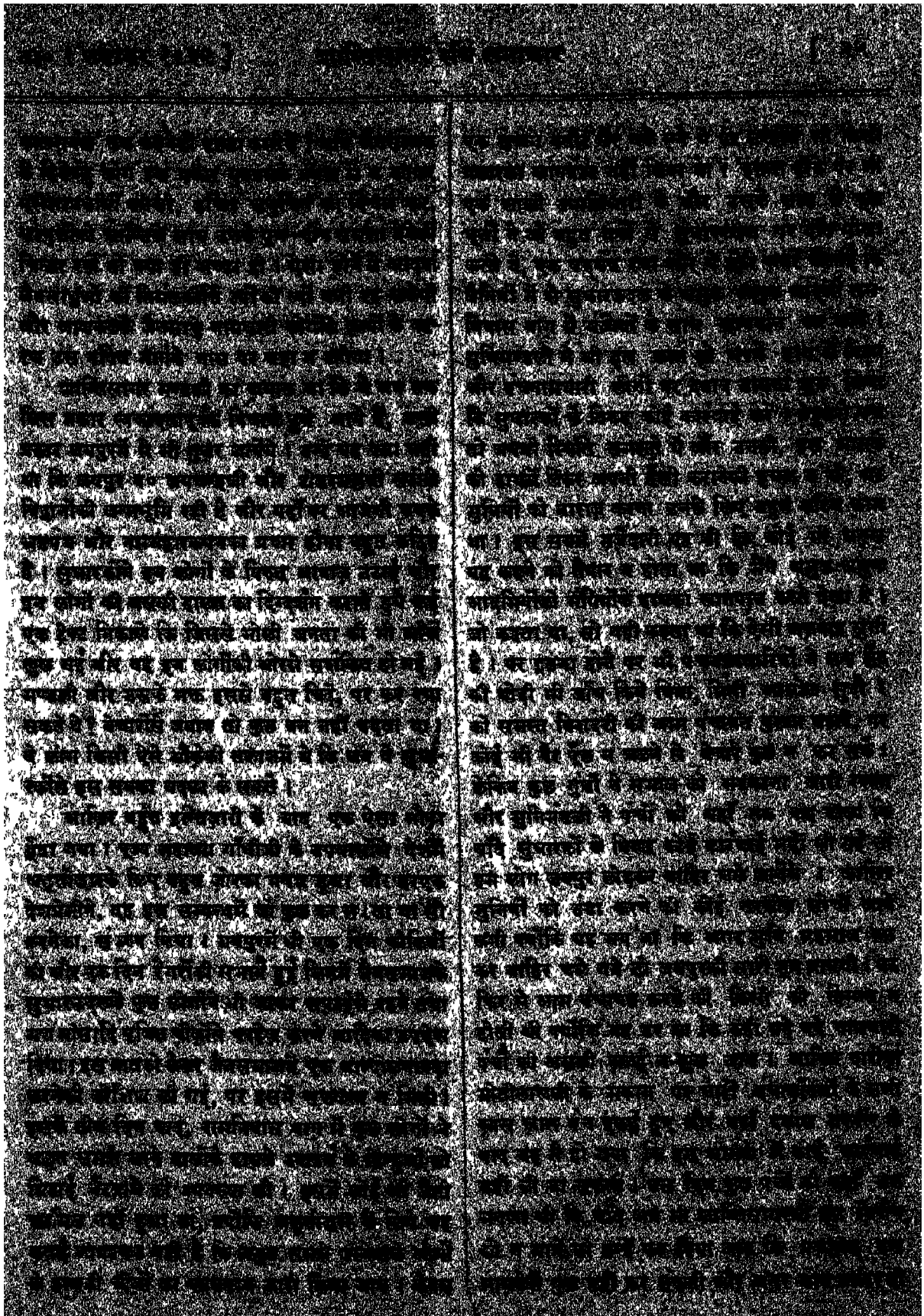
खण्डेलवालों का हमेशा से रोटी-व्यवहार होता आया है और लोहरसाजन भाई बड़साजनों की अपेक्षा निकृष्ट हैं, यह आज तक किसी भी प्रकार साबित नहीं है, पर तो भी मुनियों ने लोहरसाजनों के हाथ का भोजन लेने से इनकार कर दिया। लोहरसाजनों ने बहुत कुछ अनुनय विनंति की, पर वहाँ कौन सुनता था? वहाँ तो शांतिसागरजीको यह धाक जमानेकी पड़ी हुई है कि वे बहुत उच्च-कुलीन हैं और जिनकी कुलीनताके बारेमें ज़रासी भी शंका की बात हो उनके यहाँ भोजन नहीं करते। हम नहीं समझ सकते कि उन्हें इस प्रकार की इतनी चिन्ता क्यों है? क्या लिए कि वे खुद पंचम जातिके हैं और उनकी जातिमें खुले आम विधवाविवाहका रिवाज़ चालू है, इतना ही नहीं तलाक़ तक की प्रथा प्रचलित है। पंचमजातिके पाटीलों के घरोंमें भी विधवाविवाह हुये हैं और होते हैं, इसके एक नहीं, अनेकों प्रमाण मौजूद हैं, पर इतना होते हुये भी शांतिसागरजी, शूद्रों के हाथ के जल का त्याग तथा फ़ूलों के हाथ का आहार लेंगे और फ़ूलों का नहीं, इस प्रकारका जो आडम्बर रचते हैं, यह मामूली आदमी की हिम्मत का काम नहीं है।

यह तो एक स्पष्ट बात है कि इस संघके साधुओं और त्यागियों को ख्यातिलाभपूजा की बहुत इच्छा रहती है। सुधारक लोगों से ऐसी बातों की कोई आशा नहीं और पण्डितपार्टी या स्थितिपालक दल के लोग तो जो कोई भी उनकी हाँ में हाँ मिलावे, उसकी तारीफ़ों का पुल बाँधने के लिये हमेशा तैयार रहते ही हैं, भले ही उसका शास्त्रज्ञान अथवा आचरण कैसा ही क्यों न हो। मुनींद्रसागर सरीखे धूर्त की भी ये लोग हर तरह की प्रशंसा करते रहे और इन में से बहुत से अब तक भी करते हैं। इससे स्पष्ट विदित है कि इन लोगों को किसी के गुणदोष से कुछ मतलब नहीं है, परीक्षाप्रधानीपन इन लोगों से कोसों दूर है और जो कोई इन के मंतव्यों का प्रचारक हो, उसकी ये लोग हर तरह की खुशामद के लिए तैयार रहते हैं। पण्डितपार्टी या स्थितिपालकों ने देखा कि यदि शांतिसागर संघ को हथियाया जाय और ये हम लोगों के प्रचारक हो जायें तो फिर पौबारा पचीस है क्योंकि मूढ़ भक्तों पर नग्नत्व का बहुत प्रभाव पड़ता है। शांतिसागर संघ ने भी सोचा कि यदि स्थितिपालक दल हम लोगों को पुजाने में सहायक हो तो हमारा मार्ग बहुत कुछ निष्कण्टक हो सकता है। इस प्रकार दोनों की सिद्धसाधक की जोड़ी मिली और संघ के साथ पण्डित मण्डली की ओर से पं० मक्खनलाल जी शास्त्री के बड़े भाई नन्दनलाल जी उर्फ़ ज्ञानसागर जी, जो पहिले ब्रह्मचारी थे और अब क्षुल्लक हो गये हैं, संघ के साथ लगा दिये गये। ये ज्ञानसागरजी महा भयंकर आदमी हैं और जैनधर्म के नाम पर भ्रष्ट पंथका प्रचार करना और पं० जयचन्द्रजी, टोडरमलजी आदि प्रसिद्ध विद्वानोंको मूर्ख बतानेका प्रयत्न करना ही इनके जीवन का उद्देश्य मालूम होता है। लोग कहते हैं कि शांतिसागर मण्डली की कीर्ति का अपहरण करनेवाला राहु इन्हें ही समझना चाहिये, क्योंकि जबसे ये संघ के साथ आकर मिले हैं तभी से संघ वायु और पण्डितपार्टी के दलदल में विशेषरूप से फँसा है।

आमतौर पर ऐसा देखने में आया है कि लोग, मुनियोंकी धर्मशास्त्रानुकूल प्रवृत्ति न देखकर मन में बहुत खिन्न होते हैं और उनकी मुनियोंसे अरुचि भी हो जाती है, पर दुर्भाग्यवश जैनसमाज में ऐसे साहसयुक्त व्यक्ति बहुत कम पाये जाते हैं कि जो भक्तलोगों के प्रवाह के प्रतिकूल खड़े रहकर यह कह दें कि इन साधुओंमें अमुक अमुक कमियाँ हैं और इनको अमुक सुधार करने चाहिये। उधर मूर्ख भक्तलोगों द्वारा रात दिन तारीफ़ होती रहनेके कारण मुनियोंका दिमाग़ आसमान पर चढ़ जाता है और वे अपने आपको हर तरहसे पूर्ण समझने लग जाते हैं। इसीकारण साधु अपनी आत्मोन्नतिके रास्ते पर बढ़ने नहीं पाते, बल्कि उलटा उनका पतन होता है। जहाँ तक खानपान का सम्बन्ध है, शांतिसागर मण्डलीके साधुओं में एकाधको छोड़कर प्रायः सबका व्यवहार ठीकठाक सा मालूम होता है, पर जैनसाधु में केवल यही एक बात तो देखने लायक नहीं होती। इन लोगोंमें शास्त्रज्ञानकी मात्रा काफ़ी कम है—शांतिसागरजीका शास्त्रज्ञान तो बहुत ही कम मालूम होता है—पर इस पर भी तुर्रा यह है कि ये लोग अपने आपको बहुत ऊँचे दर्जेके विद्वान् और शास्त्रों के ज्ञाता दिखलाते हैं और इनके साधक लोग इन्हें 'कलि-

जाना चाहते हैं तो जा सकते हैं। पर शांतिसागरजी के और उनके आस पास हर वक्त लगे रहने वाले बाज़ारू भक्तों के आगे किसी की कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती थी। जब शांतिसागरजी को पंचायत का उपर्युक्त निर्णय सुनाया गया तो वे बहुत नाराज़ हुये और उन्होंने कहा कि ऐसी हालतमें मैं जयपुरमें आहार नहीं लूँगा। आखिर पंचनामधारी फिर दबे और उन्होंने कहा कि अच्छा महाराज, हम साठों मंदिरों से प्रतिनिधि चुनवा कर मँगवाते हैं और उन प्रतिनिधियों की कमेटी द्वारा फ़ैसला करवायेंगे। साठों मंदिरों को रुक्के जारी हुये पर जब देखा कि प्रतिनिधि भी कई जगह से सुधारक पक्ष वाले चुने जा रहे हैं और ऐसी हालतमें मनचीती न हो सकेगी तो गुण्डोंने फिर मुनियोंको उकसाया। पहिले तो मुनियोंने यह कहना शुरू किया कि अमुक अमुक ११ आदमियोंसे किसी भी प्रकारके सम्बन्ध का जो आजन्म त्याग नहीं करेगा, उसके यहाँ हम भोजन नहीं लेंगे। बेचारे भक्त ऐसा ही करने लगे और द्वारापेक्षण के समय "आहार जल शुद्ध, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ" और "आजन्म शूद्रजल त्याग" के साथ साथ प्रत्येक गृहस्थ को "११आदमियों के साथ तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालों के साथ आजन्म किसी भी प्रकार का सम्बन्ध त्याग" यह बोलना शुरू करना पड़ा। पर इससे भी मुनिमण्डली की इच्छा पूरी न हुई। समाज में सुधारकों को जातिबहिष्कृत किया नहीं, इसका नतीजा स्पष्ट यह हुआ कि जो ५०-६० घर मुनियों के लिये आहार बनाते थे उन्हें दूसरे सब लोगों से सम्बन्ध छोड़ना पड़ेगा। आहार देने वालों ने कहा कि महाराज, आप यह क्या प्रतिज्ञा कराते हो, इस से तो हम ही कुछ लोग जातिबहिष्कृत हो जायेंगे, सुधारकों का तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। मुनियों ने भी इस चाल को समझा और शांतिसागरजी ने और कोई उपाय न देख कर आखिरी पूरा ज़ोर लगा देना ही मुनासिब समझा, यानी वे यह कह कर जयपुर से बाहिर तीन मील की दूरी पर खानियाँ नामक स्थान को चले गये कि जब तक खास खास सुधारकों को जातिच्युत न किया जायगा, मैं जयपुर नहीं लौटूँगा। उनके चले जाने पर भक्तों को बड़ी चिंता हुई और उन्होंने सोचा कि चाहे इसका कुछ भी नतीजा क्यों न हो, एक दफ़ा कुछ सुधारकों के लिये जातिबाहिर की आवाज़ निकलवा ही देना चाहिये और इस प्रकार कर महाराज को वापिस ले ही आना चाहिये। यह सोच कर ता० २० अक्टोबर को रात को फिर से आम पंचायत बुलवा डाली गई। इस दिन शांतिभंग की आशंका से पुलिस भी काफ़ी संख्या में मौजूद थी। आज की पंचायत में सुधारकों व सुधारक पक्ष से सहानुभूति रखने वालों की बहुत अधिक संख्या थी और कुल उपस्थिति का कम से कम तीन चौथाई हिस्सा ऐसे लोगों का था। यह सब देखकर भक्त लोग सहम गये और उनकी पंचायत की कार्रवाई आरम्भ करने की ही हिम्मत न रही। ७ बजे का टाइम था, पर किसी तरह ९॥ बजे कार्रवाई प्रारम्भ हुई। आज कुछ पंचनामधारियों ने एक फ़र्ज़ी दरख्वास्त इस तरह की तैयार कर ली थी कि जिसकी बिना पर वे इस मामले को पंचायत के सामने रखना चाहते थे, पर इस दरख्वास्त पर पंचायत के वक्त तक किसी के दस्तखत और तारीख़ नहीं हो पाये थे। कार्यवाही का प्रारम्भ श्री झूमरलालजी गोदीका ने किया और आपने संक्षेप में हालात कहते हुए सब मामले की बुनियाद उसी दरख्वास्त पर खड़ी होना ज़ाहिर किया। दरख्वास्त का मज़मून पढ़कर सुनाने का आग्रह किये जाने पर उन्होंने दरख्वास्त पढ़कर सुनाई, पर दरख्वास्त देने वालेका नाम और तारीख़ न बोली। लोगोंने यह बतानेके लिए कहा, पर इसका कोई जवाब न देकर वे बैठकर जमनालालजी साह और जमनालालजी लुहाणवाले आदि लोगों से सलाह करने लगे। चौतरफ़से आवाज़ें आने लगीं कि नाम और तारीख़ क्यों नहीं बताई जाती हैं पर इसका जवाब ही क्या था कि जो दिया जाता क्योंकि सारी कार्रवाई तो फ़र्ज़ी थी। आखिर कोई रास्ता न देखकर कुछ गुण्डों द्वारा हुल्लड़ शुरू करवा दिया गया और पुलिसने शांति भंग होती देखकर पंचायत बरख़ास्त कर देने का ऑर्डर दे दिया। इस प्रकार इस पंचायत का अंत हुआ।

इतना सब होने पर भी कुछ पंचलोग दूसरे दिन सबेरे शांतिसागरजी के पास पहुँचे और उन्हें जयपुर लौट आने के लिये आग्रह करने लगे, पर उनके पास रातकी पंचायत के सब समाचार, स्थितिपालकों की कमज़ोर स्थिति और सुधारकदलके संगठनके सब हालात पहुँच चुके थे, अतः उन्होंने जवाब दे दिया कि मैं जयपुर लौटना नहीं चाहता। इस पर सब लोग अपना सा मुँह लेकर लौट आये।

[शेष टाइटिल पृष्ठ २ कॉलम २]
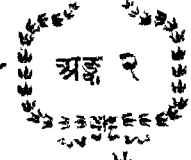
तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. **Reg: No. N 352.**

आवश्यक निवेदन।

(१) हमें खेद है कि कई आवश्यक कारणों से यह अंक करीब एक हफ़्ते की देरी से प्रकाशित हो रहा है। पत्र ठीक समय पर निकलने लगे, इसके लिये उचित आयोजन किया जारहा है। हम आशा करते हैं कि पाठकों को आगे, यथासम्भव, इस तरह की शिकायत का मौक़ा न दिया जावेगा।

(२) हमारी पिछली सूचना पर ध्यान देकर कई कृपालु ग्राहकों ने पत्र का वार्षिकमूल्य मनीऑर्डर द्वारा भिजवा दिया है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं। परन्तु अभी हमें बहुतसे ग्राहकों से मूल्य वसूल करना है। उनसे, मनीऑर्डर द्वारा शीघ्र तीन रुपया भिजवाने के लिये पुनः प्रार्थना है। ता० ५ दिसम्बर तक मनीऑर्डरों की प्रतीक्षा कर बादमें वी० पी० भेजना प्रारम्भ करदिया जावेगा।

(३) जो महाशय किसी कारणवश आगे ग्राहक न रहना चाहें, उनसे नम्र निवेदन है कि वे कृपया इसकी सूचना शीघ्र भिजवादें जिससे उन्हें वी० पी० न भेजी जावे तथा पत्रको व्यर्थ हानि न उठानी पड़े। वी० पी० लौटा देने से ग्राहकों को कोई लाभ नहीं होता किंतु पत्र को प्रत्येक वी० पी० पर नुकसान आने की हानि होती है। जैनजगत के प्रेमी पाठक सहायता के [illegible] र पत्रको हानि पहुँचावें,—यह अत्यन्त खेद की बात होगी।

(४) हमें खेद है कि श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार का "चर्चासागर के बड़े भाई की जाँच" शीर्षक लेख कम्पोज़ हो चुकने पर भी स्थानाभाव के कारण इस अंक में प्रकाशित नहीं हो सका। पृष्ठसंख्या में वृद्धि करने के लिये कई महानुभावों का आग्रह है और हम भी इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, परन्तु यह वृद्धि पाठकों की कृपा पर निर्भर है। यदि पाठकगण जैनजगत् का प्रचार बढ़ाने का निश्चय करलें तो सहज ही पत्र को उन्नत करने के लिये यह तथा और कई आयोजन किये जा सकते हैं।

—प्रकाशक।

साहित्य परिचय।

मुगलसाम्राज्य का क्षय और उसके कारण—लेखक, इन्द्र विद्यावाचस्पति। प्रकाशक—हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग बम्बई। मूल्य ३)

यह, पुस्तकका पहिला और दूसरा भाग है। तीसरा-चौथा भाग अभी अप्रकाशित है। विषय नाम से प्रकट है। सम्राट अकबर से लेकर औरङ्गज़ेब तक इसमें मुगलसाम्राज्यका सरसरी तौर पर निरीक्षण किया गया है और प्रत्येक घटना के और उसकी सफलता—असफलता के कारणों पर स्पष्ट और शिक्षाप्रद विवेचन किया है। लेखनशैली सुन्दर है, इसलिये ऐतिहासिक होने पर भी रुचि के साथ पढ़ी जासकती है। इतिहास से बहुत कुछ शिक्षा ली जा सकती है। पुस्तक बहुत उपयोगी है। छपाई सफ़ाई के लिये प्रकाशक का नाम ही काफ़ी है।

विद्यार्थी और शिक्षक—लेखक और प्रकाशक, काशीनाथ नारायण तिवारी, ५७ कृष्णपुरा, इन्दौर। मूल्य ॥)

हमारे यहां ऐसी मान्यता है कि जो पढ़ गया वह शिक्षक हो गया; ज्ञानके सिवाय शिक्षक के लिये और कुछ न चाहिये। परन्तु शिक्षकता का एक बहुमूल्य भाग है जिसपर ध्यान नहीं दिया जाता है। आजकल तो शिष्य और शिक्षक का शेर और बकरा जैसा सम्बन्ध होता है। हृदयहीनता को शिक्षक लोग अपना गुण समझते हैं। परन्तु शिक्षकता बहुत कठिन है। शिक्षक में माता की ममता, पिता की दृढ़ता और डॉक्टर की सहानुभूति होना चाहिये। अच्छे अच्छे शिक्षक छात्रों के हृदय को नहीं समझते इसलिये बेचारे छात्रों का बलिदान हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक शिक्षक और शिक्षिकाओं के लिये बहुत उपयोगी है। लेखक ने अपना अनुभव तो लिखा ही है परन्तु दक्षिणामूर्त्ति संस्था के कार्यकर्त्ताओं के अनुभव इसका मूलाधार है। प्रारम्भ मे गुजराती बालसाहित्यके सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुत गिजूभाईने जो परिचय लिखा है वह बहुत अच्छा तथा पुस्तक पढ़नेके लिये उत्कंठित बना देनेवाला है। पुस्तक उपयोगी है।

विद्यार्थियें अने युवको ने—संयोजक, शान्तिलाल वनमाली शेठ। प्रकाशक, गुर्जरग्रंथरत्नकार्यालय अहमदाबाद। मूल्य ।)

यह पुस्तक गुजराती भाषा में है। आत्म-जाग्रति कार्यालय ब्यावर की इसी विषय की एक पुस्तक के नव पाठों का अनुवाद, तथा पूज्य गांधी जी के कुछ लेखों का इसमें संकलन है। कुल १७ पाठ हैं और अपने विषय का अच्छा विवेचन है। छपाई सफ़ाई बहुत अच्छी है। प्रचार की दृष्टि से मूल्य सस्ता रखा गया है।

वार्षिकविवरण—यह दिगम्बर जैन विद्यार्थी सहायककोष इंदौरके चतुर्थ वर्षका विवरण है। यह छोटीसी संस्था विद्यार्थियों की बहुत अच्छी सेवा कर रही है।

वर की आवश्यकता।

एक सुन्दर,स्वस्थ,पढ़ी लिखी कन्याके लिये वर की आवश्यकता है। कन्या शिल्प, पाक व गृहकार्य में निहायत ही प्रवीण है। वर किसी जैनजातिका हो तथा आयु २५ साल तक की हो। विद्वान एवं नवीन विचारवान होना आवश्यक है। वही महाशय पत्रव्यवहारका कष्ट उठावें जिनमें उपरोक्त गुण हों और जो अन्तर्जातीयविवाहको स्वार्थवश अच्छा न समझकर शास्त्रानुकूल समझते हों और साहसी हों।

—पन्नालाल जैन, रुदैनी निवासी
घिरोर (मैनपुरी) यू० पी०।

महावीर संदेश ।

(रचयिता—श्रीयुत "वत्सल" विशारद)

यही था महावीर-सन्देश ।

ज्ञान-प्रभा से ज्योतिर्मय हो,
भरा प्रेम-भण्डार अक्षय हो,
करुणाप्लावित सदय हृदय हो,
सब प्राणियों पर हो, मैत्रीभाव अनन्त अशेष ॥यही०॥

अडिग, अपरिमित, आत्मशक्ति से,
अभय, अटल, सत्यानुरक्ति से,
दम्भरहित सद्धर्म-भक्ति से,
रखना सजग, सचेष्ट निरन्तर तुम अपना उद्देश ॥यही०॥

अहङ्कार, विद्वेष प्रबल का,
दारुण दम्भ, द्रोह के दल का,
आलस, अकर्मण्य का, छल का,
जीवन के अंतर्पट पर से कर देना निःशेष ॥ यही था० ॥

ओज, तेज, विक्रम से भूषित,
निर्भयता, वीरत्वभाव—रत,
स्वावलम्ब, साहस से पूरित,
जागृत हो पुरुषार्थ जीवनामृत का स्रोत अशेष ॥यही०॥

पाना विजय आपदाओं पर,
जय पाना प्रलोभनाओं पर,
रखना स्वत्व वासनाओं पर,
पाना त्राण जगत् बंधन से, बनना तुम अखिलेश ॥यही०

इस संसार दुःख के गृह में,
पड़े अनेक आपदाग्रह में,
पीड़ित त्रासित त्रास असह में,
शक्ति तन, मन, धन, द्वारा हरना जगका क्लेश॥यही॥

किसी व्यक्तिको कभी न दुख दो,
बने जहाँ तक सबको सुख दो,
जग-सेवा हित निज तन रख दो,
पूरित करदो सुखद शांतिसे सबका आत्मप्रदेश ॥यही०॥

दीन-दुखित को गले लगालो,
दलित पतित को साथ मिलालो,
सन्तापित को तनिक हँसालो,
बंधुहितैषी बन जग मानव-मन में करो प्रवेश ॥यही०॥

बड़ा कठिन जनसेवा व्रत है,
जो जन इसमें होता रत है,
बनता जग में वही महत् है,
जनसेवा व्रत में ही करना अपना जीवन शेष ॥यही०॥

मानव जन्म अमूल्य मिला है,
कर्म विजय का अजय किला है,
प्राप्त स्वतन्त्र बुद्धि विमला है,
आत्मोन्नतिका इस जीवन से करना यत्न विशेष ॥यही०॥

निरुद्देश रह पड़े न रोना,
सदुद्देश से चलित न होना,
कभी एक क्षण व्यर्थ न खोना,
सुनना और मानना अन्तर-आत्मा का आदेश ॥यही०॥

मोह समुद्र अगाध अगम है,
विषय कामना चक्र विषम है,
आत्मसाधना पथ दुर्गम है,
सावधान, साहस से करना पूर्ण मुक्ति उद्देश ॥यही०॥

जैनधर्म का मर्म ।

(१७)

अष्टांग ।

सम्यक्त्वके आठ अङ्ग हैं। निःशंकता, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सता, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। जैसे हाथ पैर आदि अंगोंके वर्णनसे शरीरका वर्णन हो जाता है उसी प्रकार निःशंकता आदि अंगोंके वर्णनसे सम्यक्त्वका वर्णन होता है। अंगोंके द्वारा सम्यक्त्वका विवेचन विस्तारसे होता है।

निःशंकता—कल्याण के अर्थात् सुख के मार्ग पर दृढ़ विश्वास रखना निःशंकता है। सम्यक्त्वका यह प्रथम और मुख्य अङ्ग है। दृढ़-विश्वासके विषयमें मैं पहिले कह चुका हूँ। वह अन्धश्रद्धासे बिलकुल जुदा है।

किसी सम्प्रदाय, किसी शास्त्र या किसी व्यक्तिके ऊपर अविश्वास करनेसे निःशंकतामें दोष नहीं लगता किन्तु कल्याणके सत्यमार्ग पर अविश्वास करनेसे निःशंकता कलंकित होती है।

कल्याणमार्गको समझानेके लिये अगर किसी कथाका उदाहरण दिया जाय और वह कथा किसीको सत्य न मालूम हो इसलिये वह उस कथा पर अविश्वास करे किन्तु उस कथाके कहने का जो उद्देश है उस पर अविश्वास न करे तो उसकी निःशंकता कलंकित न होगी। जैसे कोई राम रावणकी कथाको सत्य न माने परन्तु उस कथासे जो पातिव्रत्यकी और परस्त्रीहरण-निषेधकी शिक्षा मिलती है उस पर विश्वास रक्खे तो उसकी निःशंकता बाधित न होगी। इसी प्रकार कोई स्वर्ग नरककी अमुक रचना पर विश्वास नहीं करता किन्तु पुण्य पापके फल पर विश्वास रखता है तो उसकी निःशंकता दूषित नहीं है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रोंकी बात है।

विशेष जिज्ञासाकी दृष्टिसे प्रश्न करना या खोज करना भी निःशंकताका दोष नहीं है।

निःकांक्षता—स्वार्थवासनाका त्याग निःकांक्षता है। पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है कि हमारा सुख समष्टिगत सुखके ऊपर अवलम्बित है। जो सुख दूसरोंके दुःखके ऊपर अवलम्बित है वह वास्तविक सुख नहीं है, न वह स्थायी हो सकता है। प्रथम अध्यायमें जो सुख बताया गया है उस सुखके सिवाय वह अन्य सुखों की कामना नहीं करता। समन्तभद्र ने त्याज्य सुखके विषयमें बहुत ही ठीक कहा है—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार १२)

जो सुख दैवाधीन है, शीघ्र विनाशी है, जिसके बीचमें दुःख है, और जो पाप का कारण है उस सुखमें अरुचि या लापर्वाही रखना निःकांक्षता है।

श्लोक में वैषयिक सुख के चार दोष बताये गये हैं। प्रारम्भके तीन दोषों को हम किसी तरह दूर नहीं कर सकते किन्तु उनके असर से अपनेको बचा सकते हैं। उसका उपाय है स-

मता, सहनशीलता, दुःखों के सामने दृढ़ता के साथ खड़े रहनेकी भावना। वैषयिक सुख दैवाधीन है, इसका अर्थ है कि वह हमारी इच्छानुसार नहीं मिलता है। कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता है। दूसरे (सान्त) विशेषणसे भी यही बात सिद्ध है और तीसरे विशेषणसे सुख की अपूर्णता मालूम होती है। परन्तु अगर हम यह विचार करलें कि मुझे तो कर्तव्य करना चाहिये, उसके फलकी पर्वाह न करना चाहिये, अथवा दुःखके साथ वीरतापूर्वक लड़नेकी भावना करलें तो सुख दुःखमें समता रख सकें।

वैषयिक सुखका चौथा विशेषण पाप बीज है और यही सबसे बुरा है। साधारण प्राणी अपने सुखके लिये दूसरोंके न्यायोचित सुखकी पर्वाह नहीं करते, यही हमारे सुखकी पापबीजता है। सम्यग्दृष्टि सुखमें निज सुख की भावना का अर्थ यही है कि दूसरोंके न्यायोचित अधिकार नष्ट न किये जावें। इस प्रकारके संयम से वैषयिक सुखकी पापबीजता दूर की जासकती है।

जो इन्द्रियजन्य सुख हमें मिलें वह हम ग्रहण करें, उसके लिये न्यायोचित प्रयत्न करें, फिर भी न मिलें तो दुःखको भी प्रसन्नता से सहें। इन्द्रियसुखको हम इतना महत्त्व न दें कि उसके लिये अन्याय या अत्याचार करने को तैयार हो जांय। बस, यही निःकांक्षता है।

निर्विचिकित्सता—शरीर के दोषों पर दृष्टि न रखकर सद्गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सता है। यह सम्यग्दृष्टि की सद्गुणोपासकता का परिणाम है। यह नियम नहीं है कि जो मनुष्य सद्गुणी हो वह सुन्दर भी हो, नीरोग भी हो। उत्तमता पूज्यता आत्मा में है, न कि शरीर में। इसलिये प्रेम के लिये आत्मा का विचार करना चाहिये। शरीर के दोषों को देखकर अगर हम सद्गुणी का अपमान करते हैं तो सद्गुणों का अपमान करते हैं और सद्गुण ही सुख के कारण हैं इसलिये सुख को—कल्याण को—नष्ट करते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सद्गुणी को स्वच्छता से न रहना चाहिये, रोग की पर्वाह न करना चाहिये, या सद्गुणी के शरीर में कोई संक्रामक बीमारी हो तो दूसरे को उससे यथायोग्य बचाव न करना चाहिये। हर एक आदमी को स्वच्छता से रहना चाहिये। वह शौक़ न करे, परन्तु स्वच्छ रहे। वह रोग से निर्भय रहे, परन्तु यथाशक्ति नीरोग रहने की कोशिश करे। नीरोग रहने में आत्मदया भी है और पर-दया भी है। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति को चाहिये कि वह संक्रामक रोगी से यथा योग्य बचाव रखते हुए भी यथाशक्ति सेवा करे, सहायता करे।

हमारा गुणानुराग जितना तीव्र होगा, गुणों को उतना ही अधिक उत्तेजन मिलेगा। सौन्दर्य वगैरह से आकृष्ट होकर जो गुणानुराग बताया जाता है वह साधारण है। उसमें विश्व-कल्याण की भावना नहीं होती। वह सौन्दर्य वगैरह के नष्ट होजाने पर नष्ट होजाता है। इस लिये हमारा गुणानुराग इतना प्रबल होना चाहिये कि शारीरिक असौन्दर्य, रोग, वृद्धता, विकलाङ्गता आदि उसमें बाधा न डाल सकें। जो गुण विश्वकल्याण में साधक हैं उनको अधिक से अधिक उत्तेजन देना, विश्वकल्याण के कार्य में सहायता देना है।

आदि हरएक दृष्टिसे उत्तम होता है; परंतु शौचमूढ़ मनुष्यमें इतना विवेक नहीं होता।

प्रारम्भ में आजीविका की सुविधा के लिये चार जातियाँ बनाई गई थीं। पीछे से वे वंशपरंपरा के लिये स्थिर होगई। बाद में बेटीव्यवहार भी उन्हीं में सीमित हुआ और जिनने इन बेटीव्यवहार के नियमों का भङ्ग किया उनकी जुदी जुदी जातियाँ* बन गई। इसके बाद तो खानपानके भी बन्धन मज़बूत होगये तथा टिड्डी दलकी तरह हज़ारोंकी संख्यामें जातियाँ दिखलाई देने लगीं। अपनी ही जाति में रोटी बेटी व्यवहार सीमित हो गया। दूसरी जातियों में भोजन करना अपराध माना जाने लगा। फलतः अपनी जाति को सर्वोच्च मानने की भावना दृढ़ होती गई। यहां तक कि कौनसी जाति ऊंच है और कौनसी नीच, इसकी जाँच इस बात पर होने लगी कि कौन किसके हाथका भोजन कर सकता है। हरएक जाति इस बातकी कोशिश करने लगी कि हमारे साथ कोई दूसरी जाति का आदमी भोजन न करले। इसके दो विचित्र नमूने देखिये !

एक बार कुछ भंगी पंक्तिभोजन कर रहे थे। उच्चवर्णी लोगों के यहां जब भोज होता है और पत्तलों में जो उच्छिष्ट बचता है उसे भंगी लेजाते हैं और खाते हैं। परन्तु उन उच्छिष्टभोजी भंगियों ने एक उच्चवर्णी हिन्दू को अपनी पंक्ति के भीतर किसी अन्य कार्य से नहीं आने दिया ! जिसकी पत्तल का उच्छिष्ट खाते हैं, भोजन करते समय उसका स्पर्श नहीं सह सकते।

महात्मा गांधीजी के पतितोद्धारक उपवासों के उपलक्ष्य में जब अछूतों के साथ सहभोज हुए तो एक जगह (शायद इन्दौर में) चमारों ने उच्चवर्णियों के लिये भोजन तो तैयार किया परन्तु उनके साथ खाना मंजूर न किया।

दूसरी जातियों को नीच समझने की नीति के ये बेहूदे फल हैं। जब उच्चवर्णियों ने दूसरों को नीच समझ कर उनके साथ सहभोज करने में अपमान समझा तब नीच कहलानेवालों की तरफ़ से उसकी प्रतिक्रिया हुई। उनने भी उच्चवर्णियों का अपमान करने के लिये उनके साथ न खाने के नियम बनाये। उच्छिष्टभोजन को उनने एक व्यापार समझा और उच्चवर्णियों के साथ सहभोज के निषेध को धर्म। इस प्रकार भंगी से लेकर ब्राह्मण तक सभी जातियों में भोजन के नाम पर एक दूसरे का अपमान करने की एक प्रतियोगिता (होड़, हरीफाई) होने लगी। भोजनशुद्धि का सिद्धान्त तो नष्ट होगया और उसका स्थान जातिमद ने लेलिया। सभी एक दूसरे को नीचा समझने लगे।

(ग)–इस उच्च-नीचता के अहंकाररूपी पापराज का शासन यहाँ तक फैला कि दूसरी जाति के हाथ का पानी पीना तक अधर्म माना जाने लगा। एक गँदले नाले का लोग पानी पीलेंगे परन्तु दूसरी जाति के यहां पानी न पियेंगे ! यहाँ तक कि अछूत कहलाने वालों की तो बात दूसरी है परन्तु माली काछी आदि के हाथ का पानी—जो कि अपने सामने अपने ही बर्तन में

* इस विषयमें विशेष विवेचन आगे छठे अध्यायमें किया जायगा।

भरवाया गया है—वह भी न पियेंगे। और जो लोग इनके हाथ का पानी पियेंगे उनके यहाँ हम भोजन न करेंगे, उनके हाथ का हम पानी न पियेंगे। इस प्रकार के अहंकारी जीवों का भी आज टोटा नहीं है। धर्म के नाम पर कितना भयंकर द्रोह किया जा सकता है। शैतान, ईश्वर के वेष में लोगों को कितना ठग सकता है ! इस बात के ये नमूने हैं।

(घ)—इसी पाप का एक रूप चौका का नियम है। चौका में चौकी के नीचे विष्टा पड़ा रह सकता है। तब चौका खराब नहीं होता परन्तु दूसरी जाति के मनुष्य के स्पर्श से चौका खराब होजाता है। मांसभक्षी बिल्ली और विष्टाभक्षी कुत्ते से चौका खराब नहीं होता किन्तु मनुष्य से खराब होजाता है ! विष्टा खानेवाली गाय का तो हम दूध पी सकते हैं परन्तु मनुष्य को चौके में नहीं बिठला सकते। हमारा एक मित्र, जिसे हम बहुत प्यारा समझते हैं, हमारे द्वार पर भूखा बैठा रह सकता है, परन्तु हम अपने चौके में उसे भोजन नहीं करा सकते क्योंकि वह दूसरी जाति का है, या दूसरे सम्प्रदाय का है। मनुष्य, मनुष्य के साथ कितना अहंकार करता है, उसे कितना अपमानित करता है, वह उसे पशुओं से भी खराब कैसे समझता है, इस बात के ये उदाहरण हैं।

जो लोग मांसभक्षी हैं, मछली खाते हैं, मेंढ़क, केंचुए और झिंगुरों तक का अचार बनाकर खाडालते हैं, उनके चौके की किनार को अगर कोई दूसरी जाति का मनुष्य छूजावे तो उनका भोजन नष्ट होजाता है। मछली आदि के मुर्दों के ढेर से चौका खराब नहीं होता, वे तो पवित्रता के साथ पेट तक चले जाते हैं परन्तु जीवित और पवित्र मनुष्य के स्पर्शमात्र से चौका खराब होजाता है ! जब मैं संस्कृत पाठशाला में पढ़ता था तब वहाँ एक बड़े भारी नैयायिक ब्राह्मण अध्यापक थे। वे पवित्रता के कारण स्वयं भोजन बनाते थे। विद्यार्थियों को लकड़ी वगैरह लेजाना पड़ती थी। एक दिन लकड़ी रखते समय मेरा एक पैर चौके के कुछ भीतर आगया। बस, पंडितजी की रसोई खराब होगई। मुझे फटकार सहनी पड़ी और पंडितजी को दो घंटे बर्बाद करके फिर रसोई बनानी पड़ी। मैंने तो उस दिन से लकड़ी लेजाना ही बन्द करदिया। पंडितजी मैथुल ब्राह्मण थे और अपने घर पर मत्स्य मांस मेंढक झिंगुर आदि सब कुछ खाते थे। इस मूढ़तापूर्ण चौकापंथ की समस्या हल करने में तार्किक पंडितजी का तर्क कुछ काम न कर पाता था।

चौकापंथके समान और भी कुछ पंथ हैं। जैसे—गीले कपड़े पहिनकर रसोई बनाने का पंथ, नग्न रहकर रसोई बनाने का पंथ, आदि। इन विषयके रिवाज़ एकत्रित किये जायँ तो एक पुस्तक बन सकती है। यहाँ सिर्फ़ संकेत किया गया है।

(ङ)—एक तरफ़ मूढ़ताके कारण ये बेहूदे नियम बने तो दूसरी तरफ़ उनके पालन की कठिनाई ने विचित्र अपवादों को जन्म दिया। उदाहरणार्थ—यात्रा में चौके का नियम कठिन हो गया तो घी में पकी हुई चीज़ को चौका के बाहर ले जाना निर्दोष माना गया। चौका वगैरहके नियम प्रासुकताकी दृष्टि से तो कुछ काम के नहीं हैं, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे इसका कुछ उपयोग किया जा सकता था, सो घृतपक्वके अपवादने स्वास्थ्यको बनानेकी अपेक्षा बिगाड़ा ही।

श्रीमानोंने कुछ श्रीमत्ताके प्रदर्शनके लिये इसमें दूधका संयोग और कर दिया। पानीकी अपेक्षा दूध की गूंती हुई पुड़ी पवित्रता के लिहाज़ से अच्छी समझी गई, मानो दूध पानी की अपेक्षा अधिक पवित्र हो! मर्यादा की दृष्टि से दूध, पानी की अपेक्षा अधिक पवित्र नहीं है, उत्पत्ति की अपेक्षा पानी ही पवित्र है, दूध का श्रोत तो मांस के पिंड में से है। खैर, यह अपवाद बिलकुल बेहूदा है। एक दूसरा अपवाद भी है। जो बड़े आदमी दूसरी जाति के आदमी के द्वारा बनी रसोई नहीं खा सकते किन्तु रसोई के लिये नौकर रखना चाहते हैं उनके लिये एक दूसरा अपवाद बना कि जब तक नमक न पड़े तबतक कोई भी रसोई बना सकता है। ऊपर जिन तार्किक पंडितजी के चौके का हमने उल्लेख किया है, कभीकभी उन की रसोई एक कहार बना देता था: सिर्फ नमक डालने का काम बाक़ी रहजाता था। यह काम पंडितजी करलेते थे। नमक डालने के बाद जिस कहार की छाया से चौका अपवित्र होता था नमक के पहिले वही सारी रसोई बना सकता था। मानो, नमक ने ही सारी अपवित्रताओं को खींचने का ठेका लिया हो। इस तरह के और भी बहुत से बेहूदे अपवाद हैं।

(च)—दूसरों को नीच समझने की दुर्वासना ने जनसमाज में इतना गहरा स्थान जमाया कि उसकी सेवा के लिये पंडितों और त्यागियों के आसन कम्पित हुए। इसमें बेचारे शूद्र बुरी तरह से पीसे गये। वे मनुष्य थे परन्तु पशु से भी नीचे माने गये। पशु के ऊपर लादा गया भोजन पवित्र बना रहा परन्तु उस पशु को हाँकने वाला अगर अछूत हो तो वह भोजन भी अछूत होजाने लगा। इसके समर्थनमें स्वार्थी पंडितों ने एड़ी से चोटी तक पसीना बहाया। शूद्र शरीर को अपवित्र सिद्ध करने के लिये शास्त्र गने। उन्हें शास्त्र पढ़ने का अधिकार न रहा, तप करने का अधिकार न रहा, पूजा करने का अधिकार न रहा, मोक्ष जाने का अधिकार न रहा, यहाँ तक कि नगर में आने तक का अधिकार छीना गया: और यह घोर पाप, अन्याय और अत्याचार नहीं माना गया किन्तु धर्म माना गया।

इस प्रकार जो जातिभेद आजीविका की सुविधा के लिये बनाया गया था, उसने मनुष्य के टुकड़े टुकड़े करदिये और मनुष्य को मनुष्य-भक्षी बनादिया। भोजन के जो नियम सदाचार और स्वास्थ्य की रक्षा के लिये बनाये थे उनसे सदाचार और स्वास्थ्य की हत्या होने लगी। लोग मांस में शुद्धि-अशुद्धि का विचार करने लगे। गुण की पूजा न रही। आत्मा को स्वामी के स्थान से गिराकर शरीर को स्वामी बनाया गया। धर्म को लोग आत्मा में न ढूँढकर चमड़े में ढूँढने लगे। तब जैनधर्म ने घोषणा की कि जो लोग इस प्रकार शरीर को महत्त्व देते हैं और आत्मा के गुणों की अवहेलना करते हैं वे सम्यक्त्वी नहीं हैं, सत्पथ पर नहीं हैं, जैनी नहीं हैं। इस प्रकार की शरीरपूजा के त्याग को सम्यक्त्व का—जैनत्व का—एक अंग कहागया और इसका नाम निर्विचिकित्सा रक्खा गया। स्वामी समन्तभद्र ने निर्विचिकित्सा का लक्षण बहुत ही अच्छा किया है।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥

भावार्थ—शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है (उसमें पवित्रता देखना भूल है) उसकी पवित्रता तो रत्नत्रय से अर्थात् सच्चे धर्म से है इसलिये किसी भी शरीर से घृणा न करके गुण में, धर्म में, प्रेम रखना चाहिये। यह निर्विचिकित्सता है।

इसलिये जैनधर्म जातिपांति के बंधनों का विरोधी है, ऊंचनीच की दुर्वासना का विरोधी है। धर्म और मोक्ष के समस्त अधिकार वह सब को देता है। उच्चनीच का सम्बन्ध वह शरीर से नहीं, सदाचार से मानता है। व्यभिचार को पाप मानते हुए भी वह व्यभिचार-जातता को पाप नहीं मानता।

शरीर की पवित्रता के मूढ़तापूर्ण सिद्धान्त से जगत के कल्याण में बाधा पहुँचती है। हम समता की भावना भूलजाते हैं जो चारित्र का का प्राण है। हम उनकी पर्याप्त सेवा नहीं कर सकते, न उनसे पर्याप्त सेवा लेसकते हैं। हम घृणा करना सीखते हैं, अहंकार से उन्मत्त हो जाते हैं, ईर्ष्या, द्वेष का साम्राज्य फैलाते हैं। भला, ऐसी जगह सम्यक्त्व कैसे रह सकता है? निर्विचिकित्सकता सम्यक्त्व की एक मुख्य शर्त है। इसीलिये वह सम्यक्त्व का अंग मानी गई है।

* चिन्हानि विटजातस्य संति नांगेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन्कश्चिजायते नीचगोचरः॥
—(रविषेणाचार्य)।

व्यभिचारजातता के कोई भी चिह्न अङ्गों में नहीं होते जिनसे वह नीच कहला सके। दुराचार से ही मनुष्य नीच होता है।

विरोधी मित्रों से।

(४)

आक्षेप (११)—श्वेताम्बरों का उपलब्ध आगम साहित्य, बहुत करके ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में रचागया है। दिगम्बर जैनी उसे प्रमाण कैसे मानें?

समाधान—दिगम्बरों का अधिकांश साहित्य ईस्वी की पिछली शताब्दियों का है। जब वे उसे प्रमाण मानते हैं तो प्रारम्भिक शताब्दियों के साहित्य को प्रमाण क्यों न मानें? दिगम्बरों के पास इतना प्राचीन साहित्य भी कहाँ है? सूत्र साहित्यकों मैं धार्मिक दृष्टि से प्रमाण मानने की बात नहीं कहता हूँ, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाण मानने की बात कहता हूँ। धार्मिक दृष्टि से तो सभी जैनशास्त्र परीक्ष्य हैं। पुरानी खोज के लिये सूत्रसाहित्य, आचार्यकृत साहित्य से अधिक उपयोगी है।

आक्षेप (१२)—केशी-गौतम संवाद यदि दिगम्बरत्व के विरुद्ध में बनाया गया नहीं मानते तो दिगम्बर सम्प्रदाय के विरोध मे बनाया गया मानेंगे या नहीं?

समाधान—दिगम्बरत्व के विरोध के बिना दिगम्बर सम्प्रदाय का साम्प्रदायिक विरोध कैसा? दोनों सम्प्रदायों का मूल मतभेद तो यह अम्बर ही है। उसी ने अन्य मतभेदों को पैदा किया है। उक्त संवाद में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतभेद की बातें नहीं के बराबर हैं; बल्कि दिगम्बरत्व का उसमें समर्थन है। अगर दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध वह संवाद बनाया गया होता तो उसमें दिगम्बरत्व का विरोध होता तथा दोनों सम्प्रदायों के अन्य मतभेदों की भी चर्चा होती; और ऐसी चर्चा न होती जो दोनों सम्प्रदायों के मतभेदों को नहीं बतलाती; परन्तु संवाद में ये तीनों बातें केशी-गौतमसंवाद के अस्तित्व की समर्थक हैं।

आक्षेप (१३)—ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में दिगम्बर अपने को निर्ग्रंथ ही कहते थे; जब कि श्वेताम्बर

अपने को श्वेतपट आदि विशेषण लगाकर अपने को मूल-सम्प्रदाय सिद्ध करने के लिये उस बात के द्योतक वाक्यों को व्यवहार में लाते थे। इससे मालूम होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अपने को प्राचीन सिद्ध करने का श्वेताम्बरों को ध्यान था; जब कि नंगे जैन साधु अपने को निर्ग्रंथ कहने में ही संतुष्ट थे। इसी समय श्वेताम्बरों के आगमग्रंथ लिपिबद्ध हुए और उनने अपने को पुराना साबित करने के लिये यह सवाद बना डाला।

समाधान—इस आक्षेप में कदम्ब वंशीय राजाओं के दानपत्र* का उल्लेख है जो कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी का है। ताम्रपत्र राजा की तरफ़ से उसके सेनापति नरवर ने लिखवाया था। अगर श्वेताम्बरों की प्रशंसा में 'अर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरणपर' विशेषण लगाया गया है तो वह राजा की तरफ़ से है, श्वेताम्बरों की तरफ़ से नहीं। इसलिये यह लिखना कि 'श्वेताम्बर लोग अपने को प्राचीन सिद्ध करने के लिये ऐसे विशेषण लगाते थे' अनुचित है। राजा ने दिगम्बरों की प्रशंसा में ऐसा विशेषण नहीं लगाया इसका कारण बतलाना कठिन है। सम्भव है नरवर को श्वेताम्बरों की तरफ कुछ पक्षपात हो। और, राजा ने भले ही दिगम्बरों के साथ वह विशेषण न लगाया हो परन्तु दिगम्बर तो उस समय भी अपने को अर्हन्त भगवान के मार्ग का कट्टर अनुयायी समझते थे। क्या उस समय के दिगम्बर ग्रंथ अपने को अर्हन्त का अनुयायी नहीं कहते ? यदि हाँ, तो क्या श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों पर भी यही आक्षेप नहीं किया जा सकता ? अपने को मूलसिद्ध करने की भावना श्वेताम्बरों में थी और दिगम्बरों में नहीं थी, यह कहना बिलकुल निराधार है। अरे, उस समय तो उस समय, किन्तु आज तक यह दुर्भावना दोनों सम्प्रदायों में बनी हुई है। जब कि विक्रम की दूसरी शताब्दी में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय बने तभी यह भावना उत्पन्न होगई थी। तभी से दोनों सम्प्रदाय अपने को वीरानुयायी साबित करने की कोशिश करते रहे हैं। ताम्रपत्र तो एक जैनेतर राजा का है। उस के शब्द दिगम्बर या श्वेताम्बरों के शब्द नहीं हैं, जिससे यह कहा जाय कि वे अपने को अमुक रूप में साबित करना चाहते थे। इसके लिये तो दोनों सम्प्रदायों का साहित्य देखना चाहिये कि कौन अपने को क्या साबित करने की धुन में है।

> णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
> एक्को विमोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे॥
> —कुंदकुंद कृत सूत्रप्राभृत १०।

इसमें दिगम्बरत्व और पाणिपात्र को ही जिनेन्द्र कथित बतलाया है और बाकी को अमार्ग कहा है। ये एक दिगम्बराचार्य के ही शब्द हैं जो अपने मार्ग को जिनोक्त साबित करने में तल्लीन हैं। कुंदकुंद का समय तो इस शिलालेख से पहिले माना जाता है। इसलिये क्या यह नहीं कहा जासकता कि दिगम्बर लोग पहिले से ही अपने को मूल सिद्ध करने की कोशिश करते रहे हैं और अभी तक कर रहे हैं ? यहाँ इतना कह देना अप्रासङ्गिक होने पर भी उपयोगी है कि श्वेताम्बरों के सूत्र साहित्य में किसी भी सम्प्रदाय को मूल साबित करने

---

*दानपत्र के शब्द ये हैं—श्री विजय शिवमृगेश वर्मा काल वङ्गग्राम त्रिधा विभज्य दत्तवान्। अत्र पूर्वमर्हच्छाला परम पुष्कल स्थान निवासिभ्यः भगवदर्हन्महा जिनेन्द्र देवताभ्यः एकोभागः द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपट महाश्रमण संघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रंथ महाश्रमण संघोपभोगायेति।

यहाँ पर निवासिभ्यः, देवताभ्यः का विशेषण है। फिर भी विशेषण पुल्लिंग रक्खा गया है जबकि विशेष्य (देवताभ्यः) स्त्रीलिंग शब्द है। अगर इसे ताम्रपत्रलेखक की गलती न माना जाय तो इनका विशेष्य विशेषण भाव खटकता है। 'सद्धर्मकरणपरस्य' इस पाठ में परस्य खटकता है। कामताप्रसादजी ने वीर में 'परस्य' पाठ किया है। मैंने "जैन हितैषी" से उद्धृत किया है। मेरे साम्हने ताम्रपत्र नहीं है फिर भी मैं समझता हूँ कि यहाँ 'पराय' पाठ होगा। ताम्रपत्र में पराय का परस्य बाँचा जाना स्वाभाविक है।

की कोशिश नहीं की गई है इसलिये वह अधिक प्रामाणिक मालूम होता है। बाक़ी ताम्रपत्रों, शिलालेखों, तथा वैयक्तिक रचनाओं में तो दिगम्बरों ने अपने को मूल सिद्ध किया है और श्वेताम्बरों ने अपने को मूल सिद्ध किया है। और जब से ये दोनों सम्प्रदाय पैदा हुए तभी से यह कोशिश दोनों की चालू रही है। दिगम्बर अपने को निर्ग्रंथ कहने में संतुष्ट रहे हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है। भगवती आराधना सरीखे पुराने से पुराने ग्रंथकार अपने को 'पाणिदल भोजी' विशेषण लगाते रहे हैं जोकि दिगम्बर सम्प्रदाय का सूचक है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण उपस्थित किये जासकते हैं। इसलिये कदम्ब ताम्रपत्र के उपर्युक्त विशेषण से संवाद की प्रामाणिकता पर ज़रा भी आँच नहीं आती।

आक्षेप (१४) —मथुरा के कुशानकालीन पुरातत्व में ऐसे लेख मिलते हैं जिनमें आर्हत (जैन) के विशेषण रूप में निर्ग्रन्थ शब्द व्यवहृत हुआ है और यह लेख एक दिगम्बर मूर्ति पर है। अतः निर्ग्रंथ शब्द आर्हतों के दिगम्बर सम्प्रदाय का ही द्योतक है। ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों का रचा हुआ अजैन साहित्य भी नंगे जैन सम्प्रदाय का जैन रूप प्रकट करता है।

समाधान —भगवान महावीर के समय से जैन सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ कहलाने लगा। निर्ग्रन्थ शब्द के अनेक अर्थों में नग्न भी एक अर्थ है। महावीर युग में वे सब सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ कहलाते थे जिनके नायक नग्न वेष में रहते थे। धम्मपद्द कथा में गोशाल आदि सभी को निगंठ कहा है। "वह निगंठ लजाते हुए सामहने से भागगये"। इसलिये निर्ग्रंथ शब्द दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का वाचक है, यह समझना भूल है।

भगवान् दिगम्बर वेष में रहते थे इसलिये उनका सम्प्रदाय 'निगंठ' कहलाता था। उनके बहुत से शिष्य भी नग्न रहते थे, यह भी ठीक है। परन्तु उस समय जैन मुनियों का कोई दूसरा वेष नहीं था, यह नहीं कहा जासकता। धर्मप्रवर्तक की नग्नता से तथा अन्य बहुत से साधुओं की नग्नता से जैनसाधुसंस्था एक निगंठ संस्था कहलाती थी, परन्तु निगंठ शब्द का उपयोग वस्त्रधारियों के लिये न हुआ हो, यह बात नहीं है। स्वयं बाबू कामताप्रसादजी ने अपनी 'महावीर और बुद्ध' नामक पुस्तक में यह वाक्य उद्धृत किया है—"लोहिताभिजाति नाम निगन्था एक साटका निवदति"। इस वाक्य में एकवस्त्रधारी निगन्थों का उल्लेख है। निःसन्देह इसमें जैन निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है किन्तु इससे ये दो बातें साबित होती हैं कि निर्ग्रन्थ शब्द दूसरे सम्प्रदायों को भी लगता था और वस्त्रधारी भी निर्ग्रन्थ कहलाते थे। कामताप्रसादजी इस निर्ग्रन्थ को क्षुल्लक कहते हैं; जबकि यह वर्णन जैन का है, इसके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ मैं इतना ही पूछना चाहता हूँ कि क्या वस्त्रधारी को निर्ग्रन्थ कहा जासकता है? यदि हाँ, तो श्वेताम्बरों को निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कहा जासकता? इससे यह बात स्पष्ट है कि कुशानकालीन लेखों में जो निर्ग्रन्थ शब्द का उपयोग हुआ है, इससे दिगम्बरत्व की सिद्धि नहीं होती।

जहाँ तक मेरा ख़याल है, कंकालीटीले के जिन लेखों तथा मूर्तियों के विषय में चर्चा की जारही है उसका मिलान श्वेताम्बर पट्टावली से होता है न कि दिगम्बर पट्टावली से। प्राचीन काल में श्वेताम्बर लोग भी नग्न मूर्तियाँ बनाते थे, क्योंकि मूर्तियों का आदर्श अपने तीर्थ का तीर्थंकर होता है। यह महावीर का तीर्थ है, इसलिये मूर्तियाँ महावीर के समान नग्न बनती रहीं हैं। जब मूर्तियों पर से दिगम्बर-श्वेताम्बरों में झगड़े होने लगे तभी दोनों की मूर्तियां जुदे जुदे ढंग की बनाई जाने लगीं। इसीलिये दिगम्बर मूर्ति से दिगम्बर सम्प्रदाय न समझना चाहिये।

बाबूसाहिब ने अजैन साहित्यकी भी दुहाई दी है परन्तु उससे भी एक साटकधारी निर्ग्रन्थों की सिद्धि होती है।

संवाद के विषय में मेरा वक्तव्य यह है कि वह पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थों को मिलाने वाली एक ऐसी घटना है जिससे पार्श्वनाथ का अस्तित्व अच्छी तरह से सिद्ध होता है।

यदि यह मानलिया जाय कि दिगम्बरत्व के बिना महाव्रत हो नहीं सकता तो अनगार संस्था में स्त्रियों के लिये कोई स्थान नहीं रहता; श्रमणी संघ को उत्पत्ति नहीं हो सकती। और अगर वह मानी भी जाय तो वह केवल एक विडम्बना ही कहलायगी। महावीर ने साध्वी संघ की स्थापना की परन्तु उसमें साधुता नहीं मानी, यह महावीर के नाम पर कलंक है। "जैन धर्म में पुरुषों के समान स्त्रियों को धर्मसाधन का अवसर नहीं है—यह जैनधर्म के ऊपर एक प्रकार का बड़ाभारी मिथ्याक्षेप होगा। स्त्रियों के विषय में जैन धर्म ने बौद्ध धर्म से भी अधिक उदारता दिखलाई है परन्तु स्त्रियों को वास्तविक साध्वी न मानकर हम इस दिशा में बौद्ध धर्म से भी पिछड़ जाते हैं; तथा मातृजाति का घोर अपमान तो करते ही हैं। जो लोग, कम से कम धार्मिक क्षेत्र में भी महिलाओं कोसमानता का दर्जा देना चाहते हैं उन्हें दिगम्बरत्व का पक्षपात छोड़ देना चाहिये।

परिग्रहत्यागी होने के लिये भोजन के समान वस्त्र के भी त्याग की ज़रूरत नहीं है—यह बात मैं अनेक बार साबित कर चुका हूँ।

दिगम्बर शास्त्र भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मुनियों का द्रव्यलिंग अनेक तरह का होता है। तब एक ही द्रव्यलिंग का आग्रह करना व्यर्थ है।

इस लिंग के मोह ने जैनधर्म के टुकड़े टुकड़े कर दिये हैं। जो लिंग, चारित्र का रक्षक था वह द्वेषवर्द्धक होगया है और इसमें भी महापाप यह है कि उस द्वेष ने धर्म का रूप धारण करलिया है।

केशीगौतमसंवाद, पार्श्वनाथ के अस्तित्व का ही प्रबल प्रमाण नहीं है किन्तु वह अनेकान्त का व्यावहारिक और कल्याणकारी रूप है, इसीलिये मैं उसको इतना महत्व दे रहा हूँ।

इस विषय में मेरे प्रतियोगी दिगम्बर मित्र सिर्फ इसीलिए इस संवाद का विरोध कर रहे हैं कि वह संवाद दिगम्बरत्व का विरोधी न होने पर भी दिगम्बरत्व के एकान्त पक्षपात का विरोधी है। इस संवाद का ऐतिहासिक मूल्य कितना महान् है, इसकी तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं जारही है। अथवा यों कहना चाहिये कि इसी साम्प्रदायिक पक्षपात ने उन्हें एक इतिहासशोधक विद्वान् के लिये आवश्यक निःपक्षता से वञ्चित कर दिया है तथा सम्प्रदाय के साम्हने मूल का स्थान भी नीचा कर दिया है। अन्यथा, बौद्धादि ग्रन्थों को वे लोग जितना ऐतिहासिक महत्व देते हैं, श्वेताम्बर साहित्य को उससे कम महत्व न देते। ऐतिहासिक खोज के लिये बहुश्रुतता की अपेक्षा निःपक्षदृष्टि का महत्व अधिक है।

सिद्धि-सोपान

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार]

(१)

जिनने कर्मप्रकृति-समूहको उन्मूलित[1] निःशेष किया,
पूर्ण तपश्चर्याके बल पर, स्वात्मभावको साध लिया।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूं अति सन्तुष्ट हुआ—
उनके अनुपम-गुणाकर्ष से, भक्तिभावको प्राप्त हुआ ॥

(२)

स्वात्मभावकी लब्धि 'सिद्धि' है, होती वह उच्छेदनसे—
उन दोषोंके, आच्छादक जो ज्ञान-सुखादि-प्रगुण-गणके।
योग्य साधनोंकी सुयुक्तिसे; अग्निप्रयोगादिक-द्वारा—
हेम-शिलासे जगमें जैसे हेम किया जाता न्यारा ॥

(३)

नहिं अभावमय[2] सिद्धि इष्ट है, नहिं निजगुण-विनाशवाली[3];
सत् का कभी नाश नहिं होता, रहै न गुणि गुण से ख़ाली।
जिनकी ऐसी सिद्धि न उनका तप-विधान कुछ बनता है;
आत्मनाश-निजगुणविनाशका कौन यत्न बुध करता है ?

(४)

अस्तु; अनादिबद्ध आत्मा है, स्वकृतकर्म-फल का भोगी,
कर्मबन्ध-फलभोग-नाशसे होता मुक्तिरमा-योगी।
ज्ञाता, दृष्टा, निजतनुपरिमित,[4] संकोचेतरधर्मा है,[5]
स्वगुण-युक्त रहता है, हरदम ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मा[6] है ॥

---

१ बिलकुल जड़ से उखाड़ डाला—आत्मा से उसके सम्बन्ध का पूर्णतया विच्छेद कर दिया। २ दीप निर्वाणादि की तरह आत्मा के नाशरूप। ३ ज्ञानादि विशेषगुणोंके अभाव को लिये हुए। ४ अपने शरीर जितने आकारवाला। ५ संकोच-विस्तार के स्वभाव को लिये हुए। ६ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप।

(५)

इस सिद्धान्त-मान्यताके बिन साध्य-सिद्धि नहिं घटती है—
स्वात्मस्वरूपकी लब्धि न होती, नहिं व्रत-चर्या बनती है।
बन्ध-मोक्ष-फलकी कथनी सब कथनमात्र रह जाती है,
अन्त न आता भव-परिभ्रमका, सत्य-शान्ति नहिं मिलती है॥

(६)

जब वह आत्मा मोहादिकके उपशमादि को पाकर के,
बाहर में गुरु-उपदेशादिक श्रेष्ठ निमित्त मिला कर के।
विमल-सुदर्शन-ज्ञान-चरणमय अपनी ज्योति जगाता है,
उस सुशक्ति[7] के प्रबलघातसे[8] घाति-चतुष्क[9] नशाता है॥

(७)

तब वह भासमान होता स्थिर-अद्भुत-परम-सुगुण-गणसे—
प्रकटित हुआ अचिन्त्य सार है जिनका दुरित-विनाशन से[10]।
केवलज्ञान-सुदर्शनसे, अतिवीर्य—प्रवरसुख—समकितसे,
लब्धि-ज्योति-व्रातायन आदिक शेष गुणों की सम्पत् से॥

(८)

सबको सदा जानता-लखता युगपत् व्याप्त-सुतृप्त हुआ,
घन-अज्ञान-मोह-तम धुनता निरवशेष, निःखेद हुआ।
करता तृप्त सुवचनामृत से सभाजनों को औ' करता—
ईश्वरता सब प्रजाजनों की, अन्य ज्योति फीकी करता॥

(९)

आत्मा को आत्म-स्वरूपसे आत्मा में प्रतिक्षण ध्याता—
हुआ सातिशय वह आत्मा, यों सत्य-स्वयम्भू-पद पाता।
वीतराग-अर्हत्-परमेष्ठी-आप्त-सार्व[11]-जिन कहलाता,
परंज्योति-सर्वज्ञ-शास्ता-जीवन्मुक्त नाम पाता॥

---

७ शक्ति = प्रहरण—आयुधविशेष। ८ मूलोच्छेद करनेवाले समर्थ प्रहार से। ९ घातिकर्मों का चतुष्टय-अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म। १० महापापरूप घातिकर्मोंके विनाश से। ११ सबके लिये हितरूप।

(१०)

शेष निगड-सम[१२] अन्य प्रकृतियाँ फिर छेदता हुआ सारी,
आयु-वेदनी-नाम-गोत्र हैं मूल प्रकृतियाँ जो भारी।
उन आनन्त्य-शील-प्रगुणोंके[१३]साथ शेष क्षायिक गुण से—
अव्याबाध-अगुरुलघु से औ' सूक्ष्मपना-अवगाहन से ॥

(११)

होता शोभमान, तैसे ही अन्य गुणों के समुदय से—
प्रभवित[१४] हुए जो उत्तरोत्तर-कर्मप्रकृतिके संक्षय से।
क्षणमें ऊर्ध्वगमन-स्वभावसे, शुद्ध-निराकुल-मुक्त हुआ,
लोकशिखरके अग्रभाग में तिष्ठै है स्वाधीन हुआ ॥

(१२)

मूलोच्छेद हुआ कर्मोंका, वन्ध-उदय-सत्ता न रही,
अन्याकार-ग्रहणका कारण रहा न तव इससे कुछ ही—
न्यून, चरमतनु-प्रतिमा के सम रुचिराकृति[१५] ही रह जाता
और अमूर्तिक वह सिद्धात्मा, निर्विकारपदको पाता ॥

(१३)

क्षुधा-तृषा-श्वासादि-काम-ज्वर-जरा-मरणकी जननी जो,
इष्टवियोग-अनिष्टयोग-भय-मोहादिककी धरणी जो।
व्यापत्यादि-उग्र दुःखोंका प्रभव हेतु[१६] जो, उस भव[१७] के—
हननेसे उत्पन्न सिद्धसुख, कौन जो उसका माप करे ?

(१४)

सिद्ध हुआ निज-उपादान[१८] से, खुद अतिशय को प्राप्त हुआ,
बाधारहित, विशाल, इन्द्रियोंके विषयोंसे रिक्त[१९] हुआ।
बढ़ता और न घटता जो है, प्रतिद्वंद्वीसे[२०] रहित सदा,
उपमा-रहित, अन्य द्रव्योंकी नहीं अपेक्षा जिसे कदा ॥

---

१२ बेड़ियोंकी तरह बन्धन रूप। १३ अनन्तस्वभाववाले ज्ञान-दर्शनादिक गुणोंके। १४ प्रभावको प्राप्त। १५ दैदीप्यमान आकारको लिये हुये। १६ उत्पत्ति-कारण। १७ संसार। १८ आत्माके उपादानसे—प्रकृतियों के उपादान से नहीं। १९ शून्य। २० प्रतिपक्षीसे—दुःखसे।

(१५)

सुख उत्कृष्ट, अमित, शाश्वत वह, सर्वकालमें व्याप्त हुआ,
निरवधिसार परम सुख इससे उस सुसिद्ध को प्राप्त हुआ।
जो परमेश्वर, परमात्मा औ' देहविमुक्त कहा जाता,
स्वात्मस्थित कृतकृत्य हुआ निज-पूर्ण-स्वार्थ को अपनाता॥

(१६)

कर्मनाशसे उस सुसिद्धके क्षुधा-तृषाका लेश नहीं,
नाना रसयुत-अन्नपानका अतः प्रयोजन रहा नहीं।
नहीं प्रयोजन गन्ध-माल्यका अशुचि-योग जब नहीं कहीं;
नहीं काम मृदु-शय्याका जब निद्रादिक का नाम नहीं॥

(१७)

रोग, विना तत्शमनी[21] उत्तम औषधि जैसे व्यर्थ कहीं;
तम विन दृश्यमान होते सब, दीपशिखा ज्यों वृथा कहीं।
त्यों सांसारिक विषय सौख्यका सिद्ध हुए कुछ काम नहीं,
बाधित[22]-विषम[23]-पराश्रित भंगुर बन्धहेतु जो, असुख वहीं॥

(१८)

यों अनन्तज्ञानादिगुणोंकी सम्पत्से जो युक्त सदा,
विविध-सुनय-तप-संयमसे हो सिद्ध भजैं न विकार कदा।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणसे तथा सिद्धपदको पाते,
पूर्ण यशस्वी हुए, विश्वदेवाधिदेव जो कहलाते॥

(१९)

आवागमन विमुक्त हुए, जिनको करना कुछ रहा नहीं,
आत्मलीन, सब दोषहीन, जिनके न कर्म सम्पर्क कहीं।
अजर अमर पदके स्वामी जो, रोग-शोक-भय-मुक्त, महा-
शीतीभूत, पूर्ण विकसित, जिन चिदानन्द सद्रूप लहा॥

---

२१ उसरोगको शान्त करनेवाली। २२ बाधा सहित। २३ एक रस न रह कर वृद्धि-ह्रासको लिये हुए। २४ महाशान्त।

(२०)

ऐसे हुए अनन्त सिद्ध हैं औ' आगे को होंगे जो,
वर्तमान हैं, सकल जगतमें, विबुध जनोंसे संस्तुत जो।
उन सब को नतमस्तक हो मैं वन्दूँ तीनों काल सदा;
तत्स्वरूपकी शीघ्र प्राप्तिका इच्छुक होकर, सहित मुदा[२५] ॥

(२१)

कारण, उनका जो स्वरूप है वही रूप सब अपना है,
उसही तरह सुविकसित होगा, इसमें लेश न कहना है।
उनके चिन्तन-वन्दनसे निजरूप सामने आता है;
भूली निज-निधिका दर्शन यों प्राप्ति-प्रेम उपजाता है ॥

(२२)

इसमें सिद्ध-भक्ति है सच्ची जननी सब कल्याणोंकी
श्रेयोमार्ग[२६] सुलभ करती बन हेतु कुशलपरिणामों की।
कहीं 'सिद्धिसोपान', इसीसे, प्रौढ[२७] सुधीजन अपनाते,
पूज्यपाद की 'सिद्धभक्ति' लख, 'युग मुमुक्षु' अति हर्षाते।

---

२५ सहर्ष। २६ कल्याणमार्ग-मोक्षमार्ग। २७ परिपक्व, प्रबुद्ध, उन्नत।

श्री शान्तिसागर-संघ समाचार।

केशलौंच में मारपीट।

संघ वापिस जयपुर आ गया।

जैनजगत् के पिछले अंक में मैं यह दिखला चुका हूँ कि मुनिसंघ ने सुधारकों को पीसडालने और अपने विरुद्ध आन्दोलन का बदला लेने का काफी प्रयत्न किया, यहाँ तक कि शांतिसागरजी जयपुर छोड़ कर भी चले गये; पर यह सब निष्फल हुआ और स्वयंभू पंच अपना सा मुँह ले कर घर लौट गये और आगे कभी पंचायत में अपना मुँह दिखलाने लायक तक न रहे। हारे हुए लोग जैसे आपस में लड़ने लग जाते हैं उसी प्रकार ये स्वयंभू पंच और भक्त लोग अब एक दूसरे से लड़ने लगे और पंचायत में अपनी दुर्दशा होने की जिम्मेवरी एक दूसरे पर डालने लगे। बहुतों का रोष बेचारे इन्द्रलालजी शास्त्री पर था और लोग आम तौर पर यह कहते सुने जाते थे कि बिरादरी में कलह का मूल कारण यह शख्स है। शास्त्री जी में यह गुण है कि लोग कुछ भी कहें और समझें, वे अपना मतलब बनाने में नहीं चूकते। समाज के पैसे से दिगम्बर जैन महापाठशाला में शिक्षा पाई। इसके बाद स्वर्गीय भट्टारक महेन्द्रकीर्त्तिजी की कृपा से आप का विवाह हो गया। लोगों ने इस सम्बन्ध में भी बहुतेरी बातें बनाई, पर यदि आप उन बातों पर ही विचार करते तो शायद बेचारे आज तक कुँवारे ही फिरते। कुछ दिन इधर उधर सामाजिक संस्थाओं में काम करने के बाद आप रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी साहिब के यहाँ जयपुर में मुलाजिम होगये। वहाँ पर आपने अपनी जड़ लगाने वाले पं० नानूलालजी शास्त्री पर ही हाथ साफ किया और उनको निकलवा कर खुद उनकी जगह पर जम गये। अभी चार पाँच महीने हुए होंगे, आप किसी कारणवश सेठ टीकमचन्दजी के यहाँ से निकाल दिये गये तो आपने आचार्य(!)शांतिसागरजीको पकड़ा और उनसे अर्ज कियाकि महाराज, आपकी सेवाका यह फल मिल रहा है कि नौकरी से भी अलग कर दिया गया। आखिर शांतिसागरजी को अपने साधक की मदद करनी पड़ी और उन्होंने सेठ गोपीचन्दजी साहिब ठोलिया से कहकर इन्हें उनके यहाँ से ३०) या ४०) मासिक मिलने का प्रबंध करवा दिया। इस प्रकार शास्त्री जी ने मुनिभक्ति के नाम पर अपना अड़ंगा जमा ही लिया। बीच बीच में एक दो दफ़ा हवा का झोंका आया। एक दफ़ा शांतिसागरजी ने सेठ गोपीचन्दजी से, ११ सुधारकों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा पर दस्तखत करने के लिये कहा तो सेठजी साफ इनकार हो गये। बेचारे इन्द्रलालजी शामत के मारे बीच में बोलउठे कि महाराज, ये बड़े आदमी ही धर्म को डुबोते हैं। बस, फिर क्या था? सेठ साहिब ने सब लोगों के सामने इन्द्रलालजी का वह माजना बिगाड़ा कि जो आदमी हो तो शायद उम्र भर न भूले, पर दूध

देने वाली गाय की लात भी खानी पड़ती है। सेठ साहिब से रुपया मिलता है, इससे इन्द्रलालजी को चुप हो जाना पड़ा। हालमें जब शांतिसागरजी खानियाँ चले गये तो इन्द्रलालजी भी वहाँ पहुँचने लगे। एक दिन इनकी किसी हरकत से नाराज हो कर खानियाँ के जिनमन्दिरजी के निर्माताओं के वंशज एकसज्जन से इनकी बहुत कुछ कहा सुनी हो गई और उन्होंने इन्हें यहाँ तक कह डाला कि—खबरदार, हमारी नसियाँ में आया तो। ऐसी घटनाएँ यहाँ जयपुर में इनके साथ अक्सर हुआ करती हैं, पर ये अपनी भावनाओं को शुद्ध बनाने और अपनी निकृष्ट आदतों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होते।

ता० २० अक्टोबर वाली आम पंचायत के पहिले ही शांतिसागरजी जयपुर से खानियाँ चले गये थे। पंचायत में उनके भक्तों का पोलखाता जिस क़दर जाहिर हो गया उससे लोगों का अनुमान था कि शायद अब शांतिसागरजी शहर में ही न आयँगे और चातुर्मास के पीछे खानियाँ से ही विहार कर जायँगे, क्योंकि मुनि चातुर्मास में अकारण ही अपने स्थान परिवर्तन नहीं किया करते। शांतिसागरजी शुरू में ठोलियों के मन्दिर में रहे, फिर आमेर की चौपड़ में पाटोदी के मन्दिर चले गये, फिर वहाँ से भी चार मील की दूरी पर खानियाँ चले गये। हम नहीं समझते कि इस प्रकार चातुर्मास में ही बराबर स्थान परिवर्तन करते रहना कौन से शास्त्र के अनुकूल है? खानियाँ में जब भक्त लोग आचार्य (!) महाराज से ज़ोर के साथ कहने लगे कि वे जयपुर लौट चलें तो आपने फ़र्माया कि मुझे तंग मत करो, वरना मैं यहाँ से भी चातुर्मास में ही विहार कर दूँगा, भले ही मुझे इसके लिए प्रायश्चित्त कर लेना पड़े। आचार्य महाराज(!) के खानियाँ चले जाने के कुछ दिन बाद नेमिसागरजी, कुंथसागरजी, श्रुतसागरजी व वीरसागरजी भी उनके पास चले गये, पर चन्द्रसागरजी पाटोदी के मन्दिर ही रह गये। मुझे विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि चन्द्रसागरजी के और संघ के अन्य मुनियों के बीच काफी मनमुटाव भी हो गया था और एक दिन वीरसागरजी ने तो खानियाँ में कुछ श्रावकों को खुले रूप में यहाँ तक कह डाला था कि चन्द्रसागरजी आचार्य महाराज की आज्ञा के बिना जयपुर रहते हैं अतः श्रावकों को उन्हें वहाँ पर नहीं रहने देना चाहिये।

हाँ, पिछले अंक में एक मजेदार बात लिखी जाने से रह गई थी। ता० २० की आम पंचायत में विफल मनोरथ हो, भक्त लोग तो दिल मसोस कर बैठ गये थे, पर कुछ धूर्तों ने एक पर्चे पर ११ नाम लिखकर मन्दिर के किवाड़ों पर चिपका दिये और यह लिख दिया कि अमुक अमुक शख़्स पंचायत द्वारा जातिबहिष्कृत कर दिये गये हैं। इस की खबर पाकर पुलिस कोतवाल घटनास्थल पर पहुँचे। उनको दूरसे देखकर ही भक्तोंने चट पर्चेको फाड़ डालने की कोशिश की, पर जल्दी में कुछ कुछ अंश चिपके ही रह गये। कोतवाल ने पूछा कि यह पर्चा किसने चिपकाया था तो सब कहने लगे कि महाराज, हमें तो मालूम नहीं। आखिर कोतवाल यह हिदायत करके चले गये कि आयन्दा ऐसे झूठे पर्चे चिपकाओगे तो ठीक न होगा।

खानियाँ में शांतिसागरजी की केशलौंच हुई। हजारों तमाशबीन उपस्थित थे। बाहिर गाँवों से बेचारी अर्धशिक्षित ग्रामीण जनता बहुत संख्या में आई थी। सैकड़ों रुपया विधर्मी ताँगे इक्के वालोंके हाथ लगा और जिन धानके, बलाई आदि अछूत समझे जानेवाले लोगोंसे स्पर्श न होने देनेके लिए इतना जोर दिया जारहा है, उन्हींके बराबर बैठकर धर्म-

ध्वजी जैनियों की स्त्रियाँ व पुरुष खानियाँ पहुँचे। मैंने पिछले अंक में लिखा था कि यह मुनिसंघ जहाँ पहुँचे वहाँ कलह और लड़ाई झगड़ा होना अवश्यम्भावी है। खानियाँ में भी यही हुआ। वहाँ पर किसी बात पर नसियाँके बनानेवाले राणाजीके वंशजों और सेठ बनजी साहिब ठोलिया के खानदान वालों में आपस में लड़ाई झगड़ा और खासा धौल-धप्प तक हो गया। मामला बढ़ता देखकर शांतिसागर जी ने कह दिया कि मैं तो लौंच ही नहीं करता। आखिर किसी तरह चापा-चेपी हो कर लौंच की रस्म अदा की गई।

रात को ठंड न लगे, इसलिए मुनि लोग मंदिर में बंद कोठड़ियों में सोते थे। ये कोठड़ियाँ ऐसी बंद हैं कि उनमें कोई खिड़की या उजालदान तक नहीं है। किंवाड़ बंद कर लेने पर हवा को नाम के लिए भी प्रवेश का रास्ता नहीं मिलता। एक दफ़ा इससे बहुत भयंकर काण्ड होता होता बच गया। केशलौंच के दिन भक्तों ने शाम को शान्तिसागर जी के शरीर पर कुछ थरथराहट सी देखी तो यह सोच कर कि रात को कहीं महाराजको ठंड न लगे, उन्होंने धकधकाते कोयलों की सिगड़ियाँ तैयार कर महाराज की कोठड़ी में रख कर किंवाड़ बंद कर दिये। महाराज को नींद आ गई। कोयलों के जलने के कारण कोठड़ी की हवा थोड़ी देर में खराब होगई और महाराजको कोलगैस पायज़निंग (Coal gas poisoning) हो गया। सौभाग्यवश इस का पता जल्दी ही लग गया और फ़ौरन शहर को इत्तिला भेज कर वैद्यराजजी को बुलवा कर बाह्यरूप से दवा आदि का उपचार किया गया जिस से महाराज की तबीयत धीरे धीरे ठीक हो गई। लोग समझ सकते हैं कि शीत परिषह को जीतने के लिए कितने अच्छे उपाय काम में लाये जाते हैं!

मुनिमण्डली के सत्कार के लिए भक्त लोग मंदिरोंमें उत्सव, रथयात्रा व कलशाभिषेक के आयोजन करते हैं। पाटोदी के मंदिर में भी उत्सव किया गया। उत्सव पूर्णिमाको खतम हो जाने वाला था, अतः लोगों ने कोशिश की कि शान्तिसागर जी भी उत्सव में पधारें, पर लाख कोशिश करने पर भी वे न पधारे। उधर खानियाँ की नसियाँ में भी उत्सव जमा दिया गया। पूर्णिमा को वहाँ पर रथयात्रा हुई। महाराज बीसपंथ आम्नाय के पोषक होने के कारण कलशाभिषेक के पूर्ण पक्षपाती रहा करते हैं, पर चूँकि राणाजी की नसियाँ वाले तेरहपंथी हैं अतः वे भक्तों के कोशिश करने पर भी अपने यहाँ कलशाभिषेक कराने के लिए तैयार न हुए। आखिर भक्तों ने पास की दूसरी नसियाँ में कलशाभिषेक का अड़ंगा रोप दिया। एक नसियाँ में रथयात्रा हुई और दूसरी में कलशाभिषेक। महाराज पूर्णिमा के बाद जयपुर लौटेंगे और तब तो हमारे उत्सव में आ ही जायँगे, इस खयाल से पाटोदी के मंदिर के पंचोंने उत्सव तीन दिन के लिए और बढ़ा दिया। सुना है कि शांतिसागर जी ने उनसे उत्सव में पधारने का वादा भी कर लिया था, पर फिर न मालूम क्यों उस इरादे को बदल डाला। मँगसर बुदि ३ के दिन मुनिसंघ खानियाँ से वापिस जयपुर आने को था। इधर तीज के दिन से ही ठोलियों के मंदिर में सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया आदि की ओर से बहुत बड़ी साजोसजावट के साथ उत्सव का आयोजन किया गया था। दस पन्द्रह दिन से रात दिन चौबीसों घंटों बीसियों मजदूर लोग काम कर रहे थे। सुना जाता है कि इस उत्सव की जड़ में खानियाँ में केशलौंच के दिन ठोलिया खानदान के साथ किया गया अपमान तथा कुछ ऐसी ही बातें थीं। मुनिसंघ से इस उत्सव वि-

धान के बारे में पूँछ लिया गया था और उनकी स्पष्ट स्वीकारता मिल जाने पर ही इसका आयोजन किया गया था। पाटोदी के मंदिर से सम्बंधित लोगों ने सोचा कि मुनिसंघ हमारे उत्सवमें नहीं आया और ठोलियोंके मंदिर चला जायगा तो इससे हमारी बड़ी हतक होगी। इसलिए उन्होंने एक दफा फिर मुनिसंघ को अपने मंदिर में लाने की जी तोड़ कोशिश की। तीज के दिन प्रातःकाल ३ बजे ही वे लोग काफ़ी संख्या में खानियाँ पहुँच गये। ज्ञानसागरजी ने उनसे वादा भी कर लिया कि अच्छा, पहिले यहाँ से सीधे पाटोदीके मंदिर चले चलेंगे और फिर वहाँ से ठोलियोंके मंदिर चले जायँगे। इतना ही नहीं, मोटरलॉरी पर लाद कर मुनिसंघ का सामान भी पाटोदी के मंदिर भेज दिया गया। मुनिसंघ चला, पर जहाँ से रास्ता अलग होता है वहाँ से वह ठोलियोंके मंदिर के रास्ते की ओर मुड़ गया। पाटोदी के मंदिर से संबन्धित लोगों ने बहुत कहा कि महाराज हमारे यहाँ चलिये, पर उन्होंने एक न सुनी। इससे उन लोगों को बहुत गुस्सा आया और बहुत से तो बरमला यह कहने लगे कि ये काहे के मुनि हैं ? इनको अपने वचन की कोई पाबंदी नहीं तथा रागद्वेष इनमें कूट कूटकर भरा हुआ है। अस्तु। मुनिसंघ आने को तो ठोलियों के मंदिर में आकर ठहर गया, पर बाद में उन्होंने सोचा कि आमेर के बाज़ार वाले लोगों को इतना भड़का देना ठीक नहीं हुआ, अतः नेमिसागरजी, वीरसागरजी तथा क्षुल्लक ज्ञानसागरजी को उधर जाकर आहार लेने का हुक्म हुआ। ये बेचारे उधर गये पर वहाँ तो लोग इतने भड़के हुये थे कि किसी ने भोजन ही नहीं बनाया था। इनके जाने पर लोगोंने साफ़ कहा कि महाराज, हम लोग इधर रहने वाले तो गरीब आदमी हैं, आप तो परले बाजार ही जाओ। यहाँ कौन आहार बनाता है ? खास भक्तों के मुँह से ही इस प्रकार के शब्द सुनकर इन लोगों को कितना दुःख हुआ होगा, यह इनका जी ही जानता होगा। आखिर एक जगह नेमिसागर जी का तो आहार हो गया, बाक़ी लोगों को योंही लौट आना पड़ा। जब यह हाल शांतिसागर जी को मालूम हुआ तो फिर तीसरे पहर सब मुनि पाटोदी के मंदिर पहुँचे और वहाँ वालों के चित्त के उद्वेगों को शांत करने की फ़िक्र हुई। लोग कुछ शान्त हुए, पर अंतरंग के भाव सब बाहिर आ चुके थे। आज पं० मक्खनलालजी भी जयपुर आ पहुँचे थे। इन्होंने भी मामले को सुलझाने की काफ़ी कोशिश की, पर लोगों ने उन्हें भी मुँह दर मुँह यहाँ तक कह डाला कि ज्ञानसागरजी को जो एक हज़ार रुपया मिला है वह आखिर आप ही की जेब में तो जायगा। क्रुद्ध और बिगड़े हुए लोगों से बेचारे मक्खनलालजी क्या कहते ? उन्होंने तरकीबसे लोगों को शांत करने की कोशिश की और इसमें उन्हें थोड़ीसी सफलता भी मिली। पर, अभी तक साँगानेर और आमेर की चौपड़ के श्रावकों में आपस में काफ़ी तनातनी है। देखिये, क्या हाल रहता है ? जब तक मुनिसंघ जयपुर में है तब तक तो जैनसमाज पर शनि की दृष्टि ही समझनी चाहिये।

पाटोदीके मंदिरका उत्सव मिती मँगसर बुदि ४ को पूरा होगया। वहाँ मण्डल पर ही सब प्रकारकी सामग्री चढ़ाई जाती है और जब तक उत्सव पूरा न होजाय सामग्री, मण्डल परसे उठाई नहीं जाती। कई दिन तक उत्सव जारी रहने से, चढ़ी हुई नैवेद्य पर कीड़ियों का ढेर लग गया था तथा हरे फल सड़ जाने से लटें भी पैदा हो गई थीं। क्या हमारे जैनी भाई इस बात पर ध्यान देंगे कि क्या पूजा के नाम पर इस तरह की हिंसा बचाने का उपाय करना वाजिब न था ? —संवाददाता।

साहित्य और इतिहास।

[लेखक—श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(४) प्राकृत की अवहेलना।

जिस तरह बौद्धधर्मकी प्रधान भाषा पाली है, उसी तरह जैनधर्मकी अर्द्धमागधी या प्राकृत है। सारा प्राचीन जैनसाहित्य अर्द्धमागधी या प्राकृतमें है। परन्तु ज्यों ज्यों जैनधर्म और उसके साधु-सम्प्रदायपर हिन्दुओं का प्रभाव बढ़ता गया और संस्कृतज्ञता पाण्डित्यकी निशानी बनती गई, त्यों त्यों प्राकृत का पठन-पाठन कम होता गया और प्राकृतका स्थान संस्कृत लेती गई। एक कारण यह भी हुआ कि प्राकृत लोकभाषा नहीं रही, उसका ज्ञान प्राप्त करना भी संस्कृत के ही समान कठिन होता गया। बीच में प्राकृत का स्थान तत्कालीन अपभ्रंश भाषा ने लिया था, और उसमें भी विपुल जैन साहित्य लिखा गया था परन्तु धीरे धीरे वह भी दुरूह होती गई और उसका स्थान वर्त्तमान की प्रान्तीय भाषायें लेती गई। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो प्राकृतभाषाकी इतनी अवहेलना हुई कि उसमें मुख्य स्थान संस्कृतको ही दे दिया गया। उस का प्राकृत साहित्य उपेक्षा और अवहेलना के कारण धीरे धीरे नष्ट होकर दुर्लभ होता गया और इस सम्प्रदाय के विद्वान् और उपदेशक तो इस बात को ही भूल गये कि उनकी पूज्य और प्रधान भाषा प्राकृत है। इस समय सारे दिगम्बर सम्प्रदाय में एक भी ऐसा विद्वान् नहीं है, जिसे प्राकृत या मागधी का विशेषज्ञ कहसकें, जब कि संस्कृत के जानने वाले सैकड़ों हैं।

(५) प्राकृतग्रन्थों के अनुवाद।

दिगम्बर सम्प्रदाय में प्राकृत ग्रन्थों के संस्कृत अनुवाद खूब हुए हैं और बहुत समय तक होते रहे हैं। श्री रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण या पद्मचरित बहुत प्राचीन ग्रन्थ है, फिर भी वह प्राकृत पउमचरिय* का अनुवाद है। श्री सर्वनन्दि आचार्य के प्राकृत लोकविभाग का अनुवाद श्री सिंहसूरिकृत संस्कृत लोकविभाग है। मूल ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। श्री देवसेनसूरिके प्राकृत भावसंग्रह का अनुवाद श्री वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह § है। श्री अमरकीर्तिकृत छक्कम्मोवएस × का अनुवाद संस्कृत 'षट्कर्मोपदेश' है। अमितगतिसूरि के सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ भी मूल प्राकृत-ग्रन्थोंके अनुवाद मालूम होते हैं। उनका पंचसंग्रह प्राकृत गोम्मटसार का अनुवाद भले ही न हो परन्तु जिन मूल प्राकृतग्रन्थों पर से गोम्मटसार (गोम्मटसंगह सुत्तं) संगृहीत हुआ है, उन्हीं का संस्कृत संग्रह पंचसंग्रह है। आचार्य शिवकोटि की भगवती आराधना का अनुवाद भी अमितगतिसूरिने इसी नाम से संस्कृत में किया है।

(६) विक्रमादित्य और खारवेल।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू काशीप्रसादजी जायसवाल ने बिहार-उड़ीसा-रिसर्च सोसाइटी के (सितम्बर-दिसम्बर १९३०) जर्नल में इतिहास के कई उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाया है और उसमें अपने अगाध पाण्डित्यका परिचय दिया है। उनमेंसे कुछ बातें ये हैं:—

शकारि विक्रमादित्य —अभी तक अधिकांश इतिहासज्ञों का मत यह है कि विक्रमसंवत् का प्रवर्तक विक्रमादित्य राजा ईस्वीसन् से ५७ वर्ष पहले न होकर बहुत पीछे पाँचवी छठी शताब्दि में हुआ है। कोई उसे गुप्तवंशी समुद्रगुप्त बतलाता है, कोई चन्द्रगुप्त और कोई कुछ। किसी किसी के मत से मालवगण संवत् ही पीछे विक्रमसंवत् कहलाने लगा है। अब श्रीयुत जायस-

*यह ग्रन्थ जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर ने डॉ० हर्मन जैकोबी से संशोधन कराके प्रकाशित किया है।

§ दोनों भावसंग्रह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के भावसंग्रहादि नामक संग्रहग्रन्थ में प्रकाशित हो चुके हैं।

× इस ग्रन्थ की प्रति मुझे अहमदाबाद के प्रो० केशवलाल हर्षदराय ध्रुव की कृपा से प्राप्त हुई थी।

वालजीने सिद्ध किया है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ही सुप्रसिद्ध विक्रमादित्य थे। ये आन्ध्र राजा थे और सातकर्णि, सातवाहन और शालवाहन, ये इस राजवंशकी उपाधियाँ थीं। गाथा सप्तशतीके कर्त्ता हालने जो ईस्वीसन् ६९ के लगभग या उससे कुछ पूर्व हुआ है, एक गाथा में विक्कमाइच (विक्रमादित्य) की दानशीलता का वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि विक्रमादित्य उससे पहले हो गये हैं। इसी समय के बृहत्कथा ग्रन्थ से भी उस समय से पूर्व ही विक्रमादित्य का होना पाया जाता है।

विक्रमादित्य 'शकारि' या शकों को जीतने वाले थे। उनका स्थान उज्जयिनी बतलाया जाता है। यह मौर्यकाल में, टालेमी के कथनानुसार चष्टन के समय में और हरिवंशपुराणकर्त्ता जिनसेन के आधार पर शुंगकाल में भी पश्चिमी भारत की राजधानी थी। प्रो० रापसनने ऋषभदत्त और गौतमीपुत्र के शिलालेखों और नहपान के सिक्कोंके आधारपर सिद्ध किया है कि नहपान को गौतमीपुत्र ने जीत लिया था और इस प्रकार सारा मालवा उज्जयिनी और अवन्तिसहित शकोंसे मुक्त हो गया था। नहपान शक था*। आवश्यक सूत्र और उसकी टीका आदि जैनग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि शालवाहन राजा ने नहवान (नहपान) की राजधानी कई चढ़ाइयों के पश्चात् जीत ली और नहवान अन्तिम घेरे में मारा गया। यह शालवाहन गौतमीपुत्र सातकर्णि ही था। इसका समय ईस्वी सन् पूर्व १००-४४ है। इसके अभिषेक के १८ वें वर्ष में यह युद्ध हुआ था। सोपपत्तिपूर्वक समझनेके लिए पूरा लेख पढ़ना चाहिए।†

*त्रिलोक प्रज्ञप्ति में वीरनिर्वाणकालगणना बतलाते हुए जिस नरवाहन का ४० वर्ष राज्य करना लिखा है, वह शायद यही है। इसके बाद 'भच्चट्ठाणं' का २४२ वर्ष राज्य बतलाया है, जो हमारी समझ में 'भृत्यान्ध्राणां' का अपभ्रंश है। गौतमीपुत्र इस आन्ध्रवंश का ही होगा।

† नागरीप्रचारिणीपत्रिका भाग १२, अंक ... में अंग्रेजी लेख का सारांश प्रकाशित हुआ है।

खारवेल और गर्दभिल्ल। जायसवाल महाशयने यह भी सिद्ध किया है कि उड़ीसा के जैन सम्राट् महामेघवाहन खारवेल और गर्दभिल्ल दोनों एक ही हैं। खारवेल से खरवेल हुआ, खर और गर्दभ पर्यायवाची एक ही अर्थ के शब्द हैं। इस तरह खरवेल से गर्दभिल्ल शब्द बन गया। ‡
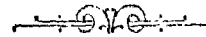
‡ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पुष्यमित्र, वसुमित्र और अग्निमित्र राजाओं के बाद १०८ वर्ष तक 'गंधव्वाणं' (गन्धर्व राजाओं) का राज्य बतलाया है। संस्कृत हरिवंशपुराण के कर्त्ता ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति के ही आधार से अपनी कालगणना लिखी है। उन्होंने शायद गंधव्वाणं, को 'गद्दभाणं' पढ़कर संस्कृत में 'गर्दभानां' समझा और उसका पर्यायवाची शब्द 'रासभानां' अर्थात् रासभ राजा लिखदिया है। क्या गन्धर्व, गर्दभ, या रासभ से मतलब उक्त खारवेल या खरवेल के ही वंशके राजाओं से नहीं हो सकता है?
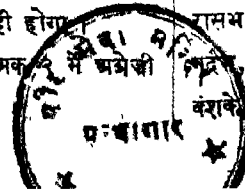
"जैनधर्म का मर्म" पर सम्मतियाँ।

श्रीमान् बाबू सूरजभानुजी वकील की सम्मति—

(१८)

मनुष्य और पशु में यही बड़ा भारी अन्तर है कि पशु अपने हित और सुखसाधन के वास्ते न कुछ विचार से काम ही लेता है और न कुछ आविष्कार ही करता है। वह न अनाज पैदाकरता है, न पीसता पकाता है और न वस्त्र या मकान आदि बनाता है; किन्तु घासपात या मांस आदि जो कुछ प्रकृति से बना बनाया मिल जाता है, उसको उसी रूपमें कच्चाही खालेता है, नंगाही विचरता है और पड़कर वैसाही प्रकृति की गोदमें सोरहता है। परन्तु मनुष्य ने विचार से काम लेकर अपने हितके लिये अनेकानेक आविष्कार किये हैं और करता रहता है। न जाने कहाँ कहाँ से ढूँढ़कर अपने अनुकूल अनाजों और फलोंके बीज लाना, उनके बोनेकी विधि निकालना,कुए आदि बनाकर और कुए से पानी निकालनेकी कल बनाकर उनको सिंचन करना, पत्थर की चक्की बनाकर अनाज पीसना अग्नि को काम में लानेकी विधि मालूम कर उससे रोटी पकाना, मिट्टी और धातु आदि के बर्तन बनाना, कपड़ा बुनना और सीना, मकान चुनना, आदि अनेक बातें है जो मनुष्यने धीरे धीरे अपनी बुद्धि से ही निकाली हैं। पिछले समय में क्रमरूपसे आहिस्ता आहिस्ता इन आविष्कारों के करने में चाहे कितना ही समय लगाहो; परन्तु आजकल तो यूरोपमें नवीन आविष्कारों की ऐसी घुड़दौड़ होरही है कि सुनकर ही बुद्धि चक्कर में पड़जाती है। एक, तार के द्वारा पलभर में लाखों मील खबर पहुँचाने की विधि निकालता है; दूसरा बेतार के ही खबर पहुँचाने का सुभीता करदेता है। तार से तो संकेतोंके द्वारा ही खबर पहुँचती थी, परन्तु तीसरा एक ऐसी विधि निकालता है जिससे ज्यों के त्यों शब्द भी बिना तारके लाखों मील पहुँचने लगें; और चौथा ऐसा आविष्कार करता है जिससे बोलने वालेका स्वर तक भी ज्योंका त्यों पहुँच जावे, मानो वह ही बोलरहा है। इत्यादि अनेक बातों में महा चमत्कृत आविष्कार होरहे हैं, जो सब बुद्धिकी स्वतन्त्रता के ही फल हैं।

संसार की सबही वस्तुओं में यह एक प्राकृतिक दोष है कि वे अभ्यासकारिणी होती हैं। लकड़ी के लट्टू पर तागा लपेट कर जब उसको घुमाते हैं तो तागा अलग होजाने पर भी वह बहुत देर तक आप ही आप घूमता रहता है। ऐसा ही संस्कार चेतन अचेतन सबही वस्तुओं में होता है। मनुष्य भी इस दोषसे नहीं बचा है। यद्यपि मनुष्य अपने ज्ञान से इस दोष को हटा कर या दबाकर पुराने संस्कारों से निकलसकता है और नवीन विचारों में लगसकता है; परन्तु सबही ऐसा नहीं करसकते हैं। सर्व साधारण तो पिछले संस्कारों के ही फंदे में पड़े रहते हैं। जो कुछ होरहा है, वही सब कुछ है। उन बेचारोंकी बुद्धि तो उससे आगे चलती ही नहीं है। यह तो किसी बड़े बुद्धिमान का ही काम होता है कि वह नवीन खोजकी तरफ अपने बुद्धि-बल को लगावे और नई बात खोज कर लावे। पुराने संस्कारों में जकड़े रहनेके कारण बेचारे साधारण लोगों में तो इतनी बुद्धि भी नहीं होती कि अपने पुराने संस्कारों के विरुद्ध वे किसी बुद्धिमान की निकाली हुई नई बातको सुनसकें। वे प्रत्येक नवीन बात को मनुष्य के लिये महा अहितकर समझते हैं। इसी कारण वे उसे सुनना भी नहीं चाहते हैं और यदि कोई सुनानेके लिये आग्रह करता है तो अ-

त्यन्त विरोध करते हैं। यूरोप जैसे देशों में भी जहाँ आजकल इतने भारी आविष्कार हो रहे हैं, अब से कुछ शताब्दी पहले नवीन विचार प्रकट करने वालों को जानतक से मार डाला जाता था। ऐसी लाखों हत्यायें धर्मगुरुओं अर्थात् पादरियों तक के हुक्म से होती थीं। पृथ्वी घूमती है, इस सिद्धान्त पर आज कल सब ही योरुपवासियों का अटल विश्वास है, परन्तु सब से पहले जिसने यह विचार प्रकट किया था वह इसी अपराध में जान से मार डाला गया था। जीव अनादि है, इस सिद्धान्त के कहने के कारण सुकरात (साक्रेटीज़) को न्यायालय से मृत्युदंड दिया गया था।

चाहे जान जाय या अन्य कोई हानि उठानी पड़े, परन्तु जो विचारवान् यह समझ लेते हैं कि लोग अपने पुराने विचारोंके कारण अंध-कूपमें पड़े हुये हैं, वे अपने नवीन विचारोंको अपने ही हृदयमें क़ैद नहीं रख सकते हैं, किन्तु मनुष्यके हितके लिये अवश्य बाहर निकालते हैं। ऐसेही विचारवान और साहसी पुरुषों द्वारा मनुष्यकी उन्नति होती रही है। ऐसे ही साहसी पुरुषों के कारण योरुप अमेरिका में आजकल नवीन नवीन आविष्कार करनेका ही एक प्रकार का संस्कार वा प्रचार हो गया है। अब वहाँ नवीन विचार प्रकट करनेवाला मारा जाने वा रोका जानेकी बजाय अत्यन्त आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है, और उसका भारी आभार माना जाता है।

हिन्दुस्तानमें भी किसी समय विचार-स्वतन्त्रता का दौरदौरा था और तभी यह देश अन्य सब देशों का शिरोमणि गिना जाता था। ज्ञान, विज्ञानमें तो कोई देश इसके पासंग के बराबर भी नहीं था, परन्तु न मालूम किस कारण से इसमें विचारशून्यता का प्रचार होगया जिससे इसका धर्म और ज्ञान-विज्ञान सब कुछ नष्ट होकर यह दूसरोंका गुलाम बन गया और महामूर्खों की बस्ती कहलाने लग गया।

हम पं० दरबारीलालजी को कोटिशः धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचार, लोगोंके सामने रखने का महान् साहस किया है। लोगों को चाहिये कि वे उनके इन विचारों को अच्छी तरह मनन करें और फिर जो ठीक जँचें उनको ग्रहण करें; और जो ग़लत मालूम हों उनका खंडन करने की कोशिश करें। नवीन बात को सुनकर चिढ़ना, गालियाँ देना या कान बन्द कर लेना बुद्धिमानों का काम नहीं है।

महावीर स्वामी ने जो कुछ कहा, वह अक्षरशः सत्य था, यह मानकर भी जैनोंके वास्ते यह विचार करना ज़रूरी हो जाता है कि उन्होंने क्या कहा था। जो दिगम्बर कहते हैं वह उनका कहा हुआ है, या जो श्वेताम्बर कहते हैं वह उनके वाक्य हैं? दिगम्बरों में भी जो आचार्यों के वाक्य हैं वह महावीर स्वामी के वचन हैं या जो भट्टारकों ने ग्रन्थ रच दिये हैं, वह उनके वचन हैं, या इन सबको छोड़कर जो प्रवृत्ति हो रही है वह उनकी आज्ञा के अनुसार है? बीस-पन्थी उनकी बात पर चलते हैं या तेरहपन्थी, या आजकल के मुनि और पण्डितगण? शास्त्रों में जगह जगह विजातीय-विवाह की भरमार है और पण्डित लोग बड़े ज़ोर शोर से इसका खंडन कर रहे हैं! साधु लोग सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कथन को बिलकुल ही गौण करके शूद्रजलत्याग पर ही जैनधर्म की नींव जमा रहे हैं! ऐसी हालत में अन्धे की तरह आँख मींच किसको लाठी पकड़ा कर उसके पीछे पीछे चलें, इसके लिये भी विचार की ज़रूरत पड़ गई है। तब, विचारवान पुरुषों के विचारों को, चाहे वह कैसे ही नवीन क्यों न हों, सुनना अति आवश्यक हो गया है। हम उनको मानें, न मानें और कहाँ तक मानें, यह हमारा काम है; परन्तु न सुनना यह हमारा काम नहीं हो सकता है। हम सबको पं० दरबारीलालजी का आभारी

होना चाहिये जिन्होंने अपने नवीन विचार हमारे सामने रखने का साहस करके, अविचार रूप महा अन्धकार में पड़ी हुई हमारी विचारशक्ति को जगाने का उद्योग किया है। आशा है कि पंडित जी अपनी इस विचारशैली को बराबर प्रकट करते रह कर हम सब को विचारशील बनाने की कोशिश करते रहेंगे और बुरा कहने वालोंका बुरा न मानेंगे।

(२४)

श्रीयुत सी. एल. चिन्तामणि जैनदर्शनशास्त्री जयपुर की सम्मति।

परमश्रद्धेय पण्डितजी, सविनय अभिवंदन।

इन दिनों आप की धर्म के मर्म सम्बन्धी लेखमाला पर मेरा ध्यान विशेषतौरसे आकर्षित हुआ है। लेखमाला के कुछ लेख मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े हैं। उनसे मुझे अपने धार्मिक विचार विनिमय के लिये अच्छी सामग्री मिली है और इसी लिये दो पंक्तियें लिखने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई है।

धर्म का मर्म क्या है, इस विषय में आप जो प्रकाश डाल रहे हैं, संभवतः इसमें आप धर्मान्धता-सांप्रदायिकता-की पतनशीलता एवं सत्य धर्म की प्रतिष्ठा ही दिखाना चाहते होंगे। मैं समझता हूं कि आप इस ध्येय पर पहुंचने के लिये पूर्ण प्रयास करेंगे और किसी झूठे दायरे में कैद हो ने की कोशिश न करेंगे और यही बात आपने पं० सुखलालजी की महत्व सम्मति पर नोट करते समय जाहिर भी की है। अगर श्रीमान इस सत्य को दिखा सकें जिसकी कि विचारशील समाज को बहुत पहले से ही जरूरत है तो आप के इस कार्य की सफलता भी समाज एवं देश के निर्माण पुनर्निर्माणमें अत्यधिक सहायता प्रदान करेगी, और आपका नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों से सदैव अंकित रहेगा।

मैंने आज से कई दिन पूर्व यह महसूस किया था कि समाजसुधार और देशसुधार के प्रगतिशील आन्दोलन का कंटकाकीर्ण बनता हुआ भी मार्ग, धर्मान्धता की वजह से धर्मसुधार को पनपने नहीं देता; यद्यपि थोड़ा बहुत प्रयत्न सदैव से चला आया है। पं० टोडरमलजी एवं राजाराममोहनराय जैसे धर्मसुधारक इस देश को अपने उपदेशामृत से संजीवित करते रहे हैं। फिर भी वैज्ञानिक एवं सत्याग्रह के युगमें धर्मान्धता का बड़े बड़े नेताओं एवं उन्नतिशील जातियों में अस्तित्व देख कर हृदय में दर्द पैदा होता था। पर, हमारे विषाद को मिटा कर आपके पुनीत उद्यमने आशा किरणें दी हैं और हम आशा करते हैं कि आप उत्क्रांति के सिवाय सत्य को प्रकाशित करने की सफलतापूर्ण क्षमता प्राप्त करेंगे। शीघ्रातिशीघ्र देश और समाज अपनी धर्मान्धता–जिसकी वजह से नित्य फिसाद, अन्याय, अत्याचार जारी है, जो कि राजनैतिक एवं मानसिक गुलामी की जननी है—को बहिष्कृतकर आप जैसे महानुभावों की कद्र करना सीखे, यही एक मात्र इच्छा है। यह ठीक है कि अभी तक मैं लेखमाला के अन्तिमभाग को या कहिये उसके ध्येय को देखने के लिये लालायित हूं और अपनी अंतिम सम्मति भी नहीं दूंगा। फिर भी, यह कहने में मुझे कोई आनाकानी नहीं है कि आपके गंभीर लेखों से समाज व देश काफी प्रकाश ले सकता है और आगे के मार्गनिर्माण में आप का यह प्रयास उसका पूर्ण रूप होने पर भी अत्यधिक प्रगति प्रदान करने वाला होगा।

विशेष क्या ? श्रीमान विद्वद्वंदनीय पं० सुखलालजी जैसे महानुभावों की मौलिक सम्मति एवं आशीर्वाद का लाभ करना ही लेखमाला के भावी भाग्य को सूचित करता है। उनकी सम्मतिसे मैं बहुत करके सहमत हूं। हमारे लिखने के धीमानों और श्रीमानों के एवं त्यागी संस्थाके अयोग्य अधिकारियों के लिये मैं क्या लिखूं ? इस विषय में अधिक उपेक्षा करने पर भी कुछ दुःख हो ही जाता है। विशेष फिर। सेवा लिखें।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the "Ajmer Printing Works",
Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

ॐ

अङ्क ३

१ दिसम्बर सन् १९३२

जैनसमाज का एक मात्र स्वतन्त्र पाक्षिक पत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग़ तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

क्या आप जैनजगत्को पढ़ते हैं?

श्रावक—भगवन्! धर्म किसे कहते हैं?

आचार्य—जिससे लोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति हो।

श्रावक—भगवन्, जैनधर्मका मुख्य उद्देश्य क्या है?

आचार्य—मुक्तिका प्राप्त करना।

श्रावक—भगवन्, मुक्ति किस तरह प्राप्त होती है?

आचार्य—"रत्नत्रय" द्वारा।

श्रावक—भगवन्, "रत्नत्रय" का क्या अभिप्राय है?

आचार्य—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, और सम्यक् चारित्रका नाम रत्नत्रय है।

श्रावक—भगवन्, इन तीनोंका अर्थ समझानेकी कृपा कीजिये।

आचार्य—पदार्थोंको यथार्थ रूपमें जानना "सम्यक् ज्ञान," यथार्थ रूपमें देखना "सम्यक्दर्शन" और सर्वज्ञ केवलियोंका आचार पालन करना सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

श्रावक—भगवन्, मेरा लड़का चम्पालाल, जो स्कूलमें पढ़ता है, कहता है कि—"जिस समय हमारे यहाँ हिन्दुस्तानमें सूर्य उदय होता है उसी समय अमेरिका देशमें अस्त होता है। क्या यह बात ठीक है?

आचार्य—यह बात जैनशास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है।

श्रावक—भगवन्, मैं तो यह पूछना चाहता हूँ कि झूठी है या सच्ची?

आचार्य—जो बात सर्वज्ञ केवलियोंके वचनसे विरुद्ध हो उसे जैनी कैसे सच्ची मान सकते हैं?

श्रावक—भगवन्, जो बात युक्ति और प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध हो वह सत्य होती है या असत्य?

आचार्य—आज तक तो सुननेमें नहीं आया कि प्रत्यक्ष प्रमाणको असत्य कहा जा सके।

श्रावक—भ०, यदि मैं प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा आपको सिद्ध करके दिखाऊँ कि हिन्दुस्तान और अमेरिकाके बीच सूर्यके उदय और अस्तमें बारह घण्टोंका अन्तर होता है तो आप मानेंगे या नहीं?

आचार्य—इस बातकी परीक्षा तो वह कर सकता है कि जो अमेरिका जाय। हम न जासकते हैं और न परीक्षा कर सकते हैं।

श्रावक—भ०, इस बातको आप माननेके लिये तय्यार हैं या नहीं कि जिस समय कलकत्तामें सूर्य उदय होता है, रतनगढ़में उससे अनुमान एक घण्टे पीछे होता है।

आचार्य—हाँ, कई श्रावकोंके मुँहसे हमने ऐसा सुना है।

श्रावक—भ० 'ढाईद्वीप' और 'जम्बूद्वीप' के नकशोंमें दिनरात होनेकी जो विधि दिखाई गई है क्या वह ठीक है?

आचार्य—ढाईद्वीप और जम्बूद्वीपके नकशोंकी बातोंको कोई जैनी असत्य नहीं कह सकता और न कहना चाहिये।

श्रावक—यदि युक्ति और प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ढाईद्वीप और जम्बूद्वीपके नकशोंकी बातोंको मिथ्या प्रमाणित कर दिया जाय तो आप उन्हे मिथ्या माननेके लिये तय्यार हैं या नहीं?

आचार्य—जिन बातोंको हम सर्वज्ञ केवलीकृत मानते हैं उन्हे जैनी होते हुए मिथ्या कहनेका साहस कैसे कर सकते हैं?

श्रावक—तो फिर मिथ्यात्वको छोड़कर मनुष्य सम्यक् ज्ञानी कैसे बन सकता है?

आचार्य—हम मिथ्यात्व उसीको कहते हैं कि जो जैन शास्त्रोंके विरुद्ध हो और सम्यक् ज्ञानी उसीको समझते हैं कि जो जैन शास्त्रोंकी बातोंको सत्य माने और उनमें किसी प्रकारकी शंका न करे।

श्रावक—जब अन्य मतावलम्बी भी अपने शास्त्रोंकी बातोंको सत्य मानकर छोड़नेके लिये तैयार नहीं तो फिर इस बातका निर्णय कैसे कियाजाय कि उनकी बातें सच्ची हैं या जैनशास्त्रोंकी?

आचार्य—इस समय बुद्धि और विचारशक्तिही निर्णय कर सकती है।

श्रावक—यदि बुद्धि और विचारशक्ति जैनशास्त्रोंकी कुछ बातोंके विरुद्ध फ़ैसला दे तो क्या करना चाहिये? क्या जैनशास्त्रोंका संशोधन न करना चाहिये?

आचार्य—हम कुछ अधिक कहना नहीं चाहते। मालूम होता है कि आप "जैनजगत्" पढ़ते हैं।

श्रावक—हाँ महाराज, पढ़ता हूँ और दूसरोंको पढ़कर सुनाता भी हूँ।

आचार्य—हाँ भाई, पाँचवाँ आरा जो न करे सो थोड़ा है।

श्रावक—भगवन, जैनजगत् फिर चौथा आरा लाना चाहता है। —सत्यपाल।

शान्तिसागरजी का आचार्यत्व!

शांतिसागर संघकी कृपासे जैनसमाजमें चर्चासागर, सूर्यप्रकाश, दानविचार आदि ग्रंथ प्रकाशमें आये हैं। ये ग्रंथ कितने निकृष्ट तथा जैन शास्त्रोंके पवित्र नामपर कलंक रूप हैं, इसके विषयमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पंडितदलके कई कट्टर अनुयायी इन ग्रन्थोंको अमान्य घोषित करचुके हैं। श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० गजाधरलालजी शास्त्री व पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थके परिश्रमोंने इन ग्रन्थोंकी कलई खोल दी है और ये बिलकुल बनावटी, जाली व अधर्मपोषक प्रमाणित हो चुके हैं।

शांतिसागरजीसे कई दफ़ा प्रश्न किया गया कि वे चर्चासागरको मान्य ग्रंथ समझते हैं या अमान्य, परन्तु आजतक उनने या उनकी ओरसे उनके किसी भक्तने कोई उत्तर नहीं दिया। उनका मौन ज़ाहिर करता है कि वे चर्चासागरको मान्य समझते हैं। और सूर्यप्रकाश ग्रंथ तो खास उनकी सिफ़ारिशसे ही प्रकट हुआ है।

अब प्रश्न यह है कि जो शख्स उपरोक्त ग्रंथोंको मान्य समझता है अथवा दूसरे शब्दोंमें जो उपरोक्त ग्रंथोंमें वर्णित व अनुमोदित भ्रष्टाचारों और मिथ्यात्वपूर्णक्रियाओं को जैनधर्मानुकूल समझता है, क्या वह "आचार्य" पद का, और मुनिपदका भी, अधिकारी माना जासकता है?

मेरा यह प्रश्न उन लोगोंसे नहीं है जो स्वार्थवश त्रिवर्णाचार तथा उपरोक्त ग्रंथोंको साक्षात जिनवाणी समझते हैं और शान्तिसागरजीको अन्धश्रद्धावश "कलिकालसर्वज्ञ" बताते हैं। मेरा यह प्रश्न उन महानुभावोंसे है जिनको धर्म के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान है, जिनके विवेक-नेत्र खुलेहुए हैं और जो जैनधर्मके प्रेमवश मिथ्या ग्रंथोंके विपक्षमें यथाशक्ति आंदोलन कर रहे हैं। —एक जिज्ञासु।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharm at the "Ajmer Printing Works", Ajmer.

जैनधर्म का मर्म।

(१८)

अमूढदृष्टित्व अंग---सम्यग्दृष्टिको कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक होनेसे उसके सब काम सद्विचार पूर्वक होते हैं। लोकमूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता आदि अनेक प्रकारकी मूढ़ताओंसे वह रहित होता है। वह सुखके ठीक ठीक कारणोंको जानता है। इसलिये वह किसी के भुलाने में नहीं आता, अपने विवेकसे काम लेता है; रूढ़ियोंका गुलाम नहीं होता है।

लोकमूढ़ताका क्षेत्र विशाल है। समन्तभद्रने कहा है—

नदी या समुद्रोंमें स्नान करना, पत्थरोंका ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें जलकर मरना (सतीप्रथा) लोकमूढ़ता है।* (ये कार्य धर्म समझकर किये जायँ तो लोकमूढ़ता है)

भारतवर्षमें धर्मके नाम पर ऐसे बहुतसे कार्य होते रहे हैं और थोड़े बहुत अभी भी होते हैं, परन्तु इन कार्योंसे न तो करनेवालोंको कुछ सुख मिलता है न दूसरोंको सुख मिलता है। जब उनसे कोई स्वोपकार या परोपकार नहीं होता तब कल्याणके विरोधी होनेसे इन्हें मूढ़ता या अधर्म कहा जाता है।

यदि ये कार्य धर्म समझकर न किये जायँ अर्थात् स्वास्थ्य-सुधार आदिके लिये किये जायँ तो इन्हें मूढ़ता नहीं कहते क्योंकि इनसे सुख प्राप्त होता है।

उक्त श्लोकमें आचार्य समन्तभद्रने साम्प्रदायिक मूढ़ताओंका नाम लिया है परन्तु लोकमूढ़ताओंका क्षेत्रविशाल है। निर्विचिकित्सताके वर्णनमें जो छूआछूत, चौका आदिके नियमोंका उल्लेख किया गया है वे सबभी लोकमूढ़ताके उदाहरण हैं, क्योंकि उनसे भी कोई स्वपरहित नहीं है।

रूढ़ियोंकी गुलामी भी लोकमूढ़ता है। हमारे बाप दादे क्या मूर्ख थे, सिर्फ इसी विचारसे जो लोग रूढ़ियोंका पालन करते हैं, रूढ़ियोंसे कुछ लाभ है या नहीं—इसका विचार नहीं करते, अथवा उन्हें हानिप्रद जान करके भी बापदादोंके नाम पर उनसे चिपके रहते हैं वे लोकमूढ़ताके उदाहरण उपस्थित करते हैं।

विवाहके रीति-रिवाजोंकी रूढ़ियाँ, वैवाहिक बन्धनोंकी रूढ़ियाँ, वेष आदिकी रूढ़ियाँ आदि हजारों रूढ़ियाँ हैं जो निरुपयोगी या हानिकर हैं। उनको अपना कर्तव्य समझना लोकमूढ़ता है।

कौनसा कार्य लोकमूढ़ता है, और कौनसा नहीं—इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि मूढ़ता क्रिया पर नहीं, आशय पर निर्भर है। कोई कार्य विवेक-

* आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार २२।

रहित होकर किया जाय, वह प्रकटमें अच्छा मालूम होने पर भी मूढ़ता हो जाता है। उदाहरणार्थ— तीर्थयात्रा अच्छा कार्य है, क्योंकि उससे महापुरुषों के जीवनका विशेष स्मरण होता है तथा उनके समान बननेकी भावना होती है। दूसरा लाभ यह है कि देशाटनसे हृदयकी सङ्कुचितता दूर होती है, विदेशके गुणोंका परिचय होता है, अनुभव बढ़ता है, प्रान्तीयताके स्थानमें मनुष्यताका भाव उत्पन्न होता है। परन्तु बहुतसे मनुष्य इन दो प्रकारके लाभोंमेंसे एकभी लाभ नहीं उठाते, न उनके मनमें इस प्रकार के लाभ उठानेका विचार रहता है। ऐसे लोगोंके लिये तीर्थयात्रा भी मूढ़ता है। वे लोग बिना किसी विवेकके दूसरोंकी नक़ल करते हैं। इस प्रकार विवेकशून्य होकर मन्दिर बनवाना आदि कार्य भी मूढ़ता कहलाते हैं।

इसी प्रकार और भी बहुतसी मूढ़ताएँ हैं। एक आदमी बीमार होता है; बीमारीके अनुसार उसका इलाज करना ठीक है। परन्तु कोई बीमारी को दूर करनेके लिये शीतलाको जल चढ़ाता है, दुर्गापाठ कराता है, मूर्त्तियोंका चरणोदक सिरसे लगाता है, मंत्र जपता है आदि। यह सबभी लोकमूढ़ता है। भले ही ये सब काम चाहे महावीर को आधार बनाकर किये जायँ या बुद्ध को, विष्णुको, शिवको या और किसी देवी देवता को। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि बीमारी वगैरहको दूर करनेके लिये जिनेन्द्रकी या अपने देवकी पूजा अर्चा आदि में कुछ दोष नहीं है, परन्तु दूसरे देवोंकी या कुदेवों की उपासनामें दोष है। परन्तु यह भूल है। बीमारी वगैरहको दूर करनेके लिये देवपूजा आदि को हम इसलिये मूढ़ता कहते हैं कि उन देवोंसे बीमारीके रहने और जानेका कोई सम्बन्ध नहीं है। बीमारियां देवताओंके कोपसे नहीं होतीं न उनकी प्रसन्नतासे जातीं हैं। इसलिये बीमारी आदि विपत्तियोंके हटानेके लिये देवताओंकी पूजा करना मूढ़ता है। फिर भलेही वह पूजा जिनेन्द्रकी हो या और किसीकी।

प्रश्न—कष्टके समयमें हरएक आदमी भगवान का नाम लेता है, गुरुओंका, महात्माओंका स्मरण करता है। अगर वह समर्थ होता है तो विशेषरूप में धार्मिकक्रिया—दान पूजा आदि—भी करता है। इस प्रकारकी शुभ प्रवृत्तिको आप मूढ़ता कहो, यह बात उचित नहीं मालूम होती।

उत्तर—आपत्तिमें भगवानका नाम लेना या विशेष धार्मिक कृत्य करना बुरा नहीं है, क्योंकि उससे आपत्तिको सहन करनेकी शक्ति आती है। आपत्तिमें इस तरहकी भावनाओंसे पुराने अपराधों का पश्चात्ताप होता है। शत्रुओं की तरफ भी प्रेम उमड़ने लगता है, समताकी भावना पैदा होती है। इसलिये आपत्तिमें ईशस्मरण आदि बुरा नहीं है। परन्तु उसे रोगको दूर करनेकी चिकित्सा समझना मूढ़ता है। शुभकार्य भी उचित ढङ्ग पर और उचित लक्ष्यसे न किया जाय तो अशुभ हो जाता है। स्नानके लिये जलाशय पर जाना उपयोगी है परन्तु पानीके तलपर दौड़ लगानेके लिये जलाशय पर जाना हानिप्रद है। क्षुधाशान्तिके लिये भोजन करना उचित है, परन्तु प्यासको दूर करनेके लिये भोजन करना मूढ़ता है। इसी प्रकार सहनशक्ति आदिके लिये रोग आदि विपत्तिमें देवपूजा आदि उचित है। उसे चिकित्सा समझना मूढ़ता है।

प्रश्न—मूढ़ता तो अधर्म है और अधर्म वह है जो स्वपर-दुःखदायी हो। बीमारी आदिको हटानेके लिये अगर कोई देवपूजा आदि करता है तो इससे उसको या दूसरेको क्या दुःख है?

उत्तर—रोगादि आपत्तियोंको देवताओंकी कृपा अकृपा पर अवलम्बित समझ लेनेसे वास्तविक चिकित्सा पर उपेक्षा हो जाती है। सच्चा प्रतीकार न

होनेसे रोग भयङ्कर हो जाता है और ऐसी सैकड़ों घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। इतना ही नहीं, इसी मूढ़ताकी वेदीपर सैकड़ों बच्चोंका बलिदान होता रहता है। इस प्रकार यह मूढ़ता जिसके पास है, उसे दुःखदायी है; उसके आश्रित बच्चों तथा अन्य कुटुम्बियोंका बलिदान लेनेसे उनको दुःखदायी है, तथा पड़ौसी या परिचित, मूढ़तावाले पुरुषकी बात पर विश्वास करते हैं उनको दुःखदायी है। इसतरह यह स्वपर-दुःखदायी है, इससे अधर्म है, मूढ़ता है।

प्रश्न—देवपूजा आदिसे रोग-शान्तिकी बात अकारणक नहीं है, क्योंकि देवपूजा आदिसे पुण्यका बन्ध होता है और पुण्यबन्धसे पापका नाश होता है। जब पापरूप कारणका नाश होगया तब दुःखरूप कार्यका भी नाश होगा। इस तरह देवपूजा रोगादि दुःखनाशक है।

उत्तर—देवपूजादिसे भविष्यके दुःखका नाश हो सकता है, वर्तमानका नहीं। देवपूजादिसे पुण्यबन्ध होता है, सञ्चित कर्मका नाश नहीं। भविष्यमें ऐसा दुःख फिर न भोगना पड़े, इसके लिये पूजादिका उपयोग किसी तरह कहा जाय तो ठीक है; परन्तु उसका प्रभाव वर्तमानमें फल देनेवाले कर्म पर नहीं पड़ता। उसके लिये तो उचित तपकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार रोग और चिकित्साका सम्बन्ध है उसी प्रकार दुःख और पुण्यका सम्बन्ध है। इसलिये जिस प्रकार हरएक रोगके लिये हरएक चिकित्सा काम नहीं आती उसी प्रकार हरएक दुःखके लिये हरएक पुण्य काम नहीं आता। तुम अगर अपने निरपराध पड़ौसीको गालियाँ देते हो और उस पापको दूर करनेके लिये भगवानका गुणगान करते हो तो इससे वह पाप दूर न होजायगा। उसे दूर करनेके लिये तुम्हें पड़ौसीसे सच्चे दिलसे क्षमा माँगना पड़ेगी और भविष्यमें फिर ऐसा दुर्व्यहार न करनेके लिये दृढ़निश्चय करना पड़ेगा। यह प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है और प्रायश्चित्त एक महान् तप है। इस तपसे गालियोंके पापकी शक्ति नष्ट होगी। जैसा रोग हो वैसी ही चिकित्सा और जहाँ रोग हो वहाँ ही चिकित्सा उचित है। इसी प्रकार जैसा पाप वैसा ही उसका उपाय होना चाहिये। देवपूजा मिथ्यात्व नामक पाप को दूर कर सकती है न कि असातावेदनीयको। पूजा जिस देवकी होगी, उसके गुणोंका अगर सच्चे दिलसे विचार किया जायगा तो उस गुणका हमें लाभ होगा और उतनी सद्बुद्धि हमें प्राप्त होगी। देवपूजाका फल इतना ही है कि हमें सद्बुद्धि मिले। अगर सद्बुद्धि मिली, उसके अनुसार काम किया तो वह अन्य अनेक धर्मोंका कारण होगा। परन्तु यह उसका परम्परा-फल है जो कि बादके अन्य अनेक कारणोंकी अपेक्षा रखता है।

देवपूजा आदि उचित है, परन्तु उसका जो फल है वही मानना चाहिये और वास्तविक उपायों पर उपेक्षा न करना चाहिये। कुछका कुछ इलाज मूढ़ता है। बुरे ग्रहोंकी शान्तिके लिये मंत्र जाप कराना, आदि भी लोकमूढ़ता है। मतलब यह कि कार्यकारणभावको ठीक ठीक न समझकर अन्धविश्वाससे धर्मके नाम पर जो जो क्रियाएँ की जाती हैं वे सब लोकमूढ़तामें शामिल हैं। सम्यग्दृष्टिमें यह मूढ़ता नहीं होती।

शास्त्रमूढ़ता भी सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती। शास्त्रको वह विवेककी कसौटीपर कसता है, तब मानता है। सम्यग्दृष्टि एकान्तका विरोधी होता है, इसलिये वह एकान्तवाद पर स्थित सम्प्रदायोंमें क़ैद नहीं होता—वह तो सत्यका पुजारी होता है, वह सत्य चाहे जहाँ हो। अगर वह साम्प्रदायिक वातावरणमें पैदा होता है तो भी वह अपने सम्प्रदायका होनेसे ही किसी शास्त्रको शास्त्र नहीं मानता और न परसम्प्रदायका होनेसे कुशास्त्र मानता है। उसकी कसौटी

'सत्य' होती है। अमुक भाषा वगैरहको भी वह शास्त्रकी कसौटी नहीं मानता। जो पुस्तक अपने सम्प्रदायकी हो, संस्कृत, प्राकृत, लेटिन आदि किसी प्राचीन भाषामें बनी हो, बनाने वाला मर गया हो, उस पुस्तकको बहुतसे आदमी विवेकरहित होकर प्रमाण मानने लगते हैं, परन्तु यह शास्त्रमूढ़ता है, क्योंकि इससे सच्चे मार्गका निर्णय नहीं होता।

प्रश्न—शास्त्रोंको माननेके लिये अगर इसप्रकार छोदक्षेम किया जायगा तो शास्त्रोंके माननेकी आवश्यकता ही न रह जायगी, क्योंकि शास्त्रोंकी बातें हम जिस प्रमाणसे जाँचेंगे उसीसे हम स्वयं उन बातोंको मान लेंगे। हम शास्त्रोंकी परीक्षा तभी कर सकते हैं जब उसमें कही हुई बातोंकी परीक्षा कर सकें। ऐसी हालतमें हम वस्तु-तत्वके साथ ही निर्णयका सीधा सम्बन्ध क्यों न जोड़ें? बीचमें शास्त्रों की क्या आवश्यकता है? शास्त्रोंकी परीक्षा करने वाला तो शास्त्रोंका निर्माण भी कर सकेगा? और जो निर्माण न कर सके वह परीक्षा भी नहीं कर सकता। इस तरह परीक्षकके लिये शास्त्र अनावश्यक है और अपरीक्षकको आप शास्त्रमूढ़ मानते हो, तब शास्त्र किसके लिये है?

उत्तर—यदि परीक्षा किये बिना शास्त्रोंको माना जाय तो संसारमें सच्चे और झूठे सभी तरहके शास्त्र है, तब सभीको मान पड़ेगा। यदि कहा जाय कि अपना जन्म जिस सम्प्रदायमें हुआ हो उसेही सच्चा मानना चाहिये तो भी मिथ्यासम्प्रदाय मानना पड़ेगा, क्योंकि मिथ्यासम्प्रदायमें भी लोगोंका जन्म होता है। दूसरी बात यह है कि सम्प्रदाय सच्चे होने पर भी उनके सब शास्त्र सच्चे नहीं होते। हरएक सम्प्रदायमें कुछ न कुछ सचाईका अंश होता है और बहुतसा मिथ्यात्व भी होता है। अगर हम सच्चे और झूठे सभीको मानने लगेंगे तो अकल्याण कर बैठेंगे। इसलिये अपना सम्प्रदाय चाहे सच्चा हो चाहे झूठा, उसके शास्त्रोंकी परीक्षा करना तो आवश्यक ही रहेगा। शास्त्रकारमें जितनी योग्यता होती है उतनी ही परीक्षकमें भी होना चाहिये, यह नियम नहीं है। अगर हम स्वादिष्ट भोजन तैयार नहीं कर सकते तो इसका यह मतलब नहीं है कि हम उसके स्वादकी जाँच भी नहीं कर सकते हैं। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तकी खोज एक आदमीने की, परन्तु उस की जाँच तो हजारोंने की और जब उसे ठीक पाया तो माना। आविष्कारक या निर्माताके बराबर उसके कार्यकी जाँच करने वालेमें भी, उतनी ही बुद्धि होना चाहिये, यह नियम नहीं है। इस प्रकार शास्त्र अपरीक्षकोंके कामका नहीं है, परन्तु ऐसे परीक्षकों के कामका है, जो स्वयं शास्त्रनिर्माता तो नहीं हैं किन्तु परीक्षक हैं।

प्रश्न—इस तरह परीक्षाको अगर महत्व दिया जाय तो दुनियांका व्यवहार नष्ट होजाय। हमें अपने मा बापकी परीक्षा करके उन्हें मा बाप मानना पड़ेगा। छोटे छोटे बालकोंमें मा बापकी जाँच करने की योग्यता कहाँ से होसकती है, इसलिये वे किसी को मा बाप कैसे कह सकेंगे? इसके अतिरिक्त दुनियाके सैकड़ों व्यवहार बिना परीक्षाके ही करना पड़ते हैं।

उत्तर—परीक्षाके विषयमें तीन बातें विचारणीय होती हैं:—

(क) वस्तुका मूल्य, (ख) परीक्षाकी सुसम्भवताकी मात्रा, (ग) परीक्षा न करनेसे लाभ-हानिकी मर्यादा।

(क) सोना चाँदी आदि बहुमूल्य वस्तुओंकी जाँच हम जितनी अधिक करते हैं, उतनी भाजी तरकारीकी जाँच नहीं करते। अधिक मूल्यवान वस्तुकी अधिक जाँच करना पड़ती है। धर्म अथवा शास्त्र, बहुत मूल्यवान हैं, उनपर हमारा लोक-परलोक और स्थायी कल्याण निर्भर है, इसलिये उस

की जाँच सबसे अधिक और सदा करते रहना चाहिये। अन्य सैकड़ों बातोंकी उतनी परीक्षा आवश्यक नहीं है।

(ख) परीक्षा जितनी सुसम्भव हो उतनी ही करना चाहिये। बापकी जाँच करनेमें हमें पड़ोसी आदिके वचनों पर ही विश्वास रखना पड़ता है और दूसरा कोई सरल उपाय हमारे पास नहीं है; जबकि शास्त्रकी परीक्षाके लिये विवेक बुद्धिसे काम चलजाता है।

(ग) जिसे हम पिता रूपमें मानते हैं और जो हमें पुत्र समझता है, सम्भव है वह पिता न हो, तो भी उससे कोई नुकसान नहीं है; इसलिये अधिक जाँचकी आवश्यकता नहीं है हाँ, जहाँ कोई विशेष झगड़ा उपस्थित होता है वहाँ माता पिताकी भी जाँचकी जाती है। यूरोपमें कई मुकद्दमे ऐसे हुए हैं जिनमें मृतकी जाँच करके यह निर्णय करना पड़ा है कि यह आदमी अमुक व्यक्ति की सन्तान है या नहीं? परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, इसलिये यह परीक्षा हरएकको नहीं करना पड़ती। परन्तु शास्त्रकी परीक्षा न की जाय तो हम मार्गभ्रष्ट हो जाय। मार्गोंकी अपेक्षा कुमार्गोंकी संख्या इतनी अधिक है कि हम अगर इस विषय में पूरी खबरदारी न रक्खें तो हमारा मनुष्य जीवन व्यर्थ चला जाय। और किसी बातसे इतनी बड़ी हानि नहीं हो सकती।

किसकी कितनी परीक्षा करना, इस विषयमें तरतमता होसकती है, परन्तु परीक्षा सब जगह आवश्यक है। बालक भी मा-बापकी थोड़ी बहुत परीक्षा करता ही है, अन्यथा वह हरएक स्त्री-पुरुषको मा बाप समझने लगे। प्रेम, आकृति संसर्ग आदि चिन्हों से आवश्यक परीक्षा होजाती है। आवश्यकता बढ़ने पर अधिक परीक्षा भी की जाती है।

बालक तथा अज्ञानी पुरुष अनेक बातोंमें परीक्षा नहीं कर पाते, इसका यह मतलब नहीं है कि परीक्षा की उन्हें जरूरत नहीं है। किसीमें धनोपार्जनकी योग्यता न होनेसे उसे धन अनावश्यक नहीं होजाता।

बालक हिताहितकी परीक्षाकी योग्यता न रखनेसे अप्रामव्यवहार (नाबालिग) माने जाते हैं। नाबालिगों में उत्तरदायित्व नहीं होता इसलिये उन्हें अधिकार भी नहीं मिलता—वे सम्पत्तिके स्वामी भी नहीं माने जाते। इसीप्रकार जो अपरीक्षक हैं वे नाबालिग हैं। उनमें सम्यक्त्व नहीं होता वे धर्मधनके वास्तविक स्वामी नहीं होसकते हैं। बालक, परीक्षाके बिना काम करता है परन्तु यह हमारे लिये आदर्श नहीं है। इसी प्रकार आज्ञानिक मिथ्यात्वियो (अपरीक्षकों) की अपरीक्षकता हमारा आदर्श नहीं है। मिथ्यादृष्टि भले ही अपरीक्षक रहे परन्तु सम्यक्त्वीको तो परीक्षक होना ही चाहिये।

प्रश्न—जिन शास्त्रोंकी कृपासे हमें ज्ञान मिला उन्हींकी परीक्षा करना एक तरहकी कृतघ्नता है। हमारी माता व्यभिचारिणी है या सती, इस प्रकार की परीक्षाके समान सरस्वती माताकी परीक्षा करना निर्लज्जता है, माताका अपमान है।

उत्तर—'दोषा वाच्या गुरोरपि' इस नीतिके अनुसार दोष तो गुरुके भी कहना चाहिये। शास्त्र में अगर कोई दोष है तो उसका कहना बुरा नहीं है। प्रह्लाद आदिके कथानकोंसे यह बात सिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि कृतज्ञता और कृतघ्नता शब्दोंकाव्यवहार एकप्राणीके दूसरे प्राणीकेसाथ होने वाले व्यवहारपर निर्भर है। शास्त्र कोई प्राणी नहीं है जिसके साथ कृतघ्नता कही जाय। दुःखका कारण होनेसे कृतघ्नता पाप है। शास्त्रमें दुःखकी सम्भावना ही नहीं है, तब कृतघ्नता कैसी? ऐसी वस्तुओंका जो उपयोग है, उस उपयोगसे कृतघ्नता नहीं आती। एक अनाजका व्यापारी अनाजके व्यापारसे श्रीमान् बनता है और अनाजको खाता भी है। उससे यह

नहीं कहा जासकताकि जिस अनाजके बलपर तू श्रीमान् बना है उसीको खाजाता है, इसलिये कृतघ्न है।

तीसरी बात यह है कि कृतके बाद कृतज्ञता या कृतघ्नता होती है। अनाज जब खाया जाय तभी उसका उपकार है इसलिये उसको खालेना ही कृतघ्नता नहीं कही जा सकती। शास्त्र, सन्मार्ग दिखलाये, यही उसका उपकार है। अगर उसमें असत्य है, सन्मार्गप्रदर्शकता नहीं है तो उस असत्यको दूर करना कृतघ्नता नहीं है, बल्कि उसकी उपकारकता को बढ़ाना है। उपकारको भूलजाना कृतघ्नता है; उपकारकता को बढ़ाना या रक्षित करना नहीं। जब उपकार ही नहीं तो उसका भूलना कैसा ?

शास्त्रने अगर हमारा उपकार किया है तो उसके सच्चे अंशने उपकार किया है। परीक्षामें उसका असत्य अंश दूर किया जाता है। इसमें कृतघ्नता कैसी? बीमार माताने यदि हमारी सेवा की है तो हमे माता की पूजा करना चाहिये, न कि उसकी बीमारी की। इसी तरह विकृत शास्त्रने यदि हमारी भलाई की है तो हमें शास्त्रकी पूजा करना चाहिये न कि उसके विकार की। माताकी बीमारीके समान शास्त्रके विकार की चिकित्सा करना कृतघ्नता नहीं, कृतज्ञता है।

परीक्षा, कृतघ्नताका परिणाम नहीं—प्रेम और भक्तिका परिणाम है। सुवर्णसे हम प्रेम करते हैं, इसलिये उसकी खूब परीक्षा करते हैं। उसमें कोई मैल न रहजाय इसलिये बार बार अग्निमें डालते हैं। इसका अर्थ सुवर्णमें द्वेष नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र की परीक्षा भी उसके प्रेम और भक्तिकी सूचक है।

इन सब कारणोंसे शास्त्रोंकी परीक्षा करना आवश्यक है।

प्रश्न—यदि प्रत्येक सम्यग्दृष्टिको शास्त्रकी परीक्षा करना आवश्यक है तो सभी निसर्गजसम्यक्त्वी कहलाँयगे। फिर सम्यक्त्व के निसर्गज और अधिगमज भेद क्यों किये गये ?

उत्तर—सम्यक्त्व चाहे निसर्गसे हो चाहे अधिगम (परोपदेश) से, परीक्षाकी (अमूढ़दृष्टित्व) की आवश्यकता दोनोंमें है। परन्तु एकतो कल्याणके मार्गको स्वयं खोजता है और जाँच करता है, जब कि दूसरा कल्याणके मार्गको दूसरेके उपदेशसे जानता है, और स्वयंपरीक्षा करता है। इसप्रकार दोनों ही परीक्षक हैं और दोनोंमें अन्तरभी है।

इसप्रकारकी परीक्षकतासे सम्यग्दृष्टि शास्त्रमूढ़ता से दूर रहता है।

सम्यग्दृष्टिमें देवमूढ़ता भी नहीं होती। जो कल्याणमार्ग पर चलकर सीमा पर पहुँच गया है वही देव है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी पराकाष्ठा पर पहुँचा है, वही देव है। रागी, द्वेषी, और बाह्य शक्तिशाली प्राणिविशेषोंको देव मानना, अथवा सच्चे देवों की पूर्ण सत्यज्ञानता, वीतरागता, हितोपदेशकता पर उपेक्षा करना और शरीर आदिके कल्पित अतिशयों को महत्व देना आदि देवमूढ़ता है। देवके विषय में पहिले * कहा जा चुका है। उसमें देवका स्वरूप समझमें आजाता है। कुदेवों (अनादर्शदेवों) को देव समझना, या उनके चिन्होंको महत्त्व देना देव मूढ़ता है।

कल्याणके मार्गमें जो हमसे आगे बढ़े हुए हैं, इस विषयमें जो हमसे महान् हैं वे गुरु हैं। उनके जीवनका हम अनुकरण कर सकते हैं, उनकी सलाह का उपयोग कर सकते हैं। गुरु तरन तारन माना जाता है। अर्थात दुःखरूपी समुद्रको वह स्वयं पार करता है और दूसरोंको पार लेजाता है। गुरुका स्थान बहुत महत्त्वका है। जितना महत्त्वका है उतनी ही सावधानीसे उसका चुनाव करना पड़ता है। देव से भी अधिक सावधानीकी यहाँ जरूरत है, क्योंकि गुरु भी अन्यपुरुषोंकी तरह होता है, वह हमारे

* लेखमालाके चौथे लेखांकका प्रारम्भ देखो।

बीचमें रहता है, उसके असाधारण गुणोंको पहिचान जाना कठिन होता है। दूसरी बाधा यह है कि एक गुरुके स्थानमें हजारों कुगुरु और अगुरु, गुरुत्व का मिथ्यादावा करते हुए आजाते हैं, उनमें सच्चे गुरुकी खोज न कर सकें तो अनर्थ होजाता है।

गुरुकी जांचके लिये सबसे पहिले वेषका आग्रह छोड़ देना चाहिये। वेषकी ओटमें अनेक निम्न श्रेणीके मनुष्य गुरुत्वके नाम पर दुनियाँ को ठगने लगते हैं। सच्चा गुरुत्व किसीभी वेषमें, यहाँ तक कि गृहस्थवेषमें भी, मिल सकता है। गृहस्थवेषमें यदि गाँधीजी सरीखा महात्मा बन सकता है तो साधारण गुरुओंकी तो बात ही क्या है? जैन शास्त्रोंके अनुसार कूर्मापुत्र घरमें रहते हुए भी केवली हो गये थे। केवली होनेके बाद भी वे बहुत समय तक घरमें रहे। इस लिये मुनिवेषमें हो या गृहस्थवेषमें, सब जगह गुरुत्व रह सकता है

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्।
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः॥
अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते।
विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

रागी मनुष्य वनमें भी दोषी होता है और विरागी, घरमें रहकर भी पंचेन्द्रियों का निग्रह कर सकता है। जो सन्मार्गमें लगा हुआ है उसको घर ही तपोवन है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

निर्मोह अर्थात् विवेकी गृहस्थ मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप कल्याणमार्ग) में स्थित है, अविवेकी मुनि नहीं। विवेकीगृहस्थ, अविवेकी मुनि, से श्रेष्ठ है।

वेषका कुछ भी महत्व नहीं है। विवेकी गृहस्थ, मुनिसे पूज्य है और विवेकीमुनि, गृहस्थसे पूज्य है। दोनों अगर विवेकी हों या दोनों अविवेकी हों तो कोई किसीसे पूज्य नहीं है। वेषैकान्तमें साम्प्रदायिक कट्टरता बढ़ती है। इससे उस वेषमें न रहने वाले सच्चे गुरुओंको हम छोड़ जाते हैं और स्वार्थके लिये वेषको अङ्गीकार करने वाले धूर्तों और मूर्खोंको हम गुरु समझ जाते हैं। उनके दुर्गुणोंका व्यक्त और अव्यक्तरूपमें हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। सच्चे गुरुओंकी खोजके लिये और कुगुरुओं तथा अगुरुओंको छुपनेका मौका मिले इसके लिये वेषका एकान्त छोड़ देना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि बहुतसे चालाक आदमी बाह्य तपसे अपनी माया फैलाते हैं और भोले लोगोंको धोखा देते हैं। कोई एक पैरसे खड़ा होता है, कोई सिरके बल खड़ा होता है, इसी प्रकार कोई बहुतसी आड़ी टेड़ी आसनें लगाता है परन्तु इससे कोई गुरु नहीं होजाता है। ऐसी आसनों वाला आदमी सरकसके खेलकी तरह मनोविनोदकी वस्तु हो सकता है परन्तु गुरु नहीं हो सकता। जैनधर्ममें कायक्लेशको तप कहा है, परन्तु बाह्य (बाहिरी, दिखावटी) तप कहा है। यह वास्तवमें तप नहीं है किन्तु अन्तरंग तपमें सहायक होनेसे तप है, अर्थात् उपचारसे तप है। अन्तरंग तपके बिना इससे किसीका महत्त्व नहीं बढ़ता। अन्तरंग तपके बिना करोड़ों आदमी इस तपको कर सकते हैं, करते हैं, इसलिये इस तप का मूल्य और कम है। इसका साक्षात् फल यह है कि इससे कष्टसहिष्णुता बढ़ती है। परन्तु कष्टसहिष्णुता हमारी अपेक्षा पशुओंमें अधिक होती है, इस लिये वे तपस्वी नहीं कहलाते। इसलिये बाह्य तपको भी गुरुत्व की जाँच की कसौटी न बनाना चाहिये।

ऐसी विद्याओंसे भी किसीको गुरु न मानना चाहिये जो मनुष्यका कुछ उपकार तो करती हैं, परन्तु जीवनको कल्याणमार्गकी तरफ नहीं ले जातीं। ज्योतिष, वैद्यक, तथा अर्थोपयोगी विद्याओं से हम किसीको गुणी कहें, उससे अगर वह परो-

पकार करता हो तो उसे परोपकारी मानें, परन्तु इससे वह गुरु नहीं हो जाता। गुरुत्व तो उसके आत्मोत्कर्ष, कल्याणकर भावनाओं आदि पर निर्भर है।

प्रथम अध्यायमें जो कल्याणमार्ग बतलाया गया है, उस मार्गमें जो हमसे आगे बढ़ा है, वह गुरु है। उसमें भी तीन बातोंका विचार रखना चाहिये। कल्याणमार्गस्थ मनुष्य वह कार्य माया, मिथ्यात्व, और निदानके वश होकर तो नहीं कर रहा है? ये तीन शल्यें कहलाती हैं, इनका त्याग प्रत्येक धर्मात्मा या व्रती व्यक्तिको अवश्य करना चाहिये। इन शल्यों के त्यागके बिना कोई व्रती या धर्मात्मा नहीं कहला सकता।

जो मनुष्य व्रतादि तो करता है, परन्तु मायाचारसे करता है अर्थात् मनसे व्रत तो नहीं करना चाहता, किन्तु दूसरोंके सामने अपनेको व्रती साबित करना चाहता है, वह बाहरसे कितना भी व्रत करे वह व्रती नहीं कहला सकता। जो मिथ्यात्वी है उसकी क्रियाएँ भी निष्फल हैं। वह क्रियाके मर्मको ही नहीं समझता, सिर्फ देखादेखीसे क्रियाएँ करता है। उसका आत्मोत्कर्ष नहीं होता। जो निदान वाला है यह भी कल्याण पथपर स्थिर नहीं है। आगामीके लिये विषयभोगोंकी लालसा रखना निदान है। जो विषयों की प्राप्तिके लिये विषयोंका त्याग कर रहा है, उसका त्याग सच्चा नहीं है। विषय अगर बुरी चीज़ है तो भविष्यके लिये उसकी इच्छा क्यों करना चाहिये? और विषय अगर अच्छी चीज़ है तो उसका अभी त्याग क्यों करना चाहिये? निदानमें जो विषयकी लालसा होती है उसमें उचित अनुचित, न्याय्य अन्याय्यका विचार नहीं रहता। कल्याणमार्ग पर चलते हुए जो और जितने विषय भोगे जा सकते हैं वह कोई पाप नहीं है, क्योंकि उसमें दूसरोंके सुखों का विचार रहता है। परन्तु निदानमें यह विवेक नहीं होता। ऐसा निदानी वास्तवमें व्रती नहीं होता। इन तीन दोषोंसे रहित व्रती होता है। गुरुमें ये तीनों दोष न होना चाहिये। जिस मनुष्यको हम गुरु बनावें उसकी निःशल्यताका हमें निश्चय कर लेना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि जिसको हम गुरु बनाते हैं वह अगर हमसे कुछ अच्छा है तो गुरु है। यह ठीक है, परन्तु इस विषयमें दो बातोंका विचार करना चाहिये। पहिली बात तो यह कि अच्छापनका कारण बाह्य तप या वेष न मानना चाहिये। दूसरी बात यह कि जितना अच्छापन हो उतनाही अच्छा मानना चाहिये। नक़ली सोनेको नक़ली सोनेके भाव खरीदनेमें कुछ दोष नहीं है, परन्तु असली सोनेके भाव खरीदनेमें ठगाई है। उस जगह यह कहकर सन्तोष नहीं किया जा सकता कि चलो, पीतलसे तो अच्छा है! नक़ली सोना पीतलसे अच्छा है, इसलिये वह सोनेके भावका नहीं हो सकता। हमसे अच्छा होने पर वह हमसे अच्छाही कहलायगा, पूर्ण गुरु नहीं। बल्कि जो, पूर्ण गुरु न होकर पूर्ण गुरुत्वका दावा करता है वह हमसे भी खराब है क्योंकि वह घोर मायाचारी है, जबकि हम मायाचारी नहीं हैं। इसलिये 'जो हमसे अच्छा वह हमारा गुरु' इस सूत्रको बहुत सम्हालकर विवेकके साथ काममें लेना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि जो दोष हममें हैं उनकी समालोचना करने का हमें क्या हक है? यह ठीक है; परनिंदा और आत्म प्रशंसा की दृष्टिसे हमें दूसरों के दोषों की आलोचना करना ही न चाहिये, भलेही वे दोष हमारे में हों चाहे न हों। परन्तु जो दोष हम में हैं और वे दोष दूसरे में भी हों या कम हों परन्तु वह धूर्तता से अपने को निर्दोष घोषित करके प्रपंच का जाल बिछा रहा हो तो उससे बचने के लिये तथा उसके जालसे दूसरोंको बचानेके लिये उनकी जाँच

करना आवश्यक है। यदि ऐसा न करेंगे तो गुरुकी परीक्षाका मार्ग ही बन्द होजायगा, क्योंकि तब हम गुरुके समान निर्दोष होनेपर ही गुरुकी जाँच कर सकेंगे, परन्तु तब हमें गुरुकी आवश्यकता ही न रहेगी। जब आवश्यकता है तब हम जाँच न करेंगे, तो दुनियाँ के सभी धूर्त हमारे गुरु हो जायँगे। इसलिये सुगुरु, कुगुरुकी परीक्षा हमें करना चाहिये। चोखे पैसेकी अपेक्षा खोटे रुपयेकी क़ीमत भले ही ज्यादः हो परन्तु हम चोखा पैसा लेलेते हैं और खोटा रुपया नहीं लेते क्योंकि खोटा रुपया हमारे साम्हने रुपया बनकर आता है, पैसा बनकर नहीं आता। इसीप्रकार कुगुरुका हमें त्याग करना चाहिये क्योंकि वह गुरु बनकर हमारे साम्हने आता है। वह यदि हमारी तरह साधारण मनुष्य बनकर आवे तब कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार विवेक से काम लेकर सम्यग्दृष्टि गुरुमूढ़तासे बचता है।

मूढ़ताओं के और भी बहुतसे भेद होसकेंगे, परन्तु सारांश यह है कि कल्याणपथमें साक्षात् या परम्परा बाधा डालनेवाली कोई भी मूढ़ता सम्यग्दृष्टि में नहीं होती। यही उसका अमूढ़दृष्टित्व अंग है।

वर की आवश्यकता।

अग्रवाल जातीय १५ वर्षकी एक कन्या जो कि सुन्दर, गृहकार्यमें दक्ष, हिन्दीकी ५ वीं कक्षा तक पढ़ी हुई है. इसके लिये दिगम्बर जैन किसी भी जातिका नवयुवक हो, ज़रूरत है; जिसकी उम्र २० या २२ वर्षसे अधिक न हो, शरीरसे हृष्टपुष्ट, अच्छा स्वास्थ्यवाला, प्रसन्नचित्त रहनेवाला, चालचलनका अच्छा हो और १००) रु० मासिकसे अधिक जिसकी स्थायी आमदनी हो। नवयुवक स्वयं नीचे लिखे पतेसे पत्रव्यवहार करे।

छगनमल बाकलीवल
मालिक—जैनग्रन्थरत्नाकर, हीराबाग
पो० गिरगाँव, बम्बई।

विरोधी मित्रों से।

(५)

आक्षेप (१५)—चौबीस महापुरुषोंकी संख्या अनेक दर्शनोंमें पाई जाती है, इसलिये आप इसे शंकास्पद समझते हो। परन्तु इस तरह तो सभी पशुओंके चार पैर होते हैं; तब तो यह बात भी शंकास्पद मानना पड़ेगी।

समाधान—पशुओंके चार पैर होते हैं, इस बातके समर्थनमें अगर प्रत्यक्षप्रमाण न होता तो पशुओंकी चतुष्पदता भी शंकनीय होती। समान होनेपर कौनसी बात शंकनीय होती है, इसके लिये पहले अनेक बातोंका विचार किया जाता है। सभी पशुओंकी चतुष्पदता पर हम शंका नहीं करते किन्तु जब परीक्ष्य विद्यार्थियोंके उत्तरपत्र एक सरीखे होते हैं तब, उनने नकल की है, यह संदेह होता है और जाँच करने पर वह ठीक भी निकलता है। यहाँ संभावनाका विशेष विचार करना पड़ता है। हरएक धर्ममें २४ तीर्थङ्कर हों, यह बात २४ की संख्याकी कृत्रिम सूचित करती है। आपका यह कहना कि—"२४ महापुरुष उसी मतमें होंगे जो एक वैज्ञानिक मत होगा"—बड़ा विचित्र है। २४ का और विज्ञानका अविनाभाव सम्बन्ध किससे सिद्ध है, सो मालूम न हुआ। क्या एक तीर्थकर वैज्ञानिक मत नहीं चला सकता ? और क्या २४ से अधिक तीर्थङ्कर होनेसे धर्म अवैज्ञानिक होजाता है ? जैनधर्मके अनुसार तो जम्बू विदेहमें चार तीर्थंकर होते हैं और वहीं कभी कभी ३२। क्या वहाँके जैनधर्मको २४ के बिना अवैज्ञानिक कहना चाहिये ? विदेहके २० तीर्थंकरोंकी पूजा आज भी मन्दिरोंमें होती है। इसलिये २४ की संख्याके लिये वैज्ञानिकताकी दुहाई देना तो बड़ी विचित्र बात है। ख़ैर, परन्तु २४ की संख्या आपको भी शंकास्पद मालूम हुई है इसीलिये आप कहते हैं कि 'होसकता है कि अन्यमतोंने उसीकी देखा-देखी यह संख्या स्वीकार करली हो'। सभी पशुओंके चार पैरकी तरह आप यहाँ सभी धर्मोंमें २४ अवतार माननेसे क्यों हिचकिचाते हैं ? क्या दूसरोंके नक़लचीपन सिद्ध करनेके लिये ही २४ की संख्या शंकास्पद होती है ? और जगह नहीं ?

आक्षेप (१६)—वेदोंमें विष्णुके चौबीस अवतार नहीं मिलते; बौद्ध कहीं असंख्य, कहीं २४, कहीं ५, और कहीं कुछ संख्या बुद्धोंकी मानते हैं। किन्तु जैनोंके यहाँ ऐसी कोई असम्बन्ध बात २४ तीर्थंकरोंकी मान्यतामें नहीं है।

समाधान—अगर मेरे मित्रके ऐसे वक्तव्यपर कोई ध्यान दे तो उससे उलटी ही बात सिद्ध होगी। एक विद्यार्थी एक कठिन सवालको बड़ी मुश्किलमें हल करता है, बड़ी मुश्किलमें वह सवाल ठीक कर पाता है, बीच-बीचमें उसका सवाल गलती होता है; परन्तु दूसरा नकलची विद्यार्थी उसके अन्तिम उत्तरको ज्योंका त्यों उतार लेता है। नकलचीकी कॉपी साफ़ रहती है परन्तु यही सफ़ाई उसके नकलचीपनको साबित करनेके लिये एक साधन बन जाता है। इसी तरह जैनियोंकी निश्चित संख्या नकलचीपनकी सूचना देगी। समझमें नहीं आया कि ऐसी आत्मघाती बात मेरे मित्रने क्यों कही?

खैर, मैं ऐसा दोषारोपण नहीं करना चाहता। इस विषयमें मेरा कहना यह है कि न-तो चौबीस अवतार हुए हैं, न चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, न चौबीस बुद्ध हुए हैं। जुदे जुदे लक्ष्यको लेकर जुदेजुदे ढंग पर इनकी कल्पना हुई है।

यह बात ठीक है कि वेदोंमें ये अवतार नहीं मिलते। वैदिक युगमें वैष्णवधर्म था ही नहीं; वह जैनधर्मके पीछेका धर्म है। गीतासे या ऐसे ही किसी शास्त्रसे अवतारवाद निकलाहै। पहिले तो इतनी ही बात प्रकट हुई थी कि धर्मग्लानिके लिये भगवान अवतार लेते हैं। इस वाक्य का जब विस्तार हुआ तो वेदोंमेंसे चुन चुनकर ऐसे अनेक महापुरुषोंको विष्णुका अवतार माना जाने लगा। जुदे जुदे ग्रन्थकारोंने जुदी जुदी अवतारसंख्या दी। पहिले वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण इस प्रकार छः अवतार थे। इसके बाद इन छः के पहिले मत्स्य, कूर्म, हंस और पीछे कल्कि जोड़कर दश अवतार हुए। कहीं कहीं पर हंस का नाम नहींहै किन्तु कृष्ण और कल्किके बीचमें बुद्धका नामहै। वायुपुराणमें एक जगह १२ अवतार हैं जिनमें शिव और इन्द्रके नाम मालूम होते हैं; और दूसरी जगह १० लिखे हैं—पूर्वोक्त छः तथा दत्तात्रेय, अनामा, वेदव्यास और कल्कि। और भी अनेक प्रकारसे १० अवतारों के नाम मिलते हैं। भागवत आदिमें २१-२२-२३-२४ अवतारों का उल्लेख है। उनमें ऋषभदेवका भी नाम पाया जाता है। इससे इतना तो मालूम होताहै कि वैष्णवोंकी अवतारकल्पना तो मौलिक है और २४ को छोड़कर बाकी संख्याएँ भी उन्हींकी सम्पत्ति हैं. परन्तु पिछली २४ की संख्या बौद्ध या जैनियोंसे ली होगी। श्रमणपरम्परामें ईश्वरावतारके लिये स्थान तो नहीं है परन्तु अवतारोंका स्थान खास तरहके महापुरुषोंको दिया गया है। महावीर, बुद्ध, पूरणकाश्यप और गोशालके सम्प्रदायोंमें महापुरुषोंके अवतारोंका वर्णनहै। इनमेंसे गोशाल और पूरणकाश्यप तो जुदे जुदे ढंगसे अपनेही अवतारोंका वर्णन करते हैं, जबकि महावीर और बुद्ध अनेक आत्माओंके अनेक अवतार मानते हैं। परन्तु इन सबका लक्ष्य सिर्फ़ इतना ही है कि हमारा सम्प्रदाय प्राचीन सिद्ध हो।

बुद्धने जो चौबीस अवतार बतलाये हैं वे कल्पित हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। बुद्ध के पहिले बौद्ध सम्प्रदाय था, इसका एकभी प्रमाण नहीं है। घरसे निकलने पर बुद्ध अनेक गुरुओंके पास गये हैं। अगर बौद्ध सम्प्रदाय होता तो वे उसमें शामिल होते या उससे पीछे मिलते परन्तु बुद्धके जीवन से ऐसी बातें सिद्ध नहीं होतीं, तब उनने ही इस बातको कल्पित किया। इसलिये बौद्धधर्म में २४ अवतार सर्वथा कल्पित ही हैं। परन्तु जैनधर्म में चौबीस अवतार कबसे कल्पित हुए, यह कहना कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि महावीरके पहिले यह २४ की संख्या न होगी, क्योंकि २४ वें तीर्थंकर तो स्वयं महावीर थे, इसलिये उनका नाम पार्श्वयुगमें कैसे हो सकता है?

जैन शास्त्रोंका वर्णन है कि ऋषभयुगसे ही चौबीसकी संख्या नियत है; और यही बात इसकी अप्रामाणिकता सूचित करती है। यदि ऐसा वर्णन होता कि ऋषभयुगमें एक तीर्थंकर माना जाता था, अजितयुगमें दो, संभवयुगमें तीन, इसी प्रकार पार्श्वयुगमें २३ तीर्थंकर माने जाते थे तो मैं यह सोचता कि जैसे जैसे महापुरुष पैदा होते गये और जनताके द्वारा वे तीर्थंकररूपमें स्वीकार करलिये गये वैसे वैसे तीर्थंकरों की संख्या बढ़ती गई; परन्तु यहाँ तो शुरू से ही चौबीस तीर्थंकर नियत हैं, इसलिये कहना

पड़ता है कि ये २४ तीर्थंकर अनैतिहासिक हैं। २४ की संख्या जैनियोंने बौद्धोंसे ली या बौद्धोंने जैनियोंसे ली, यह कहना कठिन है परन्तु यह कल्पना महावीर और बुद्धसे पुरानी नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता है।

अब देखना चाहिये कि २४ की संख्या तो इसप्रकार आगई परन्तु ये नाम कहाँ से आये। इसके लिये यह कहना उचित है कि इनमेंसे थोड़े बहुत वेदोंमेंसे आये। यद्यपि सबके सब नाम कल्पित किये जासकते थे परन्तु थोड़े बहुत नाम वेदों में से इसलिये लिये गये कि इन नामोंकी ऐतिहासिकता प्रसिद्ध हो। मेरा ख़याल है कि कुछ नाम यक्षोंमें से भी लिये गये होंगे। उस समय यक्षपूजाका अत्यन्त रिवाज़ था। नगरके बाहर यक्षोंके बड़े बड़े मन्दिर होते थे और उनके चारों तरफ़ विशाल उपवन होते थे जिनमें हज़ारों साधु सन्त ठहरा करते थे। तीर्थंकर अवस्थामें भगवान महावीरभी अनेकबार इन यक्ष-स्थानोंमें ठहरे थे। यक्षोंका इतना महत्त्व था कि पीछेसे तीर्थंकरके अतिशयोंका महत्त्व बढ़ानेवालोंने इन्द्रादि देवोंको छोड़कर यक्ष और यक्षणियों को तीर्थंकरके खास भक्तोंमें स्थान दिया है। समवशरणका द्वारपाल भी यक्ष माना गया है। ऐसे लोकपूज्य यक्षोंके नाम भी प्राचीन तीर्थंकरोंके लिये चुने गये हों, यह बहुत कुछ संभव है। इसके अतिरिक्त कुछ और नाम भी कल्पित किये गये होंगे।

इस विषयमें एक बात और भी कहना है कि तीन चार तीर्थंकरों को छोड़कर बाकी तीर्थङ्करोंका जीवन नाम मात्र मिलता है, जब कि राम, कृष्ण, वसुदेव आदिकी कथाओंसे पुराणके पुराण भरे पड़े हैं। यह बातभी उनकी कल्पितता पर प्रकाश डालती है।

कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि २४ तीर्थङ्करोंकी संख्या नियत थी इसलिये पार्श्वनाथके बाद यह बात प्रसिद्ध थी कि चौबीसवें तीर्थङ्कर आनेवाले हैं। परन्तु यह कहना बिलकुल निराधार है। जैन बौद्ध आदि किसी साहित्यसे इस बात की सिद्धि नहीं होती। यह बात बाइबिलके ढंग पर हमारे मित्र कहा करते हैं। बाइबिलमें अनेक जगह उस भविष्यवाणी का उल्लेख आता है जिसका अनुकरण करते हुए हम ईसाको देखते हैं। एक सन्त की भविष्यवाणीके अनुसार ईसायुगके लोगोंको विश्वास था कि कोई जगद्गुरु आने वाला है। ईसा अपनेको वही जगद्गुरु कहते थे जब कि उनके विरोधी इस बातका विरोध करते थे। भविष्यवाणीकी बात यूरोपीय मस्तिष्कों में आजतक घूमती रही है। एनीबीसेन्ट आदिने इसीलिये आनेवाले जगद्गुरु की घोषणा की थी और एक मद्रासी बालकको जगद्गुरुके रूपमें उपस्थित किया है। ख़ैर, इन सब बातोंसे मेरे अनेक मित्रोंको यह भ्रम होगया है कि महावीरयुगमें भी लोगोंके दिलमें आनेवाले जगद्गुरुकी तरफ़ उत्सुकता थी और इसीलिये बहुतसे लोग अपनेको जगद्गुरु या तीर्थङ्कर कहने लगे थे। परन्तु इस कल्पनाका मूल बाइबिल है जो कि महावीर-बुद्धसे बहुत पीछे की है। इसका मूल, जैन बौद्ध साहित्यमें नहीं मिलता जिससे यह कहा जासके कि २४ की कल्पना महावीर–बुद्धसे पुरानी है।

तीर्थंकरों की और पैग़म्बरोंकी संख्या नियत करनेके तीन लक्ष्य होते हैं। एकतो प्राचीनताके अन्ध उपासकों के सामने अपनी बातकी प्राचीनता सिद्ध करना, दूसरा सृष्टिके आदिकालसे या अनादिकालसे अपने धर्मको मुख्यता देना और तदनुसार ही जगत्की व्यवस्था मानना, तीसरी यह कि भविष्यमें कोई अपनेको तीर्थङ्कर कहके अपनी बातको न लौट दे। इसी मनोवृत्तिके कारण मुहम्मदने ईसा मूसा आदिको पैगम्बर मानकरकेभी यह कहा था कि खुदाका अंतिम पैगम्बर मैं हूँ, मेरे बाद कोई दूसरा पैगम्बर न होगा। २४ आदि संख्या नियत करनेसे ये तीनों लक्ष्य सिद्ध होते हैं।

इस आक्षेपका समाधान यद्यपि थोड़ेमें ही हो सकता था तथापि इस विषयमें जो मेरे विचार हैं, उनका सार देदेना मैंने इसलिये उचित समझा कि पाठकोंको इसविषयमें स्वतन्त्र विचार करने के लिये पर्याप्त सामग्री मिले, और उन्हें प्राचीनता की बातें निःसार और सत्य सार रूप दिखलाई दे।

आक्षेपके अंतिम भागमें मेरे मित्रने बुद्धकी संख्याओं की गड़बड़ी बतलाई है परन्तु मेरे ख़यालसे मेरे मित्र समझनेमें भूले हैं। जैनमतके अनुसार तीर्थङ्करोंकी संख्या अनंत, (अनंतकालकी अपेक्षा) ७२, (त्रिकाल चौबीसी) २४, (वर्तमान चौबीसी) १६०, (पाँच विदेहोंकी उत्कृष्ट संख्या) २०, (पाँच विदेहोंकी जघन्य संख्या) ३२ (जम्बू-

विदेहोंकी उत्कृष्ट संख्या) ४, (जम्बू विदेहकी जघन्यसंख्या) ५, (दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार बालब्रह्मचारी तीर्थङ्कर) ३ (पदवीधारी तीर्थङ्कर) आदि अनेक रूप कही गई है। परन्तु इसलिये कोई यह नहीं कह सकता कि जैनियों की तीर्थङ्कर संख्या बड़ी गड़बड़ है। इसीप्रकार बुद्धों की संख्याभी जानना चाहिये। असंख्य कल्पोंके असंख्य बुद्ध हैं इसीप्रकार एक कल्पके और उनमें भी कुछ (ककुसंघ आदि) बुद्ध चिरस्थायिब्रह्मचर्य (सम्प्रदाय) वाले कुछ (विपश्यी शिखी आदि) अचिर ब्रह्मचर्य वाले। इस लिये संख्या की गड़बड़ी बतलाना व्यर्थ है।

आक्षेप (१७)—पहिले यूरोपीय विद्वान् तीर्थङ्करोंको वास्तविक पुरुष ही न मानते थे। अब तीन तीर्थङ्करोंको वे ऐतिहासिक मानने लगे हैं। इसलिये उतावली में कोई नवीन मत स्थिर कर लेना बुद्धिमत्ता नहींहै।

समाधान—यूरोपीयविद्वानोंने तो जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा और बुद्ध को महावीरका शिष्य तक बतलाया, इसका कारण यहहै कि वे जैन, बौद्ध साहित्य से परिचित न थे और ईसाई धर्मकी छाप उनके हृदयमें पड़ी हुई थी। परन्तु मैं यूरोपीय पंडितोंकी नकल करने नहीं बैठा हूँ और न मैं जैन, बौद्धधर्मसे अपरिचित हूँ। न उतावलीमें लिख रहा हूँ। नेमिनाथको यूरोपीय विद्वानोंने ऐतिहासिक मान लिया है, वह बात ठीक नहीं है। केशीगौतम सम्वादके आधारपर वे पार्श्वनाथको ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। सम्भव है किसी अल्पश्रुत यूरोपीय पण्डितने नेमिनाथको ऐतिहासिक माना हो, परन्तु उसकी यह मान्यता निराधार है। फिर मेरा कहना तो यह है कि पार्श्वनाथके पहिले जैनधर्मका अस्तित्व अन्धकारमें है। जब वह प्रकाशमें आजायगा तो मुझे माननेमें क्या आपत्ति है? परन्तु अभी उसके माननेकी ज़रूरत नहीं है। आप स्वीकार करते हैं कि "न नवीनता बुरी है न प्राचीनता, किन्तु उसका मोह अवश्य ही बुरा है, सम्यग्दृष्टि सत्यका आश्रय ही ठीक समझेगा।" ऐसी हालत में आपको प्राचीनताका मोह न रखना चाहिये। जब कोई चीज़ प्रमाणित हो तो मानना, नहीं तो उसे माननेके लिये खींचातानी न करना चाहिये।

'जैनधर्मका मर्म' पर सम्मतियाँ।

(२०)

श्रीमान सर्दार माणिक्यचंद्रजी जैन बी. ऐस सी; वार्डन जैन हॉस्टल आगरा तथा प्रेसीडेंट जैन स्टूडेंट्स असोसियेशन, की सम्मति—

श्रीयुत पण्डितजी, सप्रेम जुहारु,

पहलेसे यह ध्यानभी न था कि आपका लेख इतना प्रगाढ़ मार्मिक, इतना वृहत् और इतने महत्वका होगा। अतएव अधिकांश छात्रोंने उससे लाभ न उठापाया। मैंने स्वयं भी सब अङ्क अनुपस्थितिके कारण नहीं पढ़ पाये। आज सबलेखोंके लिए पत्र लिखनेवाला था किन्तु यह जान कर कि उनमेंसे अब अधिकांश अप्राप्य हैं, बड़ाखेद हुआ।

मैंने किसी समयमें यह सुना था कि पंचमकाल में एक सहस्र वर्षमें एकवार धर्मका उत्थान और पतनहुआ करेगा। इसप्रकार धर्म धीरे धीरे एकसाथ ह्रास न होकर Quantum Theory के अनुसार लहरोंके समान धीरे धीरे विलायमान होगा और यहभी धारणा थी कि मुहम्मद ग़ज़नीके समय पतन हुआ था, अतएव अब उत्थान का समय समीप है, ऐसा कुछ विश्वास सा है।

सम्पत्ति परिमित है और उसके पानेकी लालसावाले और उनकी लालसा, अपरिमित। अतएव संसारमें अशांति और क्रान्ति मची हुई है। बोलशेविज़्म, मज़दूरसंघ आदि सब शांति और सुखकी खोजमें निकले हुए उपायोंका नाम है। जब विश्वभरमें ये फैलकर संसारके स्थानपर देश अथवा व्यवसायको पैमाना बना देंगे तब फिर ऐसी ही क्रान्ति होगी। अथवा यों कहिए कि यह क्रान्ति दूसरा रूप धारण करेगी। अंतमें मेरा विश्वास है कि पारवारिक पैमानेपर सबलोग आजावेंगे क्योंकि वही प्रेमसे अतिसुसंगठित और ग्राह्य तथा सुगम है। यह वैसा समय होगा जिसको हम रामराज्य आदिक नामों से पुकारते हैं।

यही समय होगा जब आपके लेख नियम होंगे और वे नियम, जिन पर सब लोग आचरण करेंगे। मेरे विचारसे आप वही कर रहे हैं जो किसी समय दयानन्दजी ने किया था; बल्कि उससे भी उच्चतम कार्यका

आप सम्पादन कर रहे हैं। विशेष क्या लिखूँ? भगवान आपके इस महान् कार्यमें आपको फलीभूत करें और हम भूले भाइयोंको इस भाँति सच्चा मार्ग मिले।

यदि होसके तो यह भी बतानेकी कृपा कीजिये कि सब अंक पुस्तकाकारमें कब तक मिल सकेंगे और अनुमानसे उनका क्या मूल्य होगा।

(२१)

श्रीमान् सवाई सिंघई फूलचन्दजी जैन सतना की सम्मति।

श्रीयुत पंडित दरबारीलालजी।

जैनजगतमें "जैनधर्मका मर्म" मनन किया। वास्तवमें आपने बड़ी ही निर्भयता तथा विद्वत्तापूर्वक जैनधर्म पर बहुत समयसे लगी हुई इस कालिमाको धोया है। सचमुच इस कालिमाके कारण संसारपथप्रदर्शक इस जैनधर्मको झुक जाना पड़ता था। परन्तु समाज इसे सहन करनेमें घबड़ा रही है। जब इसका यह फोड़ा मवाद देना छोड़कर भरने लगेगा तब वह सचेत होगी। इस मर्मसे जैनधर्मका बड़ा उद्धार होगा और साथ ही विस्तीर्ण भी होगा और संसारके सामने दर्पणवत् झलकने लगेगा।

हम उन विरोधी सज्जनोंसे कहते हैं कि यदि इस मर्मसे दरअसल जैनधर्म डूबा जाता है, तो बड़ी कृपा होगी यदि आप मैदानमें आजावें। संसारका बड़ा ही उद्धार होगा और जनता जो गलत रास्ते पर जारही वह सचेत होजावेगी। यदि आपका पक्ष सत्य और पक्षपात रहित है तो क्या बम्बई और क्या दिल्ली, हमें तो उनके घर पर घुसकर शास्त्रार्थ करके उन्हें पछाड़ना चाहिये। आपने तो प्रातःस्मरणीय पं० गोपालदासजी बरैयाको देखा है। वे किस तरह आर्यसमाजके पीछे हाथ धोकर पड़े थे और उनके घर पर घुस घुसकर पछाड़ते थे। फिर आप क्यों घबड़ाते हैं? आप पर संसारकी दृष्टि लगरही है। व्यर्थ पत्रोत्तरके झमेलेमें समय नष्ट न करना चाहिये। यदि दर असल यह "मर्म" जैनधर्म पर आक्षेप करता है तो हमें सिंहके माफ़िक उस पर टूट पड़ना चाहिये, चाहे वह कहीं पर हो, यदि वास्तवमें यह "मर्म" सच्चा है तो फिज़ूल समाज को अन्धभक्त न बनाइये। समय बदल गया है। आजकल कूड़े कंकड़ नहीं पुज सकते। संसार सत्यकी खोज कर रहा है। यही हमारी, विरोधी भाइयोंसे, नम्र प्रार्थना है।

चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच,

अर्थात्

सूर्यप्रकाश-परीक्षा ।

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ।]

(६)

कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें ।

यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ, जिसका जालीपन और बेढंगापन पिछले लेखोंद्वारा भले प्रकार दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट सिद्ध किया जाचुका है, औरभी बहुतसी ऐसी विलक्षण तथा विरुद्ध बातोंसे भरा हुआ है जिनका भगवान् महावीर के सत्य शासन अथवा उनके उपदेशके साथ प्रायः कोई मेल नहीं है—प्रत्युत इसके, जो उसकी प्रकृतिके विरुद्ध तथा गौरवको घटाने वाली हैं और साथही ग्रंथको और भी ज्यादा अप्रामाणिक, अमान्य, अश्रद्धेय एवं त्याज्य ठहराने के लिये पर्याप्त हैं। नीचे ऐसी ही कुछ बातोंका नमूनेके तौर पर दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रंथकी असलियत और भी अच्छी तरहसे खुलजायगी और उन्हें ग्रन्थकारकके हृदय, श्रद्धान, तत्त्वज्ञान एवं कपटाचरणका और भी कितना ही पता चल जायगा:—

सब पापोंसे छूटनेका सस्ता उपाय !

(१) ढूँढियों पर गालियोंकी वर्षाके अनन्तर—पूर्वोल्लिखित श्लोक नं० १२२ के बादही—ग्रन्थमें एक व्रतप्रकरण दियागया है, जिसका प्रारम्भ "पुनराह शृणु भूप ! तेषां भाविसुखाप्तये" इन शब्दोंसे होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीरने पंचमकाल के मानवोंकी सुखप्राप्तिके लिये राजा श्रेणिकको कुछ व्रतविधान सुनाया है। इस प्रकरणमें अष्टान्हिक आदि व्रतोंके नाम सामान्य रूपसे अथवा कुछ विशेषणोंके साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठानका फल दो तीन भवोंमें मुक्तिका होना बतलाकर 'कर्मदहन' नामके एक खास व्रतका विधान किया गया है। इस व्रतकी उत्कृष्ट विधिमें मूलोत्तर कर्म प्रकृतियोंकी संख्याप्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तरसे और निरारम्भ करने होते हैं—अर्थात पहिले दिन मध्यान्हके समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है; भोजनके दिन पंचामृतादिके अभिषेकपूर्वक तथा जिनचरणोंमें गन्धलेपनपूर्वक सचित्तादि द्रव्योंसे पूजा की जाती है, प्रत्येक उपवासके दिन उस उस कर्म प्रकृतिके नामोल्लेखपूर्वक एक जाप्य † १०८ संख्या प्रमाण जपा जाता है। साथ ही, विकथादिके त्याग रूप कुछ संयमका भी अनुष्ठान किया जाता है *। यह सब बतलानेके बाद ग्रन्थमें इस व्रतके फलका वर्णन करते हुए लिखा है:—

† अनुवादकने एक दिनके जाप्यका नमूना "ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः" दिया है !

* वह संयम विकथा, महारम्भ, स्त्रीसेवन, शृंगार, खट्वाशयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशून्य, परनिन्दा, परस्त्रीनिरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वकहास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्वनि, भोगाभिलाष, पत्रशाक और अशुद्ध दूध दही-घृतके त्यागरूप कहा गया है (श्लो० १६८ से १७१)।

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना ।
श्रवणाच्च यत्सर्वांहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम् ॥१७८॥

इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिकको कर्म-दहनव्रतके फलको ध्यानपूर्वक सुननेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि –'इस व्रतके फलश्रवणसे देहधारियोंके सर्व पाप प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं'! यहाँ 'सर्वांहा.' पदमें प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्दकी मर्यादा 'सर्वज्ञ' शब्दमें प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादासे कुछ कम नहीं है—वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थोंको विषय करने वाला कहा जाता है वैसे ही यह 'सर्व' शब्द भी भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल सम्बन्धी सब प्रकारके पूर्ण पापोंको अपना विषय करने वाला समझना चाहिये। उन सब पापों का इस फलश्रवणसे उपशम या क्षयोपशम होना नहीं कहा गया बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) होजाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथनका साफ़ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभ गोत्र नामकी जो भी पापप्रकृतियाँ हैं वे सब इस व्रतके फलश्रवण मात्रसे क्षयको प्राप्त हो जाती हैं! फिर तो मुक्तिकी उसी जन्ममें गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये!

पाठकजन! देखा, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवानने सब पापोंसे छूटने और मुक्ति की प्राप्तिका बतलाया है!! पाप-क्षयका इससे अधिक सुगम उपाय आपको अन्यत्र कहींसे भी देखनेको नहीं मिला होगा। इस गुह्य रहस्यका ग्रंथकार पर ही अवतार भगवानकी खास मेहरबानी का फल जान पड़ता है!!! अच्छा होता, यदि भगवान दि० तेरहपन्थियों और ढूँढियोंको इस व्रतका फल पहले ही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापोंसे मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने झगड़ने तथा उनपर गालियोंकी वर्षा करनेकी ज़रूरत ही न रहती! शायद कोई तार्किक महाशय यहाँ यह कह बैठें कि चूँकि भगवानको खासतौरसे अपने अभिषेक-पूजनादिके लिये उन्हें प्रेरित करना था वे इस व्रतका फल उन्हें पहले ही कैसे सुनादेते! परन्तु तबतो उन्हें व्रतफल सुननेका ऐसा माहात्म्य बतलाना ही नहीं चाहिये था इसे मालूम करके तो लोगोंकी प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रतके अनुष्ठानकी भी नहीं रह सकती जिसमें अनेक प्रकारसे अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिन-चरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्योंसे पूजनकी प्रेरणा अथवा पुष्टिकी गई है। क्योंकि उसका उत्कृष्टविधिका—और इसलिये अधिकसे अधिक—फल तो अगले जन्ममें विदेहक्षेत्र का सम्राट् होकर, जिनदीक्षा लेकर और अनेक तप तपकर मुक्तिका होना लिखा है, और इस व्रत-फल के श्रवणसे बिना किसी परिश्रमके ही सब पापोंका नाश होकर उसी जन्ममें मुक्ति होजाती है। इससे व्रत करनेकी अपेक्षा उसका फल सुनना ही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो सिद्धिके सरलसे सरल एवं लघुमार्गको छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्गको अपनाए? ग्रंथकारकी इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफलके नूतन आविष्कार पर तो लोगोंको सारे धर्म-कर्मको छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रतके फलको ही सुन लेना चाहिये! बस, बेड़ा पार है!! इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

ग्रंथमें एक स्थानपर उन मनुष्योंको जो सारे जन्म पापमें ही मग्न रहते हैं, इसी व्रतके कारण शिवपदकी प्राप्ति होना लिखा है:—

आजन्म पापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात् ।
अस्यैव कारणात् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते ॥१२॥
—पृष्ठ २५४ ॥

परन्तु हमारे खयालसे तो, उक्त श्लोक नं० १७८ की मौजूदगीमें, ऐसे महापापी मनुष्योंको भी व्रतकी उत्कृष्ट विधिके अनुष्ठानरूप इस द्राविड़ी

प्राणायामकी जरूरत नहीं है—वे इस व्रतके फलको सुनकर सहजही में सब पापोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं !

यहाँ पर मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि जो गुप्त रहस्यकी बात किसी तरह भगवान्‌के मुखसे अथवा ग्रंथकारके क़लमसे भव्य-जीवोंके कल्याणार्थ निकल गई थी उसका प्रकट होना अनुवादक महाशय पं० नन्दनलाल (ब्र० ज्ञानचन्द्र) जी—वर्तमान क्षुल्लक ज्ञान सागरजी-को सहन नहीं हुआ और इसलिये उन्होंने उसे छिपानेकी चेष्टा करते हुए उक्त श्लोक नं० १७८ का अर्थ ही नहीं दिया !! संभव है कि उन्हें इसमें भगवान् की या ग्रन्थकार की भूल मालूम पड़ी हो अथवा अपनी अभीष्ट पंचामृताभिषेकादि क्रियाओं को बाधा पहुँचनेका कुछ भय उपस्थित हुआ हो और इसीसे उन्होंने उस पर पर्दा डालना उचित समझा हो !!! परन्तु कुछ भी हो, सत्यकी प्रतिज्ञा को लिये हुए व्रती श्रावक होकर और एक अच्छे अनुवादककी हैसियतसे उन्हें ऐसा कूटलेखन तथा कपटाचरण करना उचित नहीं था ! कोई भी सहृदय धार्मिक पुरुष उनकी इस निरंकुशता और कपटकलाका अभिनन्दन नहीं कर सकता ।

धर्म और धनकी विचित्र तुलना !

(२) कर्मदहनव्रतकी विधि, और व्रतके फलको सुनकर राजा श्रेणिकने भगवानसे पूछा कि-'आपने तो पंचमकालके मनुष्योंको निर्धन बतलाया है, फिर वे विना धनके व्रत कैसे करेंगे ? तब तो व्रतका वह फल उनके लिये नहीं बनता ।' उत्तरमें भगवानने कहा-'राजन ! यदि पूर्वपापोंके उदयसे घरमें दरिद्र हो तो कायसे प्रोषधसहित दुगुना व्रत करना चाहिये ।' यथा:—

> भवद्भिः कथिता मर्त्या निःस्वा हि पंचमोद्भवाः ।
> करिष्यन्ति कथं वृत्तं तद्व्रते नास्ति तत्फलम् ॥२०॥
> गृहे यदि दरिद्रः स्यात्पूर्वपापोदयात् नृप !
> कायेन द्विगुणं कार्यं व्रतं प्रोषधसंयुतम् ॥२१॥

यहाँपर इतना और भी जानलेना चाहिये कि इस प्रश्नोत्तरसे पहले, ग्रंथमें व्रतकी जो उत्कृष्टविधि बतलाई गई है और जिसका संक्षिप्त परिचय नम्बर १ में दिया जाचुका है उसके अनुसार धनके खर्च का काम सिर्फ अभिषेकपुरस्सर पूजनके करने और पारणाके दिन एकपात्रको भोजन करानेमें ही होता है, जिसका औसत अनुमान २००) रु० के करीब बैठता है—अर्थात् १५६ पारणाओं के दिन पात्रोंका भोजनखर्च ४०) रु० और १५७ दिनका अभिषेक-पूजन-खर्च १६०) रुपये । और इसलिये उक्त व्यवस्थासे यह स्पष्ट है कि यदि कोई मनुष्य यह सब खर्च न उठाकर शुद्ध प्रासुकजलसे ही भगवानका अभिषेक कर लिया करे और "वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते । तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥" इस पुरातनविधिके अनुसार शरीर तथा वचनको परमात्माके प्रति एकाग्रकरके हाथजोड़ने, शिरोनति करने, तथा स्तुतिपाठ पढ़नेरूप द्रव्यपूजा और ध्यानादिरूपसे मनको एकाग्रकरके भगवानकी भावपूजा करलिया करे; साथही अपने भोजनमेंसे एक ग्रासही पहिले दानार्थ निकाल दिया करे तो इस प्रकारके पूजनादिके साथ १५६ प्रोषधोपवास और १५७ एकाशन करने तथा विकथादिके त्यागरूप उस सारे संयमका अनुष्ठान करनेपरभी, जिसका पीछे एक फुटनोटमें उल्लेख किया गया है, वह इस व्रतके फलको नहीं पासकेगा ! फल प्राप्तिके लिये उसे ३१३ दिनका उतनाही धर्माचरण फिरसे करना होगा !! अर्थात् उसके इस फिरसे किये जानेवाले ३१३ दिनके धर्माचरणका मूल्य २००) रुपयेके करीब है !!!

पाठकजन ! देखा, धर्माचरणके साथ धनकी यह कैसी विचित्र तुलना है ! निर्ग्रन्थ मुनियोंके पास

तो धन होताही नहीं—भलेही भट्टारक लोग धन रक्खा करें—और उनके लिये भी इस व्रतका विधान किया गया है, तब उन निर्धन-महात्माओंकोभी दुगुना व्रत करना पड़ेगा !!—उनकी ३१३ दिन तक महा-व्रतरूप परिणति भी उस फलको सिद्ध नहीं कर सकेगी !!! बड़ीही विचित्र कल्पना है ! समझमें नहीं आता, इस व्यवस्थाको व्रतविधान कहा जाय या दण्डविधान अथवा एक प्रकारकी दुकानदारी !! धनको इतना महत्व दिया जाना जैनधर्मकी शिक्षाके नितान्त बाहर है । भगवान महावीरके शासनमें तो आकिंचिन्यधर्म अथवा अपरिग्रहत्वको खास महत्व प्राप्त है और सिद्धिका जो कार्य ऐसे त्यागी धर्मात्माओंसे सहजहीमें बन सकता है वह धनाढ्योंसे लाखों रुपये दानपूजामें खर्च करनेपरभी नहीं बनता । मालूम होता है इस सब व्यवस्थाके नीचे—उसकी तहमें—पंचामृतादिकके अभिषेक, जिनप्रतिमापर गन्धलेपन, सचित्तादिद्रव्योंसे पूजन और भट्टारकोंको कुछ प्राप्ति करानेकी मनोवृत्ति ही काम कर रही है । इसीसे ग्रंथ मे धनाढ्योंको प्रकारान्तरसे कुछ डाँटाभी गया है—कहा गया है कि 'येलोग व्रतकी उत्थापना करेंगे, ऐसे पापियोंका धन पुत्र पुत्रियोंके विवाहों और मृतकादि की क्रियाओंमें तो खर्च होगा—पापकार्योंमें तो लगेगा परन्तु धर्मकार्योंमें व्यय नहीं होगा—धर्मकार्योंसे ये लोग पराङ्मुख रहेंगे । बुधजनों को सदा चाहिये कि वे पूजा और पात्रदानादिकमें, जोकि जिनेन्द्र भगवानके कार्य हैं (!) कृपणताको धारण न करें—वह अनेक दुःखोंकी दाता है । पिछली बात का सूचक वाक्य इस प्रकार है:—

> भोबुधाः ! जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा ।
> कृपणत्वं भजध्वं मा ह्यनेकदुःखदायकम् ॥४०॥

---

*एक स्थानपर इसी प्रकरणमें, पूजा, तथा पात्रको भोजनदान न करके भोजन करनेवाले गृहस्थको निश्चयसे **नरकके दुःखोंका भोगनेवाला लिखा है ! (पृ० २२०)**

आगे चलकर इस मनोवृत्तिने और भी विशेष रूप धारण किया है । ग्रन्थकारको उद्यापनकी बात याद आगई और इसलिये उसने व्रतकी सारी विधि तथा फलकी बात हो चुकनेके बाद और यहाँ तक कहे जानेके बाद भी कि—"कर्मदहन व्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्यत सुभावेन इदं यास्यति सोऽव्यये ॥" (४३) उद्यापनकी तान छेड़दी है !& और उसके विषयमें भगवानसे कहला दिया है कि—'व्रत की पूर्णतापर व्रतियोंको व्रतफलकी सिद्धिके लिये † हर्षके साथ श्रीजिनेन्द्रकी प्रतिष्ठा करानी चाहिये, चतुर्विधसंघको शिवाप्तिके लिये यथायोग्य दान देने चाहियें और नगरों तथा ग्रामोंके जिनमन्दिरोंमें मनोहर छत्र, चँवर, घन्टे तथा ध्वजादिक स्थापित करने चाहियें । राजन् ! यह इस व्रतके उद्यापनकी उत्कृष्ट विधि आगममें शिवसुखके देनेवाली मानी गई है । ... यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिये । यदि दारिद्रके योगसे ऐसी भी उद्यापनकी शक्ति न हो तो फिर कायसे दुगुना व्रत करना चाहिये, उससे उद्यापन के समान ही फलकी प्राप्ति होती है:—

> पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिनां ।
> करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ ४४ ॥

& अनुवादक महाशय इस विषयमें ग्रन्थकारसे भी दो क़दम आगे जान पड़ते हैं; क्योंकि उन्होंने इससे भी पहले ग्रन्थमें उद्यापनकी बात छेड़ी है—अर्थात ३१ वें श्लोकका अर्थ देते हुए 'गृहे यदि दरिद्रः स्यात' का अर्थ "यदि दरिद्रताके कारण व्रतका उद्यापन करनेकी शक्ति न हो" ऐसा कर दिया है ! जब कि वहाँ उद्यापनका कोई प्रसंग ही नहीं था !!

† यदि उद्यापनके बिना व्रतफलकी सिद्धि ही नहीं होती तो ग्रन्थकारको व्रतफलका विधान उद्यापन-विधान के बाद करना चाहिए था; परन्तु ऐसा नहीं किया गया और इसलिए यह कहना ठीक होगा कि ग्रन्थकारको उद्यापनकी बात बादको याद आगई है और वह **व्रत-विधि के अतिरिक्त है ।**

चतुर्विधाय संघाय, यथायोग्यानि मोदतः ।
सन्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभिः खलु ॥४५॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहराः ।
छत्राश्च चामराः घंटाः ध्वजाद्याः जिनसद्मसु ॥४६॥
उत्कृष्टोऽयं विधिर्भूप, शिवशर्मप्रदायकः ।
व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः ॥४७॥
यथाशक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप !
एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्रयोगतः ॥ ४९ ॥
अतोहि कायतो भव्याः कुरुध्वं द्विगुणमिदं ।
तत्समंहि फलाप्तिश्च भवतामपिसंभवेत ॥ ५० ॥

वस्तुतः उद्यापनादिकी ये सब बातें भट्टारकीय शासनसे सम्बन्ध रखती हैं। भट्टारकोंको उद्यापनों से बहुत कुछ प्राप्ति हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुतसा सामान पहुँचजाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्दके तार बजाते थे। इसीलिये उन्होंने अनेक व्रतोंके साथ उद्यापनकी बातको जोड़ दिया है। दुगुने व्रतके भयसे समर्थ लोग उद्यापन करने लगे; धनाढ्य स्त्री-पुरुषोंसे तो थोड़ेसे व्रतोंका बनना भी मुशकिल होता है, फिर दुगुने व्रतोंकी तो बातही दूर है, और इसलिये उनके द्वारा अपनी मानमर्यादाकी रक्षा करते हुए अच्छी बड़ी स्केल (बड़े परिमाण) में उद्यापन होने लगे और उन से भट्टारकों तथा उनके आश्रितोंका कितना ही काम सधने लगा। इस तरह उद्यापनकी बातका प्रचार हुआ। अन्यथा, व्रतोंके साथ अनिवार्य रूपसे उद्यापन करने, और न करने पर दण्डस्वरूप दुगुने व्रत करनेकी बातको भगवान महावीरके शासनमें कोई स्थान नहीं है और न प्राचीन आगमग्रंथोंमें ही उसका कहीं उल्लेख पाया जाता है। अपने व्रतकी समाप्ति पर उद्यापनादि रूपसे कोई उत्सव करना या न करना यह सब व्रतियोंकी इच्छा एवं शक्तिपर निर्भर है—व्रतविधान और उसके फलके साथ उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसीतरह अभिषेक पूजनकी गरज अथवा उद्देश्यसिद्धिके लिये पंचामृतादिक अभिषेक को अपनाना और केला-अंगूर अनार तथा लड्डू-फेनी-पकवान जैसे द्रव्योंसे पूजन करना भी कोई लाजिमी बात नहीं है। पूजनादिकी उद्देश्यपूर्ति दूसरे प्रकारसे भी की जासकती है और कहीं अधिक अच्छे रूपमेंकी जासकती है, जिसकी कुछ सूचना ऊपर की जाचुकी है। अतः पूजनादिक और उद्यापनमें धन न खर्च करने वालोंके लिये दुगुने व्रतकी इस व्यवस्थाको भट्टारकीय लीलाका ही एक परिणाम समझना चाहिये:—

ध्यान और तपका करना वृथा !

(३)व्रतप्रकरणके बाद ग्रन्थमें 'सम्मेदाचल' नाम का एक प्रकरण दिया है और उसमें श्रीसम्मेदशिखर की यात्राका अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तपकी बुरीतरहसे अवगणना की गई है'—'श्मशान भूमियों और पर्वतोंकी गुफादिकोंमें करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त किये हुये ध्यानसे भी अधिक फल सम्मेदशिखरके दर्शनसे होता है' इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि 'पंचमकालमें तप और ध्यानकी सिद्धि नहीं होती अतः सम्मेदशिखरकी यात्राही मनोसिद्धि की करनेवाली है' यहाँतक भी कहडाला है! और इसतरह आज-कलके लिये ध्यान और तपका करना बिलकुल ही वृथा ठहरा दिया है!! दो क़दम आगे चलकर तो स्पष्ट शब्दोंमें इन दोनोंका निषेध ही कर दिया है और भव्यजनोंके नाम यह आज्ञा जारीकर दी है कि 'तपोंके समूहको और ध्यानोंके समूहको मत करो किन्तु जीवनभर बार बार सम्मेदशिखरका दर्शन किया करो!! उसीके [illegible] मात्र पुण्यसे दूसरे ही भवमें निःसन्देह शिवपद [illegible] प्राप्ति होगी'। यथा:—

कोटिपूर्वकृतं [illegible] श्मशानादिगुहादिषु ।
तदधिकं भवन्येव फलं तद्दर्शनात् नृणाम् ॥ १३ ॥

नैवसिद्धिः भव्यस्योच्चैः(!)ध्यानस्येव कदाचन ।
तस्मिन् काले ह्यतो भूप ! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा॥१४॥
मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः ! ध्यानसंहतिम् ।
समं प्रत्येक वारं च आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे ।
यास्यथ नात्र संदेहो द्वितीये हि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥

यह सब कथन जैनधर्मकी शिक्षासे कितनाबाहर है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहजही में इसकी निःसारताका अनुभव कर सकते हैं। खेद है कि ग्रंथकारने इसेभी भगवानके मुखसे ही कहलाया है ! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रंथमे अन्यत्र कितनीही वार इन दोनोंके करने की प्रेरणा तथा इनके सफल अनुष्ठानका उल्लेखभी करआया हूँ !! और न यही खयाल आया कि जिस ध्यान और तपके माहात्म्यसे सम्मेदशिखर पूज्यताको प्राप्त हुआ है, उसीकी मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कररहा हूँ !! अथवा प्रकारान्तरसे मुनिधर्मको भी उठारहा हूँ !!! हाँ, इसप्रकार की शिक्षा भट्टारकोंके खूब अनुकूल है—उन्हे राजसी ठाठोंके साथ मौजमजा उड़ाना है, ध्यानादिके विशेष चक्करमें पड़ना नहीं है ।

मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं !

(४) ग्रंथमें, सम्मेदशिखरके दर्शनमाहात्म्यका वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है, जिसमें राजा श्रेणिकको सम्बोधन करते हुए कहा है कि 'इस (पाँचवें) कालमें मानवोंके लिये सम्मेदशिखरके (उसके दर्शनके) सिवाय शिवका—मुक्तिका—दूसरा और कोई उपाय नहीं है:—

अस्मिन्काले नराणां च मतो भो मगधाधिप ।
श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै ॥ २६ ॥

यह कथन जैनसिद्धान्तोंके बिलकुल विरुद्ध है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैनग्रन्थोंमें, जो पंचमकालके मनुष्योंके लिये ही लिखेगये हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मुक्तिका उपाय (मार्ग) बतलाया है—सम्मेदशिखरकी यात्रा अथवा उसके दर्शनको किसी भी सिद्धान्तग्रंथमें मुक्तिका उपाय नहीं लिखा दूसरे खुद इस ग्रन्थके भी यह विरुद्ध है; क्योंकि इसी ग्रन्थमें मुक्तिके दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरण के तौर पर कर्मदहन आदि व्रतोंको ही लीजिये, जिनसे द्वितीयादि भवमें मुक्ति का प्राप्त होना लिखा है—इस यात्रासे भी द्वितीयादि भवमें ही मुक्तिकी प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रन्थकारका यहाँ भगवानके मुखसे यह कहलाना कि 'मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं' कितना अधिक नासमझी तथा अविवेकसे सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिवका-मुक्ति अथवा कल्याणका—दूसरा कोई उपाय नहीं है-सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं—तब समझमें नहीं आता कि इसग्रंथके उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थके तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादिका कष्ट उठा रहे हैं ! उन्हें तो सब कुछ छोड़ छाड़कर एक मात्र सम्मेदशिखरका दर्शनही करते रहना चाहिये !

भव्यत्वकी अपूर्व कसौटी !

(५) कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ाही मुशकिल काम है; क्योंकि कभी कभी कोई जीव प्रकटरूपमें ऊँचेदर्जेके आचारका पालन करते हुए भी अन्तरंगमें सम्यक्त्वकी योग्यता न रखनेके कारण अभव्य होता है और दूसरा महा पापाचारमें लिप्त रहने पर भी आत्मामें सम्यक्त्वके व्यक्त होनेकी योग्यता को रखनेके कारण भव्य कहाजाता है। बहुतबड़े विशेष ज्ञानी ही जीवोंके इस भेदको पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकोंको यह जान कर बड़ा ही कौतुक होगा कि इस ग्रन्थमें उन सब जीवोंको 'भव्य' बतलादिया गया है जो सम्मेद शिखर पर स्थित हों अथवा जिन्हें उसका दर्शन होसके, चाहे वे भील-चाण्डाल—म्लेच्छादि मनुष्य

सिंह [illegible] पशु, कीड़े मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्यायमें क्यों न हों—और साथही यहभी लिखदिया है कि वहाँ अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्योंको उक्त गिरिराज का दर्शन ही प्राप्त होता है ! यथाः—

> "यत्रन्या सकलाजीवाः सिंहसर्पादिका नराः ।
> भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै ॥२८॥"
> "कलौ तद्दर्शनेनैव नरिष्यन्ति घना जनाः ।
> भव्यराशि समुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः ॥३३॥

पाठकजन ! देखा, भव्यत्वकी यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है ! बड़े बड़े सिद्धान्तशास्त्रों का मथन करने परभी आपको ऐसे गूढ रहस्यका पता न चला होगा !! यह सब भट्टारकीय-शासन की महिमा है, जिसके प्रतापसे ऐसे गुप्त तत्त्व प्रकाशमें आए हैं !!! इन यात्राओंके द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडपुजारियोंका बड़ाही स्वार्थ सधता था—तीर्थस्थान महन्तोंकी गद्दियाँ बन गये थे—इसीसे लोगोंको यात्राकी प्रेरणा करनेके लिये उन्होंने गंगा यमुनादि हिन्दूतीर्थोंके माहात्म्यकी तरह कितनेही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है—अतिशयोक्तियाँ भरीहुई हैं। सम्मेदशिखरके माहात्म्यादि-विषयमें जोकुछ विस्तारके साथ इस ग्रंथमें कहा गया है उसकी पूरी जाँच और आलोचनाको प्रकट करनेके लिये एक अच्छा खासा ग्रंथ लिखा जासकता है। मालूम होता है, आचार्य शांतिसागरजीका जो विशालसंघ सम्मेदशिखरकी यात्राको कुछ वर्ष पहले निकला था वह प्रायः इस ग्रंथमें दी हुई बड़ी यात्राविधिको सामने रखकरही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठजीको अगलेही जन्ममें मुक्तिकी प्राप्तिका सर्टिफिकेट मिलगया है *। आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थङ्करों) की तरह उनकी अभीसे पूजा प्रारम्भ हो जाय !! अब वे स्वच्छन्द हैं चाहे जो करें !!!

सम्यग्दर्शनका विचित्र लक्षण।

(६) इस ग्रंथमें, तेरहपंथियोंसे भगवानकी झड़पके समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टिका जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है:—

> सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः ।
> वाक्यं तदेव मान्यं स्यात् ग्रन्थवाक्यं न लंघयेत ६१५

अर्थात्—ग्रंथकारोंने (ग्रंथोंमें) जो भी वाक्य कहा है उसेही मान्य करना और ग्रंथके किसी वाक्यका उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शनका लक्षण है—जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो वह सम्यग्दृष्टि है *।

जिन पाठकोंने जैनधर्मके प्राचीन ग्रंथोंका अध्ययन किया है, अथवा कमसे कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार और पंचाध्यायी जैसे ग्रंथोंको ही देखा है उन्हें यह बतलानेकी जरूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहजहीमें समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षणके अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धानका कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरुके त्रिमूढतादिरहित और अष्टअंगसहित श्रद्धानका ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूतिका कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणोंकाही कोई चिन्ह दिखाई पड़ता है ! सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ाही रहस्यमय है, जाली सिक्कोंको चलानेकी मनोवृत्तिही इसकी तहमें काम करतीहुई नजर आती है, और इसलिये इसे भट्टारकीय शासनके प्रचारका मूल-

---

* "इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः मन् हितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः।" नात्र संशयः इस वाक्यके अनुसार।

* 'सम्यग्दृष्टि' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनोंके अर्थमें आताहै। इसीसे मूलमें प्रयुक्त हुए इस शब्दका अर्थ यहाँ उभय रूपसे किया गयाहै।

मंत्र समझना चाहिये। इसी पर्देकी ओटमें भट्टारक लोग और उनके अनुयायीजन सब कुछ करना चाहते हैं। प्राचीन ग्रंथोंमें अपनी इष्टिसिद्धिके लिये चाहे जो कुछ मिला दियाजाय और चाहे जिन बातोंको चलानेके लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरोंके नामपर नये ग्रंथोंका निर्माण करदिया जाय; परन्तु उसमें कोईभी 'चूँचरा' अथवा आपत्ति न करे—बिना परीक्षा और बिना तत्वकी जाँच कियेही सब लोग उन बातोंको आगमकथितके रूप में आँख मींचकर मानलेवें, इसी मन्तव्यकी रक्षाके लिये बिना किसी विशेषणके सामान्यरूपसे ग्रंथकार, ग्रंथ और वाक्य शब्दोंका प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टिके लक्षणका यह विचित्र कोट तय्यार किया गया है !! अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रंथकारोंमें अच्छे बुरे, योग्य अयोग्य सभी प्रकारके ग्रंथकार होते हैं—उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रंथकार तथा त्रिवर्णाचारोंके कर्ताओं जैसे धूर्तभी शामिल हैं और ग्रंथोंमें भी अनेक कारणोंके वश सच्ची झूठी सभी प्रकारकी बातें लिखी जासकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्यकी जाँच किये महज ग्रन्थवाक्य होनेसे ही किसी बात को कैसे मान्य किया जासकता है ? यदि योंही मान्य किया जाय तो फिर सम्यक्-मिथ्याका विवेकही क्या रह सकता है ? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि—मिथ्या दृष्टिका भेदभी कैसे बन सकता है ? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीलाका दुष्परिणाम है ! और उसीने ऐसे बहुतसे झूठे तथा जाली ग्रंथोंको जन्म दिया है,जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं और जिनमेंसे कितनोंहीकी परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पबलिकके सामने आचुका है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि अनुवादक महाशयने उक्तश्लोकका अर्थ देते हुए लिखा है कि—"सम्यग्दृष्टीका यही एक लक्षण है कि जिसको जिनेन्द्र के आगमका श्रद्धान है।" अर्थात् आपने 'यदुक्तं ग्रन्थकारकैः वाक्यं तदेव मान्यं स्यात्' का अर्थ "जिसको श्री जिनेन्द्रके आगमका श्रद्धान है" ऐसा किया है ! और इसतरह प्रस्तुत ग्रन्थकी स्पष्ट बात पर कुछ पर्दा डालते हुए हिन्दी पाठकोंकी आँखोंमें धूल डालनेका यत्न किया है !! मूलमें 'श्रीजिनेन्द्र देव' और उनके 'आगम' का नामोल्लेख तकभी नहीं है, बल्कि सामान्यरूपसे बहुवचनान्त 'ग्रन्थकारकैः' पदके साथ 'यदुक्तं' पद का प्रयोग करके सभी ग्रन्थकारोंके कथनका समावेश किया गया है। अतः यह सब भट्टारकीय शासनके अनुयायी और उसे प्रचार देनेके उत्कट इच्छुक अनुवादक महाशय (वर्त० क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) की निरंकुशता है ! और उनकी ऐसी निरंकुशताओं से यह सारा ग्रन्थ भरा पड़ा है !! (क्रमशः)

दि० जैनपरिषद्का आगामी अधिवेशन।

ता० ३०, ३१ दिसम्बरको सहारनपुरमें होने वाला है। सभापतिका आसन समाजके सुप्रसिद्ध श्रीमान् धीमान् रायबहादुर साहु जुगमंदरदासजी ग्रहण करेंगे। सहारनपुर दिगम्बर जैनसमाज धर्मके रहस्यसे जानकार है व धार्मिक कार्योंमें खूब रुचि रखती है। आज जैनसमाजमें कतिपय पंडितों व साधुवेषियों द्वारा चर्चासागर, त्रिवर्णाचार, सूर्यप्रकाश, दानविचार आदि निकृष्ट ग्रंथोंका खुल्लमखुल्ला प्रचार हो रहा है और इस तरह जिनवाणी व जैनधर्मको कलङ्कित करनेकी जघन्य चेष्टा की जा रही है। कई भ्रष्टाचारी, साधुवेष धारण कर मनमाना दुराचार कर रहे हैं। सहारनपुर अधिवेशनमें इनका उचित प्रतिकार किया जाना चाहिये। —धर्मप्रेमी।

श्रद्धांजलि।

(श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीकी धर्मपत्नीकी मृत्यु पर उनके पुत्रका उच्छ्वास)

घर कौनसा बसा, जो वीराँ न हो गया।
गुल कौनसा हँसा कि परेशाँ न हो गया॥

तारीख २२ अक्टूबरकी भयंकर रात्रि थी। मेरी माता मरणशय्यापर पड़ी थीं। आसपास सभी कुटुम्बी और स्नेहीलोग खड़े थे। आज सुबहसे ही सब उनके जीवनसे निराश होगये थे, परन्तु फिर भी 'साँस तब तक आस' की नीतिसे सबही उनको बचानेकी कोशिश कर रहे थे। शाम हुई—रात्रि हुई, आशा बिखरने लगी। अब प्रश्न केवल समयका रह गया। दवाओंके बलपर श्वास टिकाने की निष्फलता स्पष्ट होने लगी। बुखार १०६ डिग्री। एक घंटा, दो घंटा, तीन घंटा। हाथपैर ठंडे हो चले। हज़ार प्रयत्न करने पर भी गर्मी न आई। पिताजी क्षण क्षणमें रो पड़ते हैं। उन्हें सँभालना कठिन होउठता है। पुरानी बातें स्मृतिपटल पर घूम जाती हैं। माताजीकी स्मृति पहले ही नष्ट होचुकी थी, मस्तिष्क भ्रमित था। बोल भी बन्द होचुका था। हाय! कुछ कह भी नहीं पाई। अब तो—

शून्यसे लिपट रही है आश
बिखरता जाता है विश्वास।

बस अन्तिम श्वास। हृदयकी धड़कन बन्द। एक हिचकी, बस खतम। पिताजी गिर पड़े और रो पड़े। और मैं अपने हृदयको थामे हुए उसे कर्तव्यके बन्धनसे जकड़ रहा था। हाय, निष्ठुर आँखोंमें एक भी आँसू न था। पिताजीको मैंने किसी तरह सँभाला। "तुम इतने पण्डित और ज्ञानवान् होकर यों बच्चों सरीखे रोते हो! लोग क्या कहेंगे?" निष्ठुर लज्जे, तू मर क्यों नहीं गई? पीड़ित आत्माको क्या तू रोने भी न देगी? परन्तु करता क्या? इन्हीं शुष्क और हृदयहीन शब्दोंमें पिताजीको समझाया और प्रार्थना की 'भगवन्, यदि तू है तो मेरे इन शुष्क शब्दोंको भी सारवान् कर देना और पिताजी को सान्त्वना देना। पर हाय, उन शब्दोंमें शक्ति न आई, न आई। लज्जा भी न मरी, न मरी। आखिर अन्य जान पहिचानके लोगोंकी लज्जाने ही आँसुओंके वेगको शांत किया। परन्तु वेग फिर फिर उठता है। हृदय ज़ोरोंसे धड़क रहा है। शरीरकी नस नस धड़क रही है। मानों सर से लगा कर पाँव तक सारा शरीर ही एक बृहत् हृदय-पिण्ड हो रहा है।

जैसे तैसे सुबह हुआ। टेलीफ़ोनसे मित्रों और सम्बन्धियोंको सूचना दी। छोटी बच्ची नीमा* उठी। उससे कहा कि 'नीमा, तेरी माँ तो मर गई।' वह कहने लगी—'नहीं मरीं, वे तो सो रही हैं। पलंगपरसे नीचे क्यों डाल दिया?" बेचारी नासमझ बच्चीको जैसे तैसे कहीं भेजा। मृतदेहको उठाकर स्मशान लेचले। लोग पिताजीको बातों में बहला रहे हैं। निष्ठुर समाज, तू कितना स्वार्थी है! तू क्या जाने क्या होगया? स्वर्गकी देवी आई थी, चली गई। रत्न खो जाता है, खोनेवाला रोता है, लोग हँसते हैं। खोनेवाला रोशनी लेकर ढूँढता है; लोग जाते जाते पैरकी धूलसे उसे और ढक देते हैं। ऐ समाज, तुझे शर्म नहीं आती, जो बड़ा तत्वज्ञानी बनता है और खुद न समझ, समझानेका ढोंग करता है—अनधिकार चेष्टा करता है।

लकड़ियोंका ढेर किया। देह रक्खी। आग लगा दी। प्यारसे जिसका लालन हुआ था, प्रेम से पोषण हुआ था और भक्तिसे जिसकी पूजा हुई थी, वही देह जल कर भस्म हो गई। मैंने अपने आप कहा—

"अयि मधुकरि कल्पने।
उसकी शोध बतादे मुझे कहीं,
हृदयासन दूँगा तुझे—पर हाय यह क्या?
वक्षस्थलमें हृदय नहीं!

× × ×

* मेरे काकाकी लड़की जिसे उसकी माता एक वर्षकीही छोड़कर मर गई थी और जिसे मेरी माताने अपनी लड़कीके तुल्य पाला था। वह इन्हें मा ही समझती थी।

उस स्वर्गीय आत्माकी मैं एक जीवन-रेखा खींचने बैठा हूँ। पर यह कितना कठिन कामहै, इसे सब नहीं जान सकते। फिर भी लिखना तो है ही। क्या तुझसे इतनाभी न होगा कि तू अपनी माताको इतनीसी पुष्पांजलि भी चढ़ा सके? नहीं ऐसा न होगा। मैं पुष्पांजलि चढ़ाऊँगा अवश्य। भलेही हाथ काँपें, अश्रुकी धारा बह निकले। प्रार्थना यही है, यह अञ्जलि उन्हें स्वीकृत हो, यथास्थान पहुँच जाय, काँपते हुए हाथ इसे गिरा न दें।

× × ×

मेरे पिता, जैनसमाजके पुराने सेवक पूज्यवर नाथूरामजी प्रेमीको सैंकड़ों आदमी जानते हैं, परन्तु मेरी माताको कितने जानते हैं? उन्होंने अपने आपको पिताजीमें लीन करदिया था। उनका व्यक्तित्व कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं था। गृहस्थका जीवन मानो गणितकी दो संख्याओंका गुणनफल है। कौन संख्या कितनी बड़ी थी, इसका अनुमान केवल गुणनफल देखनेसे नहीं मालूम होसकता।

नेपोलियनके प्रतापमें उसकी पूर्वपत्नी महारानी जोसेफ़ाइनका कितना हाथ था, यह कुछ थोड़ेसे ही आदमी जान सकते हैं। वर्तमान रूसके पिता लेनिनके प्रतापके प्रकाशमें उसकी पत्नी कुप्सकायाका प्रताप जो कि उसकी सफलताओंका मूल कारण थी, छिप जाता है। पाँच पाँच [illegible] बच्चोंको तड़पते और मरते देखकर कमज़ोर दिल [illegible] मार्क्सको अपने सिद्धान्तपर दृढ़ रखनेवाली [illegible] हिम्मत देनेवाली उसकी धर्मपत्नीको, जिसने अत्यंत [illegible] खानदानकी होते हुएभी दारिद्र्यका पातिव्रत लिया [illegible] कौन जानता है? कार्लमार्क्सका नाम जगद्व्यापी हो [illegible] है, पर उसकी पत्नीको जाननेवाले कितने मिलेंगे?

मेरी मातासे जो लोग परिचित हैं वे जानते हैं कि जो भी कुछ पिताजी कर सके उसमें उनका कितना मूक हिस्सा था।

मध्यप्रान्तमें सागर ज़िलेके गौरझामरके पास सरखेरा ग्राममें उस ग्रामकेएक मात्र जैनकुटुम्बमें उनका जन्म हुआ। उनके पिता वैद्य थे और उनका नाम आसपासके गाँवोंमें काफ़ी प्रसिद्ध था। उनके जन्मके सम्बन्धमें एक विचित्र बात यह हुई कि उन्हें जन्मसे ही अपने पूर्व जन्मका स्मरण था। उस ग्राममें अधिकांश बस्ती दाँगी नामक क्षत्रिय जातिके लोगोंकी है, जो अपने खेती किसानीके धन्धेके कारण हीन समझी जाने लगी है। मेरी माता पूर्वजन्ममें उसी ग्रामके एक दाँगी नम्बरदारकी अत्यन्त रूपवती पुत्री थीं जिनका विवाहसम्बन्ध कुछ दूरके एक बड़े ज़मींदारके यहाँ हुआ था। वे इतनी कोमल थीं कि विवाहके थोड़ेही दिन बाद एक साधारण बिच्छूके काटनेसे ही मर गईं और अपने मायकेके इस जैन कुटुम्बमें अवतरित हुईं। अपने पूर्वजन्ममें जहाँ जैसे रही थीं, जहाँ उन्होंने जो चीज़ें गाड़कर रखी थीं, वे सब बातें अपनी ४-५ वर्षकी उम्रमें उन्होंने ग्रामवासियोंको बतला दीं। बचपनसे ही वे अपने घरमें नहीं रहतीं थीं और अपने पूर्वजन्मके मातापिताके घरमें चली जाती थीं, वहीं खेलती थीं, खाती थीं और रहती थीं। हर बार इनकी माताको वहाँ से ज़बरदस्ती पकड़कर लाना पड़ता था। वे अपनी मातासे बस्तीके अन्य लोगोंके समान 'मोदन'* ही कहतीं थीं और मातारूपमें उन्हें स्वीकार नहीं करती थीं। उन्हें अपनेको दाँगी क्षत्रिय कहलाना विशेष पसन्द था, मोदी या बनिया नाम उन्हें पसन्द नहीं था। क्षत्रियत्वकी आन उन्हें ज़िन्दगी भर बनी रही और यह गुण ऐसा था कि जो साधारण वैश्यकुलोंमें नहीं पाया जाता।

बचपनमें वे अत्यन्त तेजस्वी थीं। उन्हें लड़कोंकेसे वस्त्र पहिनना विशेष पसन्द था और लड़कोंके साथ ही वे विशेष खेली भी थीं। खेलनेमें, दौड़में, ऊँचे ऊँचे टीलेपरसे कूदनेमें तथा अन्य सब साहसके कार्योंमें वे बस्तीके लड़कोंमें सब प्रथम रहती थीं। यह उसी समयका बनाया शरीर था जो बादकी बीमारियों, कष्टों, चिन्ताओंका सामना दृढ़तासे कर सका।

इनके जन्मके कुछ ही दिन बाद इनके पिताकी मृत्यु हो चुकी थी। घरमें अत्यन्त दरिद्रता थी और सारे कुटुम्ब के स्वभाव में अत्यन्त उदारता। घर में पूरा खाने को भले ही न हो परन्तु कोई भी भिक्षुक द्वारसे खाली

* सागर ज़िलेमें आमतौरसे वैश्योंको मोदी और उनकी स्त्रियोंको 'मोदन' कहनेका रिवाज है।

हाथ न लौटता । जब तक उनके पिता जीते रहे, तबतक उनकी माँने अड़ौसियों, पड़ौसियों, रिश्तेदारों, याचकों आदिको शक्तिसे अधिक दिया । इस कारण द्रव्यभी घरमें अधिक न जुट सका । और फिर पुराने ज़मानेकी वैद्यगीरी में मिलता ही क्या था ? रुपया और नारियलकी भेंट तथा त्यौहार वगैरहके समय सीधा, विवाहादिमें घीके डब्बेही वैद्योंकी उस ज़मानेमें फ़ीस थी ।

हाँ, तो फिर उनके पिताकी मृत्युके बाद घरका सारा बोझा इनकी माँ और इनके कमउम्र भाई पर पड़ा । माँ बेचारी दिन भर नौन गुड़ आदि चीज़ें बेचती, जगह जगहके बाज़ार करतीं और दूसरे दिनके लिए चार छः पैसे कमा लातीं । बेटी बिचारी दिन भर घर रहती, खेलती और सुबह शाम रोटी बनाकर रखती थी ।

जब उम्र कुछ बड़ी हुई तो माँ और भाई को शादी की फ़िक्र हुई । कुछ धनी बुड्ढोंने दाँत लगाये, पर उन्हें कामयाबी हासिल न हुई । जो सच्चे कुलवान हैं वे कितने ही ग़रीब क्यों न हो जायँ, अधर्माचरण नहीं कर सकते । आख़िर दो जगह लड़के पसन्द आये । इन दोमेंसे एक मेरे पिता थे, जिनसे अन्तमें सम्बन्ध हुआ; परन्तु उस समय उनके चान्स बहुत मन्द थे । मेरी नानी अपनी लड़कीको इतनी दूर—बम्बईमें देनेके पक्षमें न थीं । दूसरी जगह गौरक्षामरमें सगाई पक्की होगई परन्तु एक बुरी दिल्लगी करनेके कारण उनके भाईका मन उस तरफ़ से बहुत ही नाराज़ हो गया । नानी बहुत कोशिश करने परभी अपने क्रुद्ध बेटेको न मना सकीं और बेटेके आग्रह से उन्हें दूर देश ही अपनी लड़की सौंपनी पड़ी ।

शादी होनेके पहिलेसे ही मेरी माँ ने सुन रखा था कि उनकी भावी सास अत्यन्त कठोर स्वभावकी हैं । परन्तु उन्होंने कभी इस बातकी पर्वाह न की । वे उन लोगोंमेंसे थीं जिन्हें शक्तिसे बाहर परिश्रम करनेमें भी मज़ा आता है, जो कष्टमेंभी एक प्रकारके आनन्दका अनुभव करते हैं । सुख और दुःख मूलमें एकही हैं, दोनोंका उत्पत्तिस्थान एकही है । मनकी अनुकूलता या प्रतिकूलताके अनुसार गुदगुदी, नोंचना, काटना, मारना, दुःख और सुख दोनोंकी ही उत्पत्तिके कारण होते हैं । यह तत्वज्ञान शायद वे न जानती हों, परन्तु आत्माकी विशुद्धताके कारण इसका वे प्रत्यक्ष अनुभव करती थीं । दुःखों और कष्टोंको तो वे मानो निमंत्रण देती फिरती थीं । उन्हींमें उन्हें एक विचित्र प्रकारका मज़ा आता था । जब कोई उनसे उनकी सासकी कठोरताकी बात कहता, तो वे हँसकर जवाब देतीं कि मुझसे वे अधिक कामही लेंगी, और क्या करेंगी ?

क्षत्रियत्वकी आन, कष्टसहिष्णुता और स्वभावकी उग्रता ने मिलकर एक विचित्र स्वभावकी सृष्टिकी थी । मेरे पिता अत्यन्त मातृभक्त थे और उनकी माता कितनी भी कठोरताका व्यवहार क्यों न करें, उसके विरुद्धमें मेरी माताका एक भी शब्द न सुन सकते थे । ऐसी परिस्थिति में उनकी स्वाभाविक उग्रता, आत्मपीड़न, देहदमन और संयमके रूपमें मार्गान्तरित होगई । एक बारका हाल है कि उनकी जाँघों और गुदाप्रदेशमें बड़े बड़े फोड़े हुए थे, फिरभी अपने कष्टका हाल उन्होंने किसीसे नहीं कहा और वे दो घन्टे तक बैठकर चक्की पिसवाती रहीं, जिसके अंत में उनके कपड़े खून और पीबसे लथपथ हो गये थे ।

तत्वज्ञोंका यह कथन यदि सत्य है कि आत्माकी निर्मलता या महानता अर्थात् कर्ममलकी लघुताकी परीक्षा इसबातसे होती है कि वह व्यक्ति किस परिमाणमें ब्रह्माण्ड के समस्त जीवोंसे अपनी एकता अनुभव करता है, तो अवश्य वे महान् थीं । दूसरेके दुःखसे दुखी, और दूसरेके सुखसे सुखी होना, दूसरेके सुखदुःखको अपने आपमें अनुभव करना ही इसबातकी चरम परीक्षा है । चाहे कोई सम्बन्धी हो या दूरका, उसका दुःख उन्हें दुखी करने, उसका रोना उन्हें रुलाने, उसका हँसना उन्हें हँसानेके लिये काफ़ी था । अनेक व्यक्तियोंके कारण उन्हें अपने जीवनमें बहुत ही कष्ट झेलने पड़े । उन कष्टोंको वे कभी भूलीं भी नहीं, परन्तु बदलेकी इच्छा उन्हें कभी पैदा न हुई, हमेशा उन्होंने उनका भलाही विचारा और कष्ट पड़ने पर भरसक सहायता ही दी ।

सेवा एक ऐसा धर्म माना गया है जो कि बड़े बड़े महात्माओं के लिए भी दुर्गम है । उनके जीवनमें सेवा भावका ऐसा विचित्र मेल हुआ था कि वह उनका दूसरा जीवन ही हो गई थी । यदि उनमें से सेवा घटादी जाती तो उनका पहिचानना मुश्किल होजाता । पिताजीके जीवनका एक बहुत बड़ा हिस्सा बीमारियोंमें ही व्यतीत हुआ

है। और वे बीमारियाँ ऐसी वैसी नहीं। सात आठ दफ़ा संधिवात, दो बार दुष्ट फुप्फुससंनिपात (Double Pneumonia) तीन चार दफ़ा तीव्र श्वासरोग और कई बारकी भयान खाँसी। डॉक्टरों और वैद्योंको हमेशा ही मंजूर करना पड़ा कि रोगी केवल सेवासुश्रूषासे ही बचा है, दवाका असर तो नाम मात्र ही हुआ। इन बीमारियों जिन लोगोंने उनको परिचर्या करते देखा है, वे ही जानते हैं कि वे क्या थीं?

सबसे बड़ा गुण जो उनमें था और जो उन्हें जन्मसे ही प्राप्त हुआ था, पवित्रता या सतीत्वका था। इसका उन्हें अभिमान भी था। गौरवर्ण और स्वाभाविक सौन्दर्यके कारण वे एक समय अत्यन्त आकर्षक थीं। परन्तु साथ में इतनी उग्र और तेजस्वी भी थीं कि किसीको सामने ताकनेकी हिम्मत ही नहीं होती थी। फिर भी कुछ शैतानोंने पीछे पीछे जाल बिछाया और अड़ोस पड़ोसकी स्त्रियोंको मोहरा बना और आदि प्रलोभनोंसे बहुत कुछ फँसाया भी; परन्तु मेरी माँ अत्यन्त भोली और गँवार होनेपर भी उनके हाथ न आसकीं। इन बातोंसे उनकी प्रतिष्ठा सजातीय समाजमें काफ़ी बढ़ गई। उनका सतीत्वका तेज ऐसा था कि आस पास की तथा जान पहिचानकी सभी स्त्रियाँ उनसे बहुत दबती थीं।

उनमें और भी एक बड़ा गुण था जो विरल स्त्रियोंमें ही पाया जाता है। वह गुण पातिव्रतका था। पातिव्रत का मतलब पतिके कामों या कार्यमें सहायक होनेका है। जो भी काम पिताजीने आरम्भ किया, उसमें हमेशा उनकी सहानुभूति और सहायता रही। किसी भी काममें कभी वे अपने पतिकी इच्छाके विरुद्ध नहीं हुईं। पिताजीके आग्रहसे उनके विजातीय मित्रों तकको अपने घरमें अपने चौकेमें खुशीसे जिमाया।

हिन्दूसभ्यतामें अतिथिसत्कारको जो महत्त्वकास्थान प्राप्त है, वह शायद ही किसी अन्य सभ्यतामें हो। मेरी स्वर्गीया माँमें यह गुण कूट कूटकर भरा हुआ था। गरीब से गरीब अतिथि भी यदि घरपर आता था, तो भी उसे कमसे कम पुड़ियाँ अवश्य खानेको मिलतीथीं। बुंदेलखण्ड प्रान्तमें अतिथिका सत्कार गरीब घरोंमें भी पूड़ी खिलाकर किया जाता है। पिताजीने 'रोटी बनाम पूड़ी' नामक लेख भी लिखा और उन्हें समझाया भी; परन्तु अतिथिके आने पर पूड़ी बनाना उन्होंने कभी बन्द न किया। मूर्ख अतिथियोंकी प्रसन्नताके लिए यद्यपि यह ठीक भी था, परन्तु मूर्ख और समझदार का भेद करना उन्होंने नहीं सीखा था। वहाँ तो अभेद भाव था।

जीवनके पिछले वर्षोंमें उन्हें दो बड़े धक्के लगे। उनके जीवनका अन्त पिछले धक्केमें ही हो जाना चाहिए था, पर न जाने कैसे किसके भाग्यसे वे कुछ महीने और जीती रहीं। परन्तु हाय, वह जीना जीना नहीं था केवल अस्तित्व मात्र था। शरीर खण्डहर होगया था और उसमें रहनेवाली आत्मा मानों अपने पूर्वरूपकी झाँकी—छायारूप रह गयी थी। चिन्ता, शोक और उद्वेगोंके अतिशय प्रवाहोंने सारे शरीरकी नाड़ियोंको झनझनाकर तोड़सा दिया था।

उन्होंने अपने भाईके इकलौते पुत्र दयाचन्दको पढ़ाने के लिए अपने पास बुलाकर रखा था। एक दिन बम्बई में स्कूलके सामने ही वह ट्रामके नीचे आगया और अस्पतालमें उसकी मृत्यु होगई। भाईका इकलौता पुत्र, और आगे होने की कोई आशा नहीं। इस पर फिर मृत्युके निमित्त कारण हम लोग। भाई और भौजाईको तो शायद उतना दुःख न हुआ हो, परन्तु उनपर तो मानों वज्र ही गिर पड़ा। उस समय हम लोगोंने इस मृत्युका हाल बहुत कुछ छिपाने की कोशिश की परन्तु उसका ज्ञान तो उन्हें मृत्यु होनेके पहले ही हो चुका था। कई दिन पहलेसेही उनके निर्मल मानस पर आगामी घटनाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और वे अत्यन्त चिन्तित थीं। उनकी चिन्ता को हम लोग केवल भ्रम कहकर हँसीमें उड़ादेते थे। परंतु उन्हें अपने आगामी घटनाओंके आभास पर पूरा विश्वास होता था। यदि वे कहीं बाहर या देशमें हों तो पिताजी की बीमारी आदिका हाल उन्हें वहीं बैठे बैठे आभासित हो जाता और वहाँसे वे शीघ्र पत्रके बिना ही आजाती थीं।

इस घटनाके बाद उनके जीवनमें आनन्द नामक तत्त्व नहीं रहा। उनका जीवन मानों आँधी और तूफ़ान में अधटूटे जहाज़का सा होगया। इसके कुछ वर्ष बाद, अबसे छः महीने पहिले, एकाएक उनके भाईकी भी मृत्यु होगई। उनका कोमल अंतःकरण इस दूसरे धक्केको न सह सकता था और इससे अत्यन्त जर्जरहो गया। कुछही

साहित्य और इतिहास ।

[लेखक—श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(७)

सम्राट् चन्द्रगुप्त और विधवा-विवाह

गुप्तवंशके सुप्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्तके विषयमें, जिनका समय ईसाकी चौथी शताब्दिका अन्तिम पाद है, एक नई बातका पता लगा है। ये सम्राट् समुद्रगुप्तके उत्तराधिकारी थे। इनके बड़े भाईका नाम रामगुप्त था। चन्द्रगुप्त बहुत ही योग्य और वीर थे, इस कारण समुद्रगुप्तने इन्हींको अपना उत्तराधिकारी बनाया था; परन्तु चन्द्रगुप्तका भाई से प्रेम था और बड़े भाईके रहते हुए स्वयं राजगद्दी पर बैठना उन्हें उचित मालूम नहीं हुआ। मंत्रियोंने भी इसे ठीक नहीं समझा, इसलिये रामगुप्त ही समुद्रगुप्तके उत्तराधिकारी बनाये गये। परन्तु रामगुप्त बलहीन, निस्तेज और पराक्रमहीन राजा था। वह शासन न कर सका और अन्तमें चन्द्रगुप्तका ही सम्राट्के पद पर अभिषेक किया गया।

काव्यमीमांसाके कर्त्ता राजशेखरने कथोत्थमुक्तकके उदाहरण में एक श्लोक दिया है—

दत्वा रुद्धगतिः शकाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं,
यस्मात् खंडितसाहसो निववृते श्रीरामगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेवहिमालये गुरुगुहा कोणक्वणत्किन्नरे,
गीयंते तवकार्तिकेय नगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

अर्थात् जिस हिमालयसे श्रीरामगुप्त राजा शकाधिपतिसे घिरकर अपनी रानी ध्रुवदेवी को उसे दे, हतसाहस हो लौट आया, उसी हिमालयमें स्त्रियाँ आपकी कीर्ति गाती हैं।

इससे मालूम होता है कि रामगुप्तने अपनी जान बचानेके लिए अपनी महारानी ध्रुवदेवी किसी शकराजाको सौंप दी थी और यह उसकी अयोग्यता तथा कायरताका ज्वलन्त प्रमाण है।

पाठकोंने विशाखदत्तके सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटक मुद्राराक्षसका नाम सुना होगा। इसी कविका बनाया हुआ एक 'देवी-चन्द्रगुप्त' नामका भी नाटक था, जो अब कहीं मिलता नहीं है; परन्तु उसके उद्धरण अन्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं। परमारवंशीय राजा भोजने अपने 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रन्थमें इस नाटकके कुछ अवतरण दिये हैं जिनमेंसे एक यह है—

"स्त्रीवेष निह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारं आलिपुरं शकपतिवधायागमत्।"

अर्थात् स्त्रीवेषमें छुपा हुआ चन्द्रगुप्त शत्रुके स्कन्धावार (छावनी) अलिपुरमें शकपतिको मारनेके लिये गया।

सुप्रसिद्ध महाकविबाण (ई० सन् ६२०) ने अपने हर्षचरितमें भी लिखा है—

महीने बाद उन्हें मोतीझराका बुखार आया और उसीमें वे चल बसीं।

यह हुआ एक स्वर्गीय आत्माका सांसारिक संक्षिप्त इतिहास। जोकुछ भी लाई सो साथमें लाई, ले कुछ नहीं गई। यह हम लोगोंकी अयोग्यता और जड़ताका ही कारण है। जन्मसे जो कुछ आत्मशुद्धि उन्हें प्राप्त हुई थी, उसमें कमीही हुई, वृद्धि न होने पाई। कुलीनवंशमें पैदा हुई और पंडितोंके घरमें आई, पर फिरभी वे कुछ आत्मोन्नति न कर पाईं। मोहसे वे हमेशाही पीड़ित रहीं और उसीने उन्हें खालिया। उनका स्नेह मोहकी चरमसीमा तक पहुँच गया था। जिनका उनसे सबसे अधिक स्नेह था, पलंगके आस पास खड़े थे—

खड़े ताकते हैं केवल मुंह, कोई काम नहीं आया।
हो चला उसका लीला-अंत,
स्नेह तुम निष्ठुर हो, हा हन्त।

—हेमचन्द्र।

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेश-
गुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिं असादयत् ।"

अर्थात् अरिपुरमें दूसरेकी स्त्रीकी कामना करनेवाले शकपतिको स्त्रीवेषमें छिपे हुए चन्द्रगुप्त ने मार डाला ।

टीकाकार शंकर उक्त-वाक्यको स्पष्ट करता हुआ लिखता है कि शकपतिने चन्द्रगुप्तके भाईकी स्त्री ध्रुवदेवी को माँगा । चन्द्रगुप्तने ध्रुवदेवीका रूप धारण कर तथा और लोगों को स्त्रीवेषमें अपने साथ लेजाकर एकान्तमें शकाधिपतिको मारडाला ।

इन अवतरणोंसे केवल इतनाही मालूम होता है कि रामगुप्तने अपनी जान बचानेके लिए शकराजाको अपनी रानी सौंपदी थी, और उसे बचानेके लिये चन्द्रगुप्तने कपट वेष धारण करके शकाधिपतिको मार डाला था । परन्तु इसके आगे क्या हुआ, इसका उत्तर उक्त अवतरणोंसे नहीं मिलता । हाँ, राष्ट्रकूट-वंशीय सुप्रसिद्ध सम्राट् अमोघ वर्षके सेजानके दान-पत्रमें (ई० सन् ८७३) में लिखा है कि चन्द्रगुप्तने रामगुप्तको मारकर उसके राज्य और रानी दोनोंको लिया । विशाखदत्तने लिखा है कि रानी ध्रुवस्वामिनी शकाधिपतिकी उक्त घटनासे लज्जा, रोष, दुःख, वैराग्य और भयसे दुखी थी ।

कुतुब-मिहरोली (देहली) में एक लोहस्तंभ खड़ा है जिसे इसी गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्तने स्थापित कियाथा, और उसके उत्तराधिकारीने उस पर एक लेख लिखवाया था । इस लेखका अन्तिम श्लोक यह है—

वाराही आत्मयोनेस्तनु भवन
विधावास्थितस्यानुरूपां ।
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगताशिश्रिये भूतधात्री
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्याश्चिरभवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ।

यह पद्य श्लिष्टहै । इसके दो अर्थ होते हैं । एक चन्द्रगुप्तके इतिहास-पक्षमें और दूसरा विष्णुके वाराह अवतार के पक्षमें । प्रथम अर्थ इस प्रकार होगा—

पृथ्वीपति चन्द्रगुप्त जो अपने भाईका भक्त था, पृथ्वीका राज्य दीर्घकाल तक करे; जिस राजमूर्तिकी दोनों भुजाओं पर इस समय म्लेच्छोंसे उद्वेगको प्राप्त हुई भूतधात्री (ध्रुवदेवी अथवा पृथ्वी) संश्रित (स्थित) है और जिस पुरुष राजाने वाराही (शक्ति) का अनुरूप (आवश्यक और योग्य) शरीररक्षाके लिये धारण किया था और जिसने अपनी दन्तकोटि (कटार) से डूबती हुई भूतधात्री (पृथ्वी या रानी ध्रुवदेवी) की रक्षा की ।

इससे भी मालूम होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्तने म्लेच्छद्वारा उद्वेजित रानीको अपनी दोनों भुजाओंका आश्रय दिया था । सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ बाबू काशीप्रसाद जायसवाल कहते हैं कि यह निश्चयहै कि महारानी ध्रुवदेवीका पुनर्विवाह सम्राट् चन्द्रगुप्तके साथ हुआ था; परन्तु अभी इस बातको माननेके लिये और प्रमाण चाहिए कि चन्द्रगुप्त जैसे भ्रातृभक्त राजाने अपने भाईको स्वयं मारकर उसकी रानीके साथ विवाह कर लिया । यह घटना ई० सन् ३७५-८०के लगभगकी है और अमोघवर्षने उससे ५०० वर्ष बाद मारनेकी बातका उल्लेख किया है ।

जायसवाल महोदयका इस विषयका विस्तृत लेख बिहार-उड़ीसा रिसर्चसोसाइटीके जर्नलमें प्रकाशित हुआ है और उसका सारांश नागरीप्रचारिणीपत्रिका भाग १३ अंक २ में । अधिक जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको मूल लेख पढ़ना चाहिए । (८)

यशस्तिलकचम्पू की पञ्जिका टीका

श्री सोमदेवसूरिका यशस्तिलकचम्पू श्री श्रुतसागरसूरिकी चन्द्रिका टीकाके साथ जो कि अपूर्ण है, निर्णय-सागर प्रेसकी काव्यमालामें प्रकाशित हो चुका है । इस टीकामें दो स्थानों पर इस ग्रन्थकी एक पंजिका टीकाका उल्लेख किया गयाहै जोकि श्री देवाचार्य कृतहै ।

१—आश्वास २, पृष्ठ २३७ में 'कविरिव राजराद्धान्तेषु' पदकी टीका करते हुए लिखा है कि "कविरिव शुक्र इव यथाः कविः राजराद्धान्तेषु नैपुण्यमाश्रयति । उक्तं च—'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशनाभार्गवः कविः ।' पंजिकाकारेषु (स्तु) श्रीदेवाचार्यः कविशब्देन बृहस्पतिमाह ।" इसमें बतलाया है कि कवि शब्दका अर्थ राजनीतिमें निपुणता प्राप्तकरनेवाला शुक्र है; परन्तु इस

ग्रन्थकी पंजिकाटीकाके कर्त्ता श्रीदेवाचार्य, कविका अर्थ बृहस्पति करते हैं।

२—आश्वास ३, पृष्ठ ५०२ में 'वीथीशीर्षत एव' आदि पद्यकी टीकामें लिखा है—"पंजिकाकारस्तु—'नीचैर्गतस्थूलोच्चय मध्यमोपजवापेक्षया पंचमजवोत्थानस्य' इत्युक्तवान्।"

इन दोनों उल्लेखोंसे स्पष्ट होजाता है कि इस ग्रन्थ की श्रीदेवाचार्यकृत पंजिकाटीका भी है, जिसका पता लगानेकी बहुत आवश्यकता है और खासकर इस कारण कि मुद्रितटीका अपूर्ण है। ग्रन्थभण्डारोंके अधिकारियों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

(९)

पराशरस्मृति के श्लोक का अर्थ

नष्टेमृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

पराशरस्मृतिके इस श्लोकका सीधा अर्थ यह है कि पतिके लापता हो जाने पर, मरजाने पर, साधु हो जाने पर, नपुंसक होने पर और पतित हो जाने पर, इस तरह इन पाँच आपत्तियों में स्त्रियोंके लिए दूसरा पति करनेकी या पुनर्विवाहकी विधिहै। परन्तु व्याकरण के साधारण नियमके अनुसार 'पति' शब्दका सप्तमी विभक्तिमें 'पतौ' रूप नहीं बनताहै, 'पत्यौ' बनताहै; इसलिए विधवाविवाहके विरोधी 'पति' शब्द को 'पति रिव पति' (जिसकेसाथ सगाई कीगई हो, विवाह नहीं हुआ हो, इसलिए पतिके ही समान हो) कहकर उसका 'पतौ' रूप मानकर अर्थ करते हैं। परन्तु वास्तव में यह अर्थ ग़लत है। स्मृतिकारने 'पतौ' रूप विवाहित पतिके लिए ही व्यवहृत कियाहै। इसके लिए एक बहुत पुराना प्रमाण जैनाचार्य श्री अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा'में मिलताहै जो कि वि० सं १०७०की बनी हुई है। इस ग्रन्थ के ग्यारहवें परिच्छेदमें मण्डप कौशिककी कथाके नीचेलिखे श्लोक देखिए—

तैरुक्तं विधवा क्वापि त्वं संगृह्य सुखी भव।
नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तस्तापसागमे॥११॥
पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रनष्टे पतिते मृते।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥१२॥
तेनातो विधिना ग्राहि तापसादेशवर्तिना।
स्वयंहि विषये लोलो गुर्वादेशेन किं पुनः॥१३॥

इससे मालूम होताहै कि विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिमें भी उक्त श्लोकका विधवाविवाहपोषक अर्थ ही माना जाताथा, और उसका शायद एक पाठान्तर भी प्रचलितथा, जो १२ वें नम्बरके श्लोकानुरूप है।

सत्यके अनुरोधसे यह कह देना आवश्यकहै कि उक्त कथामें ग्रन्थकर्ताका जो रुख है, वह विधवा-विवाहका विरोधी मालूम होताहै।

विविध विषय।

नवयुवक और विधवा-विवाह।

विधवा-विवाह शास्त्रोक्त है या नहीं, अथवा एक स्त्री के मर जानेपर पुरुषके फिर विवाह करनेके समान विधवा भी पतिके मरनेपर अपना पुनर्विवाह कर सकती है या नहीं, इस तरहके प्रश्न करना अब बहुत कम हो गया है। पण्डितदलभी अब इस विषयको लेकर अधिक माथापच्ची नहीं करता है; उसने अपने मौन और उपेक्षा भावके द्वारा प्रकारान्तरसे यह स्वीकार करलिया है कि अब उनके पास इसके विरुद्धमें और कुछ कहनेको नहीं रह गया है जिसका युक्तिपूर्वक खण्डन न हो सके। फिर भी विधवा-विवाह अपेक्षाकृत बहुत ही कम हो रहे हैं, इसका क्या कारण है?

हमारे पास छत्रपुर (बुन्देलखण्ड) से एक जैन सज्जनका पत्र आया है जिन्होंने अपना नाम भी लिखने की कृपा है कि "हम लोग ११ लड़के विधवा-विवाह, पुनर्विवाह और अनमेलविवाह (विजातीय विवाह) भी करनेके लिए तैयार हैं।...आप सहायता दीजिए। लड़के इस उम्रके हैं—१८-२०-२२ सालके।"

प्रायः प्रत्येक शहर और गाँवमें—जहाँ जैनोंकी बस्ती हो—चले जाइए, इस तरहके दसदस बीसबीस जवान

आपको अवश्य मिलेंगे, जो हट्टेकट्टे मज़बूत होनेपर भी कुँआरे फिर रहे हैं, उनके विवाह होनेकी आशा नज़र नहीं आती। उनसे आप एकान्तमें मिलकर पूछिए, तो वे विधवा-विवाहके-लिए भी अपनी तैयारी प्रकट करेंगे; विजातीयविवाह करनेमें भी उन्हें ऐतराज़ न होगा। परन्तु, न तो उन्हें विवाहके लिए तैयार विधवायें मिलती हैं और न दूसरी जातिवाले ही उन्हें अपनी कन्याएँ देने को तैयार होते हैं। कन्याओंकी संख्या तो प्रायः सभी जातियों में कम है, इसलिए युवकोंको—विशेषकरके निर्धनों को—लड़कियोंके पानेकी तो आशा ही नहीं करनी चाहिए। रहीं विधवायें, सो वे संख्यामें अनुपातसे बहुत ज्यादा होने पर भी इस कारण प्राप्त नहीं हो सकती हैं कि वर्तमान में वे समाजके आचारसे पीड़ित हो रही हैं, उनका कोई धनी धोरी नहीं है। मा-बाप, सास-ससुर आदि सोचते हैं कि हम क्यों मुफ़्तमें अपने लिए यह आफ़त खड़ी करलें? वह चाहे रहे, चाहे काला मुँह कर जाय, हम क्यों झंझटमें पड़ें? विधवाओंमें शिक्षा और साहस दोनोंका अभाव है। वे इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकती हैं कि हमारा भी विवाह हो सकता है। न कोई उनसे इस बात को कहता है और न समझाता है। वे यह तो देखती सुनती रहती हैं कि जो विधवायें अपने मनको काबूमें नहीं रख सकती हैं, वे दूसरोंके साथ बिगड़ जाती हैं, घरसे निकल जाती हैं, मारी मारी फिरती हैं और कुजात हो जाती हैं, इसलिए अपनेलिये भी वे अधिकसे अधिक इसी मार्गकी कल्पना कर सकती हैं; परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि हम आबरू—इज़्ज़तको बनाये रखकर भी किसी युवकके घरको आबाद कर सकती हैं। जिन्हें इस बातका पता है, वे इस बातसे डरती हैं कि पुनर्विवाह करलेनेसे हमारी गिनती नीचोंमें होने लगेगी, बिरादरीवाले हमें अलग कर देंगे, आदि। इसलिए ज़रूरत इस बातकी है कि पढ़ीलिखी समझदार स्त्रियोंके द्वारा यह सन्देश प्रत्येक विधवाके कानों तक पहुँचाया जाय और उनका साहस बढ़ाया जाय। विधवाओंके कुटुम्बियों और समीपके रिश्तेदारोंका भी यह कर्तव्य है कि वे उनके दिल और दिमाग़परसे झूठी प्रतिष्ठाके भूतको उतार दें और बिरादरीकी परवा न करके स्वयं भी कुछ साहस दिखलावें। कुँआरे युवकोंको चाहिए कि वे सब एक होकर हर एक शहर और गाँवमें अपना संगठन मज़बूत करें और उनके जो एकदो साथी विधवा-विवाह करनेमें सफल हों, उनका हर हालतमें साथ देनेके लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो जायँ। ऐसा करनेसे धीरे धीरे सब विवाहित हो जायँगे और बिरादरी भी उनका कुछ न बिगाड़ सकेगी।

चेले बनाने की बीमारी।

श्वेताम्बर समाजमें बच्चोंको फुसलाकर, चुराकर, उड़ाकर, उनके मातापिताओंकी इजाज़तके बिना साधु बना लेनेकी बीमारी बेतरह बढ़ रही है। इसके कारण दो बड़े बड़े दल बन गये हैं, जो आपसमें बुरी तरह लड़ रहे हैं। मुनि रामविजयजी और उनकी पार्टीको बच्चे मूड़ने की धुन उसी तरह सवार है, जिस तरह आचार्य शान्तिसागर और उनकी पार्टीको शूद्रजलत्याग करानेकी। कलह दिन पर दिन उग्ररूप धारण करती जाती है। आए दिन मुकद्दमेबाज़ी हुआ करती है। पाटण (गुजरात) में कान्तिलाल भोगीलाल नामके एक १६ वर्षके लड़केको कुछ समय पहले मुनि रामविजयजी ने जिनदीक्षा देकर उसका नाम कुसुमविजय रख दिया था। ता० ८ नवम्बरकी रात को यह लड़का बढ़वाणसे उपाश्रय छोड़कर भागा। इसपर उक्तपार्टीके भक्तजनोंने उसका अवरोध किया। इसी समय पुलिस आगई। पूछने पर उसने इज़हार दिया कि मैं राज़ी खुशीसे वेष छोड़कर गृहस्थ बनना चाहता हूँ और मुझे मेरे घर पहुँचा दिया जाय। तदनुसार उसे पाटण भेजने का प्रबन्ध किया गया। परन्तु अहमदाबादमें रामविजयजी के भक्तोंने उसे अपने कब्ज़ेमें लेना चाहा। झगड़ा बढ़ने पर पुलिसने उसे सिटी मजिस्ट्रेटके सामने पेश किया और मजिस्ट्रेटने यह फ़ैसला किया कि जब वह राज़ी खुशीसे वेष छोड़ना चाहता है और अपनी माँके पास जाना चाहता है, तब इसमें कोई बाधा नहीं डाली जा सकती।

ता० १७-९-३२ को बम्बईसे रमणीकलाल सुखलाल नामका एक लड़का लापता होगया था। इसपर उसका पता लगानेके लिये २५१) का इनाम देना प्रकट किया गया था। अब लगभग दो महीनेके बाद अहमदाबादमें

एक अज्ञात स्थानसे पुलिसने उसे ढूँढ़ निकाला है। अनुमान किया जाता है कि इसको उड़ानेका प्रपंच भी उन्हीं लोगोंके द्वारा रचा गया था जो चेले मूँड़नेकी बीमारीसे ग्रस्त हैं। सहयोगी "जैन" ता० १३ नवम्बरके अंकमें लिखता है कि "रामविजयकी सेनाके साधु वल्लभविजय और रतनविजयजी दूसरे गाँवके एक छोकरेको लेकर ता० ९ को सानन्द (अहमदाबाद) से एकाएक रातोंरात भाग गये हैं। चातुर्मासमें इस तरहका रातोंरात विहार करना किस शास्त्रके आधारसे उचित है, यह समझमें नहीं आया।"

इस तरहकी वारदातें आए दिन होने लगी हैं। जब तक अन्धश्रद्धासे पिन्ड नहीं छूटता, तब तक साधुजन इस तरहके उपद्रव करते ही रहेंगे। अकेले रामविजयजी को ही क्या दोष दिया जाय? सभीका यह हाल है। भक्तिके साथ जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता, तब तक साधु, सच्चे साधु नहीं बन सकते।

भिखारियोंका धरम।

इस देशका कैसा दुर्भाग्य है कि यहाँ छुआछूतका-ऊँचनीचका-भूत उन भिखारियों पर भी सवार है, जो सब तरहसे गिरे हुए हैं, पैसे पैसेके लिये दूसरोंके आगे हाथ पसारते हैं, जिन्हें न तन ढाँकनेको कपड़े हैं, और न पेट भरनेके लिये अन्न है। भूखकी मारसे जो चोरी करते हैं, हत्यायें तक कर डालते हैं और अपने पेटके बच्चोंकी परवरिश तक नहीं कर सकते। अभी उस दिन एक साठ वर्षसे ऊपरका बूढ़ा भिखारी, लकड़ी टेकता हुआ हमारे द्वार पर आया और 'दाताकी जय' बोलता हुआ याचना करने लगा। मेरे यहाँ एक विद्वान् मेहमान आए हुए थे। हम दोनों भोजन करके उठे थे। बूढ़ेको कई दिनसे ज्वर आरहा था, कमज़ोरीसे उसके पैर कहींके कहीं पड़ते थे। मैंने कहा—बाबा, थोड़ासा दाल-भात और एकाध हलकी रोटी खाओ तो मँगादूँ। इसपर वह हमारी जात पाँत पूछने लगा। बोला—भगत, तुम्हारे हाथकी तो मैं पूड़ी ही खा सकता हूँ। चार पूड़ियाँ बनवादो, तो मैं खा लूँ, कई दिनका भूखा हूँ। तुम्हें बड़ा 'पुन्न' लगेगा। कच्ची खाकर अपना 'धरम' कैसे खोदूँ? मैंने बहुत समझाया कि पक्की खायगा, तो और बीमार हो जायगा, विश्वास रख, कि कच्ची में धरम जानेका नहीं; परन्तु वह किसी तरह नहीं समझा। लाचार दो पैसे उसके आगे फेंककर चुप होगया। मेरे धनी पड़ौसीकी स्त्रियोंने भी उसे दाल भात देनेको कहा, परन्तु वह राज़ी न हुआ। आख़िर उनके यहाँ कुछ मिठाई पड़ी हुई थी जो मैदेकी थी और कमसे कम आठ दस दिनकी बनी हुई थी, वह उन्होंने देदी! वह वहीं बैठ कर अत्यन्त गृद्धताके साथ उसे खाने लगा। मैंने कहा—इसे खाकर तू मरे भलेही नहीं, परन्तु बीमार निश्चयसे ज़्यादा होजायगा। परन्तु उसने इस ओर ध्यानही नहीं दिया और अपने 'धरम'की रक्षामें मशगूल होगया! — सुधारक।

श्री शांतिसागर संघ समाचार।

संघ का जयपुर से प्रस्थान।

पिछले अंकमें भेजे हुए समाचारोंके बाद कोई ख़ास घटना नहीं हुई। पाटोदीके मन्दिरका उत्सव ख़तम होने पर कलशाभिषेकके दिन कुछ धूर्त्तोंने शांतिधर्मरक्षक मण्डलके नामसे एक पर्चा सुधारकों पर यकदम झूठे आक्षेप करता हुआ बाँटा और उसमें यह लिखा कि "आचार्य महाराजकी सारी जातिमें विधवाविवाह होनेकी बात क़तई ग़लत और बेवजूद है'। और भी कई अन्डवन्ड बातें लिखीं। इस पर्चेके उत्तरमें मंत्री वीरसेवक मंडलकी ओरसे 'खुला चैलेञ्ज' शीर्षक एक ज़ोरदार पर्चा निकाला गया, जिसमें पाटीलोंमें विधवाविवाह होता साबित करते हुए यह कहा गया कि "समाज अपनी ओर से ४ निष्पक्ष आदमियोंका एक डेप्युटेशन भेजे; उसके ख़र्चेके लिये ५००) हम बैंकमें जमा करा देते हैं। हमारी बातोंको झूठ कहने वाले भी इतनी ही रक़म बैंकमें जमा करादें। यदि हमारी बातें ग़लत होंगी तो डेप्युटेशन का ख़र्च हम देंगे और समाज जिस प्रायश्चितके लिये कहेगी वह प्रायश्चित करेंगे। यदि हमारी बातें सच निकलें तो इसीप्रकार डेप्युटेशन का ख़र्च और प्रायश्चित विरोधी लोग भुगतें"। इस पर्चेका असर आम जनतापर बहुत अच्छा पड़ा। अपने आपको फँसा हुआ पाकर भक्तोंको, मुनियों(!) की शानको किसी प्रकार उज्ज्वल करनेकी फ़िक्र

पड़ी। चार आदमी तय्यार किये गये तथा एक फ़र्ज़ी इबारत तय्यार कर उस पर चार पंचायतियों के नामसे इन चार भले आदमियोंके दस्तख़त करा कर उसे प्रकाशित कर दिया गया। इन सज्जनोंने यह भी नहीं सोचा कि हम बिना चारों पंचायतियों की राय लिये इस प्रकार उनकी ओर से दस्तख़त करनेकी हिम्मत कैसे कर रहे हैं। अस्तु। इस पर्चेमें 'खुला चैलेञ्ज' शीर्षक पर्चेकी बातोंका गोलमटोल जवाब देते हुए सुधारकोंको काफ़ी कोसा गया। शुक्रवार ता० २५ नवम्बरको मुनिसंघ जयपुरसे प्रस्थान करनेवाला था। उसी दिन दोपहरको यह पर्चे बाँटे गये। ज्यों ही यह मालूम हुआ, मन्त्री वीरसेवक मण्डलने इस पर्चेका जवाब लिखकर फ़ौरन छपवाकर तीसरे पहर दो बजेके क़रीब प्रकाशित करदिया जिसमें उक्त पर्चेकी पोल खोलते हुए सीधा चैलेञ्ज दिया कि ख़ाली बातें करनेसे काम नहीं चलेगा और श्री शान्तिसागरजी की जाति आदिके बारेमें जाँचके लिए दक्षिणमें निष्पक्ष कमीशन जल्दी भेजा जाना चाहिये खर्चेके लिए उन्होंने लिखा कि उनका रुपया बैंकमें जमा है और उनके विरोधियोंको भी जमा कराकर सूचना देनी चाहिये। इसके बाद श्री कपूरचन्द्रजी पाटणी व श्री केशरलालजी कटारिया स्वयं जाकर श्री दारोगा मोतीलालजी (दस्तख़त करनेवाले मनमाने चार पञ्चोंमेंसे एक वयोवृद्ध सज्जन) से मिले और उनसे कहा कि दक्षिणमें जाँचके लिए जानेके लिए डेप्युटेशनके नाम निश्चित कर लीजिए तो दारोगाजी बोले कि "अपनेको क्या इन मुनियोंकी जातिसे विवाह सम्बन्ध करना है कि जो जाँच करें। मैंने तो मुनियोंको खुश करनेके लिए श्री गोपीचन्दजी ठोलियाके कहनेसे दस्तख़त कर दिये थे। मुझे तो इनकी जातिका भी कुछ पता नहीं है।" दारोगाजी से फिर कहा गया कि अब तो इस पोलखातेका निर्णय होही जाना चाहिए तो बोले कि मैं गोपीचंद जी ठोलियासे मिलकर आपको इसका जवाब भेज दूँगा। वह जवाब आज तक नहीं आया बताया।

पं० मक्खनलालजी इन दिनों जयपुर ही थे। ठोलियोंके मन्दिरका उत्सव बड़ी धूमधामसे होरहा था। स्त्री और पुरुष रोज़ काफ़ी संख्यामें इकट्ठे होते थे। उत्सवमें पं० मक्खनलालजीके व्याख्यानके लिये कोशिश कीगई, परन्तु वहाँके प्रबन्धकोंने साफ़ इनकार कर दिया कि हम पण्डितजीका व्याख्यान हमारे उत्सवमें नहीं होने देंगे। यही बात शांतिधर्म-रक्षक मण्डलवालोंके साथ हुई। उनकी भी सभा उत्सवमें नहीं होने दी गई।

हवन आदिका मुनिसंघ द्वारा कितना प्रचार हो रहा है, इसके बारेमें पहिले लिखा जा चुका है। अभी हालमें ठोलियोंके मन्दिरमें हवन हुआ था, उसमें अन्य चीज़ोंके अलावा 'गुलाबके फूल' पूरे, ज्योंके त्यों अग्निमें डाले गये थे। मालूम नहीं कौन से मन्त्रशास्त्रोंके ज़ोरसे ये लोग इस घोर हिंसाका बदल करनेका विचार रखते हैं?

इसी ठोलियोंके मन्दिरकी ओरसे रथयात्राके दिन जिनबिम्बके रथके आगे आगे थोड़ी दूर पर मुनि लोग भी चल रहे थे। प्रतिमाके दोनों ओर तो चँवर ढर ही रहे थे, पर मुनि महाराज (!) के भी चँवर ढरते जारहे थे। इसे देखकर मूढ़ भक्तोंकी कृति पर दया आ रही थी। श्री जिनबिम्बका इस प्रकारका अविनय इनहीं लोगों द्वारा हो सकता है।

मुनियोंके आरामके लिए मुलायम पराल (तृण) मँगवाया गया है। यह रेलके ज़रिये आया है और इसके आनेमें ९६) ख़र्च हुआ है। इस पराल पर शीतलपट्टी बिछाई जाती है और उसपर मुनि लोग सोते हैं। रातको नित्य सुगंधित तैलकी मालिश होती है। पक्के मकानोंमें सोया जाता है और किंवाड़ बन्द कर लिये जाते हैं। क्या मुनिभक्त यह सोचने की तकलीफ़ करेंगे कि इस प्रकारकी कार्रवाइयोंसे

साधुओंका तो अकल्याण हैही, पर जैन साधुओंके पवित्र चारित्रके नाम पर भी कलंक लगता है। अगर साधु लोग ठण्ड बर्दाश्त कर ही नहीं सकते तो फिर इतना खर्च करनेकी क्या जरूरत है। उनके लिए रातको सोड़ ओढ़नेका ही इन्तिजाम क्यों नहीं कर दिया जाता? सुना है कि मुनियोंको जाड़ेका कड़ाका बर्दाश्त नहीं होता, अतः जाड़ेका मौसिम जयपुरके आसपास ही बितानेका विचार होरहा है।

आजकल मुनिसंघ जयपुरसे आठ मील दूर 'साँगानेर' नामक ग्राममें ठहरा हुआ है। कुछ जयपुरके शूद्रजलत्यागी भक्त वहाँ पर चले गये हैं और चौके बनाते हैं। जियादातर आहार इन ही लोगोंके यहाँ होता है। सुना है कि खास साँगानेरके रहने वाले किसी व्यक्तिने भी अभी तक शूद्रजलत्याग नहीं किया है। जयपुर नगरसे चले जाने पर अब फिर जनेऊका बाजार गर्म है। भोले ग्रामीणोंके गलेमें जबरदस्ती पहना दी जाती है।

शायद संघ साँगानेरसे मार्गशीर्ष शुक्ला ७ के बाद आगे रवाना हो जायगा। —संवाददाता।

वासुपूज्यका दान-शासन।

क्षुल्लक ज्ञानसागरजी उर्फ पं० नन्दनलालजीने गत-वर्ष 'दान-विचार' नामक एक ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित कराया था, जिसकी आलोचना पं० परमेष्ठीदासजी न्याय-तीर्थ जैनमित्रमें गत कई अंकोंसे कर रहे हैं। इस ग्रन्थका मसाला प्रधानतः श्रीवासुपूज्यर्षिकृत 'दान-शासन' नामक संस्कृत ग्रंथसे लिया गया है। इस ग्रंथके लगभग सवासौ तो पद्यही 'दान-विचार'में उद्धृत किये गये हैं और अभिप्राय तो प्रायः समूचे ही ग्रंथका किसी न किसी रूपमें कुछ हेरफेर कर देदिया गया है। ऐसी दशामें पाठकोंको इस ग्रंथका थोड़ासा परिचय देदेना अनुचित न होगा, विशेषकर इसलिए कि यह ग्रन्थ बहुत ही कम प्रचलित है, और अभी तक एक दो भंडारोंमें ही इसकी प्रतियोंका पता लगा है।

सारा ही ग्रन्थ पद्यबद्ध है और उसमें साधारणतः अनुष्टुप् और थोड़ेसे शार्दूलविक्रीडित तथा आर्या आदि छन्द हैं। अनुष्टुप् श्लोकोंके प्रमाणसे पद्यसंख्या लगभग १७०० है, परन्तु पाठक आश्चर्य करेंगे कि ग्रन्थ भरमें पद्योंके क्रमिक नम्बर क्वचित ही दिये गये हैं और इसलिए गिनती किये बिना यह नहीं बतलाया जासकता कि किस अध्यायमें कितने पद्य हैं। (१) अष्टविध दानलक्षण, (२) उत्तम पात्र सामाचारीविधि, (३) दानशालाविधि, (४) पात्र सेवाविधि, (५) द्रव्य शोधनविधि, (६) पात्रलक्षण, (७) पात्रापात्र दानका फल, (८) आहारदानविधि; (९) भैषज्यदानविधि, (१०) शास्त्रदानविधि और एक अध्याय और जिसका कोई नाम नहीं है इस तरह ग्यारह अध्याय इसमें हैं। रचना अत्यन्त शिथिल है और उसमें निबन्ध-शैलीका अभाव है। पुनरुक्तियोंकी भरमार है। एक एक बातको अनेक जगह कहा है, जो भी [illegible] नहीं। जिस प्रतिके आधारसे मैं यह परिचय दे रहा हूँ, वह बहुत ही अशुद्ध है; और [illegible] —जिससे दान-विचारमें उद्धरण दिये गये हैं —कुछ नहीं जान पड़ती। यह बात खासतौरसे नोट करने लायक है कि इस ग्रंथभर में, यहाँ तक कि [illegible], किसी प्राचीन ग्रन्थका या ग्रन्थकारका किसी तरहका [illegible] नहीं पाया है। [illegible] कोई परिचय नहीं दिया है। [illegible] श्लोक दिख पड़ते हैं परन्तु उनके साथमें किसी ग्रंथ या ग्रंथकर्त्ताका कोई संकेत नहीं है। [illegible] ग्रन्थकर्त्ताने अपना और रचना समयका उल्लेख किया है:—

शाकेब्दे त्रि-युगाग्नि-शीतगुयुतेऽतीते विधु (?) वत्सरे,
माघे मासि च शुक्लपक्ष दशमे श्री वासुपूज्यर्षिणा।
प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं जा (ज्ञा) त्वाहिकं कुर्वतां
दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिकाः॥

अर्थात् इस दानशासनको श्रीवासुपूज्य ऋषिने माघ सुदी १० शक संवत १३४३ (वि० सं० १४७४) में बनाया। यदि अग्नि शब्द ५ का वाचक माना जाय, तो फिर इसे शक संवत १५४३ (वि० सं० १६७८) की रचना मानना होगा।

इस ग्रन्थ के प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्तमें नीचे लिखा हुआ पद्य दिया हुआ है—

मतं समस्तै ऋषिभिर्यथा [दा] हृतैः
प्रभासुरात्मा [रै:पा] वनदानशासनं ।
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्यतन् ॥

इसके दूसरे चरणका प्रारंभ लिपिकर्त्ताकी कृपासे कुछ अशुद्ध हो गया है, फिर भी उससे कोई हानि नहीं। सारांश इसका यह है कि यह दानशासन ग्रन्थ सारे आर्हत ऋषियों द्वारा सम्मत है। सज्जनोंको आनन्दके लिये है। अतः पुण्य-धनका उपार्जन करनेके लिए मुनियोंको विचार करके धन दो।

इस पद्य और समग्र ग्रन्थके स्वाध्यायसे हमारा विश्वास हो गया है कि ये वासुपूज्यजी कोई वस्त्रधारी भट्टारक थे और उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना इस अभिप्राय से की है कि श्रावकजन उनकी मन, वचन, कायसे पूजा करें, उन्हें बढ़ियासे बढ़िया भोजन करावें; उनकी जूठनका महाप्रसाद पावें, उनकी सेवाशुश्रूषा और दवादारू करें और इसके बदलेमें सहजही स्वर्ग-मोक्ष सुख प्राप्त करनेमें समर्थ हों। सारे ग्रन्थमें आदिसे अन्ततक यही एक उद्देश्य नज़र आता है; और कोई गम्भीर या तात्त्विकचर्चा इसमें नहीं है। जान पड़ता है, इसी कारण क्षुल्लक ज्ञानसागरजी इस सम्पूर्ण ग्रन्थको प्रकाशित करनेका साहस नहीं कर सके हैं. इसके कुछ अंशोंको लेकर स्वतन्त्ररूपसे 'दानविचार' लिख करही उन्हें सन्तोष करना पड़ा है। चर्चासागरकी चर्चासे समाजमें जो तूफ़ान उठा था, वह उनकी नज़रके सामने था। उसे देखते हुए वे दानशासन प्रकाशित करके और एक आफ़त खड़ी नहीं कर लेना चाहते थे। फिरभी बेचारे आदतसे लाचार थे. दानविचारमें भी गोबर-पंथ फैलाये बिना उनसे न रहा गया।

वासुपूज्यजी वस्त्रधारी थे, इसके प्रमाणमें दानशासन की द्रव्य शोधनविधिका नीचे लिखा श्लोक देखिये—

दुग्ध-श्री घन-तक्राज्य-शाकभक्ताश(स)नादिकं ।
नवीनमव्ययं दद्यात्पात्राय कटमम्बरम् ॥५॥

अर्थात् पात्र को (भट्टारकजीको) दूध, दही छाछ घी, शाक, भोजन, आसन, और चटाई तथा वस्त्र नये और अव्यय देना चाहिए।

वैष्णवों के बल्लभसम्प्रदायमें गुरुमहाराजके जूठे भोजन को खानेका बहुत पुण्य माना गया है। वह महाप्रसाद कहलाता है। दानशासनके कर्त्ता ने देखा कि बल्लभसम्प्रदायके गुरुओंसे हम क्यों पीछे रहें ? अतः उन्होंने भी अपने जूठे भोजनका माहात्म्य लिख मारा। देखिये पात्रदानफल नाम के सातवें अध्याय में लिखा है—

तद्भोजनं यन्मुनिभुक्तिशेषं स बुद्धिमान् यो न करोति पापं ।
तत्सौहृदं यत्क्रियते परोक्षे दंभैर्विना यः क्रियते स धर्मः ॥१४४॥

अर्थात् मुनिके खानेसे जो बच जाता है, वही(सच्चा) भोजन है, जो पाप नहीं करता, वही बुद्धिमान है, जो परोक्ष में निबाही जाती है वही मित्रता है, जो बिना दम्भ या ढोंगके किया जाता है वही धर्म है।

ऋषीणां भुक्तिशेषस्य भोजने स नरो भवेत् ।
तुष्टि पुष्टि बलारोग्य दीर्घायुः श्रीसमन्वितः ॥१४५॥

अर्थात् जो मनुष्य ऋषियों (भट्टारकों) के भोजनसे बचे हुएका — भुक्तिशेषका — भोजन करता है, वह तुष्टि, पुष्टि, बल, आरोग्य, दीर्घायु और लक्ष्मीयुक्त होता है।

यः सत्पात्रसुभुक्तिशेषममृतं भुंजीत तस्यानिशं
तुष्टिः पुष्टिररोगतातिबलता दीर्घायुरंहः क्षयः ।
संपत्प्रीतिकता गुणैरधिकता रत्नत्रयोज्जृंभताः,
स्यात्सौख्यं शुभभावना निपुणता निर्वाणसंपत्क्रमात् ।

जो मनुष्य अमृतके तुल्य सत्पात्रके भोजन का शेष (बचाहुआ) भोजन करता है, उसे तुष्टि पुष्टि, निरोगता, आदि और क्रमसे निर्वाण भी प्राप्त होता है।

मुनिभुक्तावशेषं हि प्रसादमिति यो मत्वा ।
भुंक्ते स प्राप्नोति सौख्यं हलभृत्तीर्थकर्तृणां

जो मनुष्य मुनिभोजनके अवशेष को, यह मुनिमहाराजका प्रसाद है, ऐसा समझकर खाता है, वह हलधर और तीर्थंकरोंके सुखको प्राप्त होता है।

क्षुल्लकज्ञानसागरजी ने भुक्ति-अवशेषका अर्थ, जिस थाली में रखकर मुनि को पाणिपात्रमें आहार दिया

अन्न है, उस थाली में बाकी रहा हुआ भोजन, किया है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। उपर्युक्त तीनों पद्योंमें 'भुक्तिशेषं' पद दिया हुआ है और भुक्तिशेषका अर्थ कोई प्रकार भोजन करके छोड़ा हुआ अन्नही करते हैं। जिस थाली में से लाकर दिया जाता है, उस थालीका अन्न भुक्तिशेष कैसे होजायगा ? फिर तो हमारे चौकेमें जो कुछ रक्खा हुआ है, वह सबही भुक्तिशेष कहलायगा।

इसके सिवाय दानशासनके कर्त्ता मुनियों (भट्टारकों) के आहारके लिये जुदी दानशाला बनवानेकी आज्ञा देते हैं, और चाहते हैं कि वह केवल उन्हींके लिए रिज़र्व रहे, यदि उसमें और किसीको भोजन करादिया जायगा, तो दाताका सारा पुण्य नष्ट होजायगा! उस शालामें सब प्रकारके भाँड (बर्तन) भी रक्खे रहने चाहिए। जान पड़ता है, भट्टारकजी थालीमेंही भोजन करना ठीक समझते हैं और उस थालीमें बचे हुये जूठे महाप्रसादसे श्रावकोंको स्वर्ग-मोक्षका फलदेनेकी उदारता दिखलाते हैं।

गोमयचूर्ण विलिप्तं शुद्धं पुण्याहवाचन होमाभ्यां।
सिक्तं गंधांबु नव्यं गेहं मुनिभोजनाय योग्यं स्यात् ॥

गोबर और चूनेसे लिपा पुता हुआ, पुण्याहवाचन और होमसे शुद्ध किया हुआ, सुगन्धित जलसे सींचा हुआ और नया घर मुनिभोजनके लिये योग्य होता है।

इति भुक्तिगृहं शस्तं सर्वसंकल्पवर्जितं।
यद्गृहं भाण्डमखिलं रक्षेत्सर्वप्रयत्नतः ॥

इस प्रकारका भोजनगृह होना चाहिए और उसमें सब उपायोंसे सारे बर्तन रखना चाहिए।

यत्यादि भुक्त्यगारेस्मिन् कृतान्यैर्भुक्तिरेव चेत्।
यावद्दानंकृतं तावन्नष्टं भिन्नतटाकवत् ॥

मुनियोंके इस भोजनगृहमें यदि अन्य लोग भोजन करलें, तो सारा किया कराया दान फूटे हुए तालाबके पानीके समान बह जाय।

यत्यादि भुक्त्यगारेस्मिन विण्मूत्र लेशस्थितिर्यदि।
रोगः पुण्यवतो मृत्युरपुण्यस्य शिशोर्भवेत् (?) ॥

मुनियोंके इस भोजनगृहमें यदि बच्चेको पेशाब पाखाना हो, तो उसे,यदि वह पुण्यवान् हुआ तो केवल रोग होता है, परन्तु पुण्यहीन हुआ तो उसकी मृत्युही होजाती है।

यत्यादि भुक्त्यगारे विण्मूत्रवास (लेश) स्थितिर्यदि।
रोगो भवेच्छिशोस्तस्यां (?) सत्पुत्रोऽपि न जायते ॥

मुनिभोजनगृहमें यदि किसी बच्चेको पेशाब पाखाना होजावे,तो उस बच्चेको रोग होजाय और वह सत्पुत्र नहो!

बहुव्ययन्ति पुत्राय कन्यादाने कुलर्धये
खि (भि) न्नगेहं न कुर्वन्ति मुनिभुक्त्यै वृषर्धये ॥

लोग पुत्रके व्याहमें, कन्यादानमें और कुलवृद्धिके लिए बेशुमार खर्च करते हैं, परन्तु मुनियोंके भोजनके लिए—जिससे धर्मकी वृद्धि होती है—जुदा मकान नहीं बनवाते हैं। (अफ़सोस)

क्षेत्रे सर्वाणि धान्यानि वपन्ति कृषका इव।
जैनाः पृथग्गृहेष्वन्नदानं कुरुत सर्वदा ॥

जिस तरह किसान अपने खेतमें सब प्रकारके अनाज बोता है, उसी तरह सब जैन सदा जुदे मकानमें अन्नदान करें।

आगे चलकर लिखा है—

यदि दासीहस्त पक्वान्ने सति दत्ते न चामलं।
शूद्रेण जातो ब्राह्मण्यां स्याच्चाण्डालो यथा सुतः ॥
गृहिणीहस्त पक्वान्नं दास्यादत्तं न दोषजं।
धात्र्यारक्षितं राजपुत्रं धात्री सुतो न च ॥

दासीके हाथका बनाया हुआ पकवान देना ठीक नहीं है। वह ऐसा है कि जिस तरह ब्राह्मणीमें शूद्र द्वाराउत्पन्न किया हुआ पुत्र चाण्डाल होता है। परन्तु गृहिणीके हाथ का बनाया हुआ पकवान दासीके द्वारा दिया जाना दोषकर नहीं है। जैसे धायके द्वारा पाला हुआ राजपुत्र धायका पुत्र नहीं होजाता, उसी तरह वह पकवान दासीके हाथसे दिये जानेपर भी उसका, खुदका, नहीं कहा जासकता।

कभी पक्वीका वर्तमान शास्त्र क्या उस समयभी बन गया था? दासीके हाथसे पकवानका ही दान हो सकता था या कभी रसोईका भी?

आशा है,इन पंक्तियोंसे पाठकोंको दानशासनका थोड़ासा परिचय होजायगा। अच्छा हो, यदि क्षुल्लक ज्ञानसागरजी अपने किसी भक्तके द्वारा इस सम्पूर्ण ग्रन्थकोही प्रकाशित करादें। टीका स्वयं न कर सकें, तो किसी धनीसे मेहनताना दिलाकर अपने भाइयोंसेही करादें। ता० २०-११-२१

निवेदक—नाथूराम प्रेमी

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ ॐ अङ्क ४

१६ दिसम्बर सन् १९३२

जैनसमाज का एक मात्र स्वतन्त्र पाक्षिक पत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा० र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर।

परिषद् अधिवेशनकी तैयारियाँ।

सहारनपुरमें ता० ३० व ३१ दिसम्बरको होनेवाले परिषद्‌के नवमें अधिवेशनके लिये बड़ी धूमधामसे तैयारियाँ होरही हैं। इस अधिवेशनके सभापति रा० ब० साहु जुगमन्दरदासजी चुने गये हैं। सहारनपुरमें "परिषद् स्वागतकारिणी समिति" का भी चुनाव होचुका है। इसके सभापति ला० प्रद्युम्नकुमारजी रईस सहारनपुर और मंत्री बा० सुमेरचन्दजी एडवोकेट सहारनपुर चुनेगए हैं। इन सब सज्जनोंने तथा अन्य कार्यकर्ताओंने बड़े उत्साह और प्रेमभावसे अपने २ योग्य पदको स्वीकार किया है।

यह अधिवेशन केवल अधिवेशनके निमित्तसे किया गया है। और कोई प्रोग्राम रथोत्सव आदि इस मौकेपर नहीं है। अन्यथा रथोत्सव आदिकी शोभा बढ़ानेके निमित्त संस्थाओंको निमंत्रित कर दिया जाता है। यहाँ तो दोनों दिन समाजसेवा और धर्मप्रचारकी ही धुन और यही तान होगी। प्रत्येक समाजहितैषी और समाजके दर्दसे दुःखी सज्जनों और विद्वानोंको उपस्थित होकर इस धर्मयज्ञमें अपने दो दिन अवश्य लगाने चाहिये।

अनेक विद्वानों, श्रीमानों और समाजप्रेमियोंके आने की स्वीकृत आचुकी है। यह अधिवेशन समाजके कार्यकर्ताओंका एक वृहत् सम्मेलन, जैन बिरादरीकी एक वृहत् पंचायत, और जैनधर्म प्रेमियोंका एक मेला, विद्वानोंका एक समागम, और दर्शन लाभ, पुराने और अनुभवशील समाजके प्रेमियोंको जागृत करने व उनको संकलित करने की एक वृहत् योजना होगी।

इस अधिवेशनमें केवल प्रेक्टिकल और ठोस कार्य करनेके लिये और छोटीसे छोटी परन्तु अनावश्यक कुरीतियोंको नष्ट करनेके लिये आगामी वर्षका प्रोग्राम बनाया जायगा, बड़े महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयोंपर विचार होगा, समाजकी नैतिक और आर्थिक दशा सुधारनेकी योजना होगी। जैनधर्म प्रचारके प्रश्नको सफलतापूर्वक हल करनेके ढंग सोचे जायँगे। व्यर्थ समय बिल्कुल नष्ट न होगा। अपने मित्र और कुटुम्बी जनों सहित अवश्य अवश्य पधारिये। अपने पधारनेकी स्वीकृति और सूचना शीघ्रही भेजिये ताकि आपके ठहरने आदिका समुचित प्रबन्ध रहे।

—मंत्री

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

वर्ष ८ | अंक ४

पौष कृष्णा ३ | ता० १८ दिसम्बर

वीर संवत् २४५९ | सन् १९३२ ई०

जैनधर्म का मर्म ।

(१९)

उपबृंहण या उपगूहन— अज्ञानियोंकी कृति आदिसे अगर सन्मार्गकी निन्दा होती हो तो उसे दूर करना अर्थात् सन्मार्गको कलंकित न होने देना, कल्याणमार्गमें स्थित पुरुषकी प्रशंसा करना, उपबृंहण या उपगूहन* अङ्ग है। जो विवेकी हैं वे तो अपने विवेकसे सन्मार्गकी खोज कर लेते हैं परन्तु साधारण जनतामें इतना विवेक नहीं होता। वह व्यक्तियोंसे धर्मका अच्छा बुरापन जानती है। अगर मैं जैन हूँ और मेरा आचार बुरा है तो साधारण जनता मेरी बुराईको जैनधर्मकी बुराई समझ लेती है। धर्मपालकके आचरणका प्रभाव धर्मपर अर्थात् धर्मके नामपर पड़ता है। इसलिये सम्यग्दृष्टिका यह काम होता है कि वह धर्मकी निन्दाको दूर करनेका प्रयत्न करे, अथवा इसप्रकारकी धर्मनिन्दाको छुपादे।

धर्मकी निन्दाको छुपादेनेका यह अर्थ नहीं है कि वह झूठ बोलकर घटनाओंके अस्तित्वको छुपादे। अगर किसी धर्मात्मा कहलानेवाले भाईसे कोई कलंकित करनेवाला काम होगया है तो वह उसे स्वीकार करलेगा। धर्मनिन्दाके भयसे वह साक्षात् अधर्म (मिथ्या बोलना) न करेगा। परन्तु उसकी प्रतिक्रियाके लिये स्वयं ऐसा सद्व्यवहार करेगा कि दूसरेके हृदयमें सन्मार्गके विषयमें जो निन्दाका भाव होगया था वह छुप जाय। धर्मात्मापनकी ओटमें एक मनुष्यने जो अधर्माचरण किया है उसकी प्रतिक्रिया सम्यग्दृष्टि आत्मोन्नति करके, परोपकार करके करता है। इसप्रकार अपने गुणोंकी वृद्धिके कारण इस अङ्गका नाम उपबृंहण* है।

*—उपगूहन शब्द, गुह् संवरणे (ढँकना) धातुसे बना है। 'धर्मकी निन्दाको ढँक देना' इसका अर्थ होता है। 'उप' उपसर्ग लगजानेसे इसका अर्थ आलिंगन होजाता है जैसे—'तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव' रघु० १४-६३। यह आलिंगन अर्थभी ठीक है क्योंकि अज्ञानियोंके द्वारा ज्यों ज्यों धर्मकी निन्दा होती है त्यों त्यों सम्यग्दृष्टि उसका अधिक अधिक आलिंगन करता है।

*—'बृहि वृद्धौ' धातुसे 'उप' उपसर्गपूर्वक 'उपबृंहण' शब्द बनता है, जिसका अर्थ वृद्धि या तरक्की होजाता है। धर्मनिन्दाकी प्रतिक्रियाके लिये सम्यग्दृष्टि, धर्मकी विशेष वृद्धि करता है इसलिये इसको 'उपबृंहण' कहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यही नाम प्रचलित है निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य। उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥ पडिक्कमणा। उववूहका संस्कृत रूप उपबृंह होता है। उववूहका अर्थ वृद्धि करना पोषण करना आदि है। इसमें पाप छिपाया नहीं जाता, किन्तु गुणकी इसलिये प्रशंसा कीजाती है कि उस गुणको उत्तेजन मिले। वास्तवमें इस अंगका

कोई भारतीयमनुष्य विदेशोंमें जाकर कोई ऐसा बुराकाम करे जिससे विदेशी लोगोंके मनमें भारतसे घृणा पैदा होती हो तो दूसरा भारतीय इसके प्रतीकारके लिये ऐसा अच्छा सद्व्यवहार करे कि जिससे विदेशियोंके हृदयमें भारतपर श्रद्धा उत्पन्न हो। यह राष्ट्रीय उपगूहन या उपबृंहण कहलायगा। ठीक इसी तरहसे कल्याणमार्गका उपबृंहण या उपगूहन करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता तथा अन्धश्रद्धाके कारण बहुत से लोग उपगूहन अङ्गका दुरुपयोग या दुरर्थ करते हैं। वे निन्दनीय कार्योंको छुपानेको उपगूहन कहते हैं। परन्तु इसका फल बहुत भयङ्कर और उल्टा होता है। इससे उपबृंहण तो बिलकुल नहीं होता किन्तु असत्यभाषण और मायाचारसे अधःपतन होता है। साथही दुराचारकी वृद्धि होती है क्योंकि बहुतसे धूर्तलोग इस आशासे वेषकी ओटमें अनाचार करते रहते हैं कि उनके दोष समाजकी तरफसे छुपाये जावेंगे। इसप्रकार वे निर्भय होकर अनाचारका ताण्डव करते हैं। इसलिये उपगूहन अङ्गमें पापको छुपानेकी जरूरत नहीं है किन्तु उसके प्रतीकारकी जरूरत है।

दुराचारियोंके, धर्मकी ओटमें होनेवाले पापोंको छुपानेका एक दुष्परिणाम यह होता है कि लोग निश्चितरूपमें धर्मकी निन्दा करने लगते हैं। यदि हम पापको न छुपावें और खुल्लमखुल्ला उसकी निंदा करें या विरोध करें तो लोग यही कहेंगे कि इन लोगोंमें पापी तो हैं परन्तु वहाँ उनकी गुजर नहीं है। इसका समाजविवेकी है। परन्तु यदि हम पापको छुपावेंगे तो इसका अर्थ यह होगा कि यह समाज पापीका पक्ष लेती है इसलिये इसकी बातका कुछ विश्वास नहीं करना चाहिये।

पहिले समयमें इसबातका पूरा खयाल रक्खा जाता था कि धर्मकी ओटमें कोई पापी पाप न करने पावे। ग्यारह अङ्गके ज्ञाता भव्यसेनमुनिका एक श्रावकने इसलिये खूब तिरस्कार किया था कि उनका आचरण ठीक नहीं था। पंडितप्रवर बनारसीदासजी मुनिवेषियोंके पीछे ही पड़े रहते थे और ढोंगियोंका अच्छी तरह तिरस्कार करते थे। इसके अतिरिक्त औरभी बहुतसी कथाएँ जैनसाहित्यमें मिलेंगी, जिसमें दुराचारियोंके दुराचार छुपाये नहीं गये हैं किन्तु खुल्लमखुल्ला उसका विरोध किया गया है। दम्भियोंके दम्भको दृढ़ बनानेके काममें उपगूहन अङ्ग नहीं आसकता।

हाँ, असदाचरण भी दोषकारका होता है। एक तो दम्भसे धृष्टतापूर्ण, दूसरा कमजोरीसे दीनतापूर्ण। एक मनुष्य पाप करता है और जो उसे पापको छोड़नेकी बात कहता है उसकी निन्दा करता है, पापको न स्वीकार करता है, न त्याग करता है और धृष्टतापूर्वक निष्पापोंको गालियाँ देता है, दम्भका जाल बिछाये रहता है; वह पहिले नम्बरका दुराचारी है। उसका भण्डाफोड़ करना ही उचित है। इसके लिये यही उपगूहन है क्योंकि इससे धर्म और समाज कलंकसे बचजाती है।

दूसरे नम्बरका असदाचार वह है जो कमजोरी से होताहै। उसमें दम्भ या धृष्टता नहीं आती, किन्तु वह दीनतापूर्वक अपने अपराधको स्वीकार करता है और भविष्यके लिये निष्पाप रहनेका प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ राजाश्रेणिकने अपने राजमहलमें

यही अर्थ होना चाहिये। उपबृंहण शब्द इसके लिये बहुत उपयुक्त और दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। दिगंबर सम्प्रदायमें उपगूहन शब्द कैसे आया, इस विषयमें अभी कुछ नहीं कह सकता। जैनियोंका मूलसाहित्य प्राकृतमें था और जब वह संस्कृतमें आया तो वर्णविकारके अनेक नियमोंके कारण मूल शब्दके अनेक रूप बनगये। प्राकृत के एक शब्दके स्थानमें संस्कृतमें अनेक शब्द आये हैं। कुछ परिवर्तन ठीक हुए, कुछ बेठीक हुए।

एक ऐसी आर्यिका को आश्रय दिया था जो व्यभिचारसे दूषित हो चुकी थी और जिसके एक मुनिसे गर्भ रहगया था। श्रेणिकने पुत्र-जन्म होनेके बाद उसे फिर आर्यिकाके पास भेजदिया और आर्यिका बनादिया। पुत्रको राजा श्रेणिकने पाल लिया। ऐसी घटनाओंको प्रकाशित करनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, अगर वे प्रकाशित हो जाँय तो भलेही होजाँय; उसके लिये धृष्टतापूर्वक झूठ नहीं बोलना चाहिये, बल्कि सत्य का परिचय देकर दृढ़ता बतलाकर इस प्रकारका सद्व्यवहार करना चाहिये जिससे उपबृंहण (धर्मवृद्धि) हो।

यह धर्मवृद्धि (उपबृंहण) धर्मनिन्दा बचानेके लिये थी इसलिये एकसमय इसका नाम उपगूहन प्रचलित * था। परन्तु धर्मनिन्दाके बचानेके लिये लोगोंने उपबृंहण छोड़दिया और पापियोंके पापको छुपानेका ढंग पकड़ लिया। इसको लोग उपगूहन समझने लगे तब समाजसंशोधकोंका काम कठिन हो गया और ढोंगियोंको अपने पापी जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये अच्छी ओट मिलगई। इसप्रकार उपगूहनके इस रूपने उपगूहनका सर्वनाश करना शुरू करदिया। तब आचार्योंने उपगूहन शब्दको गौण बताया और उपबृंहणको मुख्यता दी। समन्तभद्र और वट्टकेर आदिके ग्रंथों में इस अङ्गका नाम उपगूहन ही मिलता है परन्तु बहुतसे * लेखकोंने इसका नाम उपबृंहण स्वीकार किया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही था कि धर्मको निन्दासे बचानेके लिये दोषाच्छादनकी बात छोड़दीजाय, सिर्फ आत्मोत्कर्ष किया जाय। हाँ, स्पष्टताके लिये किसी किसी आचार्यने दोनों नामोंका समन्वयात्मक उल्लेख † या सं-

* —चारित्रप्राभृतमें जो आठ अंगोंके नाम लिये गये हैं उसमें इस अंगका नाम उपगूहन ही रक्खा गया है—

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावण य ते अट्ठ ॥७॥

समन्तभद्रने भी इसका नाम उपगूहन लिखा है।

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्त जनाश्रयान्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ र.क.श्रा.

अज्ञानी या कमज़ोर (न कि दम्भी—ज्ञानपापी) व्यक्तियों के सम्बन्धसे यदि पवित्रमार्गकी निन्दा होती हो तो उसे दूर करना उपगूहन है।

* —पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें इसका नाम 'उपबृंहण' लिखा है। अकलंकने राजवार्त्तिकमें 'उपबृंहण' नाम दिया है और लक्षण किया है "उत्तम क्षमादिभावनया धर्म वृद्धिकरणमुपबृंहणं" अर्थात् उत्तम क्षमादिकी वृद्धिसे धर्म वृद्धि करना उपबृंहण है। चारित्रसारमें भी ऐसे ही शब्दोंमें इस अंगकी परिभाषा लिखी गई है और नाम भी उपबृंहण दिया गया है। पञ्चाध्यायी और लाटीसंहितामें भी उपबृंहण नाम है। उसका लक्षण किया है—

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
लक्षणात्तस्य शक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥

अर्थात् आत्मशक्तियोंका बढ़ाना उपबृंहण है जो कि सम्यग्दृष्टिका एक गुण है।

† —धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादि भावनया।
पर दोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥
२७॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

निरभिमानता आदिकी भावनाओंसे धर्मकी वृद्धि करना चाहिये। और उस वृद्धिके लिये दूसरेके दोषोंको ढँकना चाहिये।

इस श्लोकमें उपगूहन और उपबृंहणका संकेत है। परन्तु इसमें विशेष बात यह है कि उपगूहनके लिये उपबृंहण नहीं है किन्तु उपबृंहणके लिये उपगूहन है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोषाच्छादन, धर्मोन्नतिका कारण होना चाहिये। ईर्षा-द्वेषसे किसीके दोष प्रकट करना, भूलचूक से किसीसे कोई अपराध होगया हो और वह उसका पश्चात्ताप करता हो, फिरभी दोष प्रकट करना, आदि ठीक नहीं है। ऐसी जगह पर उपगूहन ही उपयुक्त है।

सकलकीर्तिके धर्मप्रश्नोत्तरमें भी दोनों नाम मिलते हैं।

केत किया है, जिसका मतलब यही है कि उपगूहन के साथ उपबृंहण होना ही चाहिये। इस अङ्गके पालनके लिये निम्नलिखित बातोंका ख़याल रखना चाहिये—

(क) सन्मार्गकी निन्दाका अगर किसीसे कार्य होजाय तो उसके प्रतीकारके लिये स्वयं कोई ऐसा अच्छा कार्य करना जिससे वह ढँकजाय अर्थात् उसका उपगूहन होजाय। (यह सबसे अच्छा और व्यापक मार्ग है)

(ख) सन्मार्गमें स्थित पुरुषोंकी प्रशंसा करना।

(ग) अगर कोई दम्भी, स्वार्थी, धोखेबाज़ मनुष्य ऐसा काम करे जिससे सन्मार्गकी निन्दा हो तो उसका भंडाफोड़ कर देना चाहिये और उसके कार्योंका स्पष्ट विरोध करके यह घोषित करना चाहिये कि उसके कार्योंका हमारी समाजसे कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उपबृंहणके लिये स्वयं कुछ अच्छा काम करना चाहिये।

(घ) अगर किसीसे भूलसे ऐसा काम होजाय और वह उसका प्रायश्चित्त या प्रतिक्रमण करनेको तैयार हो तो उसके दोषोंको प्रकाशित करनेका यत्न न करे; न छुपानेके लिये झूठ बोले। उसकी गलती सुधारे और स्वयं उपबृंहण करे।

यह अंग अपनेको कल्याणमार्गमें आगे बढ़ानेवाला, दूसरोंको असन्मार्गसे बचानेवाला तथा सन्मार्गमें बढ़ानेवाला, सन्मार्गका वास्तविक भान करानेवाला और धर्मकी सफलताको प्रकाशित करनेवाला है।

स्थितिकरण—अगर कोई मनुष्य कल्याणके मार्गसे गिर रहा हो तो उसे उस मार्गमें स्थिर करना स्थितिकरण है।

आपत्ति और प्रलोभनोंसे मनुष्य धर्मसे गिरता है। आपत्तिमें उसे मदद करना और उसकी सहनशीलताको बढ़ाना, तथा प्रलोभन आनेपर प्रलोभनोंकी निःसारता बतलाना, तथा प्रलोभनोंको विजय करके अपना आदर्श दूसरोंके साम्हने रखना आदि स्थितिकरणके उपाय हैं।

प्रथम अध्यायमें परप्राणिकृत दुःखोंका वर्णन किया गया है। सदाचारके नियम उन दुःखोंको दूर करनेके लिये हैं। सम्यक्त्व और चारित्र तो हर एक प्रकारके दुःखोंको दूर करनेके लिये है। परंतु साधक अवस्थामें मनुष्य आपत्ति और प्रलोभनोंके कारण इस मार्गसे गिरने लगता है, तो उसे सहारा देना सम्यग्दृष्टिका कार्य है। संसारमें जितने सदाचारी मनुष्य होंगे, सुखकी वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। सदाचारी सुखके साधनोंकी लूट नहीं चाहता किन्तु उनका विभाजन करता है। सुखके साधनोंकी लूट मचानेवाला ही दुराचारी या असंयमी है। इन असंयमियोंकी संख्या बढ़ने न पावे अर्थात् संयमियोंकी संख्या घटने न पावे, सम्यग्दृष्टि इसके लिये उद्योगशील रहता है। यही उसका स्थितिकरण है।

जीवनके अनुभव कभी कभी इतने कडुवे होते हैं कि बहुतसे मनुष्य कल्याणमार्गसे लौट आते हैं। एक सदाचारी मनुष्य विश्वप्रेमका पुजारी है, अन्याय और अत्याचारसे दूर रहता है; फिरभी लोग उसपर अत्याचार करते हैं अथवा उसे जीवनकी आवश्यक सामग्री भी नहीं मिलती अथवा अनेक स्वार्थी असंयमी लोग आदर सत्कार यश आदिमें आगे बढ़जाते हैं। यह देखकर उसका हृदय चलविचल होने लगता है। उस समय उसका स्थितिकरण करना चाहिये। उसकी दुरवस्थाका क्या कारण है, सच्चा सुख क्या है आदि बातें उसे समझाना चाहिये, अपना आदर्श उसके साम्हने रखना चाहिये।

"साधारण मनुष्य, चर्मचक्षुओंसे ही जगत्को देखा करता है। उसकी दृष्टिमें एक मुनिवेषी अमुनि भी मुनि है, सदाचारका ढोंग करनेवाला

दुराचारी भी सदाचारी है। साधारण मनुष्यकी इस अज्ञानतासे दम्भी लोग कुछ स्वार्थका पोषण कर-लेते हैं, तो इससे हमें भी दम्भ करना चाहिये–यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि दम्भका परिणाम अंतमें बुरा ही है, उससे समाजमें सुखकी वृद्धि नहीं होती। जनता दम्भीको दम्भी समझकर नहीं पूजती, वह अज्ञानसे दम्भीको पहिचान नहीं पाती है। ऐसी अवस्थामें जनता दयापात्र है। हमें उसकी चिकित्सा करना चाहिये, उसके घातकोंकी टोलीमें न मिलजाना चाहिये"।

असंयम आदिकी तरफ़ गिरते हुए मनुष्यको उपर्युक्त ढङ्गसे समझाना चाहिये तथा तदनुसार आचरण करके उसका धैर्य बँधाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसकी आपत्तिको दूर करनेकी कोशिश करना चाहिये।

कभी कभी अनुचित बन्धनोंके कारण या उसके ऊपर जबर्दस्ती अधिक बोझ लाद देनेके कारण मनुष्यका पतन होता है। ऐसी अवस्थामें उसके बन्धनको तोड़देना या ढीला करदेना भी स्थिति-करण है। एक आदमी उपवास नहीं कर सकता किन्तु जबर्दस्ती उससे उपवास कराया जाता है। फल यह होता है कि वह चोरीसे खाता है अथवा चोरीसे खानेका विचार करता है अथवा धर्मसे घृणा करने लगता है, तो उसे उपवास न करनेकी छूट देदेना भी स्थितिकरण है। एक स्त्री विधवा हो जानेके बाद पूर्ण ब्रह्मचर्यसे नहीं रह सकती, सामाजिक नियम या और कोई दबाव उसे जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य पालनेका दबाव डालता है तो उसे पुनर्विवाहकी छूट देदेना स्थितिकरण है, क्योंकि ऐसा करके हम व्यभिचारके कुमार्गसे उसे रोकते हैं। इस प्रकार और भी उदाहरण दिये जासकते हैं।

हाँ, जो छूट किसीको दीजाय वह ऐसी न हो जो दूसरोंके न्यायोचित अधिकारोंमें बाधा डालती हो। कोई अगर उपवास नहीं करता अथवा कोई अपना पुनर्विवाह करता है तो यह बात ऐसी नहीं है कि जिससे दूसरोंके न्यायोचित अधिकारोंमें बाधा पड़ती हो।

स्थितिकरणके लिये मुख्य मुख्य कर्तव्य ये हैं।

१—कल्याणमार्गका रहस्य समझाकर गिरते हुए मनुष्यके हृदयको दृढ़ बनाना।

२—अपनी दृढ़ताका परिचय देकर उसे दृढ़ बनाना।

३—उसकी आपत्तिको दूर करना।

४—जिसकार्यसे किसी दूसरेके न्यायोचित अधिकारोंका भंग न होता हो उसकार्यके त्यागके लिये किसीको विवश न करना।

५—अगर कोई चौथे नियमका भंग करके किसीको विवश कर रहा हो, बहिष्कार आदिसे उसे सता रहा हो तो पीड़कका विरोध करना और पीड़ितका साथ देना।

६—संयमी (किसी सम्प्रदायका वेषधारी नहीं) का अधिक आदर सत्कार प्रेम सहायता करना, उसका सच्चा यश फैलाना। यह आदमी संयमी है या असंयमी, अगर इस बातका निर्णय न हो सकता हो तो जितना अंश उसमें संयमका मालूम हो उतने ही अंशकी भक्ति प्रशंसा करना, असंयम अंशकी नहीं। किसी धनवानका हमें सिर्फ़ इसीलिये अधिक आदर न करना चाहिये कि वह धनवान है परन्तु इसलिये करना चाहिये कि उसने धन, न्यायसे पैदा किया है और जगत्कल्याणके मार्गमें खर्च कर रहा है। इसीप्रकार किसी विद्वानका इसीलिये आदर न करना चाहिये कि वह विद्वान् है किन्तु इसलिये करना चाहिये कि वह विद्वत्ताका सदुपयोग अर्थात् कल्याणमार्गमें उपयोग करता है। इसीप्रकार किसी तपस्वीकी इसीलिये प्रशंसा न करना चाहिये कि वह तपस्वी है किन्तु इसलिये करना चाहिये कि उसका

लक्ष्य विश्वकल्याणका है। यही बात कलाकार वैज्ञानिक डॉक्टर आदि सबके विषयमें कही जासकती है।

प्रश्न श्रीमान् विद्वान् तपस्वी आदिकी अमुक दृष्टिसे प्रशंसा करना और अमुक दृष्टिसे प्रशंसा न करना इससे स्थितिकरण अंग का क्या सम्बन्ध है? किसीकी प्रशंसा अप्रशंसासे कोई गिरताहुआ मनुष्य कैसे सम्हल सकता है?

उत्तर—धर्मसुखके लिये है, विश्वकल्याणकी भावनाके बिना न हम सुखी होसकते हैं न जगत्को सुखी कर सकते हैं। जितने अधिक प्राणी ऐसी भावना वाले होंगे हम सब उतने ही अधिक सुखी होंगे। धर्मप्रचारके लिये अर्थात् सुखकी वृद्धिके लिये ऐसे मनुष्योंकी संख्या बढ़ाना चाहिये। अब अगर हम विश्वकल्याणकी भावनाका विचार नहीं करते किन्तु धन, विद्या, कला आदिको महत्त्व देते हैं तो इसका फल यह होता है कि लोगकल्याणमार्ग पर उपेक्षा करके धन बाह्यतप आदिके पीछे पड़जाते हैं। जो कल्याणमार्ग पर जासकते हैं वे नहीं जाते हैं, जो जारहे हैं वे लौटआते हैं। अगर हम लोगों को कल्याणमार्गमें लेजानाचाहते हैं और जाने वालोंको लौटाना नहीं चाहते हैं तो हमारी दृष्टिमें, हमारे व्यवहारमें कल्याणमार्गको तथा उसके साधक सम्पत्ति विद्या कला आदि को ही महत्ता प्राप्त होना चाहिये न कि उसके बाधक तप धनादिको।

प्रत्येक मनुष्य महान् बनना चाहता है। अगर तुम श्रीमान्को महान् मानते हो तो जैसे बनेगा वैसे लोग श्रीमान् बननेकी कोशिश करेंगे और इस प्रलोभन में पड़कर कल्याणमार्गसे भ्रष्ट होंगे। उनके स्थितिकरणके लिये किसे महान् मानना, किसे न मानना इसका विवेक अत्यावश्यक है।

स्थितिकरणके लिये आपत्ति और प्रलोभनोंपर विजय करानेके लिये अपनी पूरी शक्ति तो लगानाही चाहिये, किन्तु इतनेसे ही स्थितिकरणका पालन नहीं होता। आपत्ति और प्रलोभन, खासकर प्रलोभन (क्योंकि आपत्तिकी अपेक्षा प्रलोभनसे बहुत मनुष्य भ्रष्ट होते हैं—आपत्तिविजयकी अपेक्षा प्रलोभन विजय कठिन है) पैदा न होने पावें इसके लिये पूर्ण उद्योग करना स्थितिकरणके लिये आवश्यक है।

हमारे मुनियोंका लक्ष्यविन्दु।

(लेखक—श्री० ब्रह्मचारी प्रेमसागरजी "पञ्चरत्न"।)

शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे मुझेतो यही अनुभव हुआ है कि मुनियोंका लक्ष्यविन्दु "आत्मकल्याण" है। ठीक भी है, क्योंकि मुनिअवस्था, निर्ग्रन्थ अवस्था है। उसमें किसीभी आरंभ और परिग्रहको जगह नहीं है। मुनि, बाह्यके १० परिग्रह और आभ्यन्तरके १४, ऐसे २४ प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होता है। वह परिग्रहका त्यागी होकर निर्ग्रन्थ कहलाता है। परन्तु यदि वह अन्तरङ्ग परिणाम मलीन रखता है या बाह्यमें किसी परिग्रह वस्तुमें प्रीति झलकाता है तो वह निर्ग्रन्थ नहीं है बल्कि सग्रन्थ हैं। क्या आप एक भिखारीको, जिसके पास किसीभी प्रकारका परिग्रह नहीं है, याने नतो उसके पास कोई घर है, न कपड़ा है, न वर्तन है और न रुपया पैसा है, जो घरघर भीख माँगता फिरता है, जो देखनेमें ऐलक या मुनिसा मालूम होता है, उसे क्या आप मुनि कहेंगे? भिखारीके पास बाह्यमें कोई परिग्रह नहीं है परन्तु उसका अन्तरङ्ग परिग्रह उसे, बाह्य परिग्रहकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा कराता है अ-

र्थात् भिखारीकी अन्तरङ्ग चाह धन इत्यादि परिग्रह प्राप्तिके लिये प्रबल रहती है। इसी प्रकार जो मुनि बाह्यमें नग्नवेशकी अपेक्षा उभय ग्रन्थका त्यागीसा दिखता है परन्तु उसका अन्तरङ्ग, परिग्रहके मैलसे मलीन रहता है, वह मुनि, मुनि नहीं है।

जैनमुनि, वास्तवमें ऊँचे दर्जेका साधु है। उसकी जितनीभी साधनाहो, वह आत्माके लिएही हो। यदि उसकी साधना आत्माके लिए न होकर अनात्मा (शरीर) के लिए होती है, तो उसका मुनिपना किसकामका ? उसका नग्नत्व किस कामका ? और उसका घर द्वार छोड़ना किस कामका ? जब वह अपने लक्ष्यविन्दुका खयाल नहीं रखता, तब वह कैसे अपनी साधनामें उत्तीर्णहो सकता है ? यही विस्मयकी बात है। इस बातका समर्थन आचार्योंने शास्त्रोंमें भली भाँति कर दिया है कि "मुनि निस्पृही और सिंहवृत्तिवाले होते हैं"। इस आचार्य सम्मतिका जब हम अनुभव करते हैं एवम् मनन करते हैं तब हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं किमुनि का हृदय बड़ा विशाल और गंभीर तथा विजयी होता है। यदि ऐसा न होनातो पूर्वके मुनि तप करते हुये घोरसे घोर उपसर्गोंको कैसे सहन करते ? क्या सुकमाल मुनिका स्यारनीकृत उपसर्ग जीतना, गल्प है, जो अपना शरीर उससे भक्षण करादेते हैं किन्तु अपने आसनसे तनिकभी चलायमान नहीं होते ? ऐसे अनेकानेक उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। किन्तु हमारा वर्तमान मुनिसमाज उसपर ज़रा भी ध्यान नहीं देता। यदि देता तो वर्तमानमें जो उसकी हालत देखनेमें आरही है, वह न आती। मैं, गृहस्थोंसे न पूछकर केवल मुनिनामधरियोंसे ही पूछता हूँ कि-क्या आप कभी ठीक तरहसे आध्यात्मिक मनन करते हैं ? क्या आपका ध्यान आत्म ध्यान है ? और क्या आप सम्यक्त्वके ७ भयोंसे रहित, अपने आत्माके बलको अपने अन्दर प्राप्त कर चुके हैं ? आपतो इसका उत्तर देंगे—हाँ, परन्तु मुझे विश्वास नहीं सुनिए, यदि आपमें वह आत्मिक बलहोता कि जिसके साम्हने शत्रु उपसर्ग करता हुआ परास्त होजाता था तो कभीभी आप अपनी इतनी कायरता प्रकट नहीं करते कि गिरफ्तार होने पर अपने बाप दादोंका नाम एवम् अपनी सारी हुलिया लिखादें। यह कृत्य मुनीन्द्रसागरका था। यदि मुनीन्द्रसागरमे सच्चामुनित्व होता तो वे उसी जगह सत्याग्रह करदेते। तब सरकारका मस्तक उनके चरणोंपर नत होजाता और जैनधर्मभी बदनामीसे बच जाता। और लीजिए। यदि आप इन मुनियोंमें आत्मबल व सच्चा मुनित्व मानते हैं तो बताइए कि ये भले अदमी शीतऋतुमें तम्बुओंके व बंद कोठरियोंके अन्दर क्यों रहते हैं ? क्यों उनके भीतर एक हाथ ऊँचा पयार बिछवाकर उस पर लेटते हैं ? क्या ऐसा किसी शास्त्रमें विधान है ? और क्या यहभी शास्त्रमे लिखा है कि सड़कपरकी नदी नालेकी पुलियामे टाट या चादरका परदा लगवाकर मुनि उसमें रात्रिमें रहें ? श्री० पं० गणेशप्रसादजी वर्णीने गुना सिटीमें अपने भाषणमें कहा था कि जो मुनि शीत ऋतुमें रात्रिमें ठहरने केलिये सड़ककी पुलिया ढूंढता है, उसने शीत परीषहको नहीं जीता। वर्णीजीका कहना मुझेतो ठीक जचता है—क्योंकि मुनितो २२ परीषहों का विजेता होता है तथा उसका शरीर से कोईभी ममत्व नहीं रहता। वहतो बड़ाही आत्म वीर, विश्वविजयी होता है।

यदि शीत ऋतुकी बाधा नहीं सही जाती, और उससे बचनेके लिये-रावटी, तम्बू और पुलियाकी आवश्यकता पड़ती है तो आप इस मुनिवेष को छोड़कर गृहस्थ या उदासीन अथवा ब्रह्मचारी हो जावें, तो ठीक परन्तु इस निस्पृही और सिंह वृत्तिवाली अवस्थामें इसप्रकारका प्रदर्शन समाजको न करावें क्योंकि इसमें जैनधर्मका एवम् जैनजाति का उपहास होता है।

किसीभी अवस्थावाला संयमी, ब्रह्मचारी व मुनिहो उसके लिये यह अति आवश्यक है किवह अपने अंतरंग भावोंको शुद्ध रक्खे। यदि मुनिके अंतरंग भाव ठीक नहीं हैं तो उसका बाह्यमें वस्त्र त्यागनसे क्या ? यही स्वामी कुन्दकुन्द कहते हैं:—

दव्वेण सयल णग्गा, णारयतिरियाय संघाय ।
परिणामेण असुद्धा, ण भाव सवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

अर्थ–द्रव्य (बाह्य) करतो समस्तही प्राणी नग्न (वस्त्ररहित) हैं, नारकी, तिर्यञ्च तथा अन्य नर नारी (बालक वगैरा) वस्त्र रहितही हैं, परन्तु वे सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं अर्थात भावलिंगी मुनि नहीं हो गये हैं अर्थात् बिनाभावके वस्त्ररहित होना कार्यकारी नहीं है। और भी—

णग्गो पावइ दुक्खं, णग्गो संसार सायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं, जिण भावण वज्जिओ सुइरं ॥६८॥

जिनभावनारहित नग्नप्राणी नाना प्रकारके चतुर्गति सम्बन्धी दुःखोंको पाता है। जिनभावना रहित नग्नप्राणी संसारसागरमें भ्रमता है और भावना रहित नग्नप्राणी बोधि (रत्नत्रयलब्धि) को नहीं पाता है। तथा—

अय साण भायणेण य, किन्ते णग्गेण पापमलिणेण ।
पेसुण्ण हास मच्छर माया बहुलेण सवणेण ॥६९॥

अर्थ—ऐसे नग्नपने व मुनिपनेसे क्या होता है जो कि अपयश (अकीर्ति) का पात्र है और पैशून्य (दूसरोंके दोषोंका कहना) हास्य, मत्सर (अदेखका भाव) मायाचार आदि जिसमें बहुत ज्यादा है और जो पाप कर मलीन है।

वास्तवमें शुद्ध भाव ही मुनिधर्म है और वही उनका लक्ष्यविन्दु होना चाहिये। किन्तु आज दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे वर्तमान नामधारी मुनियोंका लक्ष्यविन्दु केवल किसी प्रकारसे अपना नाम पैदा करना ही रह गया है। हमारे नामधारी मुनियोंका खास लक्ष्यविन्दु अपना नाम पैदा करना है परन्तु उसके लिए ये लोग कैसी कैसी उल्टी सीधी बातें बनाकर समाजको तहस-नहस कर रहे हैं कि जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं है। इनका केवल यही एक प्रोग्राम बन गया है कि शूद्रजल का गृहस्थोंसे त्याग कराना और उन्हे जनेऊ पहिनाना। यह उनका प्रोग्राम गृहस्थोंकी राजीसे काममें लिया जाता होता तो भी कुशल थी, परन्तु वह तो अनिवार्य रूपसा होगया है। जो गृहस्थ उसे नहीं मानते वे अधर्मात्मा कहलाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें पूजन करने और अभिषेक करनेका अधिकार नहीं रहता ! अच्छा प्रोग्राम है और अच्छा इनका लक्ष्यविन्दु है ! इनके सामने शास्त्रीय प्रमाण न कुछ हैं क्योंकि इनके भक्तोंने इनको "कलिकाल सर्वज्ञ" के नामसे विभूषित कर दिया है। इसलिए वे अपने ज्ञानके अनुसार अपना प्रोग्राम बनाते हैं। मुझे यह भी एक आश्चर्य है कि इन मुनियोंका काम दिखावटी क्यों हैं ? क्या केशलुञ्चका कार्य दिखावटी नहीं है, जो आम जनताके बीच, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके अर्थ किया जाता है ? क्या शास्त्रमें कहीं ऐसा विधान है ? मुझे तो यही मालूम हुआ है कि मुनियोंका केशलुंच एकान्तमें होना चाहिए; किन्तु आजके मुनि उसके लिए बड़ा भारी महोत्सव करवाते हैं।

इन मुनियोंके लक्ष्यविन्दुको समझकर भोली जनता उनके पीछे पीछे चौका लिए फिरती है। क्या यह भी शास्त्रसम्मत है ? क्या यह उनके निमित्तसे बनाया हुआ भोजन नहीं है ? और उसमें जो आरम्भ किया जाता है क्या उसका पाप मुनियों को नहीं लगता होगा ? अवश्य लगता होगा। रातों-रात सामानकी गाड़ियों का चलना और डेरे तम्बू लगाना क्या यह थोड़ा आरम्भ है ? मैं पहिले यह नहीं समझता था। समझा तो तब हूँ जब कि मुनि शांतिसागरजी छाणीके साथमें था। वे मुनि लखनऊ

से विहार करते हुए बाराबङ्की पहुँचे और शहरमें एक स्थानपर रावटी पाल आदि लगते देखे और जमीन खुदती देखी। बस, वे वहाँ नहीं ठहरे। मैंने उनसे पूछा तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि "मुनि अपने निमित्त बनाई हुई वस्तुका उपयोग नहीं कर सकता और न ऐसे स्थानमें ठहर सकता है जो कि उसके निमित्तसे तैयार किया जा रहा हो या किया हो"। चातुर्मासमें मन्दिर, मठ, धर्मशाला या साधारण मकानोंको छोड़कर, राजाशाही रंगमहलों में रहना मुनियोंके लिये कहाँ तक शोभा देता है, यह उन्हींसे पूछा जावे। अब मैं मुनियोंके बारेमें एक बात और कहूँगा और वह उन्हींसे पूछूँगा कि क्या सिरके बालोंको कैंचीसे कटाना भी केशलोंच है? ज्ञानसागर मुनिने पछारमें ऐसा ही किया था। ये वही ज्ञानसागर हैं जिन्होंने पछारके चौमासेके बाद कपड़े धारण करलिये थे। फिर शिखरजी जाकर मुनि शांतिसागरजी छाणीसे पुनः दीक्षित हुए थे।

जब मुनियोंकी कुछ समालोचना की जाती है या शास्त्रमें प्रकरण पाकर उनके बारेमें कुछ कहा जाता है तो उनके भक्त लाल, पीली आँखें दिखा कर मनमानीकहकरके अपनी क्रोधाग्निको धधकाते हैं और कुछ भोलेभक्त कहदेते हैं कि "भाई, पञ्चम काल है। जितना मुनियोंसे सधता है सो साधते हैं अपन लोगों से तो हज़ार दर्जे अच्छे हैं; तथा पहिले मुनियों सा उनका, वज्र वृषभ नाराच संहननवाला शरीर कहाँ है?" आदि। मेरा उन भोले भक्तोंसे पूछना है कि "आपसे यह किसने कहा था कि आप आज चतुर्दशी या अष्टमीका उपवास करें और उसे बंधन का रूप दें तथा प्रत्यक्ष या परोक्षमें उसे तोड़दें? इसीप्रकार उन मुनियोंसे किसने कहा था कि आप मुनि बनें, जबकि उनसे शीत-उष्णकी बाधा नहीं सही जाती, रङ्गमहलोंमें रहने के लिए दिल ललचाता है, रावटी इत्यादिमें रहकर जो शीत की बाधा से बचना चाहते हैं और जो चौका साथ साथ लिए फिरते हैं। इत्यादि बातें उनको व उनके पदको दूषित करनेवाली हैं, इसलिए मुनिपदकी रक्षार्थ उन्हें घरमें ही रहना था। मेरा तो ऐसा अनुभव है कि कुछ तो मुनि खुद अपने कर्तव्यसे च्युत होरहे हैं और कुछ आप लोग उनकी भोले रूपमें भक्ति बढ़ाकर उन्हें खराब कर रहे हैं।"

जब आप समझते हैं कि मुनि उद्दिष्ट भोजन के त्यागी हैं, वे अपने निमित्त बनाया भोजन नहीं करते, तो आप क्यों उनके पीछे पीछे चौका लिए फिरते हैं? क्यों उनके निमित्त भोजन बनाते हैं? मुझे खूब खबर है जबकि उसदिनपथरिया दमोहमें मुनि ठहरे थे। रात्रिमें एक पंडितजी एक गृहस्थके यहाँ आए और बोले कि आप १२ सेर दूध का प्रबन्ध करादीजिए। मैंने पूछा—आप इतने दूधका क्या करेंगे? उत्तर मिला—"कल मुनियोंके लिए आहार बनाना है?" मैंने उनसे साफ शब्दोंमें कह दिया कि "आप पंडित होकर इतनी भूल करते हैं!" इसका उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया।

लेखमें जो कुछ लिखा गया है वह इस अभिप्रायसे लिखा गया है कि वर्तमान मुनि अपने लक्ष्य बिन्दुको समझें और विपरीत आचरण न करें। उनका लक्ष्यबिंदु केवल आत्मोद्धार है। वे इसीकी मीमांसा करते हुए उसकी वृद्धि करें, नहीं तो भविष्यमें उनके द्वारा जैनधर्मको बड़ा धक्का पहुँचेगा।

गृहस्थोंको चाहिए कि वे अपनी भेड़ियाचाल को छोड़ें तथा अन्धश्रद्धाकी भक्तिको छोड़कर परीक्षा प्रधानी बनें। यदि आप सच्चे मुनिभक्त हैं तो अपना ऐसा कर्त्तव्य करें ताकि मुनि ठीक रास्ते पर आजावें।
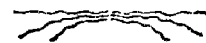
चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच,

अर्थात्

सूर्यप्रकाश-परीक्षा।

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ।]

(७)

कुन्दकुन्दकी अनोखी श्रद्धाका उल्लेख।

(७) श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजकी विदेहक्षेत्र-यात्रा का वर्णन करते हुए, एक स्थानपर लिखा है कि विदेहक्षेत्रके चक्रवर्तीने एक दिन मुनिजीसे आहार के लिये विहारकी प्रार्थनाकी, जिसके उत्तरमें उन्होंने कहा—'तुम्हें क्या मालूम नहीं कि इसक्षेत्रमें मेरे आहारकी योग्यता नहीं है?' इस पर चक्रवर्तीने योग्यता न होनेका कारण पूछा, तब कुन्दकुन्दने उत्तरदिया:—

> मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रिः त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा।
> भारतजोऽप्यहं त्वाद्य कथं कुर्वेऽत्र दोषदम् ॥२९३।

अर्थात्—मैं भारतमें उत्पन्न हुआ हूँ, तुम्हारे क्षेत्रमें इस समय दिन होनेपरभी मेरे क्षेत्रमें इस वक्त रात्रि है; तब मैं इस समय (जब कि मेरे हिसाबसे रात्रि है) यहां भोजन कैसे करूँ? वह दोषकारी है—रात्रिभोजनके दोषको लिये हुए है!!

पाठकजन! देखा, देशकालादिके अनुसार वर्तन करनेवाले एक महामुनिके द्वारा दिया हुआ यह कैसा विचित्र उत्तर है और इसमें कुन्दकुन्दकी कैसी अनोखी श्रद्धाका उल्लेख किया गया है! जब कि विदेहक्षेत्र में खूब दिन खिल रहा था, सूर्यका यथेष्ट प्रकाश होरहा था, शुद्ध एवं निर्दोष भोजनकी सब व्यवस्था मौजूद थी और दूसरे महान् मुनिजनभी आहारके लिये जा रहे थे तथा भोजन कररहे थे, तब कुन्दकुन्दका उस समयको रात्रि बतलाकर भोजन करनेसे इनकार करना और उस भोजनको सदोष मानना अथवा महज़ इस वजहसे भोजन न करना कि उस समय भारतमें रात्रि है—भोजन करनेसे रात्रिभोजनका दोष लगेगा, कितना हास्यास्पद है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इससे तो वहाँ रात्रिके समय, जब कि भारतमें दिन था, कुन्दकुन्द का भोजन करलेना निर्दोष ठहरता है! फिर उसे उन्होंने क्यों नहीं अपनाया और क्यों सात दिन तक वे भूखे रहे? इसका ग्रंथपरसे कुछभी समाधान नहीं होता! इसके सिवाय, यदि यह मान लिया जायकि भारतकी रात्रिन्दिनकी चर्याके हिसाबसे ही कुन्दकुन्द चले हुए थे तो उन्हें उस वक्त चक्रवर्तीसे वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए था और न वहाँ दिन के समय सीमंधर स्वामी तथा उनके गणधरोंसे ही प्रश्नादिक करने चाहिये थे; क्योंकि उस समय भारतमें रात्रि थी और रात्रिको मुनिजन बोलते नहीं हैं—खुद कुन्दकुन्दभी इसीलिये उन देवोंसे नहीं बोले थे जो रात्रिके समय उन्हें लेने के लिये गये थे और जिसका उल्लेख ग्रंथमें "अयुनैव रात्रौ च" इत्यादि वाक्यके द्वारा किया गया है। फिर कुन्दकुन्दने अपने उस, रात्रिमें मौनके नियमको वहाँ जाकर क्यों भुला दिया? यह देशकालानुसार वर्तन नहीं था तो और क्या था? फिर भोजनने ही कौनसी खता की थी? यदि वहाँ उन्हें भोजन कराना ही ग्रंथकारको इष्ट नहीं

था तो अच्छा होता यदि कुन्दकुन्दके द्वारा ऐसा कुछ उत्तर दिलादिया जाता कि 'भारतीयों द्वारा दिया हुआ भारतका अन्नजल ही मेरे लिये ग्राह्य है।' परन्तु ग्रंथकारको इतनी समझ होती तब न ! उसने तो अपनी मूर्खतावश कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य को भी अच्छा खासा मूर्ख बना डाला है !!

आगमका अद्भुत विधान ।

(८) ग्रंथमें एक स्थान पर आगमका जो विधान दिया गया है वह इसप्रकार है:—

> जिनबिम्बं नराः येऽत्र दृष्ट्वा कुर्वन्ति भोजनम् ।
> ते मता ह्यागमे मर्त्याः पशुतुल्याश्च तत्परे ॥पृ० २०६॥

अर्थात्—आगममें वे लोग ही निश्चयसे मनुष्य माने गये हैं जो जिनबिम्बका–जिनेन्द्रकी मूर्तिका—दर्शन करके भोजन करते हैं। जो लोग जिनबिम्बका दर्शन किये बिना भोजन करलेते हैं उन्हें 'पशुतुल्य' समझना चाहिये।

आगमकी इस व्यवस्थाके अनुसार—(१) वे सब निर्ग्रंथ जैनमुनि पशुतुल्य ठहरते हैं जिनके जिनबिम्बके दर्शनपूर्वक भोजनका तो क्या, जिनबिम्बके दर्शनका भी कोई नियम नहीं होता–वैसे ही चर्यादिक को जाते समय यदि कोई जैन मन्दिर अचानक रास्तेमें आजाता है तो वे दर्शन करलेते हैं अन्यथा नहीं ! (२) वे सब सज्जनभी पशुओंकी कोटि में आते हैं जो अपने यहाँ जैनमन्दिरके न होने या सफरमें रहने आदि किसी कारणके वश बिना जिनबिम्बका दर्शन किये ही भोजन करलेते हैं अथवा कुछ खा-पीकर दर्शन करते हैं–भलेही वे कैसे ही सभ्य, शिष्ट, धर्मात्मा एवं मनुष्योचित कार्योंके करने वाले क्यों न हों ! (३) सारे अजैनजनभी पशुतुल्य क़रार पाते हैं, जिनमें बड़े बड़े सन्तमहन्त, सत्पुरुष त्यागमूर्ति, परोपकारी, पूज्यदेशनेता और गाँधीजी जैसे महात्माभी शामिल हैं ! क्योंकि वे लोग बिना जिनबिम्बका दर्शनकियेही भोजन किया करते हैं !! (४) उन सब दुष्टों, धूर्तों तथा पापाचारियोंको भी मनुष्यत्वका सर्टिफिकेट मिलजाता है जो किसी तरह भोजनसे पहले जिनबिम्बका दर्शन तो करलेते हैं परन्तु अन्यप्रकारसे जिनके पास धर्माचार या विवेक जैसी कोई वस्तु नहीं होती और जो मनुष्यहत्याएँ तक कर डालते हैं !

मालूम नहीं यह कौनसे आगमका अद्भुत विधान है ! जैनागमका तो ऐसा कोई विधान है नहीं और न हो सकता है। संभवतः यह ग्रंथकारके उस कलुषित हृदयागमका ही विधान जान पड़ता है जो ढूँढिया भाइयों पर गालियोंकी वर्षा करते समय उसके सामने खुला हुआ था !

इसी तरहका एक अत्यन्त संकीर्ण हृदयोद्गार ग्रंथकारने औरभी निकाला है और वह इसप्रकार है—

> पश्यन्ति नैव ये मूढाः जिनबिम्बं जगन्नुतम् ।
> कदापि तन्मुखं नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः ॥पृ० १९५॥

इसमें बतलाया गया है कि 'जो लोग जिनबिम्बका दर्शन नहीं करते हैं उन मूढोंका कदापि मुँह नहीं देखना चाहिये !'

इस व्यवस्थाके अनुसार देशकी प्रायः सारी महाविभूतियाँ–पूज्यव्यक्तियाँ—भी जैनियोंके लिये, नहीं नहीं, इस ग्रंथके माननेवालोंके लिये, आदर्शनीय होजाती हैं ! उन्हें देशके दूसरे पूज्य नेताओं, राजाओं, हाकिमोंसे नहीं मिलना चाहिये ! अन्य व्यापारियों, सेवकों तथा शिल्पकारोंसे भी बात नहीं करनी चाहिये !! और रास्ता चलते हुए आँखें बन्द करके अथवा अपने मुँह पर पल्ला डालकर चलना चाहिये; क्योंकि चारों तरफ ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं जो जिनबिम्बका दर्शन नहीं करते–कहीं उनका मुख न दिखलाई पड़ जाय !!! कैसी अद्भुत व्यवस्था और कैसी हृदयहीनता है ! इस व्यवस्था पर दृढ़ताके साथ अमल करने (चलने)

वाले क्या संसारमें कुछ अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं या अपनी कुछ उन्नति कर सकते हैं? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा अपने धर्मका प्रचार अथवा लोगोंको जिनबिम्बके दर्शनकी ओर लगाने का कार्य तो बन ही कैसे सकता है? निःसन्देह इस प्रकारको शिक्षाओंने जैनसमाजको बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है और जैनियोंको पतनके खुले मार्ग पर लगाया है!! अन्यथा, हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों आदिने तो पतितसे पतित मनुष्यों, भील चाण्डालों और म्लेच्छों तकको, उनकी बाँह पकड़-कर, सन्मार्ग पर लगाया है। वे यदि उनका मुँह ही न देखते तो उनका उद्धार कैसे कर पाते? परंतु खेद है कि आज आचार्य कहे जानेवाले शान्ति-सागरजी और उनके गणधर क्षुल्लक ज्ञानसागरजी ऐसी विषैली शिक्षाओंसे परिपूर्ण ग्रन्थका भी अनु-मोदन तथा प्रचार करते हैं और जैनसमाज उनसे कुछ भी जवाबतलब नहीं करता—उन्हें बराबर आचार्य तथा क्षुल्लक मानता चला जाता है! इससे अधिक जैनसमाजका पतन और क्या हो सकता है?

कर्मसिद्धान्तकी नई ईजाद!

(९) भगवान्से राजा श्रेणिकके कुछ प्रश्नोंका उत्तर दिलाते हुए, एक स्थानपर लिखा है कि 'म्लेच्छोंमें उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर व्रतहीन मनुष्य (स्त्री-पुरुष) होते हैं।' यथा;—

> म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर!
> भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः ॥पृ० ३७७॥

इस विधानके द्वारा ग्रन्थकारने कर्मसिद्धान्तकी एक बिलकुलही नई ईजाद कर डाली है! क्योंकि जैनधर्मके कर्मसिद्धान्तानुसार म्लेच्छसन्तानोंके लिये न तो मनुष्यगतिमें जानेका ही कोई नियम है, जिसे सूचित करनेके लिये ही यहाँ 'मानवाः' पदका खास तौरसे प्रयोग किया गया है—वे दूसरी गतियोंमें भी जा सकते हैं और जाते हैं—और न अगले जन्ममें व्रतहीन होना ही उनके लिये लाज़िमी है। व्रतहीन होनेके लिये चारित्रमोहनीयका एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कारण माना गया है और चारित्र-मोहनीयके आस्रवका कारण "कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य" इस सूत्रके अनुसार कषायके उदयसे तीव्रपरिणाम का होना कहा गया है—न कि किसी म्लेच्छकी सन्तान होना। म्लेच्छकी सन्तानें तो अपने उसी जन्ममें व्रतोंका पालन कर सकती हैं और महाव्रती मुनि तक हो सकती हैं, जिसके अनेक उदाहरण तथा विधान जैनशास्त्रोंमें पाये जाते हैं* तब उनके लिये अगले जन्ममें लाज़िमी तौरसे व्रतहीन होने की कोई वजह ही नहीं हो सकती।

इसके सिवाय, इसी ग्रंथमें एक स्थानपर लिखा है कि जैनधर्मको धारण करता हुआ श्वपच (म्लेच्छ विशेष भी) 'श्रावकोत्तम' माना गया है, कुत्ता भी व्रतके योगसे देवता होजाता है और एक कीड़ा भी

*देखो, हरिवंशपुराणादि ग्रन्थ, जिनमें अनेक भीलों, चाण्डालों, म्लेच्छोंके व्रतपालनादिका उल्लेख है। 'जरा' नामकी म्लेच्छ कन्यासे उत्पन्न हुए 'जरत्कुमार' ने भी अन्तको मुनिदीक्षा ली थी, जिसका उल्लेख भी जिन-सेनके हरिवंशपुराणमें है। इसके सिवाय लब्धिसारकी टीकाके निम्न अंशसे साफ़ प्रकट है कि म्लेच्छदेशोंसे आये हुए म्लेच्छ तथा म्लेच्छ कन्याओंसे चक्रवर्त्यादिकके वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न पुत्र जैनमुनिदीक्षाके अधिकारी हैं:— "म्लेक्षभूमिजमनुष्याणां सकलसंयम ग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्ड-मागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहि-कसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रव-र्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्ह-त्वे प्रतिषेधाभावात्।" (गाथा नं० १९३)

लेशमात्र व्रतके प्रसादसे उत्तम गतिको प्राप्त होता है। तथा दूसरे स्थानपर लिखा है कि मातङ्ग (म्लेच्छ-विशेष) आदि मनुष्योंने शुद्ध एक (कर्मदहन) व्रत का पालन करनेसे सुखको प्राप्त किया है। यथा:—

"श्वपचो जिनधर्मेण कथितः श्रावकोत्तमः।"···
"श्वालको व्रतयोगेन देवत्वे जायते खलु।"···
"कीटोऽपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम्॥पृ० ३७०॥
"मातंगाद्याश्च ये मर्त्याः शुद्धैकव्रतपालनात्।
सुखमाप्ताः··············॥पृ० ३८१॥

जब इसी ग्रन्थके कथनानुसार श्वपच-मातंग ही नहीं किन्तु कुत्ता और कीड़ा भी व्रतका पालन कर सकता है तब एक म्लेच्छ पुत्र या पुत्री व्रतका अनुष्ठान करते हुए मरकर मनुष्य होनेपर भी व्रतका पालन न कर सके—सर्वथा व्रतहीन ही रहे—यह कैसे बन सकता है? अतः ग्रंथकारकी यह नई ईजाद अथवा व्यवस्था बिलकुल उसकी नासमझी पर अवलम्बित है, वास्तविकतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं और उसे एक उन्मत्तप्रलापसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसी तरहकी और भी कितनी ही बातें कर्मसिद्धांतकी विडम्बना को लिये हुए पाई जाती हैं, जिन्हें यहाँ छोड़ा जाता है।

स्त्रीजातिका घोर अपमान !

(१०) ग्रन्थके शुरूमें भगवान्के मुँहसे पंचमकालके भविष्यका वर्णन कराते हुए एक स्थान पर लिखा है:—

शीलहीना भविष्यन्ति वामास्तस्मिन्मदोद्धताः।
त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यन्ति कालदोषतः॥१००॥
लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी होका नराधिराट्!
शुद्ध शीलधरा नापि भविष्यन्ति न संशयः॥१०१॥

अर्थात्—पंचमकालमें स्त्रियाँ शीलरहित तथा मदोद्धत होंगी और कालदोषसे अपने पतिको छोड़कर नौकरसे भोग करेंगी। हे राजन्! लाखों-करोड़ों स्त्रियोंमें कोई एक स्त्री शीलवती होगी और शुद्धशीलका पालन करनेवाली तो कोई होगी ही नहीं!

इस भविष्यकथनके अनुसार भारतवर्षमें इस वक्त मनवचनकायसे प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध शीलव्रत का पालन करने वाली तो कोई स्त्री होनीही न चाहिये! जो किसी मजबूरी आदिके कारण कायसे शीलव्रतका पालन करती हों, उनकी संख्या भी ५० या ज्यादासे ज्यादा १०० के क़रीब होनी चाहिये—जैनसमाजकी स्त्रीसंख्या छहलाखके क़रीब है, इसलिये उनमें तो कोई एकाध स्त्री ही वैसी शीलवती होनी चाहिये। बाक़ी सब स्त्रियोंको व्यभिचारिणी समझना चाहिये!!

यह कथन प्रत्यक्षके कितना विरुद्ध और विपरीत है, उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं—देशकालका थोड़ासा भी व्यापकज्ञान रखनेवाले इसे सहजहीमें समझ सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर कहना होगा कि इसके द्वारा स्त्रियोंकी पवित्रता पर जो व्यर्थका निरर्गल आक्रमण और अविवेकपूर्ण भारी दोषारोपण किया गया है वह स्त्रीजातिका घोर अपमान है और एक ऐसा अपराध है जो क्षमा नहीं किया जा सकता। वास्तवमें भगवान महावीरके बादसे आज तक देशमें हजारों-लाखों देवियाँ पूर्णरूपसे पतिव्रत धर्मका पालन करनेवाली परमसुशीला, पतिपरायणा और देशकी गौरवरूपिणी हो चुकी हैं। उनकी यह अवज्ञा किसी तरह भी सहन नहीं की जा सकती। इस समयभी पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक शीलसम्पन्न तथा अधिक पवित्र जीवन बितानेवाली हैं और जो पतितभी होती हैं वे प्रायः पुरुषोंके द्वाराही पतनके मार्गमें लगाई जाती हैं; फिरभी पुरुषोंके शीलविहीन होनेकी बाबत ऐसा कुछ नहीं कहा गया, यह आश्चर्य है! और वह ग्रंथकारके पूर्ण अविचार तथा उसके किसी स्वार्थको सूचित करता है।

शूद्र-जलादि के त्यागका अजीब विधान !

(११) इस ग्रंथमें कुछ स्थानों पर शूद्र-स्पर्शित जल-घृतादिको त्याज्य बतलाते हुए लिखा है:—

निन्द्यं स्यात्सर्वमासेपु न्यादपानादिकं खलु ।
शूद्रकरेण संस्पृश्यं सदाचारविनाशकम् ॥१३३॥
मद्यमांसमधूनां यदशनाद्दोषो जायते ।
वै स्यात्तद्धस्तसंपर्कं वस्तुभक्षणतो बुधाः ॥१३४॥
ये पुनः शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतेषु च ।
चूर्णोदकाज्यं खादन्ति ते नरास्तत्समा मताः ॥१३५॥
शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं धृतं ग्राह्यं व्रताप्तये ।
नैव गृह्णन्ति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः॥१६०॥
—पृ० ३६, ३७, २१४

अर्थात्—शूद्रका हाथ लगा हुआ भोजन-पानादिक निश्चयसे सदाचारका विनाशक है, सभी महीनोंमें निन्द्य है (खानेके योग्य नहीं) । हे बुधजनों ! जो दोष मद्य-मांस-मधुके खानेसे लगता है वही शूद्रका हाथ लगी वस्तुके खानेमें लगता है । जो लोग भादोंके महीनेमें तथा व्रतोंमें शूद्रके हाथका जल, घृत और आटा खाते हैं वे शूद्रोंके समान माने गये हैं । व्रतकी (कर्मदहनव्रतकी) सिद्धिके लिये शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटा ग्रहण नहीं करना चाहिये; जो मूर्ख ग्रहण करते हैं वे शूद्रोंके समानही माने गये हैं ।

एक स्थान परतो यहाँ तक भी लिखा है कि 'जो लोग खानपानादि सम्बन्धी कामोंके लिये—उनकी तय्यारीमें सहायता पहुँचाने आदिके लिये* शूद्रोंको अपने घर पर (नौकर) रखते हैं वे श्रावक कैसे हो सकते हैं ? उन्हें निश्चयसे शूद्रोंके समान समझना चाहिये ।' यथाः—

शूद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षन्ति ते कथं मताः ।
खानपानादि कर्मार्थं श्रावकास्तत्समाः खलु॥पृ०३२॥

मालूम नहीं ये सब विधान कौनसी कर्मफिलासॉफी अथवा धर्मशास्त्रकी किस आज्ञासे सम्बन्ध रखते हैं ! और न यही कुछ समझमें आता है कि मात्र शूद्रके हाथका स्पर्श होनेसे ही भोजन-पानकी कोई सामग्री निन्द्य (सदोष) क्योंकर हो जाती है ? कैसे सदाचारकी विनाशक बनजाती है ? और उसके भक्षणसे मद्य-मांस मधुके भक्षणका दोष (पाप) किस प्रकार लगता है ? कोई मनुष्य महज भादों अथवा व्रतके दिनोंमें शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटेके लेनेसे ही—बिना शूद्रका कर्म किये अथवा शूद्रकी वृत्तिको अपनाये ही—शूद्र कैसे बन जाता है ? शूद्र बना देनेकी वह विशेषता जल, घृत और आटेको, ही क्यों प्राप्त है ? दूध, दही, गुड़, शक्कर, बूरा, खाँड दाल, चाँवल, तिल, तेल, गेहूँ-चना आदि सालिम अनाज और फल-शाकादिकको वह क्यों प्राप्त नहीं है ? यदि प्राप्त है तो फिर दोनोंमेंसे किसी भी श्लोकमें उनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? 'आदि' शब्द तकभी क्यों साथमें नहीं लगाया गया ? और प्राप्त होनेपर कोईभी मनुष्य शूद्रकी पदवी पानेसे वंचित कैसे रह सकता है ? इसी तरह बर्तन माँजने, चौका-चूल्हा करने, पानी भरने, दुग्धादि गर्म करने तथा लाकर देने, आटा छानने और शाकादि ठीक करने जैसे कामोंके लिये घरपर सत्‌शूद्रकी योजना होनेसे ही घरके लोग शूद्र कैसे बनजाते हैं ? बड़ा ही अजीब विधान है ! ! !

क्या ग्रंथकारकी दृष्टिमें सारेही शूद्र असदाचारी तथा मद्यमांसादिकके खानेवाले होते हैं और ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्योंमेंसे कोईभी असदाचारी तथा मद्य-मांस-मधुका सेवन करनेवाला नहीं होता है ? यदि ऐसा नहीं, बल्कि प्रत्यक्षमें हजारों शूद्र बड़े सदाचारी, ईमानदार तथा सफाईके साथ रहनेवाले देखे जाते

---

*जैसे बर्तन माँजना, चौकाचूल्हा करना, पानी भरना, दुग्धादि गर्म करना तथा लाकर देना, आटा छानना और शाकादि ठीक करना जैसे कामों के लिये ।

हैं और उनकी कितनी ही जातियाँ मद्य-मांसका स्पर्श तक नहीं करतीं; प्रत्युत इसके, लाखों ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य दुराचारी पाये जाते हैं, मद्य-मांसादिक का खुला सेवन करते हैं और कितनेही जैनीभी महादुराचारी तथा कुछ मद्य-मांसादिकका सेवन करने वालेभी नजर आते हैं, तब फिर शूद्रोंके विषय में ही ऐसा नियम क्यों ? उनके प्रति यह अन्याय क्यों ? और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंके साथ अनुचित पक्षपात क्यों ? क्यों ऐसा नियम नहीं किया गया कि जो लोग दुराचारी तथा मद्य-मांसादिकका सेवन करने वाले हों उनके हाथका भोजनपान नहीं करना—भलेही वे जैनी क्यों न हों ? यदि ऐसा नियम किया जाता तो वह कुछ समुचित एवं न्यायानुमोदित भी जान पड़ता और दिलकोभी लगता। प्रत्युत इसके, ऊपरका विधान बिलकुल जैनधर्मकी शिक्षाके बाहर है—शूद्रोंके प्रति घृणा, तिरस्कार एवं दूषित मनोवृत्तिका द्योतक है। जैनधर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद वृत्ति (आजीविका) के आश्रित हैं और इन सभीको जैनधर्मके पालनका अधिकारी बतलाया है—सभी लोग वर्णानुसार अपनी अपनी आजीविका करते हुए जैनधर्मका यथायोग्य पालन कर सकते हैं और जैनी होसकते हैं। शूद्र तो शूद्र, भीलों चाण्डालों एवं म्लेच्छों तकके, जैनधर्मको धारण करके जैनव्रतोंका पालन करनेके, उदाहरणों और विधानोंसे जैनग्रंथ भरे पड़े हैं, जिनका कुछ थोड़ासा परिचय लेखककी 'जैनी कौन हो सकता है' इस नामकी पुस्तकसे भी मिल सकता है। खुद इस ग्रंथमें भी एक स्थान पर 'व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयः' जैसे वाक्यके द्वारा व्रतपालन करते हुए शूद्रको श्रावक लिखा है; एक दूसरे स्थान पर श्वपच (चाण्डाल) के श्रावकोत्तम होनेका उल्लेख किया है और तीसरे स्थान पर मातंगादिकने कर्मदहनव्रतका पालन कर सुख पाया ऐसी सूचना की गई है। क्या एक शूद्र या मातंग (चाण्डाल), कर्मदहनव्रतका अनुष्ठान करता हुआ और इसलिये व्रतविधिके साथ अनुगत भगवान्का अभिषेक पूजनादि करता हुआ भी, खुद अपने हाथका भोजन न करके किसी ब्राह्मणादिके हाथका भोजन करता फिरेगा ? कैसी अजीब विडम्बना होगी ! ग्रंथकारको इन सब पूर्वापरसम्बन्धों आदिकी कुछ भी खबर नहीं पड़ी और उसने योंही बिना सोचे समझे उन्मत्तों की तरह जो जीमें आया लिखमारा !! और साथमें भगवान् महावीरको भी घसीटमारा; क्योंकि ये सब वाक्यभी उन्हींके मुखसे और उन्हींके शासनके विरुद्ध कहलाये गये हैं !!! जिस भगवान् महावीरने शूद्रोंका संकट दूर किया, उन पर होते हुए ब्राह्मणोंके अत्याचारोंका तीव्र विरोध कर उन्हें हटाया और उन्हें सब प्रकारकी धार्मिक स्वतंत्रता प्रदानकी, उसीके मुखसे शूद्रोंके प्रति ऐसे अन्याय तथा तिरस्कारमय शब्दोंका निकलना कब संभव हो सकता है और कौन सहृदय उसपर विश्वास कर सकता है ? कोई भी नहीं, और कभीभी नहीं।

भगवानकी मिट्टी खराब !

(१२) इस ग्रन्थमें भगवान् महावीरके मुखसे बहुतसा असम्बद्ध प्रलाप कराकर और अनेक आपत्तिके योग्य, पूर्वापरविरुद्ध, इतिहासविरुद्ध, सत्यविरुद्धतथा अपने ही शासनके विरुद्ध कितनी ही बेढंगी बातें कहलाकर और भगवानको अच्छा खासा मूर्ख, अविवेकी, अनुदार, साम्प्रदायिक कट्टर, विक्षिप्तचित्त, असभ्य अशिष्ट, कषायवशवर्ती और कलुषित हृदय क्षुद्रव्यक्ति चित्रित करके उसकी कैसी मिट्टी खराब कीगई है इसका कितना ही परिचय पाठकोंको अबतकके लेखों द्वारा प्राप्त हो चुका है। यहाँ पर दो तीन बातें और भी इसी विषयकी प्रकट की जाती हैं:—

(क) सम्मेदाचलके प्रकरणमें, कूटोंके नामादि सम्बन्धी …जा श्रेणिकके प्रश्नको लेकर, भगवान् महावीरसे सम्मेदशिखरका स्तोत्र* कराया गया है और उसमें उनसे "अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या तं तीर्थराजं शिवदायकं च", "ईडे सदा तं शिवदायकं च" जैसे वाक्योंके द्वारा सिर झुकाकर पर्वतराजकी पूजा वन्दना तक कराई गई है ! इतना ही नहीं, बल्कि इस स्तोत्रकी प्रतिज्ञाके अवसरपर भगवानको गणधरों, सर्व मुनियों तथा जिनवाणीके भी आगे नतमस्तक किया गया है —अर्थात् उन्हेंभी नमस्कार कराकर स्तोत्रकी प्रतिज्ञा कराई गई है !! यथा:—

नत्वा श्रीजिननायकान् गणधरान्देवेन्द्रवृन्दार्चितान्
मौनीन्द्रान् सकलान् तथा च सुखदां जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम्
वाणीं पापप्रणाशिकां मुनिनुतां सद्बुद्धिदां पावनीं
सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्रं करोमि शुभम् ॥
॥पृ० २६५॥

मालूम नहीं जिनेन्द्र पदवी और परम आर्हन्त्य दशाको प्राप्त भगवान महावीरका अपनेही उपासक गणधरों तथा मुनियों और अपनी ही वाणी के—अपने ही शास्त्रोंके—आगे सिर झुकानेका तथा पर्वतकी स्तुति-वन्दनाका क्या अभिप्राय और उद्देश्य हो सकता है ! वास्तवमें तो इस प्रकारकी स्तुति तथा पूजावन्दना जिनेन्द्रपदकी एकमात्र विडम्बना है अथवा यों कहिये कि ये सब भगवान् महावीरकी उपस्थिति तथा पोजीशनके विरुद्ध हैं जिसे लिये हुए वे केवलज्ञानके पश्चात् समवसरणमें स्थित थे। वे इन मुनियों आदिकी वन्दना और पर्वतोंकी स्तुति-पूजाके भावसे बहुत ऊँचे उठ चुके थे—उपासकों की इस श्रेणीसे ही निकल चुके थे,—और इसलिये उनसे इस प्रकारकी क्रियाएँ कराना सचमुच ही उनकी मिट्टी खराब करना है !! उन्हें एक तरहसे जलील (अपमानित) करना है !!!

(ख) कर्मदहनव्रतके फलकथनमें—जो राजा श्रेणिकको सुनाया गया है—मोक्षस्थानादिका वर्णन करते हुए, "ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे" इत्यादि श्लोकसे पहले—एक ही श्लोकके अंतरपर—निम्न श्लोक दिया है और उसके द्वारा भगवान् महावीर से मुक्त जीवोंके प्रति यह प्रार्थना और याचना कराई गई है कि वे उसे बोधि और समाधि प्रदान करें:—

ते मया संस्तुताः सर्वे चिन्मयाः कायवर्जिताः ।
मे समाधिं सुबोधिं च यच्छन्तु नोपराइह ॥११॥

इससे मालूम होता है कि समवसरण-स्थित भगवान् महावीर बोधि और समाधिसे विहीन थे ! उन्हें दोनोंकी जरूरत थी और इसलिये स्तुतिके अनंतर उन्होंने उनके लिये याचना की है !! और शायद इसीलिये उन्होंने, स्तुतिका प्रारंभ करते हुए, "किंचित् बुद्धिलवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वेस्तवं" इस वाक्यके द्वारा अपनेको थोड़ीसी बुद्धिकाधारक भी सूचित किया है !!! 'बोधि' अर्हद्धर्मकी प्राप्तिको, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को तथा पूर्ण ज्ञान (Perfect wisdom) को भी कहते हैं, और 'समाधि' स्वरूपमें चित्तकी स्थिरताका नाम है अथवा "प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्म्यं वा समाधिः" इस श्री विद्यानन्दके वाक्यानुसार धर्म्य और शुक्ल नामके प्रशस्त ध्यानों को भी समाधि कहते हैं। अब पाठकजन सोचिये, कि क्या केवलज्ञान और केवलसम्यक्त्व आदि क्षायिक गुणोंको पाकर अथवा परम आर्हन्त्यपदको प्राप्त होकरभी भगवान् महावीर बोधिसमाधिसे विहीन थे ?—उन्हें पूर्णज्ञान नहीं था ? स्वरूपमें उनका चित्त स्थिर नहीं था ? और वे प्रशस्त ध्यानी नहीं थे ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर ऐसे आप्तपुरुषों से बोधि-समाधिकी याचना कराना और उन्हें थोड़ी

*इस स्तोत्रमें राजा श्रेणिकको सम्बोधन करनेके लिये नृप, नृपते, मगधाधीश, नराधीश और चेलनापते जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है।

सी बुद्धिकाधारक प्रकट कराना उनकी तथा अर्हत्पद की मिट्टी खराबकरना नहीं तो और क्या है ? अर्हन्तोंसे तो दूसरे लोग 'दिंतु समाहिं च मे बोहिं' जैसे शब्दोंके द्वारा बोधिसमाधिकी प्रार्थना किया करते हैं; वे यदि खुद ही बोधिसमाधिसे विहीन हों तो उनकी उपासनासे इस विषयमें लाभ भी क्या उठाया जासकता है ? और उनकी अर्हन्तता अथवा आप्तताका महत्वभी क्या होसकता है ? कुछभी नहीं।

(ग) दिगम्बर तेरहपंथियोंसे भगवान्की झड़पके समय निम्नवाक्यभी भगवान्के मुखसे कहलाये गये हैं:—

अधुना पंचमे काले नो सन्ति भो बुधोत्तमाः ।
तीर्थंकराः सुरैः पूज्याः केवलज्ञानमंडिताः ॥८५॥
प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता ।
स्थापनायां मताः सर्वाः क्रियाः वै स्नपनादिकाः ॥१०३॥
कालेऽस्मिंश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते ।
नैव दृश्यन्ते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वराः ॥११३॥

इनके द्वारा भगवान महावीर कहते हैं—'हे उत्तम बुधजनों ! इसवक्त (अधुना) पंचमकालमें निश्चयसे केवलज्ञानमंडित और देवोंसे पूज्य तीर्थङ्कर नहीं हैं। प्रत्यक्षमें कोई केवली नहीं है, इसलिये केवलीकी स्थापना मानीगई है और स्थापनामें निश्चयसे अभिषेकादि सारी क्रियाएँ स्वीकार कीगई हैं। इस चलचित्तकारी और मिथ्यात्वसे पूरित (पंचम) कालमें महाव्रतोंको धरनेवाले श्रेष्ठ योगीन्द्र दिखलाई ही नहीं देते।'

भगवान् महावीर चतुर्थकालमें हुए हैं, वे खुद तीर्थङ्कर थे, केवली थे और उनके समयमें बहुतसे महाव्रतधारी गौतमादि योगीन्द्र मौजूद थे और बादको पाँचवेंकालमें भी भद्रबाहु, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और जिनसेनादि कितनेही श्रेष्ठ योगींद्र होचुके हैं जिन्हें इस ग्रंथमेभी 'इत्याद्या वरयोगीन्द्राः' जैसे शब्दोंके द्वारा 'वरयोगीन्द्र' प्रकट किया गया है (देखो, लेख नं० २); तब भगवान्का पंचमकालके साथ 'अधुना' शब्द जोड़कर अपने समयको पंचमकाल बतलाना, खुद तीर्थङ्कर तथा केवली होते हुएभी उस समय तीर्थङ्कर तथा केवलीका अभाव प्रकट करना और अपने सामने गौतमादिगणधरों जैसे महायोगीन्द्रोंके मौजूद होते हुएभी 'इस समय कोई महाव्रतधारी योगीन्द्र दिखलाई नहीं देते' ऐसा कहना कितना हास्यास्पद तथा आश्चर्यजनक है और उसके द्वारा भगवानका कितना गहलापन तथा उन्मत्तप्रलाप पाया जाता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। भगवानके मुँहसे इनवाक्योंको कहलाकर ग्रंथकारने निःसन्देह भगवानकी बड़ी ही मिट्टी खराब की है और उन्हें कोरा बुद्धू ठहराया है !

यदि भगवान कहीं इस समय सजीव देहधारी होते या देहधारण कर यहाँ आते और इस ग्रंथको देख पाते तो आश्चर्य नहीं जो वे यों कह उठते—

'जौहर थे खास मुझमें आप्तस्वरूपके ।
यों स्वाँग बना क्यों मेरी मिट्टी खराब की !!'

सचमुच ही इससारे ग्रंथमें भगवान महावीरका स्वाँग बनाकर और उससे अटकलपच्चू यद्वातद्वा कहलाकर उनकी खूब अच्छी तरहसे मिट्टी खराबकी गई है; उनके ज्ञान, श्रद्धान, विवेक, अकषायभाव, समता, उदारता, सत्यवादिता, सभ्यता, शिष्टता, पदस्थ और पोज़ीशन आदि सबपर पानी फेरागया है और उन्हें कठपुतलीकी तरह नचाते हुए विद्वानोंकी दृष्टिमें ही नहीं किन्तु साधारण जनोंकी दृष्टिमें भी बहुत कुछ नीचे गिराया गया है !! यह सब ग्रंथकार पं० नेमिचन्द्रकी धूर्तता, मूढता, अविवेक परिणति, कषायवशर्तिता, साम्प्रदायिक कट्टरता, स्वार्थसाधुता, क्षुद्रता और उस अहंकृतिका ही एक परिणाम जानपड़ता है जिसने उससे यह गर्वोक्ति तक कराई थी कि 'इस ग्रंथके श्रवणमात्रसे प्रतिपक्षीजन

मंत्रकीलित नागोंकी तरह मूकवत् स्थिर होजायेंगे—उन्हें इसके विरुद्ध बोलतक नहीं आएगा ! (देखो, लेख नं० २) ! वह अपनी अज्ञानता, विक्षिप्तचित्तता और अहंकारादिके वश हुआ भगवान महावीरके पार्टको इस ग्रंथमें ज़राभी ठीक तौरसे अदा नहीं कर सका—खेल नहीं सका !! उसने व्यर्थही अपने हृदय, अपने अज्ञान, अपने संस्कारों, अपनी कषाय वासनाओं, अपनी बातों और अपने कहनेके ढंग को भगवान महावीरके ऊपर लादा है !!! और इस लिये इसग्रंथको रचकर उसने जो घोर अपराध किया है वह किसी तरहभी क्षमा किये जानेके योग्य नहीं है। ऐसे महाजाली, झूठे, निःसार, अनुदार, प्रपंची और असम्बद्धप्रलापी एवं विरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण ग्रंथको किसी तरहभी जैन ग्रन्थ नहीं कहा जासकता। इसे जैनग्रन्थोंका भारी कलंक समझना चाहिये और इसलिये जितनाभी शीघ्र होसके इसका जैनसमाजसे बहिष्कार किया जाना चाहिये।

यह तो हुई प्रायः मूल ग्रन्थकी जाँच और परीक्षा अथवा विशेष आलोचना*। अब ग्रन्थके अनुवादको भी लीजिये। अगले लेखमें 'अनुवादककी निरङ्कुशता और अर्थका अनर्थ' शीर्षकके नीचे प्रायः अनुवादकी असत्यता अप्रामाणिकता एवं निःसारता और अनुवादककी कपटकला आदिका ही कुछ विशेष परिचय कराया जायगा और उसके साथ ही यह लेखमाला भी समाप्त होजायगी।

*इसमें ग्रन्थके भाषासाहित्यकी आलोचनाको जान बूझकर अनावश्यक समझते हुए शामिल नहीं किया गया, जो कि व्याकरणादि सम्बंधी बहुत कुछ त्रुटियों तथा दोषों से परिपूर्ण है और जिसके लिये प्रकाशकको भी उसके कुछ अशुद्ध प्रयोगोंको देखकर, यहाँ तक लिखनापड़ा कि वह "प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोषके अनुसार नहीं है"।

माफ़ी माँगी—श्रीमान ब्रह्मचारी बोधीचन्द्रजीने मुनीन्द्रसागर मंडलीके खिलाफ़ दक्षिणप्रान्तमें आन्दोलन उठाया था इससे खिसिया कर मुनीन्द्रसागर मंडलीकी ओरसे प्रकाशित "सद्धर्म-भास्कर" पत्रमें उनपर नीचतापूर्ण व्यक्तिगत आक्षेप किये गये थे। उक्त ब्रह्मचारीजीने पत्रके प्रकाशक व प्रिंटर पर फौजदारी केस चलानेके लिये नोटिस दिया तो यह लिखकर कि—"हम उस असत्य समाचारके लिये ब्रह्मचारीजीसे १०८ बार क्षमा चाहते हैं।" उन्होंने माफी माँग ली।
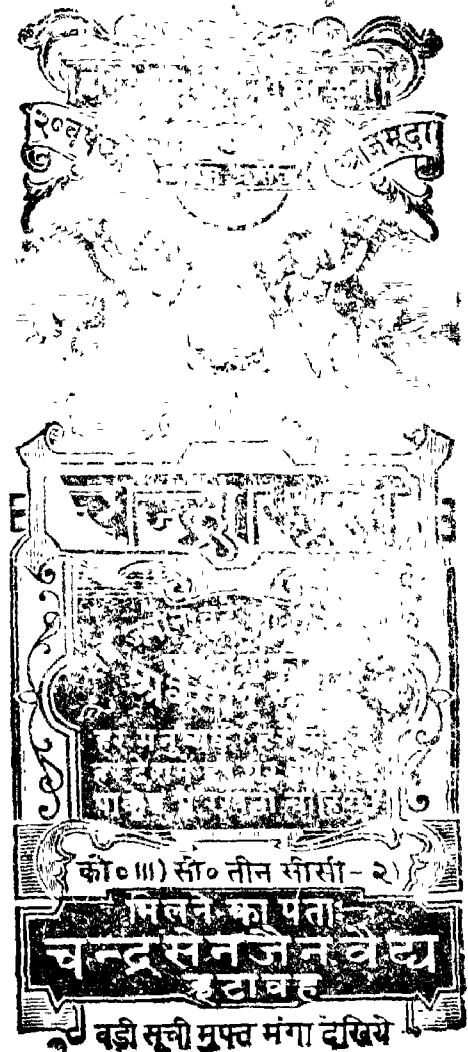
साहित्य और इतिहास।

(१०)

आचार्य कुन्दकुन्दका समय छठी शताब्दि।

समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसारके समान नियमसार भी भगवत्कुन्दकुन्दका ग्रन्थ समझा जाता है। इसकी सत्रहवीं गाथा इस प्रकार है:—

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णा दव्वं ॥

इसपर श्रीमलधारि पद्मप्रभदेवकी टीका है कि— "एतेषां चतुर्गतिजीवभेदानां विस्तारः लोकविभागाभिधान परमागमे द्रष्टव्यः।" अर्थात् इन चतुर्गतिजीवभेदों का विस्तार लोकविभाग नामके परमागममें देखना चाहिये। इससे मालूम होता है कि नियमसारकी रचना के पहले 'लोकविभाग' नामका कोई ग्रन्थ था, जिसमें जीवभेदादिका विस्तारसे वर्णन है।

जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में मेरा लिखा हुआ 'लोकविभाग और त्रिलोकप्रज्ञप्ति', शीर्षक एक विस्तृत लेख प्रकाशित हो चुका है, उसमें बतलाया है कि सर्वनन्दि नामके एक आचार्यका बनाया हुआ लोकविभागनाम का प्राकृत ग्रन्थ था जो कांचीके राजा सिंहवर्माके २२वें संवत्सरमें और शकके ३८० वें वर्षमें बनाया गया था और उसका अनुवाद (भाषायाः परिवर्तनेन) संस्कृतमें सिंहसूरिने किया, जो इस समय भी उपलब्ध है। प्राकृत ग्रन्थ अभी तक कहीं देखनेमें नहीं आया।

शक संवत ३८० विक्रमसंवत ५१२ में पड़ता है, अतएव नियमसार विक्रमकी छठी शताब्दिके पहलेका ग्रंथ किसीभी तरह नहीं हो सकता है और इसका अर्थ यह हुआ कि यदि वास्तवमें नियमसार कुन्दकुन्दकी ही रचना है, तो उनका समय भी छठी शताब्दिमें पहुँच जाता है।

यह समय सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉक्टर काशीनाथ बापूजी पाठक पी ऐच० डी०के मतसे भी ठीक मिल जाता है जो जैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था कलकत्ता द्वारा प्रकाशित "समयप्राभृत" की भूमिकामें प्रकाशित हुआ है। उसमें बतलाया है कि राष्ट्रकूटराजा तीसरे गोविन्दके शक संवत् ७१९ और ७२४ के जो दो ताम्रपत्र मिले हैं उनमें कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य और उनके शिष्य पुष्पनन्दि तथा प्रशिष्य प्रभाचन्द्रका उल्लेख है, अतएव ७१९ के प्रभाचन्द्रके दादागुरु तोरणाचार्य शकसंवत् ६०० के लगभग हुए होंगे और उनके आम्नायके प्रवर्तक उनसे १५० वर्ष पहले, अर्थात् शकसंवत् ४५० (वि० संवत् ५८५) के लगभग मान लेनेमें कोई हानि नहीं है। इसके सिवाय पंचास्तिकायके कनड़ी टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनके मतानुसार कुन्दकुन्दने अपना पंचास्तिकाय शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधके लिये लिखा था और ये शिवकुमार कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा हो सकते हैं जिनका समय शकसंवत ४५० के लगभग ही सिद्ध होता है। इस तरह डॉ० पाठकके मतसे भी भगवत्कुन्दकुन्द विक्रमकी छठी शताब्दिके ग्रन्थकार हैं।

इस समयको न माननेमें केवल दोही बातें कही जा सकती है, एक तो यह कि नियमसार कुन्दकुन्दकी रचना नहीं है और दूसरी बात यह कि जिस लोकविभागका उसमें उल्लेख है, वह इसके अतिरिक्त कोई और ही ग्रन्थ होगा।

(११)

कुन्दकुन्दके विषयमें एक विचारणीय बात।

आचार्य कुन्दकुन्दके विषयमें एक बात खास तौरसे विचारणीय है कि वे दिगम्बर सम्प्रदायकी एक खास आम्नायके प्रवर्तक थे, उनके ग्रन्थ—कमसे कम नाटकत्रय—सारे जैनसाहित्यमें अपनी जोड़ नहीं रखते, पिछले तमाम ग्रन्थकार और शिलालेखोंके लेखक उनका बड़े ही भक्तिभावसे स्मरण करते हैं, परन्तु हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेनने, आदिपुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनने और दूसरे प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थकारोंने उनका उल्लेख तक नहीं किया है। दोनोंही जिनसेन अपने पूर्वके तमाम कवियों,

मुख्य मुख्य तार्किकों, वैयाकरणों और धर्मशास्त्रियोंका सबका उल्लेख करते हैं; परन्तु कुन्दकुन्दका नाम तक नहीं लेते, यद्यपि उनसे बहुत पहले वे हो चुके थे। निदान शक-संवत् ७१९ तक तो उनकी आम्नायका उल्लेख मिलताही है। पार्श्वनाथ काव्यके कर्त्ता वादिराजसूरि प्रधान प्रधान सभी ग्रन्थकर्त्ताओंकी स्तुति करते हैं,परन्तु कुन्दकुन्द मानों उनकी दृष्टिमें हैं ही नहीं। भट्टाकलंकदेव, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्दि, अनन्तवीर्य आदि धुरन्धर विद्वान् भी उनका कोई ज़िकर नहीं करते हैं। इसका क्या कारण है ? इतिहासज्ञोंको इसपर शान्तिके साथ विचार करना चाहिये।

—नाथूराम प्रेमी।

(१२)

भगवान् नेमिनाथके समय पाँच महाव्रत और मुक्तिस्थान लोकाग्र।

उत्तराध्ययन आदि कई सूत्रग्रन्थोंसे यह प्रमाणित है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करोंको छोड़कर बीचके बाईस तीर्थङ्करोंके समय चार ही महाव्रत थे। मगर इस सम्बन्धमें 'नायाधम्मकहा' नामक श्वेताम्बर सूत्र एक दूसरी ही बात कहता है। इस सूत्रके पांचवें अध्ययनमें थावच्चापुत्र अनगारकी कथा है। उसमें लिखा है:—

सौगन्धिका नगरीमें शुक नामक परिव्राजक आये। उन्होंने सभामें व्याख्यान दिया। सुदर्शन सेठ भी उसमें शामिल हुए। परिव्राजकजीने अपना शौचमूलक धर्म बताया और सुदर्शनको वह पसन्द आगया। वे उसे मानने लगे। कुछ दिनों बाद उसी नगरीमें भगवान् नेमिनाथके तीर्थी थावच्चा अनगार आये। सुदर्शन सेठ उनके पास भी गये और वन्दना-नमस्कार करके उन्होंने पूछा—आपके मतमें धर्मका मूल क्या है ? थावच्चापुत्रने उत्तर में कहा—"हमारे मतमें विनय मूलधर्म है। विनय दो प्रकारका है—आगारविनय और अनगारविनय। आगार विनयमें पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ हैं; अनगारविनयमें पाँच महाव्रत हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से सर्वथा निवृत्त होना।" आदि। मूलपाठ यों है—

"सुदंसणा, विणयमूले धम्मे पण्णत्ते, सेविय विणये दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—आगारविणए य अणगारविणये य। तत्थणं जे से आगारविणए से णं पंच अणुव्वयाइं, सत्त-सिक्खावयाइं, एक्कारसउवासगपडिमाओ। तत्थणं जे से अणगारविणए से णं पंच महव्वयाइं तंजहा—× ×"

इस पाठका भाव ऊपर आ चुका है। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि भगवान् नेमिनाथके समय चार नहीं बल्कि पाँच महाव्रत थे। इस पारस्परिक विरोधका कारण क्या है, यह निर्णय करना कठिन है पर यह तो निश्चित ही है कि चातुर्याम और पंचयामके विषयमें मत-भेद है अतः निश्चित रूपसे कुछ कहनेसे पहले और पुष्ट प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

इस कथाकी एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। उत्तराध्ययनके केशी—गौतमसंवादके एक प्रश्नसे श्रीमान पं० दरबारीलालजीने यह निष्कर्ष निकाला है कि भगवान पार्श्वनाथके समय मुक्तात्माओंके ठहरनेका कोई स्थान निश्चित न था। यदि सूत्रोंका प्रत्येक शब्द सार्थक और रहस्यपूर्ण हो, जैसा कि 'सूत्र' की व्याख्यामें कहा जाता है तो उस प्रश्नोत्तरका यही निष्कर्ष निकलना चाहिए जो पण्डितजीने निकाला है, मगर इन सूत्रोंकी रचना-शैली परसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। 'सूत्र' की परिभाषा इन सूत्रोंको लागू नहीं होती। अतएव यह निष्कर्ष कहाँ तक ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। इसी थावच्चापुत्रकी कथामें आगे लिखा है कि उपर्युक्त दो प्रकारके विनयमूल धर्मसे आठ कर्मोंकी प्रकृतियोंका क्षय कर जीव लोकाग्रमें स्थित होते हैं—"दुविहेणं विणयमूलेणं धम्मेणं अनुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता लोयग्ग पयट्ठाणा भवन्ति।"

इस पाठसे सिद्ध है कि भगवान पार्श्वनाथके समय में ही नहीं बल्कि उनसे भी पहले नेमिनाथके समय में भी यह बात निश्चित था कि मुक्तात्मा लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं।

'नायाधम्मकहा' उत्तराध्ययन से अधिक प्राचीन है, इसलिए दोनों के मुकाबिलेमें इसीका पलड़ा झुकता रहेगा और फिर दूसरी बात यह भी है कि उत्तराध्ययन के संवाद में भी मुक्तात्माओंके निवास-स्थानकी निश्चित-

ताका निषेध नहीं किया गया है, केवल स्थानके सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है। प्रश्न करने मात्रसे यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि प्रश्नके समय तक वह विषय अनिश्चित ही था। प्रश्नके अनेक कारण हो सकते हैं। संभव है केशी स्वामीको वैयक्तिक संशय हो जिसके समाधानके लिए उन्होंने ऐसा प्रश्न किया हो!

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ।

सम्पादकीय नोट—'नायाधम्मकहा' एक ऐसे उदाहरणों की पुस्तक है जो उदाहरण भगवान महावीरने मुनि आर्यिकाओंको चारित्रमें स्थिर रखनेके लिये समय समय पर दिये थे। अधिकांश उदाहरण कल्पित तथा कुछ उस समयके लोकप्रचलित है। उनकी मन्यता इतनी ही है कि वे एक सत्यसिद्धान्तको स्पष्टकरनेवाले है तथा प्रभावशाली हैं। यह बात 'नायाधम्मकहा' मेंभी सिद्ध होती है। प्रथम अध्ययनके अन्तमें कहागया है—'हे जम्बू! श्रमण भगवान महावीरने इस प्रकार शिष्यको समझानेका ढंग अपनेको बताया है"। मतलब यह कि नायाधम्मकहा ऐतिहासिक पुस्तक नहीं है, परन्तु समझानेके लिये उपस्थित कियेगये उदाहरणोंकी पुस्तक है। वे कथाएं ऐतिहासिक नहीं हैं।

यद्यपि नायाधम्मकहामें थावच्चापुत्तके मुँहसे पाँच महाव्रतोंके नाम कहलायेगये हैं किन्तु इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि जिससमय 'नायाधम्मकहा' की रचना हुई उससमय पाँच महाव्रत थे। कोई किसीभी तीर्थका पात्र हो परन्तु उसे अगर जैन कहा जाय तो उसी युगके अनुसार उसका चित्रण किया जायगा जिस युगमें वह पुस्तक बनरही है। ग्रंथकार जानबूझकर अगर विशेष प्रयत्न न करे तो वह अपने समयके अनुसारही हरएक बातका चित्रण कर देता है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराणमें ऋषभयुगमें ऐसी अनेक बातोंका चित्रण करदिया है जो ऋषभयुगमें सम्भव न थीं किन्तु वे जिनसेन के युगके समयकी थीं। गुरुतत्त्वविनिश्चयमें एक जगह नेमिनाथके पहिले शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थके दर्शनोंका वर्णन है। एक साधारण आदमी समझ सकता है कि नेमिके पहिले नमिनाथके तीर्थमें पार्श्वनाथके मंदिर कहाँसे बन गये? हरिवंश पुराण (दूसरा सर्ग) में महावीरके उपदेशमें अंगबाह्य भी कह दिया गया है, यहाँ तक कि दशवैकालिक उत्तराध्ययन वगैरहका नामभी लिया गया है। परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि दशवैकालिक आदि अंगबाह्य ग्रंथ वीरनिर्वाणके बहुत वर्ष बाद बने हैं। अङ्गबाह्य साहित्य तीर्थङ्करोंके उपदेशको नहीं कहते। इस तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जासकते हैं। थावच्चापुत्त नेमितीर्थके होंगे परन्तु नायाधम्मकहा उस युगकी पुस्तक नहीं है। वह जबकी थी तभीके अनुसार जैनधर्मका परिचय दिया गया है।

सूत्रसाहित्यका प्रत्येक शब्द सार्थक नहीं है। वह बहुत अव्यवस्थित और पुनरुक्त है इसीलिये मैंने केशी गौतम संवादमें मुक्तिस्थानकी अनिश्चितताका बीजपाया है। हम उन शब्दोंको ठीक न मानें परन्तु इतनातो कह सकते हैं कि केशी गौतममें मुक्तिके स्थानके विषयमें चर्चा हुई थी। केशी गौतमका सम्मेलन मतभेदोंके निराकरण केलिये था इसलिये साधारणतः यह कहा जासकता है कि इस विषयमें भी कुछ मतभेद था। यदि इसे केशीजी का वैयक्तिक संशय कहाजाय तोभी बातमें विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि पार्श्वतीर्थके एकमात्र प्रधान प्रतिनिधि केशीजी थे। उनका संशय पार्श्वतीर्थका संशय था। तथा यह बात बहुत कम सम्भव है कि केशीजीको पार्श्वनाथके द्वारा बताये गये मुक्तिस्थानका या मुक्तिस्वरूपका भी पता न हो। उस ज़मानेके अन्य श्रमणसंघोंमें मुक्तिके विषयमें जैसी अनेक कल्पनाएँ थीं उन्हें देखते हुएभी यह कहा जासकता है कि पार्श्वनाथके तीर्थमें मुक्तिके विषयमें कुछ अनिश्चितता या अन्यकल्पना रही हो। थावच्चापुत्तकी कथामें जो लोकाग्रस्थित मोक्षका वर्णन आया है उसका कारण यह है—नायाधम्मकहाकी रचना करनेवाले महावीर के शिष्य थे और उनके ज़मानेमें मुक्तिस्थान निश्चित था।

सूत्रसाहित्यमें सूत्रका लक्षण नहीं जाता, इसलिये यह मूलसाहित्य नहीं है—यह नहीं कहा जासकता। जैन सूत्रोंके समान बौद्धग्रन्थोंके सूत्र भी खूब लम्बे और पुनरुक्ति पूर्ण हैं जिनका संकलन सवादोहज़ार वर्ष पहिले हो चुका है। जैन और बौद्धोंका विशाल और प्राचीन साहित्य अगर सूत्र कहा जाता है तो कोषमें सूत्रकी परिभाषा

बदलना पड़ेगी। "सूत्रं सूचनकं स्मृतं" यह आजकी सूत्र व्याख्या है परन्तु ढाई हज़ार पहिले सूत्रकी यही व्याख्या प्रचलित थी, यह नहीं कहा जासकता।

सूत्रशब्दके अनेक अर्थ हैं। सूचनाग्रन्थ, तन्तु, और व्यवस्था आदि। सूत्रं तु सूचनाग्रन्थे सूत्रं तन्तुव्यवस्थयोः —विश्वलोचन।

यहाँ सूत्रका अर्थ व्यवस्था भी बतलाया गया है। नाटकोंमें भी व्यवस्थापकको सूत्रधार कहते हैं। बौद्धसाहित्यमें धर्मग्रन्थोंको सूत्र कहा गया है। बुद्धके उपदेश दो प्रकारके थे, एक साधारण-धर्म और दर्शनके विषयमें, दूसरे भिक्षुभिक्षुणियोंके नियम। पहिलेको 'धर्म्म', कहते हैं, दूसरेको विनय। 'धर्म' को पालीमें 'सुत्त' या 'सुत्तन्त' भी कहते हैं। इस तरह 'सुत्त' शब्दका प्रयोग व्यवस्थापक धर्मग्रन्थोंके विषयमें हुआ है और पीछेसे वह समग्र धार्मिक साहित्य जो महावीर आदि प्राचीन महात्माओंके मुँहसे कहा गया है, सूत्र शब्दसे कहा जाने लगा है।

जैन बौद्ध सूत्रोंके लिये पुराने समयमें 'सुत्त' कहते थे। संस्कृत पंडितोंने इसका संस्कृतरूप 'सूत्र' बनाया, तबसे उस साहित्यको 'सूत्र' कहने लगे। परन्तु 'सुत्त' का संस्कृतरूप 'सूत्र' भी होता है और 'सूक्त' भी होता है। सम्भव है कि प्राचीन युगमें 'सुत्त' शब्दका उपयोग 'सूक्त' के लिये किया गया हो, पीछेसे वह 'सूत्र' समझा जाने लगा हो। महापुरुषोंकी उक्तियोंको 'सूक्त' कहते हैं और यह अर्थ जैन सूत्रसाहित्यमें अच्छी तरह घटता है। वेदसाहित्यमें 'सूक्त' शब्द खूब प्रचलित है। ऋग्वेदके अनेक सूक्त और सूक्तोंके अनेक मन्त्र हैं। इस प्रकार सूक्त शब्दका उपयोग महान् ग्रन्थोंमें होता रहा है।

जैनसाहित्य पहिले सुत्त कहलाता था। उसका 'सूक्त' रूप बनाया जाय चाहे 'सूत्र', दोनोंमें ही कोई आपत्ति नहीं है। विस्तृत वैदिकसाहित्य और बौद्धसाहित्य भी इस बातका साक्षी है।

दिगम्बर सम्प्रदायमें भी द्वादशांग वाणीको 'सुत्त' कहा गया है—'सुत्तं गणहरकहियं'। षट्पाहुड़ आदिके प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध है। दिगम्बर शास्त्रोंके अनुसार एक पदमें १६ अर्ब ३४ करोड़ ८३०७८८८ पद होते हैं, और कुल द्वादशांगमें एक अर्ब १२ करोड़से भी अधिक पद हैं। जब इतने बड़े बड़े पदों वाले साहित्यको 'सुत्त' कहागया है तो वर्तमान उपलब्ध श्वेताम्बर साहित्य तो इस मापके अनुसार एक पद भी नहीं है। इसलिये श्वेताम्बर साहित्य विशाल होनेसे सुत्त न कहा जाय, यह कहना ठीक नहीं है।

शैतानकी पूजा या धर्ममें जड़ता।

(ले०—श्रीयुत् हेमचन्द्रजी जैन, बम्बई)

ईराक देशमें एक नये सम्प्रदायका पता लगा है जो देखने सुननेमें बड़ा विचित्र मालूम होता है। यह संप्रदाय पारसी, ईसाई, यहूदी, और इस्लामधर्मका विचित्र मिश्रण है। ये लोग मोसल तथा मरुभूमिके आसपास रहते हैं। इनकी जनसंख्या करीब एक लाख है।

सबसे विचित्र बात यह है कि ये लोग शैतानकी पूजा करते हैं। सेमिटिक धर्मों (ईसाई-यहूदी-इस्लाम) में शैतानको ईश्वरका द्वेषी तथा दुनियाँको पापकी ओर ढकेलनेवाला माना है। उसी शैतानकी ये लोग पूजा करते हैं। उनका कहना है कि शैतान एक अतिप्राकृतिक जीव है जो ईश्वरके आदेशानुसार संसारका शासन करता है। चूँकि ईश्वर हमारी पहुँचके बाहर है और सीधे तौरसे उसकी पूजा नहीं की जासकती, हमें शैतान की पूजा करना योग्य है, हमारा सारा मतलब शैतानके प्रसन्न करनेसे ही सिद्ध हो सकता है।

इस संप्रदायका नाम यज़िदी है। ये लोग शैतानसे इतना डरते है कि वे कभी भूलकर भी 'शैतान' नामको मुँहसे नहीं निकालते और न "शै" अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाले किसी शब्दका ही उच्चारण करते हैं। ये लोग सफ़ेद बैलकी बलि भी अपने देवताके आगे देते हैं।

शैतान इनके लिये पापका देवता नहीं है, परन्तु शक्तिका देवता है। मोर की मूर्तिको ये लोग शैतानका वाचक (संजक) मानते हैं और उसे मलिक ताऊस (मोरफ़रिश्ता) कहते हैं। यह सम्प्रदाय इस्लामका भ्रष्ट Degenerate रूप माना जाता है और धीरे धीरे नष्ट होरहा है।

जिन्होंने धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन किया है तथा जो सत्यको समझते हैं उनके लिए इस्लामका या अन्य किसी धर्मका ऐसा परिवर्तित रूप आश्चर्यका विषय नहीं है। करीब करीब प्रत्येक प्राचीन धर्म कालानुक्रमसे इसी रूपको प्राप्त हुआ करता है। धर्म कुछ स्वयंसाध्य या उद्देश्य नहीं है, वह तो केवल साधन मात्र है। पुराने साधन बेकाम होते रहते हैं और नये बना करते हैं। पुराने पड़ने पर धर्मकी वही दुर्दशा होती है जो कि यज़दी लोगोंमें इस्लामकी है। फिर आवश्यकता रहती है नई जड़ नये ढाँचे पर नये धर्मकी रचना करनेकी अथवा पुरानेका जीर्णोद्धार करनेकी। ये दोनों ही काम प्रत्येक धर्ममें साथ ही साथ तथा व्यतिहार, संधान और संहार Permutation, Combination and Destruction से हुआ करते हैं।

संज्ञाभेद (नामकी विभिन्नता) यदि छोड़ दिया जाय तो दिख पड़ता है कि प्रत्येक धर्मके मूलतत्त्व एक ही हैं। शैतान और ईश्वर, असुर और सुर, असत्य और सत्य, प्रकृति और पुरुष, माया और ब्रह्म, अविद्या और विद्या तथा जैनधर्मका कर्म और आत्मा एक ही तत्त्वज्ञान के विभिन्न नाम हैं जो विभिन्न देश, काल और व्यक्तिके अनुसार उत्पन्न हुए हैं।

प्रत्येक वस्तुका बाह्य उसके आन्तरस्वरूपसे विशेष आकर्षक और आडम्बरपूर्ण होता है। वस्तुके भीतरी स्वरूपमें साधारण लोगोंको कोई आकर्षण नहीं होता। जिसमें ज़्यादा टीमटाम और तड़क भड़क होती है वही धर्म मूर्ख जनताको प्रिय होता है। इस टीमटामका लोभ इतना तीव्र सिद्ध हुआ है कि जैनधर्म सरीखे ऋजु धर्म को भी बहुत तड़क भड़क धारण करना पड़ा है। रथोत्सव, आदि उत्सव जिन्हें मूर्ख पण्डित, प्रभावना कहते हैं इसी तड़क भड़क, टीमटामकी पूजा मात्र हैं। पत्थर की मूर्तिके बदले हीरे माणिककी मूर्तिका विशेष आकर्षण, साधारण चैत्यके स्थानपर बड़े बड़े शिखरयुक्त महलोंका आकर्षण, घरके मन्दिरोंको छोड़ गिरनार आदिके पहाड़ों का आकर्षण इस बातको सिद्ध करता है कि हम कितने परिमाणमें भगवानूके बदले भगवानूकी मूर्ति की, पत्थरके बदले हीरे माणिककी, मन्दिरोंको छोड़ उनके शिखरोंकी और घर छोड़ पहाड़ोंकी भक्ति और पूजा करने लगे हैं। आत्मद्रव्यको छोड़कर हम अनात्मद्रव्यकी पूज कररहे हैं— इसी बातको यदि हम दूसरे लफ्ज़ोंमें कहें तो कहना पड़ेगा कि ख़ुदाको छोड़ हम शैतानकी पूजा करने लगे हैं।

यही बात तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें भी हुई है। जिस प्रकार यज़िदी लोग शैतानके नामसे काँपते हैं उसी प्रकार हमारे धार्मिकमन्य भाई कर्मों या पापोंके नामसे काँपते हैं। आलू और बैंगनसे वे इतना डरते हैं जितना शायद यमराजसे भी न डरते हों। कर्मकी या शैतानकी यह कितनी बड़ी गुलामी है?

जैनधर्मका काफ़ी साहित्य पढ़नेपर भी यह भासित न हो सका कि जैनधर्म कर्मकी गुलामी सिखाता है। जहाँतक मैं समझता हूँ जैनधर्मका विशाल कर्मसाहित्य चिल्ला चिल्लाकर कर्मोंकी व्यर्थता साबित कर रहा है। वह कहता है कि कर्म परमार्थमें कुछ नहीं है, इनकी विशेष पर्वाह करना मूर्खता है, अनन्तवीर्यवान आत्मा ही सबकुछ है और वह इन्हें एक क्षणमें विनाश कर सकती है। कर्मों से कर्म नष्ट नहीं हो सकते, शुभकर्म सोनेकी बेड़ी हैं तो अशुभकर्म लोहेकी। मुक्तिका एकमात्र उपाय पुरुषार्थ करना है। पुरुषार्थ करते जाओ और किसी भी कर्मकी पर्वाह मत करो; सब विघ्न अपने आप दूर हो जाँयगे।

जैनेतर धर्मोंमें भी कर्मवाद पाया जाता है, परन्तु उस कर्मवादमें और जैनकर्मवादमें बड़ाभारी अन्तर है। जैनधर्मका कर्मवाद पुरुषार्थवाद पर अवलम्बित है, जब कि जैनेतर कर्मवाद भाग्यवाद पर अवलम्बित है। परन्तु हम लोग ऐसे मूर्ख हैं कि कर्मोंका सामना करनेमें तो कायरता बतलाते हैं परन्तु उनकी संख्या गिननेमें, उनके जातिभेद करनेमें ही पांडित्यकी इतिश्री समझते हैं। तथा शुष्क भाग्यवादमें तो हम अन्यमतवालोंसे भी

अधिक बढ़ गये हैं। यही कारण है कि दिनपर दिन हम अकर्मण्य और आलसी होते जाते हैं।

श्वेताम्बर दिगम्बरका भेद तथा ऐसेही अन्य भेद इसी शैतानपूजा या कर्मपूजाके कारण ही पैदा हुए हैं। सभी धर्मों और देशोंके आध्यात्मिक साहित्यका अवलोकन करनेसे एक ख़ास ध्यान देने योग्य बात यह प्रकट होती है कि जो लोग निरन्तर अध्यात्मचिन्तनमें लीन रहते थे उनकी एक ऐसी उन्मत्तवत् अवस्था हो जाती थी जिसमें उन्हें अपने शरीरकी ज़राभी पर्वाह नहीं रहती थी। वे कभी प्रयत्नपूर्वक वस्त्रादि नहीं पहिनते थे और इस कारण अधिकांश नग्न ही रहते थे। ऐसी जिनकी अवस्था हो जाती थी वे जीवन्मुक्त आदि शब्दोंसे वाच्य होते थे। इसी प्रकार सच्चे मुनि या साधु वे ही हैं जिन्होंने प्रयत्नपूर्वक मुनि या साधुवेश धारण नहीं किया है, परन्तु जिनकी प्रवृत्ति स्वभावसे ही उस रूपमें हुई है। जो लोग प्रयत्नपूर्वक नग्न रहते हैं या साधु होते हैं उनमें वह बात नहीं आ सकती जो स्वभावज नग्नता या साधुत्वमें होती है। प्रयत्नपूर्वक मनुष्य जो काम करता है वह रागद्वेषरूप कर्मोंके वश होकर ही करता है और ऐसा करना कुछ नहीं है—कर्मोंकी या शैतानकी गुलामी ही है। इस प्रकार श्वेताम्बर—दिगम्बर भेद इसी शैतानकी करामात है।

सच्चा श्वेताम्बरत्व दिगम्बरत्व का विरोधी नहीं हो सकता परन्तु प्रयत्नपूर्वक दिगम्बरत्वका विरोधी है। इसी प्रकार सच्चा दिगम्बरत्व, प्रपंचरूप प्रयत्नपूर्वक—दिगम्बरत्व का कभी समर्थन नहीं कर सकता। देखाजाय तो श्वेताम्बर—दिगम्बरत्वमें कोई भेद नहीं है।

स्वभावज साधुत्वके नमूने वर्तमान समयमें महात्मा गाँधी, महात्मा भगवानदीनजी आदि बीसियों दिये जा सकते हैं। इन लोगोंने साधुत्वकी दीक्षा नहीं लीहै, फिर भी वे साधु हैं। अभी इन लोगोंमें स्वभावज नग्नत्व शायद उत्पन्न नहीं हुआ है। यहभी संभव है कि स्वभावज नग्नत्व उत्पन्न हुआ हो परन्तु प्रयत्नपूर्वक वे उसे रोक रहे हों।

महावीर स्वामीके सच्चे अनुयायी यदि आप होना चाहते हैं तो यह कर्मोंकी गुलामी छोड़ो। दृढ़ और सच्चा निश्चय रक्खो कि कर्म हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, कर्म हमारे गुलाम हैं, हम उनके गुलाम नहीं हैं। हम जैसे चाहें उन्हें नचा सकते हैं। हमें नचानेका उन्हें कोई अधिकार नहीं है। हमेशा आत्माको मज़बूत, शक्तिशाली और ज्ञानवान बनाये रखनेका प्रयत्न करना, मनमें उठनेवाली प्रत्येक हलचलका, प्रत्येक भावका सूक्ष्म अध्ययन करते रहना, दूसरे शब्दोंमें बहिर्मुख न होकर अंतर्मुख होनाही उन्नतिका राजमार्ग है, कर्मोंकी गुलामीसे मुक्त होनेका मार्ग है। यदि इस मार्गपर हम चलते रहेंगे तो साधुत्व, नग्नत्व आदि सभी बाह्य लक्षण स्वाभाविक तौरसे प्रकट होते जाँयगे और शीघ्रही जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो सकेगी। अपनी वृत्तियोंको अन्तर्मुख किये बिनाही यदि हम ज़बर्दस्ती स्मशानवैराग्यसे साधुहो जाँयगे तो शीघ्रही गिरेंगे और हमारा पता हज़ारोंवर्षों तक न चलेगा। अन्तर्मुख प्रवृत्ति करके यदि हम अपनी आजीविकाके लिये चांडाल से भी बदतर रोज़गार स्वीकार करेंगे तो भी हमारी निरंतर उन्नति होती जायगी और कोईभी कर्म हमारा कुछभी नहीं बिगाड़ सकेगा। कर्मोंसे छूटनेका सबसे सरल उपाय उनकी पर्वाह न करना है। पर्वाह करनेवाले कर्मके जालमें पड़कर कोई सुख—स्वर्गादि, प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु मुक्त नहीं हो सकते।

यहाँ कोई प्रश्न पूछ सकता है कि हम यह कैसेजानें कि हमारी यह वृत्ति स्वभावज है या प्रयत्नपूर्वक ज़बरजोरीसे उत्पन्नकी हुई है। यह जाननेकी सबसे अच्छी पद्धति यह है कि पहले हम एकांतमें बैठकर आत्मनिरीक्षण करें। आत्मनिरीक्षणका अर्थ अपने मन, अपने विचार आदिको स्वतंत्र छोड़कर एकाग्रतासे यह देखना है कि अब वे क्या करते हैं, किस ओर जाते हैं। यह पता लगनेपर हमें चाहिए कि हम अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिको अधिक शिक्षित करें और फिर उनके अनुसार कार्य करें। तदनुसार कार्य करनेपर यदि हमें तकलीफ़ मालूम होतीहो, मनमें क्षोभ और ग्लानि उत्पन्न होतीहो, प्रसन्नताका अभाव मालूम होता हो, कष्टसा मालूम होता हो तो समझना चाहिए कि उक्त प्रवृति हमारी स्वाभावज नहीं है। जिस ओर हमारी प्रवृत्तियाँ बिनापूछे और बिना रुकावटके जासकतीहों उन्हेंही हमें अपनी स्वाभाविक वृत्तियाँ समझनी चाहिए।

वाले चाबुक सवारोंकी तरह मनुष्यों को सधानेका काम करनेवाले नहीं मिलते हैं। सबही प्रकारकी विद्या पढ़ाने वाले और हुनर सिखानेवाले तो बहुत हैं परन्तु मनुष्य को मनुष्य बना देनेका काम करनेवाले नहीं हैं। ऐसी पुस्तकोंकी भी कमी नहीं है जिनमें मनुष्यत्वका वर्णन खूब विस्तारके साथ मिलता है। कालिज और स्कूलके विद्यार्थियोंको, यहाँ तक कि छोटे २ बच्चोंको उनकी पाठ्य पुस्तकोंमें पग पग पर मनुष्यत्व ही बताया जाता है। मास्टर लोग भी बात बातमें इसहीका उपदेश सुनाते रहते हैं, परन्तु पढ़ाना और सुनाना एक बात है और सधाना दूसरी बात। यही कारण है कि कालिजोंसे पढ़कर निकलनेवाले बी. ए. और एम. ए. मनुष्यत्व पर व्याख्यान देना तो खूब जानते हैं परन्तु वे स्वयमभी मनुष्यत्वका व्यवहार करते हैं या नहीं, यह कहना बहुत मुश्किल है। दूसरे लोगोंके साथ उनका मनुष्यत्वका व्यवहार करना तो बहुतही बड़ी बात है, यदि अपने माता पिता और स्त्री पुत्रके साथभी उनका व्यवहार मनुष्यत्वकासा होने लगे तो बहुत है। यहाँ तक कि स्वयम् अपने साथभी यदि वे मनुष्यत्वका व्यवहार करनेलगें तो सब कुछ है। परन्तु बातें चाहे जितनी बनवालीजिये, क्रिया रूप तो वे इसही प्रकार प्रवर्तते हैं जैसा कि अन्य सर्वसाधारण अपनी कषायोंके वश प्रवर्तते हैं।

कारण इसका यहही है कि मनुष्यत्व उनको पढ़ाया गया है, किन्तु उनकी प्रवृत्ति उसही रूप होजानेके लिये उनको सधाया नहीं गया है। इससे लाभ तो कुछभी नहीं हुआ है किन्तु एक हानि ज़रूर होगई है कि वह अपने माता पिता आदिसे अपनेको ज्ञानमें अधिक समझकर उनको तुच्छ समझने लगते हैं और उनकी बातोंपर कुछभी ध्यान नहीं देते हैं। अनपढ़ गँवार और मूर्ख लोग यद्यपि मनुष्यत्वको नहीं जानते हैं परन्तु इतना ज़रूर मानते हैं कि हम अनजान और मूर्ख हैं। इसही वास्ते वे अपनेसे बड़ोंका आदर करते हैं और उनके अनुभवोंसे लाभ उठानेके लिये हरवक्त उत्सुक रहते हैं। उनके उपदेशों और ताड़नाओंको अपने लिये बहुतही लाभदायक समझकर सहन करते हैं और कभी भी उनके सामने उद्धत नहीं होते हैं। किन्तु ये पढ़े लिखे घमंडी तो अपने सामने किसीको कुछभी नहीं समझते हैं। स्वयम् तो इनको संसारका कुछ अनुभव होता नहीं है और जो इनके हितचिन्तक हैं, जिन्होंने अनेक धक्के मुक्के खाकर, अनेक प्रकारका हानि लाभ उठाकर बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर लिया है उनकी कुछ सुनते नहीं। तब सिवाय इसके कि स्वयम् धक्के खायें, नुक़सान उठायें और क्या हो सकता है? यह दशा देखकर माता पिता बहुत कुढ़ते हैं और दुखी होते हैं। अपने इस प्यारे पुत्रको हमने अपनी जानसे भी ज़्यादा रक्खा, अपने आपेको हमने इस पर वार वार दिया, हमने सब प्रकारकी तकलीफ़ उठाई पर इसको कोई तकलीफ़ नही उठाने दी, अपनी वितसे बाहर हमने इसकी इच्छाओंकी पूर्तिकी और वितसे ही बाहर खर्च करके इसको उच्चशिक्षा दिलाई जिसका परिणाम यह निकला कि वह बिल्कुलही उद्धत और बेपरवाह होगया। बात बातमें वह हमको मूर्ख बताता है और हमारी बातों पर कुछभी ध्यान नहीं देता है। खैर वह हमें मूर्ख समझे वा चाहे जो समझे पर अपने लिये तो वह अपने हितका कोई मार्ग निश्चित करले जिससे उसकी आयु तो सुखसे बीतने लगजावे और हमको शान्ति मिलजावे। हमको अपने लिये तो उससे कुछभी नहीं चाहिये। हमको जो कुछ चिन्ता है उसहीके हितकी है, वह यदि अपने हितका रास्ता ठीक करले तो हम निश्चिन्त हो जावें और मानो सबकुछ भर पावें।

ऐसेही गिचपिचमें माता पिता दुखी होकर विचलित होजाते हैं। क्रोधमें भरकर बात बातमें उसका तिरस्कार करते हैं। अपने दिलकी जलन मिटानेके लिये लोगोंसे उसकी बुराई करते फिरने लगजाते हैं, यहाँ तककि उसके सामने भी लोगोंसे उसकी बुराई करते हैं जिससे वह शर्मिन्दा होकर उनके बसमें आजाय और सीधे रास्तेपर लगजाय। परन्तु परिणाम बिल्कुलही इसके विपरीत होता है। बात बातमें तिरस्कार होनेपर किसी किसीको तो यह तिरस्कार असह्य होजाता है और वह मुकाबिला करने लगजाता है और जो सहन करता है। वह विचार करता है कि देखो ये मेरे माता पिता जो ज्ञानमें और विद्यामें मेरेसे बहुतही कम हैं बात बातमें मेरा तिरस्कार करते हैं और मैं उनको अपना पूज्य मानकर सबकुछ सहन करता

वाले चाबुक सवारोंकी तरह मनुष्यों को सधानेका काम करनेवाले नहीं मिलते हैं। सबही प्रकारकी विद्या पढ़ाने वाले और हुनर सिखानेवाले तो बहुत हैं परन्तु मनुष्य को मनुष्य बना देनेका काम करनेवाले नहीं हैं। ऐसी पुस्तकोंकी भी कमी नहीं है जिनमें मनुष्यत्वका वर्णन खूब विस्तारके साथ मिलता है। कालिज और स्कूलके विद्यार्थियोंको, यहाँ तक कि छोटे २ बच्चोंको उनकी पाठ्य पुस्तकोंमें पग पग पर मनुष्यत्व ही बताया जाता है। मास्टर लोग भी बात बातमें इसहीका उपदेश सुनाते रहते हैं, परन्तु पढ़ाना और सुनाना एक बात है और सधाना दूसरी बात। यही कारण है कि कालिजोंसे पढ़कर निकलनेवाले बी. ए. और एम. ए. मनुष्यत्व पर व्याख्यान देना तो खूब जानते हैं परन्तु वे स्वयम्भी मनुष्यत्वका व्यवहार करते हैं या नहीं, यह कहना बहुत मुश्किल है। दूसरे लोगोंके साथ उनका मनुष्यत्वका व्यवहार करना तो बहुतही बड़ी बात है, यदि अपने माता पिता और स्त्री पुत्रके साथभी उनका व्यवहार मनुष्यत्वकासा होने लगे तो बहुत है। यहाँ तक कि स्वयम् अपने साथभी यदि वे मनुष्यत्वका व्यवहार करनेलगें तो सब कुछ है। परन्तु बातें चाहे जितनी बनवालीजिये, क्रिया रूप तो वे इसही प्रकार प्रवर्तते हैं जैसा कि अन्य सर्वसाधारण अपनी कषायोंके वश प्रवर्तते हैं।

कारण इसका यहही है कि मनुष्यत्व उनको पढ़ाया गया है, किन्तु उनकी प्रवृत्ति उसही रूप होजानेके लिये उनको सधाया नहीं गया है। इससे लाभ तो कुछभी नहीं हुआ है किन्तु एक हानि ज़रूर होगई है कि वह अपने माता पिता आदिसे अपनेको ज्ञानमें अधिक समझकर उनको तुच्छ समझने लगते हैं और उनकी बातोंपर कुछभी ध्यान नहीं देते हैं। अनपढ़ गँवार और मूर्ख लोग यद्यपि मनुष्यत्वको नहीं जानते हैं परन्तु इतना ज़रूर मानते हैं कि हम अनजान और मूर्ख हैं। इसही वास्ते वे अपनेसे बड़ोंका आदर करते हैं और उनके अनुभवोंसे लाभ उठानेके लिये हरवक्त उत्सुक रहते हैं। उनके उपदेशों और ताड़नाओंको अपने लिये बहुतही लाभदायक समझकर सहन करते हैं और कभी भी उनके सामने उद्धत नहीं होते हैं। किन्तु ये पढ़े लिखे घमंडी तो अपने सामने किसीको कुछभी नहीं समझते हैं। स्वयम् तो इनको संसारका कुछ अनुभव होता नहीं है और जो इनके हितचिन्तक हैं, जिन्होंने अनेक धक्के मुक्के खाकर, अनेक प्रकारका हानि लाभ उठाकर बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर लिया है उनकी कुछ सुनते नहीं। तब सिवाय इसके कि स्वयम् धक्के खायें, नुक़सान उठायें और क्या हो सकता है? यह दशा देखकर माता पिता बहुत कुढ़ते हैं और दुखी होते हैं। अपने इस प्यारे पुत्रको हमने अपनी जानसे भी ज़्यादा रक्खा, अपने आपेको हमने इस पर वार वार दिया, हमने सब प्रकारकी तकलीफ़ उठाई पर इसको कोई तकलीफ़ नहीं उठाने दी, अपनी वितसे बाहर हमने इसकी इच्छाओंकी पूर्तिकी और वितसे ही बाहर खर्च करके इसको उच्चशिक्षा दिलाई जिसका परिणाम यह निकला कि वह बिल्कुलही उद्धत और बेपरवाह होगया। बात बातमें वह हमको मूर्ख बताता है और हमारी बातों पर कुछभी ध्यान नहीं देता है। ख़ैर वह हमें मूर्ख समझे वा चाहे जो समझे पर अपने लिये तो वह अपने हितका कोई मार्ग निश्चित करले जिससे उसकी आयु तो सुखसे बीतने लगजावे और हमको शान्ति मिलजावे। हमको अपने लिये तो उससे कुछभी नहीं चाहिये। हमको जो कुछ चिन्ता है उसहीके हितकी है, वह यदि अपने हितका रास्ता ठीक करले तो हम निश्चिन्त हो जावें और मानो सबकुछ भर पावें।

ऐसेही खिचपिचमें माता पिता दुखी होकर विचलित होजाते हैं। क्रोधमें भरकर बात बातमें उसका तिरस्कार करते हैं। अपने दिलकी जलन मिटानेके लिये लोगोंसे उसकी बुराई करते फिरने लगजाते हैं, यहाँ तककि उसके सामने भी लोगोंसे उसकी बुराई करते हैं जिससे वह शर्मिन्दा होकर उनके बसमें आजाय और सीधे रास्तेपर लगजाय। परन्तु परिणाम बिल्कुलही इसके विपरीत होता है। बात बातमें तिरस्कार होनेपर किसी किसीको तो यह तिरस्कार असह्य होजाता है और वह मुक़ाबिला करने लगजाता है और जो सहन करता है। वह विचार करता है कि देखो ये मेरे माता पिता जो ज्ञानमें और विद्यामें मेरेसे बहुतही कम हैं बात बातमें मेरा तिरस्कार करते हैं और मैं उनको अपना पूज्य मानकर सबकुछ सहन करता

हूँ और कुछभी ध्यानमें नहीं लाताहूँ कि ये क्या कह रहे हैं। मेरी यह सहनशीलता तो बहुतही उच्चकोटिको पहुँच गई है। वास्तवमें इस कृत्यसे तो मैं मनुष्यत्वसे भी ऊँचे चढ़कर देवत्व तक पहुँच गया हूँ। सभ्यताकी पराकाष्ठाको भी उल्लंघन कर रहा हूँ। परन्तु ज्यों ज्यों मैं सहन करता हूँ त्यों त्यों ये मेरे माता पिता अधिक अधिक असभ्य बनते जारहे हैं, जिससे मुझको बड़ी लज्जा आती है। परन्तु करूँ तो क्या करूँ? मेरी सभ्यता और बड़प्पन तो उनके तिरस्कारों को सहन करनेमें ही है। मेरेलिये तो यही उचित है कि उनकी बातोंको बिल्कुलही सुनी अनसुनी करता रहूँ और यही समझता रहूँ कि मानो कोई अज्ञानी बेजाने बूझे योंही बड़बड़ा रहा है।

इस प्रकार नित्यके तिरस्कारका यह परिणाम होता है कि वह उनकी बातोंकी तरफ़ कुछभी ध्यान नहीं देता है फिर आहिस्ता आहिस्ता उसमें धृष्टताभी आने लगजाती है। तिरस्कारको तिरस्कार मानने की हिसही उसमेंसे निकल जाती है और वह पक्का बेहया बनजाता है, जो बड़ा भारी दोष है और सबही दोषोंकी जड़ है। दुनियाके लोग तबही तक दोषोंसे बचे रहते हैं जबतक उनको यह ख़्याल रहता है कि लोग उसको बुरा न समझें, और जब किसीमेंसे यह ख़्याल निकल जाता है, वह ढीठ बेशरम और बेहया बन जाता है, तब बेखटके सारे दोष उसमें आकर अपना अड्डा जमा लेते हैं। लोगोंके सामने किसीकी बुराई करना तो मानो बुराईको दृढ़ताके साथ उसमें बिठा देना है। इसही कारण कोईभी अपने खोटेसे खोटे मित्र स्नेही या सम्बन्धीकी बुराई लोगोंके सामने प्रकट नहीं करता है, जहाँ तक होसकता है उसको छिपानेकीही कोशिश करता है। वह भलीभाँति जानता है कि पब्लिकके सामने बुराई के खुलतेही धृष्टता आजायगी और बुराई दूर होनी असम्भव होजायगी।

जैनशास्त्रोंमें भी इसही कारण उपगूहनको बहुत भारी महत्त्व दिया है, यहाँ तक कि उसको सम्यक्त्वका एक अंग ही बनादिया है। जो धर्मात्मा अपने सहधर्मी भाइयोंके दोषोंको सर्वसाधारणसे छिपानेकी कोशिश नहीं करता है, सबके सामने प्रकट करता फिरता है वह उस सहधर्मी भाईका हितैषी नहीं है किन्तु शत्रु है, क्योंकि वह उसके दोषोंको प्रकट करके उसमें धृष्टता पैदा करता है जिससे फिर वह दोष दूर होनेही असम्भव होजाते हैं। जो हितू होता है वह सर्वसाधारणसे अपने मित्रके दोषों को छिपाकर चुपकेही चुपके उसको समझाता है कि वह शीघ्रही अपने दोषोंको त्याग दे, नहीं तो सर्व साधारण पर प्रकट होनेसे बड़ी बदनामी होगी और प्रतिष्ठा भंगहो जायगी। यही उपगूहन है जो एक सहधर्मी दूसरे सहधर्मीके प्रति बरतता है। जो नहीं बरतता है वह सहधर्मी में प्रीति न रखनेके कारण मानो धर्मसे ही प्रीति नहीं रखता है अर्थात् वह पक्का सम्यक्त्वी ही नहीं है।

कषाय क्या क्या नहीं करा देती है? कषायसे ही मनुष्य अपना घर फूँक देता है अपघात करलेता है, यहाँ तक कि अपनी सन्तान तकको मार डालता है। तब यदि अपने पुत्रके व्यवहारसे संतप्त होकर माता पिता उसकी बुराई गाते फिरने लगजावें तो इसमें अचंभा ही क्या है? परन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे इसको अपनी कषायका परिणाम नहीं मानते हैं, किन्तु पुत्रकी भलाई के वास्तेही लोगोंसे अपील करते फिरना समझते हैं जिससे वे लोग उसको समझाकर सीधे रास्तेपर लगावें। परन्तु लोगोंको क्या पड़ी है जो दूसरेके लड़के जाकर समझावें और घोड़ोंको सधानेवाले चाबुक सवारकासा काम कर दिखावें। और जान खपानाभी चाहें तो उन्हें यह हुनर आता कब है? वे तो लड़केको दो चार मामूलीसी ऊँच नीचकी बातें सुनाकर अपने कर्तव्यकी पूर्ति समझ लेते हैं और पीठ पीछे हँसी उड़ाने लगजाते हैं कि देखो जी ऐसा बुरा ज़माना आगया है कि अमुकका लड़का इतना पढ़ लिख कर भी अपने माँ बापको दुखी करता है और उनकी कुछ नहीं सुनता है। (अपूर्ण)

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१ जनवरी सन् १९३२

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।

प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

'जैनधर्मका मर्म' पर सम्मतियाँ।

(२२)

श्री० न्यायविशारद न्यायतीर्थ मुनि श्री न्यायविजयजी का पत्र—

महाशयजी!

आपकी लेखमाला बड़े ज्वलन्त रूपसे निकल रही है। मैं इसे बहुत रसपूर्वक पढ़ता हूँ। यह क्रान्तिका डिंडिम नाद है। आप पुराने तत्त्वोंको आज वर्तमान वैज्ञानिक आकारमें रख रहे हैं। यह काम कोरा विद्वान् नहीं कर सकता। इसके लिए अपेक्षित है विद्वान्की विचारकशक्ति। और साथ ही चाहिए निर्भीकता भी। मैं बहुत खुश हूँ कि ये दोनों तत्त्व आपकी लेखनीमें भरे हैं। यह प्रयत्न आपका यदि उत्तरोत्तर बढ़ता रहा, तो निःसन्देह आप जनताकी विचारसृष्टिमें बहुत कुछ परिवर्तन करजायँगे।

(२३)

श्री० चौधरी गुलामचन्दजी जैन, प्रेसीडेन्ट म्युनिसिपल कमेटी, ऑनररी मजिस्ट्रेट गोटेगाँवका पत्र

श्रद्धेय पण्डितजी,

जैनजगत्को यों तो मैं प्रारम्भसे ही प्रेमपूर्वक पढ़ता था, कारण कि मेरी रायमें उस समय भी वह सभी जैनपत्रोंमें निर्भीक और सुसम्पादित था, पर जबसे "जगत्"की बागडोर आपके हाथोंमें आई है वह अच्छी तरह चमक उठा है और अपने मोटो—आदर्शवाक्य—की ओर द्रुतगतिसे अग्रसर हो रहा है। आपकी इस कर्मठताके लिये अनेकशः साधुवाद।

धर्मके नाम पर घोर अधर्म होते हैं। कुचाली ही विशेषतः अपने गत और वर्तमान हीनाचारोंको छिपानेके लिये 'धर्म' की आड़ लेते हैं। धर्मकी आड़में चाहे जैसी पापलीलाएं समाज स्वीकार कर लेती

है। जिनके दिल और दिमाग़ है, वे भी नैतिकसाहस के अभावमें इस धर्मनामी-पापलीलाओंका विरोध नहीं कर सकते और गोमुखव्याघ्रोंकी खूब बनती रहती है। इस दिशामें आपका प्रयत्न सराहनीय है। परन्तु इस ओर कुछ और भी जोरसे प्रयत्न होना चाहिए जिससे ऐसे लोगोंका बाज़ार उठ जावे।

धार्मिक विचारों पर भी आपसे बैरिस्टर चम्पतरायजी सरीखी व्यक्तियाँ अप्रसन्न हों, व्यक्तिगत बहिष्कार कर रही हैं यही आपके लिये श्रेयकी बात है। विरोधमें ही सफलता है। श्रद्धेय बैरिस्टर साहब ने जब अन्य धर्मोंसे तुलनात्मक रूपसे जैन सिद्धांतों का समीकरण किया था तब भी कट्टरपन्थी पंडितों ने यही दलील उठाई थी। वस्तुतः 'सत्य' का ही नाम जैनधर्म है। तब सत्यसे भय क्यों? मैं तो आशा करता था कि बैरिस्टर साहबकी विशाल चिन्ताशीलतासे आपके 'जैनधर्मके धर्म'में यदि कहीं कचरा होगा तो वह शुद्ध किया जाकर और भी निखरेगा। परन्तु आशाके विपरीत ही परिणाम आया। आप ने जो मार्ग पकड़ा है उसकी सफलता, असफलता पर विचार न करते हुये मेरा स्पष्ट मत है, कि इस कट्टरता, स्थितिपालकता, स्वार्थान्धताको नष्ट भ्रष्ट कर आपकी यह लेखमाला आगामी पीढ़ियों और वर्तमानके नवयुवकोंके लिये आदर्श और दीपस्तम्भका काम देगी। यदि इतना भी होगया तो आपका सर्व श्रम सफल हो जावेगा।

हिन्दू-मुस्लिम पेक्ट हो रहा है, सिक्खोंने सारे भारतवर्षमें तहलका मचा दिया; परन्तु बेचारे जैनियों की पूछ कहाँ? हो भी क्यों? यदि एक दो सीटें मिल भी गईं तो पावे कौन? दिगम्बर या श्वेताम्बर या स्थानकवासी? इसलिए एकतासे प्रबलप्रयत्नकी आवश्यकता थी कि तीनों सम्प्रदाय अपनी कलुषता साफकर जहाँ आवश्यकता हो वहाँ सामूहिक प्रयत्न कर सकें, और यह धार्मिक कट्टरपन दूर हुए सिवाय असम्भव है।

अभीतक वर्तमान जैनसमाजमें पुस्तकीय ज्ञानके विद्वान अवश्य हैं जिनमें चिन्ताशीलता, मौलिक विवेचनकी कमी है। सम्भव है कि जिनमें यह भाव दबा हुआ हो वे आपके प्रयत्नोंसे बल पाकर कुछ कर सकें। 'जगत्' का यदि बॉयकॉट भी हो, उसके विरोधी सफल भी होजावें तो भी उसके द्वारा हुई सेवाएँ अमिट रहेंगी और इसी कारण यदि उसका अस्त हो तो उसका 'प्रकाश' अमिट रहेगा। प्रभुवीरके प्रसादसे आपको शक्ति प्राप्त हो कि आप इसी प्रकार नित्य नये ओजसे प्रेरित हो समाज व धर्मकी सेवा कर सकें।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.

वर्ष ८ | अंक ५

पौष शुक्ला ५ वीर संवत् २४५९ | ता० १ जनवरी सन् १९३३ ई०

जैनधर्म का मर्म।

(२०)

वात्सल्य अंग—कल्याणमार्गमें स्थित प्राणियोंसे कुटुम्बीसरीखा प्रेम करना वात्सल्य अंग है। जो परोपकारको कर्तव्य समझता है, समष्टिगत उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, कष्टसहिष्णु है, वह मनुष्य जगद्बन्धु है। उसके साथ बन्धुता रखना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है। फिर सम्यग्दृष्टि इस कर्तव्यसे कैसे चूक सकता है?

सम्यग्दृष्टि, माता पिता पत्नी पुत्र आदि कुटुम्बियों के साथ कर्तव्यका पालन करता है परन्तु इस प्रकार की कुटुम्बबुद्धि वह लौकिक उत्तरदायित्व पूर्ण करनेके लिये ही रखता है, अन्यथा उसकी दृष्टिमें तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (समस्त जगत् कुटुम्ब है) की भावना ही रहती है।

एक कुटुम्बके मनुष्योंमें गुण स्वभाव आदिकी कुछ समानता पाई जाती है। कल्याणमार्ग सम्यग्दृष्टि का स्वभाव बनजाता है इसलिये वही उसके लिये कुटुम्बीपनकी शर्त होजाती है। वह किसी जातिमें, किसी देशमें किसी सम्प्रदायमें क़ैद नहीं होता। जो कल्याणमार्ग पर चलता है, वही उसका कुटुम्बी है। लौकिक कुटुम्बियोंकी अपेक्षा वह उनसे अधिक प्रेम करता है। इस प्रकारके प्रेमसे कल्याणमार्ग का प्रचार होता है, धर्म और सुखका सम्बन्ध निकट और स्पष्ट बनता है।

प्रश्न—कल्याणमार्गियोंसे प्रेम करना, इसका अर्थ ही दूसरोंसे प्रेम न करना है, परन्तु यह तो एक प्रकारकी सङ्कुचितता है। यह भी एक प्रकारका जातिभेद है। सम्यग्दृष्टिमें अगर इतनी भी उदारता नहीं आई तो क्या आया?

उत्तर—मनुष्यजातिमें ऐसे भेदोंकी कल्पना न करना चाहिये जो अमिट हों। राष्ट्रीय तथा जातीय भेद जिनका सम्बन्ध जन्मसे है, उन्हें नष्ट कर देना चाहिये, क्योंकि इनसे समाजके जीवन भर के लिये टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। परन्तु सज्जन दुर्जन, परोपकारी स्वार्थी, आदि भेद जीवनव्यापी और अमिट नहीं हैं। कल्याणमार्ग, जो कि जगत् के कल्याणके लिये अनिवार्य है, उसको ग्रहण करने का प्रत्येकको अधिकार है, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, मनुष्य हो या पशु, आर्य हो या अनार्य। समभावका मतलब अपने स्वार्थको जगत्के स्वार्थमें मिला देना है, सज्जनता और दुर्जनतामें अभेद करना नहीं। अन्यथा वह अविवेक हो जायगा। सदाचारी से वात्सल्य रखना अर्थात् सदाचारसे वात्सल्य रखना है। यह वात्सल्य व्यक्तिगत नहीं, किन्तु गुणगत है। गुणगत वात्सल्य विवेकका फल है जब कि व्यक्तिगत वात्सल्य मोहका फल है।

प्रश्न—फिर भी यह साम्प्रदायिकताका पोषक तो है ही।

उत्तर—नहीं। जगत्की सेवा करना, दया रखना, सत्य बोलना आदि कल्याणमार्गके जितने अंग हैं वे किसी सम्प्रदायकी मौरूसी सम्पत्ति नहीं हैं। सभी सम्प्रदायोंमें ये सब अंग पाये जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टिके वात्सल्यकी पात्रता किसी सम्प्रदाय में नहीं, किन्तु अहिंसा सत्यादिमें रहती है। वह जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई, मुसलमान आदि किसी सम्प्रदायमें या दिगम्बर श्वेताम्बर, हीन यान महायान, रामानुज, वल्लभ, प्रोटेस्टेन्ट रोमनकैथोलिक, शिया सुन्नी आदि किसी उपसम्प्रदायमें अपने वात्सल्यको क़ैद नहीं करता।

प्रश्न—सम्प्रदायोंमें क़ैद न रहना भी तो एक सम्प्रदाय है।

उत्तर—जिस प्रकार अनेकान्त भी एक एकान्त है, अवक्तव्य भी अवक्तव्य शब्दसे वक्तव्य है, उसी प्रकार असम्प्रदाय भी एक सम्प्रदाय कहा जासकता है। सम्प्रदाय कोई बुरी वस्तु नहीं है, किन्तु सम्प्रदायमें जो एकान्त दृष्टि है वह बुरी है। साम्प्रदायिकतासे मनुष्य दूसरोंको सिर्फ इसीलिये बुरा कहने लगता है कि वे दूसरे हैं और अपनी हर एक बातको सिर्फ इसीलिये अच्छा कहने लगता है कि वह अपनी है। यह साम्प्रदायिकताका विष है। यह विष निकल जाने पर जो अवशिष्ट सम्प्रदायांश है वह बुरा नहीं है। साम्प्रदायिकताके विष आने पर असम्प्रदाय नामका सम्प्रदाय भी भयङ्कर हो सकता है और साम्प्रदायिकताके विष न होने पर कोई सम्प्रदाय बुरा नहीं होता। हाँ, सम्प्रदायका व्यावहारिक रूप जितना विशाल रहे उतना ही अच्छा है।

प्रश्न—जैनशास्त्रोंमें वात्सल्यका जो लक्षण लिखा है वह साम्प्रदायिक है। समन्तभद्र आदिका लक्षण भी संकुचित है।

उत्तर—समन्तभद्रने कहा है कि अपने यूथ* के लोगोंसे निष्कपट प्रेम करना वात्सल्य है। यूथ अर्थात् समूह अनेक तरहके होते हैं। सत्यवादियों का, ब्रह्मचारियोंका भी यूथ होता है, गुणोंको लेकर भी यूथ शब्दका व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि जो कि कल्याणमार्गी है, उसके लिये जगत्के सभी कल्याणमार्गी अपने यूथ के हैं। इसलिये समन्तभद्रके लक्षण में यूथ शब्द सम्प्रदायपोषक नहीं है। दूसरी बात यह है कि अगर किसी वाक्यका कल्याणकारी और अकल्याणकारी दोनों तरहका अर्थ निकलता हो तो उनमेंसे कल्याणकारी अर्थात् समुचित अर्थ † लेना चाहिये। मतलब यह कि हमें शब्दोंका गुलाम नहीं, किन्तु शब्द, जिस सत्यके लिये हैं उस सत्यका गुलाम होना चाहिये। तीसरी बात यह है कि जब कोई भी धर्म, सम्प्रदायका रूप धारण करलेता है, तब उसकी सारी परिभाषाएँ धार्मिकरूप छोड़कर साम्प्रदायिकरूप धारण करलेती हैं। परन्तु विवेकी ऐसी परिभाषाओंके विकृतअंशको दूर करके तथ्यांश को ग्रहण करता है। समन्तभद्रकी परिभाषामें तो ऐसा विकृतअंश है नहीं, परंतु अगर ऐसी विकृत परिभाषाएँ मिल जायँ तो उन्हें जैनधर्मकी परिभाषाएँ न समझकर साम्प्रदायिककालकी विकृत परिभाषाएँ मानना चाहिये।

प्रश्न—वात्सल्यका स्वरूप ठीक ठीक समझ में आजाने पर भी यह अङ्ग अनुचित मालूम होता है। सम्यग्दृष्टिका तो जगत् कुटुम्ब है। वह धर्मात्माओं पर जिस प्रकार प्रेम करता है उसी प्रकार

---

* स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा। प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते। रत्न० क० श्रा०।

† अत्थगई अ उवेंति वियंजणं जाणओ कुणइ। सन्मतिप्रकरण २-१८। ज्ञातापुरुष अर्थकी संगतिके अनुसार शब्दकी व्याख्या करता है।

पापियों पर दया करता है। प्रेम, जैसे वात्सल्य है वैसे दया भी वात्सल्य है।

उत्तर—प्रेम और दयासे वात्सल्यमें कुछ अन्तर है। वात्सल्य, प्रेम और दयाका कुछ सघन रूप है। हम प्राणिमात्र पर दया और प्रेम करें तो उसका व्यावहारिकरूप कुछ उथला होगा, जब कि वात्सल्यका रूप सघन होता है। अगर हम किसी नगरमें घूमने निकलें तो हम हर एक आदमी से कुशलसमाचार पूछते हुए न जायँगे किन्तु अगर मार्गमें हमारा कोई निकट सम्बन्धी मिलेगा तो दो मिनिट खड़े होकर उससे बात अवश्य कर लेंगे। साधारण प्राणीके साथ जो हमारा प्रेम है और निकटसम्बन्धीके साथ जो हमारा प्रेम है, उसका अन्तर हमें ऐसे अवसर पर स्पष्ट मालूम होगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको विश्वके प्राणिमात्रसे प्रेम होने पर भी कल्याणमार्गके पथिक जगद्धितैषियोंसे प्रेम अधिक होगा। स्वाभाविक अवस्थामें सबके साथ एकसा प्रेम होना चाहिये. परन्तु जो मनुष्य जितनी अधिक कल्याणकी वृद्धि करता है उसके विषयमें हमारा प्रेम उतना ही अधिक बढ़ना चाहिये। मतलब यह कि साधारण मनुष्यके प्रति हमारा जितना कर्तव्य है परोपकारीके प्रति उतना ही अधिक है। इस प्रकारके धार्मिक वात्सल्यसे हम, लोगोंको धार्मिक बननेके लिये उत्तेजना देते हैं और धार्मिकोंका उत्साह बढ़ाते हैं, उन्हें धर्ममार्गमें स्थिर रखते हैं तथा उनके विशेष संसर्गसे स्वयं बहुतसा लाभ उठाते हैं।

धार्मिकोंसे प्रेम करनेका यह मतलब नहीं है कि दूसरोंसे द्वेष किया जाय। अगर हम रुपयेसे प्रेमकरते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पैसे से द्वेष करते हैं। प्रेम सबसे है, परन्तु योग्यताके अनुसार है और वह योग्यता भी धन, विद्या, शारीरिक बल आदिकी नहीं, किन्तु कल्याणमार्गकी पथिकता की है। यह वात्सल्य कल्याणवर्द्धक होनेसे गुण है, उपादेय है।

प्रभावना अंग—कल्याणमार्गका जगतमें प्रचार करना, उसका महत्व बढ़ाना प्रभावना अंग है। यद्यपि धर्मसे सबका कल्याण है, फिर भी मनुष्य स्वार्थमें इतना तल्लीन रहता है कि वह दूरदर्शिताको छोड़कर धर्मको भूलजाता है। धनसम्पत्तिके महत्त्व मेंही वह अपना महत्त्व समझता है तथा इसी चिन्ह से वह दूसरेका महत्त्वभी मापता है। परन्तु मनुष्य की इस स्वार्थपूर्ण दृष्टिकी तुच्छता बतलाना और उदारदृष्टिकी महत्ता बतलाना प्रभावना अंगका लक्ष्य है।

प्रभावनाके सैकड़ों तरीके हैं। अपने अपने समय के लिये सब अनुकूल हैं और परिस्थितिके बदलजाने पर वे प्रतिकूल हो जाते हैं। इसलिये प्रभावनाके किसी रूपपर नहीं, किन्तु उसके लक्ष्यपर दृष्टि रख कर प्रभावनाका पालन करना चहिये। लोगोंके हृदयमें धर्मके विषयमें आदर हो, उसके पालन करने की इच्छा पैदा हो, वे उससे अपना कल्याण समझें, इसके लिये जो सफलप्रयत्न किया जायगा वह प्रभावना कहलायगा।

एक मनुष्य सम्पत्ति और अधिकारको प्राप्त करके महान बनता है. जबकि दूसरा मनुष्य जगत् की सेवा करके महान बनता है। दूसरी तरहकी महत्ता स्वपरहितकारी होनेसे प्रभावनाके योग्य है। इसीलिये लोग राजाओंकी अपेक्षा महात्माओंकी अधिक पूजा करते हैं और महात्माओंके मरनेके बाद भी करते हैं। इसका मतलब यह है कि वे श्रीमानों और अधिकारियों को यह बतलाना चाहते हैं कि जगत्सेवक महात्माओंकी अपेक्षा तुम्हारी महत्ताका कुछ मूल्य नहीं है। इसलिये इसे प्रभावना कहना चाहिये। परन्तु जब इसप्रकारकी प्रभावनामें

श्रीमान लोगभी शामिल होने लगे और उसमें प्रच्छन्न या अप्रच्छन्नरूपमें महात्माओंकी महत्ताके बदले उनकी महत्ताका प्रदर्शन होने लगा, सम्पत्ति और अधिकारके समान प्रभावनाभी महत्ताको दिखलानेका एक द्वार बनगयी तब वह वास्तविक प्रभावना न रही। ऐसी प्रभावनाको देखकर लोगोंके हृदयमें किसी महात्माके विषयमें आदर नहीं होता, किन्तु प्रभावकोंके वैभवको देखकर ईर्ष्या पैदा होती है। ऐसी अवस्थामें वह प्रभावना नहीं कही जासकती। जिस प्रभावनामें ऐसा विष मिलजाय वह विषमिश्रित दुग्धके समान त्याज्य है।

जिस प्रभावनामें साम्प्रदायिक विष मिलजाय वह प्रभावना भी त्याज्य हो जाती है। किसी महात्माको इसलिये पूजना कि उसने हमारा उपकार किया है एक बात है, और इसलिये पूजना कि उसने जगतका उपकार किया है दूसरी बात है। पहिली पूजा कृतज्ञता सूचक है, दूसरी प्रभावनासूचक है। दोनोंही अच्छी हैं परन्तु दोनोंको अपने स्थानपर ही रहना चाहिये। कृतज्ञता अगर प्रभावना समझी जाने लगे तो उससे हानि है। जब हम किसी महात्माको अपना समझकर पूजते हैं तो उसे हमें कृतज्ञता कहना चाहिये न कि प्रभावना। अगर हम उसे प्रभावना बनाना चाहते हैं तो हमें उस महात्माके स्थानका विचार करना पड़ेगा और दूसरे सम्प्रदायके महात्माओंका भी यथोचित आदर करना पड़ेगा। मतलब यह कि इसप्रकारकी प्रभावना करनेवाला मनुष्य सच्चा प्रभावक तभी हो सकता है जबकि वह स्वकीयत्वका पूजक नहीं, किन्तु गुणका पूजक हो। प्रभावना धर्मकी करनी चाहिये, न कि सम्प्रदायकी। अपने सम्प्रदायकी प्रभावना करना तो अपनी ही प्रभावना करना है। वह दूसरोंके लिये ईर्ष्याका कारण और अपने अभिमानका फल है। जिसप्रकार चंदनमें लगी होनेपरभी आग ठंडी नहीं होती, उसीप्रकार धार्मिकताकी ओटमें छुपा हुआ अभिमानभी कल्याणकर नहीं होता। साम्प्रदायिक प्रभावना इस अभिमानकी पोषक होनेसे कल्याणकर नहीं है।

सच्ची प्रभावना तो अपने जीवनको सदाचार और उदारताके साथ सुखी बनाकर दूसरोंके हृदय पर सदाचारादि की गहरी छाप मारना है। सदाचारादि गुणविशिष्ट लोगोंका आदर सत्कार आदि करके दूसरोंपर उसका प्रभाव डालना व्यावहारिक प्रभावना है।

मनुष्य, धर्मके विषयमें बहुत अज्ञानी है। पंडित होकरके भी मनुष्य अज्ञानी रहता है, क्योंकि वह कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक नहीं करपाता है। इस अज्ञानको दूर हटाना, जिसप्रकार बने उसप्रकार उसे कल्याणका मार्ग दिखलाना और उसकी खूबियाँ उसे समझाना प्रभावना है।

इसलिये इसप्रकारके साहित्यका प्रचार करना भी प्रभावना है। सन्मार्गके प्रचारमें तन मन धनसे हर तरह सहायता करना भी प्रभावना है।

कर्तव्याकर्तव्य की बहुतसी गुत्थियाँ केवल चर्चा से नहीं सुलझतीं। अथवा सुलझती भी हैं तो लोग उसपर विश्वास नहीं करते। इसलिये कथनके अनुसार अपने जीवनको आदर्श बनाना बहुत बड़ी भारी प्रभावना है। जो अपने जीवनको सफल बनाकर बतला जाते हैं वे संसारके बड़ेभारी प्रभावक हैं।

इसप्रकार सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। ये अंग सुखी रहनेकी कला सिखाते हैं तथा संसारमें सुखकी वृद्धि भी करते हैं, इसलिये कल्याणमार्गके अंग हैं।

सम्यक्त्वका स्वरूप अनिर्वचनीय होनेपर भी उसकी तरफ अनेक प्रकारसे संकेत किया जासकता है। इसलिये यहाँ पर कुछ स्पष्टतासे कथन किया है। सम्यग्दर्शनको हम दर्शनाचार से ही ठीक ठीक

जानसकते हैं इसलिये सम्यक्त्वके निर्णयके लिये यहाँ दर्शनाचारका निरूपण किया है।

प्रश्न—साधारण जैन जनता यह समझती है कि सच्चे देवशास्त्रगुरुका विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। परन्तु आपने सम्यग्दर्शनके इस विस्तृत विवेचन में देवशास्त्रगुरुका नामभी न लिया। क्या सम्यग्दृष्टि को सच्चे देवशास्त्रगुरुकी आवश्यकता नहीं होती?

उत्तर—देवशास्त्रगुरुका विश्वास सम्यग्दर्शन का परम्परा कारण है; उसे निश्चय या व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते। देवशास्त्रगुरुके विश्वाससे कल्याणमार्गके प्राप्त होनेकी आशा रहती है, इसलिये देवशास्त्रगुरुपर विश्वास करना भी उचित है। फिरभी उसको इतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता। तथापि अमूढ़दृष्टि अंगके विवेचनमें इसका कुछ विवेचन कर दिया गया है।

सम्यग्दृष्टि किसी व्यक्तिविशेषको देव नहीं मानता। वास्तवमें जो कल्याणमार्गकी चरम सीमापर पहुँचा हुआ है, वही देव है। किसी व्यक्तिविशेष को देव माने या न माने, परन्तु वह अपना आदर्श समझता है। उस आदर्श पर कौन व्यक्ति पहुँचा है इस बातका निर्णय न होने पर भी वह देवपर विश्वास करता है। देवत्व पर विश्वास करना ही देव पर विश्वास करना है।

जितने धर्मप्रवर्तक हैं वे साधारण जनता से बहुत आगे बढ़े रहते हैं परन्तु वे सब देव नहीं होते। सम्भव है उनमें कोई देव हो, परन्तु अभी निश्चय रूपमें कुछ नहीं कहा जा सकता। व्यक्तियोंके विषयमें देवत्व का निर्णय न होने पर भी सम्यक्त्वमें कुछ बाधा नहीं है।

जिन व्यक्तियोंको हम देव या महापुरुष कहते हैं उनका वास्तविक इतिहास उपलब्ध नहीं है। जो कुछ इतिहास उपलब्ध है, वह उनका लौकिक प्रभाव है और उसमें भी अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पित वर्णन बहुत है। जिन घटनाओं से किसी महापुरुषका महत्त्व जाना जाता है उन घटनाओं का स्पष्ट विवेचन मिल नहीं सकता और न उन घटनाओंको साधारण जनता महत्त्व देती है। वह अलौकिक बातोंको महत्त्व देती है परन्तु देवत्वका उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता।

महात्माओंके अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचनोंका एक कारण तो यह है कि लोगोंकी रुचि ही इस तरहकी होती है। दूसरा कारण यह है कि भविष्य में साधारण लोग भी देवत्वका दावा न करने लगें इसलिये अलौकिक अतिशयोंकी असंभव शर्ते लगा दी जाती है। और इसीलिये २४ आदि संख्या भी निश्चित करदी जाती है जिससे अगर कोई भविष्य में तीर्थङ्कर होनेका दावा करे तो यह कह कर उसे दूर कर दिया जाय कि अब २५ वाँ हो नहीं सकता आदि। इन सब कारणोंसे किसी महात्माका ठीक ठीक चरित्र मिलना कठिन होजाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि, 'देवत्व क्या है' इसबातका निर्णय कर लेता है। कौन व्यक्ति देव था और कौन नहीं था, यह प्रश्न ऐतिहासिक है, न कि धार्मिक। धार्मिकदृष्टि से तो देवत्वके निर्णयकी आवश्यकता है, न कि देव की। और यह काम कल्याणमार्गके निर्णयसे हो जाता है।

जो देवत्वकी ओर बढ़रहे हैं, अथवा कल्याणमार्गमें हमसे आगे है वे गुरु हैं। कल्याणमार्गको बतलानेवाले वचन शास्त्र है। शास्त्र किसी खास पुस्तक का नाम नहीं है, न उसका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से है। इन सब बातोंका संक्षिप्त विवेचन अमूढ़दृष्टि अङ्गके विवेचन में आगया है।

प्रश्न—'तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' इस प्रचलित परिभाषा परभी आपने उपेक्षा क्यों की?

उत्तर—सात तत्त्वोंका विवेचन दार्शनिक क्षेत्र की चर्चा है। तत्त्वार्थश्रद्धान रूप लक्षणमें चित्त

दार्शनिक क्षेत्र की तरफ़ चलाजाता है। परन्तु दर्शन और धर्ममें बहुत अन्तर है। कल्याणमार्ग पर श्रद्धा करलेने पर सात तत्त्वों पर श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं रहती और कल्याणमार्ग पर श्रद्धा न करनेपर साततत्त्वोंके जाननेसे भी सम्यक्त्व नहीं होता। जैनधर्मके अनुसार सात तत्त्वोंका उपदेश तीर्थङ्करो ने दिया है, परन्तु जब यहाँ कोई तीर्थङ्कर नहीं हुआ था तब भी सम्यग्दृष्टि तो थे ही। कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे*। पशुभी सम्यग्दृष्टि होते हैं। इन सब को सात तत्त्वोंका पंडित मानना केवलक्लिष्ट कल्पना है अथवा जातिस्मरण अवधिज्ञान आदिसे इन्हें तत्त्वज्ञ माननाभी अस्वाभाविक है। हाँ, सात तत्त्वके प्रचलित विवेचन को न जानकर या विश्वास न करके भी सात तत्त्वकी सामान्य मान्यता आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, इसलिये उसे पूर्ण सुख पर विश्वास करना आवश्यक है (मोक्ष)। इसके लिये दुःखके कारणोंको रोक देना (संवर) और संचित कारणोंको दूर करना (निर्जरा) भी आवश्यक है। परन्तु संवर तब तक नहीं किया जा सकता जब तक यह न मालूम हो कि दुःखकारण आते कैसे हैं (आश्रव)। इसीप्रकार निर्जरा तब तक नहीं की जासकती जब तक यह न मालूम हो कि हम किसी परदुःखके जालमें कैसे बँधे हैं (बन्ध)। प्रारम्भके जीव और अजीव अर्थात् स्व और पर तत्त्व तो आवश्यक हैं ही, क्योंकि जब तक अपनेको न जाने और अपने साथ कौनसा विकार लगा हुआ है यह बात न जाने तब तक अन्य पाँच तत्त्वोंका जाननाभी नहीं होसकता। इसप्रकार सामान्य सात तत्वों पर वह विश्वास करता है। परन्तु इनका जो दार्शनिक और सूक्ष्म विवेचन है उसपर विश्वास करना अनिवार्य नहीं है क्योंकि उसपर विश्वास किये बिना भी कल्याणमार्गपर विश्वास किया जासकता है। उदाहरणार्थ अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पाँच भेद किये गये हैं। इनके बदले में अगर कोई चार (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश,) तीन (पुद्गल, धर्म, अधर्म,) दो (पुद्गल, धर्म) या एक (पुद्गल) ही माने तो क्या हानि है? इसी प्रकार आश्रव बन्ध आदिके निरूपणमें कोई कर्मोंके आठ भेद माने, कोई इससे कम ज्यादः माने, कोई गोत्र को न माने तो इसमें क्या हानि है? दार्शनिक विवेचन बुरा नहीं है परन्तु वह सम्यक्त्वकी अनिवार्य शर्त नहीं है। इसीलिये यहाँ पर सम्यक्त्वके स्वरूपमें सात तत्त्व आदिका नाम नहीं लिया गया है।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय है। परन्तु उसके प्राप्त होनेपर उसका ज्ञान और चारित्र कैसा होजाता है उसीका यहाँपर कुछ विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और थोड़ा बहुत सम्यकचारित्रभी होजाता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें प्राणकी तरह काम करता है। इसके न होनेपर ज्ञान—चारित्र मृतकके समान हैं।

सम्यग्दर्शनका दूसरा नाम सम्यक्त्व भी है, जिसका अर्थ 'सचाई' है। ज्ञान और चारित्रमें जो सचाई है अर्थात् कल्याणकारकता है वही सम्यक्त्व है। सचाईके बिना ज्ञानचारित्रका कुछ मूल्य नहीं है। सचाईसे वे सब मूल्यवान हैं। समन्तभद्रने सम्यक्त्वके विषयमें बहुतही अच्छा कहा है।

> विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
> न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥

सम्यक्त्वके बिना ज्ञान और चारित्र (सच्चे) न पैदा होसकते हैं, न रह सकते हैं, न बढ़ सकते हैं, न फल दे सकते हैं, जिस प्रकार कि बीजके अभावमें वृक्ष न पैदा होसकता है, न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है, न फल दे सकता है।

* वरदाणदो विदेहे बद्धणरा उय खइयसंदिट्ठि।
इह खत्तियकुल जादा केइज्जाइब्भर ओही ॥७९४॥
—तिलोयसार।

सच पूछा जाय तो सम्यक्त्वकी पूर्तिके लिये ज्ञान और चारित्र हैं। इसीलिये साधारण सम्यग्दर्शन की अपेक्षा अरहंतके सम्यग्दर्शनको उत्कृष्ट कहा है। इससे मालूम होता है कि ज्ञान और चारित्रसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है और पूर्णज्ञान और पूर्णचारित्र होनेपर सम्यक्त्व भी पूर्ण होता है। उस समय उसे परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। परन्तु स्पष्टताके लिये उसका विवेचन अलग नाम देकर किया जाता है इसलिये यहाँ भी किया गया है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

विरोधी मित्रोंसे।

(६)

आक्षेप (१८)—पार्श्वनाथके पहिलेकी श्रमणपरम्परा जैनपरम्परा थी इसका प्रबल प्रमाण नहीं मिलता परन्तु ऐसा प्रबल प्रमाणभी कहीं मिलता है कि जैनधर्म भगवान् पार्श्वनाथके पहिले नहीं था।

समाधान—न्यायशास्त्रमें एक अनुपलब्धिसमा* जातिका उल्लेख आता है। यह असत्य उत्तर माना जाता है। वीतरागकथामें इसके उपयोगकी मनाई है और विजिगीपुकथामें इसका उपयोग करे तो पराजय माना जाता है। मेरे मित्रका उपर्युक्त आक्षेप इसीप्रकारका जात्युत्तर है। जैसे वादी कहे कि इस कमरेमें घड़ा नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता और प्रतिवादी कहे कि घड़ा उपलब्ध नहीं होता तो घड़ेकी अनुपलब्धि भी कहाँ उपलब्ध होती है? यह जाति (असत्य उत्तर) है। घड़ेका उपलब्ध न होना ही अनुपलब्धिकी उपलब्धि है। किसी वस्तुके अस्तित्वके लिये विशेष प्रमाण देना पड़ता है, नास्तित्वके लिये नहीं। पार्श्वनाथके पहिलेकी श्रमण परम्परा जैन थी, इसके लिये यदि प्रमाण नहीं मिलता तो यही बात पार्श्वनाथके पहिले जैनपरम्पराकी सिद्धताको नष्ट करदेती है। खैर, अस्तित्वका प्रबल प्रमाण नहीं मिलता और नास्तित्वका प्रबल प्रमाण नहीं मिलता, तो इससे सन्देह तो उत्पन्न होता है। उसे संदिग्धकोटिमें ही मैंने डाला है। मैंने पार्श्वनाथके पहिले न जैनपरम्पराका समर्थन किया है न विरोध। उसे अन्धकारमें बतलाया है और आपके आक्षेपसे भी वह अन्धकारमें ही साबित होती है।

आक्षेप (१९)—यदि जैनोंने हिन्दुओंकी नकल करके २४ तीर्थकरोंकी कल्पना खड़ी की होती तो ब्राह्मणशास्त्रोंने उनपर अवश्यही आक्षेप किया होता। वेदोंमें जैनतीर्थकरोंके नाम मिलते हैं। उनपर यह शंका करना व्यर्थ है कि उन नामोंको वेदोंसे जैनियोंने लिया हो। यदि ऐसा होता तो ब्राह्मणशास्त्रकार इस बातको ज़रूर लिखते। उनके पुराण ग्रन्थोंमें ऋषभदेव आदिको जैनतत्वोंका प्रतिपादक न बताया जाता। यह स्पष्टही है कि वेदोंके प्राचीन अर्थ इस समय अप्राप्त हैं।

समाधान—जिस प्रकार जैनियोंके ऊपर वैदिकोंने २४ की संख्याकी नकलका आक्षेप नहीं किया, उसीप्रकार जैनियोंने वैदिकोंके ऊपर भी नहीं किया, तब वैदिकोंको भी नकलची कैसे कहा जासकता है? वैदिकोंने तो जैनियोंका बहुत थोड़ा खंडन किया है परन्तु, जैनियोंने तो वैदिकोंका इतना अधिक खंडन किया है कि अगर वैदिकोंने जैनियोंसे २४ की संख्या ली होती तो जैनलोग उनकी धूलपट्टी उड़ाये बिना न रहते। जैनियोंने ऐसा नहीं किया। खैर, सचबात तो यह है कि परीक्षाका यह ढंगही खराब है। अमुकने हमारा खण्डन नहीं किया, यह निर्दोषताका प्रमाण नहीं है। जैनतीर्थंकरोंके नाम कहाँसे आये—इसका उत्तर मैं १६ वें आक्षेपके समाधानमें लिख चुका हूँ। जब वेदोंका प्राचीन अर्थ आजकल प्राप्त नहीं है तब आपको कहाँसे प्राप्त होगया? रही पुराणकी बात, सो वर्तमानके पुराण महावीरसे पीछेके हैं। और कुछका रूपतो हज़ार पन्द्रहसौ वर्षसे प्राचीन नहीं है। वेदोंमें पुराणोंका उल्लेख कैसा है, उनकी संख्या कब बढ़ी, उनका परिमाण भी किस क्रमसे कब बढ़ा, वर्तमान पुराणोंका रूप कितना प्राचीन है आदि बातोंको जाननेके लिये मैं गुजरातीका 'पुराणविवेचन'† पढ़नेका पाठकोंसे अनुरोध करूंगा। जिसप्रकार वैदिकधर्मको प्रधानताके समयमें

*इस विषयकी विशेष जानकारीके लिये मेरे 'न्यायप्रदीप' का चतुर्थ अध्याय देखना चाहिये।

† लेखक, दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री; प्रकाशिका, गुजराती वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद।

जैन और बौद्धोंने वैदिक धर्मसे बहुतसी बातें उधार लीं, उसीप्रकार जैन बौद्ध धर्मोंकी उन्नति होनेपर वैदिक धर्मों ने जैन बौद्ध धर्मोंसे बहुतसी बातें उधार लीं। श्रमण परम्परा और ब्राह्मणपरम्परामें इसप्रकारका आदान प्रदान चिरकालसे चला आरहा है। आज अगर कोई जैनग्रंथकार किसी वैदिकग्रंथसे कोई बात लेता है तो वह वैदिकग्रंथ, जैनग्रन्थकारसे प्राचीन सिद्ध होसकता है न कि जैनधर्म से। इसीप्रकार अगर किसी पुराणकारने ऋषभ आदिका उल्लेख जैनग्रंथसे लिया तो जैनधर्म उस पुराणके रचना समयसे प्राचीन साबित होता है, न कि वैदिकधर्मसे। इस लिये इस विषयमें बहुत सावधानीसे विचार करना चाहिये।

आक्षेप (२०)—उपनिषदोंमें शुक्लध्यान आदि ऐसे सिद्धान्तोंका उल्लेख मिलता है जिनका प्रतिपादन किसी भी अजैन दार्शनिकने नहीं किया प्रत्युत, वे जैनोंके पारिभाषिक शब्द हैं। ये उल्लेख अवश्यही उपनिषद् कालमें जैनधर्मका अस्तित्व प्रकट करते हैं।

समाधान—दूसरे सम्प्रदायोंका परिचय न होनेसे साधारणतः यह कल्पना होने लगती है कि अमुक शब्द या अमुक बात हमारेही सम्प्रदायमें है, दूसरी जगह नहीं। शुक्लध्यान, आश्रव, संवर, जिन, अर्हत, ईर्यापथ, सम्यग्दृष्टि, वितर्क, विचार, औदारिक आदि दर्जनों शब्द ऐसे हैं जो बौद्ध आदि अनेक धर्मोंमें उसी प्रकार प्रचलित हैं जैसे जैनियोंके यहाँ प्रचलित हैं। इन शब्दोंको जैनियोंकी मौरूसी जायदाद समझलेना भूल है। कोई धर्म जब पैदा होता है तब उसे नई भाषा नहीं बनानी पड़ती, शब्द और भाषा तो पुराने ही रहते हैं। हाँ, अनेक शब्दोंकी परिभाषाएँ बदलती रहती हैं। वैदिक युगमें जो 'यज्ञ' शब्दका अर्थ था वही गीतायुग, जैनयुग और बौद्ध युगमें नहीं रहा। बहुतसे अर्थ ज्योंके त्यों प्रचलित रहते हैं, बहुतसे अर्थ बदलजाते हैं। किस युगमें किस शब्दका अर्थ क्या था, इस विषयमें खोज करने पर एक छोटीमोटी पुस्तक लिखी जासकती है। खैर, शुक्लध्यान शब्दके प्रयोगसे जैनधर्मका अस्तित्व प्राचीन नहीं होजाता। शुक्लध्यान शब्द का उपयोग अगर उपनिषदोंमें हुआ है तब इससे सिर्फ इतनाही सिद्ध होता है कि जैनधर्मने 'शुक्लध्यान' शब्द उपनिषदोंसे लिया है। यह कोई बुरा काम नहीं है।

आक्षेप (२१)—चौबीस तीर्थंकरोंकी मान्यता अर्वाचीन नहीं है। स्वयं म० बुद्ध और भ० महावीरके समय में लोग चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा करते थे। हाथीगुफाके खारवेल वाले शिलालेखसे ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दिमें आदिजिनकी मूर्तिका अस्तित्व प्रमाणित होता है जो उस समयके पहिलेकी थी और जिसे नन्दराजा मगध उठा लेगया था। यदि ऋषभदेवकी मान्यता कल्पित होती, तो लोग उस प्राचीनकालमें उनकी मूर्तियाँ कैसे बनाते?

समाधान—महावीर और बुद्धके समयमें मनुष्यों की मूर्तियाँ बनती थीं—इसको प्रमाणित करनेके लिये अभी काफी गुंजाइश है। जब बौद्धधर्म दिगन्तव्यापी होगया था और बुद्धदेवके दाँतों तथा हड्डियों पर बड़े बड़े स्तूप खड़े होकर उनकी पूजा होने लगी थी तब भी बुद्धकी मूर्ति नहीं बनी थी। बुद्धके कईसौवर्षों बाद सम्राट् कनिष्कके समयमें बुद्धकी पहिली मूर्ति बनाई गई। उसी समय महायान सम्प्रदाय पैदा हुआ जिसमें बुद्धके साथ सैकड़ों कल्पित बोधिसत्वोंका मूर्तिपूजा होने लगी। बुद्ध की मूर्तिके साथ सैकड़ों कल्पित बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ बनीं। इसी प्रकार महावीरके बाद जब महावीरकी मूर्ति बनी तभी जैन शास्त्रोंकी कथाओंके कल्पित अकल्पित पात्रोंकी मूर्तियाँ बनने लगीं। यह मूर्तिनिर्माण पुराना होने पर भी महावीरसे पुराना नहीं है जिससे चौबीस तीर्थंकरोंकी मान्यता महावीरसे पुरानी साबित हो सके। हाथी गुफाका लेख महावीरसे पुराना नहीं है, न उसमें उल्लिखित नन्दराजा महावीरसे पुराना है। जब महावीर के समयमें तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ साबित नहीं हैं तब महावीर इस कृत्यका विरोध कैसे करते? अथवा करते भी तो कौन मानता? आज महात्मा गाँधीजी कहते हैं कि मुझे महात्मा मत कहो, मेरे दर्शनोंको मत आओ, मेरे दिव्य चित्र मत बनाओ। परन्तु गाँधीजीकी आज्ञा पर मर मिटनेके लिये तैयार रहनेवाले क्या गाँधीजीकी इस आज्ञा को मानते हैं? समझमें नहीं आता कि मेरे मित्र महावीरसे पहिलेकी घटनाओंके लिये महावीरसे पीछेके प्रमाण क्यों पेश करते हैं? खारवेलके शिलालेखसे खारवेलके समयमें ही अमुक मान्यताकी सिद्धि हो सकती है, न कि महावीरके पहिले।

चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच,

अर्थात

सूर्यप्रकाश-परीक्षा ।

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ।]

(८)

अनुवादककी निरंकुशता और अर्थका अनर्थ !

इस ग्रंथके अनुवादमें अनुवादक पं० नन्दनलालजीने, जो अनुवादके समय 'ब्रह्मचारी ज्ञानचंद्रजी महाराज' थे और अब 'क्षुल्लक ज्ञानसागरजी महाराज' के रूपमें शांतिसागर संघमें विराजमान हैं, जिस स्वच्छंदता एवं निरंकुशतासे काम लिया है और उसके द्वारा जो अनर्थ घटित किया है उसका यदि पूरा परिचय कराया जाय और ठीक ठीक आलोचना की जाय तो एक अच्छा खासा बड़ा ग्रंथ बन जाय—अब तकके लेखोंसे उसका परिमाण बहुत बढ़ जाय। परन्तु मैं अब इस लेखमाला को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूँ, अनुवादककी इस निरंकुशता आदिका कितनाही परिचय पिछले लेखों में भी प्रसंग पाकर दिया जाचुका है और उनके द्वारा ग्रंथ तथा ग्रंथकारादिका जो स्वरूप प्रकट कियागया है उसे देखते हुए अधिक लिखनेकी कुछ ज़रूरतभी मालूम नहीं होती। अतः प्रकृत ग्रंथके अनुवाद-सम्बन्धमें मैं संक्षेपरूपसे कुछ थोड़ासाही—दिग्दर्शनमात्र—परिचय और करादेना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको अनुवादकी असलियत-निःसारता और अनुवादककी प्रकृति, प्रवृत्ति एवं चित्तवृत्तिके समझनेमें विशेष मदद मिले और वे उन सबका यथेष्ट अनुभव करसकें ।

अनुवादस्थितिका सामान्य परिचय ।

इस ग्रन्थके सारे अनुवादमें अनुवादक महाशय की उत्तरदायित्वशून्य प्रवृत्ति (निरंकुशता) केसाथ साथ प्रायः यह मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई देती है कि—अपने मन्तव्योंको पुष्ट करनेवाली भट्टारकीय शासनकी बातोंका प्रचार किया जाय, भट्टारकीय मार्गकी पुनः प्रतिष्ठाकी जाय; शास्त्रकी ओट में अपने युक्तिशून्य विचारोंको चलाया जाय; लोग परीक्षाप्रधानी न रहें—न बनें किन्तु अन्धश्रद्धालु बनें; भट्टारक मुनियों, नग्न भट्टारकों और उनके गणधरों एवं पृष्ठपोषकोंकी किसी भी प्रवृत्तिके विरुद्ध कोई अंगुली न उठावे—आलोचना न करें; सब लोग उनकी भरपेट पूजा-उपासना, सेवा-सुश्रूषा किया करें अथवा सब प्रकारसे उनकी आवश्यकताओंको पूरा करते हुए उनके पूर्ण भक्त बनें, उनकी आज्ञामें चलें, उनके साहित्यको—ग्रंथोंको—क्रियाकाण्डको पूरा मान देवें—अपनावें और उनके इशारों पर नाचा करें । और इस तरह सर्वत्र उन्हीं की एक सत्ता क़ायम हो जाय। इसीलिये उन्होंने अपने तथा अपने गुरुओंके मार्गकण्टकों, सुधारकों, तेरहपन्थियों एवं परीक्षाप्रधानियों पर जगह जगह बात-बिनबात व्यर्थके आक्रमण किये हैं—उन्हें बिना ही किसी हेतुके मिथ्यादृष्टि, अश्रद्धानी, द्रोही, आगमादि लोपक एवं अधार्मिक आदि बतलाया है, और मुनिभट्टारकों आदि की आलोचनाओं, उनकी असत्प्रवृत्तियोंकी निन्दाओं तथा उनके कुत्सित साहित्यकी अथवा ग्रंथमात्रकी परीक्षाओं—समीक्षाओंको यों ही बुरा बतला दिया है !! साथ

ही विधवा-विवाहकी, विजातीय-विवाहकी, जाति-पाँतिलोपकी, भङ्गी चमारोंकी, समुद्रयात्राकी और शूद्रोंके व्रत न पाल सकने आदिकी ऐसी ही कुछ बातें उठाकर अथवा साथमें जोड़कर, जिनका मूल ग्रंथमें कहीं नाम-निशान तक भी नहीं है, जनताके ऊपर अपने विचारोंको लादा गया है तथा अपने मार्ग कण्टकों एवं सुधारकों आदिके विरुद्ध उसे भड़काकर अपना रास्ता साफ करने, अपने दोषों पर पर्दा डालने और अपना रंग जमानेका दूषित यत्न किया गया है। और इस सबके लिये—अथवा यों कहिये कि अपनी तथा ग्रन्थकी बातोंको चलाने और अपने दोषोंको छिपाते हुए, अपना सिक्का जमानेके लिये—अनुवादकको कितनी ही चालाकी मायाचारी एवं कपटकलासे काम लेना पड़ा है और प्रायः उस चोरकी नीतिका भी अनुसरण करना पड़ा है जो भागता हुआ यह कहता जाता है कि 'चोर! चोर!! पकड़ो! पकड़ो!! वह जाता है! इधरको भागा! बड़ा अनर्थ हो गया!! इत्यादि' और इस कहनेमें उसका एक मात्र आशय अपनी तथा अपने मार्गकी रक्षा और दूसरोंको धोखेमें डालनाही होता है!! सबसे पहले अनुवादकने ग्रंथकार पं० नेमिचन्द्र को आचार्यके आसन पर बिठलाया है, जिससे यह ग्रंथ आचार्यप्रणीत एवं आर्षवाक्यके रूपमें समझ लिया जाय! जैसाकि पृष्ठ १८१ पर दिये हुए 'आचार्य महाराज कहते हैं' इस निराधार वाक्यसे तथा पृष्ठ ४०० पर 'वंद्या नेमीन्दुनाम्ना' के अर्थरूपमें दिये हुए निम्न वाक्यखण्डसे प्रकट है:—

"नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्यसे वंदनीक"

परन्तु ग्रन्थकार नेमिचन्द्र कोई आचार्य नहीं था, बल्कि एक साधारण तथा धूर्त पंडित था, पं० शिवजीरामनामके एक गृहस्थका शिष्य था और उसने ग्रंथकी प्रशस्तिमें खुद अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख किया है, जिसका परिचय पहले लेखमें कराया जाचुका है।

इसके बाद अनुवादकको यह चिन्ता पैदा हुई कि ग्रन्थकारको आचार्य तो बना दिया परन्तु ग्रन्थ में दिया हुआ ग्रंथका निर्माणसमय संवत् १९०९ यदि प्रकट किया गया तो यह सारा खेल बिगड़ जायगा, ग्रंथ बहुत ही आधुनिक होजायगा और तब ग्रंथकारके आचार्यपदका कुछभी महत्व अथवा मूल्य नहीं रहेगा, और इसलिये उसने इतनी चालाकी एवं मायाचारीसे काम लिया कि पृष्ठ ४११ पर दिये हुए उस समयसूचक श्लोक नं० ३४३ का अर्थ ही नहीं दिया, जिसे अर्थसहित प्रथम लेखमें प्रकट किया जाचुका है। उस स्थानपर यह ज़ाहिर तक नहीं होने दिया कि हम उसका अर्थ छोड़ रहे हैं!! अथवा उसका अर्थ नहीं होसका!!

इसके सिवाय, ग्रंथकी जो बातें अनुवादकको इष्ट मालूम नहीं दीं उनका या तो उसने अर्थ ही नहीं दिया और या अपने मनोऽनुकूल अन्यथा एवं विपरीत अर्थ कर दिया है! और जो बातें मूलग्रंथमें नहीं थीं और जिन्हें वह मूलके नामपर प्रकट करना अथवा चलाना चाहता था उन्हें उसने प्रायः चुपकेसे मूलवाक्योंके अर्थके साथमें इस तरहसे शामिल कर दिया है जिससे हिन्दी पाठकों द्वारा वे भी मूलग्रंथकी ही बातें समझ लीजायँ और उन्हें पढ़ते समय यही मालूम होता रहे कि यह सब ग्रंथकार आचार्य महाराज ही कह रहे हैं!! इस तरह अनुवादककी निरंकुशता और उसकी उक्त मनोवृत्ति के कारण इस ग्रंथके अनुवादमें बहुत कुछ अर्थका अनर्थ हुआ है! और यह अनुवाद उच्छृंखलता, असावधानी एवं बेढंगापनके साथ साथ अर्थकी हीनता—न्यूनता, अर्थकी अधिकता—अतिरिक्तता (मूलबाह्यता) और अर्थके अन्यथापन (वैपरीत्य) की एक बड़ीही विचित्र मूर्ति बन गया है!! और इसलिये इसे बहुतही विकृत तथा सदोष अनुवाद कहना चाहिये। अस्तु।

विशेष परिचय अथवा स्पष्टीकरण ।

अब मैं कुछ नमूनों अथवा उदाहरणोंके द्वारा अनुवादकी इस स्थितिको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको इस विषयमें कुछभी संदेह न रहे:—

(१) पृष्ठ ५८ वें पर एक श्लोक निम्न प्रकारसे **अर्थसहित** दिया है —

केवलाभिधयुक्तानां यतीनां सर्व देवताः ।
पलायितास्ततस्तासां तत्प्रभावाच्च श्वानवत् ॥४२८॥

"अर्थ श्वेताम्बर यतियोंके आराधन किये हुए समस्त देवतागण सरस्वतीके प्रभावसे पलायमान हो गये जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टीमें मिल गया ॥४२८॥ "

इस अनुवादमें 'श्वानवत' पदका कोई अर्थ नहीं दिया गया, जोकि पलायमानसे पहले 'कुत्तोंकी तरह' ऐसे रूपमें दिया जाना चाहिये था। जान पड़ता है अनुवादकजीको देवताओंके लिये ग्रंथकारकी यह कुत्तोंकी उपमा पसंद नहीं आई और इसलिये उन्होंने इस पद का अर्थही छोड़ दिया है ! साथही, 'जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टीमें मिल गया' यह वाक्य अपनी तरफसे जोड़ दिया है, जिसे अनुवादककी चित्त-वृत्ति [illegible] कहना चाहिये ! मूलमें इस अर्थका द्योतक कोई भी शब्द नहीं है ! इसीतरहका एक मूल-[illegible]वाक्य पृष्ठ [illegible] पर श्लोक नं० [illegible]१२ के अर्थमें भी जोड़ा [illegible], इस प्रकार है: —

"और श्वेता[illegible] **वस्त्र आकाशमें उड़ा** देनेसे (मंत्रद्वारा भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीके उड़ा देनेसे) उनको बड़ा ही नीचा देखना पड़ा।"

इसके सिवाय, 'केवलाभिधयुक्तानां' पदका जो अर्थ 'श्वेताम्बर' किया गया है वह मूलकी ('नाम-मात्रके' की) स्पिरिटसे बहुत कुछ हीन है। ग्रंथकार **ने जिस विशेषणके साथ उन यतियोंका उल्लेख किया है उसका ठीक द्योतन नहीं करता ! और इसलिये उक्त अर्थ त्रिदोषयुक्त है ।**

(२) पृष्ठ २१६ **परके प्रथम सात श्लोकोंमें से** जिस प्रकार अनुवादक महाशयने 'कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना' इत्यादि श्लोक नं० १७८ का अर्थ बिलकुलही नहीं दिया है, और जिसका परि-चय 'कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें' शीर्षकके नीचे नं० (१) में दिया जाचुका है, उसी प्रकार निम्न श्लोकका भी अर्थ नहीं दिया है:—

प्राप्स्यति कां गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यहं ।
द्वादशानां गणानां तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥१८॥

यह श्लोक इतना सरल है कि इसका अर्थ देने में कुछ भी दिक्क़त नहीं हो सकती थी; परन्तु जान पड़ता है अनुवादकजीके सामने इसके 'द्वादशानां गणानां' इन पदोंने कुछ उलझन पैदा करदी है, क्योंकि उनके परममान्य पं० चम्पालालजीने चर्चा-सागरकी १६ वीं चर्चामें 'गण' का अर्थ 'गणधर' सूचित किया है और उनके भाई पं० लालारामजी ने उसकी टिप्पणीमें 'गणान्प्रति' का अर्थ 'गणधरोंके प्रति' करके उसको पुष्ट किया है, इसलिये यदि यहाँ 'गणानां' का अर्थ वही 'गणधरोंका' किया जाता और कहा जाता कि 'वह (कर्मदहनव्रतका अनुष्ठान करनेवाला) किस गतिको प्राप्त होगा उस सबका मैं बारह गणधरोंकी केवल दृढश्रद्धाके लिये कथन करता हूँ' तो वह जैनशास्त्रोंके विरुद्ध पड़ता; क्योंकि जैनशास्त्रोंमें भगवान महावीरके ग्यारह गणधर माने गये हैं — बारह नहीं । और यदि 'समूहोंका' अर्थ किया जाता और उसका आशय द्वादशसभास्थित जीवोंका लिया जाता तो वह उनके भाई तथा मान्य पं० चम्पालालजीके ही विरुद्ध नहीं बल्कि खुद उन के भी विरुद्ध पड़ता; क्योंकि उन्होंने भी इस ग्रंथमें पृष्ठ ३७८ पर 'गणाः' का अर्थ 'गणधरदेव' किया है ! इसी उलझनके कारण शायद आपने इस पद्य का अर्थ छोड़ दिया है ! यह कितनी निरंकुशता **और मायाचारी है !!**

(३) पृष्ठ २५१ पर ग्रंथकारने सिद्धोंका वर्णन करते हुए उनका एक विशेषण 'पंचवर्णविराजिताः' दिया है, अनुवादकने इसकाभी कोई अर्थ नहीं दिया ! इसीतरह 'निरागमाः' आदि औरभी कई विशेषणपदों का अर्थ छोड़दिया है ! इस पृष्ठपरके श्लोकोंका अर्थ कितना बेढंगा और बेसिलसिले कियागया है वह सब देखनेसेही सम्बन्ध रखता है । इस प्रकारकी निरंकुशता न्यूनाधिकरूपमें प्रायः सर्वत्र पाई जाती है ।

(४) पृष्ठ ३२ पर एक श्लोक निम्नप्रकारसे दिया है: —

भवन्त्या . गृहे न्वस्य दासीदासान्कुलोज्झितान् ।
रक्षार्थ . . न पानार्थं न्यादार्थं च खलाशयाः ॥१२३॥

इसका सीधा सादा अर्थ इतना ही होता है कि 'वे . . . अन्धे हुए दुष्टाशय लोग अपने घरपर भोजनपानके लिये अकुलीन दासीदासोंको रक्खेंगे ।' परन्तु अनुवादकर्जीने जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है:

"अर्थः—हे राजन , पंचमकालमें धनिक लोग अपने धनके मदमें अन्धे होकर विचाररहित होजायँगे। जिससे वे अपने गृहमें नीच और अकुलीन नौकर चाकरोंको रक्खेंगे । और उनके हाथसे भोजनपान करेंगे । जिस समय कुसंगति या कुशिक्षासे धनवान लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट होजाती है उस समय उनका विचार भी गंदा होजाता है । उन्हें हिताहितका विवेक नहीं रहता जिससे धर्म और सदाचारकी पवित्र मर्यादा का विचार नहीं कर अपने घरमें नीच मनुष्योंको (दासदासी) रखकर उनके हाथका भोजन करने लगजाते हैं । नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करना धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञासे विरुद्ध है और सदाचारका लोप करनेवाला है । जो लोग नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करते हैं वे जैन नहीं हैं । उनके धर्मकी श्रद्धा नहीं है । अतएव वे नाममात्रके ही जैन हैं ॥ १२३ ॥"

पाठकजन ! देखा, कितना मूलबाह्य यह अर्थ किया गया है ! इसमें 'हे राजन , पंचमकालमें' ये शब्द तथा 'जिससमय' से लेकर 'जैन हैं' तकका सारा कथन अपनी तरफसे बढ़ाया गया है और उसे श्लोक नं० १२३ का अर्थ सूचित किया गया है !! इतने परसे भी अनुवादककी तृप्ति नहीं हुई तब इसी श्लोकमें नीचेके अर्थकी औरभी वृद्धि की गई है, और इसलिये १२३ नम्बर निम्न अर्थके बाद दिया जाना चाहिये था—ऊपर गलती से देदिया गया है ।

"जो लोग अपवित्र साधनोंके साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगोंके हाथका अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपनेको सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं वे श्री जिनेन्द्रदेवके आगमके श्रद्धानी नहीं हैं । तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषोंके हाथका भोजन कर अपनेको पंचअणुव्रतधारी बतलाते हैं वे बनावटी जैनी हैं ।"

इस अंशकी समुद्रयात्रा आदि बातोंका मूलमें कहींभी कुछ पता नहीं है ! यह . . . . स्व० चम्पतरायजी जैसोंको लक्ष्य करके लिखा गया है, जिन्होंने पंचअणुव्रत धारण किये थे और जो समुद्रयात्रा कर विलायत जाते है ! मूलके नामपर कितना बेहूदा और नीच यह आक्रमण है !!!

इसके बाद भोजनपानादिसम्बन्धी कार्योंके लिये शूद्रोंको घरपर रखनेवाले श्रावकोंको श्राव . . न . . शूद्रसमान बतानेवाले श्लोक नं० १२४ का अर्थ . . . . सी गड़बड़को लिये हुए देकर अगले पृष्ठ . . . पेजपर उसका 'भावार्थ' दिया है और उसमें बहुतसा गड़बड़ मचाई गई है—जैनसिद्धान्तके विरुद्ध मुनियोंको भोजनपानके समय सातवाँ गुणस्थान बतलाया है ! शूद्रोंके हाथका भोजन करनेवालोंको 'जैनधर्मसे रहित' करारदिया है, जब कि खुद शूद्र लोग व्रतोंका पालन

* यह श्लोक पिछले . . . में 'शूद्र जलादि के त्यागका . . . विधान' इस उपशीर्षकके नीचे दिया गया है और वहीं पर इसके मूलविषयका विचार किया गया है ।

और क्षुल्लकादि पदको धारणकर उत्तम धर्मात्मा बनते हैं!! और मुसलमान भंगी चमार तथा म्लेच्छादिको जैनी बनाकर उनके साथ भोजन तथा विवाह करने वालोंको जैनमतकी आज्ञासे पराङ्मुख बतलाया है और इस विधानके द्वारा उन जैन चक्रवर्तीराजाओंको, जिनमें तीर्थङ्कर भी शामिल हैं, तथा वसुदेवजी और सम्राट चन्द्रगुप्त जैसोंको जैनधर्मसे बहिर्भूत ठहराया है जिन्होंने म्लेच्छ कन्याओंसे विवाह किये थे !!!

(५) पृष्ठ २७ पर दिया हुआ एक श्लोक इस प्रकार है:—

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात् ।
शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रतः सोऽपि तत्समः॥१३६॥

इसका खुला अर्थ यह है कि 'शूद्र और श्रावक का भेद व्रतपालनसे स्पष्ट होता है, व्रतोका पालन करता हुआ शूद्रभी श्रावक है और व्रतरहित श्रावक को भी शूद्रसमान समझना चाहिये।'

इस सीधेसादे और स्पष्ट अर्थको भी अपने मायाजालके भीतर छिपाकर लोगोंकी आंखोंमें धूल डालने का अनुवादक महाशयने कैसा जघन्य प्रयत्न किया है वह उनके निम्न अनुवाद (अर्थ) परसे सहज ही में समझा जासकता है।

"अर्थ—शूद्र और श्रावक मे यदि भेद है तो इतना ही है कि शूद्र के सोलह संस्कार के अभावसे [illegible] पालन-भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओं [illegible] नहीं होता है और श्रावकोंमें होता है। [illegible] ने भोजनपान आदि धार्मिक व्रत- [illegible] —नहीं करे तो वह शूद्रके समान ही है॥ [illegible]॥"

इसमें शूद्रके सोलहसंस्कारके अभाव आदि की बातको अनुवादकजीने बिलकुल अपनी तरफ से जोड़ा है और 'व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो' इन शब्दोंके आशयको आप बिलकुल ही उड़ा गये हैं !! अपने इस अर्थके द्वारा आप यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शूद्र व्रती नहीं होसकता ! परन्तु यह जैनशास्त्रोंकी आज्ञा और शिक्षाके बिलकुल विरुद्ध है—जैनशास्त्र शूद्रोंके श्रावकीय व्रतपालनके उदाहरणों से भरे पड़े हैं और उनमें शूद्रोंके लिये क्षुल्लकादि रूपसे उत्कृष्ट श्रावक होनेका ही विधान नहीं है बल्कि सोमदेवसूरिके निम्नवाक्यानुसार मुनिदीक्षा तकका विधान पाया जाता है:—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥—यशस्तिलक।

इसके सिवाय सागारधर्मामृतमें भी 'शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः' इत्यादि वाक्य के द्वारा शूद्रोंको ब्राह्मणादिकी तरह धार्मिक क्रियाओं का पूरा अधिकार दिया गया है और उक्त वाक्यकी निम्न प्रस्तावनामें उनके आहारादिकी शुद्धिका भी स्पष्ट विधान किया गया है —

"अथ शूद्रस्याप्याहार शुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद् धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—"

फिर ब्रह्मचारीजी अथवा क्षुल्लकजी महाराजका यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि "शूद्रके व्रतों का पालन-भोजनपान आदि धार्मिक क्रियाओंका पालन नहीं होता है ?" उन्होंने तो स्वयं पृष्ठ ३८० पर लिखा है कि—"नगरके समस्त नर-नारीगणने इस कर्मदहनव्रतको यथोक्त विधिसे धारण किया।" नगरके समस्त नरनारीगणमें शूद्रभी आगये। जब शूद्रोंने यथोक्तविधिसे कर्मदहनव्रतका पालन किया तब फिर व्रतोंके पालन और भोजनशुद्धिकी वह बात ही कौनसी रह जाती है जिसका अनुष्ठान शूद्र न कर सकता हो ! सत् शूद्र तो मुनियोंको आहार तक दे सकता है और खुद मुनि भी हो सकता है।*

*प्रवचनसारकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें सत्शूद्रके जिनदीक्षा लेनेका विधान इस तरहसे किया गया है—"एवं गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षा ग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि।"

खुद ग्रन्थकारने तो उक्त श्लोकके अनन्तर ही यहाँ तक लिखा है कि जैनधर्मको पालन करता हुआ श्वपच (चाण्डाल) भी श्रावकोत्तम (क्षुल्लक आदि) माना गया है, कुत्ता भी व्रतके योगसे देवता हो जाता है तथा एक कीड़ा भी लेशमात्र व्रतके प्रसाद से उत्तम गतिको प्राप्त होता है, और एक दूसरे स्थान पर मातंगादिकके कर्मदहन व्रतके अनुष्ठानसे सुख पानेका उल्लेख किया है§ तब क्या क्षुल्लकजी के न्यायालयमें शूद्रकी पोज़ीशन श्वपच, मातंग, कुत्ते और कीड़ेसे भी गई बीती है जो ये सब तो व्रतका पालन कर सकें परन्तु शूद्र न कर सकें? शूद्रोंके प्रति घृणा और द्वेषकी भी हद हो गई !! खेद है कि ग्रन्थकारने तो शूद्रोंके साथ इतना ही अन्याय किया था कि उनके व्रती एवं शुद्धाचरणी होने पर भी उनके हाथके भोजनपानको निषिद्ध ठहराया था परन्तु अनुवादकजीने चार कदम आगे बढ़कर मिथ्या और विपरीत अनुवादके द्वारा उनके व्रत पालन अथवा धार्मिकक्रियापालनके अधिकारको ही हड़पना चाहा है !! इस मायाचारी और कपट-कलाका भी कुछ ठिकाना है !!! ऐसे ही प्रपञ्चमय अनुवादोंके कारण मैंने अपने पहले लेखमें इस ग्रंथ को 'एक तो करेला और दूसरे नीम चढ़ा' की कहावतको चरितार्थ करनेवाला बतलाया है।

अनुवादकजीकी नसोंमें जातिभेद और जाति-मदका कुछ ऐसा विषम विष समाया है कि एक स्थान पर तो (पृष्ठ ६ के फुटनोटमें) वे यहाँ तक लिख गये हैं कि—"जाति, कुल अनादिनिधन हैं, और उनका सम्बन्ध नीच ऊँच गोत्रसे है ! ऐसा नहीं है कि जिसका रोज़गार (धन्धा) ऊँचा वह ऊँच और जिसका धन्धा नीचा वह नीच हो।" और इसके द्वारा वे अनजानमें अथवा मूर्छित अवस्थामें यह सुझा गये हैं कि एक वैश्यादि ऊँच जाति का जैनी यदि भङ्गी, चमार, खटीक, चाण्डाल अथवा कसाईका भी धन्धा करने लगे तो भी वह ऊँच ही रहेगा—नीच नहीं होने पायेगा। और एक सत्शूद्र जैनी बारह व्रतोंका उत्तम रीतिसे पालन करता हुआ तथा क्षुल्लकके पद पर विराजमान होता हुआ भी 'अपने शरीरकी स्थितिपर्यंत' नीच ही रहेगा—ऊँच नहीं हो सकेगा !! धन्य है आपके इस ऊँच-नीचके सिद्धान्तको !!! जैनाचार्योंने तो—

"चातुर्वर्ण्यं तथान्यच्च चाण्डालादि विशेषणं ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम् ॥
"अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ।
—पद्मचरित्रे, रविषेणः ॥
"आचारमात्र भेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥
"गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।
—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः ॥
"वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

इत्यादि वाक्योंके द्वारा आचारभेद, गुणभेद अथवा वृत्ति (धन्धा) भेदके कारण जातिभेदको कल्पित माना है और नीच उसे बतलाया है जिसका आचरण अनार्य हो। और स्वामी समन्तभद्रने तो "यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यति गुरुर्यतः" इत्यादि वाक्यके द्वारा यहाँ तक सूचित और घोषित किया है कि 'नीचसे नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जैनधर्मको धारण करके इसी लोकमें अति उच्च बन सकता है*। तब अनुवादकजी जाति और कुल की अनादिनिधनताके स्वप्न देख रहे हैं ! और शूद्र मात्रका घोर तिरस्कार कर रहे हैं !! इससे पाठक समझ सकते हैं कि वे जैनाचार्योंके वाक्योंकी अव-

§ इन कथनोंके सूचक वाक्य 'कर्मसिद्धान्तकी नई ईजाद' नामक उपशीर्षकके नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

* विशेष जाननेके लिये देखो, 'अनेकान्त' किरण १ ली, २ री पृष्ठ ११, १२ तथा ११५ आदि।

हेलना करते हुए जैनधर्मके दायरेसे कितने अधिक बाहर जारहे हैं !!!

(६) पृष्ठ ३७७ पर एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है, जिसके मूलअर्थका विचार पिछले लेखमें 'कर्म सिद्धान्तकी नई ईजाद' नामक उपशीर्षकके नीचे किया जाचुका है:—

> म्लेच्छोत्पन्ना नरानार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर !
> भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे धर्माश्च मानवाः ॥१७५॥

इसमें साफतौर पर यह कहा गया है कि 'हे मगधेश्वर ! म्लेच्छोंमें उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर निश्चयसे व्रतहीन मनुष्य स्त्री-पुरुष होते हैं।' इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थके विरुद्ध अनुवादकर्जीने जो अद्भुत लीला रची है और जो प्रपंचमय अर्थ किया है, अब उसे भी देखिये ! वह इस प्रकार है —

"अर्थ—जिनके यहाँ पुनर्विवाहादि मलिन आचरण है, जिनको उत्तमव्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते हैं। शूद्रोंको शीलव्रत किसी तरह भी पालन नहीं होसक्ता है। क्योंकि उनके यहाँ उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभिचार करने वालोंके शीलव्रत हो ही नहीं सक्ता है। शीलव्रतके अभावमें अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अतएव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।"

पाठकजन ! देखा, कितना मूलबाह्य यह सब अर्थ है ! और कैसी निरंकुशतासे काम लिया गया है !! इस सारे अर्थमें "मरकर व्रतविहीन होते हैं" इन अन्तिम शब्दोंके सिवाय और कोई भी बात मूलके शब्दोंसे सम्बन्ध नहीं रखती !!! और इस लिये इसे अनुवादकजीके विचित्र अथवा विकृतमस्तिष्ककी ही एक उपज कहना चाहिये ! उन्हें इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि लोग मेरे इस साक्षात् झूठ पर कितना हँसेंगे और मेरे इस ब्रह्मचारी वेष तथा सत्यव्रतका कितना मखौल उड़ाएँगे !' क्या मस्तिष्क विकारके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि मेरे इस अनुवादको कोई संस्कृत जाननेवाला पढ़ेगा ही नहीं ? परन्तु संस्कृत जाननेवालेको छोड़िये, साधारण हिन्दी जाननेवाला भी यदि मूलके साथ इस अर्थको पढ़े तो वह इतना तो समझ सकता है कि मूलमें पुनर्विवाह, शूद्र, शीलव्रत और व्यभिचार जैसी बातोंका कोई उल्लेख नहीं है—उनका नाम, निशान और पता तक भी नहीं है। धन्य है आपके इस अद्भुत साहसको ! 'चे मर्दाना अस्त दुज़्दे कि बकफ़ चिराग़ दारद * !!

इस अर्थ तथा पिछले नम्बरमें दिये हुए अर्थ परसे शूद्रोंके प्रति अनुवादकर्जीकी चित्तवृत्तिका अच्छा खासा परिचय मिल जाता है और यह मालूम हो जाता है कि वे किस तरहकी खींचातानी करके और कपटजाल रचकर अपने विचारोंको जनताके ऊपर लादना चाहते हैं। परन्तु जो लोग जैन शास्त्रोंका थोड़ासा भी बोध रखते हैं वे म्लेच्छ और शूद्रके भेदको खूब समझते हैं, शूद्रको आर्य जानते हैं - म्लेच्छोत्पन्न नहीं—और दोनोंको ही श्रावकके बारह व्रतोंके पालनका अधिकारी मानते हैं। उनके गले यह बात नहीं उतर सकती कि शूद्र बारह व्रतोंका पालन करता हुआ भी शीलव्रतका पालन नहीं कर सकता - वह तो उन्हीं व्रतोंमें एक व्रत है। और न यही गले उतर सकता है कि व्यभिचार करनेवाला कभी शीलव्रती होही नहीं सकता। चारुदत्तादि कितने ही महाव्यभिचारियोंका तो पीछेसे इतना सुधार हुआ है और वे इतने पूरे ब्रह्मचारी एवं धर्मात्मा बने हैं कि बड़े बड़े आचार्योंको भी उनकी प्रशंसामें अपनी लेखनीको मुक्त करना

* क्या ही मर्दाना चोर है कि हाथमें चिराग़ लिये हुए है !!

पड़ा है। फिरभी यहाँ अनुवादकजीकी आँखें खोलने के लिये दो ऐसे स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनमें पूजकके दो भेदोंमेंसे आद्यभेद नित्यपूजकका स्वरूप बतलाते हुए और उसमें शूद्रका भी समावेश करते हुए शूद्रका भी 'शीलवान्' तथा 'शीलव्रतान्वित' होना लिखा है बाक़ी दृढ़व्रती, दृढ़ाचारी और शौचसमन्वित होनेकी बात अलग रही:—

> ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान्।
> दृढ़व्रतो दृढ़ाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥ १७ ॥
> —पूजासार।
>
> ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
> सत्यशौच दृढ़ाचारो हिंसाद्यव्रतदूषणः ॥ ६-१४३॥
> —धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

यहाँपर मुझे अनुवादकजीके प्रतिपाद्य विषयकी कोई विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है—उनकी निरंकुशता और उसके द्वारा घटित अनर्थका ही कुछ दिग्दर्शन कराना है। इसलिये इस विषयमें अधिक कुछ लिखना नहीं चाहता। हाँ, इतना ज़रूर कहना चाहता हूँ कि अनुवादकजीने यह लिख कर कि जिनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है उनके शीलव्रतका किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता, एक बड़ा ही अनर्थ घटित किया है, और वह यह कि इससे उन्होंने अपने गुरु आचार्य शांतिसागरजी के ब्रह्मचर्यको भी सशंकित बना दिया है; क्योंकि उनकी जातिमें विधवाविवाह होता है। तब शिष्य की दृष्टिमें आचार्य महाराज शीलव्रती भी नहीं ठहर सकते!! पूर्णब्रह्मचारी होनेकी तो बात ही दूर है!!! वाह! शिष्यकी यह कैसी विचित्र लीला है जिस पर आचार्य महाराज मुग्ध हैं!!!'

(७) तेरहपंथियोंसे झड़पके समय भगवानके मुख से एक वाक्य निम्नप्रकार कहलाया गया है, जिसमें लिखा है कि—'हे मगधेश्वर! ग्रंथोंका लोप करनेके पापसे वे सब श्रावक निश्चय ही नरकमें जायँगे':—

> ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्राद्धानिकाः खलु।
> नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर ॥ ९८३॥

इस वाक्यके द्वारा शुद्धाम्नायके संरक्षकों एवं तेरहपन्थके प्रसिद्ध विद्वानो पंडित टोडरमलजी आदि के विरुद्ध, जिन्होंने भट्टारकीय साहित्यके कुछ दूषित ग्रंथोंको अप्रमाण ठहराया था, नरकका फ़तवा निकालकर अथवा उन ग्रन्थोंको न माननेवाले सभी तेरहपन्थियोंके नाम नरकका फ़र्मान जारी करके ग्रन्थकारने अपने संतप्त हृदयका बुख़ार निकाला था। अन्यथा, किसी ग्रंथको सदोष जानकर उसके मानने से इनकार करनेमें नरकका क्या सम्बन्ध? नरकायु के आस्रवका कारण तो बहुआरम्भ और बहुपरिग्रहको बतलाया गया है। परन्तु अनुवादकजीको उन्हें केवल नरक भेजना काफ़ी मालूम नहीं दिया और इसलिये उन्होंने अर्थ देते हुए उसके साथमें उनके निगोद जानेकी बात और जोड़ दी है! और फिर इतने परसे भी तृप्त न होकर इसपर जो मगज़ी चढ़ाई है इसके 'ग्रन्थलोपजपापेन' पद पर जो नोट रूप गोट लगाई है—वह इस प्रकार है:—

"ग्रन्थोंको असत्य ठहराना मानो ग्रंथोंका लोप करना है। इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है। आगमकी सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभुकी सत्यता पर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पना से असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या ग्रन्थका लोपी है। उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञ प्रभुकी। ऐसी अवस्थामें वह अपनी इंद्रियजनित बुद्धिको ही कुत्सित तर्क और और अनुमानजनित विचारसे स्थिर रखकर शास्त्रों की मिथ्या आलोचना कर पापका भागी बनता है। कितने ही ढोंगी—जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित जैन

सुधारक मिथ्यात्वके उदयमें शास्त्र और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते है, सत्य शास्त्रोंमें अवर्णवाद लगा कर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हैं। उनको संस्कृत-प्राकृतका ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है। अपने आप श्रावक बन कर असंयतके समान प्रत्यक्षमें पतित होते हैं।"

पाठकजन ! देखा, ग्रंथसामान्य अथवा ग्रन्थ मात्रको आगमके साथ और सर्वज्ञके साथ जोड़कर अनुवादक महाशयने यह कैसा गोलमाल करना चाहा है, कैसा माया जाल रचा है और उसमें भोले भाइयों को फँसाकर उन्हें अंधश्रद्धालु बनानेका कैसा जघन्य यत्न किया है ! क्या त्रिवर्णाचारों जैसे ग्रंथ, भद्रबाहु संहिता जैसे ग्रन्थ, उमास्वामि श्रावकाचार जैसे ग्रन्थ, चर्चासागर जैसे ग्रन्थ और सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थ आगम ग्रन्थ हैं ? सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए हैं ? यदि नहीं, तो फिर ऐसे ग्रन्थोंकी आलोचनासे और उनके अप्रामाणिक ठहराये जानेसे विचलित होनेकी क्या जरूरत है ? क्या खास सर्वज्ञकी मुहर लगे हुए कोई ग्रंथ हैं, जिनकी परीक्षा अथवा आलोचना न होनी चाहिये ? यदि नहीं-प्रत्युत इसके ऐसे उल्लेखभी मिलते हैं कि भ्रष्टचारित्र पंडितों और बठरसाधुओं ने (धूर्त मुनियोंने) निर्मल जैनशासनको मलिन कर दिया है[1], तो फिर जिज्ञासु सत्पुरुषोंके लिये परीक्षा के सिवाय और दूसरा चारा (उपाय) ही क्या हो सकता है ? अथवा क्या ऐसी नकली मुहरभी सर्वज्ञ की मुहर होती है जैसी कि इस सूर्यप्रकाशपर लगाई गई है ? और सर्वज्ञने कहा हो कब है कि मेरे वचनोंकी जाँच अथवा परीक्षा न की जाय ? सर्वज्ञोंका शासन कोई अन्धश्रद्धाका शासन नहीं होता। उसमें तो परीक्षकोंके लिये खुला चैलेञ्ज रहता है कि वे आएँ और परीक्षा करें। इसीमें उनका और उनके शासनका महत्व है। समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने तो खुद सर्वज्ञकी भी परीक्षाकी है, फिर उनके नामकी मुहरलगे ग्रंथोंकी तो बातही क्या है? परीक्षा और समालोचनाका मार्ग सनातनसे चला आया है। जिस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघभेद हुआ था उस समय दिगम्बर महर्षियोंने श्वेताम्बराचार्यों द्वारा संकलित आगम ग्रन्थोंको अप्रामाणिक और अमान्य ठहराया था। इस अप्रामाणिकता और अमान्यताके द्वारा उन्होंने जो उन आगम ग्रंथोंके लोपका प्रयत्न किया तो क्या इससे वे महर्षिगण नरक निगोदके पात्र होगये ? और उन ग्रंथोंको अमान्य क़रार देनेवाला सारा दिगम्बरसमाज भी क्या नरकनिगोदमें पड़ेगा ? इसपरभी अनुवादकजीने कुछ विचार किया है या योंही अनाप सनाप लिख गये ? इसके सिवाय, इसी ग्रंथमें तेरहपन्थीग्रन्थोंके विरुद्ध कितनाही ज़हर उगला गया है, उनमें जो प[ञ्चा]मृत अभिषेक आदिका निषेध किया गया है उसकी असभ्यतापूर्ण कड़ी आलोचना की गई है और इसतरह उन ग्रन्थोंके लोपका प्रयत्न किया है, तब क्या अनुवादकजी इस ग्रन्थलोपके पापके कारण ग्रन्थकारको और खुद अपनेको भी नरक निगोद भेजनेके लिये तैयार हैं। यदि नहीं तो फिर इस व्यर्थके शब्दजालसे क्या नतीजा है ?

क्या असत्य ग्रंथोंको अमान्य ठहरानेमें भी कोई पाप है ? झूठे, जाली, मिथ्यात्वपूरित एवं धूर्तोंके रचे हुए विषमिश्रित भोजनके समान धर्मप्राणोंका हरण करनेवाले इन त्रिवर्णाचारादि जैसे अहितकारी ग्रंथोंका तो जितनाभी शीघ्र लोप होजाय उतनाही अच्छा है। जैनसाहित्यके कलंकरूप ऐसे ग्रंथोंका वास्तविक स्वरूप प्रकट करके उनके लोपमें जो कोईभी मदद करता है वह तो जैनशासनकी, जैनागमकी, जैनाचार्योंकी अथवा यों कहिये कि सत्यार्थ आप्त-आगम-गुरुओंकी सच्ची सेवा करता है। सत्यके लिये आलोचना और परीक्षा की कोई चिंता नहीं होती। जिसके पास शुद्ध और

[1] पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

खालिस सुवर्ण है वह इस बातसे कभी नहीं घबराता कि उसके सुवर्णको कोई घिसकर, छेदकर अथवा तपाकर देखता है। प्रत्युत इसके, जिसके पास खोटा माल है अथवा जाली सिक्का है वह सदा उसके विषयमें सशंकित रहता है और कभी उसे खुली परीक्षाके लिये देना नहीं चाहता। यही वजह है जो प्राचीन एवं महान् आचार्योंने कभी परीक्षाका विरोध नहीं किया, वे बराबर डंकेकी चोट यही कहते रहे कि खूब अच्छी तरहसे परीक्षा करके धर्मको ग्रहण करो, अन्धश्रद्धालु मत बनो; क्योंकि उन्हें अपने धर्मसिद्धान्तोंकी असलियत एवं सत्यतापर पूरा विश्वास था और वे समझते थे कि जो बात परीक्षापूर्वक ग्रहण की जाती है उसमें दृढ़ता एवं स्थिरता आती है और उसके द्वारा विशेषरूपसे कल्याण सध सकता है। परन्तु भ्रष्ट एवं शिथिलाचारी भट्टारकों और उनके पंडितों अथवा अनुयायियोंने चूँकि अपने लौकिक स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये ग्रंथोंमें बहुत कुछ मिलावट की है और अपने जाली सिक्कोंको तीर्थंकरों तथा [illegible] ऋषियोंके नामसे चलाना चाहा है, [illegible] सर्वत्र शंकिताः" की नीतिके अनु- [illegible] इस बातकी चिन्ता और भय रहा [illegible] कपट-प्रबन्ध किसीपर खुल [illegible] और इसीसे वे अनेक प्रकारके उपदेशों [illegible] द्वारा ऐसी रोकथाम करते आये हैं, जिससे लोग तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययनकर ग्रंथोंकी परीक्षामें प्रवृत्त न हों, उनपर कुछ आपत्ति न करें और जो कुछ उनमें लिख दिया गया है उसे बिना 'चूँचरा' किये अथवा कान हिलाये चुपचाप मानलिया करें। और शायद यही वजह थी जो वे आमतौर पर गृहस्थोंको ग्रंथ पढ़नेके लिये प्रायः नहीं देते थे, उन्हें पढ़नेका अधिकारी नहीं बतलाते थे और खुदही अपनी इच्छानुसार उन्हें ग्रन्थोंकी कुछ बातें सुनाया करते थे—यह सब तेरहपन्थके उदयकाही माहात्म्य है जो सबके लिये ग्रन्थोंका मिलना इतना सुलभ होगया है। इस ग्रन्थमें भी भट्टारक गुरुओं (जिनाज्ञा पुरुषों) के मुखसे ग्रन्थोंके सुननेकी प्रेरणाकी गई है, जिसकी सीमाको बढ़ाते हुए अनुवादकजीने यहाँ तक लिख दिया है कि "ग्रन्थोंका स्वाध्याय गुरु मुखसेही श्रवण करना चाहिये" !! और उक्त श्लोक नं० ६८३ से ११ श्लोक आगे ही सम्यग्दर्शनका विचित्र लक्षण वाला वह श्लोक भी दिया है जिसमें ग्रन्थकारोंने ग्रन्थोंमें जो कुछ लिख दिया है उसीके माननेको सम्यग्दर्शन बतलाया है! और जिसकी आलोचना कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातोंमें नं० ६ पर की जाचुकी है। खुद अनुवादकजीने जानबूझकर इस ग्रन्थके अनुवादमें बहुत कुछ अर्थका अनर्थ किया है और कितनेही झूठी तथा निःसार बातें अपनी तरफसे मिलाई हैं, जैसाकि अब तककी और आगेकी भी आलोचनाओंसे प्रकट है। फिर वे इस बातको कैसे पसन्द कर सकते हैं कि कोई इस ग्रंथकी समालोचना करे और उसके दोषोंको दिखलाए। इन सब बातोंको लेकरही वे समालोचनाके विरोधी बने हुए हैं। अपने उन वर्तमान गुरुओंकी मानमर्यादाका भी उन्हें ख़याल है जिन्हें वे अपनी स्वार्थ सिद्धिका साधन बनाये हुए हैं—उनकी समालोचनाको भी वे नहीं चाहते। इसीलिये ग्रंथोंकी समालोचनाके प्रसंगपर गुरुओंकी समालोचनाको भी उन्होंने साथमें जोड़ दिया है। चूँकि इन दोनोंकी समालोचनाका भय उन्हें सुधारकोंकी तरफसे ही है, इसीसे वे सुधारकोंके विरुद्ध उधार खाए बैठे हैं और उन्होंने सुधारकोंको "ढोंगी, जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित" आदि कहकर उनके विरुद्ध कितनी ही बेतुकी बातें लिख डाली हैं! अन्यथा, उनके इस लिखनेमें कुछभी सार नहीं है। और उनका यह सारा नोट बिलकुल नासमझी, अविचार, द्वेषभाव और अनुचित पक्षपातको लिये हुए है। (क्रमशः)

साहित्य और इतिहास ।

(लेखक—श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमी)

(१२)

दासी-दास ख़रीदे बेचे जाते थे ।

यह जानकर बहुतसे पाठकोंको आश्चर्य होगा कि पूर्व कालमें इस पुण्यभूमि भारतमें भी दासी और दास ख़रीदे बेचे जाते थे और उस समयके राज्य-नियम भी इस प्रथाके अनुमोदक थे । धर्म-शास्त्र और धर्माचार्य भी शायद इसके विरोधी नहीं थे । जैन शास्त्रोंमें दस प्रकार-का जो बाह्यपरिग्रह बतलाया है, उसमें भी दासी दासका नाम है; परन्तु वर्तमान समयके वातावरणमें पले हुए पण्डितजन उसका साधारण अर्थ नौकर-नौकरानी कर दिया करते हैं । पिछले भाषा-टीकाकारोंने भी प्रायः यही अर्थ किया है । परन्तु ज़रा गहराईसे विचार करने-से साफ़ मालूम हो जाता है कि दासी-दासका अर्थ मामूली नौकर चाकर नहीं है । क्योंकि वे नौकरी करते हुए भी स्वतन्त्र हैं, नौकरी करना या न करना और मालिककी प्रत्येक इच्छाके वशवर्ती होना न होना उनकी इच्छा पर निर्भर है । उनपर उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई ज़ब्र या ज़ुल्म नहीं किया जा सकता है और इसलिए वे हमारे परिग्रहकी गिनतीमें नहीं आ सकते हैं । परन्तु पूर्वकाल-के दासी-दास उसी प्रकार हमारी मालिकीकी चीज़ थे, जिस प्रकार कि हमारे घर-द्वार, बर्तन-भांडे, सोना-चाँदी, और गाय-भैंस आदि हैं और इसीलिए परिग्रह-परिमाण-व्रतवालेको उक्त सब चीज़ोंके समान इस बातका भी व्रत लेना पड़ता था कि मैं इतने दास और इतनी दासियाँ ही रक्खूँगा, इससे अधिक नहीं ।

अनगारधर्मामृत-टीका (अध्याय ४, श्लोक १२१ पृ० २८२) में पं० आशाधरजीने 'दासः क्रयक्रीतः कर्मकरः' लिखकर दासका अर्थ बहुत स्पष्टतासे ख़रीदा हुआ नौकर कर दिया है । इसलिए इस विषयमें कोई शङ्का ही नहीं रहती है कि दासी-दास ख़रीदे हुए गुलाम हुआ करते थे ।

लाटी-संहिताके छठे सर्गमें पं० राजमल्लजीने भी परिग्रह-परिमाणव्रतका स्वरूप कहते हुए लिखा है—

दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती ।
तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या नातिक्रमात् ॥१०८॥
यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी ।

अर्थात् दासकर्म करनेवाली दासियाँ जो चाहे ख़रीदी हुई हों और चाहे यों ही स्वीकार कर ली गई हों—उनकी संख्या भी परिग्रह-परिमाणव्रतकी शुद्धिके लिए निश्चित कर लेनी चाहिए । जिस तरह दासियाँ उसी तरह दासोंकी संख्या निश्चित कर लेना भी कल्याणकारी है । इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि दासी-दास ख़रीदे जाने-का रिवाज़ था ।

पूर्वकालमें दास और शूद्रका एक ही अर्थ था । यद्यपि सभी शूद्र दास नहीं होते थे, परन्तु यह निश्चय है कि सभी दास शूद्र गिने जाते थे । मनुस्मृतिमें जो यह लिखा है कि शूद्रका निजका धन कुछ भी नहीं है, उसका मालिक उसके धनको ख़ुशीसे ले सकता है—

नहि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ।१७

—अध्याय ८

सो इस शूद्रका अर्थ दास ही है । और भी लिखा है ।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ।४१३।

—मनुस्मृति अध्याय ८

अर्थात् शूद्र चाहे ख़रीदा हुआ हो चाहे बिना ख़रीदा हुआ, उससे दासता करानी चाहिए । क्योंकि स्वयंभू ब्रह्माने उसे दासताके लिए ही बनाया है ।

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

अर्थात् स्वामी छोड़ भी दे, तो भी शूद्र (दास)

दासता (गुलामी) से नहीं छूट सकता, क्योंकि यह दासता उसकी स्वाभाविक है। उससे उसे कौन छुड़ा सकता है?

मनुस्मृतिके अनुसार ये दास सात प्रकारके होते थे–

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

(१) लड़ाईमें जीतकर लाये हुए, (२) भोजनके लोभसे आये हुए, (३) घरू दासियोंके गर्भसे पैदा हुए, (४) खरीदे हुए, (५) दूसरों द्वारा भेट किये हुए, (६) पैतृक अर्थात् बाप दादोंसे चले आये हुए और (७) दण्डदास अर्थात् दण्ड आदिके धनको चुकानेके लिए जिन्होंने स्वयं दासता स्वीकार की हो, इस तरह सात प्रकारके दास हैं।

भारतके सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेदमें भी दासीदासोंके दान देनेका उल्लेख मिलता है। त्रसदस्युने सोभरिको ५० दासियाँ दान दीं। (ऋ० ८–१९–३६)

भड़ोंच बहुत पुराना बन्दरगाह है। बहुत प्राचीन कालसे यहाँसे विदेशोंके साथ आयात-निर्यात् व्यापार होता रहा है। इण्डियन एण्टिक्वेरीके वॉल्यूम VIII में यूनान आदि देशोंसे जो जो चीजें आती थीं और यहाँसे जाती थीं उनका एक कोष्टक प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि उस समय सुन्दर लड़कियाँ भी यहाँ विदेशोंसे बेचनेके लिए लाई जाती थीं। संस्कृत नाटकोंमें राजाओंके समीप रहनेवाली यवनियोंका जो वर्णन आता है, वे शायद इसी तरह खरीदकर लाई हुई सुन्दरियाँ होती थीं। महाकवि कालिदासके शकुन्तला नाटक (अंक २) में राजाका आगमन सूचित करते हुए लिखा है— 'एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः।'* अर्थात् जंगली फूलोंकी माला धारण करनेवाली और हाथोंमें धनुष रखनेवाली यवनियोंसे घिरा हुआ राजा इधर ही आ रहा है।

बौद्धोंके अंगुत्तर-निकायमें † कौमारभृत्य जीवककी कथा है, जो बड़ा भारी वैद्य था और जिसे राजा बिम्बसार (श्रेणिक) के पुत्र अभयकुमारने पाला-पोसा था। तक्षशिलामें वैद्यविद्याको पढ़कर और आचार्य होकर जब यह लौटा, तो इसने रास्तेमें साकेत (अयोध्या) के नगरसेठकी भार्याका इलाज करके उसे एक कठिन रोगसे मुक्त किया। इससे प्रसन्न होकर स्वयं सेठानीने, उसके पुत्रने, बहूने और सेठने उसे चार चार हज़ार रुपए दक्षिणा दी, साथ ही सेठने एक रथ, एक दास और एक दासी भेंट की। इससे मालूम होता है कि राजा श्रेणिकके समयमें दासी-दास धन-दौलतके समान ही भेट मेहनताने आदिमें दिये जाते थे। उस समय जो जितना बड़ा आदमी होता था, उसके उतने ही अधिक दासी दास होते थे।

थेरी-गाथाकी अट्ठकथा (काश्यप-सन्यासीकी कथा) में * पिप्पली माणवकके वैभवका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके यहाँ १२ योजनतक फैलेहुए खेत, १४ हाथियोंके झुण्ड, १४ घोड़ोंके झुण्ड, १४ रथोंके झुण्ड और १४ दासोंके ग्राम थे। ये दास गुलाम ही थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके मन्त्री चाणक्यने अपने कौटिलीय अर्थशास्त्र नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें इस विषयपर 'दासकल्प'‡ नामका एक पृथक् अध्याय ही लिखा है। उसमें दास-दासियोंके खरीदने बेचने, गिरवी रखने, दासतासे मुक्त होने दासी-दासोंके साथ अनुचित बर्ताव करनेवालोंको दण्ड देने आदिके नियम दिये हैं। इस अध्यायको पढ़नेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रह जाता है कि दासी-दास खरीदे बेचे और गिरवी रक्खे जाते थे। हाँ, चाणक्यने अपनी शासन-व्यवस्थामें इस बातपर पूरा पूरा ध्यान रक्खा है कि उनके प्रति किसी तरहका अत्याचार न होने पावे। यदि कोई किसी 'आर्य' मनुष्यको गुलाम बनाता था, तो उसे कठोरदण्ड दिया जाता था।

यह गुलामीकी प्रथा पूर्वकालमें प्रायः सभी देशोंमें थी और यूरोपमें तो इसकी 'अति' होगई थी। वहाँ वालोंने इस महापापका प्रचार व्यापारके रूपमें किया था, जिसका इतिहास पढ़कर मनुष्यता काँप उठती है और

* मूलवाक्य प्राकृतमें है। पाठकोंकि सुभीतेके लिए यहाँ संस्कृतच्छाया ही दी है।

† देखो बुद्धचर्या पृष्ठ २८७–३०७।

* बुद्धचर्या पृष्ठ ८२ ८२।

‡ कौटिलीय अर्थशास्त्र, पं० उदयवीरशास्त्रीके अनुवाद सहित, द्वितीय भाग, पृ० ६४-७०।

जिसके रोकनेके लिए उत्तर और दक्षिण अमेरिकाके बीच गृहयुद्ध तक हुआ था। आफ्रिकाके उत्तरी प्रदेशोंसे हज़ारों भोले भाले स्त्री-पुरुषोंको घेरकर, गाँवोंमें आग लगाकर और पशुओंके समान उन्हें खेद-खेदकर जहाज़ोंमें भर लेते थे और फिर सुदूर अमेरिका आदि देशोंमें जाकर बेचते थे। वहाँ इन्हें खरीदने बेचनेके लिए बड़े बड़े बाज़ार लगते थे। एक गुलाम लगभग तीन सौ रुपयों (२० पौंड) में बिकता था। जहाज़ोंमें ये ऐसी बुरी तरहसे भरे जाते थे और उनके साथ ऐसा अमानुषिक व्यवहार किया जाता था कि उनमेंसे सैकड़ा पीछे १७ के लगभग तो जहाज़ोंमें ही मर जाते थे और इससे दूने वहाँकी आबोहवा मुआफ़िक न आनेके कारण कालके ग्रास बन जाते थे। अमेरिकामें इस समय नीग्रो या हबशी लोगोंकी जो करोड़ोंकी जन-संख्या है, सो सब प्रायः आफ्रिकासे लाकर बेचे हुए गुलामोंकी ही है।[1]

इस देशमें दासी-दासोंके साथ ऐसा अमानुषिक व्यवहार तो नहीं होता था, अपेक्षाकृत सदयताका व्यवहार होता था, विशेष करके मनुस्मृतिकालके बाद; फिर भी वे स्वाधीन तो नहीं थे। यहाँ यह दास-प्रथा अँग्रेज़ी राज्यके प्रारम्भ तक आमतौरसे प्रचलित थी। इसे कानूनन बन्द हुए तो अभी ७२ वर्ष ही हुए हैं। यहाँ सन् १८११ में विदेशोंसे आनेवाले गुलाम बेचनेकी मनाई की गई, सन् १८४३ मे यह निश्चय हुआ कि सरकारी अधिकारी किसी भी प्रकारकी गुलामगीरीको कानूनसे जायज़ न समझे और सन १८६० मे इंडियन पिनलकोड (ताजिरात हिन्द) में गुलाम ख़रीदना बेचना अपराध ठहराया गया।

सुप्रसिद्ध हिन्दू राज्य नेपालमें तो यह दास-प्रथा गतवर्ष ही कानून बनाकर बन्द की गई है और वहाँ के कई हजार गुलाम एक साथ मुक्त कर दिये गये हैं। राजपूताने-के अनेक देशी राज्योंमें तो अब भी यह किसी न किसी रूपमें बनी हुई है। वहाँके रईसोंमें अब भी दासियाँ दहेज़में दी जाती हैं।

कुछ बरसों पहले बंगलाके सुप्रसिद्ध मासिकपत्र भारत-वर्षमें (वर्ष ११, खं २, अंक ६, पृ० ८४७) में प्रो० सतीशचन्द्र मित्रका 'मनुष्य विक्रय-पत्र' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने लिखा है कि भारतमें भी दास-विक्रय होता था, इसके बीसों प्रमाण मिले हैं और उनमेंसे दो प्रमाण उद्धृत किये हैं। (१) प्रायः ढाईसौ वर्ष पहले बारिसाल (बंगाल) के एक कायस्थने छोटे बड़े ७ स्त्री-पुरुषोंको इकतीस रुपयोंमें बेचा था। बेचनेकी यह दस्तावेज़ बंगला संवत् १३१९ के फाल्गुन मासके ढाका-रिव्यूमें प्रकाशित हो चुकी है। (२) दूसरी दस्तावेज़ ११९५ (बंगला संवत्) सालके १६ पौष (दिसम्बर १७८८) की लिखी हुई है, जिसमें अमीराबाद परगना (वर्तमान फ़रीद-पुर ज़िला) के गोयाला ग्राम निवासी रामनाथ चक्रवर्तीने अपने पद्मलोचन नामक ७ वर्षके दासको दुर्भिक्ष पड़नेसे अन्न वस्त्र न दे सकनेके कारण दो रुपयोंमें राजचन्द्र सरकारके हाथ बेच देना स्वीकार किया है। लिखा है कि "यह सदैव सेवा करेगा। इसे अपनी दासीके साथ ब्याह देना। ब्याह-से जो सन्तान होगी, वह भी यही दास-दासीका कर्म करेगी। यदि यह भाग जाय, तो अपनी क्षमतासे पकड़वा लिया जाय। यदि मुक्त होना चाहे, तो २२ मन सीसा और एक मन रसून (लहसुन ?) देकर मुक्त होजाय।

ईस्वी सन् १३१७ में सुप्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता भारतवर्षमें आया था जो मराकश या मरकोका रहनेवाला था और यहाँ कई बरस तक देशके एक छोरसे दूसरे छोर तक घूमता रहा था।[1] उसके समयमें दासियाँ बहुत ही सस्ती थीं। एक जगह वह लिखता है कि "वज़ीरने दस दासियाँ मेरे लिए भेज दीं। ...गन्दी तथा सभ्यतासे अनभिज्ञ होनेके कारण इस देशमें लूटकी दासियाँ खूब सस्ती मिलती हैं। परन्तु जब सीखी सिखाई दासियाँ ही सस्ती मिल जाती है, तो फिर कोई पुरुष ऐसी दासियोंको क्यों मोल लेने लगा? साधारण दासीका मूल्य ८ टंकसे[2] अधिक न था और पत्नी बनाने योग्य दासी १५ टंकोंको मिलती थी।"

---

[1] इस गुलामीका विस्तृत वर्णन पढ़नेके लिये आत्मोद्धार (बुकर टी० वाशिंगटनकी आत्मकथा), अब्राहम लिंकन और टामकाकाकी कुटिया पढ़िए।

[1] काशीके ज्ञानमण्डलने 'इब्नबतूताकी भारतयात्रा' को हाल ही हिन्दीमें प्रकाशित किया है।

[2] १०० रत्ती चाँदीका एक टंक होता था। टंक उस समयका सिक्का था, जो इस समयके रुपएसे कुछ ही बड़ा था।

इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि हमारे देश-में दासियोंका दर्जा क्या था और जैनशास्त्रोंमें उनकी गणना जो क्षेत्र वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन्य धान्य आदि परिग्रहके साथ की गई है, सो क्यों की गई है। इब्नबतूता-के यात्रा विवरणसे हमें यह भी पता लगता है कि दासियोंसे पत्नियोंका भी काम लिया जाता था, अर्थात् पुरुष उन्हें भोग भी सकते थे और ऐसी खरीदी हुई दासियोंसे भोग-लालसा शान्त करना शायद अधिक निंद्य नहीं समझा जाता था। उन्हें बिना विवाह किये ही रख लेनेकी छूट थी। पंडित राजमल्लजीने अपनी लाटी-संहिताके दूसरे अध्यायमें लिखा है:—

देवशास्त्रगुरूनत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्।
पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता।१७८।

अर्थात् जिसके साथ विधिपूर्वक बन्धुजनोंके समक्ष ब्याह किया गया हो वह पत्नी और यह नहीं किया गया हो वह चेटिका या दासी। आगे चलकर १८४-१८५वें श्लोकमें इसे और भी स्पष्ट कर दिया है कि चेटिका सुरत-प्रिया होती है और वह केवल भोगकी चीज़ है:—

'पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया।'
'चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः॥'

कौटिलीय अर्थशास्त्रके पूर्वोक्त दासकल्प अध्यायमें ही लिखा है—

स्वामिनोऽस्यां दास्यां जातं समातृकमदासं-विद्यात्॥३२॥ गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्या अदासाः स्युः॥३३॥

अर्थात मालिकसे उसकी दासीमें सन्तान उत्पन्न हो जाय, तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासता (गुलामी) से मुक्त कर दिये जावें॥३२॥ यदि वह दासी कुटुम्बके सब कार्योंका चिन्तन करती हुई मालिकके घरमें ही भार्याके समान रहना चाहती है, तो उसकी माता, बहिन और भाइयोंको भी दासतासे मुक्त कर दिया जावे॥३३॥

इससे भी इस बातका आभास मिलता है कि दा-सियोंके साथ विषय-सेवन वर्जित नहीं था और यदि उनसे सन्तान हो जाती थी, तो वे दासतासे मुक्त हो जाती थीं और यदि चाहती थीं तो भार्यारूपमें भी रह सकती थीं। राजपूतानेके राजपूतों, ओसवालों आदिमें दासियोंके रखने-की प्रथा कसरतसे जारी थी। इस समय भी वहाँ हज़ारों-की तादादमें इन जातियोंके दासीपुत्र पाये जाते हैं, जो शायद गोले या दरोगा कहलाते हैं। १६-११-३२

(१४)

पुरातन खम्भात

'प्रस्थान' के आषाढ़ श्रावणके अंकमें पुरातन खंभात-के विषयमें एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें अनेक जैनग्रन्थोंके और दूसरे लेखकोंके प्रमाण देकर बतलाया है कि प्राचीनकालमें यह बन्दरगाह बहुत ही प्रसिद्ध था और यह 'स्तंभतीर्थ' कहलाता था। स्तंभतीर्थ-से प्राकृतमें 'खम्भईत्थ', उससे 'खम्भईत' 'खम्भायत' और अन्तमें खम्भात हो गया। नवमी शताब्दिके अरब यात्रियोंने इसे 'कम्बायत' या 'कंबाय' लिखा है। स्तंभ-नकपुर या स्तंभनपुरसे यह जुदा है। स्तंभनपुरसे विक्रम संवत् १३६८ में स्तम्भन-पार्श्वनाथकी प्रसिद्ध मूर्ति खंभा-यत या स्तम्भतीर्थमें लाई गई, और इससे पीछेके लोग भ्रमवश स्तम्भनपुर और स्तम्भतीर्थको एक समझने लगे। तीर्थ शब्दका वास्तविक अर्थ वह नहीं है जो इस समय रूढ़ हो गया है। पवित्र नदियों, उनके घाटों और समुद्र तटोंके अर्थमें जहाँसे जहाज़ोंमें पार होनेके लिए सवार होते थे, तीर्थ शब्द व्यवहृत होता था। बन्दरगाहके लिए प्राचीन शब्द 'वेलाकूल' है। बम्बईसे समुद्रमार्गसे गिरनार जानेके लिए जिस बन्दरपर उतरना पड़ता है, इस समय उसका नाम 'वेराउल' है, यह 'वेलाकूल' का ही अपभ्रंश है। मछलीपट्टम, आदि बन्दरोंको इस समय भी केवल 'बंदर' कहकर पुकारा जाता है। खंभातका एक नाम ताम्रलिपि भी था, जो तेरहवीं सदी तक प्रयुक्त होता था। बंगालमें जो ताम्रलिप्त (तमलुक) बन्दरगाह था, वह इससे जुदा और अधिक प्रसिद्ध रहा है।

साहित्य परिचय ।

चर्चासागरके शास्त्रीय प्रमाणोंपर विचार।

लेखक-श्री गजाधरलालजी शास्त्री । प्रकाशक रतनलालजी झाँझरी । ९४ लोअर चितपुर रोड कलकत्ता । मूल्य चार आना ।

दिगम्बरोंके पिछले विकृतसाहित्यके आधारपर चर्चासागर नामक एक ग्रन्थकी रचना हुई, जिसका दिगम्बर समाजने एक स्वरसे विरोध किया । परन्तु शिथिलाचार तथा क्रियाकाण्डके पुजारी कुछ पण्डितोंने उसका समर्थन किया । पं० मक्खनलालजीने इस विषयमें एक पुस्तक ही लिख मारी । उसके सयुक्तिक विचार और विवेकपूर्ण उत्तरके लिये यह पुस्तक लिखी गई है । पण्डित गजाधरलालजीने खूब विस्तारसे (२८४ पृष्ठोंमें) पं० मक्खनलालजीकी पुस्तककी आलोचनाकी है । जैन साहित्यमें (खासकर दिगम्बर साहित्यमें) कितना विकार हु गया है और उसमें कितनी अप्रामाणिकता आ गई है, इस बातको लेखकने अच्छी तरह सिद्ध किया है । इस ढङ्गसे यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगई है । लेखक महोदयका प्रयत्न प्रशंसनीय है । प्रचारके लिये मूल्य नाममात्रका रक्खा गया है ।

भगवान महावीरका समय ।

बा० कामताप्रसादजी जैन, सम्पादक 'वीर' । प्रकाशक चैतन्य प्रिन्टिङ्ग प्रेस बिजनौर । मूल्य सदुपयोग ।

वर्तमानमें जो वीरसंवत् प्रचलित है, उसमें १९ वर्ष कम हैं—इस बातकी सिद्धिके लिये यह ट्रैक्ट लिखा गया है । समैयाभावसे इस विषयकी विस्तृत आलोचना मैं नहीं कर सकता हूँ । परन्तु इस ट्रेक्टसे यह बात अभी विवादग्रस्त ही मालूम होती है । वीरनिर्वाणके निर्णयमें कई बाधाएँ हैं । एक भारी अड़चन तो यह है कि बौद्धोंकी सम्वत्गणना बहुत अप्रामाणिक है । उनमें बुद्धनिर्वाण सम्वत् एक ही प्रचलित नहीं है, कोई राज्यकालसे, कोई स्वर्गवासके कालसे मानता है । इन सब बातोंके निर्णयके लिये और विरोधी की भूल साबित करनेके लिये बहुत परिश्रम और निःपक्षताकी ज़रूरत है । इसके लिये बड़ा भारी पोथा लिखा जाना चाहिये । एक दो फ़ार्मोंमें इसका विवेचन नहीं हो सकता । विरोधी प्रमाणोंपर तो खूब ही विचार करनेकी ज़रूरत है, परन्तु इस ट्रेक्टमें ऐसे अवसरोंपर उपेक्षा ही की गई है । लेखककी मान्यता है कि बुद्धकी उमर महावीरसे अधिक थी, जब कि बौद्ध ग्रन्थ महावीर को ज्येष्ठ स्वीकार करते हैं । लेखक इसके उत्तरमें सिर्फ़ इतना ही लिखते हैं कि 'म० बुद्ध इस बातका कोई स्पष्ट उत्तर देते नहीं मिलते हैं कि वे सर्व लघु हैं, वह वहाँ प्रश्नको टालते मिलते हैं' । यह बहुत कमज़ोर बचाव है । यहाँ बुद्धकी वयोलघुताके साधक प्रमाणोंका विरोध ज़बर्दस्त होना चाहिये, क्योंकि यह एक ही प्रमाण सारी इमारतको गिरा देता है । बुद्धसे जब लोग पूछते थे कि तुम्हारी उमर तो सबसे थोड़ी है तब तुम ज्ञानी कैसे कहे जा सकते हो, बुद्ध मुर्गीके अण्डोंका उदाहरण देकर अपनी ज्ञानवृद्धता कहते हैं । अर्थात् मैं उमर में छोटा हूँ तो क्या हुआ परन्तु इन लोगोंको तो बोध ही नहीं हुआ है, वे तो संसाररूपी अण्डेमें बन्द हैं, जब कि मैं निकल आया हूँ इसलिये मैं ज्येष्ठ कहलाया । इस प्रकारकी ज्येष्ठतामें उमरकी ज्येष्ठता नहीं है, यह स्पष्ट है । म० बुद्धने अपनी सर्वलघुताके प्रश्नको टाला, इसका ठीक रूप दिखलाना चाहिये । बल्कि टालनेसे लघुता ही साबित होती है, न कि उसका विरोध । पूर्ण विचार और निःपक्षताकी इस ट्रेक्टमें बहुत ज़रूरत है । साथ ही विस्तारसे लिखनेकी भी ज़रूरत है । अगर दिगम्बर पण्डितोंका ध्यान इस विषयकी तरफ़ जावे तो इस ट्रेक्टकी इतनी उपयोगिता पर्याप्त कही जासकती है ।

विविध विषय ।

(ले०—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

बड़ौदा-राज्यमें समाज-सुधार ।

बड़ौदा-राज्य भारतका एक प्रसिद्ध प्रगतिशील राज्य है। अपनी प्रजाको सामाजिकसुधारकी ओर अग्रसर करनेकी ओर भी उसका ध्यान रहता है। बालविवाहको बन्द करनेका क़ानून शायद इसी राज्यने सबसे पहले बनाया था। अभी उसने श्री गोविन्द भाईकी अध्यक्षता में एक समिति इस उद्देश्यसे बनाई है कि वह एक वर्ण की अनेक जातियों और उन जातियोंके अन्तर्भेदों—गोलों—आदिको मिटानेके प्रश्न पर कुछ गम्भीरताके साथ विचार करे। इस समितिने हालही एक प्रश्नावली तैयार करके बड़ौदा राज्यके गुजराती हिन्दुओंकी प्रत्येक जातिके मुखियोंके पास भेजी है और उसकी उत्तरावली माँगी है। प्रश्न ये हैं—

१—आपकी मुख्य जातिके अन्तर्गत कौन कौन उपजातियाँ हैं ?

२—मुख्य जाति और उपजातियोंके बीचमें बेटी-व्यवहार हो सकता है या नहीं ?

३—क्या तुम्हारी जाति और उपजातिमें 'गोल' या 'एकड़ा' भी हैं ? उनका बंधारण या संगठन क्या है ?

४—तुम्हारे 'गोल' या 'एकड़े' का प्रस्ताव कब और कैसे हुआ ?

५—गोल या एकड़ेके बाहर कन्याव्यवहार करनेसे क्या दण्ड देना पड़ता है ?

६—यह दण्ड कैसे वसूल किया जाता है ?

७—दंडके प्रस्तावका कभी उलंघन भी होता है ?

८—गोल या एकड़ेकी नोंध राज्यमें कराई गई है ?

९—गोल या एकड़े मिटा देनेसे तुम्हें जो जो अड़चनें आ सकती हैं या हानि हो सकती हैं, वे बतलाओ।

१०—इस काममें—गोल मिटानेमें—तुम सरकार से क्या सहायता चाहते हो ?

गुजरातकी वैश्यजातियोंमें 'गोल' बने हुए हैं जिन्हें हम 'तड़' या 'गोठ' कह सकते हैं। एक गोलवाला अपनी लड़की दूसरे गोलमें नहीं ब्याह सकता। एक तरहसे ये गोलभी जातियोंका रूप धारण करते जाते हैं। समाज सुधारके मार्गमें ये भी बड़े अन्तराय हैं।

विजातीय-विवाह-प्रचार कैसे हो ?

जैनसमाजमें अन्तर्जातीय या विजातीयविवाहके आंदोलनको प्रारम्भ हुए काफ़ी समय होगया। इस मार्गकी सबसे बड़ी बाधा प्रायः हट चुकी है। यह निश्चय हो चुका है कि जैनधर्मकी दृष्टिसे एक जातिका विवाहसम्बंध दूसरी जातिसे, बल्कि एक वर्णका दूसरे वर्णसे होनेमें भी कोई दोष नहीं है। प्राचीन जैनशास्त्र इस विषयमें सहमत हैं। प्रायः सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार कर लिया है कि इस तरहके विवाह होने चाहिये और इनमें कोई पाप नहीं है। जिन्होंने स्वीकार नहीं किया है, वे ऐसे हैं कि उन्हें स्वयं 'ब्रह्मा' जी भी नहीं समझा सकते हैं। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि इसका प्रचार कैसे हो ? यह व्यवहारमें कैसे आवे ? पिछले कुछ वर्षोंमें जो विजातीय विवाह हुए हैं उनकी संख्या इतनी कम है कि उससे यह आशा नहीं की जासकती कि यह प्रथा शीघ्रही चल पड़ेगी। इसके लिए ख़ासतौरसे प्रयत्न करना होगा। हमारा प्रयत्न सफल हो, इसके लिए हमें कुछ पूर्व तैयारी भी कर रखनी चाहिये। बड़ौदाराज्यके समान हमें भी एक समिति बनानी चाहिये जिसके सभ्य इस विषयका ख़ासतौरसे अध्ययन करें और नीचे लिखी बातें मालूम करके सर्व-साधारणकी जानकारीके लिये प्रकाशित करें—

१—जैनधर्मको पालनेवाली सब मिलकर कौन कौन और कितनी जातियाँ हैं ? बड़ीही लज्जाकी बात है कि इस विजातीयविवाहका तो आन्दोलन करते हैं, परन्तु अभी तक हमारे पास जैन जातियोंकी कोई प्रामाणिक नामसूची भी नहीं है। जातियोंके शुद्ध नामभी कोई नहीं बतलाता है। स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्रजीकी डिरेक्टरी एक तो बहुत पुरानी होचुकी, और दूसरे वह बहुतही अशुद्ध तथा अप्रामाणिक है।

२—जातियों और उपजातियों या शाखाजातियोंके

नाम। कौन कौनसी उपजातियाँ किन किन मुख्य जातियों की शाखायें हैं ?

३—प्रत्येक जातिकी दस्सा पंचा विनैकया या पतित की हुई जातियोंके नाम ?

४—उन सब जातियोंके नाम जिनका विवाहसम्बन्ध अन्यधर्मोंके पालनेवालोंके साथ होता है। ऐसी जातियोंके नाम जो अन्य जातियों या अन्यधर्मी जातियोंकी लड़कियाँ ले तो लेते हैं, परन्तु उन्हें देते नहीं हैं।

५—प्रत्येक उपजाति या पतित जातिके बननेका जितना इतिहास मालूम होसके, वह संग्रह किया जाय।

६—जो जो जातियाँ एक प्रान्त या ज़िलेमें पासपास रहती हैं, जिनका रहन सहन, खानपान लगभग एकसा है, भाषामें भी अधिक अन्तर नहीं है, उन सब जातियोंके जुदा जुदा कोष्टक तैयार किये जायँ, जिनसे यह निर्णय होसके कि किन किन जातियोंका सम्बन्ध सुभीतेसे होसकता है।

७—उन सब जातियोंकी सूची खासतौरसे बनाई जाय जिनकी जनसंख्या बहुत थोड़ी रह गई है और जो विवाह सम्बन्धकी कठिनाईके कारण नष्ट होरही हैं। उस सूचीमें यह भी बतलाया जाय कि इनमेंसे अमुक अमुक जातियाँ अपने पासकी या दूरकी अमुक अमुक जातियोंके साथ मिल सकती हैं।

८—प्रत्येक छोटी बड़ी जातिकी गृहसंख्या, स्त्री-पुरुषों की जनसंख्या आदि भी मालूम कीजाय।

९—प्रत्येक जातिके अत्यन्त प्रभावशाली दो दो चार चार मुखियोंकी सूची बनाई जाय, जिनसे पत्रव्यवहार किया जासके।

१०—ऐसे उत्सवों या मेलोंकी सूची बनाई जाय जहाँ किसी एक जातिके अथवा दो चार जातियोंके लोग प्रतिवर्ष एकत्र होते हैं। इसके प्रकाशित होनेसे मेलोंके समय जाकर प्रचारकार्य किया जासकता है।

क्या कोई संस्था इस कार्यको अपने हाथमें लेनेकी कृपा करेगी ?

शान्तिसागरजी पंचम नहीं, चतुर्थ हैं।

१४ दिसम्बरके प्रगति आणि जिनविजयमें एक सम्पादकीय नोट प्रकाशित हुआ है जिससे मालूम हुआ कि जयपुरमें किसीने एक परचा इस आशयका छपाकर बाँटा था कि आचार्य शान्तिसागर पंचम जातिके हैं और यह जाति अस्पृश्य मानी जाती है। इसका प्रतिवाद 'प्रगति' सम्पादकने निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—

"दक्षिण हिन्दुस्तानके दक्षिणी दिगम्बर जैनोंमें चतुर्थ, पंचम, कासार—बोगार और शेतवाल ये चार उपजातियाँ (पोट-जाति) हैं। इन उपजातियोंमें रोटी-व्यवहार आमतौरसे होता है। इनमेंसे चतुर्थ पोट-जातिमें मुनि श्री शान्तिसागरका जन्म हुआ है। इस जातिकी आजीविका का साधन प्रायः खेती है और पंचमजातिका व्यापार है। कासार—बोगार प्रायः बर्तनों और चूड़ियोंके व्यापारी हैं। शेतवालोंमें बहुतसे सराफ़ी करते हैं। अहमदनगर और नासिककी तरफ़के शेतवाल प्रायः दर्जीका काम करते हैं और **इन सभी उपजातियोंमें हीनाधिक प्रमाणमें विधवापुनर्विवाह रूढ़ है अर्थात् आमतौरसे प्रचलित है।**

"मद्रास प्रान्तमें पंचम नामकी जो जाति है, वह जैनधर्मानुयायिनी नहीं है, हिन्दू है। उक्तप्रान्तमें जो जैनी हैं, वे अस्पृश्य नहीं गिनेजाते हैं। मद्रासके अस्पृश्य पंचमोंसे दक्षिणके जैन पंचमोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव जयपुरके पर्चेकी दोनोंही बातें गलत हैं—शान्तिसागरजी पंचम नहीं किन्तु चतुर्थ हैं और दक्षिणके पंचम अस्पृश्य नहीं, स्पृश्य हैं।"

आशा है कि उक्त परचेसे शान्तिसागरजीकी जातिके सम्बन्धमें जो गलतफ़हमी फैलगई थी, वह दूर होजायगी। जैनगजट और खंडेलवाल जैनहितेच्छु आदि पत्रोंके सम्पादकोंको चाहिये कि अपने पत्रोंमें प्रगति सम्पादकके उक्त नोटको अवश्य प्रकाशित करदें। साथही इसबातको छुपानेकी धृष्टता न करें कि शान्तिसागरजीकी जातिमें विधवा-पुनर्विवाह आमतौरसे प्रचलित है। अभी १५ दिसम्बरके खंडेलवाल जैनहितेच्छुमें कुछ पंचोंकी सहीसे छपा है कि "महाराज के कुलमें विधवाविवाह नहीं होता है। उनकी वंशपरम्परामें विधवाविवाह सर्वथा धर्मविरुद्ध जान कभी नहीं हुआ है।" यह एक तरहकी धृष्टता ही है। इन पंचोंकी अपेक्षा प्रगतिके सम्पादक, शान्तिसागरजीको और उनकी जातिको अधिक अच्छी तरह जानते हैं।

दिगम्बर जैन औषधालय कानपुर के २६वें वर्षके प्रथममासका विवरण।

दिगम्बर जैनऔषधालय कानपुरके २६ वें वर्ष के प्रथम मास कार्तिक शुक्ला २ श्री वीर सं २४५९ ता० ३१-१०-३२ से मार्गशीर्ष शुक्ला १ ता० २८-११-३२ तक १ माहमें ७९७४ रोगियोंने लाभ लिया. जिसमें ३८४९ नयेरोगी तथा ४१२५ पुराने रोगी अर १०१ जैनी तथा ११७ यात्री थे तथा ४ रोगी आतुरालयमें ठहरकर चिकित्सा कराते रहे।

जौहरीमल सेक्रेटरी—

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१६ जनवरी सन १९३३

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र !

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि

सम्पादक—बा० र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई.
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

सूचना।

जैनजगतकी पुरानी फाइलें समाप्त होचुकी हैं। केवल कुछ फुटकर अङ्क बचे हैं। जिन्हें अपनी फाइलें पूरी करनी हों अथवा फुटकर अङ्कोंकी आवश्यकता हो वे शीघ्र मँगवालें, अन्यथा बादमें निराश होना पड़ेगा। प्रत्येक पुराने अङ्कका मूल्य सर्वसाधारणसे दो आना तथा संस्थाओंसे एक आना लिया जावेगा।

आवश्यकता।

एक २० वर्षीय, मेट्रिक तक पढ़ेहुए जैनयुवकके लिये, जिसकी मासिक आय १००) से अधिक है, गृहकार्यमें दक्ष, सुंदर और शिक्षित कन्या या बालविधवाकी आवश्यकता है। विशेष विवरणके लिये लिखो। कन्या किसी भी सम्प्रदायकी हो।

पन्नालाल भण्डारी बी० ए० (ऑनर्स)
C/o सेठ हीराचंद गुमानजी जैन बोर्डिङ्ग तारदेव, बम्बई

वर की आवश्यकता।

अग्रवाल जातीय १५ वर्षकी एक कन्या जो कि सुन्दर, गृहकार्यमें दक्ष, हिन्दीकी ५ वीं कक्षा तक पढ़ी हुई है, इसके लिये दिगम्बर जैन किसी भी जातिका नवयुवक हो, ज़रूरत है; जिसकी उम्र २० या २२ वर्षसे अधिक न हो, शरीर से हृष्टपुष्ट, अच्छा स्वास्थ्यवाला, प्रसन्नचित्त रहने वाला, चालचलनका अच्छा हो और १००) रु० मासिकसे अधिक जिसकी स्थायी आमदनी हो। नवयुवक स्वयं नीचे लिखे पतेपर पत्रव्यवहार करें।

छगनमल बाकलीवाल
मालिक—जैनग्रन्थरत्नाकर, हीराबाग
पो० गिरगाँव बम्बई।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.

साहित्य परिचय ।

चर्चासागर-समीक्षा—

ले० पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ सूरत । प्रकाशक जौहरीमल जैन सर्राफ, दरीबाकलाँ देहली । मूल्य चर्चासागर पर विचार ।

चर्चासागरके विरोधमें दिगम्बर जैनसमाजमें जो पुण्यप्रकोप प्रकट हुआ है यह पुस्तक भी उसका एक निशान है । यह समीक्षा लेखमालारूपमें प्रकाशित हो चुकी है और अब क़रीब पौनेतीनसौ पृष्ठमें पुस्तकाकार प्रकाशित हुई है । यह पुस्तक खूब विस्तारसे और सप्रमाण लिखीगई है । पं० परमेष्ठीदासजीका प्रयत्न प्रशंसनीय है । पीछेसे इसमें दिगम्बर जैनसमाजके अच्छे अच्छे दर्जनों विद्वानोंकी, बड़े बड़े श्रीमानोंको तथा अनेक पंचायतोंकी सम्मतियाँ भी दीहुई हैं । श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमीकी प्रस्तावनासे पुस्तकको शोभा और बढ़गई है ।

चर्चासागरके विषयपर संक्षिप्त वक्तव्य—

लेखक पं० झम्मनलाल तर्कतीर्थ, बाँसतल्ला स्ट्रीट कलकत्ता । मूल्य ≈)

यह चर्चासागरकी आलोचना नहीं किन्तु उस पर जो चर्चा चलरही है उसपर एक वक्तव्य है । आप चर्चासागरकी कुछ बातोंसे असहमत ज़रूर हैं परन्तु यह कहना मुश्किल है कि आप भयसे असहमत हैं या विचारपूर्वक । आप चर्चासागरसे अगर वास्तवमें असहमत हैं तो चर्चासागरके विरोधियोंसे भी सख्त नाराज़ हैं क्योंकि वे सुधारक हैं । इसलिये चर्चासागर-चर्चासे सम्बन्ध रखनेवाले, न रखनेवाले सभी सुधारकों पर आपने दुलत्तियाँ चलाई हैं । आपने जगह जगह विचारकी दुहाई दी है और कहा है कि हँसी उड़ाना एक बात है और विचार करना दूसरी । परन्तु सुधारकोंकी बातों पर आप विचार करनेके लिये तैयार नहीं मालूम होते । वहाँ आप बापदादोंकी दुहाई देने बैठ जाते हैं । मध्यस्थता की ओटमें आपने दो घोड़ों पर सवारी की है, जिसकी विस्तृत आलोचना होसकती है परन्तु फालतू समय और जगह न होनेसे इस विषयमें विशेष नहीं लिखा जाता है ।

मुम्बईनुं चातुर्मास—

सुप्रसिद्ध सुधारक मुनि श्री न्यायविजयजीने गतवर्ष मुम्बईमें चातुर्मास किया था । आपके सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय व्याख्यानोंकी मुम्बईमें धूम थी । उन व्याख्यानोंका यह संग्रह है । साथमें चातुर्मासमें जो आपने संस्कृत आदिमें रचनाएँ की थीं उनका भी संग्रह है । आपके व्याख्यान बहुत उत्तेजक और क्रान्तिकारी हैं । संस्कृत रचनाएँ भी सुन्दर हैं । आपके सम्बन्धके कुछ चित्र भी हैं । अच्छासे अच्छा कागज़ और सुन्दरसे सुन्दर छपाई के साथ यह विवरण निकालागया है । गुजराती जाननेवाले पाठकोंको पढ़नेके लिये इसमें बहुत सामग्री है । मुम्बईके चार श्रीमानोंने यह सुन्दर पोथा प्रकाशित कराया है । मूल्य २॥)

वीरविभूति: Grandeur of Vira

लेखक मुनि श्री न्यायविजयजी । प्रकाशक जैन-युवकसंघ बड़ौदा । अनुवादक बी० भट्टाचार्य एम० ए०, पीएच० डी० । मुनिश्री ने ५७ श्लोकोंमें भगवान महावीरका संक्षिप्त जीवनचरित्र लिखा है और यह अंग्रेज़ी अनुवादके साथ प्रकाशित हुआ है । छपाई सफ़ाई बहुत सुंदर है ।

विरोधी मित्रोंसे।

(७)

आक्षेप (२८)—मुंडकोपनिषद् ऋषि अङ्गिरसकी रचना है। इन ऋषिको पद्मचरित्र जैसे प्राचीन ग्रंथमें भ्रष्ट जैनमुनि कहा है। उनकी रचना भी इस कथनकी पोषक है क्योंकि उसमें ऐसी बहुतसी मान्यताएँ व पारिभाषिक शब्द हैं जो खास जैनोंके हैं। जर्मनीके एक विद्वान ने इस बातको गहन अन्वेषण द्वारा प्रकट किया है।

समाधान—बेचारे अङ्गिरस ही नहीं, किन्तु जैन शास्त्रोंके अनुसार तो भारतके सभी सम्प्रदाय भ्रष्ट जैनियोंके द्वारा संस्थापित हैं। ऋषभदेवके युगमें ही भ्रष्ट जैन-राजाओंने ३६३ मिथ्यात्वोंको जन्म दिया। राजवार्तिक आदिके अनुसार प्रायः सभी वैदिक ऋषि इन कुमतोंमें आगये हैं। जैनधर्मने ही नहीं किन्तु बौद्धधर्मने भी भारत के प्राचीन ऋषियोंको या तो अपने में मिला लिया है या उन्हें भ्रष्ट चित्रित किया है। प्रायः क्षत्रियोंको उनने अपनेमें बताया है (क्योंकि चिरकालसे श्रमणपरम्पराको ब्राह्मणोंसे द्वेष और क्षत्रियोंसे मैत्री रही है) और ब्राह्मणों को भ्रष्ट चित्रित किया है। अङ्गिरस आदि इसी नीतिके शिकार हैं। यह चित्रण ऐतिहासिक सामग्रीका काम नहीं देसकता। उनकी रचना जैनियोंसे मिलती है; परन्तु ऐसा मिलान तो दुनियाँ के सभी धर्मोंमें थोड़ा बहुत पाया जाता है। पारिभाषिक शब्द भी एक दूसरे सम्प्रदायसे मिलते रहते हैं। जर्मनीके विद्वान् प्रो० जोहन्स-हर्टेलने जो लिखा है उससे भी आपके पक्षको कुछ सहायता नहीं मिल सकती। हर्टेलसाहिबके वक्तव्यका सार यह है:—

(क) "ईरानमें दाराके समयमें कई भारतीयसंस्थान थे, जो प्रकाश और अग्निको पूजते थे, देवलोकके देवताओं की उपासनासे देवलोकमें पहुँचना मानते थे, देवताओंकी प्रसन्नताके लिये पशुओंका बलिदान सोमपान स्तवनादि करते थे, इन्डोईरानियन मान्यता हिंसक और अपवित्र थी"।

(ख) "शीघ्रही सुधारक लोग आगे आये। उन्होंने बलिहिंसा आदिका विरोध किया। महावीरके समकालीन जरथुष्ट्र हुए"।

(ग) "मुण्डकोपनिषद् भृगु अङ्गिरस नामक ऋषिने ईरानके सन्निकटमें रचा था। इसपर सम्भवतः ईरानियोंकी पुरानी मान्यताओंका प्रभाव पड़ा है। जरथुष्ट्रके ग्रन्थोंमें भृगुअङ्गिरस अथरवन नामसे परिचित हैं। जरथुष्ट्रके मतमें असुर मान्यताओंका समावेश हुआ है"।

(घ) "मुंडकोपनिषद्‌में जगत्‌की आकृति मनुष्यके समान मानी गई है। मध्यमें मनुष्यलोक, ऊपरभागमें ब्रह्मलोक और उसके ऊपर मुक्तिलोक ... पुण्यात्मा मनुष्य सूर्यमेंसे होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। वहाँ अगर पूर्वसंचित कर्म नष्ट नहीं होता तो संसारमें लौटता है; अन्यथा वहींसे सीधा मोक्ष चला जाता है।"

(ङ) मुंडकोपनिषद्‌के पारिभाषिक शब्द जैसे कर्म, निर्वेद, वीतराग, सम्यग्ज्ञान, अविद्याग्रन्थि, हृदयग्रन्थि गुहाग्रन्थि, निर्ग्रन्थ आदि जैनधर्मके शब्दोंसे मिलते हैं। जैनोंके समान उसने भी आत्माका अवर्ण (वर्ण रहित) माना है। अपराविद्यामें चारों वेद षडङ्ग बतलाये हैं और पराविद्या वह है जिससे अक्षरको प्राप्ति होती है। जैन-

धर्मसे मुंडकोपनिषद्का सादृश्य है, परन्तु यह कहना कठिन है कि ऋषि अंगिरसने जैनधर्मसे ये बातें लीं या जैनधर्मने मुंडकोपनिषद्से ? ”

हर्टेलसाहिबके इस वक्तव्यसे जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्धिमें क्या सहायता मिलती है, सो समझमें नहीं आता। प्रथम वक्तव्य (क) में कोई ऐसी बात नहीं है जो जैन-धर्मसे सम्बन्ध रखती हो। बल्कि देवताओंकी उपासनासे देवलोकमें पहुँचना, पशुबलिदान सोमपान आदि स्पष्टही जैनधर्मके विरुद्ध हैं और इनका मेल वैदिकधर्मसेही खाता है। इससे ईरानमें जैनधर्मकी सिद्धि करना दुःसाहसही है।

हाँ, मेरे मित्रने टिप्पणीमें यह लिखा है कि अग्निसे अर्थ भावतप और प्रकाशसे भावज्ञानका है। यदि मेरे मित्रकी बात ठीक मानली जाय तो एकभी बात ऐसी न रहेगी जो जैनधर्मके विरुद्ध कही जासके। तब मालूम नहीं मेरे मित्र अङ्गिरसको भ्रष्ट जैनमुनि क्यों कहते हैं ? भावज्ञान भावतप आदिमें भ्रष्टता क्या है ? दूसरी बात यह है कि तब बेचारे अंगिरसही क्या दुनियाँ का कोई ऋषि, कोईभी धर्म, यहाँ तक कि कोईभी पुस्तक या वाक्य ऐसा न मिलेगा जिसे जैन न कहा जासकेगा।

अगर कोई कहे कि 'कुरानमें गोवधका विधान है' तो मेरे मित्र कहेंगे कि यह विधान ज़रूर जैनशास्त्रोंमेंसे कुरानमें पहुँचा है। गो अर्थात् इन्द्रियाँ उसका वध अर्थात् दमन, सो इन्द्रियदमन जैनधर्ममें है जो कि कुरानमें पहुँचा है।

कोई कहे कि 'अमुक शास्त्रमें शराब पीनेकी आज्ञा है' तो मेरे मित्र कहेंगे कि यह आज्ञा भी जैनशास्त्रोंसे ली गई है क्यों कि शराब क्या ? एक तरहका रस जिसके पीनेसे मनुष्य सब भूलजाता है। यह बात जैनधर्मकी है क्योंकि रस माने अध्यात्मरस, उसके पीनेसे मनुष्य जगत् को भूलजाता है अर्थात् आत्मामें लीन हो जाता है।

कोई कहे कि 'अमुक राजा शिवलिंग पूजताथा' तो मेरे मित्र कहेंगे —ज़रूर वह जैनी था क्योंकि शिव अर्थात् कल्याण। कल्याणस्वरूप आत्मा है इसलिये शिव अर्थात् आत्मा उसका लिंग अर्थात् चिन्ह, आत्माका चिन्ह ज्ञान दर्शनादिक हैं, उनकी पूजा करनेवाला जैनीही है।

कोई कहे 'औरङ्गज़ेब अपने बाप शाहजहाँको क़ैद करके सिंहासन पर बैठा", मेरे मित्र कहेंगे 'तो ज़रूर वह जैनी था, क्योंकि दुनियाँके पुण्यपाप मनके आधीन हैं इसलिये मनही शाहजहाँ (जहाँ दुनियाँका शाह बादशाह) है। जिस प्रकार बापका फल बेटा है उसीप्रकार शुभमनका फलभी मनुष्य भव है। मनुष्य, जब मनको क़ैद कर लेता है अर्थात् शुक्लध्यान प्राप्त कर लेता है तब मोक्षके सिंहासन पर बैठता है। बापको क़ैद करके सिंहासनपर बैठना यह तो मोक्षमार्गकी प्रक्रिया है। भला, उसका पालन करनेवाला जैन क्यों न होगा ? ”

कोई कहे "यात्री बम्बईसे विलायत आधे महीनेमें पहुँचता है। " मेरे मित्र कहेंगे "ओ हो हो ! यह तो जैनशास्त्रकी बात है। बम्बई माने समुद्रका यह किनारा, विलायत माने वह किनारा, समुद्र अर्थात संसार समुद्र, यात्री अर्थात मोक्षको यात्रा करनेवाला सम्यग्दृष्टि, आधे महीनेमें अर्थात् अर्धपुद्गल परावर्तनमें। मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि अर्धपुद्गल परावर्तनमें संसार समुद्रके पार हो जाता है। जिस पुस्तकमें बम्बईसे विलायत जानेकी बात लिखी है वह अवश्य ही किसी जैनशास्त्रकी नक़ल है।"

कोई कहे "वह आदमी बड़ा दुष्ट है, निर्बलोंको सताता है", मेरे मित्र कहेंगे कि "वह अवश्य जैन है क्योंकि जब प्राणी सम्यग्दृष्टि होजाता है तब निर्बल कर्मों को सताता है और अंतमें नाश कर देता है। निर्बल कर्मों को सताना सम्यग्दृष्टि अर्थात जैनोंका काम है इसलिये वह दुष्ट मनुष्य जैनी ही है।"

इन वाक्योंमें जिस प्रकार जैनत्वकी खोज की गई है ठीक उसी प्रकार हर्टेल साहिबके वाक्योंसे तथा अन्य ग्रन्थोंमेंसे मेरे मित्र तथा उनके माननीय बैरिस्टर चम्पतरायजी साहिब जैनत्वकी खोज करते हैं। मैं अपने मित्रको निमन्त्रण देता हूं कि वे कोई दस बीस वाक्य उपस्थित करें, मैं आपसरीखी मनोवृत्तिसे उन सबका अर्थ जैनत्व रूप कर दूँगा। परन्तु यह बुद्धिका उन्माद होगा, ऐतिहासिक खोज नहीं।

दूसरे छेदक (ख) से भी जैनत्व सिद्ध नहीं होता। हिंसा झूठ आदिका विरोध करनेवाले सुधारक तो हर

पैदा होते हैं। वे जैनधर्म पढ़कर ही ऐसा करते हैं कहना भी बड़ा भारी दुःसाहस है। ईरानियोंकी सूर्य-उपासना भी जैनत्वकी द्योतक नहीं है क्योंकि जंगलीयुग में सभी देशोंके मनुष्य प्राकृतिक शक्तियोंको देव मानकर पूजते थे। वैदिकधर्ममें भी यह बात पाई जाती है। वैदिकधर्ममें सूर्यका खास स्थान है। इससे सूर्य उपासना वैदिकधर्मके संसर्गका फल कहा जाय, यह किसी तरह हो सकता है। जैनियोंने तो सूर्यपूजाको मिथ्यात्व कहा है।

(ग) असुर लोग यदि जैन दृष्टिसे आर्य क्षेत्रमें होने से आर्य हैं तो इसीसे वे जैनी नहीं होजाते। मुसलमान ईसाई आदि सभी जैनदृष्टिसे आर्य हैं। क्या वे इसीसे जैन हैं? दूसरी बात यह है कि आर्यखण्डमें म्लेच्छ भी रहते हैं। राजा जनकके ऊपर म्लेच्छोंने आक्रमण किया था और वे म्लेच्छ फिर यहीं बसगये थे। जैनशास्त्रोंमें असुरोंको क्षेत्रसे आर्य माना है परन्तु आचार आदिसे नहीं माना। सर्वार्थसिद्धि आदिमें शक यवन शबर पुलिंदादिकको म्लेच्छ माना है। आवश्यकता होने पर इस बात पर एक लेख ही लिखा जा सकता है। असुरोंको जैनका पर्यायवाची मानना और जहाँ असुर शब्द आवे वहाँ जैनधर्म स्वीकार करना बड़ी विचित्र कल्पना है।

(घ) से मालूम होता है कि उपनिषत्कालमें पुरुषाकार जगत् माना जाता था और वहींसे वह जैनधर्ममें आगया है। मैं कह चुका हूँ कि कोई भी नवीनधर्म सर्वथा निरन्वय नहीं होता। वह अपनेसे प्राचीन धर्मों, ग्रन्थों और लोकोक्तियोंसे अपने कलेवर के लिये मसाला इकट्ठा करता है। जैनधर्म इस नियमका अपवाद नहीं है, और न इस बातसे जैनधर्मके महत्वमें कुछ क्षति पहुँचती है। किसी मनुष्यका महत्व इसलिये कम नहीं होता कि उसके माँ-बाप हैं और उसके पड़ौसमें उससे अधिक उमरके आदमी हैं। यही बात धर्मोंके विषयमें है। उनका महत्व सत्यता आदिसे है। ऐतिहासिक दृष्टि तो यह है कि किसी अर्वाचीन ग्रन्थमें पाई जानेवाली वस्तु अगर किसी प्राचीन वस्तुमें भी उपलब्ध होती है तो अर्वाचीनमें प्राचीनसे आना माना जाता है। परन्तु मेरे मित्र उल्टी गंगा बहाकर अर्वाचीनको प्राचीन साबित करनेकी कोशिश करने लगते हैं। सूर्यमेंसे होकर स्वर्गमें जानेका सिद्धान्त तो स्पष्ट ही वैदिक मतकी मान्यता है और ब्रह्मलोकसे सीधे मोक्ष जानेका सिद्धान्त जैनधर्मके विरुद्ध है। हाँ, बौद्धधर्ममें यह मान्यता अवश्य पाई जाती है। फिर भी यह नहीं कहा जासकता कि बौद्धधर्मसे उपनिषदोंमें यह बात पहुँची है, बल्कि यही कहना चाहिये कि उपनिषत्से बौद्धधर्ममें यह बात आई। मतलब यह कि मुण्डकोपनिषत्में जैनधर्मसे मिलती बातें बहुत थोड़ी हैं, उसके विरुद्ध बहुत हैं; तथा अन्य धर्मोंसे मिलनेवाली भी बहुतसी बातें हैं। कुछ ऐसी बातें हैं जो साधारणतः सभी धर्मोंमें पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त मेरे मित्रने पुरुषाकारलोक समझनेमें भूल की है। मुण्डकोपनिषत्में परब्रह्मको परमपुरुष कहकर उससे यह जगत् कैसे बना, इसका वर्णन किया है और अग्निको मस्तक, चन्द्र सूर्यको आँखें, दिशाओंको कान, वेदोंको वचन या मुख, वायु को प्राण, विश्वको हृदय, आदि बतलाकर पुरुषका रूपक बनाया है। उस परम पुरुषसे वेद, यज्ञ, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणमान, धान्य, तप, श्रद्धा; सत्य, ब्रह्मचर्य, सप्तलोक आदि पैदा हुए हैं। आश्चर्य है कि इस वर्णनको मेरे मित्र जैनधर्मका पुरुषाकारलोक समझते हैं। इस प्रकरणके कुछ श्लोक मैं उद्धृत करता हूँ। विशेषके लिये द्वितीय मुण्डकका प्रथम खण्ड देखना चाहिये—

दिव्योह्यमूर्तः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो, ह्यक्षरात्परतः परः॥२-१-२॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च,
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणी।२-१-३।
अग्निर्मूर्धा चक्षुषीचन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रेवाग्विवृता वेदाः।
वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य; पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥२-१-४॥......

जैनधर्ममें न तो ऐसा परमपुरुष माना है और न इस प्रकार जगत्की उत्पत्ति मानी है।

(ङ) का उत्तर २० वें आक्षेपके समाधानमें है। कर्म 'निर्वेद' वीतराग आदि शब्द तो पारिभाषिक शब्दही नहीं हैं। वे संस्कृतभाषाके सामान्य शब्द हैं जो प्रत्येक दर्शनमें प्रयुक्त हुए हैं। अविद्या, ग्रंथि आदि शब्द तो जैनियों की सम्पत्ति ही नहीं हैं इनके बदलेमें उन्होंने मिथ्यात्वादि

शब्दोंका उपयोग किया है। जैनेतरदर्शनोंमें ही इन शब्दोंका अधिक उपयोग हुआ है। निर्ग्रंथ शब्दका उपयोग नग्नश्रमणोंके लिये भी हुआ है और नग्नश्रमण तो अन्य अनेक धर्मोंमें भी थे। धम्मपदट्ठकथामें गोशाल पूरण काश्यप आदि सभी तीर्थिकोंको निग्गंथ कहकर उनकी निन्दा की गई है। इसलिये मालूम होता है कि महावीरयुगमें निगंठ शब्द जैनियोंके लिये भी प्रयुक्त होता था, परन्तु जैनियोंके लिये ही नहीं। नग्न साधु तो वैदिक धर्ममें भी होते थे। उनके लिये निर्ग्रंथशब्दका उपयोग हुआ तो इसीसे वे जैनी नहीं कहे जासकते।

आत्माको वर्णरहित तो प्रत्येक भारतीयदर्शनने माना है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि सभी दर्शनोंमें आत्मा अवर्ण है। इसके अतिरिक्त यह वर्णन भी जैनधर्मके विरुद्ध है। जैनधर्ममें अनन्त आत्मा स्वतन्त्र और जगत्के अकर्ता माने गये हैं जब कि मुण्डकोपनिषत्में स्वतन्त्र आत्माका उल्लेख नहीं है, वहाँ एक ही परब्रह्म माना गया है। अदृश्य, अग्राह्य, अवर्ण, अगोत्र, अचक्षुः श्रोत्र, अपाणिपाद, नित्य, व्यापक, सूक्ष्म, भूतयोनि (उत्पादक) माना गया है जिससे जगत् उसी प्रकार पैदा होता है जैसे मकरीमेंसे तन्तु निकलते हैं, पृथिवीमेंसे वनस्पति पैदा होती है, पुरुषमेंसे रोम और केश पैदा होते हैं।

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। ६। यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। १-१-७। आश्चर्य है कि इस वर्णनमें मेरे मित्रको जैनधर्मकी नकल मालूम होती है

वेदोंको अपराविद्या बतलाया इससे मुण्डकोपनिषत् पर जैनप्रभाव नहीं मालूम होता किन्तु जैनेतरत्व ही मालूम होता है। जैन लोग तो वेदोंको विद्या माननेके लिये ही तयार नहीं हैं उसे वे परा या अपरा नाम कैसे दे सकते हैं? उपनिषदें उन लोगोंकी रचनाएँ हैं जो वैदिक क्रियाकाण्डसे ऊब गये थे और आध्यात्मिक रंगमें रंग गये थे। वे वेदको मानते तो थे परन्तु उसको उतना महत्व नहीं देना चाहते थे। दूसरा कारण यह है कि ब्रह्म वचनातीत और अज्ञेय माना जाता है। वह आँख वचन मन आदिका विषय नहीं है।

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।

केनोपनिषत् १-१-३।

वेद आदि वचनात्मक विद्याएँ हैं इसलिये अपर हैं—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। १-१-४ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। १-१-५। मुण्डकोपनिषद्।

इसमें वेद छन्द व्याकरण आदिको अपरा और ब्रह्म प्राप्त कराने में साक्षात् सहायकको पराविद्या कहा है। अगर यहाँ यह कहा होता कि वेदादि विद्या अपरा हैं और जिनेन्द्रकी द्वादशांगवाणी परा है तब जैनधर्मका महत्व मालूम होता परन्तु यहाँ तो द्वादशांगवाणीका परा या अपरामें ज़िकर भी नहीं है, तब इसमें जैनधर्मका क्या महत्त्व आया? जिस प्रकार जैनधर्ममें द्वादशांगवाणीको महत्त्व है उसी प्रकार वैदिकधर्ममें वेदादि विद्याएँ हैं। परन्तु द्वादशांगवाणी अपराविद्या ही है क्योंकि पराविद्या तो केवलज्ञान है। केवलज्ञानके आगे द्वादशांगवाणी का कुछ महत्त्व नहीं है। जैनधर्ममें द्वादशांगवाणी को सर्वोत्कृष्ट नहीं माना इसका यह मतलब नहीं है कि ऋग्वेद आदिको सर्वोत्कृष्टज्ञान माना है। इसी प्रकार वैदिकधर्ममें वेदादिको अपराविद्या कहनेसे जैनधर्मका महत्त्व नहीं बढ़ता। वेदादि अपराविद्या हैं इसका मतलब यह है कि कोई भी शास्त्रीयज्ञान उस ब्रह्मज्ञानकी बराबरी नहीं कर सकता। जैनशास्त्रोंमें लिखा है कि जिनपूजा आदिसे संवर निर्जरा मोक्ष आदि नहीं होता (सर्वार्थसिद्धि) तो क्या इसे आप जिनेन्द्रकी निन्दा समझेंगे? इसी तरह वेदको अपराविद्या कहना (ब्रह्मज्ञानके आगे) क्या यह वेदनिन्दा है?

मालूम होता है कि मेरे मित्रने मुण्डकोपनिषत्के दर्शन भी नहीं किये हैं, सिर्फ़ हर्टेलसाहबके अंग्रेज़ी लेख परसे तिलका ताड़ बनाया है। हर्टेलसाहिबके लेखका मुझे

पता नहीं है, इसलिये मैं अभी नहीं कह सकता कि उनका जैनधर्मका ज्ञान कितना गम्भीर है, उनने इस विषयमें क्या लिखा है और कहाँ तक ठीक लिखा है। इसके अतिरिक्त हर्टेकमाहिबने जो शंका उपस्थित की है वह तो मेरे मित्रके विरोधमें ही है।

इसके अतिरिक्त मेरे मित्रने कुछ और बातें मुण्डकोपनिषत् पर जैनत्वका प्रभाव बतानेके लिये कहीं हैं, जैसे—

(अ) मुंडकोपनिषत्में केशलौंचका उल्लेख।

(आ) अंगुत्तर निकायमें मुंडक श्रावकका नाम और उसका बुद्धघोषके द्वारा 'निर्ग्रंथ सम्प्रदायका एक भेद' कहा जाना।

(इ) विष्णु पुराणमें लिखा है कि असुरोंमें जैनधर्म का खूब प्रचार था।

(ई) अथर्ववेदकी प्राचीनता कोई मेट नहीं सकता। उसे क्षात्रवेद कहा गया है। मालूम होता है कि जैनधर्म से क्षत्रियोंका विशेष सम्पर्क देखकर और उनको वैदिक मतमें लानेके लिये इस वेदकी रचना हुई थी। अथर्ववेद में जैनोंका उल्लेख 'व्रात्य' नामसे हुआ।

अ— पहिली बातके विषयमें दो बातें कहना है। (शिरोव्रतं विधि वद्यैस्तुचीर्णं) पदसे मुंडन तो मालूम होता है परन्तु मुंडन तो शस्त्रसे भी होजाता है, केशलौंच से ही मुण्डन अनिवार्य नहीं है। अगर केशलौंचभी मान लिया जाय तो भी इसका उत्तर पूर्वोक्त है। जब तक कोई शास्त्र मुण्डकोपनिषद्से प्राचीन सिद्ध न हो तब तक यह नहीं कहा जासकता कि मुंडकोपनिषद्ने उस शास्त्रसे अमुक बात ली। केवल केशलौंचही नहीं, किन्तु और भी बहुतसे नियम प्राचीन कालसे चले आरहे हैं जिनको पीछे के सम्प्रदायोंने लिया है। जैसे साधुको ग्राममें एक रात्रि, नगरमें पाँचरात्रि रहनेका नियमभी उपनिषदोंमें पाया जाता है। इससे सिर्फ़ इतना ही मालूम होगा कि बहुत प्राचीन कालसे श्रमण परिव्राजक आदिकी परम्परा चली आरही है और जैन बौद्ध आदिने उससे बहुतसी सामग्री ली है। उपनिषदोंने चाहे उस श्रमणपरम्परासे कुछ नियम लिये हों या उस श्रमणपरम्पराने उपनिषदोंसे अथवा दोनोंने किसी तीसरी ही प्राचीन परम्परा से।

इसके अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् का वह श्लोक* ऐसा नहीं है जिससे जैनत्वकी कुछ झलक आती हो।

आ—अंगुत्तर निकायमें मुण्डक श्रावकका उल्लेख है इसे आप सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक समझते हैं, यह तो ग़ज़बकी हिम्मत है। यह मुंडकोपनिषत् ऐसेही मुण्डक श्रावकके लिये बनाई गई थी तो मुंडकोपनिषत्में सप्तम प्रतिमाधारीके अनुसार कुछ वर्णन तो मिलना चाहिये। साथ ही जैनधर्मके विरुद्ध और वैदिकधर्मके अनुकूल उस की प्रायः सारी बातें क्यों हैं? इसके अतिरिक्त आप तो यहाँ केशलौंच अर्थ करते हैं, तब क्या सप्तम प्रतिमाधारी केशलौंच करता है? क्या आपको मालूम नहीं है कि सप्तम प्रतिमाधारीको मुड़िया रहना ज़रूरी नहीं है? सप्तम प्रतिमाका वेष साधारण गृहस्थोंसे कुछ जुदा नहीं रहता। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि अंगुत्तर निकाय आदि बौद्ध साहित्यमें श्रावक शब्दका अर्थ गृहस्थ नहीं होता। यह शब्द प्रायः साधुओंके लिये या व्यापक अर्थ में शिष्योंके लिये प्रयुक्त होता है। जैनशास्त्रोंमें श्रावकका अर्थ गृहस्थ कबसे होने लगा यह एक विचारणीय प्रश्न है। श्रावकधर्मके वर्णन वाले अंगका नाम 'उवासगदसाओ' है नकि 'सावयदसाओ'। ख़ैर, बौद्ध सम्प्रदायमें तो स्पष्टही श्रावक शब्द उपासकके अर्थमें प्रचलित नहीं है जिससे सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक अर्थ किया जाय। इस के अतिरिक्त मैं पहिले कहचुका हूँ कि निर्ग्रंथ शब्दका व्यवहार अन्य अनेक आजीवक आदि सम्प्रदायोंके लिये होता रहा है। इसलिये मुंडक निर्ग्रन्थ शब्दसे जैनश्रावक ही नहीं लिया जासकता और अगर लियाभी जाय तो मुंडकोपनिषत्से उसका सम्बन्ध साबित नहीं हो जाता।

इ—विष्णुपुराणमें असुरोंमें जैनधर्मके प्रचारकी बात जैनधर्मकी निन्दाके लिये लिखी गई है। इस पुराणमें जैन और बौद्धधर्मकी खूब निंदा है। जिस समय 'असुर' शब्द तामस प्रकृतिके दुष्टप्राणियोंके लिये लागू होनेलगा उस समय जैनेतरोंने जैनियोंकी निंदा करनेके लिये जैन-

*तदेतदृचाऽभ्युक्तं। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णं॥ ३—२—१०

धर्मका सम्बन्ध असुरोंसे कर दिया और जैनियोंने वैदिक धर्मका सम्बन्ध असुरोंसे कर दिया। इस तरह एक दूसरे को असुरधर्मी कहने लगे। विष्णुपुराणमें इसीलिये असुरों में जैनधर्मका प्रचार बतलाया गया है। इसका भाव यह है कि जिनमें जैनधर्मका प्रचार है वे विष्णुपुराणके अनुसार असुर हैं। वैदिक लोगोंने जैनियों पर जो इसप्रकारके आक्रमण किये हैं उनका उत्तर जैनियोंने भी दिया है। सर्वार्थसिद्धिकार, पापबंधके प्रकरणमें दर्शनमोहके बन्धकारणोंमें लिखते हैं—

"जिनोपदिष्टोधर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाभिधानं धर्मावर्णवादः" ॥

—सर्वार्थसिद्धि ॥६-१३॥

अर्थात्—"जिन भगवान्का कहा हुआ धर्म निर्गुण है, उसका पालन करनेवाले असुर होते हैं"-इत्यादि बातें कहना धर्मका अवर्णवाद है जिससे दर्शनमोह नामक पाप कर्मका बन्ध होता है।

पूज्यपादके इन शब्दोंको भट्टाकलंकने तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें ज्योंका त्यों उठालिया है—सिर्फ 'भविष्यंति' की जगह 'भवंति' करदिया है। जैनाचार्योंने इसप्रकार असुरताका परिहार किया है। इतना ही नहीं लेकिन उनने प्रत्याक्रमण भी किया है और वैदिकधर्मका सम्बन्ध असुर से बतलाया है। वेद एक असुरकी रचना है, इसपरके अनेक कथानक जैन पुराणोंमें मिलते हैं। वेदको असुरकी रचना बतलानेके लिये जैनाचार्य इतने आतुर होगये हैं कि उनने मौके बेमौके वेदको असुर रचित बतलाया है। आचार्य जिनसेन अलङ्कार चिन्तामणिमें कहते हैं:—

"कस्माज्जातो सकलजनततिप्राणहारी स वेदः। असुरतः"

अर्थात्—मनुष्य समाजके प्राण लेनेवाला वह वेद असुरसे उत्पन्न हुआ है।

कहनेका मतलब यह है कि जैनियोंने वैदिकोंको और वैदिकोंने जैनियोंको असुर कहकर खूब निन्दित किया है। इनका महत्त्व गालियोंसे ज़राभी अधिक नहीं है। इन्हें इतिहास की भूमिका बनाना हास्यास्पद है।

दूसरी बात यह है कि पुराणोंके ये अवतरण जैनधर्मकी प्राचीनता साबित करनेके लिये बिलकुल उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि वैष्णवधर्म जैनधर्मसे अर्वाचीन है इसलिये वैष्णव धर्मके ग्रंथ प्राचीनताके विषयमें कुछ नहीं कहसकते। स्वयं विष्णुपुराण ईस्वीकी पाँचवीं शताब्दीकी रचना है। यह वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, हरिवंशपुराण, ब्रह्मपुराणसे भी नया है। इसतरह यह भगवान् महावीरसे एक हज़ार वर्ष बादकी रचना है। ऐसे नये ग्रंथमें अगर जैनधर्मके विषयमें कुछ उल्लेख मिलजाय तो इससे जैनधर्मकी प्राचीनता पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता।

ई—अथर्ववेद पुराना तो है परन्तु तीनों वेदोंसे वह बहुत पीछे बना है। यह शतपथ ब्राह्मण के पीछेका ग्रंथ है। खैर, इसका जैनधर्मसे क्या सम्बन्ध है यह बात बिलकुल समझमें नहीं आती। यह वेद विशेष महत्त्वकी दृष्टिसे नहीं देखागया, इसका कारण यह है कि इसमें सात्त्विकता बहुत कम है। इसके अधिकांशमंत्र इन्द्रजाल विद्या तथा शत्रुओंके नाश करनेके उपाय से भरेहुए हैं। सम्भवतः इसीकारण व्यासने इसका संग्रह नहीं किया। इसके प्रथम संग्रहकर्ता हैं पिप्पलाद। इसके आंगिरस मंत्र तो बिलकुल अहितके लिये बने हुए हैं। शत्रुविनाश आदिके वर्णनोंके कारण तथा सात्त्विकताकी कमीके कारण इसे क्षात्रवेद कहदिया होगा।

इस वेदमें ऐसा कोई वर्णन नहीं है जिसमें जैनधर्म का परिचय मिलता हो अथवा जैन राजाओं के लिये कोई ऐसा आकर्षण हो जिससे वे जैनधर्मको छोड़कर वैदिक धर्मकी शरण लें। इस वेदमें ईश्वरकर्तृत्वका वर्णन है, राजसूयका वर्णन है और भी यागादिका उल्लेख है। उस युगमें तकमन् नामक शीतज्वर होता था, उसज्वरसे अपने प्रदेशमें लौटजानेकी प्रार्थना की है। उन दिनों ब्राह्मण घृणा की दृष्टिसे देखे जाते थे और क्षत्रियों द्वारा सताये जाते थे। इसलिये इस वेदमें उनकी (ऐसे क्षत्रियोंकी) खूब निन्दा है और खूब कोसा गया है; उन्हें शाप दिया गया है। गायोंको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा गया है और उनकी प्रशंसा कीगई है। गोदानका उल्लेख है। अन्त्येष्टि क्रियाके अवसर पर यमकी स्तुति की गई है।

ये सब बातें जैनधर्मके विरुद्ध हैं। समझमें नहीं आया

कि अथर्ववेद की कौनसी बात देखकर मेरे मित्र जैन राजाओंके आकर्षणकी बात देखते हैं।

"अथर्ववेदमें जैनोंका व्रात्य नामसे उल्लेख हुआ है" यह कहकर तो विचित्र कल्पना की है। व्रात्य शब्द वैदिक धर्ममें खूब प्रचलित है। जो लोग उपनयन (जनेऊ) आदि संस्कार नहीं करते वे व्रात्य कहे जाते हैं और उनकी खूब निंदा की गई है।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिताः ॥२-३९॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥२ ४०॥

मनुस्मृति

उपनयन संस्कारका समय निकलजाने परभी अगर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य संस्कार न करें तो ये व्रात्य कहलाने लगते हैं जो कि आर्य पुरुषों से निंदनीय हैं। इन अपवित्रों (व्रात्यों) के साथ विपत्तिकालमें भी कोई धार्मिक और सामाजिक सम्बन्ध न करे।

अमरकोशमें भी व्रात्यका यही अर्थ किया है (व्रात्यः संस्कारहीनः स्यात्)

इसप्रकारके व्रात्य हर एक युगमें होते रहे हैं। वैदिक युगमें भी वेदविरोधी हजारों लोग थे जो संस्कारोंकी पर्वाह नहीं करते थे। वैदिक पंडित, आजकलके पंडितोंकी तरह, उनका बहिष्कार करते थे, निन्दा करते थे। इसके बाद जब श्रमणपरम्परामें जैनधर्मके नामसे एक व्यवस्थित संस्था बनी और उसने वैदिक संस्कारोंका विरोध किया तब वैदिकोंने उन्हें भी व्रात्य कहा। इसके बाद जब बौद्ध पैदा हुए तब उन्हें भी ये व्रात्य कहने लगे। मतलब यह कि जो लोग उच्च कहलाते थे, किन्तु संस्कार आदि वैदिक क्रियाओंके विरोधी थे वे व्रात्य कहलाते थे। व्रात्य शब्द जैनियोंके लिये नहीं है किन्तु जो कोई संस्कार विरोधी हो उन सबके लिये है। मेरे मित्र ने न मालूम व्रात्यका अर्थ 'जैन' कैसे कर लिया?

आप जो इसप्रकार अर्थका अनर्थ करते हैं उसका कारण शब्दोंके अर्थके निर्णय करनेकी आपकी प्रणालीका दोष है। अन्यत्र आपने 'तित्थिय' शब्दको भी 'जैन' का पर्यायवाची बनाडाला है। अपनेसे भिन्न सम्प्रदायवाले को तित्थिय (तीर्थिक या तैर्थिक) कहते हैं। इसलिये एक जैन, बौद्धोंको तित्थिय कहेगा, बौद्ध जैनियोंको तित्थिय कहेगा। मतलब यह कि अपनेसे भिन्न सम्प्रदाय वाले सब तित्थिय कहलायेंगे। बौद्धोंके लिये जैसे जैन तित्थिय हैं वैसे आजीवक भी तित्थिय हैं; परन्तु मेरे मित्र सब जगह तित्थियका अर्थ जैन करेंगे, और इसी प्रकार आप सबको जैन साबित करेंगे।

एक व्यक्तिके विषयमें अगर कोई दो शब्दोंका उपयोग हो तो वे दोनों पर्यायवाची न कहलायेंगे। एक जैन विद्वानको एक आदमी जैन कहता है दूसरा आदमी विद्वान कहता है तो जैन और विद्वान् शब्द पर्यायवाची न होजायँगे। अगर लोग मोहनदास कर्मचन्द गाँधीजी को महात्मा कहते हैं और महात्मा शब्द वेदोंमें मिलता है तो गाँधीजीका समय वैदिककाल न होजायगा। असुर, व्रात्य, तित्थिय आदि शब्दोंके अर्थ करनेमें आप ऐसी ही अक्षम्य भूलें करते हैं। खैर, आप इस तरहकी भूलोंसे अथर्ववेदमें जैनधर्म या जैनसमाजका उल्लेख साबित नहीं कर सकते हैं, और न मुंडकोपनिषत्में जैन सम्प्रदायके दर्शन कर सकते हैं।
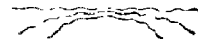
चक्रवर्तीकी म्लेच्छपत्नियाँ।

जैनधर्म और जैनशास्त्र, विजातीयविवाहके पूर्ण समर्थक हैं। अब इस विषयमें किसीभी समझदारको संदेह नहीं रह गया है। आजसे चार पाँच वर्ष पहिले मैंने कई वर्ष तक दर्जनों लेख लिखकर, सब पण्डितोंको चैलेञ्ज देकर, जो विद्वान सामने आये उनको पूरी तरह उत्तर देकर, और दर्जनों विद्वानोंकी और पंचायतोंकी सम्मतियाँ उपस्थित कर इस विषयका मात्रासे अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है। इस विषयमें पण्डितदल हर तरह नीचा देख चुका है। विजातीय विवाहके समर्थनमें जो सैकड़ों प्रमाण दिये गये हैं उनमेंसे एकका भी खंडन

इन लोगोंसे नहीं बन पड़ता है । यह चिन्ता इन लोगोंके सिर पर दिनरात सवार रहती है परन्तु कुछ वश नहीं चलता । जब कोई औंधी कल्पना इनके दिमागमें आजाती है तब ये बिना पूर्वापर विचारके कुछ ऐसा लिख मारते हैं कि उसे पढ़कर यह संदेह होने लगता है कि इस लेखकके मस्तिष्कमें कुछ खिसकता है या नहीं, या सब गोबरपंथी कारबार है । विजातीय विवाहके समर्थनमें एक युक्ति यह भी है कि चक्रवर्ती नरेश ३२ हजार म्लेच्छस्त्रियोंसे शादी करते हैं। यदि चक्रवर्ती सरीखे सम्यग्दृष्टि महापुरुष म्लेच्छ स्त्रियोंसे शादी करते हैं तो इसे जैनधर्मके विरुद्ध कैसे कहा जासकता है आदि ।

आजतक किसी पण्डितको इसके विरोधमें कहनेका साहस नहीं था । परन्तु जैनगजटके प्रकाशक पं० वंशीधरजीके उर्वर मस्तिष्कमें एक नयी कल्पना उठी है । आपका कहना है कि चक्रवर्ती, म्लेच्छ स्त्रियोंके साथ शादी तो करते हैं परन्तु उनके साथ रतिकर्म नहीं करते । आपने इसके समर्थनमें निम्नलिखित बातें कही हैं:—

१—जो कन्याएँ चक्रवर्तीको म्लेच्छोंसे प्राप्त होती हैं वे गा बजाकर चक्रवर्तीकी सेवा करती हैं । यह भी भोग है । उनके साथ रतिकर्म नहीं होता ।

२—ये भोगपत्नियाँ कहलाती हैं और भोगपत्नियोंसे संभोग करनेवालोंको लाटीसंहिताकारने नीच पापी बताया है ।

३—भरत महाराजके चरितमें उन्हें बल्लभा कहा है । जब भरत भोजन करके बाहिर बैठते हैं, तबवे तांबूल देती हैं, नाचती हैं । क्या जो स्त्री मानलीगई है क्या वह नाचेगी ? क्या पत्नी सबके साम्हने तांबूल देगी ?

४—भरत, गृहिधर्मके प्रवर्तक और सदाचारके आदर्श थे । उनके द्वारा कोई अकृत्य कभी नहीं हो सकता ।

(१) पहिली बातके उत्तरमें लेखकके साम्हने लब्धिसार टीकाका निम्नलिखित उद्धरण अत्युपयोगी है ।

"म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिनासह आर्यखण्डमागतानाम् म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिःसह जात वैवाहिक सम्बन्धानां संयम प्रतिपत्तेरविरोधात् अथवा चक्रवर्त्यादि परिणीतानां गर्भेपूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षयाम्लेच्छव्यपदेशभाजः संयम संभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्" ।

अर्थ—म्लेच्छ लोग मुनिव्रत कैसे लेंगे, यह शंका न करना चाहिये । जो म्लेच्छ राजा चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्डमें आजाते हैं और जिनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उनके मुनि होनेमें कोई आपत्ति नहीं है । अथवा जिन म्लेच्छाओंके साथ चक्रवर्ती आदि विवाह करलेते हैं उनके गर्भसे जो सन्तान पैदा होती है वह मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ होने परभी उसको मुनिदीक्षा लेने की मनाई नहीं है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि चक्रवर्ती म्लेच्छाओंके साथ रतिकर्म करते हैं और उनसे संतान भी पैदा होती है और वह मुनि तक बनती है । क्या पं० वंशीधरजीको इतने परभी विश्वास न होगा ? क्या रतिकर्म प्रत्यक्ष देखे बिना आपके दिमाग़ शरीफमें उसके अस्तित्व पर विश्वासके लिए स्थान नहीं है ? लोकमें शास्त्रमें इतनी शिष्टताका पालन होताही है । पत्नी कहदेनेसे रतिकर्म आदि समझ लिया जाता है ।

(२) लाटीसंहिताकारने भोगपत्नियोंसे संभोग करने वालोंको पापी नीच बताया है परन्तु चक्रवर्तियोंके समयमें लाटीसंहिताकार पैदा नहीं हुए थे । अगर पैदा हुए होते तो ऐसी बात कहने पर उनकी अक्ल ठिकाने ला दी जाती । लाटीसंहिताकारने जो भोगपत्नीकी परिभाषाकी है उसका समर्थन किसी

भी जैनशास्त्रमें नहीं होता; न वह जैनेतर साहित्यके ही अनुकूल है। वह पं० राजमल्लकी मनमानी कल्पना है। इसप्रकारकी मनमानी कल्पना करनेवाले पंडित तो आजभी हैं और पहिलेभी थे। वे संस्कृतमें पोथी लिखगये, इसीलिये उनमें आप्तता नहीं आजाती।

जब लब्धिसार टीकाके प्रमाणसे चक्रवर्त्तियोंका म्लेच्छस्त्रियोंसे रतिकर्म आदि सिद्ध है और भरतचक्रवर्तीको आप गृहिधर्मप्रवर्तक मानते हैं, तब यह बात सिद्ध है कि गृहिधर्मप्रवर्तक भरतचक्रीके सामने पं० राजमल्लने विद्रोह उठाया है; इसलिये राजमल्लजी दंडनीय हैं।

इसके अतिरिक्त एकबात और है कि भोगपत्नी का विरोध है तो इसका अर्थ यही है कि भोगपत्नी न बनाना चाहिये। किसीको भोगपत्नी बनाना और रतिकर्मभी न करना, इस तरह उसे पतिके रहतेभी रँडापा काटनेके लिये विवश करना तो घोर निर्दयता है। चक्रवर्ती इसप्रकार हजारों स्त्रियोंको वैधव्य यातना दिया करते थे, यह तो उनकी घोर क्रूरता कहलायी। अगर चक्रवर्ती धर्मात्मा थे या जैन थे तो हम उनके विषयमें दो ही कल्पना कर सकते हैं कि या तो वे भोगपत्नी रखते ही न थे, या रखते थे तो उनको पत्नी मानते थे और तदुचित कार्य करते थे। इसतरह राजमल्लजी का कथनभी विजातीय विवाहका विरोधी नहीं है और लब्धिसारका प्रमाण तो स्पष्टही राजमल्लजी और वंशीधरजीके वक्तव्यके टूँक टूँक कर देता है।

और हाँ, पं० वंशीधरजी तो त्रिवर्णाचार पंथी हैं। इसलिये उनके मतानुसार अगर कोई पत्नी ऋतुकालके स्नानके बाद पतिके पास न जावे (रतिकर्म न करे) तो वह कुत्ती, वृकी, गीदड़ी, शूकरी, और गधी होती है और अगर पति न जावे तो वह अपने बाप दादोंके साथ भ्रूणहत्याके पापमें डूब जाता है।*

इसलिये चक्रवर्तीको म्लेच्छपत्नियोंके पास ऋतुकालके बाद जाना अनिवार्य कहलाया; इसीप्रकार उन पत्नियोंकोभी। अन्यथा उन बेचारियोंको कुत्ती गधी आदि हो जाना पड़ेगा और भरतचक्री तथा उनके पिता भगवान ऋषभदेव और उनके पिता नाभिराज आदिको भ्रूणहत्याके पापमें डूबे रहना पड़ेगा।

(३) यदि उन्हें वल्लभा कहा है तो उचित ही कहा है। दासी या ऐसी स्त्रियाँ जिनके साथ रतिकर्म नहीं किया जासकता, उन्हें वल्लभा नहीं कहते। प्यारी पत्नीको वल्लभा कहते हैं। धनञ्जय नाममालामें प्रियपत्नीके निम्नलिखित नाम बताये हैं—

वल्लभा प्रेयसी प्रेष्ठा स्वर्णा दयिता प्रिया।
हृद्या च प्रमदा कान्ता कर्णा दयिता तथा ॥२३॥

ताम्बूल देने और ताम्बूल लेनेके परिहास न रहीं, यह तो पहले की अश्लीलता की बात है। उस समय आजकल जैसा पर्दा नहीं था। उस समय स्त्री-पुरुष मिलकर सबके सामने अनेक तरहकी क्रीड़ा करते थे। इस विषयके प्रमाण-आदि प्रत्येक जैनकथा और जैनपुराणमें मिलेंगे। उस समय राजकुमार और राजकुमारी स्त्रियोंको नाचना गाना सीखना पड़ता था। ये कलाएँ आजीविकाके लिये न थी किन्तु इनसे अपना और पतिका तथा इष्टमित्रोंका मनोविनोद अवश्य किया जाता था। यहाँ मैं जुदे जुदे ढंगका एक एक नमूना उपस्थित करता हूँ।

* ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।
शुनी वृकी शृगाली स्यात् शूकरी गर्दभी तथा ॥
ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां पितृभिः सह मज्जति ॥

(क) नृत्यशिक्षाके उदाहरण तो अनेक हैं। राजकुमारी केकयाको अनेक प्रकारकी शिक्षा दीगई थी। उसमें नाचनेकी शिक्षा भी थी।

अङ्गहाराश्रयं नृत्तं तथाभिनय संश्रयं।
व्यायामिकं च सा ज्ञासी तत्प्रभेदैः समन्वितं ॥
पद्मपुराण २४-६

राजकुमारी पद्मा नाचना सीख रही थी। इसी समय श्रीकंठसे उसका मन मिलगया और माँ-बाप को सूचना दिये बिना वह श्रीकंठके साथ चलदी। ये वानरवंशके मूलपुरुष थे। पद्मपुराण ६–१५

(ख) राम, सीता और लक्ष्मण वनवासमें ऐसा सुन्दर गाना गाते जाते थे जिससे किन्नरियाँ भी लज्जित होती थीं।

फलानि स्वादुहारीणि स्वादमानाः पदेपदे।
गायंतो मधुरं हारि किन्नरीणां त्रपाकरं ॥
पद्मपुराण ३३-३५

जिस समय कुलभूषण देशभूषण मुनिका उपसर्ग टलगया और उन्हें केवलज्ञान पैदा होगया तब राम लक्ष्मणने वीणा लेकर उनकी स्तुति गाई और सीताजी खूब अच्छी तरह नाचीं।

गायतोरक्षराण्येवं तयोर्गानविधिज्ञयोः।
तिरश्चामपि चेतांसि परिप्राप्तानि मार्दवं ॥३९-५२॥
ततोविदित निःशेष चारुनर्तनलक्षणा।
मनोज्ञाकल्पसम्पन्ना हारमाल्यादिभूषिता ॥३९-५३॥
लीलयापरयायुक्ता दर्शिताभिनयस्फुटं।
चारुबाहुलताभारा हावभावादिकोविदा ॥३९-५४॥
लयान्तरवशोत्कंपिमनोज्ञस्तनमण्डला।
निःशब्द चरणांभोजविन्यासा चलितोरुका ॥३९-५५॥
गीतानुगमसंपन्न समस्तांगविचेष्टिता।
मंदरे श्रीरिवानृत्यज्जानकी भक्तिचोदिता ॥३९-५६॥
—पद्मपुराण।

"जब गानविधिमें चतुर राम, लक्ष्मणके गानेसे पशुपक्षियोंके चित्त भी कोमल होगये, तब सुन्दर, नाचनेकी कलामें चतुर सीताजी उठीं और वे इस तरह नाचीं जैसे मेरुपर्वतके ऊपर श्रीदेवी नृत्य करती हो। उनके नाचमें एक एक अभिनय साफ़ मालूम होता था, वे हावभावमें चतुर थीं। जिस तरह राम, लक्ष्मणके गानेका लय उतरता चढ़ता था उसी तरह सीताका सुन्दर स्तनमण्डलभी उतरता चढ़ता था। (पैरोंमें घुँघरू न होनेसे) जिनके पैरोंकी आवाज़ न आती थी और जंघाएं खूब चलती थीं। जिनके अंगकी सारी चेष्टाएं गतिके अनुसार थीं"।

सीताजीका यह नृत्य अपने पति और देवरके साम्हने था।

(ग) जिस समय भरतको वैराग्य होगया तब सीता आदि रामकी पत्नियोंने और विशल्या आदि लक्ष्मणकी पत्नियोंने भरतके साथ जलक्रीड़ाकी है, उन्हें उबटन लगाया है तथा अनेक तरहसे रिझाया है।

एतस्मिन्नंतरे सीता स्वयंश्रीरिवदेहिनी।
उर्वी भानुमती देवी विशल्या सुन्दरी तथा ॥८३-९३
ऐन्द्री रत्नवती लक्ष्मीः सार्धा गुणवती श्रुतिः।
कान्ता बन्धुमती भद्रा, कौबेरी नल्कूबरा ॥८३-९४॥
आदि रानियाँ—
कलासमस्तसंदोह फलदर्शन तत्पराः।
वृताः समन्ततश्चारु चेतसो लंभनोद्यताः ॥८३-९८॥

सम्पूर्णकलाओं (नाचना गाना आदि) के फल को दिखाकर उन रानियोंने भरतको लुभानेके लिये उन्हें चारों तरफ़से घेर लिया।.........

परिवार्य ततस्तास्तं समस्ताश्चारुविभ्रमाः।
अवतीर्णा महारम्यं सरः सरसिजेक्षणाः ॥८३-१०४॥

भरतको घेरकर वे सब रानियाँ सुन्दर तालाब में उतरीं।......

स्निग्धैःसुगंधिभिःकांतैस्त्रिभिरुद्वर्तनैरसौ।
उद्वर्तितः पृथुच्छायापट्टर्जितवारिभिः ॥८३-१०७॥

उनने सुन्दर सुगन्धितचूर्णसे भरतका तीनबार उबटन किया।

(घ) जब बलदेवका विवाह रेवतीके साथ और

कृष्णका सत्यभामाके साथ होगया तब खुशीमें विद्याधरोंकी और भूमिगोचरियोंकी पत्नियाँ नाचीं।

> कुचकलशकलत्रोदारभारातिखिन्नाः,
> शिथिलवसनकांचीकेशपाशोत्तरीयाः।
> ननृतुरिह विवाहे नूपुरारावरम्याः,
> क्षितिचरखचराणां योषितः शोचिवेषाः ॥
>
> —हरिवंशपुराण ३६-६२।

नाचनेमें, कलशके समान बड़े बड़े स्तनोंके भार से जो खूब थक गई हैं, जिनके वस्त्र, करधनी और बाल ढीले होगये हैं, और जो बिछियोंके झंकारसे बड़ी अच्छी मालूम होती हैं, ऐसी भूमिगोचरियों की और विद्याधरोंकी पत्नियाँ उस विवाहमें नाचीं।

जिस ज़मानेमें स्त्रियाँ पर्याप्त स्वतन्त्र थीं, जिस समयका नारीजीवन अत्यन्त ललित था, लोग अपनी स्त्रियोंको लेकर जिस तरह सार्वजनिक स्थानों में अनेक तरहके खेल खेलते थे, सीता सरीखी विख्यात सती जब अपने पति और देवरके साथ गा-सकती थी, उनके साम्हने नाच सकती थी, और देवर भरतके साथ तालाबमें घुसकर जलक्रीड़ा कर सकती थी और उसके सतीत्वको ज़रा भी कलंक न लगता था, जिस युगमें रानियाँ राजसभामें आधे आसन पर बैठती थीं, कन्यायें मनका दूल्हा ढूँढती थीं, माँ-बापकी इच्छाके विरुद्ध भी जिसके साथ मन लगजाता था उसीके साथ शादी करती थीं, उस युगमें अगर भरत चक्रवर्तीकी पत्नी भरतको पान देती है या उनके साम्हने नाचती है तो क्या गजब करती है? पान देने और नाचनेसे जो उनका पत्नीत्व छीननेके लिये डाँका डाल रहा है उसका शास्त्रीयज्ञान कितना दयनीय है, यह पाठक ही विचार करें।

इस गयेबीते ज़मानेमें भी स्त्रियोंको इस प्रकार की थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है। गुजरातका गरबा नृत्य खूब प्रसिद्ध है जिसमें सबके साम्हने अच्छी अच्छी कुलवती श्रीमन्त स्त्रियाँ भी नाचती हैं। अन्य प्रान्तोंमें भी न्यूनाधिकरूपमें कुलीन स्त्रियोंके नाचने की प्रथा है।

भरतकी म्लेच्छ पत्नियोंके लिये भी एक एक स्वतन्त्र महल या अन्तःपुर बना हुआ था। वे म्लेच्छ थीं परन्तु म्लेच्छ राजाओंकी राजकुमारियाँ थीं। वे राजकुमारियाँ वेश्यावृत्ति या दासीवृत्तिके लिये नहीं आई थीं। अगर वेश्यावृत्ति या दासीवृत्ति के लिये आई होतीं तो वे भरतकी रानियाँ न कहलातीं; उनके लिये स्वतन्त्र अन्तःपुर न बनते।

> अन्तःपुर सहस्राणि तस्य षण्णवतिः प्रभोः ११-१२७
>
> —हरिवंशपुराण।

(४) इस विवेचनसे चौथी बातके विषयमें कुछ विशेष कहनेकी ज़रूरत नहीं है। भरत गृहिधर्म-प्रवर्तक थे, इन शब्दोंसे मेरा मतभेद होने पर भी भावमें कुछ आपत्ति नहीं है। भरतजी अकृत्य नहीं कर सकते, इससे किसी वास्तविक घटनाका लोप नहीं होता, किन्तु जो कुछ उनने किया वह अकृत्य नहीं था, यह बात साबित होती है। भरतने म्लेच्छ पत्नियोंके साथ विवाह किया और आपके शब्दोंमें भरत अकृत्य कर नहीं सकते इसीलिये उनका यह काम अकृत्य न कहलाया। इस तरह साधारण विजातीय विवाह ही नहीं, किन्तु म्लेच्छोंके साथ विवाह करना भी उचित साबित हुआ।

चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच,

अर्थात्

सूर्यप्रकाश-परीक्षा ।

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ।]

(९)

अनुवादककी निरंकुशता और अर्थका अनर्थ !

[चालू]

(८) पृष्ठ १७१ पर एक श्लोक निम्न अर्थके साथ दिया है:—

दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा ।
साम्प्रतं सन्नास्ति भो भव्या सर्वज्ञागमवंदका ॥१०२॥

"अर्थ—साक्षात् तीर्थङ्कर केवलीका अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व सन्देह दूर होना था। परन्तु पंचमकालमें जिनागम ग्रन्थोंमें वह दिव्यध्वनि आचार्योंकी परम्परासे ग्रथित की है जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्यध्वनिके सिवाय एक अक्षरमात्र भी स्वकल्पित नहीं है। न राग द्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदिके गौरव से वीतराग योगियोंने उस दिव्यध्वनिमें व्यतिक्रम किया है इसलिए परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता—सत्यता और निर्दोषपना दिव्यध्वनि की है वही प्रामाणिकता—सत्यता—निर्दोषता और अबाधता ग्रंथों की है।"

इस अर्थमें पहला वाक्य तो मूलके अधिकांश आशयको लिये हुए है, बाकी 'परन्तु' से आरम्भ होकर अन्ततकका सारा अर्थ मूलके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता—यह सब अनुवादकजी के द्वारा कल्पित किया और बढ़ाया गया है! इस बढ़े हुए अंशके द्वारा भी अनुवादकजीने भोले भक्तों को फँसानेके लिये वही मायाजाल रचा है जिसका उल्लेख पिछले नम्बर (७) में किया जा चुका है। आप इसके द्वारा भोले भाइयोंको जिनागम परमागमके भुलावेमें डालकर और अन्तको जैन कहे जानेवाले सब ग्रंथोंको एक आसन पर बिठलाकर उनके हृदयोंपर यह सिक्का जमाना चाहते हैं कि भट्टारकीय साहित्यके इन त्रिवर्णाचारों तथा सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थोंने भी जो कुछ लिखा हुआ है वह सब भगवानकी दिव्यध्वनिमें ही प्रकट हुआ है—एक अक्षर भी उससे बाहरका नहीं है, और इसलिए इन ग्रन्थोंकी सब बातोंको मानना चाहिए। पाठकजन ! देखा, अनुवादकजीका यह कितना असत्साहस, खोटा अभिप्राय तथा छलपूर्ण व्यवहार है और इसके द्वारा वे कैसी ठगविद्या चलाना चाहते हैं ! इस ग्रन्थमें, जिसे खुद अनुवादकजीने "ग्रन्थराज" (पृष्ठ ४०३) तथा "जिनागमस्वरूप" (४०८) लिखा है और ऐसी जिनवाणी प्रकट किया है जो भगवान महावीरके समयसे अबतक "वैसीही अविच्छिन्न धाराप्रवाहरूप चली आई है।"४०३ ! भगवान महावीर और उनकी वाणीकी कैसी मिट्टी खराब की गई है, यह बात अब पाठकोंसे छिपी नहीं रही और इसलिये वे अनुवादकजीके उक्त शब्दोंका मूल्य भले प्रकार समझ सकते हैं और उनकी लीला को अच्छी तरह पहचान सकते हैं। इस विषयके विशेष अनुभवके लिये उन्हें 'ग्रन्थपरीक्षा' के तीनों

भाग और 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामकी पुस्तक को भी देख जाना चाहिये*। फिर उनके सामने अनुवादकजी जैसोंका ऐसा मायाकोट क्षणभर भी खड़ा नहीं रह सकेगा।

(९) पृष्ठ १३७, १३८ पर जैनधर्मका महत्व गिर जाने और उसकी न्यूनताका कारण बतलाते हुए तीन श्लोक निम्नप्रकारसे दिये हैं:—

"ह्यस्त्यनन्तश्च संसारे पक्षः स्यान् यस्य दृश्यते।
महत्वत्वं च तस्यैव नहते अमहत्वता॥ ६३८॥
"मित्रकाले च तस्यैव पालका धारका नृपाः।
प्रजाः सर्वा द्विजाः सर्वे अतः सर्वेषु भो बुधाः॥६३९॥
उत्तमता च तस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु।
तद् ऋत ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम्॥६४०॥

इनमें सिर्फ इतना ही कहा गया है कि—"संसारमें जिस धर्मका पक्ष अनन्त है—बहुत अधिक जनता जिसके पक्षमें होती है—उसीका महत्व दिखलाई पड़ता है। प्रत्युत इसके—अधिक जनता पक्षमें न होने पर—महत्व गिर जाता है। चतुर्थकालमें इसी जैनधर्मके पालक—धारक राजा थे, सारी प्रजा थी और सारे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) थे। इसीलिये हे बुधजनो! सब धर्मोंमें इसीकी उत्तमता थी—दूसरोंकी न्यूनता थी। उन सब राजा, प्रजा और द्विजोंका जैन न रहना ही इस धर्मकी न्यूनता का कारण है'।

इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थके विरुद्ध अनुवादक जी ने जो अर्थ दिया है वह इसप्रकार है:—

"अर्थ—हे राजन्, कलिकालमें इस संसारमें जिसके पक्षमें बहुतसी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा, उसका महत्व प्रकट होगा। और जिनके पक्षमें संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होने पर भी अपना महत्व प्रकट नहीं कर सकेंगे। अपना जैनधर्म यद्यपि संसारमें सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोत्तम है, पवित्र है, सदाचारसे परिपूर्ण है, परन्तु राजाओंका पक्ष न रहनेसे कमजोर हो गया है। इसी प्रकार मुनिवर्गका पक्ष जबसे कम होने लगा तबसे उसका महत्व छुपता जाता है। इसलिये जो लोग धर्मका महत्व प्रकट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओंकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सच्चे विद्वान् त्यागियोंको पक्षमें रहकर अपने धर्मकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिये। जो सुधारक, मुनिगण और विद्वानोंकी सत्य और आगमोचित पक्षको छोड़कर धर्मके बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्मकी पवित्रता, विधवाविवाह, जाति-पाँति लोप और विजातीयविवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोंसे नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिये कि इसप्रकार पक्षभेद करदेनेसे धर्मका सत्यानाशही होगा, समुन्नति नहीं॥ ६३८॥"

—"चतुर्थकालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालक राजा और ब्राह्मणादि सभी प्राणी थे। इसलिये इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्नरूपसे बजता था॥६३९॥'

"यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक पूजित है। और सर्वमान्य है। और धर्म इस (जैनधर्म) से सब बातोंमें अधम हैं। परन्तु जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके सदुपदेशके बिना समस्त जीवोंको मिलना कठिन है। इसलिये इस जैनधर्मके पालन करनेवालों की संख्या कम होगई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगमके जानकार विद्वानोंकी पक्षको एकदम मजबूत बना देना चाहिये जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय॥ ६४०॥"

यह सब अर्थ (अनुवाद) मूलसे कितना बाह्य और विपरीत है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं! सहृदय पाठक सहजहीमें तुलना करके उसे जान सकते

*लेखककी लिखी हुई ये सब पुस्तकें "जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई" से मिलती हैं।

हैं। ऐसे अनुवादोंको अनुवाद नहीं कहा जासकता-वे तो पूर्वोल्लेखित अनुवादोंकी तरह अनुवादकजीकी निरंकुशताके जीते जागते उदाहरण हैं ! यहाँ पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ इतनाही बतला देना चाहता हूँ कि अनुवादकजीने जैनियों अथवा पाक्षिक श्रावकोंकी संख्यावृद्धिकी बातको गौण करके तथा राजा प्रजा और द्विजोंको जैनी बनानेकी बातको भुलाकर जो इन श्लोकोंके अर्थके बहाने धर्मगुरुओं (भट्टारक मुनियों) की आज्ञाको शिरोधार्य करने, उनकी तथा उनके आश्रित अपने जैसे त्यागी विद्वानोंकी पक्षमें रहने और उस पक्षको मजबूत बना देनेकी प्रेरणारूप जो यह अप्रासंगिक तान छेड़ी है और सुधारकोंपर बिना बात ही व्यर्थका आक्रमण किया है वह सब भट्टारकीय मार्गको निष्कंटक बनानेकी उनकी एक मात्र धुन और चिन्ताके सिवाय और कुछभी नहीं है—वे लुप्तप्राय भट्टारकीय मार्गको पुनः प्रतिष्ठित कराकर उसे चलाना चाहते हैं ! इसीसे वे शान्तिसागर जैसे मुनियोंके पीछे लगे हैं, उन्हें पक्षापक्षी की दलदल तथा सामाजिक रागद्वेषकी कीचमें फँसा रहे हैं और उनके सहयोगसे इस 'सूर्यप्रकाश' जैसे भट्टारकीय साहित्यके ग्रन्थोंका प्रचार कर रहे हैं !! फिर वे प्रसंग—बिना प्रसंग (मौक़े बेमौक़े) ऐसी बेहयाईकी बातें न करें तो क्या करें ?

खेद है कि अपनी धुनमें अनुवादकजी यह तो लिख गये कि 'मुनिधर्मका पक्ष जबसे कम होने लगा तबसे उसका महत्व छुपता जाता है" परन्तु उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि मुनियोंका पक्ष कम क्यों होने लगा ! क्या मुनियोंका पक्ष कम होने और उनका महत्व गिर जानेका उत्तरदायित्व भी गृहस्थों के ऊपर है ?—मुनियोंके ऊपर नहीं ? कदापि नहीं। मुनियोंमें शिथिलाचार आजाने और उनका आचरण मुनियोंके योग्य न रहनेके कारण ही उनका पक्ष एवं महत्व गिरा है। 'निजैरेव गुणैर्लोके पुरुषो याति पूज्यताम्' की नीतिके अनुसार हरएक मनुष्य अपने गुणोंके कारण ही लोकमें पूजा-प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है और जनताको अपने पक्षमें कर लेता है। एक महात्मा गाँधीने अपने महान् गुणोंके कारण ही संसारको हिला दिया और असंख्य जनता को अपने पक्षमें कर लिया। इससे स्पष्ट है कि मुनियोंके पक्षका गिरना और उनके महत्वका लुप्त होजाना खुद उन्हींकी त्रुटियों तथा दोषों पर अवलम्बित है ऐसी हालतमें अनुवादकजीका, मुनियों को अपनी त्रुटियों तथा दोषोंको सुधारनेका उपदेश न देकर गृहस्थोंको ही उनकी आज्ञाको शिरोधारण करने और उनकी पक्षको मजबूत बनानेका उपदेश देना कहाँका न्याय है ? सिंहवृत्तिके धारक और स्वावलम्बी कहे जानेवाले मुनि तो अकर्मण्य बने रहें और गृहस्थ लोग उनके पक्षको मजबूत करते फिरें, यह कैसी विडम्बना जान पड़ती है ! ऐसी विडम्बनाका एक नमूना यह भी देखनेमें आता है कि मुनि लोग गृहस्थोंसे 'आचार्यपद' लेने लगे हैं!! जान पड़ता है, अनुवादकजीको मुनियोंका सुधार इष्ट नहीं है; क्योंकि वे शिथिलाचारको पुष्ट करनेवाली भट्टारकी चलाना चाहते हैं और इसीलिये उन्होंने मुनियोंको उनकी त्रुटियों तथा दोषोंके सुधार का उपदेश नहीं दिया !! इसी तरहकी एक बात उन्होंने पृष्ठ १२५ के फुटनोटमें भी जोड़ी है—लिखा है कि "कालदोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियोंकी निन्दा कर मुनिधर्मके उठानेका प्रयत्न करेंगे। मुनियोंमें मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे।" मानो मुनिलोग बिलकुल निर्दोष होंगे, और यह सब कालका ही दोष होगा जो लोग यों ही उनकी निन्दा करने लगेंगे तथा उनमें दोष लगाने लगेंगे ! वाह ! कैसी अच्छी वकालत है !! इससे भी अधिक बढ़िया वकालत पृष्ठ ४१ की 'टीप' में की गई है और वह इस प्रकार है:—

"वीतराग सर्वथा निरपेक्ष परम पवित्र सर्व प्रकारके दोषसे रहित और सब प्रकारकी आशाको छोड़कर ज्ञानध्यानमें लीन रहनेवाले धर्मगुरु (मुनि-आचार्य-ऐलक आर्यिका) की ये व्रत और चारित्र-विहीन श्रावक निन्दा करेंगे तथा निर्लज्जताके साथ निन्दा करते हैं। ये लोग स्वयं पापी, सदाचाररहित कुशिक्षासे विषयोंका पोषण करनेवाले और क्रिया-हीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरुका चारित्र-विचार एवं मनकी भावना अत्यन्त पवित्र और उत्तम होगी उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे।" इत्यादि

इस प्रकारके अनुचित पक्षसे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आप मुनियोंका सुधार और उनका उत्थान बिलकुल नहीं चाहते। यही वजह है कि आप क्षुल्लक महाराज जिस शांतिसागरसंघके मुख्य गणधर बने हुए हैं उसकी दिनोंदिन भद्द उड़ रही है, जगह जगह निन्दा होती है और यह प्रसिद्धि हो चली है कि जहाँ जहाँ यह संघ जाता है, वहाँ वहाँ कलहके बीज बोता है और अनेक प्रकारके झगड़े टंटे कराकर लोगोंकी शांति भंग करता है! (शायद टीपमें वर्णित गुणोंका ही यह सब प्रताप हो!!) परन्तु इससे आपको क्या? आपका उल्लू तो बराबर सीधा हो रहा है! मुनियोंके सुधार पर फिर यह स्वार्थसिद्धि, निरंकुशता और गणधरीभी कैसे बन सकती है जिसकी आपको विशेष चिन्ता जान पड़ती है?

यहाँ पर मैं इतना औरभी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि अनुवादकजीने विजातीयविवाह जैसे युक्तिशास्त्र-सम्मत कार्यको भी 'धर्मविरुद्ध' तथा 'धर्मकी पवित्रताको नष्ट करनेवाला' बतलाकर अपने उन पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषोंकोभी, जिनमें तीर्थङ्कर तक शामिल हैं, अधार्मिक और धर्मकी पवित्रताको नष्ट करनेवाले ठहराया है, जिन्होंने अपने वर्ण अथवा जातिसे भिन्न दूसरे वर्ण-जातियोंकी कन्याओंसे विवाह किये थे तथा म्लेच्छ जातियों तककी कन्याएँ विवाही थीं और जिन सबकी कथाओंसे जैनग्रन्थ भरे पड़े हैं! और यह आपकी कितनी बड़ी धृष्टता है!! विजातीयविवाहकी चर्चा बहुत अर्से तक समाजके पत्रोंमें होती रही है और उसे कोईभी विद्वान् अशास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं कर सका। अन्तमें विरोधियोंको चुप ही होना पड़ा और उसके फलस्वरूप अनेक विजातीय विवाह डंकेकी चोट हो रहे हैं। ऐसी हालतमें भी अपने कदाग्रहको न छोड़ना और वही बेसुरा राग अलापते हुए उसके विरोधको चुपकेसे ग्रन्थोंमें रखकर और उसे जिनवाणी तथा भगवान महावीरकी आज्ञा कहकर चलाना कितनी भारी नीचता और धृष्टता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!!! एक दूसरे स्थानपर तो—छठे पृष्ठके फुटनोटमें—आपने ऐसे विवाह करने वालोंको—और इसलिये अपने पूर्वजों तथा पूज्यपुरुषोंकोभी—'अनार्य' (म्लेच्छ) बतलाया है!! इस धृष्टताकाभी कोई ठिकाना है!!!

(१०) पृष्ठ २२३ पर "वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा" यह वाक्य दिया हुआ है। और इसके 'वह' शब्द पर अंक १ डाल कर नीचे एक फुटनोट लगाया गया है, जो इस प्रकार है:—

"इस प्रकरणमें विवाहविधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादासे बतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आपही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति कुजाति, योग्य अयोग्य, नीच ऊँच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवे। ऐसा करना मर्यादाके बाहर है। विवाह धर्मका अङ्ग है, उसकी पूर्ति गुरुजनही योग्य रीतिसे संपादन करते हैं। इसमें बालक बालिकाओंको स्वतन्त्रता नहीं है।"

यह नोट 'वह' शब्दसे अथवा उससे प्रारम्भ होनेवाले उक्त वाक्यसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो स्पष्ट है। परन्तु इसे छोड़िये और इस नोट के विषय पर विचार कीजिये। इसमें स्वयंवरविवाह का निषेध किया गया है और उसके लिये 'आगम की मर्यादा' तथा इस प्रकरणमें वर्णित 'विदेहक्षेत्रकी विवाहविधि' की दुहाई दी गई है। परन्तु इस प्रकरणमें विदेहक्षेत्रमें होनेवाले विवाहोंकी कोई खास विधियाँ निर्दिष्ट नहीं की गई और न यही कहा गया कि वहाँ अमुक एक विधिसे ही सारे विवाह होते हैं; बल्कि भविष्य कथनके रूपमें कर्मदहनव्रत के फलको प्राप्त एक राजकुमारके विवाहका साधारण तौर पर उल्लेख करते हुए केवल इतनाही कहागया है कि 'उस राजकुमारका पिता पुत्रको गुणोंसे उज्वल अथवा अपने ही समान गुणवाला और यौवनसम्पन्न देखकर प्रसन्न होगा। उस पुत्रके विवाहार्थ बड़े कुलोंकी ऐसी सुशीला राजपुत्रियोंकी याचना करेगा जो रूपमें अप्सराओंको मात करने वाली होंगी। ऐसी सुन्दराकार और मनोहर स्वर वाली कन्याएँ उस नेत्रानन्दकारी और यौवनसम्पन्न पुत्रको, सज्जनोंको आनन्द देनेवाले दानों तथा सुमङ्गलोंको मंगल प्राप्तिके लिये करते हुए, बाजे गाजेके साथ विवाही जायँगी।' यथाः—

"तत्पिता यौवनाढ्यं च दृष्ट्वा तनु गुणोज्वलं।
गुणेन स्वात्मतुल्यं वा मुदमाप्स्यति भूमिराट् ॥२२७॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपांगजाः।
महत्कुलोद्भवाः शुद्धाः रूपात्तर्जित अप्सराः ॥२२८॥
ईदृशाः सुन्दराकाराः सुस्वना शं प्रदायते (?)।
सूनवे यौवनाढ्याय नेत्रानन्दकराय वै ॥२२९॥
नेष्यन्त्रि वाद्यघोपौघान् दानांकरसुमंगलान्।
कुर्वन् वै मंगलाप्त्यर्थं सज्जनानन्ददायकान् ॥२३०॥

—पृष्ठ २२२

इन श्लोकोंमें न तो आगमकी किसी मर्यादाका उल्लेख है—आगम या शास्त्रका नाम तकभी नहीं—न विवाहकी कोई खास विधिही स्पष्ट है और न यही पाया जाता है कि विदेहोंमें स्वयंवर विधिका अथवा दूसरी किसी विवाहविधिका निषेध है। मालूम नहीं फिर अनुवादकजीने इन श्लोकोंके आधार पर कैसे उक्त नोट देनेका साहस किया है! इनसे भिन्न और कोई भी श्लोक विवाहविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस प्रकरणमें नहीं हैं। जान पड़ता है इन श्लोकोंके अर्थमें जो जालसाजी की गई है उसीकी तरफ इस नोटका इशारा है अथवा उसीको लक्ष्यमें रखकर यह नोट लिखा गया है! अनुवादकजीका वह बेहद स्वेच्छाचारको लिये हुए छलपरिपूर्ण अर्थ इस प्रकार है:—

"अर्थ—उसका पिता बालकको यौवन अवस्था में देखकर अपनी जातिकी गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक राजाओंकी कन्याओंकी याचनाकर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्रकी विधिसे विवाह करेगा। (इसके बाद कुल डेढ़ पंक्तिमें पाँच श्लोकोंका अर्थ दिया है और उनकी बहुतसी बातें शायद अप्रयोजनभूत समझकर छोड़ दी गई हैं!))।

इस अर्थमें "अपनी जातिकी गुणवाली अपने समानऋद्धिकी धारक" और "विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधिसे विवाह करेगा' ये बातें मूलसे बाहरकी हैं—मूलके किसीभी शब्दका अर्थ नहीं हैं—अपनी तरफसे जोड़ी गई हैं। इन्हें निकाल देनेपर इसअर्थ में फिर क्या रह जाता है और क्या छूट जाता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं!! खेद है कि अनुवादकजी इतनी धृष्टता धारण किये हुए हैं कि अपनी बातोंको भी ग्रंथकी बातें बतला कर लोगोंको ठगना और उनकी आँखोंमें स्पष्ट धूल डालना चाहते हैं! इस निर्लज्जता और बेहयाईका भी कुछ

ठिकाना है !!! मालूम नहीं भट्टारकीय साहित्यके त्रिवर्णाचारादि आधुनिक भ्रष्ट ग्रंथोंको छोड़कर आप कौनसे आगम ग्रन्थकी मर्यादाकी दुहाई दे रहे हैं, जिसमें राजाओं (क्षत्रियों) के लिये एक मात्र अपनी ही जातिकी कन्यासे विवाह करनेकी व्यवस्था की गई हो और स्वयंवर विधिसे विवाहका सर्वथा निषेध किया गया हो ? भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो आदिपुराणके १६ वें पर्वमें 'शूद्रा शूद्रेण वोढव्या' इत्यादि श्लोकके द्वारा अनुलोमक्रमसे विवाह की व्यवस्थाकी है—अर्थात एक वर्ण (जाति) वाला अपने और अपनेसे नीचेके वर्ण (जाति) की कन्यासे विवाह कर सकता है—और इसे युगकी आदिमें श्री आदिनाथ भगवान द्वारा प्रतिपादित बतलाया है। और ४४ वें पर्वमें स्वयंवर विधिसे विवाह को 'सनातनमार्ग' लिखा है तथा संपूर्ण विवाहविधानो में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है; जैसा कि उसके निम्न श्लोकसे प्रकट है:—

> सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
> विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठोहि स्वयंवरः ॥३२॥

साथही, ४५ वें पर्वमें राजा अकम्पनके स्वयंवर विधानका जो अभिनन्दन भरतचक्रवर्तीने किया था उसकाभी उल्लेख दिया है। भरतचक्रवर्तीने भोगभूमिकी प्रवृत्ति द्वारा लुप्त हुए ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धारकर्ताओंको सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> "तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः ।
> कः प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥४५॥
> "मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
> कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एवहि ॥५५॥

इसके सिवाय, उक्त आदिपुराणके १६ वें पर्व में यहभी बतलाया गया है कि विदेहक्षेत्रोंमें वर्णाश्रमादिककी जैसी कुछ व्यवस्था थी उसीको युगकी आदिमें भगवान आदिनाथने इस भरतक्षेत्रमें प्रवर्तित करना उचित समझा था और तदनुसारही वह सब व्यवस्था प्रवर्तितकी गई थी * ऐसी हालत में स्वयंवर विधि जो युगकी आदिमें यहाँ प्रवर्तित की गई वह विदेहक्षेत्रोंकी व्यवस्थाके अनुसार ही की गई है और इसलिये विदेहोंमें स्वयंवरविधिसे विवाहोंका होना स्पष्ट है।

आदिपुराणसे पहिले शक संवत् ७०५ में बने हुए श्री जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणमें भी स्वयंवरविवाहका तथा अन्य जातियोंकी कन्याओंसे अनुलोम प्रतिलोम रूपसे विवाहोंका बहुत कुछ उल्लेख है †। और उसमें रोहिणीके स्वयंवरके प्रसंग पर निम्नवाक्य द्वारा स्वयंवरकी नीतिका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है—अर्थात बतलाया है कि 'स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण करती—स्वीकार करती—है जो उसे पसंद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन, क्योंकि स्वयंवरमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता'—

> स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचितं वरं ।
> कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥३१-५३॥

उक्त हरिवंशपुराणसे भी कोई एक शताब्दी पहलेके बने हुए रविषेणाचार्यके पद्मचरित (पद्मपुराण) में भी सीताके स्वयंवरका वर्णन है। इन

> * पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समुपस्थिता ।
> साऽद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्यमू प्रजाः ॥१४३॥
> षट् कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः ।
> यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्याश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
> तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरंगिनाम् ।
> नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥

† इस ग्रंथ तथा अन्य ग्रंथों सम्बन्धी विवाहविधियों का विशेष परिचय पानेके लिये लेखककी 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तकको देखना चाहिये। यह पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ़, दरीबाकलाँ, देहलीके पाससे मिलती है।

सब ग्रंथोंसे अधिक प्राचीन और अधिक मान्य ऐसा कोईभी जैन ग्रन्थ नहीं है जिसमें स्वयंवरादि का निषेध किया गया हो।

अतः अनुवादकजीका उक्त नोट बिलकुल निःसार छलसे परिपूर्ण, दुःसाहसको लिये हुए और उनकी एकमात्र दूषित चित्तवृत्तिका द्योतक है। इसी तरह के अनेक निःसार नोट ग्रन्थमें भिन्नभिन्न स्थानोंपर लगाये गये हैं, जिन सबका परिचय और आलोचन अधिक विस्तारकी अपेक्षा रखता है और इसलिये उन्हें छोड़ा गया है।

लेख बहुत बढ़ गया है और इसलिये अब मैं आगे कुछ थोड़ीसी बातोंकी प्रायः सूचनाएंही और कर देना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके अनुवाद विषयका और अनुवादककी चित्तवृत्ति एवं योग्यताका यथेष्ट व्यापक ज्ञान हो जाय।

[आगामी अङ्कमें समाप्य।]

साहित्य और इतिहास।

(लेखक—श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमी)

(१५)

भगवान् महावीरका वंश।

बौद्ध ग्रंथोंमें भगवान् महावीर का 'निगंठ नातपुत्त' के नामसे उल्लेख मिलता है। 'निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र' यह उसका संस्कृतरूप है। प्राचीनकालमें वंशके नामसे भी लोगोंका परिचय दिया जाता था। महात्मा बुद्धदेव शाक्य-वंशके थे, इस कारण वे 'शाक्यपुत्र' कहलाते थे। भगवान् महावीर 'ज्ञातृ' नामक क्षत्रियकुलके थे इस कारण उन्हें ज्ञातपुत्र (नातपुत्त) कहते थे। शाक्यपुत्र या बुद्धदेवके अनुयायी श्रमण या साधु शाक्यपुत्रीय और भगवान् महावीर या नातपुत्तके अनुयायी साधु नातपुत्तीय (ज्ञातृपुत्रीय) कहलाते थे। पाली ग्रन्थोंमें जैनसाधुओंका उल्लेख प्रायः इसी नामसे हुआ है। दिगम्बरसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भगवान् महावीरके वंशका नाम 'नाथ वंश' लिखा है; परन्तु हम लोग यह प्रायः भूल गये हैं कि यह 'नाथ' शब्द 'ज्ञातृ' शब्दका पाली या प्राकृतरूप है। हमारे द्वादशांगश्रुतमें एक अंगका नाम 'णायाधम्मकहा' (ज्ञातृधर्मकथा) है। गुजरात-विद्यापीठके अध्यापक न्याय व्याकरणतीर्थ पं० बेचरदासजीने इसका अर्थ किया है 'भगवान महावीरकी धर्मकथायें'। अर्थात् वे 'ज्ञातृ' शब्दको भगवान् महावीरका वाचक मानते हैं।

बौद्धधर्मके धुरन्धर पंडित त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल-सांकृत्यायनने अपनी 'बुद्धचर्या' में इस ज्ञातृवंशके विषयमें एक नई बात लिखी है। उनके मतसे यह ज्ञातृजाति लिच्छवियोंकी ही एक शाखा थी, जो वैशालीके आस-पास रहती थी। इस समय भी वैशाली (वर्तमान बसाढ़ ज़िला मुज़फ्फरपुर) के आसपास जथरिया नामकी एक जाति रहती है, जो भूमिहारोंकी एक शाखा है। सांकृत्यायनजीका ख़याल है कि 'ज्ञातृ' से ही अपभ्रष्ट होकर यह जथरिया शब्द बना है, और जथरियोंका प्रधान निवासस्थल 'रत्ती' परगना भी ज्ञातृ—नत्ती—लत्ती—रत्तीसे बना है। उनकी यह दलील और भी ज़ोरदार है कि भगवान् महावीर और जथरिया जाति इन दोनोंका ही गोत्र 'काश्यप' है।

इस समय भूमिहार लोग अपनेको 'ब्राह्मण' कहते हैं; परन्तु दूसरे लोग उन्हें ब्राह्मण नहीं मानते। वास्तवमें वे क्षत्रिय ही हैं और उनके नाम सिंहान्त होते हैं। इस वंशमें अब भी बहुतसे ज़मीन्दार और राजा हैं।

*भगवानकी माता 'त्रिशला' भी लिच्छवि-वंशकी थीं।

(१६)

शूद्रोंके लिए जिनमूर्तियाँ ?

प्रायः जैनमन्दिरोंके शिखरोंपर और दरवाज़ोंकी चौखटोंपर जिनमूर्तियाँ दिखलाई देती हैं। उनके विषयमें कुछ सज्जनोंने कुछ ही समयसे यह कहना शुरू किया है कि उक्त मूर्तियाँ शूद्रों और अस्पृश्योंके लिए स्थापित की जाती रही हैं, जिससे वे मन्दिरोंमें प्रवेश किये बिना बाहरसे ही भगवान्‌के दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त कर सकें। यह बात कहने सुननेमें तो बहुत अच्छी मालूम होती है, परन्तु अभी तक इस विषयमें किसी प्रतिष्ठापाठका या पूजाप्रकरणका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है और यह बात कुछ समझमें भी नहीं आती है कि जो लोग दर्शन पूजन-पाठादिके अधिकारी ही नहीं माने जाते हैं, उनके लिए शिखरोंपर या द्वारोंपर मूर्तियाँ जड़नेका परिश्रम क्यों आवश्यक समझा गया होगा। यदि शूद्रों या अस्पृश्योंको दूरसे दर्शन करने देना ही अभीष्ट होता, और उनके आने जानेसे मन्दिरोंका भीतरी भाग ही अपवित्र होनेकी आशंका होती, तब तो मन्दिरके बाहर दीवालमें या आगे किसी खुले चबूतरेपर ही मूर्तियाँ स्थापित कर दी जातीं, और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता, जिससे वे समीप आये बिना दूरसे ही वन्दना कर लेते। इसके सिवाय जो लोग इन अभागे प्राणियोंको दूरसे दर्शन करने देनेमें कोई हानि नहीं समझते हैं, उन्होंने क्या कभी यह भी सोचा है कि दूरसे दर्शन करनेवाले उक्त प्रतिमाओंके उद्देश्यसे पुष्पादि भी तो चढ़ा सकते हैं? तब क्या दूरसे किया हुआ पूजन पूजन नहीं कहलायगा? और क्या मन्दिर मूर्तिसे भी अधिक पवित्र होता है?

मेरी समझमें तो शिखरपर या द्वारपर जो मूर्तियाँ रहती हैं, उनका उद्देश्य केवल यह प्रकट करना होता है कि उस मन्दिरमें कौनसा देव प्रतिष्ठित है, वह किस देवताका मन्दिर है। वास्तवमें वह मुख्य देवका संक्षिप्त चिह्न होता है जिससे लोग दूरसे ही पहिचान जायँ कि यह अमुकका मंदिर है। अभी मैं पूने गया था, वहाँ संगमपर ऐसे बहुतसे मन्दिर देखे, जिनके द्वारोंपर उन मन्दिरोंके मुख्य देवोंकी छोटी छोटी प्रतिकृतियाँ लगी हुई हैं।

इस बातका पता लगानेकी ज़रूरत है कि शिल्पशास्त्रोंमें तथा प्रतिष्ठापाठोंमें भी इसके लिए कुछ विधान है या नहीं और यह पद्धति कितनी पुरानी है।

(१७)

शास्त्रचर्चा और इतिहासदृष्टि

जो लोग शास्त्र-वाक्योंको सर्वोपरि मानते हैं, उनमें किसी तरहके सन्देहको अवकाश नहीं देते, उन्हें आँख बन्द करके मान लेनेको ही सम्यग्दर्शन समझते हैं, वे कभी कभी बहुत ठगाये जाते हैं और उन्हें सम्यग्ज्ञानके नामपे महान् मिथ्यात्वकी उपासनामें लग जाना पड़ता है। वे भूल जाते हैं कि शास्त्रकार प्राचीनकालसे लेकर अब तक हज़ारों हुए हैं और वे सबके सब सर्वज्ञ नहीं थे। वे छद्मस्थ थे, उनका ज्ञान भी परिमित था, भूलें भी उनसे हो सकती हैं और सबसे बड़ी बात यह कि देश-कालकी परिस्थितियोंका भी उनपर प्रभाव पड़ता है। संसारमें अबतक ऐसा एक भी ग्रन्थकार नहीं हुआ है, जिसकी रचनामें उसके समयका और उसकी परिस्थितियोंका कुछ न कुछ प्रभाव न पड़ा हो। और तो और उसकी भाषा तथा उसकी रचनाशैलीपर भी उसके समयकी छाप लग जाती है और इस विषयके विशेषज्ञों-द्वारा वह पहिचानी जा सकती है। अतएव जो लोग शास्त्र-चर्चाके द्वारा किसी बातका निर्णय करना चाहते हैं, विभिन्न शास्त्रकारोंके मतभेदोंकी उलझनोंको सुलझाना चाहते हैं, उन्हें प्रत्येक शास्त्र और शास्त्रकारके सम्बन्धमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि वह कब हुआ है, किस सम्प्रदाय गण गच्छ आदिका था, कषायभावोंसे कहाँ तक मुक्त था, उसके समयमें देशकी परिस्थिति क्या थी और वह कैसे वातावरणमें श्वास लेता था। जिसे यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह निर्णय करनेका विशेष अधिकारी होता है। न वह अपने सम्यग्दर्शनको कभी मलिन होने देता है और न केवल शास्त्र नामसे उसको कोई ठग सकता है। इस ज्ञानको ही हम इतिहास-दृष्टि कहते हैं।

कलकत्तेके पं० राजाधरलालजी शास्त्रीकी लिखी हुई 'चर्चासागरके शास्त्रीय प्रमाणोंपर विचार' नामकी नवप्रकाशित पुस्तकमें हमने यही इतिहासदृष्टि देखी और इस कारण हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। शास्त्रीजीकी कोटिके पण्डितोंकी लिखी हुई किसी भी पुस्तकमें अभीतक हमने यह विशेषता नहीं देखी थी। इसमें मुनियोंके वनवास, गृहवास, श्राद्ध, पितृतर्पण आदि विषयोंपर जो विचार किया गया है, वह उक्त ऐतिहासिक दृष्टिसे किया गया है और अबतक इस विषयमें जो ऐतिहासिक लेख—'वनवासियों और चैत्यवासियोंके सम्प्रदाय' * आदि—प्रकाशित हो चुके हैं, उन सबका पूरा पूरा उपयोग किया है। हम चाहते हैं कि अन्य शास्त्री महाशय भी इतिहासका अध्ययन करके इस दृष्टिको प्राप्त करें और जैनसाहित्यके शुद्ध सुवर्णमें जो ढेरकी ढेर कुधातुएँ मिल गई हैं, उनको पहिचानना सीख जायँ। इस पुस्तकके अन्तिम पृष्ठपर नीचे लिखा हुआ वाक्य मोटे अक्षरोंमें मुद्रित है, जिसपर प्रत्येक पण्डित कहलानेवालेका ध्यान जाना चाहिए—

"संस्कृत और प्राकृतमें लिखे जाने मात्रसे ही कोई ग्रन्थ आगम नहीं माना जासकता; किन्तु प्रामाणिक आचार्योंके प्रामाणिक वचन ही आगम-वचन हैं।"

(१८)

दक्षिणकी जैन जातियाँ।

दक्षिणमहाराष्ट्र-जैनसभाने अपने यहाँकी अन्तर्जातियोंको एक करनेके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव पास किया है। उसके अनुसार प्रचार करनेके लिए सभाके महामन्त्री श्रीयुत कुरले महाशय दौरा कर रहे हैं। उनके दौरेकी रिपोर्टसे मालूम हुआ कि दक्षिणमहाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्तमें (मैसूर स्टेटको छोड़कर) जैनोंकी केवल चार जातियाँ हैं, (१) पंचम, (२) चतुर्थ, (३) कासार बोगार और (४) शेतवाल। पहले ये चारों जातियाँ एक ही थीं और 'पंचम' कहलाती थीं। 'पंचम' यह नाम वर्णाश्रमी* ब्राह्मणोंका दिया हुआ जान पड़ता है। प्राचीन जैनधर्म जन्मगत वर्णव्यवस्थाका विरोधी था, इसलिए उसके अनुयायियोंको ब्राह्मणधर्मानुयायी लोग अवहेलना और तुच्छताकी दृष्टिसे देखते थे और चातुर्वर्ण्यसे बाहर पाँचवें वर्णका अर्थात् 'पंचम' कहते थे। जिस समय जैनधर्मका प्रभाव कम हुआ और उसे राजाश्रय नहीं रहा, उस समय धीरे धीरे यह नाम रूढ होने लगा और अन्ततोगत्वा स्वयं जैनधर्मानुयायियोंने भी इसे स्वीकार कर लिया। नवीं दशवीं शताब्दिके लगभग यह नामकरण हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है। इसके बाद वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदायका उदय हुआ और उसने इन जैनों या पंचमोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना शुरू किया। लाखों जैन लिंगायत बन गये, परन्तु लिंगायत होजाने पर भी उनके पीछे पूर्वोक्त 'पंचम' विशेषण लगा ही रहा और इस कारण इस समय भी वे 'पंचम लिंगायत' कहलाते हैं। उस समय तक चतुर्थ, शेतवाल आदि जातियाँ नहीं बनी थीं, इस कारण जो लोग जैनधर्म छोड़कर लिंगायत हुए थे, वे 'पंचम लिंगायत' ही कहलाते हैं 'चतुर्थ लिंगायत' आदि नहीं। दक्षिणमें मालगुजार या नम्बरदारको पाटील कहते हैं। वहाँके जिस गाँवमें एक पाटील लिंगायत और दूसरा पाटील जैन होगा, अथवा जिस गाँवमें लिंगायत और जैन दोनोंकी बस्ती होगी, वहाँ लिंगायत पंचम जातिके ही आपको मिलेंगे और जिस गाँवमें पहले जैनोंका प्राबल्य था, वहाँके सभी लिंगायत पंचम होंगे। अनेक गाँव ऐसे हैं, जहाँके जैन पाटीलों और लिंगायत पाटीलोंमें कुछ पीढ़ियोंके पहिले परस्पर सूतक तक पाला जाता था। जिस गाँवके जैनपाटीलोंमें चतुर्थ और पंचम दोनों भेद हैं, वहाँके लिंगायत पाटील केवल पंचम हैं। इससे मालूम होता है कि लिंगायत सम्प्रदायके जन्मसे पहले बारहवीं शताब्दि तक सारे दक्षिणात्य जैन पंचम ही कहलाते थे, चतुर्थ आदि भेद पीछेके हैं। दक्षिणके अधिकांश जैनब्राह्मण भी—जो उपाध्याय कहलाते हैं—पंचम-जातिभुक्त हैं, चतुर्थादि नहीं। इससे भी जान पड़ता है कि ये भेद पीछेके हैं।

पहले दक्षिणके तमाम जैनोंमें परस्पर रोटी बेटी-व्यवहार होता था और वे सब 'पंचम' कहलाते थे। लिंगायत सम्प्रदायका ज़ोर होनेपर उनकी संख्या कम हो

* देखो "जैनहितैषी" भाग १४, अंक ४-५

गई, इसलिए सोलहवीं शताब्दिके लगभग भट्टारकोंने अपने प्रान्तीय या प्रादेशिक संघ तोड़कर जातिगत संघ बनाये और उसी समय जुदे जुदे मठोंके अनुयायियोंको चतुर्थ, शेतवाल, बोगार अथवा कासार नाम प्राप्त हुए। साधारण तौरसे खेती और ज़मीन्दारी (पाटीली) करनेवाले चतुर्थ, काँसे पीतलके बर्तन बनानेवाले कासार या बोगार और केवल खेती और सिलाई तथा कपड़ेका व्यापार करनेवाले शेतवाल कहलाने लगे। (हिन्दीमें जिन्हें कँसेरे या तमेरे कहते हैं, वे ही दक्षिणमें कासार कहलाते हैं और मराठीमें खेतीका पर्यायवाची शब्द शेती या शेतकी है, जिससे कि शेतवाल शब्द बना है।) और ये सब धंधे जिस मूल समुदायमें थे और जो पुराने नामसे चिपटे रहे, वे 'पंचम' ही बने रहे। इसीलिये पंचमोंमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंके धंधे करनेवाले प्रायः समानरूपसे मिलते हैं। कासारोंमें वैष्णव भी हैं। वैष्णव 'त्वष्टा कासार' कहलाते हैं और जैन 'पंचम कासार'। 'कासार' नाम पेशेके कारण है और 'पंचम' धर्मके कारण। जिनसेन मठ (कोल्हापुर) के अनुयायियोंको छोड़कर और किसी मठके अनुयायी चतुर्थ नहीं कहलाते हैं।

पंचम, चतुर्थ, शेतवाल और बोगार या कासारोंमें परस्पर रोटी-व्यवहार अबतक चालू है, इससे भी इनका पूर्वकालीन एकत्व प्रकट होता है। इन सभी जातियोंमें विधवा-पुनर्विवाह जायज़ है।

कुदले महाशयने अपनी रिपोर्टमें जो कुछ लिखा है, मेरे शब्दोंमें यह उसीका सार है। इससे दक्षिणकी उक्त चारों पाँचों जातियोंकी एकतापर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है; केवल 'चतुर्थ' नाम ही कुछ अँधेरेमें रह जाता है। स्वर्गीय पं० कल्लापा भरमापा निटवेने एकबार मुझे इस शब्दकी उत्पत्ति बतलाई थी, परन्तु कनड़ी भाषाका ज्ञान न होनेसे खेद है कि मैं उसे भूल गया। उन्होंने कहा था कि 'चतुर्थ' शब्दने तो अभी अभी पढ़े लिखे लोगोंके व्यवहारमें पड़कर संस्कृत रूप धारण कर लिया है, परन्तु अपढ़ लोगोंमें इसका उच्चारण अमुक प्रकारसे होता है, जो संस्कृतके 'चतुर्थ' शब्दसे कुछ साम्य तो ज़रूर रखता है, परन्तु पुरानी कनड़ीमें-जिसे कि लोग भूल गये हैं— उसका अर्थ 'क्षत्री' होता है। स्वर्गीय पण्डितजीके उक्त कथनकी ओर हम कुदले महाशयका ध्यान आकर्षित करते हैं। शायद इससे 'चतुर्थ' नामकी सन्तोषजनक उत्पत्ति बैठानेमें कुछ सहायता मिले।

हमारा ख़याल है कि उत्तरभारतकी जातियोंमें भी अनेक जातियाँ ऐसी होंगी जिनका मूल एक होगा और पीछे उनकी शाखायें स्वतन्त्र जातियाँ बन गई होंगी। उदाहरणार्थ पं० बखतरामजीने अपने 'बुद्धिविलास' नामक ग्रन्थके 'श्रावकोत्पत्तिवर्णन' नामक प्रकरणमें परवार जातिकी अठसखा, चौसखा, छःसखा, दोसखा, सोरठिया, गांगज (गँगेरवाल?) और पद्मावतीपुरवार ये सात शाखायें बतलाई हैं। इस विषयमें खोज होनेकी बहुत ज़रूरत है।

विविध विषय।

महात्माजीके दस प्रश्न।

अछूतोंके मन्दिरप्रवेशके सम्बन्धमें चर्चा करनेके लिये थोड़े दिन पहले कुछ शास्त्री और पण्डितलोग यरोड़ा-जेल गये थे। वहाँ महात्मा गाँधीने उनसे नीचे लिखे हुए दस प्रश्न किये थे। थोड़ेसे हेरफेर के साथ जैन समाजके पंडितोंसे भी यही प्रश्न किये जा सकते हैं। क्या इनका उत्तर दिया जायगा ?

१— शास्त्रानुसार अस्पृश्यताकी क्या परिभाषा है ?

२— क्या यह परिभाषा वर्त्तमान अस्पृश्योंपर लागू हो सकती है ?

३— अस्पृश्योंके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें क्या क्या निषेध है ?

४— अस्पृश्यतासे कभी मुक्ति मिल सकती है ?

५— अस्पृश्योंके प्रति स्पृश्योंके व्यवहारके सम्बन्धमें शास्त्रीय नियम क्या हैं ?

६— किस अवस्थामें शास्त्र अस्पृश्योंको मन्दिर प्रवेश की आज्ञा दे सकता है ?

७— शास्त्र कौन कौन हैं ?

८— शास्त्रोंकी मान्यता कैसे प्रमाणित हो ?

९—शास्त्रोंकी परिभाषा और व्याख्यामें विभिन्नता हो तो उसका सामञ्जस्य कैसे किया जाय ?

१०—आप क्या निर्णय करते हैं ?

अस्पृश्यों या अछूतोंका प्रश्न देशव्यापी हो रहा है। जैन समाजके विद्वानोंको भी इसका गहराईके साथ अध्ययन करना चाहिये। अपनी अल्पसंख्या और दूसरी परिस्थितियोंके कारण जैनसमाज हिन्दूसमाजसे इस विषयमें अलग नहीं रह सकता है। मन्दिरप्रवेशका प्रश्न भले ही हमारे सामने स्पष्टरूपसे न आवे, परन्तु अछूतोंके साथ कैसा बर्ताव किया जाय, इस प्रश्नका निर्णय तो हमेंभी करना ही पड़ेगा।

हिन्दू घट रहे हैं।

जैनोंके समान हिन्दुओंकी संख्याभी घट रही है और मुसलमानोंकी बराबर बढ़ रही है। 'युगान्तर' में प्रकाशित नीचे लिखी हुई संख्याओंको देखिए—

सन्	हिन्दू घटे	और मुसलमान बढ़े
१८८९	७४३०००	१८७०००
१८९१	७२३०००	२०००००
१९०१	७०३०००	२१२०००
१९११	६९३०००	२१३०००
१९२१	६८४०००	२१००००

पंजाबमें सन् १९२१ में हिन्दुओंकी संख्या ६५७९२३० थी, जो सन् १९३१ में ६३२९००० रह गई, अर्थात् दस वर्षमें लगभग ढाई लाख कम हो गई।

अनुमान है कि हिन्दुस्तानमें बाहरसे जो मुसलमान आये थे, वे लाख सवा लाखसे अधिक नहीं थे; परन्तु इस समय उनकी संख्या सात करोड़ है। पहले तो खैर, वे इस देशके शासक थे, और जुल्मसे भी लोगोंको अपने धर्ममें दीक्षित कर लेते थे; परन्तु अब तो शताधिक वर्षोंसे हमारे समान वे भी गुलाम हैं; फिरभी उनकी संख्या बराबर बढ़ रही है। इसके लिए हिन्दू समाजके सामाजिक नियमही ज़िम्मेवार हैं। शूद्रों और अछूतोंके साथ पशुओंसे भी अधम व्यवहार करना, उन्हें दूरसे दुरदुराना, अपने लोगोंको जरा ज़रासे अपराधोंपर जाति-बहिष्कृत कर देना, अपराधियोंको फिर अपनेमें न मिलाना, स्त्रियोंपर बलात् वैधव्य लादकर उन्हें भ्रष्ट होनेके लिए मजबूर करना आदि अनेक कारण ऐसे हैं, जिनसे हमारे भाई हमसे अलग होकर मुसलमान और ईसाई धर्मोंकी गोदमें चले जाते हैं और उनकी संख्या बढ़ाते जाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि अब भी हम नहीं चेत रहे हैं। हमारी गति अब भी ध्वंसोन्मुख है।

यह कहा जाता है कि १९३१ में जैनोंकी संख्या कुछ बढ़ी है परन्तु हमें पिछली मनुष्यगणनाकी सच्चाई पर अधिक विश्वास नहीं होता है। देशकी असीम बलशाली संस्था कांग्रेसने इस मनुष्यगणनाका ज़बर्दस्त बहिष्कार किया था और उस बहिष्कारका ज़ोर ग्रामोंकी अपेक्षा शहरोंमें बहुत अधिक था, जिनमें कि अधिकांश जैनी लोग रहते हैं। साधारण हिन्दुओंकी अपेक्षा जैनसमाज शिक्षामें भी बहुत कुछ अग्रसर है और शिक्षित समुदाय पर कांग्रेसका प्रभाव अधिक है। ऐसी दशामें यह असम्भव नहीं कि पिछले दस वर्षोंमें भी जैनोंकी संख्या घटी हो।

शांतिसागरजी की जाति।

जैनजगत् शुरूसे ही यह घोषणा करता आया है कि कलिकालसर्वज्ञ आचार्य शान्तिसागरजीकी जातिमें विधवा पुनर्विवाह आमतौरसे प्रचलित है; परन्तु आचार्यजी के एजेन्टोंने अपने छल-बल कौशलसे इस सत्यको बराबर छुपाया, और जब कुछभी न बन पड़ा, तो यही कहकर लोगोंको भुलाये रखना चाहा कि महाराजका जन्म पाटीलोंके वंशमें हुआ है और पाटीलोंमें विधवाविवाह नहीं होता है। वास्तवमें पाटील कोई जाति या वंश नहीं है। दक्षिणमें मालगुजार या नम्बरदारको पाटील कहते हैं, जो सभी जातियोंमें होते हैं। जाति तो उनकी चतुर्थ है और चतुर्थ जातिमें विधवाविवाह आमतौरसे प्रचलित है। तब यह नहीं कहा जासकता कि पाटीलोंमें विधवाविवाह नहीं होता है। पिछले अंकमें हमने दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभा के मुखपत्र 'प्रगति आणि जिनविजय' के सम्पादकका एक नोट प्रकाशित किया था, जिसमें स्वीकार किया गया है कि शांतिसागरजीकी जातिमें विधवाविवाह प्रचलित है। ता० ३० दिसम्बरके जैनमित्रमें भी उक्त नोटका अभिप्राय प्रकाशित होगया है; फिरभी आचार्यजीके एजे-

न्होंमें यह साहस नहीं है कि वे उक्त सत्य बातको स्वीकार करलें। अत्यन्त धृष्टता और निर्लज्जताके साथ वे अब भी वही राग अलापे जारहे हैं कि महाराजके वंशमें विधवा-विवाह जैसा निन्द्यकर्म कभी नहीं हुआ है। क्या इतने बड़े जैनसमाजमें एक भी ऐसी जवाबदार संस्था नहीं है, जो एक जाँच-कमेटी नियत करके इस ढोलकी पोलको खोल दे? महासभा तो विधवाविवाहके नामसे ही भड़क उठनेवाली संस्था है। क्या उसका यह कर्तव्य नहीं है कि वह इन विधवाविवाह वालोंकी असलीयत सर्वसाधारण पर ज़ाहिर करदे?

बुद्धिहीनके लिए शास्त्र व्यर्थ हैं।

डा० भगवानदासजी ऐम० ए० देशके महान् दार्शनिक गिने जाते हैं। हिन्दू और बौद्धशास्त्रोंके वे प्रकाण्ड पण्डित हैं। अभी छपरामें जो अछूत सम्मेलन हुआ था, उसके सभापतिपदसे आपने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया है उसका निम्नांश विचारने योग्य है--

"जो धर्मकी शुद्धि चाहते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध शास्त्र-प्रमाणोंसे काम लेना चाहिये। अध्यात्म विद्याके अनुकूल तर्क करके, इस कर्मसे सुख होगा कि दुःख, इसको खूब विचार करके, जो धर्मका अनुसन्धान करता है, वही सच्चे धर्मको पाता जानता है; दूसरा नहीं। केवल एक पोथीके अक्षरको पकड़ करके, बिना युक्ति देखे जो काम करेगा, वह अधर्ममें पड़ जायगा। केवल शास्त्रके पाठसे धर्मका ज्ञान नहीं होता, धर्म और अधर्मके निर्णयमें बुद्धिसे काम लेना चाहिये। हमारे महर्षियोंने अपनी बुद्धिसे, आध्यात्मिक चिन्तन करके, शास्त्रों को बनाया है। जिसको प्रज्ञा नहीं, बुद्धि नहीं, उसके लिये शास्त्र व्यर्थ है, जैसे नेत्रहीन मनुष्यके लिये दर्पण।

"जो जनताका धारण करे, उनको एक दूसरेसे बाँधे रहे, उनको बिखरने न दे, जो लोकका संग्रह करे, विग्रह न करे, जिससे लोकका अत्यन्त हित हो, वही सत्यधर्म है।

"यदि आप मेरी प्रार्थनाको मानें, तो सब देव मंदिरों पर ये दो श्लोक मोटे अक्षरोंमें लिखकर लगवादें--

स्पृश्यास्पृश्यविवेके तु जातिनाम न कारणम्।
किन्त्ववस्था मनुष्याणां समला निर्मलाऽथवा॥
भक्त्यापूतं मनो येषां देहः स्नानादिभिस्तथा।
ते सर्वे स्वागता अत्र देवदर्शनकांक्षिणः॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

[अर्थात् स्पृश्य और अस्पृश्यका जो विवेक किया जाता है, उसका कारण कोई जाति नहीं है, किन्तु मनुष्योंकी मलिन और निर्मल अवस्था है-जो मनुष्य गंदा है उसे नहीं छूना, जो साफ़ है उसे छूना। देवदर्शनकी इच्छा रखनेवाले जिन लोगोंका मन भक्तिसे और शरीर स्नानादिसे पवित्र है, वे सब यहाँ आवें, उनका स्वागत है। सब लोग संसार समुद्रको तिरें, सबका कल्याण हो, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब सब जगह आनन्दसे रहें]

भारत दिगम्बर जैन परिषद्का अधिवेशन

—ता० ३०, ३१ दिसम्बरको सहारनपुरमें होगया। स्वागताध्यक्ष श्रीमान् बा० विमलप्रसादजी ऐडवोकेट व सभापति श्रीमान रायबहादुर साहु जगमंदरदासजीके भाषण महत्त्वपूर्ण थे। रायबहादुर ला० हुलासरायजी, ला० प्रद्युम्नकुमारजी, न्यायाचार्य पं० माणिकचन्दजी आदि सभी श्रीमान् धीमान अधिवेशन में शरीक हुए थे। बाहरसे भी कई महानुभाव आये थे। विद्वानोंका अच्छा समागम रहा। मुख्य प्रस्तावों का सार यह है:—(१) दि० जैनमन्दिरोंके भण्डारों की सुव्यवस्था व रक्षाके लिये कमेटी नियत कीगई, (२) "वीर" को दैनिकपत्र बनाया जाय, (३) सामाजिक व राजनैतिक एकताके लिये तीनों सम्प्रदायों के प्रतिनिधियोंकी कान्फ्रेन्स कीजाय, (४) वैवाहिक प्रथाओंमें सुधार किया जाय, यथा—बारात बेटीवाले के यहाँ दो दिनसे ज्यादा न ठहरे, दुलहिनके लिये भेजे जाने वाले जेवर. व दहेज आदिका दिखावा न किया जाय, बूरबखेर, बारावहारी, आतिशबाजी, वेश्यानृत्य, भाँडोंका नाच आदि क़तई बन्द किये जायँ, बारातियोंको टीकेमें बरतन देना बन्द किया जाय, गौनेकी रस्म बन्दकी जाय आदि, (५) कन्या-महाविद्यालय स्थापित करनेके सम्बन्धमें कमेटी

नियुक्त कीगई, (६) स्वदेशी वस्तुओंका व्यवहार करनेके लिये प्रेरणा, (७) जैन इतिहास तैयार करने के लिये कमेटी नियुक्त कीगई, (८) चर्चासागर, सोमसेन—त्रिवर्णाचार व जैनसिद्धान्तके प्रतिकूल सम्पूर्णसाहित्यको अप्रमाण घोषित किया गया। (९) सरकारी परीक्षाओंके कोर्समें जैनग्रंथ भरती करानेके लिये कमेटी नियत कीगई, (१०) समाज में वैवाहिक सम्बन्धोंकी सरलताके लिये परिषद् मैरेज ब्यूरोकी स्थापना, (११) जैनधर्मके प्रचारके लिये वैज्ञानिक ढंगसे जैनधर्मके तत्त्वोंको सिद्ध करने वाली पुस्तकें तैयार कर प्रकाशित करानेके लिये कमेटी की नियुक्त कीगई। —प्रकाशक।

आचार्य श्री सूर्यसागर महाराजके विचार।

(प्रेषक—श्रीमान प्रोफ़ेसर घासीरामजी जैन, एम० एस सी० ग्वालियर।)

आचार्य श्री सूर्यसागर महाराज दो अन्य मुनियों और एक क्षुल्लक तथा ब्रह्मचारी आदिके साथ ता० २२ दिसम्बरकी सायंकालको लशकर पधारे और बस्तीके कोलाहलसे दूर एक बगियामें ठहरे। अन्य मुनियोंकी भाँति नगरमें निवास करने के वे विरोधी प्रतीत होते हैं। ता० २३ से आचार्य-श्री का सदुपदेश प्रारम्भ हुआ और ता० २४ को कुछ लोगोंके विशेष आग्रह करने और प्रश्न पूछने पर आपने तेरह-बीसपंथ सम्बन्धी अपने कुछ विचार उपस्थित जनताके समक्ष रक्खे। आपने फ़रमाया कि केसर, फूल आदि चढ़ानेका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है किन्तु प्रतिमाके शरीरपर चन्दन लेपन करनेसे अथवा उसके ऊपर फूल चढ़ानेसे प्रतिमा दिगम्बररूप नहीं रहती, श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमामें कोई भेद नहीं रहता। अतएव पुष्प आदि प्रतिमाके आगे अन्य द्रव्योंकी भाँति चढ़ाना ही श्रेष्ठ है। भैरों, क्षेत्रपाल आदिके पूजनका निषेध करते हुए आपने बतलाया कि जो जीव स्वतः अपनेको कालसे नहीं बचा सकते वे दूसरोंको क्या बचावेंगे? केवल जिनेन्द्र ही ऐसे देव हैं जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है इसलिए उनकी ही आराधना करना चाहिए। पंचामृताभिषेक क्रियाकी उत्पत्ति-कथा सुनाते हुए कि किस प्रकार लोहाचार्यके संघ से निकाले हुए एक शिष्यने काष्ठ प्रतिमाको फटने से रोकनेके लिए उसे चिकना करनेकी विधि निकाली थी। आपने फरमाया कि यह क्रिया जैनधर्म के बाहरकी चीज़ है। अन्तमें मिथ्यात्वत्याग पर ज़ोर देते हुए उस दिनका भाषण समाप्त हुआ।

इस भाषणसे बीसपंथी सज्जनोंके मन बहुत क्षुब्ध होगये और एक प्रकारसे यह भावना सर्वत्र फैल गई कि आचार्य शान्तिसागरका संघ जैसे बीसपन्थी था—वैसे ही यह संघ तेरहपंथी है। कुछ महानुभावोंने इन विचारोंकी प्रवृत्तिको रोकना भी चाहा कि आगामी इस विषयके कलहवर्धक कोई प्रश्न न किये जायँ किन्तु लोग न माने और ता० २५ को स्थानीय तेरहपन्थी बड़े मंदिरमें, जहाँ पर कि अनेक पदवीधारी ला० लक्ष्मीचन्दजी भी मौजूद थे, कई प्रश्न पुनः ऐसे पूछे गये जिससे पारस्परिक वैमनस्य और अधिक बढ़गया। महाराजने बैठकर पूजन करनेका निषेध करते हुए कहा कि यदि बैठ कर पूजन होसकती है तो बैठकर मुनियोंको पड़गाहा क्यों नहीं जाता? और क्यों न बैठकर ही उन्हें भोजनदान दिया जाता है? स्त्रीपूजनाधिकार के विषयमें आपका मत यह है कि वे पूजन तो अव-

श्य कर सकती हैं किन्तु प्रक्षाल नहीं - मैनासुन्दरी ने भगवानकी प्रतिमा स्पर्श नहींकी थी केवल, सिद्धचक्रकी पूजा कर उसका प्रक्षालित जल श्रीपालके अंगोंमें लगाया था।

इसका परिणाम यह हुआ कि ता० २६ की सुबहको कई अर्द्धशिक्षित अथवा अशिक्षित बीसपंथ-अनुयायी लोग महाराजको पड़गाहने खड़े नहीं हुए। समाजका यह अवश्य दुर्भाग्य समझना चाहिए कि जरा-जरा-सी बातोंके पीछे हम इतना विद्वेष करते हैं।

ता० २६ के भाषणमें महाराजने एक विलक्षण बात कही (सम्भव है सच हो !)। वह यह है। तीर्थङ्करोंकी ध्वनिको दूसरे लोगों तक पहुँचानेकी गरज से अर्द्धमागध जातिके देव उसे आगेको धकेलते रहते हैं, इस कारणसे भगवानकी वाणी अर्द्धमागधी कहलाती है; अन्यथा अर्द्धमागधी किसी भाषाका नाम नहीं है। मृतकभोजके प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए आपने समाजको बुरी तरह धिक्कारा और कहा कि—अय अहिंसाधर्मके माननेवालो, तुम्हें शर्म आनी चाहिये, किसीके घरतो एक ११ वर्षकी कन्या विधवा होजाती है, वहाँ जाकर खूनसे रँगे हुए लड्डू तुम्हारे पेटमें कैसे उतर जाते हैं? महाराजको यह सुनकर बहुत दुःख हुआ कि जहाँ अन्य सब समाजें विवाहमें रण्डीके नृत्यको बन्द करती जाती हैं, लशकरकी जैनसमाज इस विषयमें अबतक बिलकुल मौन है। वेश्यानृत्यकी बुराइयोंका आपने इतना अच्छा विवेचन किया कि माधवगंजकी पंचायतीने इस बात की आखड़ीली कि हमारे यहाँ न कोई वेश्या को बुलावेगा और न हम किसीके यहाँ वेश्यानृत्यमें शरीक होंगे। यह भाषण चम्पाबागके बड़े बीसपंथी मन्दिरमें हुआ था।

ता० २७ को स्थान नये मन्दिरमें भाषण हुआ। स्त्रियोंको सम्बोधन करते हुए महाराज सूर्यसागर जीने कहा कि आपको मूर्ख रखनेमें पुरुषोंका स्वार्थ-साधन है। आप यदि मूर्ख होंगी तो पुरुष आप पर मनमाने अत्याचार कर सकेंगे—इसलिये अपने हितका विचार कर, यदि आपकी कन्याओंके लिये पुरुषवर्ग कोई साधन नहीं तैयार करता तो आप को ही स्वतः आपसमें चन्दा कर इसका उद्योग करना चाहिये। महाराजने विशेष आग्रहकर स्त्रियोंसे यह प्रतिज्ञा करानेकी चेष्टा की कि श्रीमंदिरजीमें आकर वे घरसम्बन्धी वार्तालाप न किया करें।

ता० २८ को प्रातःकाल तेरह, बीस पंथके मानने वालोंमें आचार्य महाराजके समक्ष खूब चों चों हुई। एक महाशयने तो यहाँ तक कह दिया कि महाराज, आप ठहरे तो हो बीसपंथियोंकी नशियाँ में और पक्ष करतेहो तेरहपंथका। और दूसरी बात, जो बहुत ही नीच मानसिक प्रवृत्तिकी सूचक थी, वह यह कही गई कि महाराज, तेरहपन्थी आपको आपसमें चन्दा करके खिला रहे हैं; उनके पास रखा ही क्या है?

दोपहरको महाराजने उपस्थित जनताके समक्ष घोर दुःख प्रकट किया कि उनके सतत प्रयत्न करने परभी तेरह, बीसका कलह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। आपने पश्चात्ताप करते हुए यहाँ तक कह डाला कि निरर्थक कलह बढ़ाकर आप लोग मेरे मुँह पर कालिमा मत पोतिये। मुझसे बढ़कर चाण्डाल कौन होगा जिसके कारण आप लोगोंमें विद्वेषकी अग्नि भड़की? किन्तु बाहरी जनता!! किसीके कानपर जूँ तक भी न रेंगी और इस पुराने तेरह, बीसके पचड़ेको मिटानेमें महाराज किसी प्रकार भी समर्थ न हुए। अन्तमें सप्तव्यसनत्याग और अणुव्रतोंके ग्रहण करनेका उपदेश देकर भाषण समाप्त हुआ।

इसके पश्चात महाराजका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ जानेके कारण कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं

हुई। ता० ४ जनवरीको एक महाशयके प्रश्न करने पर महाराजने अछूतोद्धारका बड़ा सुन्दर विवेचन किया। आपने फरमाया कि तीर्थङ्करोंके समवसरण में अस्पर्श शूद्र भी स्थान पाते थे—मेरे समक्ष भी शूद्र उपदेश श्रवणके लिये आसकते है, फिर मंदिरो मे क्यों नहीं जासकते ? आधुनिक प्रवृत्ति शूद्रोंको मन्दिरमे प्रवेश न करने देनेकी, जैनियोंकी कमजोर मनोवृत्तिकी सूचक है। क्या शूद्र पशुओंसे भी गएबीते है ? दूसरी महत्वपूर्णबात आपने यह कही कि जैन समाजकी वर्तमान दशाको देखते हुए नवीन मंदिरों का निर्माण निरर्थक है। प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करना अधिक धार्मिक कार्य है। अन्तमें आपने छोटे बच्चोंको आभूषणोंसे लादनेका निषेध करते हुए भाषण समाप्त किया।

महाराजके भाषणोंकी विशेषता यह है कि वे समयानुकूल होते है। जिन कारणोंसे समाजका अधःपतन होरहा है उनका आप खूब स्पष्टीकरण करते हैं। आपका भाषण केवल हरितत्याग, शूद्रजलत्याग, यज्ञोपवीत आदि तक ही सीमित नहीं रहता। आशा है कि जनता महाराजके वचनोंसे लाभ उठायगी और अपनी रुचिके अनुसार उन्हें ग्रहण करेगी।

मानकी मरम्मत—जयपुरमें गत चातुर्मास मे शान्तिसागरसंघकी जो किरकिरी हुई थी, वह सर्वविदित है। अब मानकी मरम्मतके लिये उनके अन्धभक्तोंने रैनवाल (रियासत जयपुर) मे वेदी प्रतिष्ठाके बहाने खंडेलवाल महासभाका अभिनय रचने का आयोजन किया है। वेदीप्रतिष्ठा माघ सुदी ७ से ११ तदनुसार ता० १ फरवरीसे ५ फरवरी तक होगी। अधिवेशनके लिये अभी तक तारीखें निश्चित नहीं हुई है और न सभापतिका ही निर्वाचन हुआ है। कुछ भी हो, किसी तरह नाटक कर आगे खर्चेके लिये पैसा बटोर लिया जावेगा तथा भोली ग्रामीण जनताके समक्ष शान बघार ली जावेगी।

परवारजैनोंमें विधवाविवाह—भा० जैन विधवासहायविभाग आकोलाके प्रयत्नसे शंडावरा निवासिनी श्रीमती गरेशीबाई परवारका पुनर्विवाह ललितपुर निवासी सेठ देवीप्रसादजी परवारके साथ तथा तालबेहट निवासिनी श्रीमती सुमित्राबाई परवारका पुनर्विवाह श्रीमान सेठ टडैया बालचन्दजी परवारके साथ जैनविवाहपद्धतिके अनुसार क़रीब तीनसौ प्रतिष्ठित महानुभावोंकी उपस्थितिमे समारोह पूर्वक हुआ। कई विद्वानोंके भाषण भी हुए थे।

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ ॐ अङ्क ७

१ फरवरी सन १९३३

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—प्रो० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

सूचना।

जैनजगत्की पुरानी फाइलें समाप्त होचुकी हैं। केवल कुछ फुटकर अङ्क बचे हैं। जिन्हें अपनी फाइलें पूर्ण करनी हो अथवा फुटकर अङ्कोंकी आवश्यकता हो वे शीघ्र मँगवालें, अन्यथा बादमें निराश होना पड़ेगा। प्रत्येक पुराने अङ्कका मूल्य सर्वसाधारणसे दो आना तथा संस्थाओंसे एक आना लिया जावेगा।

स्थानीय चर्चा।

गत माघ बदी ५ को श्रीमान् डॉक्टर गुलाबचन्दजी पाटणीने अपनी लड़कीका विवाह उसकी उमरसे करीब तिगुनी अवस्थाके एक बनड़े (?) के साथ किशनगढ़ जाकर किया। शारदा ऐक्टसे इतना फ़ायदा अवश्य हुवा है कि साधारण श्रेणीके लोगोंको जो तङ्गदस्त होते हुए भी मिथ्या अहंकार व झूठी मान बड़ाईके लालचको न रोक सकनेके कारण अपनी हैसियतसे अधिक खर्च किया करते हैं, इसकी ओटमें आस पासकी किसी रियासतमें जाकर अपनी नाककी रक्षा करते हुए मामूली खर्चसे अपना काम निकालनेकी सुविधा होगई है। वर महाशयका यह तीसरा विवाह था; सुना है कि उनको पूर्व स्त्रियोंसे कुछ संतानें भी हैं। डॉक्टरसाहिबकी पुत्रीके लिये भी यह तीसरा वर है, कारण डॉक्टरसाहिब पहिले दो जगह सगाई करके दोनोंको नापास कर चुके थे। डॉक्टरसाहिब पंचायती प्रथाके किसने हामी हैं, इसके बतानेके लिये केवल इतनाही उल्लेख काफ़ी होगा कि डॉक्टरसाहिबने किशनगढ़की दो पंचायतोंमेंसे किसी भी पंचायतमें अपना नाम नहीं लिखाया और स्वानगीतौरपर विवाह किया। पाटणीजी स्थानीय तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतके सदस्य हैं। उक्त पंचायतीने रस्मोरिवाजकी एक पुस्तक बना रक्खी है। पाटणीजीने उस पुस्तकमें निर्दिष्ट कई रस्मोंका उल्लंघन किया। रातको बिंदोरी निकालनेकी महान पातक बतलाने वाले पाटणीजीके यहां तोरणकी प्रथा शायद हुई। पंचायती की कुँवारेभातमें हराशाक बनाया गया। पंचायतीने अंग्रेजी बेंडबाजा बुलवानेकी मुमानियत कर रक्खी है लेकिन पाटणीजीकी लड़कीके विवाहकी शोभा बढ़ानेके लिये अंग्रेज़ी

बाजा—और वहभी मुसलमानोंका—नितांत आवश्यक था ! बारातके आनेके समय एक खेदजनक घटना होगई ! रा० ब० सेठ टीकमचंदजीकी खाली मोटर बारातके स्वागत के लिये अजमेरसे किशनगढ़ जारही थी; किशनगढ़से कुछ ही दूरीपर मोटर उलट गई और ड्राइवर तत्काल मरगया।

तेरहपंथी धड़ेके कई व्यक्तियोंमें इस विवाह के सम्बन्धमें असंतोष फैलरहा है। कुछ व्यक्ति धड़ेके प्रमुख श्रीमान् रा० ब० सेठ टीकमचन्दजीके पास पहुँचेभी थे। इस विवाहके मुख्य कारणभूत सेठ साहिबसे किसीप्रकारके समाधानकारक उत्तरकी आशा करना व्यर्थही था। सुना गया है कि सेठ साहिबका रूलिंग यह है कि गुलाबचंदजी पाटणीने जो कुछ किया अजमेरमें नहीं किया, किन्तु अजमेरसे बाहर जाकर किया; इसलिये वे पंचायती कसूरवार नहीं हैं। मतलब यह कि अजमेरसे बाहर जाकर कुछ भी करो, पंचायती उसमें कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकती। आशा है नवयुवक इस रूलिंगसे फ़ायदा उठानेके लिये साहस कर आगे बढ़ेंगे।

तेरहपंथी धड़ेके अधिकांश सदस्य "आणो ताणो कुछ नहीं जाणों, सेठ वचन प्रमाणों, और लाडू नींची कर जीम्याणों"—इस नीतिके माननेवाले हैं। अतः उक्त पंचायतसे किसी न्यायकी आशा करना और वह भी जब कि उसके सर्वेसर्वा "सेटजी" डोक्टरसाहिबकी पॉकिटमें हों, दुराशामात्र है।

इसी तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतने, किसी पंचायतके आधीन न रहने व वैवाहिक प्रथाओंमें सुधार करनेके कारण श्रीमान् सिद्धकरणजी सेठीका बहिष्कार कररक्खा है। उपरोक्त परिस्थितिको देखते हुए क्या तेरहपंथी धड़ेके सदस्य व अन्य न्यायप्रिय व्यक्ति श्रीमान् सिद्धकरणजी सेठीके खिलाफ़ की गई कार्यवाहीका अनुमोदन कर सकते हैं ?

स्थानीय जैनकुमारसभा, जो अपने कल्पित धर्म व पंचायतीसत्ताकी रक्षाकी दुहाई देते हुए, अकारण हाय-हाय मचाया करती है तथा दूसरी पंचायतियोंके कार्योंमें ज़बरदस्ती टाँग अड़ानेकी निरधिकार चेष्टा किया करती है इस बार क्यों कोनेमें छुपी बैठी है ? क्या सिर्फ इसलिये कि उसके मनोनीत मंत्री व अधिकांश मेम्बर तेरहपन्थी धड़ेके सदस्य हैं और उनमें अपने आकाके खिलाफ़ "चूँ" करनेका साहस नहीं है ?

—एक स्पष्टवक्ता।

जैनगज़टके प्रकाशकजी भी मुनिनिंदा करनेलगे !

कोपरगाँव (ज़िला अहमदनगर) व प्रान्तमें कन्याविक्रय मृत्युभोज (नुकता) आदिका बहुत प्रचार है। मुनि जयसागरजी इन घृणित प्रथाओंके खिलाफ़ जनताको उपदेश देते हैं। उधर पं० मक्खनलालजी, पं० बंशीधरजी आदि इन्हें धर्मानुकूल बताते हैं। पं० मक्खनलालजी के उपदेशके कारण उस प्रान्तमें मृत्युभोजके अवसर पर एक भाईने कई हज़ार रुपयेकी लाण बाँटी। अतः इस प्रश्नका निर्णय करानेके लिये मुनि जयसागरजीने अनशन व्रत धारण किया। वहाँके श्रावकोंके बुलानेपर पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थने जाकर जनताका समाधान किया तथा मुनि जयसागरजीको आहार कराया। पं० बंशीधरजी बुलानेपर भी न आये और मुनि जयसागरजीके खिलाफ़ पर्चे छपाकर वितरण कराये जिसमें उन्हें बाबूपार्टीका बताते हुए उन्हें टूटे फूटे मुनिसे भी गया बीता करार दिया गया तथा उनके प्रति कई अनुचित आक्षेप किये गये। कोपरगाँवकी समस्त दिगम्बर व श्वेताम्बर जैनजनताने उपरोक्त प्रथाओंका विरोध करते हुए जैनगज़टके प्रकाशक आदिके प्रति घृणा प्रकट की।

खण्डेलवाल जैनविधवाने गर्भपात किया—

राजपूतानेकी एक रियासतमें एक खण्डेलवाल जैनविधवा ने कोई तीन वर्ष पहिले बाहिरकी किसी आर्यसमाजसंस्था में जाकर बालक प्रसव किया था। तबसे वहाँ इस सम्बन्धमें पंचायतीमें दलबन्दी चल रही है। उक्त विधवा के आचरणकी रक्षाका कोई प्रबन्ध न होनेके कारण अभी कुछ दिनों पहिले उसने वहीं पर गर्भपात किया है ! खेद है कि स्थितिपालक पंच चुपचाप यह लीला देख रहे हैं, और सुधारकोंको गालीगलौज़ देनेमें ही धर्मकी रक्षा समझते हैं !

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.

वर्ष ८ | अंक ७

जैनजगत्

माघ शुक्ला ७ | ता० १ फ़रवरी
वीर संवत् २४५९ | सन् १९३३ ई०

जैनत्व और मनुष्यत्वके शत्रुओं से ।

अछूतपन और जैनधर्म ।

दिगम्बर-जैनसमाज में कुछ पंडित कहलानेवाले लोग ऐसे हैं जो जैनत्व और मनुष्यत्वके कट्टर दुश्मन हैं । वे या तो धर्म समझते ही नहीं है या समझना नहीं चाहते और न वे न्याय—अन्यायका कुछ विचार करना चाहते हैं ।

जिसने जैनधर्मका थोड़ा भी अध्ययन किया है और जो इतिहासका विद्यार्थी है वह जानता है कि जैनधर्म और बौद्धधर्म, ये दोनोंही वैदिक धर्मके प्रबल विरोधी धर्म हैं । इनका मुख्य विरोध याज्ञिक क्रियाकांड और वर्णाश्रमव्यवस्थाके विषयमें रहा है । ये दोनोंही धर्म श्राद्धतर्पण होम धूप आदिके विरोधी रहे हैं । इसके अतिरिक्त वैदिकधर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णोंको मौलिक मानता है और इनके अधिकारोंमें भी विषमता बतलाता है, जब कि जैनधर्म इस बातको बिलकुल नहीं मानता, वह तो मनुष्यमात्रको एक दृष्टिसे देखता है और चारों वर्णों के धार्मिक अधिकारोंमें कोई विषमता नहीं रखता । इतनाही नहीं किन्तु, वह म्लेच्छोंके साथमें धार्मिक अधिकारोंमें या बेटीव्यवहार आदिमें कोई भेद नहीं रखना चाहता । विजातीयविवाह आन्दोलनके लेखों में इस बातको मैं जैनशास्त्रोंके अनेक प्रमाण देकर सिद्ध कर चुका हूँ । गतांकमें ही चक्रवर्तीकी म्लेच्छ पत्नियोंके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उससे भी यह बात सिद्ध होती है कि म्लेच्छ और म्लेच्छगर्भोत्पन्न आर्यसन्तान भी मुनिव्रत लेकर मुक्ति प्राप्त कर सकती है । जैनशास्त्रोंमें जातिमदको सम्यक्त्व का घातक कहा है । प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथोंमें जातिका बड़े जोर शोरसे खण्डन किया गया है । जातिके तिरस्कार करनेवाले कथानकोंसे जैन-कथाग्रन्थ भरे पड़े हैं । शूद्र मुनियोंकी कथाएँ भी खूब आती हैं । जो बात दिगम्बर शास्त्रोंके विषयमें कही गई है, वही बात कुछ अधिक मात्रामें श्वेताम्बरशास्त्रों के विषयमें कही जासकती है । श्वेताम्बर शास्त्रोंमें चांडाल मुनियोंका भक्तिपूर्ण विस्तृतवर्णन आता है । इसप्रकार अशरणशरण और पतितोद्धारक यह जैनधर्म है ।

परन्तु समय एकसा नहीं रहता । जिस समय भारतमें जैनधर्मका डंका बजा, उससमय इसका प्रभाव वैदिकधर्मपर पड़ा । वैदिकधर्मके यज्ञादि पोथियोंकी चीजही रहगये । परन्तु दुर्भाग्यवश जब जैनधर्मकी घटतीके दिन आये तब वैदिकधर्मकी छाप इसपर पड़ी । उससमय जैनधर्ममें वेही पाप घुसगये जिनको नाश करनेके लिये जैनधर्मका अवतार हुआ था । **जैनधर्म जातिभेदको जड़मूलसे उखाड़नेवाला था**

किन्तु जैनसमाजमें जातिभेदको क़रीब ऐसाही स्थान मिलगया जैसा वैदिक धर्ममें था। पिछले जैनसाहित्य में भी इसप्रकारके कुछ छींटे आये हैं, परन्तु पूर्ण-विचार करनेपर उनकी अकिञ्चित्करता आपही सिद्ध हो जाती है। आश्रम व्यवस्थाकोभी जैनधर्ममें स्थान नहीं है। भगवान महावीरका जीवन आश्रमव्यवस्था का विरोधी है। तीस वर्षकी उमरमें भगवानमहावीर ने दीक्षा ली थी, यही बात आश्रम व्यवस्थाके विरुद्ध है। जैनसाहित्यमें कहीं भी आश्रमव्यवस्था के पालनका उल्लेख नहीं मिलता।

आश्रम व्यवस्थाका आजकल पालन नहीं होता, और अगर हो तो कोई इसका विरोधी नहीं है; खास-कर सुधारकोंकी तरफ़से इसका विरोध न होगा।

जैनधर्ममें वर्णाश्रमव्यवस्थाको कोई स्थान न होनेपरभी आज कुछ दिगम्बर पंडित उसके गीत गारहे हैं और शर्मकी बात तो यह है कि ये सब गीत जैनधर्मके नामपर गाये जारहे हैं। जिस शैतानसे बचनेके लिये ईश्वरकी पूजा है अगर उसी शैतानको लोग ईश्वर मानकर पूजने लगें तो इससे बढ़कर खेद की बात क्या होगी! परन्तु दिगम्बर पंडित ऐसी ही शैतान-पूजा करनेके लिये आज उतारू हैं।

महात्मागाँधीजीने जब अछूतोद्धारके लिये जेल में रहते हुए जोर दिया तो इस आन्दोलनने अछू-तताके पापकी जड़ें हिलादीं और इस विषयको ले-कर एक देशव्यापी आन्दोलन खड़ा होगया। यह बात स्वाभाविक है कि जो जातिमदान्ध हैं, जो कल्पित कुलीनता पर इठलाकर मनुष्यत्वके बलिदान को ही श्रेय समझ रहे हैं, 'दूसरोंको अधर्मी कहना या धर्म न करने देना' इसके सिवाय जिनके पास धर्मात्मा कहलानेका दूसरा उपाय नहीं है, वे लोग इस आन्दोलनका विरोध करें। परन्तु जिनके पास बुद्धि और मन है और उसका उपयोग जो लोग धर्मके लिये, जगत्कल्याणके लिये, करना चाहते हैं वे अछूत-मंदिर-प्रवेशकी बातका विरोध नहीं कर सकते।

ख़ैर, वैदिकधर्मावलम्बी मूढ़तावश अगर ऐसा करता है तो वह अपराधी होते हुएभी उसका अप-राध समझमें आता है। परन्तु जब हम जैन कहलाने वालोंके द्वारा महात्माजीके इस आन्दोलनका विरोध देखते हैं तब एक जैनके नाते हमारा मस्तक लज्जा से झुकजाता है। जैनगजट पत्रके कुछ लेखक इसी-प्रकार जैनत्वको लजारहे हैं। उस पत्रमें इस विषय में जैसे मिथ्यात्ववर्द्धक लेख निकले हैं और निकल रहे हैं उनसे जैनधर्मकी पूरी बदनामी है।

जैनगजट में एक लेख निकला था जिसका शी-र्षक था—"अस्पृश्यता-निवारणका विरोध कस कर करो"। इस लेखमें मुख्य-मुख्य आक्षेपार्ह बातें निम्न-लिखित हैं—

आक्षेप १–क्रिश्चियन मुसलमान सरीखे अना-र्योंके वर्ग जातिव्यवस्थाको धर्मका कारण नहीं मा-नते। वे जो अपने अपने वर्ग बनाकर रह रहे हैं उस में उनको हित केवल ऐहिक सुखसाधनकी दृष्टिसे है। परन्तु आर्योंमें जातिव्यवस्था परमार्थसाधक माना गया है।

समाधान—इस आक्षेपका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो लोग जातिव्यवस्थाको लौकिक मानते हैं वे म्लेच्छ, अनार्य आदि हैं। इस दृष्टिसे महात्मा बुद्ध से लेकर अशोक कनिष्क आदि बड़े बड़े सम्राट् तथा पिछले ढाई हजार वर्षमें भारतवर्षमें जितने बौद्धधर्मानुयायी हुए हैं वे सब अनार्य या म्लेच्छ कहलाये। इसके बाद श्वेताम्बर जैनी भी म्लेच्छ कहलाये क्योंकि श्वेताम्बर शास्त्रोंके अनुसार चांडाल केवली तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त 'कम्मुणा बम्हणो होइ' आदि कहकर उसके सूत्रग्रंथोंमें जाति को बिलकुल लौकिक कहा है। मूर्त्तिपूजक श्वेताम्बर

और स्थानकवासी (स्थानकवासी जैनियोंके श्रीसंघों और कान्फरेंसने अपने स्थानकोंमें अछूतोंको आने की खुलासी करदी है। मुंबईमें अछूत लोग काँदावाड़ी के स्थानकमें गये थे और उनको आदरसे अग्रस्थान दिया गया था।) श्वेताम्बर भी म्लेच्छ कहलाये। इस प्रकार जैनसमाजके दो भाग म्लेच्छ या म्लेच्छ-सन्तान कहलाये। अब रहगया एक भाग दिगम्बरों का सो उसके आचार्य भी आक्षेपककी परिभाषाके अनुसार म्लेच्छ कहलाये बिना नहीं रह सकते।

आचार्य जिनसेनके अनुसार तो—

मनुष्यजातिरेकैव जाति नामोदयोद्भवा
वृत्तिभेदाहितद्भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते।

आदिपुराण ३८-४६।

अर्थात् मनुष्यजाति एक ही है, आजीविकाभेद से उसके चार भेद हुए हैं।

आदिपुराणके अनुसार महाराज ऋषभदेवने ये जातियाँ प्रजापालनके लिये बनाई थीं।

प्रजानां पालनेयत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥१६-२४१॥

आचार्य समन्तभद्र तो चांडालको सिर्फ़ सम्यक्त्व होजानेपरही देव कहते हैं।

आचार्य प्रभाचन्द्र तो प्रमेयकमलमार्तण्डमें जातिका इतनी निर्दयतासे खण्डन करते हैं कि जातिवादको जैनधर्ममें कोई स्थानही नहीं रह पाता।

आचार्य रविषेण पद्मपुराणमें तीनों वर्णोंको कल्पित कहते हैं। कल्पितास्त्रयोवर्णाः क्रियाभेदविधानतः। ५-१९४।

वे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि को सेवक आदि शब्दों की तरह बतलाते हैं। जैसे-सेवा करनेवाला सेवक, खेती करनेवाला कृषक, धनुष चलानेवाला धानुष्क, धर्म करनेवाला धार्मिक कहलाता है उसीप्रकार रक्षा करनेवाला क्षत्रिय, व्रतधारण करनेवाला ब्राह्मण कहलाता है।*

आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमें पर्व ११ श्लोक १९४ से चातुर्वर्ण्यका और जन्मसे जातिमाननेका जो खण्डनकिया है वह देखने योग्य है। जैनधर्ममें वर्णव्यवस्था कितनी निःसार है, इसका पूरापता लग जाता है। जातिपाँतिपर आक्षेप करते हुए आचार्य कहते हैं—

ऋषिश्रृङ्गादिकानाञ्च मानवानाम् प्रकीर्त्यते।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसम्भवात् ॥११-२००॥

ऋषिशृङ्ग आदि मनुष्य, गुणसे ही ब्राह्मण थे न कि जन्म से।

न जातिर्गर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणं।
व्रतस्थमपि चांडालं त देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११-२०३॥
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥११-२०४॥
चातुर्वर्ण्यं तथान्यश्च चांडालादि विशेषणं।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवनेगतं॥

कोई भी जाति निंदनीय नहीं है। कल्याणके कारण गुण हैं। अर्थात् चांडाल व्रतीहो तो उत्तम पुरुष उसे ब्राह्मण कहते हैं। विद्वान् लोग विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मणसे गायमें हाथीमें कुत्तेमें चांडालमें समदर्शी होते हैं। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा चांडालादिक सभी विशेषण आचारके भेदसे प्रसिद्ध हुए हैं।

ये तो थोड़ेसे नमूने हैं परन्तु जातपाँतिके खण्डनमें दिगम्बर श्वेताम्बर शास्त्र भरे पड़े हैं जोकि जातिपाँतिके विनाशके लिए और अछूतोद्धारके लिए उच्चस्वरसे घोषणा कररहे हैं। जहाँ भी कहीं जातिपाँति

---

*लक्षणं यस्य यल्लोके स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः कर्षकः कर्षणात्तथा। ६-२०९।
धानुष्को धनुषोयोगाद्धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः ॥६-२१०॥

का उल्लेख आता है वह लोकाचार की दृष्टिसे है। स्पृश्यास्पृश्यभेद—यह अधार्मिक युग (जिसयुगमें जैनधर्मकी प्रधानता नहीं रही थी) का लोकाचार है। जैनाचार्य तो ब्राह्मण और चांडाल को एक दृष्टिसे देखते हैं। खेद है कि एक जैनम्मन्य धृष्टतापूर्वक जैनचार्यों कोभी अनार्य म्लेच्छ आदि साबित करने के सिद्धान्त जैनधर्म के सिरपर ठोकरहा है।

आक्षेप २—इस सारी धर्मव्यवस्था की रक्षाके लिए अस्पृश्यों की अस्पृश्यता क़ायम रखना ज़रूरी है। यदि हिन्दू समाजमें अस्पृश्यता मानना छूटगया तो स्पृश्य हिन्दू भी समाजसे नीचे दर्जेके ठहरेंगें। इससे वे दीक्षान्वय क्रियाके द्वारा शुद्ध होने योग्य न रहेंगे!

समाधान—हमारे पूर्वपुरुषों ने तो म्लेच्छों तकको शुद्ध करके मोक्ष पहुँचाया है परन्तु आज ये ऐसे सपूत (?) पैदा हुए जो आर्योंको भी नीच ठहराने की धमकी देते हैं। परन्तु यह धमकी ऐसीही है जैसे कि कोई नपुंसक, किसी सुन्दरीको तलाक देनेकी धमकी दे। अरे भाई! तुम्हारी पर्वाह कौन करता है! जिन लोगोंके प्रभावमें आकर तुम्हारे भट्टारक गुरुओंने जैनधर्मको कुचलकर वैदिक धर्मके दूषित साँचों से वैदिक धर्मके रूपमें परिणत करदिया परन्तु आज तुम अपने उन्हीं गुरु के ही कान काटना चाहते हो!

गतवर्ष काका कालेलकरने एक बड़ी अच्छी बात कही थी कि—एकबारएक मुसलमान मेरे सामने हिन्दुओंकी खूब निंदा करने लगा। निंदा करते करते उसने कहा कि "मैं हिन्दुओंके हाथका पानीभी नहीं पीता"। काकाने कहा—भाई! तबतो हिन्दूधर्म जीता और तुम हारे। क्योंकि किसके हाथका पानी पीना, किसके हाथका न पीना, यह विचारतो हिन्दूधर्मका ही है जिसने तुमपर विजय पाई है।

अगर ये जैनम्मन्य पंडित, अछूतोद्धारके कारण जैनेतर हिन्दुओं को अपने से नीचा ठहरावें तो कहना पड़ेगा कि वैदिकधर्मने जैनधर्म पर सोलह आने विजय पाई है। जैनियोंने अभी तक जो कहने सुनने के लिए वर्णव्यवस्था आदिको अपनानेका पाप किया है वह इसलिए क्षन्तव्य है कि बहुसंख्यक विरोधी हिन्दुओंके सामने टिके रहने के लिए उन्हें विवश होकर ऐसा करना पड़ा था। जब वैदिक लोग उस पापका त्याग करदें और ये नक़लची उसमें फँसे रहें तो यह पतन की चरमसीमा समझना चाहिए। सिंह भी दुर्भाग्यवश पिंजड़ेमें बन्द होजाता है परन्तु वह गुलाम नहीं बनता। गुलाम है वह कुत्ता जो गलेकी जंजीर छोड़ देनेपरभी मुँहमे जंजीर लिये बैठा रहता है अथवा वह तोता जो पिंजड़े से बाहर निकाल देनेपर भी पिंजड़ेमें ही घुसता है। जैनपंडितों का इतना अधःपतन शर्मकी बात है।

"धर्मव्यवस्था की रक्षाके लिये अस्पृश्यताको क़ायम रखना ज़रूरी है" परन्तु चांडालकोभी ब्राह्मण और देव मानने वाले जैनधर्म में तो ऐसी व्यवस्था हो नहीं सकती जिसकी रक्षाकी दुहाई दीजाय। यों तो सुंदर से सुंदर शरीरमें भी कभी कभी फोड़ा फुनसियों से असुन्दरता दिखाई देने लगती है। परन्तु रुग्णावस्था की अशक्ति और असुन्दरता किसीका जीवनव्यापी स्वरूप नहीं है।

ख़ैर, आप धर्मव्यवस्था की रक्षा करो परन्तु कोई व्यवस्था धर्मव्यवस्था तभी कही जा सकती है जब वह धर्मके लिए हो। अस्पृश्यता क़ायम रखना कौनसा धर्म है? अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनमेंसे किसमें यह शामिल होतीहै? उनको छूलेने में कौनसा पाप है? जैनियों के घरों में भी पशु रहते हैं और वे गायेंभी रहती हैं जो विष्टा खाती हैं। जैनी उन्हें छूतेभी हैं; परन्तु इससे उनका धर्म नष्ट नहीं होता। परन्तु उस मनुष्यको छूलेनेमें धर्म

नष्ट होजाता है जो तुम्हारे घरोंकी और नगर की सफ़ाई करता है !

मैं पूछताहूँकि किसी जगहको मैलाकरना अच्छा है कि साफ़ करना अच्छा ? मैला करना अच्छा हो तबतो सबको संडासमें रहना चाहिए। अगर सफ़ाई अच्छी है तो सफ़ाई करने वाला नीच क्यों ? क्या असाधारण सेवा करना नीचताका कारण है ?

ऐसे लोग जो कि ऐसी असाधारण सेवा करते हैं वे देवमूर्ति के पास जानेके सर्व प्रथम अधिकारी हैं। शिक्षितवर्ग तो धर्म करनेके लिये स्वाध्याय आदि अनेक उपायोंसे काम ले सकता है परन्तु इन लोगों के लिये देवपूजा आदि ही सरल उपाय है। इस-लिये भी इनका अधिकार प्रथम है।

अगर उच्चवर्णवाले आज देवपूजा करते हैं तो शूद्र लोगों के द्वारा देवपूजा होनेसे क्या उच्चवर्ण-वालों का पुण्य छिनजाता है ? तब तो हमें सत्य बोलनेका पुण्य तभी मिलेगा जब ये लोग झूठ बोलें। ऐसी हालतमें अगर हम उन्हें देवपूजासे रोकते हैं तो सच बोलनेसे भी रोकना चाहिये, अहिंसासे भी रो-कना चाहिये, अचौर्यसे भी रोकना चाहिये, ब्रह्मचर्य से भी रोकना चाहिये !

और भी सुनिये। देवपूजा शुभकर्म है या अ-शुभ ? अगर अशुभ है तो उच्चवर्णवालोंको भी देवपूजाका त्याग करना चाहिये। यदि शुभ है तो शुभकार्यसे किसीको रोकना क्या अनीतिका पोषण नहीं है ? शुभकार्यमें बाधा डालनेवालोंको हम असुर कहें या राक्षस ?

अगर कहो कि उनमें देवपूजाकी योग्यता नहीं है, तो बतलाओ देवपूजाकी योग्यताके लिये क्या आवश्यक है ? शरीरकी सफ़ाई, सो तो अछूत भी कर सकता है। अगर कहो भक्ति, सो भक्तिमें अछूत ही बाजी मार ले जायगा। अगर कहो शिक्षा, तो हिन्दूसमाजके ९० फ़ी सदी आदमी दर्शनोंके लिये अयोग्य समझे जावेंगे और अनेक अछूत शिक्षित होनेसे योग्य समझे जावेंगे। अगर कहो रक्तमांस-शुद्धि, सो रक्तमांसशुद्धि तो किसी भी मनुष्यको नहीं होती। रक्तमांस तो अपवित्र;अभक्ष्य ही होता है। अगर वह पवित्र हो तो उच्चवर्णियोंके लिये अशुचि अनुप्रेक्षाकी ज़रूरत न रहे। जिस धर्ममें अशुचि अनुप्रेक्षाका उल्लेख हो वह तो अछूतोंका धर्म ही कहलायगा, और इन जैनम्मन्योंको ग्यारह अनुप्रेक्षावाला धर्म खोजना पड़ेगा। मतलब यह कि तुम लोग ऐसी कोई धार्मिक शर्त नहीं बता सकते जिससे अछूत लोग देवदर्शनके अयोग्य कहे जा सकें।

और भी सुनो। जब अछूतोंमें बारह व्रत पालन करनेकी योग्यता है, वे ग्यारह प्रतिमाधारी तक हो सकते हैं, इस प्रकार वे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्गके अधिकारी हैं तब इस रत्नत्रयके साम्हने अत्यन्त तुच्छ जो देवपूजारूप पुण्य है उसके अधि-कारी क्यों नहीं ?

अब बतलाओ वह कौनसा धर्म है जिसके लिये अछूतताको क़ायम रखनेवाली व्यवस्थाकी तुम दु-हाई देते हो और ऐसा अनीतिपोषण करके भगवान् महावीरके नामको डुबाते हो ?

एक दिन वैदिकसमाजमें यह पाप चिरस्थायी हुआ था। दुर्भाग्यवश जैनसमाजको भी यह बीमारी लगी। परन्तु वैदिकधर्ममें यह बीमारी अस्थिमज्जा प्रविष्ट होगई है जब कि जैनधर्ममें यह बिलकुल ऊ-परी है। सौभाग्यसे महात्मा गाँधीजी सरीखा सुवैद्य पाकर जब हिन्दूसमाज इस बीमारीके कीटाणुओं का वमन कर रहा है तब ये अक्षरम्लेच्छ उसे अमृत समझकर पी रहे हैं !

आक्षेपकको यह बात बड़ी विचित्र है कि अस्पृ-श्योंको स्पृश्य बनालेने पर ये लोग दीक्षान्वय क्रिया के योग्य न रहेंगे। जहाँ म्लेच्छ और शूद्र, मुनि

होकर मोक्ष तक जा सकते हों वहाँ ऐसी आशंका पागलपन नहीं तो क्या है ? परन्तु आज ये लोग दीक्षान्वयकी इतनी दुहाई क्यों दे रहे हैं ? कल तक तो ये लोग और इनके गुरुघण्टाल ब्राह्मणोंको अणुव्रत देने तकके विरोधी थे। आज यह उदारता कहाँ से फटपड़ी ? क्या आज ये लोग अजैनोंको दीक्षित करके जैनसमाजमें मिलानेको तैयार हैं ? उनके साथ रोटीबेटीव्यवहार करनेको तैयार हैं ? यदि हाँ, तो सुधारकोंका विरोध क्यों ? यदि नहीं तो दीक्षान्वयकी क्या चिन्ता ? रोटीबेटीव्यवहारके बिना तो भंगीको भी जैन बनाया जा सकता है, नारकी, पशु आदि सभी जैनी सम्यग्दृष्टि तक होते हैं; तब आज तुम्हारे ही सिद्धान्तके अनुसार दीक्षान्वय क्रियामें क्या बाधा पड़ती है ?

इस प्रकार इस लेखमें इनके दो आक्षेपोंका उत्तर दिया जाता है। परन्तु इन लोगोंने बहुतसा निरर्गल प्रलाप किया है। मैं चुन चुनकर एक एक को देखने वाला हूँ। इसके लिये अगर आवश्यक हुआ तो कुछ समयके लिये 'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमाला भी बन्द रखूँगा। हाँ, यहाँ एक आक्षेप का उत्तर देना अत्यावश्यक है। अछूतमन्दिर-प्रवेशके विषयमें कौंसिलमें एक बिल पेश होनेवाला है। इस बिलके विरोधमें सड़ातनपन्थियोंने हल्ला मचाना शुरू किया है। सुधारकोंसे वे कहते हैं कि तुम लोग स्वराज्य चाहते हो, परन्तु सरकारकी शरण क्यों लेते हो ? सरकारसे ये कहते हैं कि सरकारको धर्मकार्यमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिये ? इस प्रकार इस बिलके विरोधमें ये लोगोंको खूब धोखा दे रहे हैं। परन्तु यह बिल, धर्ममें हस्तक्षेप करनेके लिये नहीं है किन्तु जो पुराना क़ानून धर्म में हस्तक्षेप कर रहा है उसे रोकनेके लिये है। आज ऐसा नियम है कि अगर किसी मन्दिरके ९९ आदमी यह चाहते हों कि अछूत हमारे मन्दिरमें आवें तो एक आदमी वर्तमान क़ानूनके अनुसार उनका मन्दिरप्रवेश रुकवा सकता है। परन्तु क़ानूनका यह घोर अन्याय है। सड़ातनधर्मी कहेगा कि अगर भंगीने भगवानके दर्शन कर लिये तो भगवान् भंगी होगये, वे मेरे कामके न रहे, अथवा भंगीने दर्शन करके मेरा पुण्य लूट लिया। जबकि सुधारक कहेगा—देवदर्शन जब पुण्यकार्य है तब भंगीके लिये भी पुण्यकार्य है। जहाँ पुण्यकार्य रोका जाय वह मन्दिर नहीं कहला सकता। अगर ईश्वर भंगियोंका ईश्वर नहीं है, तो वह समस्त जगत्का ईश्वर कैसे हुआ ? और हम तो जगदीश्वरके उपासक हैं इसलिये मन्दिरोंको मन्दिर बनाये रखने के लिये और मूर्ति को जगदीश्वर की मूर्ति बनाये रखनेके लिये मंदिरों का द्वार सभी श्रद्धालुओंकेलिये खुला रहना चाहिये। इस तरह सुधारकोंके लिये अछूतोंका मन्दिरप्रवेश धर्म है और सड़ातनियोंके लिये अप्रवेश धर्म है। सरकारका कर्तव्य है कि वह न तो सुधारकोंके धर्म में हस्तक्षेप करे, न सड़ातनियोंके धर्ममें। परन्तु आजका क़ानून सुधारकोंके धर्ममें हस्तक्षेप करता है। अगर किसीमें ९० सड़ातनी हैं और दस सुधारक हैं तो सरकारका कर्तव्य है कि उस मन्दिरमें सड़ातनियोंके अनुसार काम होने दे। और जिस मन्दिरमें सुधारक ९० हों और सड़ातनी १० हों वहाँ सुधारकोंके अनुसार काम होने दे। परन्तु सरकारी क़ानून दोनों ही तरफ़ सुधारकोंका विरोध करता है। सुधारक चाहे १०० में ९९ हों या १०० में १, काम सड़ातनियोंके अनुसार होगा और क़ानून सड़ातनियोंकी मदद करेगा। अगर सरकारको इस विषयमें मध्यस्थ रहना है तो सरकारको यह क़ानून बिलकुल उठा लेना चाहिये। मन्दिरमें चाहे भंगी जावें चाहे ब्राह्मण, इस बातसे सरकारको क्या मतलब ?

कौंसिलमें जो बिल पेश होरहा है वह सरकारी

क़ानूनके इस प्रकारके हस्तक्षेपको दूर करनेके लिये हैं। उससे अछूतोंको मंदिरमें प्रवेश करनेका हक़ नहीं मिलजाता है, किन्तु जिस मंदिरमें बहुभाग लोग अछूतोंको बुलाना चाहें वे बुला सकते हैं। जो मंदिर किसीके बापकी जायदाद नहीं हैं जिसके ऊपर उसके उपासकोंका हक़ है अगर उस मंदिरमें उसके उपासकोंका बहुभाग अछूतोंको बुलाना चाहता है तो इसमे क्या अन्याय है? बहुमतकी बात न मानीजाय तो अल्पमतकी क्यों मानी जाय? सरकारको क्या हक़ है कि वह बहुमतको इस प्रकार दबावे? इससे पाठक समझ गये होंगे कि यह बिल धर्ममें हस्तक्षेपकरनेके लिये नहीं है किन्तु धर्ममें हस्तक्षेप करनेवाले पुराने क़ानूनकी ग़लती सुधारनेके लिए है।

सुधारक लोग सरकारकी सहायता क्यों लेते हैं, इसके तीन उत्तर हैं:—

१—समाजसुधारके कार्यमें सभी लोग ऐसे नहीं हैं जो असहयोग करते हैं। जो सच्चे असहयोगी हैं वे तो जेलोंमें पड़े हुए हैं। वे कुछ कौंसिलके पास बिल लेकर नहीं जारहे हैं।

२—सरकारके जो काम भारतके राष्ट्रीयहितके विरोधी हैं उन्हींसे विरोध है, न कि सब बातोंका। रेल तार पोस्ट आदिका उपयोग करनेमें कोई विरोध नहीं है। जीवनके अनेक व्यवहारोंमें सरकारी सहायता लीजाती है। भविष्यमें जो कार्य स्वराज्य सरकारसे लेना है वह कार्य अगर वर्तमान सरकारसे लिया जासकता है तो लेना चाहिये।

३—इस मामलेमें सरकारसे हस्तक्षेप नहीं कराया जारहा है, परन्तु सरकारके हस्तक्षेपको रोका जारहा है।

सहयोग-असहयोगकी जाँचके लिये ऐसे आक्षेपकोंको कुछ राजनीतिका अध्ययन करलेना चाहिये। यहाँ अगर इस विषयकी विशेष चर्चा की जायगी तो वह विषयांतर हो जायगा।

अन्तमें मैं समाजसे कहना चाहता हू कि अछूत व्यवस्थासे हिन्दूधर्मके नामपर बड़ाभारी कलंक है। आज एक अछूत जबतक हिन्दू बनारहता है तबतक अछूत है। अगर वह मुसलमान या ईसाई होजायतो अछूत नहीं रहता। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि हिन्दू धर्ममें अछूतको शुद्ध करनेकी ताक़त नहीं है किन्तु ईसाईधर्म और इसलाममें है। हिन्दू धर्मके लिये यह कितने कलंककी बात है! जो धर्म अपने धर्मवालोंको छूनेमें पाप बताता हो और उन्हींके विधर्मी होजाने पर न बतलाता हो उसके समान आत्मघातक मूर्खतापूर्ण और पापी धर्म कौन होगा? अपने धर्मकी इज़्ज़त बचानेके लिये भी इस अछूतपनके पापको दूर हटाना चाहिये।

शताब्दियोंसे हम इस पापका फल भोगरहे हैं। एक दिन भारतवर्ष, हिन्दुस्थान था। परन्तु शताब्दियोंसे वह मुसलिमस्थान बनरहा है। ये मुसलमान कुछ अरबसे भरकर नहीं आगये हैं किन्तु इनमें १०० मेंसे ९५ हिन्दू हैं। हिन्दुस्थान आज हिन्दूप्रान्त और मुसलिम प्रान्तोंमे बँटगया है और बँटरहा है। हिन्दूप्रान्तोंमें भी हिन्दूमुसलिम दंगों से हिन्दुओंको भयंकर क्षति उठाना पड़ती है। देवमंदिरोंका अपमान होता है। इसके अतिरिक्त हमारी राजनैतिक दुर्दशा भयंकर है! हिन्दू मुसलिम प्रश्न हमारी ऐसी दुर्दशा कररहा है जैसे किसी मनुष्यको चीर देनेसे होसकती है। अगर हम मुसलमानोंको भाईके समान मिला नहीं लेते तो राष्ट्र एक क़दमभी आगे नहीं बढ़ सकता। हमारा व्यापार ज़राभी नहीं पनप सकता। आज हम मुसलमानोंको भाई कहकर पुकारते हैं। परन्तु ये कौन हैं? ये सब वेही हिन्दू हैं जो एक दिन अछूत कहलाते हुए तुम्हारे पैरोंकी धूलमें लोट रहे थे, जो

तुम्हारे थोड़ेसे कृपाकटाक्षपर न्यौछावर होनेको तैयार थे, परन्तु तुमने मूर्खतावश जातिमदमें पागल होकर उन्हें ठुकराया। वे मुसलमान होगये, उनने तुम्हारे मंदिर बिगाड़े, मा बहिनोंको हजम किया, और आज तुम्हारी छातीपर छुरीतानकर तैयार हैं। उदारतावश नहीं तो आवश्यकतावश आज तुम उन्हें भाई कहकर पुकारनेके लिये विवश हो। यदि तुमने पहिले थोड़ाभी प्रेम बताया होता, एकबारभी पुचकारा होता तो आज तुम्हारी और इस देशकी यह दुर्दशा न होती।

अबभी करोड़ों अभागे अछूत तुम्हारे पैरोंपर लोट रहे हैं। वे चाहें तो मुसलमान होकर तुम्हारी छातीपर सवारहो सकते हैं। वे चाहें तो ईसाई होकर तुम्हारे ऊपर हुकूमत कर सकते हैं। जिस भंगिनको तुम झूठा टुकड़ा दूरसे फेंकते हो वही कल मेम-साहिबा बनकर तुम्हारे घरपर कुर्सी ले सकती है, और तुम्हारी श्रीमतियोंको बाइबिलका पवित्र उपदेश देसकती है। तबभी तुम्हें शर्म नहीं आती! तुम्हारी आँखोंके साम्हने दूसरे धर्म और समाज तुम्हारे लोहेको सोना बनारहे हैं और तुम उसे बराबर फेंक रहे हो! आखिर तुम और तुम्हारा धर्म है किस मर्ज की दवा?

सच्चा हिन्दू कौन है? क्या तुम हो? तुमने उस के लिये क्या त्याग किया है? सात करोड़ अछूतों को अत्याचारकी चक्कीमें पीसनेके सिवाय तुमने धर्म के लिये क्या किया है? परन्तु वर्तमानके अछूतोंने हिन्दूधर्मके लिये सर्वस्व दिया है। वे चाहते तो मुसल-मान और ईसाई बनकर तुम्हारी छातीपर मूँग दल सकतेथे परन्तु उनने हिन्दू रहनेके लिये सर्वस्व खोया। वे शिक्षासे वञ्चितरहे, सम्पत्तिसे वञ्चितरहे, धार्मिक और सामाजिक हकोंसे वञ्चित रहे। तुम्हारे घरोंमें जहाँतक कुत्ता आसकता है वहाँ तकभी एक अछूत नहीं जासकता अर्थात् वह कुत्तोंसे खराब है। इसतरह उसने हिन्दूधर्मके पीछे मनुष्यत्वके सभी अंगोंका बलिदान कर दिया है। जातिमदोन्मत्तोंमें है कोई ऐसा त्यागी? अरे! करोड़ों जात्युन्मत्तोंकी धर्म भक्तिको एकत्रित करो तो वह एक अछूतकी धर्म-भक्तिके आगे पासंगभी नहीं है। हिन्दूधर्मके सच्चे भक्त तो अछूत हैं, जिनने हर तरह अपना सर्वस्व खोया है और जब भी कभी हिन्दूमंदिरोंपर संकट आता है तब वे अछूतही उसके लिए छाती अड़ा देते हैं। इसलिये देवताकी पूजा करनेका अगर सबसे पहिला हक किसीका है तो अछूतका है। मंदिरोंमें देव-पूजाके अधिकारमें विषमता न होना चाहिये और अगर हो तो देवपूजाका अधिकार सिर्फ अछूतोंको देना चाहिये क्योंकि उनने धर्मभक्तिके लिये अपना सर्वस्व खोया है।

दुर्भाग्यवश आज अछूतोंमें जैनधर्मका प्रचार नहीं है; परन्तु अगर हो तो उनके लिये विषमतापूर्ण व्यवहार नहीं हो सकता।

जो होगया सो होगया, परन्तु अबभी जो लोग अछूतोंको समानाधिकार देने को तैयार नहीं हैं वे केवल राष्ट्रके ही शत्रु नहीं हैं किन्तु जैनत्व और मनुष्यत्वके भी कट्टर शत्रु हैं।
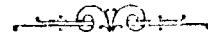
चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच,

अर्थात्

सूर्यप्रकाश-परीक्षा।

[लेखक—श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख़्तार।]

(१०)

अनुवादककी निरंकुशता और अर्थका अनर्थ!

[चालू]

(११) पृष्ठ ३७ पर श्लोक नं० १३५ के 'चूर्णोदकाज्यं' पदके अर्थमें 'आटा, पानी और घी' के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाया है और उसके द्वारा मूलकी अर्थमर्यादाको बढ़ाते हुए शूद्रोंके प्रति होनेवाले अन्यायकी सीमा-वृद्धि की है! इसीतरह पृष्ठ ५४ पर श्लोक नं० १९० के 'शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं' पदोंके अर्थमें 'शूद्रके हाथका जल घृत और आटा' के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाकर वही अनर्थ घटित किया है*!!

(१२) पृष्ठ ७० पर श्लोक नं० ३०१ के अर्थमें 'तपः' पदका अर्थ छोड़ दिया है और उसकी जगह "गुरु सेवा करना", तथा "जैनधर्मके अन्तरंग शत्रुओंका नाश करना" ये दो बातें पुण्य-कारणोंमें बढ़ाई गई हैं, जिनमेंसे पिछली बातका संकेत सुधारकोंके नाशकी ओर जान पड़ता है और उससे अनुवादककी एक ख़ास मनोवृत्तिका पता चलता है!

(१३) पृष्ठ ७८ पर श्लोक नं० ३३८ के अर्थमें 'श्रीमज्जिनेन्द्रके बिम्बोंकी प्रतिष्ठा' से पहले 'अपरिमित धनादिकके व्ययके द्वारा' और बादको 'महान् उत्सव कराने लगे' तथा 'रथोत्सव आदि विविध प्रकारके उत्सव करने लगे' ये तीन बातें बढ़ाई गई हैं।

(१४) पृष्ठ ८५ पर, कुन्दकुन्दके गिरनारयात्रा-संघकी गणना देते हुए, श्लोक नं० ३६१ का अर्थ न देकर उसकी जगह निम्न वाक्य यों ही कल्पित करके दिया गया है:—"उन सबके साथ अपने २ नौकर चाकर सिपाई पयादे तथा सब प्रकारके साधन गाड़ी घोड़े आदि थे।"

(१५) पृष्ठ ११२, ११३ पर, श्लोक नं० ५०१ से ५०६ का अर्थ मूलके अनुकूल न होकर बहुत कुछ स्वेच्छाचारको लिये हुए है। इसमें मूलके नाम पर बहुतसी बातें अपनी तरफसे बढ़ाई गई हैं, जैसे—"पूजनके पाँच अंगोंमें तीन अङ्ग तो अभिषेकके प्रारम्भमें ही करने पड़ते हैं," "सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिये" "गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि" "यदि इस क्रमसे पूजा की जाय तो सर्वसंपत्ति प्राप्त होती है" इत्यादि।

(१६) पृष्ठ १४० पर श्लोक नं० ६४७ के अर्थमें 'अभिषेकादि' से पहले "तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित" और बादको "पवित्र आगमोक्त" ये 'क्रिया' के विशेषण बढ़ाये गये हैं।

(१७) पृष्ठ १६८ पर श्लोक नं० ९१ के अर्थमें निम्न दो बातें मूलके नाम पर ख़ास तौरसे बढ़ाई गई हैं:—

क—"भगवान्की मूर्तिकी परोक्षपूजा प्रत्यक्षपूजासे भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्तिकी" (आगे पंचामृतके नामादिक देकर उनसे वह की जाती है ऐसा उल्लेख है।)

*ये दोनों श्लोक पहले 'शूद्रजलादिके त्यागका अजीब विधान' इस उपशीर्षकके नीचे उद्धृत किये जाचुके हैं।

ख—"यह सनातनविधि श्री जिनेन्द्रदेवने प्रतिपादनकी है और इन्द्रादिकदेव इसी विधिसे नन्दीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनबिम्बोंका अभिषेक करते हैं।"

(१८) पृष्ठ १७२ पर श्लोक नं० ११५ के अर्थमें निम्न बातें अपनी तरफ़से मिलाई गई हैं:—

"वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर लाते थे। जिनराजकी आज्ञा भंग करनेवालोंको सन्मार्ग पर लाते थे। और मनमानी करनेवालोंको योग्य व्यवस्था कर सन्मार्ग पर लाते थे। संघमें बिना दण्डके कभी व्यवस्था नहीं होती है। राजदण्डसे जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार पंचायतीदण्डसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोंकी अनीति मिट जाती है।"

(१९) पृष्ठ १७५ पर श्लोक नं० १२४ के अर्थमें निम्नवाक्य मूलके शब्दोंसे कोई सम्बंध नहीं रखते—ऊपरसे मिलाये गये हैं:—

"परन्तु मूर्तिपूजा परमागममें सर्वत्र बतलाई है। बिना मूर्तिपूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल आत्माके श्रद्धानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है।"

(२०) पृष्ठ १७७ पर श्लोक नं० १३० के अर्थमें "गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है, यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है" ये शब्द बढ़ाये गये हैं—मूलमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं।

(२१) पृष्ठ १८४, १८५ पर 'भो ढूँढ्याः नामस्थापनाद्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्यस्मरणं च पूजं स्यात्' इस वाक्यके अर्थमें निम्न बातें बढ़ाई गई हैं:-

"प्रत्येक वस्तुमें चारों निक्षेप नियमसे होते हैं परन्तु आप लोगोंने तीन निक्षेप [नाम-द्रव्य-भाव] तो स्वीकार किये हैं और बीचमें स्थापना निक्षेपको छोड़दिया, सो क्यों ?" (इत्यादि पूरी छः पंक्तियों की बातें 'अज्ञान है' तक)।

(२२) पृष्ठ २०४ पर श्लोक नं० ९५ के अर्थमें यह बात बढ़ाई गई है—

"अन्यथा एक मुख पर पाटी बाँधकर विशेष म्लेच्छाचार क्यों फैलाते हो और जैनधर्मको घृणापूर्ण बनाकर निन्दाके पात्र होते हो।"

(२३) पृष्ठ २११ पर श्लोक नं० १४२ के अर्थमें यह बात अपनी तरफ़से मिलाई गई है, मूलमें नहीं है—"अपने घरसे उत्तमोत्तम भगवान्के पूजनकी सामग्री तथा अभिषेककी सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वौषधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कपूर दीपक आदि) ले जावे।"

(२४) पृष्ठ २६७ पर सम्मेदशिखरके आनन्दकूटसे मुक्ति जानेवालोंकी संख्या और उस कूटकी वन्दनाका फल बतलानेके अनन्तर जो बात मूलके नाम पर श्लोकोंके अर्थमें अपनी तरफ़से बढ़ाई गई है वह इस प्रकार है:—

"सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध संघसहित यात्रा की। यह संघ सबसे भारी निकाला गया था। लाखोंकी संख्यामें यात्री थे। सबकी चर्या संघमें होती थी।"

इसी तरह आगे अविचलकूट आदिके वर्णनमें भी चतुर्विधसंघसहित वन्दना करनेवाले राजाओंके नामादिकका उल्लेख मूलवाक्योंके अर्थोंमें बढ़ाया गया है, संघमें हजारों मुनियोंके होनेका भी कहीं कहीं उल्लेख किया गया है और किसी किसी कूटका माहात्म्यविशेष भी अपनी तरफ़से जोड़ा गया है; जैसे प्रभासकूटके वर्णनमें (पृष्ठ २६८ पर) लिखा है—"इस कूटकी रज लगानेसे कुष्ठरोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटोंकी यात्राके समान इसका फल है।" इस तरहकी बहुतसी बातें इस सम्मेदशिखर प्रकरणमें चुपकेसे अर्थमें शामिल की गई हैं और इसतरह उन्हें मूलकी प्रकट किया गया है।

(२५) पृष्ठ ३१८ पर तीव्रमोही होनेके कारणों में हींग, सज्जी, नमक, तेल आदि कई चीज़ोंके खरीदने बेचने (व्यापार) की बातको छोड़ दिया है। और "मशीनोंके द्वारा महान् हिंसक होनेवाले व्यापार" आदिकी बातोंको बढ़ाया गया है जो मूलमें नहीं है। इसी तरहकी इस फलवर्णनके प्रकरणमें आगे पीछे बहुतसी बातें अर्थ करते समय छोड़दी गई और बहुतसी बढ़ाई गई हैं। जैसे विधवा होने के कारणोंमें "पुनर्विवाह" और "वैधव्यदीक्षानाश" आदिकी बातें बढ़ाई गई हैं और कितना ही वर्णन मूलसे बाहर दिया है (पृष्ठ २७४—२७६),

(२६) पृ० ३८० पर श्लोक नं० १९० के अर्थमें ये बातें बढ़ाई गई हैं:—

"वर्तमानमें वर्णव्यवस्थालोप, विधवाविवाह स्पर्शास्पर्शलोप समानहक आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध बातोंको धर्मनीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है। यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुशिक्षाका फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः।"

(२७) पृ० ३८४ पर श्लोक नं० २११ के अर्थमें यह बात बढ़ाई गई है, जो उक्त श्लोकमें नहीं है:— "अगणित दीपकोंसे दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवससे यह उत्सव दीपावलीके नाम से दिवाली आजतक प्रचलित है।"

(२८) पृ० ३८८ पर श्लोक नं० २३३ के अर्थमें राजाश्रेणिक द्वारा पावापुरमें स्थापित वीर-जिनालय की प्रतिष्ठाके साथमें "अतिशय धूमधामसे" ये शब्द जोड़े गये हैं और साथ ही यह बात बिलकुल अपनी तरफ़से कल्पित करके जोड़ी गई है कि राजाश्रेणिकने—

"उस जिनालयमें श्री वीरप्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरणपादुका स्थापित की।"

(२९) पृष्ठ ८० पर कुन्दकुन्दकी ग्रन्थरचना का उल्लेख करते हुए जो श्लोक नं० ३५२ दिया है वह अर्थकी वृद्धि, हानि तथा विपरीतता तीनोंको लिये हुए है। उसमें जहाँ कुछ 'चेलकांत' आदि पदोंका अर्थ छोड़ा है वहाँ "मुनिधर्मके प्रकाश करनेवाले ग्रन्थ भी बनाये' यह अर्थ अपनी तरफ़से जोड़ाहै और 'सकलान् ग्रन्थान् करिष्यति' (संपूर्ण ग्रन्थोंको बनाएगा) का विपरीत अर्थ "बहुतसे ग्रन्थ बनाये" दिया है। इसी तरह 'प्रभावार्थं जिनधर्मस्य' इन शब्दोंका अर्थ जो 'जिनधर्मकी प्रभावना के लिये' होता है उसकी जगह यह दिया है— 'जिससे जिनेंद्रके धर्मकी अपूर्व महिमा प्रकट हुई। जैनधर्मकी प्रभावना हुई, तथा विद्वानोंमें जैनधर्मका चमत्कार हुआ और जगत्में जैनधर्मकी मान्यता बढ़ी।"

(३०) जिस प्रकार उक्त पृष्ठ ८० पर भविष्यकालकी क्रिया 'करिष्यति' का अर्थ भूतकालमें दिया है उसी प्रकार पृष्ठ २४० पर भी 'भोक्ष्यति' (भोगेगा) क्रियापदका अर्थ "भोगने लगा" देदिया है, जो प्रकरणको देखते हुए बहुतही बेढंगा जान पड़ता है! साथमें 'समापन्नवान्' पद जो यहाँ 'सः' का विशेषण था उसे क्रियापद समझकर उसका अर्थ "प्राप्तकिया" देदिया है! और पृष्ठ १४२ पर 'भवन्ति' का अर्थ 'होते हैं' की जगह "होंगे" दिया गया है! इसी तरह अन्यत्र भी अनेक क्रियापदोंके अर्थ विपरीत किये गये हैं !!!

(३१) पृष्ठ १३५ पर एकश्लोक निम्न प्रकारसे दिया है:—

> इतो मुनिपदस्यैव धारकाः पुरुषाः कलौ।
> तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजा॥

इसमें बतलाया गया है कि 'पूर्वोल्लिखित कारणोंसे—अर्थात् प्रतिदिन मुनिमार्गकी हानिता, शरीरकी हीनता, हीनसंहनन और ब्राह्मणों तथा राजाओंका जैनधर्मसे पराङ्मुख होना आदि कारणोंसे—कलियुगमें मुनिपदके धारक तुच्छ पुरुषही होंगे, जैसे

'राजा वैसी प्रजा'। यहाँ जिन राजाओंके साथ तुलना करते हुए उन्हें तुच्छ कहा है ग्रंथके शुरूमें (पृ० २६ २७) उन राजाओंको 'नीचा हि राज्यभोक्तारः 'न्याय-हीनाश्च भूमिपाः' जैसे शब्दोंके द्वारा नीचादि प्रकट किया है, और साधुओंकोभी 'साधुगुणविहीनांगाः' आदि लिखा है, जिसका अर्थ खुद अनुवादकजीने यह किया है कि—"पंचमकालमें ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पदके योग्य गुणोंका अभाव होगा।" ऐसी हालतमें प्रसगानुसार यहाँ तुच्छका अर्थ 'हीन' या 'निकृष्ट' होना चाहिये था; परन्तु उसे न देकर स्वल्पसंख्यक अर्थ किया गया है—लिखा है कि "मुनिदपदके धारक वीर पुरुषोंकी संख्या स्वल्प होगी।" शायद अनुवादजीको यह भय हुआ हो कि इस विशेषणपद परसे उनके वर्तमान गुरु कहीं तुच्छ (हीन अथवा निकृष्ट) न समझ लिये जायँ !—भलेही वे साधुगुण-विहीनांगहों !!

(३२) पृष्ठ ११९ पर श्लोक नं० ५३८, ५३९ 'युग्म' रूपसे हैं—दोनोंको मिलाकर एक पूरा वाक्य बनता है—और उनका सार (विशेषणोंको छोड़कर) सिर्फ इतनाही है कि 'वह ब्राह्मणी उस सेठपुत्रीके वचनानुसार सहर्ष एक घड़ा पानीका लेकर (आधाय) और उसे अभिषेकके लिये (अभिषेकाय) जिन मंदिरमें धरकर (धृत्वा) अपने घर चली आई (स्वस्थानं चागात्)'। परन्तु अनुवादकजीने यह सबकुछ न समझकर दोनोंका बड़ाही विलक्षण अर्थ अलग अलग कर डाला है ! एकमें यह सूचित किया है कि 'वह ब्राह्मणी पानीका एक घड़ा नदीमेंसे भरकर और जिनमंदिर जाकर उसे श्री वीतराग अरहंतप्रभु पर चढ़ा आई और फिर अपने घर पर गई।' और दूसरेमें यह बतलाया है कि उस ब्राह्मणीने श्रीजिनमंदिरमें श्रीजिनदेवका अभिषेक किया और वह अतिशय हर्षको प्राप्त हुई।' यहाँ 'अभिषेकाय धृत्वा' का अर्थ 'अभिषेक किया' दिया है, जो बड़ाही विचित्र जान पड़ता है ! इसी तरह अन्यत्रभी युग्म श्लोकोंको न समझकर उनके अर्थमें गड़बड़की गई है !!

(३३) पृष्ठ १६२ पर श्लोक नं० ५५ में प्रयुक्त हुए 'भवतां यदि श्रद्धा स्यात् ग्रंथानां, इन शब्दोंका स्पष्ट अर्थ है—'यदि तुम्हारे ग्रंथोंकी श्रद्धाहो'। परन्तु अनुवादकजीने "जिससे जिनागममें श्रद्धा हो" यह विलक्षण अर्थ किया है। 'यदि' का अर्थ "जिससे" बतलाना यह अनुवादकीय दिमागकी खास उपज जान पड़ती है !!

(३४) पृष्ठ २ ४ पर संख्यावाचक पद 'चन्द्र-पक्षप्रमः' का अर्थ '१२' किया गया है, जब कि वह 'अंकानां वामोगतिः' के नियमानुसार '२१' होना चाहिये था ! पृष्ठ २८३ पर 'हिमांशुनेत्र' का अर्थ भी '२१' की जगह '१२' गलत किया गया है, जब कि इसी पृष्ठ पर 'रघुवेदभवं' का अर्थ उक्तनियमानुसार '४९ भव' दिया है ! और इससे अनुवादकका खासा स्वेच्छाचार पाया जाता है ! और पृष्ठ २६७ पर 'नेत्राद्रिप्रमलक्षाः' पदका अर्थ '६२ लाख' दिया है, जब कि वह '७२ लाख' होना चाहिये था, क्योंकि 'अद्रि' शब्द सातकी संख्याका वाचक है ! इसी तरह अन्यत्रभी कितनेही संख्यावाचक शब्दों तथा पदोंका अर्थ इसमें बिपरीत किया गया है !!!

ये सब (प्रायः नं० २९ से लेकर यहाँ तक) अनुबादकजीके उस संस्कृत-ज्ञानके खास नमूने हैं जिसके आधार पर वे सुधारकों तथा ग्रंथोंकी समालोचना करने वाले विद्वानोंको यह कहने बैठे हैं कि "उनको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान नहीं है !" परन्तु एक बढ़िया नमूना तो अभी बाक़ीही रहगया है, और वह आगे दिया जाता है।

(३५) श्रेणिककी प्रश्नावलीकी उत्तरसमाप्तिके बाद ग्रंथमें पृष्ठ ३७८ पर दो पद्य निम्नप्रकारसे दिये हैं:—

भूतं भावमभूतमेव अखिलं संसारतापापहं ।
वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृत्तांतमेवं जगौ ॥
आयुः कायसुसारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान् ।
मर्त्यानां च पृथक् पृथक् जिनपतिः त्रिषष्ठिकानां शुभम् १७६
पौराणांश्च तथा हि अन्यमनुजानां च चरित्रं महत् ।
तत्त्वातत्त्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूपं तथा ॥
कृत्वेत्थं च जिनेश्वरो ह्युदरोऽव्याख्यानकं चोत्तमं ।
मोक्षं प्राप दयार्द्रधीः जितरिपुः सर्वाधिपैर्वंदितः ॥१७७॥

येदोनों पद्य 'युग्म' रूपसे हैं—दोनोंका मिल कर एक वाक्य बनता है, जिसकी क्रिया 'आप' दूसरे पद्यके अन्तिम चरणमें पड़ी हुई है। इनमें बतलाया है कि —

'इस प्रकार वीरगुणोंके आकर मुनियोंसे स्तुत पापका नाशकरने वाले दयार्द्रबुद्धि जितरिपु और सर्व अधिपतियोंसे वंदित ऐसे जिनपति श्रीमहावीर जिनेश्वरने, संसार तापको दूरकरने वाले भूत भविष्यत्–वर्तमान–सम्बन्धी संपूर्ण शुभ वृत्तांतका, मनुष्योंके आयु काय तथा सार वैभवसहित पुण्योदय से होने वाले सत्सुखोंका, त्रेसठ शलाका पुरुषोंके पृथक् पृथक् पौराणोंका तथा दूसरे मनुष्योंके महत चरित्रका, तत्त्वातत्वके विभेदका और मोक्षके स्वरूपका चिन्तन करते हुए (अर्थात् इन सबको लिये हुए) उत्तम उपदेश देकर मोक्षको प्राप्त किया '

इस आशयपर से ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकारने इन पद्योंको संभवतः त्रिषष्ठि शलाका पुरुषोंके चरित्र वाले किसी महापुराण परसे उद्धृत किया है, जहाँ ये उपसंहार वाक्यके रूपमें दिये गये होंगे और अपनी मूर्खतावश इन्हें यहाँ रक्खा है; क्योंकि एकतो इनका विषय प्रकृत ग्रन्थके साथमें यथेष्ट रूपसे संगत नहीं बैठता, दूसरे यहाँ भगवान् महावीरको मोक्षमें भेजकर कुछ कथनके बाद फिर पृष्ठ ३८२ पर 'अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः । विहारं कृतवान्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा उनके विहारादिका जो कथन किया गया है वह नहीं बन सकता। और इसलिये इन वाक्योंका यहाँ दिया जाना ग्रन्थकारकी स्पष्ट मूर्खताका द्योतक है। परन्तु इसे छोड़िये और अनुवादकजीकी मूर्खताको लीजिये। उन्होंने इन पद्योंको 'युग्म' रूपही नहीं समझा, न इनका ठीक आशयही वे समझ सके हैं और इसलिये इनका जो अलग अलग विलक्षण अर्थ दिया गया है वह उनकी बड़ीही स्वेच्छाचारता, निरंकुशता एवं संस्कृतानभिज्ञताको लिये हुए है। और वह क्रमशः इस प्रकार है:—

"अर्थ हे मगधेश्वर जो कुछ संसारमें जितना वृत्तान्त होगया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें होरहा है वह सब वीरप्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थरूपसे जानते हैं। इसीलिये वीरप्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोकवंदित हैं। मुनिगणोंसे पूज्य हैं। जो मनुष्य वीरप्रभुके वचनोंका श्रद्धान कर उनकोही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयुः काय भोगसंपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्तकर महान पुण्यका संपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्ठिपुरुषोंके चरित्रादिको श्रवणकरनेसे संपादित होता है।"

"अर्थ श्रीवीरप्रभुने त्रिषष्ठीशलाका पुरुषोंका पुण्योत्पादक जीवनचरित्र, तत्त्वातत्त्वका विवेचन मोक्ष का स्वरूप आदि समस्तपदार्थोंका व्याख्यान समोशरण में दिया। वे दयालु भगवान् सदैव जयवन्त रहो।"

जिन पाठकोंको संस्कृतका कुछभी बोध है वे मूलके साथ तथा ऊपर दिये हुए उसके आशयके साथ तुलनाकरके सहजहीमें मालूम करसकते हैं कि यह अनुवाद कितना बेसिर पैरका, कितना विपरीत और मूलके साथ कितना असम्बद्ध है तथा अनुवादकके कितने असत्य प्रलापको सूचित करता है। इसमें "हे मगधेश्वर" यह सम्बोधनपदतो मूलसे

बाह्य होनेके अतिरिक्त अनुवादककी महामूर्खता प्रकट करता है; क्योंकि ये दोनों पद्य ग्रन्थकारके उपसंहार वाक्योंके रूपमें हैं—महावीरकी तरफसे श्रेणिक के प्रति कहेहुए नहीं हैं—और ग्रन्थकारके सामने मगधेश्वर (राजा श्रेणिक) उसके सम्बोधनके लिये नहीं था। मालूम नहीं "सदैव जयवन्त रहो" यह आशीर्वाद और "जो मनुष्य वीरप्रभुके वचनों का श्रद्धानकर" इत्यादि वाक्य कौनसे शब्दोंके अर्थ हैं! और 'मोक्षं ह्याप' जैसे पदोंके अर्थको अनुवादकजी बिलकुलही क्यों उड़ा गये हैं! ये शब्द ऐसे नहीं थे जिनका अर्थ उनकी समझके बाहरहो— उन्होंने खुद पृष्ठ २८३ पर 'मोक्षमाप' का अर्थ "निर्वाण पदको प्राप्त हुए" दिया है। फिर यहाँ वह अर्थ न देना क्या अर्थ रखता है? जान पड़ता है ग्रन्थमें आगे भगवान्के विहार आदिका कथन देख करही यहाँ उनके निर्वाणका कथन करना उन्हें संगत मालूम नहीं दिया और इसीलिये उन्होंने उक्त पदोंका अर्थ छोड़ दिया है; यह उनकी स्पष्ट मायाचारी तथा चालाकी है। और अनुवादके कर्तव्यसे उनका भारी पतन है।

उपसंहार

इस प्रकार कुछ नमूनोंके साथ यह अनुवादका संक्षिप्त परिचय है। और इस परसे अनुवादकी असत्यता, निःसारता, अर्थकी अनर्थता और अनुवादककी निरंकुशता, चालाकी, मायाचारी, कपटकला, धृष्टता, धोखादेही और वह दूषित मनोवृत्ति आदि सब कुछ स्पष्ट हैं। वास्तवमें यह अनुवाद मूलसे भी अधिक दूषित है और एक सत्यव्रतादिके धारी तथा सप्तमप्रतिमाके आचारके साथ बद्धप्रतिज्ञ हुए ब्रह्मचारीके नाम पर भारी कलंक है। इतना अधिक झूठा, बनावटी और स्वेच्छाचारमय अनुवाद मैंने आज तक कोई दूसरा नहीं देखा। शायद ही किसी दूसरेने इतना झूठा और छल-कपटपूर्ण अनुवाद किया हो। इस अनुवादपरसे अनुवादककी जिस कपटप्रबन्धमय असत् प्रवृत्तिका पता चलता है उसके आधारपर ऐसा अनुमान होता है कि अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र उर्फ पं० नन्दनलालजीने सत्यव्रतादिककी जो चपरास अपने गलेमें डाल रक्खी है उसमें प्रायः कुछ भी तत्त्व नहीं है—वह अधिकांशमें दूसरोंपर अपना प्रभाव जमाने अथवा अपनी स्वार्थसाधनाके लिये नुमाइशी जान पड़ती है। उसे इस अनुवादकी रोशनीमें सत्यघोषकी उस कैंची से कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता— न उससे अधिक उसका कोई मूल्य आँका जा सकता है—जिसे सत्यघोषने इस विज्ञापनाके साथ अपने गलेमें लटकाया था कि 'यदि भूलकर भी मेरे मुखसे झूठ निकल जायगा तो मैं इस कैंचीसे उसी क्षण अपनी जीभ काट डालूँगा।' परन्तु बादको एक घटनापरसे जाहिर हुआ कि वह प्रायः झूठ और मायाचारका पुतला था। उसी तरह इस अनुवाद परसे अनुवादकजी भी प्रायः झूठ और मायाचारके अवतार जान पड़ते हैं। मुझे तो उनके इस पतन को देखकर भारी अफ़सोस होता है!

अपनी ऐसी जघन्यस्थिति और परिणतिके होते हुए भी अनुवादकजी धर्मात्मा और विद्वान् दोनों बनते हैं, विद्वत्ताकी डींगें हाँकते हैं और दूसरोंको यों ही मूर्ख अधार्मिक आगमविरोधी धर्मकर्मलोपक तथा संस्कृतप्राकृतके ज्ञानसे शून्य बतलाते हैं! यह सब उनकी निर्लज्जता और बेहयाई का ही एकमात्र चिन्ह है। यदि यह निर्लज्जताका गुण उनमें न होता तो वे कदापि ऐसा झूठा जाली अनुवाद प्रस्तुत करने का साहस न करते, न व्यर्थ की डींगें हाँकते और न मिथ्याप्रलाप करते। उनकी इस प्रवृत्ति और अनुवादकी विडम्बनाको देखकर मुझे श्री सिद्धसेनाचार्यकी निम्न उक्ति याद

आती है, जो ऐसे ही निर्लज्ज पण्डितोंको लक्ष्य करके कही गई है:—

दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पंडितः ॥

अर्थात् —'मुख तो दैवने खोद दिया है (बना ही रक्खा है) वचन अपने आधीन है (इच्छानुसार उसका प्रयोग करना आता है) और जो कुछ कहा जाता है उसको सुननेवाले भी मिल ही जाते हैं, ऐसी स्थितिमें कौन निर्लज्ज है जो पण्डित न बन सके ?' भावार्थ – सभी निर्लज्ज, जिन्हें कुछ बोलना अथवा लिखना आता है पण्डित बन सकते हैं; क्योंकि लज्जा ही अयोग्योंके पण्डित बननेमें बाधक होती है। प्रत्युत इसके, योग्योंके पाण्डित्यमें वह सहायक बनती है। उसके कारण उन्हें सदैव यह खयाल बना रहता है कि कहीं कोई बिना सोचे-समझे ऐसी कच्ची बात मुँहसे न निकल जाय जिसके कारण विद्वानोंके सामने लज्जित होना पड़े। और इसलिये वे अपनी बातको बहुत कुछ जाँच तोल कर कहते हैं।

मूल ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्रके ऊपर भी यह उक्ति खूब फबती है। उसकी धूर्त लीलाओं तथा योग्यताओंका पाठक पिछले लेखों द्वारा भले प्रकार अनुभव कर चुके हैं और यह जान चुके हैं कि यह ग्रन्थ कितना अधिक जाली, झूठा, निःसार, प्रपंची, असम्बद्धप्रलापी तथा विरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण है और इसमें भ० महावीरकी कैसी मिट्टी खराब की गई है। इतने पर भी ग्रन्थकार इसकी बड़ी प्रशंसा करता है – इसे 'जिनवरमुखजात, सकलमुनिपसेव्य, पापप्रणाशक, धर्मजनक, शिवप्रद, बुधनुत, सद्बुद्धिदाता, प्रवरगुणदाता, पावन, सकलमनः प्रिय और सिद्धान्त समुद्रका सार आदि और न मालूम क्या क्या बतलाता है, इसीके पढ़ने-स्वाध्याय करने आदिकी प्रेरणा करता है और अपनेको 'विद्वद्वर' लिखता है*। इससे पाठक समझ सकते हैं कि ग्रन्थकारका यह कितना निर्लज्ज पाण्डित्य अथवा धृष्टतामय प्रलाप है!

मैं समझता हूँ मूलग्रन्थ और उसके अनुवादका जो परिचय ऊपर दिया गया है वह काफ़ीसे भी कहीं अधिक होगया है और इस बातको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि यह ग्रंथ वास्तवमें कोई जैनग्रंथ नहीं किन्तु जैनग्रन्थोंका कलंक है, पवित्र जैनधर्म तथा भ० महावीरकी निर्मलकीर्तिको मलिन करनेवाला है, सिरसे पैर तक जाली है और विषमिश्रित भोजनके समान त्याज्य है। इसलिये इसके विषयमें समाजका जो कर्तव्य है वह स्पष्ट है – उसे अपने पवित्रसाहित्य, अपने पूज्य प्राचीन आचार्योंकी कीर्ति और अपने समीचीन आचारविचारोंकी रक्षाके लिये ऐसे विकृत एवं दूषित ग्रंथोंका शीघ्रसे शीघ्र बहिष्कार करना चाहिये। ऐसे ग्रंथोंको जैन शास्त्र अथवा जिनवाणी मानना महा मोहका विलास है। यह ग्रन्थ 'चर्चासागर' से भी अधिक भयंकर है; क्योंकि इसकी गोमुखव्याघ्रता बढ़ी हुई है, और इसलिये ऐसे ग्रंथोंके सम्बन्धमें और भी ज्यादा सतर्क एवं सावधान होनेकी जरूरत है।

हाँ, अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे उभयभ्रष्ट,

---

* इस ग्रंथ प्रशंसाके कुछ वाक्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

"जिनवरमुखजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं,सकल मुनिपसेव्यं हि इदं भो भजध्वम् ,"

"कुर्वीध्वं ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै।" पृष्ठ४०३

"बुधाश्चेमे ग्रंथं प्रवरगुणदं धर्मजनकं ।
अघा नाशं यान्तिश्रवणपठनादस्य निखिलाः ।"

"ग्रन्थेमं बुधसत्तमाः शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै ।
प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सद्बुद्धिदं पावनम् ॥" पृष्ठ४०८

"सारं सिद्धान्तसिन्धोः सकलमनः प्रियं नेमिचंद्रेण धीराः ।"
पृ० ४१०

अतीव दूषित और महा आपत्तिके योग्य ग्रंथको आचार्य कहे जानेवाले शान्तिसागरजीने कैसे पसंद किया, क्योंकर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा तथा सिफारिश करने बैठ गये? इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि शान्तिसागरजीने इस ग्रन्थको पढ़ा नहीं—वैसे ही अपने शिष्य एवं मुख्य गणधर पं० नन्दनलालजीके कथन पर विश्वास कर के और उन्हींसे दो चार बातें इधर उधरकी सुनकर वे इसके प्रशंसक बन गये हैं। दूसरा यह हो सकता है कि उन्होंने इस ग्रंथको पढ़ा तो जरूर है परन्तु उनमें खुद ग्रन्थसाहित्यको जाँचने, परीक्षा करने और उस परसे यथार्थ वस्तुस्थितिको मालूम करने अथवा सत्यासत्यका निर्णय करने आदिकी कोई योग्यता न होनेसे (योग्यताकी यह त्रुटि उनके आचार्य पदके लिये एक प्रकारका दूषण होगा) वे उक्त पंडितजीके प्रभाव में पड़कर यों ही एक साधारण जनकी तरह इसे अपनाने लगे हैं। और यदि इन दोनोंमेंसे कोई कारण नहीं है तो फिर तीसरा कारण यह कहना होगा कि शान्तिसागरजी भी ग्रंथकार तथा अनुवादकके रंगमें रँगे हुए हैं, उन्हींके आचार विचार एवं प्रवृत्तिको पसन्द करते हैं और भट्टारकी चलाना चाहते हैं। अन्यथा, ग्रंथको अनुवाद सहित पूरा पढ़ने और उसके गुण-दोषोंके जाँचनेकी यथेष्ट योग्यता रखने पर वे कदापि इस ग्रंथको न अपनाते और न अपने संघमें इसका प्रचार होने देते। प्रत्युत इसके, इतना झूठा, कपटी, बनावटी तथा स्वेच्छाचारमय अनुवाद प्रस्तुत करनेके उपलक्षमें अपने शिष्य पं० नंदनलालजीको कभीका संघबाह्य किये जानेका दण्ड देते। जहाँ तक मैं समझता हूँ पहले दो कारणोंकी ही अधिक संभावना है और इसलिये समाजका यह खास कर्तव्य है कि वह आचार्य महाराजजीको इन परीक्षा लेखोंका पूरा परिचय कराए, ग्रन्थकी असलियतको समझाए और उनसे अनुरोध करे कि वे इस विषयमें अपनी भूलको सुधारें, अपनी पोजीशनको साफ करें और अपने उक्त शिष्य (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) को इस महा अनर्थ के कारण खुला प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाध्य करें। यदि वे यह सब कुछ करने करानेके लिये तैयार नहीं होते हैं तो समझना होगा कि तीसरा कारणही उनकी इस सब प्रवृत्तिका मूल है - वे पं० नन्दनलालजी जैसोंके साथ किसी तरह बिके हुए हैं। और तब समाजको उनके प्रति अपना जो कर्तव्य उचित जँचे उसे निश्चित कर लेना होगा। इस विषय में मैं इस समय और कुछ भी अधिक कहनेकी जरूरत नहीं समझता।

अन्त में सत्यके उपासक सभी जैन विद्वानों तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा सादर निवेदन और अनुरोध है कि वे इच्छानुसार लेखकके इन परीक्षालेखोंकी यथेष्ट जाँच करते हुए इस ग्रन्थके सम्बन्धमें अपनी स्पष्ट तथा खुली सम्मति प्रकट करनेकी कृपा करें। यदि परीक्षासे—जिसपर मुझे विश्वास है—उन्हें भी यह ग्रन्थ ऐसा ही सदोष, निःसार, अनर्थकारी तथा जैनशासनको मलिन करनेवाला जँचे तो समाजहितकी दृष्टिसे उनका यह मुख्य कर्तव्य होना चाहिये कि वे इसके विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाएँ और समाजमें इसके विरोधको उत्तेजित करें जिससे धूर्तोंकी कीहुई जैनशासनकी यह मलिनता दूर हो सके। इस समय उनका मौन रहना ठीक नहीं होगा, वह ऐसे अनेक अनर्थकारी ग्रंथोंको जन्म देगा अथवा उन्हें प्रकाशित करानेमें सहायक बनेगा और उससे समाजकी बहुतसी शक्तिका दुरुपयोग होगा। यह ग्रंथ 'चर्चासागर' का बड़ा भाई है और, जैसा कि मैंने ऊपर प्रकट किया है, इसकी गोमुखव्याघ्रता उससे बढ़ी चढ़ी है, जिसके कारण समाजको इससे अधिक हानि पहुँचनेकी संभावना है—ऐसे ही ग्रंथों की बदौलत हमारे कितने ही संस्कार एवं आचार

साहित्य और इतिहास ।

(लेखक—श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमी)

(१९)

भ्रम-संशोधन

"जगत" के गत दूसरे अंकमें एक छोटासा नोट 'खारवेल और गर्दभिल्ल' के सम्बन्धमें प्रकाशित हुआ है, उसमें कुछ भूल रहगई है। श्रीयुत के० पी० जायसवाल महाशयके मूल-लेखमें उड़ीसाके सम्राट खारवेलकी सन्ततिके राजाओंको गर्दभिल्ल कहा है, जिनकी संख्या सात है। उज्जैनका गर्दभिल्ल राजा जिसका उल्लेख कालिकाचार्यके कथानकोंमें है, उक्त राजाओंमें अन्तिम था। खारवेल और गर्दभिल्ल ये दोनों पर्यायवाची शब्द है और दोनों किसी एक राजाके नहीं किन्तु एक वंशके परिचायक हैं।

(२०)

आचारवृत्तिकार वसुनन्दिका समय

अबसे लगभग १६ वर्ष पहले जैनहितैषी (भाग १२ अङ्क ४-५) में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'वसुनन्दिका समय' शीर्षक एक नोट लिखा था। उसमें बतलाया था कि वसुनन्दि श्रावकाचार, प्रतिष्ठासारसंग्रह, मूलाचारकी आचारवृत्ति और देवागमवृत्तिके कर्ता वसुनन्दि पं० आशाधरसे पहले और अमितगतिसूरिके बाद विक्रमकी बारहवीं शताब्दिमें हुए हैं। क्योंकि पं० आशाधरने सागारधर्मामृतटीका*में वसुनन्दिश्रावकाचारकी 'पंचुंवर सहियाइं' आदि गाथाका उनके नाम सहित उल्लेख किया है और जिनयज्ञकल्पके श्लोक नं० १७४ में कहा है कि "वसुनन्दिके प्रतिष्ठासिद्धान्तको जाननेवाले कर्णिकावलय से बाहर जयादि आठ देवताओंके आठ दल बनाना ठीक नहीं समझते।" इसी प्रकार वसुनन्दिने अपनी आचारवृत्तिके आठवें परिच्छेदमें कायोत्सर्गके चार भेदोंका वर्णन करते हुए—'त्यागो देहममत्वस्य' आदि पाँच श्लोक अमितगतिके उपासकाचार† (श्लोक नं० ५७ से ६१ तक) के 'उपासकाचारे उक्तमास्ते' लिखकर उद्धृत किये हैं।

इसी विषयमें राजाराम कॉलेज कोल्हापुरके अर्द्धमागधीके प्रोफेसर पं० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एम० ए० ने 'जैनबोधक' के हालके विशेषांकमें 'आचारवृत्तिकार वसुनन्दि यांचा कालनिर्णय' शीर्षक एक लेख लिखा है और इसमें भी उन्होंने कुछ प्रमाण देकर पूर्वोक्त बारहवीं शताब्दि ही समय निर्णीत किया है। इस लेखमें नीचे लिखे प्रमाण पूर्वोक्त नोटसे अधिक दिये हैं—

१—मूलाचारटीकाके दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें सुभाषितरत्नसंदोहका‡ पहला श्लोक 'जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां' आदि उद्धृत किया गया है।

२—पाँचवें अध्यायकी ५२वीं गाथाकी टीकामें संग्रह ग्रन्थोंके उदाहरण देते हुए 'पञ्चसंग्रह' का उल्लेख किया है और वह संभवतः अमितगतिका ही पंचसंग्रह होगा।

३—अनगारधर्मामृतटीका (पृष्ठ ३५०) में 'तथाहि—शल्यकृत्ताष्टम्यां' आदि उद्धरण मूलाचार अ० ६, गाथा १३ की टीकासे उद्धृत है।

* सागारधर्मामृतटीका वि० संवत् १२९६ में बनकर समाप्त हुई है।

† अमितगतिका पञ्चसंग्रह वि० सं० १०७० में बना है।

‡ यह ग्रन्थ वि० सं० १०५० में बना है।

विचार भट्टारकीय हो रहे हैं, जिन्हें बड़े प्रयत्नके साथ सुधारना होगा। अतः इसका विरोध एवं बहिष्कार चर्चासागरसे भी अधिक होना चाहिये। जो सज्जन इस सम्बन्धमें अपनी सम्मति मेरे पास भेजनेकी कृपा करेंगे अथवा इसके विरोधी प्रस्तावों को जैनमित्र, जैनजगत् या वीरपत्रमें प्रकाशित करायेंगे उन सबका मैं विशेष आभारी हूँगा। इत्यलम्

सरसावा ज़ि० सहारनपुर
ता० ६-१-१९३३, —जुगलकिशोर मुख़्तार।

४—अनगारधर्मामृतटीका (पृ० ३५८) में 'बीजं प्ररोहयोग्यं…… 'आचारटीकायां'……' और 'आचारटीकायां' आदि उद्धरण मूलाचारके छठे अध्यायकी ६५ वीं गाथाकी टीकापरसे लिये हैं।

५—अनगारधर्मामृतटीका (पृ० ३५९) का 'उक्तं च मूलाचार टीकायां स्थितिभोजनप्रकरणे न चैते' आदि उद्धरण मूलाचार अ० १, गाथा ३४ की टीकासे लिया है।

६—अनगारधर्मामृतटीका (पृ० ६८१) का 'अत्रेयमाचारटीकोक्ता विशेषव्याख्या लिख्यते' आदि उद्धरण मूलाचार अ० १ गाथा ३४ की टीकासे लिया गया है।

७—अनगारधर्मामृतटीका (पृ० ६८२) का 'उक्तं च आचार टीकायां च यद्धस्तपादौ' आदि मू० अ० १ गाथा ३४ की टीकासे लिया गया है।

८—अनगारधर्मामृतटीका (पृ० ६०९) में लिखा है—"एतच्च भगवद्वसुनन्दि सैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओणदं जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यं।"

उपाध्यायजी लिखते हैं कि आचारवृत्तिकी किसी किसी प्रतिमें दसवें अध्यायके प्रारम्भमें नीचे लिखा हुआ पद्य मिलता है जिससे अनुमान होता है कि नरेन्द्रकीर्ति वसुनन्दिके गुरु होंगे—

नरेन्द्रकीर्तेः*मलहारिदेव सदाननं पश्यति तावकं यः।
श्रियाविहीनोऽपि स विष्णुभार्यः कृती भवेत्सश्रमणः प्रधानः ॥

एपिग्राफिया कर्नाटिकाकी चौथी जिल्दमें नागमंगल ताल्लुकेका ७६ वें नम्बरका एक शिलालेख प्रकाशित हुआ है, जो ई० सन् ११४५ (वि० सं० १२०२) के लगभग का है, उसमें नरेन्द्रकीर्तित्रैविद्यदेवका उल्लेख है, जो मुनिचन्द्रदेवके सहयोगी थे। इससे भी वसुनन्दिका समय बारहवीं शताब्दि निश्चित होता है।

* 'मलहारि' नहीं 'मलधारि' पाठ होना चाहिये। यह एक पदवी थी जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के आचार्य धारण करते थे। जैनशिलालेखसंग्रहमें मलधारि गंडविमुक्त, मलधारि मल्लिषेण, मलधारि रामचन्द्र, मलधारि हेमचन्द्र, आदि अनेक मलधारि मुनियोंका उल्लेख है।

परन्तु पं० जुगलकिशोरजीने पूर्वोक्त नोटमें लिखा है कि वसुनन्दिके गुरु उनके उपासकाध्ययनके अनुसार नेमिचन्द्र थे, जो संभवतः गोम्मटसारके कर्त्ता होंगे। अतएव इसपर और विचार होना चाहिए।

(२१)

जटाचार्यका वराङ्गचरित।

लगभग १२ वर्ष पहले जैनहितैषी भाग १५, अंक २–३ में मेरा एक नोट प्रकाशित हुआ था जिसमें मैंने लिखा था कि पद्मचरितके कर्त्ता आचार्य रविषेणका बनाया हुआ एक ग्रन्थ और है जिसका नाम वरांगचरित है और इसकी पुष्टि श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरिकी एक प्राकृत आर्या उद्धृत करके की थी। माणिकचन्द्रजैनग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित पद्मचरितकी भूमिकामें भी मैंने इसी बात को दुहराया था; परन्तु अभी हाल ही भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटके एनल्स (भाग १४ अंक १ २) में प्रो० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि पूर्वोक्त वरांगचरितके कर्त्ता रविषेण नहीं किन्तु जटाचार्य हैं और उसकी एक ताड़पत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन भट्टारकके मठमें मौजूद है! उपाध्यायजीके लेखका सारांश आगे दिया जारहा है—

हरिवंशपुराणके पहले सर्गके नीचे लिखे हुए दो पद्य देखिए—

कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेःप्रिया ॥३४॥
वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्ग चरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादये द्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥३५॥

पहले पद्यमें रविषेणके पद्मचरितका या पद्मपुराणका उल्लेख है और दूसरेमें वरांगचरितका; परन्तु दूसरे पद्यमें वरांगचरितके कर्त्ताका नाम नहीं दिया गया है; इससे मैंने समझ लिया था कि वरांगचरित भी रविषेणकाही होगा।

अब उद्योतनसूरिकी कुवलयमालाका उद्धरण देखिये—

जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाणचरियवित्थरे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो ॥

अर्थात् जिन जटिल और रविषेण कवियोंने रमणीय वरांगचरित और पद्मचरितका विस्तार किया, उनकी कौन सराहना न करेगा ? इसमें स्पष्टरूपसे वरांगचरितके कर्त्ता का नाम जटिल और पद्मचरितके कर्त्ताका नाम रविषेण दिया है; परन्तु उस समय मुझे इस आर्याका शुद्ध पाठ नहीं मिला था 'जडिय रविसेणो' की जगह 'जडिय' और 'जइय रविसेणो' पाठ मिले थे, जिनसे जटिलाचार्यकी तरफ़ ध्यान ही नहीं पहुँच सका था और प्राकृत व्याकरणकी अज्ञानताके कारण 'जेहिं' 'कइणं' आदिके बहुवचन रूपोंपर भी लक्ष्य नहीं दिया जासका था। परन्तु अब यह भ्रम साफ़ हो गया है।

वरांगचरित जटिलकाही बनाया हुआ है, इसकी पुष्टि अपभ्रंशभाषाके महाकवि धवलके हरिवंशपुराणसे भी होती है। उसमें लिखा है—

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण,
पउमचरिय मुणि रविसेणेण।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु,
जडिल मुणिणा वरंगचरित्तु ॥

अर्थात् महासेनने सुलोचना* रविषेणने पद्मचरित, जिनसेनने हरिवंशपुराण और जटिल मुनिने वरांगचरित बनाया।

आदिपुराणके कर्त्ताने इन्हीं जटिल मुनिका जटाचार्य के नामसे स्मरण किया है—

काव्यानुचिन्तने यस्य जटाप्रचलवृत्तयः।
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥
॥ ५० ॥ पर्व १

ये जटाचार्य और जटिल एकही हैं। जिनके जटाएँ हों, वे जटिल। आदिपुराणकी एक प्राचीन प्रतिमें 'जटाचार्य' शब्दपर 'सिंहनन्दिः' यह टिप्पणी भी दी है, जिसके अनुसार जटाचार्यका दूसरा नाम सिंहनन्दि है।

सिंहनन्दि और जटाचार्य एकही हैं, इसका एक पुष्ट प्रमाण चामुण्डरायके त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित या चामुण्डरायपुराण नामक कनड़ी ग्रन्थमें मिलता है, जो कि ईस्वीसन् ९७८ का बना हुआ है। उसमें लिखा है—

"जटा-सिंहनन्द्याचार्यर वृत्तं—
मृत्सारिणीमहिषहंस शुकस्वभावा,
मार्जारकङ्कमशकाजजलूकसाम्याः।
सच्छिद्रकुम्भपशुसर्पशिलोपमाना—
स्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति ॥
अंतु प्रशस्ताप्रशस्तात्मकमप्य चतुर्दश
विकल्पमुं।"

सिंहनन्दि नामके एक और आचार्य दूसरी शताब्दी में होगये हैं जो दक्षिणके सुप्रसिद्ध गंगराजवंशके संस्थापक माने जाते हैं। उनसे पृथक् बतानेके लिये सिंहनन्दि को 'जटा' विशेषण दिया गया है, क्योंकि ये जटाचार्यके नामसे भी प्रसिद्ध थे।

चामुण्यरायपुराणका‡ उपर्युक्त उद्धरण वरांगचरितके पहले सर्गका १५ वाँ श्लोक है, अतएव इस विषयमें ज़रा भी सन्देह नहीं रह जाता है कि वरांगचरितके कर्त्ता सिंहनन्दि ही हैं और वे जटाचार्य या जटिल नामसे भी प्रसिद्ध थे।

निज़ाम स्टेटका 'कोप्पल' नामक स्थान अशोकका प्राचीन शिलालेख मिलनेके कारण अभी अभी बहुत प्रसिद्ध होगया है। मध्ययुगमें जैनोंका यह एक महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है। इसके पास एक पहाड़ी है, जिसके शिखरका नाम 'पल्लक्कि गुण्डे' है। उसपर एक निषिधा बनी है, जो बहुत करके इन्हीं जटा-सिंहनंद्या

---

*हरिवंशपुराणमें भी महासेनकी सुलोचना कथाका उल्लेख है—
महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥ ३३

‡चामुण्डरायपुराण कर्नाटक साहित्यपरिषत्की ओर से सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ है। यह पांच प्रतियोंके आधार से सम्पादित हुआ है, जिनमेंसे एक शकसंवत् १४२७ की लिखी हुई है और नादणीके तात्यासाहब पाटीलकी है। इस प्रतिमें और दूसरी एक और प्रतिमें इस तरह दो प्रतियोंमें 'मृत्सारिणी' आदि श्लोक है, अन्य प्रतियोंमें नहीं है।

चार्यकी ही होगी। निषिद्यापर चरणचिह्नोंके साथ ही एक कनड़ी शिलालेख है, जो घिस गया है और जिसकी केवल दो अधूरी पंक्तियाँ पढ़ी जाती हैं—

१—जटासिंहनन्दि आचार्य (महादेव ......?)

२—मचय्यम माडिसिदम्

इसमें भी सिंहनन्दिके साथ 'जटा' विशेषण लगा हुआ है।

आचार्य योगीन्द्रदेवने अपने अमृताशीति नामक ग्रन्थमें भी जटासिंहनन्दिको उद्धृत किया है—

"जटा-सिंहनन्द्याचार्यवृत्तम्—

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद् द्वैतस्य गोचरम्

अद्वये निष्फले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रियाः॥६७॥"

धवलका हरिवंशपुराण ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिका है. चामुंडरायपुराण ईस्वी सन् ९७८ में बना है, जिनसेन स्वामीका आदिपुराण ई० स० ८३८ के लगभगका है. द्वि० जिनसेनका हरिवंशपुराण ई० स० ७८३ का है और उद्योतनसूरिकी कुवलयमाला ई० स० ७७८ की है। इन सबमें जटाचार्य या सिंहनन्दिका उल्लेख किया है, अतएव उनका वरांगचरित इन सबसे पहलेका है; परन्तु पद्मचरित या पद्मपुराणसे भी पहलेका है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। पद्मचरितका रचनाकाल ई० स० ६७७ है।

वरांगचरित की पूर्वोक्त ताड़पत्रकी प्रतिके अन्तमें लिखा है—

"स्वस्ति श्री विजयाभ्युदय शालिवाहनशकवर्ष १७२८ नक्षनाम संवत्सरे कार्तिक मासे कृष्णपक्षे चतुर्दशी तिथौ मन्दवार [illegible] श्री रङ्गपत्तन प्रविराजमान श्री [illegible] श्री वीरनाथ पादाम्भोरुह युग्मसन्निधौ श्री[illegible] पण्डिताचार्य वर्यानुज्ञया पो (सो ?) मण्णोपाध्यायस्य प्रियपुत्राय अण्णप्पोपाध्याय [illegible]पुत्रेण पार्श्वाह्वयेन मया लिखित्वा दत्तमिदं वराङ्गचरितमिति मङ्गल महाश्री ६"।

इस १९५ वर्ष पुरानी प्रतिमें १४८ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र १३ इंच लम्बा और २ इंच चौड़ा है, और उसमें ८ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें ५५ अक्षर हैं। लिपि कनड़ी है। ३१ सर्गका महाकाव्य है और सुन्दर रचना है।

शोलापुरसे परवादिपंचानन वर्द्धमान भट्टारकका वरांगचरित मराठी अनुवादसहित प्रकाशित हुआ है। उसके अनुवादक पं० जिनदास शास्त्रीने अपनी भूमिकामें लिखा है कि यह वही वरांगचरित है जिसका उल्लेख हरिवंशपुराणमें 'वराङ्गनेव सर्वाङ्गै' आदि श्लोक द्वारा किया गया है; परन्तु यह ग़लत है। ये वर्द्धमान भट्टारक या तो न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषणयतिके गुरु होंगे और या वे होंगे जिनका राइस साहबके कथनानुसार ई० स० १५३० के हुमचशिलालेखमें उल्लेख है। वास्तव में वर्द्धमानका वरांगचरित जटाचार्यके ही वरांगचरितको संक्षिप्त करके लिखा गया है और उसमें प्रकारान्तर से यह स्वीकार भी किया गया है—

गणेश्वरैर्या कथिता कथा वरा
वराङ्गराजस्य सविस्तरं पुरा।
मयापि संक्षिप्य च सैव वर्ण्यते
सुकाव्यबन्धेन सुबुद्धिवर्द्धिनी॥१-११॥

परवादिपंचानन वर्द्धमान भट्टारक मूलसंघ, बलात्कार गण और सरस्वती गच्छके थे। ये बहुत आधुनिक हैं।

उपाध्यायजीने उक्त लेखके अन्तमें जटाचार्य के दुर्लभ वरांगचरितका पूरा एक सर्ग—जिसमें ७० पद्य हैं—उद्धृत किया है जो बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुणविशिष्ट है। प्रयत्न किया जा रहा है कि यह माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित हो जाय। नीचे कुछ पद्य दिये जाते हैं—

अर्हंस्त्रिलोकमहितो हितकृत्प्रजानां
धर्मोऽर्हतो भगवतस्त्रिजगच्छरण्यः
ज्ञानं च यस्य सचराचरभावदर्शि
रत्नत्रयं तदहमप्रतिमं नमामि॥१

येनेह मोहतरुमूलमभेद्यमन्यै—
रुत्पाटितं निरवशेषमनादिबद्धम्।

---

[^1]: वरांगचरितकी प्रति उस समय उपाध्यायजीके हाथमें नहीं थी, जिस समय और अमृताशीतिमें उक्त उद्धरण प्राप्त हुआ, इसलिये वे यह नहीं देख सके कि यह श्लोक वरांगचरितमें है या नहीं, और है तो किस स्थानपर है।

यस्यर्द्धयस्त्रिभुवनातिशयास्त्रियोक्ता :
सोऽर्हन्जयत्यमितमोक्ष सुखोपदेशी ॥ २
यस्याज्ञया स्वपथ मुक्तमितुं न शेकु——
र्वर्णाश्रमा जनपदे सकले पुरे वा ।
पाषण्डिनः स्वसमयोप विनीत मार्गाः
सोऽतीवबालबुध वृद्धतमान्वभार ॥ ५१
अनुपरत मृदङ्गमन्द्रनाद,
मणिकिरणोरवभासितान्धकारे
षड्ऋतु सुखगृह विशाल
कीर्तिर्ग्वानिनाभिरराज राजसिंह ॥ ६९

विविध विषय ।

(ले०—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

परिषत्की कुछ भीतरी बातें ।

हमारे एक विद्वान् मित्र सहारनपुरके परिषत्के अधिवेशनमें शामिल हुए थे। उन्होंने अपने प्राइवेट पत्रमें कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जिनसे परिषत्के अन्तरंग पर विशेष प्रकाश पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिए पत्रका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करदिया जाता है—

"वैसे तो यह संस्था निर्जीवसी है, परन्तु रोहतकके अधिवेशनसे इसे कुछ कुरीतियों और फिज़ूलखर्चियों को दूर करानेकी विशेषता प्राप्त होरही है और उसका खास श्रेय रोहतकके उत्साही वकीलोंको प्राप्त है। सहारनपुरका अधिवेशन भी उसी खास लक्ष्यको लिये हुए था और उसी विषयके प्रस्तावोंपर खास ज़ोर रहा है। बाकी दूसरे भी कितने ही प्रस्ताव पास हुए हैं, परन्तु उनमें से अधिकांशमें कुछ प्राण नहीं मालूम होता। बाहरकी जनता अच्छी एकत्र होगई थी और कितने ही सज्जन दूर दूरसे पधारे थे। सहारनपुरके लाला प्रद्युम्नकुमार और हुलासरायजी कुछ अलगसे ही रहे। सभापतिके लिहाज़ से पहले दिनकी प्रथम बैठकमें वे शरीक ज़रूर हुए थे; परन्तु फिर उनका कभी दर्शन नहीं हुआ। प्रद्युम्नकुमारजीने स्वागतसभापति बनना स्वीकार करके भी फिर उससे इनकार करदियाथा। ''हस्तिनापुरमें लाला हुलासरायजीकी सलाहसे ही बाबू सुमेरचन्द्रजीने परिषत् को निमंत्रण दिया था, लेकिन फिर सारा बोझा उन्हीं पर पड़गया। ......मालूम हुआ कि इन लोगोंके पास सेठ......और सेठ......के पत्र भी परिषत्से सहयोग न करने आदिके पक्षमें आये थे। उधर बाबू सुमेरचन्द्रजी एडवोकेटके पास सेठ......(पूर्वोक्त दो सेठों में से ही पहले) का पत्र पूर्ण सहानुभूति और सहयोग का आया था जिसे उन्होंने लाला प्रद्युम्नकुमारजीको दिखला दिया था। इससे सेठ साहबकी अजीब लीला प्रकट हुई। हकीम कल्याणरायको भी सहारनपुर भेजा गया था जिससे ये लोग परिषत्में शरीक न हों। यह भी सुना गया है कि लाला हुलासराय आदि ऐसा चाहते थे कि परिषत् यदि विधवाविवाहके निषेधका प्रस्ताव पास करदेवे तो हम उसके साथ हैं। परन्तु जब उन्हें यह सुझाया गया कि प्रस्ताव तो रख दिया जायगा, किन्तु यह संभव है कि खुले इजलासमें वह गिर जाय और इसके प्रतिकूल प्रस्ताव पास होजाय, क्योंकि जनता अधिकतर विधवाविवाहके पक्षमें है, तब उनकी समझमें वह बात बैठी और वे कुछ शान्त हुए।"

जहाँ जस तहाँ तस ।

हमारे मित्र महोदयने उक्त पत्रमें जिन सेठ साहब की अजीब लीलाका ज़िक्र किया है, उनकी "जहाँ जस तहाँ तस" की नीति नई नहीं है—वह और भी अनेकबार प्रकट होचुकी है। परन्तु सेठजी चूँकि बहुत बड़े धनी हैं और इससमय सर्वत्र धनकीही तूती बोलतीहै, इसलिए ऐसी लीलाओंके प्रकट होजाने पर भी उनकी प्रतिष्ठामें कोई बट्टा नहीं लगता है। वास्तवमें न वे सुधारक हैं और न सनातनी। उनकी दृष्टिमें बाबू और पण्डित दोनों ऐसी दुधारू गायें हैं, जिनके स्तनोंमेंसे बछड़ा बनकर ही सम्मान और प्रतिष्ठाका दूध दुहा जा सकता है। उनका सिवाय इसके और कोई सिद्धान्त नहीं है कि दोनोंको ही पुचकारते रहना जिससे दोनों ही समझते रहें कि

सेठजी हमारे हैं और हमारीसी कहते हैं और इस समझ केअनुसार दोनोंही अपने अपने पत्रोंमें कीर्तिका डंका बजाते रहें।महाकवि अकबरके शब्दोंमें उनका मानस यह है—

हलुआ माँड़े से काम रखो भाई।
मुर्दा दोज़खमें जाए या जाए बहिश्त ॥

मुझे स्मरण है, जिस समय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद्जी अपनी पुरानी गुपचुपकी नीतिको छोड़कर विधवा-विवाहप्रचारके मैदानमें आये थे उस समय सेठजी अपने नगरकी उस सभाके सभापति बने थे जिसमें ब्रह्मचारीजी के बहिष्कार और तिरस्कारका प्रस्ताव पास किया गया था और उसके तीसरे चौथे ही दिन बम्बईकी एक मीटिंग में अपनी बुलन्द आवाज़से लेक्चरहालको कंपायमान करते हुए बोले थे-"विधवाविवाहका कौन विरोध करता है? वह रुकनहीं सकता-होकर रहेगा और होना चाहिए; उसकी समाजमें ज़रूरत है।" इस मीटिंगमें अधिकांश लोग सुधारक पक्षके थे, सुनकर खुश होगये। और सेठजी चाहते भी यही हैं कि पण्डित भी खुशरहें और बाबू भी। वे ऊँचे दर्जेके समदृष्टि हैं—दोनोंको ही वे समान दृष्टिसे देखते हैं। बड़ा अच्छाहो, यदि बाबू सुमेरचन्दजी और लाला प्रद्युम्नकुमारजी सेठजीके इस समदर्शीपनको प्रकट करने वाले दोनोंही पत्र प्रकाशित करदें।

अस्पृश्यता शास्त्रसम्मत नहीं है।

महात्मा गाँधीके पुण्यप्रभावसे अस्पृश्यतानिवारण का आन्दोलन दिनपरदिन प्रबल होता जारहा है। अस्पृश्यता को शास्त्रसम्मत मानने वाले और हिन्दूधर्मका कलंक समझने वाले दोनों ही दलोंके विद्वान् इस समय अपनी सारी शक्तियाँ इस प्रश्नकी मीमांसा में लगारहे हैं। अभी कुछ ही समय पहले काशीके सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् बाबू भगवानदासजी एम० ए०, हिन्दू यूनीवर्सिटीके आचार्य आनन्द शंकर ध्रुव, प्रोफेसरनाथ हरिपुरन्दरे, परमहंस प्रज्ञानेश्वर यति, स्वामी केवलानन्द, लक्ष्मण शास्त्री तर्कतीर्थ, केशवलक्ष्मण दफ्तरी आदि प्रकाण्ड पण्डितों ने निम्नलिखित व्यवस्था दी है—

"हिन्दू धर्मशास्त्र में अथवा हिन्दूधर्ममें तीन प्रकार के अस्पृश्य कहेगये हैं—(१) जन्मसिद्ध अर्थात् असत्तम प्रतिलोमसंकर* (२) महापातकसे पतित अथवा कोई निंद्य आचारसे भ्रष्ट, (३) अशुचि अथवा आशौचयुक्त लोग। पहला लक्षण वर्तमान अस्पृश्य मानी हुई जातियों में है-इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए वर्तमान अस्पृश्य जातियाँ शास्त्र में कहे हुए बहिष्कार के और अस्पृश्यता के नियम का विषय नहीं हैं। यह लक्षण मानकरभी वर्तमान अस्पृश्य मानी हुई जातियाँ शौचाचार शिव विष्णु, आदि भक्ति दीक्षा आदि साधना से स्पृश्य बन जाती हैं, और चातुर्वर्ण्य के सब सामान्य अधिकार प्राप्त करती हैं। दूसरा लक्षण किसी एक सम्पूर्ण जातिका विशेष लक्षण नहीं हो सकता, और सब स्पृश्यास्पृश्य जातियों की व्यक्तियोंमें सम्भव है। वर्तमान अस्पृश्य मानी हुई जातियों का अस्पृश्यत्व पातित्य प्रयुक्त नहीं है, न वे जातियाँ पतित सन्तति सिद्ध हो सकती हैं। जो पतित होजाता है, वह उचित प्रायश्चित्त से पूर्णरूपसे शुद्ध और स्पृश्य होजाता है। और प्रायश्चित्त न किये हुए पतित की भी सन्तति अस्पृश्य नहीं मानी जा सकती है। कुछ स्मृतिकार उसको अशुद्ध मानकर बहुत थोड़े से प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि बताते हैं। जो लोग निंद्य आचार से भ्रष्ट होते हैं, वे निंद्य आचारके त्यागसे स्पृश्य हो जाते हैं।

"तीसरे प्रकार की अस्पृश्यता अशुचि अवस्था के कारण है और स्पृश्यास्पृश्य कहलाने वाली सभी जातियों में होती है। चमार, भंगी आदि को अपने व्यवसायके ही कारण सदा के लिए अस्पृश्य माननेका शास्त्र में कोई आधार नहीं है। उनकी अस्पृश्यता अपने व्यवसाय के स्वरूप से जो बाहिरी अस्वच्छता पैदा होजाती है उसके कारण है। तीसरे प्रकार की सब अस्पृश्यता यथा समय स्नान और स्वच्छ वस्त्र धारण करलेने से दूर होती है।

"अतएव चातुर्वर्ण्य के जो सामान्य अधिकार, यथा देवमन्दिर-शिक्षाशाला-सभा आदि में प्रवेश, कूप-घाट तालाब नदी आदि जलाशयोंका उपयोग आदि हैं, वे सब

*जैसे ब्राह्मणीके गर्भसे शूद्र पुरुषद्वारा उत्पन्न सन्तान। यह चाण्डाल कहलाती थी।

अधिकार वर्तमान अस्पृश्य मानी हुई जातियों को चातुर्वर्ण्य के समान ही प्राप्त होना आवश्यक हैं, और उनसे उनको वंचित रखना दोष है, यह बात धर्मशास्त्र के वचन मूल सिद्धान्त और तात्पर्य-निर्णयसे सिद्ध होती है।"

यह कहनेकी ज़रूरत नहीं है कि जिनके हस्ताक्षरोंसे यह व्यवस्था प्रकाशित हुई है, वे हिन्दूधर्मके धुरन्धर और तलस्पर्शी विद्वान् हैं और इस विषयमें व्यवस्था देने के विशेष अधिकारी हैं। उनकी कही हुई बातें विवेकपुरस्सर हैं, इस कारण जँचती भी हैं। जिन लोगोंने अपनी बुद्धिको रूढ़ियों और लोकाचारोंके भेट करदिया है, उनको छोड़कर इस बातको कौन मान सकता है कि एक निर्दोष मनुष्य केवल किसी कुलमें जन्म लेनेके कारण हमेशा के लिए अस्पृश्य मान लिया जाय और सदाचारी सुशील होनेपर भी उसके साथ कुत्ते बिल्लियों से भी बदतर व्यवहार किया जाय ?

"सनातन-जैन" का स्थानपरिवर्त्तन।

सहयोगी 'सनातन जैन' अब अपने छठे वर्षके प्रारम्भसे वर्धा छोड़कर बुलन्दशहरसे प्रकाशित होनेलगा है। पहले ही अंकसे मालूम होने लगा है कि अब उसने होश सँभाला है और अब पाठकोंको उसके लेखोंसे सन्तोष होने लगेगा। उसके सहायक सम्पादक बाबू भोलानाथ जी मुख्तार यदि चाहेंगे और ब्रह्मचारीजी उन्हें मौक़ा देंगे, तो आशा है कि पत्रमें सुपाठ्य लेखोंकी कमी न रहेगी। ब्रह्मचारीजी को अधिक बोलनेके समान अधिक लिखनेका भी रोग है और इसके कारण वे बराबर बेरोकटोक लिखे जाते हैं—यह सोचनेकी ज़रूरत ही नहीं समझते कि एक ही बातको मैं अबतक कितनी बार लिख चुका हूँ और पाठक आखिर कबतक उस पिष्टपेषणको निगलते रहेंगे? उनके धैर्यकी भी तो कुछ सीमा है। बाबू भोलानाथजीने 'जिनमंदिरोंमें अछूतोंका प्रवेश' शीर्षक लेख लिखकर अपने सत्साहसका परिचय दिया है। इस समय अछूतों के प्रश्नने देशव्यापी रूप धारण किया है। इसे दबा रखनेसे काम न चलेगा। अब इसका निर्णय करही डालना होगा।

जैनधर्मानुयायियोंमें अस्पृश्योंका अभाव।

भारतवर्षमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, सिक्ख, पारसी, बौद्ध और जैन ये मुख्यधर्म हैं। इनमेंसे एक हिन्दूधर्मको छोड़कर अन्य किसी भी धर्ममें अछूत नहीं हैं। आपको एक भी मुसलमान, ईसाई, यहूदी, सिक्ख, पारसी, बौद्ध और जैनधर्मका माननेवाला ऐसा नहीं मिलेगा जो अस्पृश्य हो; जो इन सब धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मको पालता हो और अछूत समझा जाता हो। एक हिन्दूधर्मही ऐसा है कि उसके माननेवाले लगभग ५-६ करोड़ स्त्री-पुरुष ऐसे हैं, जो अछूत या अस्पृश्य माने जाते हैं और शेष बीस करोड़ हिन्दू उनको छूकर स्नान करते हैं। मुसलमान ईसाई आदि धर्मोंमें अस्पृश्यता को कोई स्थान नहीं है इसलिए उनमें कोई अस्पृश्य नहीं हैं; परन्तु जैनधर्मके पंडित कहते हैं कि नहीं, हमारे परम पवित्र (?) धर्ममें भी अस्पृश्यता मानी है, इसलिये अछूतोंकी अस्पृश्यता बनाये रखना हमारा कर्त्तव्य है। क्या इन पण्डित महाशयोंने कभी इस बातपर विचार किया है कि जब जैनधर्ममें अस्पृश्यता मानी है, तब जैनधर्मके माननेवालोंमें हिन्दूधर्मके समान अस्पृश्य क्यों नहीं हैं? ऐसे लोगोंका अभाव क्यों है, जो जैन हों और अस्पृश्य हों? जैनधर्मके अनुयायियोंमें इस समय भी ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं और शूद्र भी हैं, फिर अस्पृश्य क्यों नहीं हैं? उनके कथनानुसार पहले तो राजा प्रजा सभी जैनधर्म पालते थे। उन सबके अवशेष थोड़ी बहुत संख्यामें मौजूद हैं; केवल अस्पृश्योंका ही अभाव क्यों हो गया? उनके भी तो कुछ अवशेष होने चाहिए थे!

विरोधी मित्रोंसे।

(८)

आक्षेप (२३)—गौतम बुद्ध साधु होनेपर दिगम्बर जैन मुनि रहे थे। इस अवस्थामें वे राजगृहके सुप्पतित्थियके मन्दिरमें ठहरे। बौद्धोंमें ६ तीर्थक या तीर्थङ्कर कहे गये हैं; उनमें सुप्पतित्थियका नाम नहीं मिलता है। सुप्पतित्थिय जैनियोंके सुपार्श्वनाथ होंगे। तीर्थङ्करोंके संक्षिप्त नाम भी मिलते हैं,

जैसे दर्शनसारमें मुनिसुव्रतन.थका सुव्वय। इससे मालूम होता है कि बुद्धकी जैनमुनि अवस्थामें (महावीरके पहिले) सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरका मंदिर था।

समाधान—मैं लिख चुका हूँ कि महात्मा बुद्ध अपने जीवनमें दिगम्बरजैनमुनि कभी नहीं रहे। वे किन किनके शिष्य रहे और क्या क्या तपस्या की इन सब बातोंका विवरण देकर मैं इस बातको साबित कर चुका हूँ। हाँ, मज्झिमनिकायके महासीहनादसुत्तमें कुछ दिगम्बर साधुओंसे मिलता वर्णन आता है। सम्भव है उस वर्णनसे आक्षेपक भ्रममें पड़ गये हों। इस सुत्तमें महात्मा बुद्ध कहते हैं कि मैं सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हूँ, उपदेशक हूँ, मैं दिव्यचक्षुसे सब जानता हूँ। जो लोग यह कहते हैं कि 'मुझमें लोकोत्तरधर्म नहीं है, मैं सिर्फ तर्कके बलपर उपदेश करता हूँ' ऐसा कहनेवाले नियमसे नरक जायँगे।" आदि। इसके बाद उनने उस समयके प्रचलित अन्य सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये कहा है कि पूर्वजन्ममें मैंने इन सब क्रियाओंको किया है परन्तु इससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इसलिये मेरा धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इस वर्णनका सार यह है.—

"सारिपुत्र! मैंने अनेक जन्म पहिले चार प्रकारका तप किया है। मैं तपस्वी हुआ हूँ, रूक्ष हुआ हूँ, जुगुप्सी हुआ हूँ, एकान्तवासी हुआ हूँ। मैं नग्न था। हाथके ऊपर ही भिक्षा लेता था, अपने लिये बनाया भोजन मैं नहीं लेता था, गर्भिणी स्त्री आदिके पास भोजन नहीं लेता था, मत्स्यमांस शराब नहीं लेता था, कभी मैं एक घरसे एक ग्रास कभी दो घरसे दो ग्रास, इसी प्रकार कभी सात घरसे सात ग्रास लेकर भोजन करता था। कभी चमारोंके द्वारा फेंके गये चमड़ेके टुकड़ोंको खाकर रह जाता था, कभी गोबर खाकर रह जाता था, कभी कन्दमूल खाकर रह जाता था, कभी मुर्दे पर पड़े वस्त्रों, चिथड़ोंको, वृक्षोंकी छालको, चमड़ेको, चटाईको शरीर ढँकनेके काममें लेता। आँखों और डाढ़ीके बाल लोंचता। काँटोंके ऊपर सोनेका व्रत लेता, त्रिकालस्नानका व्रत लेता। ऐसी मेरी तपस्या थी।"

"मैं जुगुप्सी कैसा था सो कहता हूँ। मैं बहुत देखकर आताजाता था। पानीके बिन्दुपर भी मेरी दया थी।"

"मैं रूक्ष कैसा था सो कहता हूँ। वर्षों तक मैं शरीरकी धूल साफ न करता था। मैं तेंदूके ठूँठ सरीखा होगया था।"

"अब एकान्तवासकी बात कहता हूँ मैं जङ्गलमें अकेला रहता। अगर कोई घसियारा भी मुझे दिखाई देता तो मैं और भी अधिक सघन जङ्गलकी तरफ वनमृगकी तरह भागता। वहाँ मैं गोबर खाता, अपने मलको खाता। ऐसा मेरा विकट भोजन था।"

"कभी मैं मरघटमें रहता और मुर्दोंकी हड्डियोंका तकिया बनाकर सोता। लोग मेरे ऊपर थूकते, पेशाब करते, धूल फेंकते अथवा कानोंमें खील डालकर दिल्लगी करते थे।"

"कोई कोई लोग कहते हैं कि आहारसे ही शुद्धि होती है, परन्तु यह सब मैं कर चुका हूँ। एक बेर एक मूँगका, तिलका या चाँवलका दाना खाकर मैंने निर्वाह किया है। शायद कोई कहे कि उस जमानेमें अनाजका दाना खूब बड़ा-बड़ा होता होगा, सो ठीक नहीं है। उस समय भी इतना ही बड़ा अनाज (दाना) होता था"। (इससे स्पष्ट है कि बुद्धदेव अपने पूर्वजन्मोंकी कथा कह रहे हैं।)

"कोई श्रमण ब्राह्मण कहते हैं कि सर्वयोनिमें जन्म लेलेनेसे शुद्धि हो जाती है, परन्तु ऐसी कोई योनि नहीं, जिसमें मैंने जन्म न लिया हो। सिर्फ शुद्धावास देवलोकमें मैंने जन्म नहीं लिया, क्योंकि वहाँ जन्म लिया होता तो फिर इस लोकमें जन्म न लेता।"

"कोई यज्ञसे शुद्धि कहते हैं परन्तु ऐसा कोई

यज्ञ नहीं है जिसे मैंने पूर्वजन्ममें क्षत्रियराजा होकर अथवा श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर न किया होगा"।

इन सब अवतरणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि "महात्मा बुद्ध यह बात कह देना चाहते हैं कि मैंने जो धर्म बताया है उसके सिवाय सब धर्म निःसार हैं—यह बात मैं केवल तर्कसे नहीं कह रहा हूँ किन्तु अनेक जन्मोंके अनुभव से कह रहा हूँ." परन्तु इस बातसे कोई ऐतिहासिक विद्वान यह बात न मानेगा कि बुद्धको सचमुच अनेक जन्मोंका स्मरण हुआ था और उनने सचमुच अपने पूर्वजन्मों में वैसी तपस्या की थी। उससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि बुद्ध के समयमें उस ढङ्गसे तप करनेवाले लोग थे, जिनका खण्डन बुद्धने किया था। इससे बुद्धके पहले दिगम्बर जैन सम्प्रदायकी सिद्धि नहीं होती। उसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि दिगम्बर सम्प्रदाय या जैन संप्रदायकी सिद्धि होना एक बात है और नग्नता, पाणिपात्रभोजन आदिकी सिद्धि होना दूसरी. क्योंकि जैनेतर दर्शनोंमें भी नग्नता, पाणिपात्रभोजन, अनुदिष्टाहार आदिके नियम पाये जाते हैं।

"बुद्धका सुप्पतित्थियके मन्दिरमें ठहरना, सुपार्श्वनाथके अस्तित्वका सूचक है"—यह बात कल्पना शक्तिका घोर उपहास है। सुप्पतित्थियको सुपास समझना ही बड़ा विचित्र है। पहिले तो सुपार्श्वनाथका मन्दिर सिद्ध हो जाने पर भी सुपार्श्वनाथ तीर्थङ्करका मन्दिर था यह समस्या खड़ी ही रहती है क्योंकि पुराने नामोंको अपनानेका काम अर्वाचीन धर्म कर लिया करते हैं जैसे जैन बौद्ध आदि ने रामकृष्णादिके कथानकोंको और नामोंको अपनाया है। परन्तु यहाँ इतने कठोर परीक्षणकी भी आवश्यकता नहीं है।

मुनिसुव्रतमें मुनि, विशेषण शब्द है जोकि कालान्तरमें नामके भीतर ही शामिल होगया है। असली नाम तो सुव्रत है। अगर मुनि विशेषण न होता तो नामको छोटा करनेके लिये भी वह अलग न किया जाता. क्योंकि जब किसी नामको छोटा किया जाता है तब उसका अन्तिम भाग ही दूर किया जाता है। रवीन्द्रनाथको हम रवि बाबू कहते हैं और पिछला भाग इन्द्रनाथ अलग कर देते हैं परन्तु 'रवि' को अलग करके इन्द्रनाथ या नाथ बाबू नहीं कहते। नामको संक्षिप्त करने में अगर कोई प्रारम्भिक भाग अलग किया जाता है तो समझना चाहिये कि वह विशेषणरूप है। इसलिये मुनिसुव्रत का मुनिअंश भी विशेषणरूप कहलाया।

अगर मुनिसुव्रतका संक्षिप्तरूप सुव्रत मानलिया जाय तोभी कुछ हानि नहीं है क्योंकि उसमें नाम बदला नहीं गया है। सुपासणाहका सुप्पतित्थिय नाम बदलगया है। यदि सुपासणाहका संक्षिप्तरूप किया जाय तो सुपास या पासणाह होसकता है सुप्पतित्थिय तो किसीभी तरह नहीं होता। एक बात और है कि नामके संक्षिप्त करनेमें स्वर, मात्रा. व्यञ्जन की कमी की जाती है। सुपासणाह शब्दमें पाँचस्वर, सात मात्राएँ और पाँच व्यञ्जन हैं जबकि सुप्पतित्थियमें पाँच स्वर सात मात्राएँ और सात व्यञ्जन हैं। इस तरह यहां घटा तो कुछ नहीं बल्कि व्यञ्जन बढ़ गये हैं। यह कैसा संक्षेप है। मैं समझता हूँ कि संक्षेप शब्दका ठीक अर्थ मेरे मित्रके ध्यानमें होगा।

अगर यह कहा जाय कि संक्षेप रूपतो 'सुप्प' है, तित्थिय विशेषण है; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सुपासणाहका संक्षिप्तरूप सुप्प नहीं हो सकता. 'सुपास' और 'पास' होसकता है। फिर संक्षिप्त रूप करके तित्थिय विशेषणकी क्या जरूरत है? अपनेसे भिन्न सम्प्रदाय वालोंको तित्थिय कहते हैं। कोई भी विशेषण इतर व्यावर्तक होता है। जब सुपासणाह नामके दो तीर्थकर हों. एक बौद्ध हो दूसरा तित्थियहो तब उस

बौद्ध तीर्थंकरकी व्यावृत्तिके लिये तिथिय विशेषण लगाया जासकता है। परन्तु सुपासखाह नामक बौद्ध तीर्थंकर प्रसिद्ध नहीं है और हो तो बुद्धको उसकी व्यावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है। जो आदमी संक्षेपके लिये नाम पूरा न ले वह अनावश्यक विशेषण क्यों लगायगा? इसके अतिरिक्त राहुल सांकृत्यायनने इस चैत्यका नाम सुप्रतिष्ठित लिखा है। सम्भवतः आपने यह पाठ अंग्रेजी पुस्तक परसे लिया है जिसमें सुप्पतित्थिय और सुप्पतिट्ठिय एकसा लिखा जाता है। इस तरह यह कल्पना जिस दृष्टिसे की जाय उसी दृष्टिसे निःसार साबित होती है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि सुप्रतिष्ठित या सुप्रतीर्थिक था कौन, जिसका यह चैत्य था? जैन और बौद्धसाहित्यके देखनेसे यह बात मालूम होती है कि उस जमानेमें बड़े बड़े नगरोंके बाहर यक्षोंके चैत्य थे। उस समय सैकड़ों चैत्य बने हुए थे। इनमें अनेक चैत्योंमें अनेक बार भगवान महावीर ठहरे थे। इन्हीं यक्षोंके चैत्योंमें सुप्रतिष्ठित चैत्य था। जुदे जुदे नगरोंमें जुदे जुदे यक्षायतनोंमें ठहरनेका उनका उल्लेख सूत्र साहित्यमें सर्वत्र मिलता है।

इस तरहके यक्षायतनको बिना किसी कारणके सुपार्श्वनाथका मंदिर साबित करना अनुचित है।

परिषद्के प्रस्तावोंका प्रचार—

श्री जैनपरिषद्के सहारनपुर अधिवेशनके प्रस्तावानुसार देवबंदकी जैनपंचायतने ता० २२ जनवरीको सर्वसम्मतिसे लड़की देखनेके समय किसी प्रकारकी भेट लेना देना, बढ़ारका रखना और मुकलावे (गौने) की रस्मको बन्दकर दिया। औरभी कई सुधार किये गये है। खेवड़ा जिला रोहतकमें श्री० सेठ किरोड़ीमलजीका मृत्युभोज किया जानेवाला था। रोहतकके उत्साही वकीलोंकी प्रेरणासे वह रोक दिया गया और उसके एवज सेठजीकी स्मृतिमें एक स्थानक बनवा दिया गया।

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ — १६ फरवरी सन १९३३ — अङ्क ८

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र ।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र ।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र ।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" ॥—[illegible]

सम्पादक—मा० रा० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई

प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर ।

रैणवालमें खण्डेलवाल जैनमहासभा (?) का अधिवेशन ।

शान्तिसागरसंघकी अद्भुत लीलायें ।

जयपुरसे रवाना होनेके पश्चात् मुनिसंघ घूमते घूमते रैणवालनामक ग्राममें पहुँचा । संघके संचालकोंने इस ग्राममें लोगोंको समझा बुझाकर एक वेदीप्रतिष्ठा उत्सव करनेपर मजबूर किया । बेचारे ग्रामीण श्रावकोंने गुरुआज्ञा (!) का पालन करना अपना कर्तव्य समझकर उत्सव करनेकी हां भरली । मंदिरसे सम्बन्धित कुछ जायदाद गिरवी रख, उत्सवका आयोजन किया गया । जयपुरकी सुधारकपार्टीसे मुनिसंघ चिढ़ाहुआ था ही । सोचागया कि जयपुरको जैनपंचायतसे सुधारकोंका बहिष्कार नहीं करासके तो अब रैणवालमें खण्डेलवालमहासभाका जल्सा कर ग्रामीण अशिक्षित जनताके वोट और हाहल्लेके आधारपर सुधारकोंके बहिष्कारका प्रस्ताव पास करा देना चाहिये । चुनांचे खण्डेलवालमहासभाका नाटक करना निश्चित होगया और सुजानगढ़के सेठ बिरधीचन्दजी सेठी सभापति नियुक्त होगये ।

अधिवेशनकी तारीखें २, ३ व ४ फरवरी निश्चित हुई थीं, पर ता० २ का कोई कार्रवाई न होसकी । सुना है कि डी० आई० जी० जयपुर पुलिस स्वयं मौके पर पहुंचे थे और उन्होंने सभाकी कार्रवाई रोकनेका आर्डर दे दिया था और बादमें सभापतिके [illegible] की कापी लिखादेनेपर इस शर्तपर सभा होनेकी इजाजत दी गई कि [illegible] [illegible] विरुद्ध बातें [illegible] [illegible] उत्सवमें [illegible]

सभापति महोदयके स्वागतका कोई प्रबंध न था । रैणवाल जयपुरसे [illegible] मील है पर वयोवृद्ध सभापति महोदयको इतनी दूर तांगेपर ही जाना पड़ा । स्वागतकारिणीसमितिवालोंने मोटरतकका प्रबंध न कर दिया । ता० २ को दोपहर बाद [illegible] बजेसे सभाकी कार्रवाई शुरू हुई । शान्तिसागरजी व उनके साथी मुनिमहाराज भी एक तख्तेपर विराजमान थे । महासभा (?) के महामंत्री महोदयने रिपोर्ट सुनाकर स्वागतकारिणी कमेटीके सभापति [illegible] झूठालालजी रैणवालनिवासीसे स्वागत भाषण शुरू करनेकी प्रार्थना की । बेचारे झूठालालजी सभा सोसाइटीके

काममें क्या वाकिफ थे? लोगोंके सिखानेके अनुसार उन्होंने खड़े होकर इतना जरूर कह दिया कि मेरी तरफसे पण्डित कन्हैयालालजी किशनगढ़वाले भाषण पढ़कर सुनायेंगे। खैर, पण्डित कन्हैयालालजीके बोल चुकनेपर सभापति महोदय सेठ चिरंजीचन्दजीका नम्बर आया। भाषणकी छपी हुई किताब लेकर शुद्ध-अशुद्ध जैसा कुछ आप बोल सकते थे, थोड़ी देरतक बोले। बादमें आपने कहा कि अब बाकी भाषण शिवजीलालजी पद्मावती पोरवाल सुनायेंगे। खण्डेलवाल महासभा (!) के मञ्चपरसे एक अन्यजातीय सज्जनके व्याख्यान सुनानेका शायद यह पहिलाही मौका था। भाषण समाप्त होगया पर भाषणकी कापियाँ वितरण न कीगईं। कारण ऊपर बतायाही जाचुका है।

अब सब्जेक्टकमेटीका नम्बर आया। नाम चुनकर सुना दिये गये और यह स्थिर हुआ कि रातको कमेटी की जाय, क्योंकि ४ बज चुके थे। पर महासभाके बारेमें उसके सञ्चालकोंकी अपेक्षा भी शांतिसागरजी को अधिक चिन्ता थी। आपने कहा कि सब्जेक्ट कमेटीकी मीटिङ्ग इसी समय हमारे सामनेही होजाना चाहिये। लोगोंने बहुत कुछ कहा कि समय काफी आ गया है और लोगोंको भोजनादिसे निवृत्त होना है, अतः रातका ही टाइम रखना चाहिये, पर आचार्य महाराज (!) ने एक न मानी। आखिर उसी समय सब्जेक्टकमेटी किया जाना निश्चित हुआ। पर, सब्जेक्टकमेटी खुले रूपसे पण्डालमें हो नहीं सकती थी, अतः सभापतिके डेरेपर करना तै हुआ। सब लोग चले, मुनिलोगभी चले, पर न मालूम फिर क्या सोचकर सभापतिके डेरेके दरवाजे तक जाकर भी अन्दर न घुसे और चल दिये। सभापतिके डेरेपर सब लोगों के पहुँच जानेपर कार्रवाई शुरू हुई। कुछ प्रस्ताव पास होजानेपर लोहरसाजनोंके विषयमें चर्चा छिड़ पड़ी। महासभाके दूसरे अधिवेशनमें लोहरसाजन खण्डेलवालोंके सम्बन्धमें जाँचकर राय पेश करने के लिए ९ सज्जनोंकी एक कमेटी बनाई गई थी। इस कमेटीने ता० ३० अगस्त सन १९३२ को अपनी राय प्रकट कर दी थी। वह राय महासभाकी स्वीकृतिके लिए पेश हुई। कुछ लोगोंने इस रायका विरोध किया और कहा कि लोहरसाजन खण्डेलवाल अलग कैसे हुए इसका जबतक स्पष्ट और पूरा निर्णय न हो जाय तबतक इन लोगोंसे रोटी-व्यवहार (जो अभी तक चालू है) भी बन्द कर दिया जाय। इसपर सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया जौहरी जयपुर-निवासीने कहा कि इन लोगोंके साथ सब तरहका धार्मिक व रोटीव्यवहार आदि सामाजिक व्यवहार जो सदासे अबतक बड़साजन खण्डेलवालों का चला आ रहा है, वह बन्द नहीं करना चाहिए और ९ सज्जनोंकी कमेटीने जो राय दी है वह स्वीकार की जानी चाहिए। पर जहां स्वार्थियोंका बोलबाला हो वहां ऐसी बात कौन सुनता है? पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीने कहा कि लोहरसाजन और बड़साजन खण्डेलवालोंमें कोई खास भेदभाव नहीं है। सम्वत १८०७ में किसी अपरिचित जैन कुलस्त्री ?) ने (जिसने किसी धार्मिक उत्सवमें ग्यारह हजार मोहर देकर 'माला' पहिनी थी), कोई जीमण किया था। उसके यहां जो लोग जीम आये, उनसे बेटी-व्यवहार बंद होगया और वे लोहरसाजन खण्डेलवाल कहलाने लगे, और दूसरे लोग बड़साजन खण्डेलवाल। बाकी, लोहरसाजन भी शुद्ध बीसे खंडेलवाल भाई हैं। इसप्रकार दलील तकरीरमें ५॥ बज गये, तो ७॥ बजे पुनः कमेटी करना निश्चित कर लोग उठकर चले गये। पर जो लोग सभी अच्छे कार्योंका विरोध करते हैं उन्हें कब चैन पड़ती थी? कई लोग इधर उधर घूमकर इस बातका प्रबन्ध करने लगे कि लोहरसाजनोंके सम्बन्धमें ९ आदमियोंकी कमेटीकी रायके विरुद्ध प्रस्ताव पास होजाय।

रातको ८ बजे फिर सब्जेक्टकमेटीकी मीटिङ्ग शुरू हुई और प्रस्ताव पास होने लगे। कुल निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुये:—

(१) बंधुसहायकफंड, जो साधिकमें खोला गया था, चालू किया जाय।

(२) डाइरेक्टरी (जैनजातिकी गणना) विभागका काम चालू नहीं हुआ सो किया जाय। (देखो पृष्ठ २९)

वर्ष ८

अंक ८

फाल्गुण कृष्णा ६

वीर संवत् २४५९

ता० १६ फरवरी

सन १९३३ ई०

जैनजगत्

युवकों से !

मेरे प्यारे जैन युवक, तुम हो जग जीवन प्राण ॥
जैन जाति रखती है तुम पर हे वीरो ! अभिमान ।
हुआ आपसे ही जगका है जहाँ कहीं उत्थान ॥
दलित दशा अवनत समाज का हुआ तुम्हीं से त्राण ।
प्रबल शक्ति से किया आपने नवयुग निर्माण ॥
दृढ़ साहस कर्तव्य कर्म की हो तुम मूर्ति महान ।
गौरव, गर्वाभिमान, नवजीवन, दृढ़ प्रतिज्ञ मतिमान ॥
नव प्रतिभा नव शक्ति भरा है तुममें नव विज्ञान ।
इच्छित फलप्रदायक तुम हो युवको नव वरदान ॥
आह ! किन्तु क्या ! कहाँ गया वह शक्ति तेज अभिमान ।
अकर्मण्य, निश्चेष्ट अरे ! तुम सोते मृतक समान ॥
समझा तुमने विषय विलासों को है जीवन तान ।
किया समर्पित काम कामनाओं के कर में प्राण ॥
होते अत्याचार, स्वत्व छिनते, पाते अपमान ।
विगत केश जैन शासन के होता है मुख म्लान ॥
घृणित रूढ़ियों के प्रहार से व्याकुल होते प्राण ।
तड़प रहा है "सत्य जैन जीवन" होकर म्रियमाण ॥
आह ! तुम्हारे ही सम्मुख यह निष्ठुर कुटिल विधान ।
खड़े खड़े तुम देख रहे हो चित्रित मूर्ति समान ॥
खून खौलता नहीं न आते टेढ़ी भृकुटी तान ।
जोश न आता रग में खींच न उठते कर्म कृपाण ॥
सम्मुख आते नहीं अरे ! क्यों होने को बलिदान ।
युवको ! इतना पतन अरे क्या शेष न कुछ अरमान ॥
है समाज से घृणा तुम्हें, है देश, धर्म से ग्लानि ।
अपनी अपनी डपली है औ अपना अपना तान ॥
उठो ! आह ऐ ! एकबार अब उठो वीर प्रण ठान ।
ज्वालामुखी बनो भड़को, चमको विद्युत उन्मान ॥
बनकर जीवित क्रान्ति जाति पर दे दो अपनी जान ।
देखे जैन समाज तुम्हारा बल, विक्रम अभिमान ॥
करदो भस्म रूढ़ि दल हर दो चिर संचित अज्ञान ।
लो अपने दृढ़ हाथों द्वारा गत गौरव सम्मान ॥
देखे जग उज्ज्वल प्रभात में दिव्य जैन विज्ञान ।
हो युवकों के द्वारा फिर से राष्ट्र धर्म निर्माण ॥

—"वत्सल" विशारद ।

वरदान !

("सनातन जैन" से उद्धृत)

हमें प्रभु ऐसा दो वरदान

एकता की ध्वनि फैलावें। प्रेम-सुधा का स्रोत बहावें
क्रान्ति भाव की ज्योति जगावें, करें जाति-उत्थान ।

॥ हमें प्रभु० ॥

विधवा भाइयों को अपनावें, अधमों [illegible] निज गात लगावें
सेवा—धर्म स्वरूप दिखावें, यही [illegible]—सोपान ।

॥ हमें प्रभु० ॥

दीन दुखी के संकट टारें, विधवाओं के कष्ट निवारें
बाल अनाथों का उद्धार, दें चतुर्विध दान ।

॥ हमें प्रभु० ॥

जिनमत-ध्वज शिखर पर धरदें, धर्म ज्ञान जगत में करदें
युवकों के हृदयों में भरदें, "नाथ" [illegible] अभिमान ।

॥ हमें प्रभु० ॥

—"दरखशाँ"
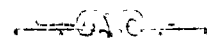
जैनधर्म का मर्म ।

(२१)

चौथा अध्याय ।

सम्यग्ज्ञान ।

सम्यग्ज्ञान शब्दका अर्थ है सच्चाज्ञान । अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार जानना सम्यग्ज्ञान * है । साधारण व्यवहारमें और वस्तुविचारमें सम्यग्ज्ञानकी यही परिभाषा है, परन्तु धर्मशास्त्रमें सम्यग्ज्ञानकी परिभाषा ऐसी नहीं है । व्यहारमें किसी वस्तुका अस्तित्व-नास्तित्व जाननेके लिये 'सम्यक्' और 'मिथ्या' शब्दोंका व्यवहार किया जाता है परन्तु धर्मशास्त्रमें कोई ज्ञान तबतक सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता जबतक वह हमारे सुखका कारण न हो । मैंने पहिले कहा है कि धर्म सुखके लिये है । इसलिये धर्मशास्त्रोंकी दृष्टिमें वही ज्ञान सच्चा ज्ञान कहलायगा जो हमारे कल्याणके लिये हो । यही कारण है कि धर्मशास्त्रमें सम्यग्दृष्टिका प्रत्येक ज्ञान सच्चा कहाजाता है और मिथ्यादृष्टिका प्रत्येक ज्ञान मिथ्या कहाजाता है । चतुर्थ गुणस्थानसे (जहाँसे जीव सम्यग्दृष्टि होता है) प्रत्येक ज्ञान सम्यक ज्ञान है । इसके पहिले मति और श्रुतज्ञान कुमति और कुश्रुत कहलाते हैं† । जहाँ सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनका मिश्रण रहता है वहाँ सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका भी मिश्रण * माना जाता है ।

सम्यग्दर्शनसे हमें वह दृष्टि प्राप्त होती है जिससे बाह्यदृष्टिमें जो ज्ञान मिथ्या है वहभी कल्याण का साधक होता है । एक आदमी सम्यग्दृष्टि है किन्तु आँखोंकी कमजोरीसे, प्रकाशकी कमीसे या दूर होनेसे रस्सीको सर्प समझलेता है तो व्यवहार में उसका ज्ञान असत्य होने पर भी धर्मशास्त्रकी दृष्टिमें वह सम्यग्ज्ञानीही है, क्योंकि इस असत्यता से उसके कल्याणमार्गमें कुछ बाधा नहीं आती ।

यह तो एक साधारण उदाहरण है; परन्तु इतिहास, पुराण, भूवृत्त स्वर्गनर्क, ज्योतिष, वैद्यक, भौतिक विज्ञान आदि अनेक विषयों पर यही बात कही जासकती है । इन विषयोंका सम्यग्दृष्टि को अगर सच्चाज्ञान है तो भी वह सम्यग्ज्ञानी है और मिथ्याज्ञान है तो भी वह सम्यग्ज्ञानी है ।

तात्पर्य यह है कि जिससे आत्मा सुखी हो अर्थात् जो सुखके सच्चे मार्गको बतलाने वाला है वही सम्यग्ज्ञान है । जिसने सुखके मार्गको अच्छी तरह जानलिया है अर्थात् पूर्णरूपमें अनुभव कर लिया है वही केवली या सर्वज्ञ कहलाता है । आत्मज्ञानकी परमप्रकर्षताभी इसीका नाम है । मैं जिस लेखनीसे लिख रहाहूँ उसमें कितने परमाणु हैं, प्रत्येक अक्षरके लिखनेमें उसके कितने परमाणु घुरते हैं, मैंने जो भोजन किया उसमें कितने परमाणु थे, और एक एक दाँतके नीचे कितने परमाणु आये आदि अनन्त कार्य जो जगत्में होरहे हैं उनके जा-

---

* अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विनाच विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेदय-दाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४२ ।

अर्थात् न्यूनता रहित अतिरिक्तता रहित और विपरीतता रहित जो वस्तु को जाने उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

† ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादन सम्यग्दृष्टिश्चास्ति आभिनिबोधिक श्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्टयादीनि..............। सर्वार्थसिद्धि १-८ ।

* मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।

—गोम्मटसार जीवकांड ॥३०२॥

ननेसे क्या लाभ है ? उसका आत्मज्ञानसे क्या सम्बन्ध है ?

किसी जैनेतर दार्शनिकने ठीकही कहा है :—

सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीट संख्या प रज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

सब पदार्थोंको देखे या न देखे परन्तु असली तत्त्व देखना चाहिये। कीड़ों मकोड़ोंकी संख्याकी गिनती हमारे किस कामकी ?

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे ॥

इसलिये कर्तव्यके ज्ञानका ही विचार करना उचित है दूरदर्शीका प्रमाण माननेसे तो गृद्धोंकी पूजा करना ठीक होगा।

ये श्लोक यद्यपि मजाकमें कहे गये हैं फिरभी इनमें जो सत्य है वह उपेक्षणीय नहीं है। जो ज्ञान आत्मोपयोगी है वही पारमार्थिक है, सत्य है। उसीकी परम प्रकर्षता केवलज्ञान या सर्वज्ञता है।

सर्वज्ञताकी परिभाषाके विषयमें आजकल बड़ा भ्रम फैला हुआ है। सम्भवतः भगवान् महावीरके समयसे या उसके कुछ पीछेसे ही यह भ्रम फैला हुआ है जोकि धीरेधीरे और बढ़ता गया है। जैनविद्वानों की मान्यताके अनुसार केवलज्ञानका अर्थ है— लोकालोकके सब द्रव्योंकी त्रैकालिक समस्त पर्यायों का युगपत् (एकसाथ) प्रत्यक्ष ज्ञान। यह अर्थ कैसे बनगया और यह कहांतक ठीक है, इस बातपर मैं कुछ विस्तृत और स्पष्ट विवेचन करना चाहता हूँ।

सबसे पहिले मैं सर्वज्ञताके इतिहास परही एक नजर डाललेता हूँ। लोगोने सर्वज्ञताकी कल्पना क्यों की ? और कब की ?

विकासवादके अनुसार, जब मनुष्य पाशव जीवनसे निकल कर सभ्यताका पाठ पढ़नेके लिये तैयार हुआ उस संक्रान्ति कालमें, और प्रचलित धर्मों की मान्यताके अनुसार जब स्वार्थके कारण भ्रष्ट हुआ और आपसमें लड़ने लगा तब कुछ लोगोंके हृदयमें यह विचार आया कि अगर हम स्वार्थवासना को पशुबलके साथ स्वच्छन्द फैलने देंगे तो मनुष्य सुखी न हो सकेगा। चोरोंके हृदयपर तो राजाका आतंक बैठाया जाता है, परन्तु जब राजा लोगही अत्याचार करने लगें तब उनके ऊपर किसी ऐसे आत्माका आतंक होना चाहिये जो अन्यायी न हो। इसी आवश्यकताका आविष्कार ईश्वरकी कल्पना है। परन्तु जिन लोगोंके हृदयपर ईश्वरका आतंक बैठाया गया उनके हृदयमें यह शंका तो होही सकती थी कि ईश्वर सर्वशक्तिशाली भलेही हो परन्तु जब ईश्वरको मालूम ही न होगा तब वह हमें दंड कैसे देगा ? इसलिये ईश्वरको सर्वज्ञ मानना पड़ा। एक बात और है कि जब एक दंडदाता ईश्वरकी कल्पना हुई तब उसे स्रष्टा और रक्षक भी मानना पड़ा। अन्यथा कोई कहसकता था कि उसे क्या अधिकार है कि वह किसीको दंड दे ? परन्तु ईश्वरको जगत्कर्ता माननेसे इनका और ऐसी अनेक शंकाओंका समाधान होगया। परन्तु ईश्वर जगत् बनावे, रक्षण करे और दंडदे; किन्तु ये कार्य सर्वज्ञ हुए बिना नहीं होसकते। इस प्रकार बलवान किन्तु उच्छृंखल लोगोंको मर्यादामें रखनेके लिये जगत्कर्ता ईश्वरकी कल्पना हुई और उसके जगत्कर्तृत्वके लिये सर्वज्ञताकी कल्पना हुई।

परन्तु कुछ सत्यके पुजारी ऐसेभी थे जो इस प्रकारकी झूठी कल्पनासे लोगोंको फँसाना उचित नहीं समझते थे। साथही ईश्वरके माननेमें ऐसी बाधाएँ थीं जिनका दूर होना असंभव था। अन्यायिओं को दंडका भय ये लोगभी दिखलाना चाहते थे परन्तु संसारमें जिस प्रकार अन्याय होरहे थे उन्हें देखते हुए किसी ईश्वरको मानना अन्धश्रद्धा

के सिवाय कुछ न था। प्राणी जो अनेक प्रकारके सुख दुःख भोगते हैं, उनका कोई अदृष्ट कारण अवश्य होना चाहिये, किन्तु वह ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि प्राणियोंको जो दुःखादि दंड मिलता है वह किसी न्यायाधीशकी दंडप्रणालीसे नहीं मिलता, किन्तु प्राकृतिक दंडप्रणालीसे मिलता है। अपथ्यभोजन जैसे धीरेधीरे मनुष्यको बीमार बना देता है उसी प्रकार प्राणियोंको पुण्य-पाप-फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार पुण्य-पाप-फल प्राकृतिक हैं। ऐसे विचार वाले लोगोंकी परम्परामें ही सांख्य, जैन, बौद्ध दर्शन हुए हैं।

इन लोगोंने जब ईश्वरको न माना तब ईश्वरवादियोंकी तरफसे इन लोगोंके ऊपर खूब आक्रमण हुए। उन लोगोंका कहना था कि जब तुम ईश्वरको नहीं मानते तो पुण्यपापका फल मिलता है—यह कैसे जानते हो ? क्या तुमने परलोक देखा है ? क्या तुम्हें प्राणियोंके कर्म दिखाई देते हैं ? क्या तुम्हें कर्मकी शक्तियोंका पता है ? इन सब प्रश्नोंका सीधा उत्तर तो यह था कि हमें विचार करनेसे इन बातोंका पता लगा है। परन्तु वह युग ऐसा था कि उस समयकी जनता सिर्फ विचारसे निर्णीत वस्तु पर विश्वास करनेको तैयार न थी। स्वरुचिविरचितत्व एक दोष माना जाताथा इसलिये अपनी बातको प्रमाण सिद्धकरनेके लिये अनीश्वरवादियोंने ईश्वरकी सर्वज्ञता मनुष्यमें ही स्थापित की। सर्वज्ञत्व आत्माका गुण माना जाने लगा। अब ईश्वरवादियोंके आक्षेपोंका समाधान अनीश्वरवादी अच्छी तरहसे करने लगे। इसके बाद अनीश्वरवादियोंने भी ईश्वरवादियोंसे वही प्रश्न कियेकि ईश्वर सर्वज्ञ है और जगत्कर्ता है यह बात तुमने कैसे जानी ? तुमभीतो ईश्वरको, उसके कार्यको, परलोकको, पुण्य पापको देख नहीं सकते। इस आक्षेपसे बचनेके लिये अनीश्वरवादियोंकी तरह ईश्वरवादियोंने (न्याय, वैशेषिक, योग) अपने योगियोंको सर्वज्ञ माना इस प्रकार ईश्वरकी सर्वज्ञता, अनीश्वरवादीयोगियोंमें और ईश्वरवादीयोगियोंमें बिम्बप्रतिबिम्ब रूपसे उतरतीगई। इसका कारण यह था कि सभी लोग अपने अपने दर्शनोंको पूर्ण सत्य साबित करना चाहते थे।

मीमांसक सम्प्रदायका पन्थ इन सबसे निराला है। उसे एक तरहसे अनीश्वरवादी कहना चाहिये। परंतु आस्तिक होने परभी उसने सर्वज्ञ मानना उचित न समझा। जिस भयसे लोग सर्वज्ञयोगियोंकी कल्पना करते थे उसभयको उसने वेदोंका सहारा लेकर दूर किया।

उसकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं, सत्यज्ञानके भंडार हैं। जो सम्पूर्ण वेदोंका जानने वाला है वही सर्वज्ञ है। अनंत पदार्थोंको जानने वाला सर्वज्ञ असम्भव है। इस चर्चाका निष्कर्ष यह निकला कि अपने अपने सिद्धान्तोंको पूर्णसत्य साबित करनेके लिये लोगोंने सर्वज्ञताकी कल्पना की है।

इस प्रकार सामान्य सर्वज्ञता स्वीकार करलेनेके बाद उसके विषयमें और भी अनेक प्रश्न हुए हैं। सर्वज्ञता अनादि अनन्त है, या सादि अनन्त है या सादि सान्त है ? इसी प्रकार एक और प्रश्न था कि सर्वज्ञता प्रतिसमय उपयोग रूप रहती है या लब्धिरूप ? इनसब प्रश्नोंके उत्तरभी जुदे जुदे दर्शनोंने जुदे जुदे रूपमें दिये हैं।

जो ईश्वरवादी हैं उनकी दृष्टिमें तो ईश्वर अनादिसे अनन्तकालतक जगत् विधाता है इसलिये उसकी सर्वज्ञता तो अनादि अनन्त होना चाहिये। परन्तु जो योगी लोग हैं उन्हें इतनी लम्बी सर्वज्ञता की क्या जरूरत है ? उनका कामतो सिर्फ इतना है कि जबतक वे जीवित रहें तबतक वे हमें सच्चा उपदेश दें। मृत्युके बाद उन्हें उपदेश देना नहीं है, इस

लिये उस समय वे सर्वज्ञताका क्या करेंगे ? इस लिये उनकी सर्वज्ञता मृत्युके बाद छीन लीजाती है। मृत्युके बादभी अगर वे सर्वज्ञ रहेंगे तो अनन्त कालतक रहेंगे, इसलिये ईश्वरके प्रतिद्वन्दी होजाँयगे। यह बात ईश्वरवादियोंको पसन्द नहीं है। असली बात तो यह है कि ईश्वरवादी किसी दूसरेका सर्वज्ञ होना पसन्द नहीं करते, परन्तु अगर सर्वज्ञयोगी न हों तो उनको सचाईका प्रमाण कैसे मिले इसके लिये थोड़े समयके लिए उनने सर्वज्ञयोगियोंको माना है, और काम निकलजाने पर उनकी सर्वज्ञता छीनली है। इस तरह इन लोगोंके मतमें ईश्वर अनादिअनन्त सर्वज्ञ और योगी सादि सान्त सर्वज्ञ हैं। यह मान्यता कणाद वैशेषिक) गौतम (न्याय) और पतञ्जलि (योगदर्शन) की है।

मैं पहिले कहचुका हूँ कि मीमांसक सम्प्रदाय ने वेदोंका सहारा लेकर आत्मरक्षाकी परन्तु वेदोंको अपौरुषेय साबित करना कठिन था। बिना अन्धश्रद्धाके वेदोंको अपौरुषेय नहीं माना जासकता था। इसलिये न्याय-वैशेषिक दर्शनोंने वेदोंको मानकरके भी उन्हें अपौरुषेय न माना, और सर्वज्ञयोगियों से उनने प्रमाणपत्र लिया। परन्तु मीमांसक सम्प्रदाय न्यायवैशेषिक से प्राचीन होनेसे वेदको अपौरुषेय माननेकी अन्धश्रद्धाको रख सका इसलिये उसे सर्वज्ञयोगियोंकी जरूरत नहीं रही।

परन्तु सांख्यदर्शनमें इन दोनों विचारोंका मिश्रण है। वह वेदको अपौरुषेयभी मानता है और सादिसान्त सर्वज्ञ योगियों को भी मानता है। हाँ, अनीश्वरवादी होने से अनादि अनन्त सर्वज्ञ नहीं मानता। मीमांसक सम्प्रदाय जिस प्रकार वेद के भरोसे रहता है उस प्रकार यह नहीं रहता। यह वेदको अपौरुषेय मानकर के भी सर्वज्ञ योगियों की कल्पना करके अपनेको मीमांसकोंकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित करलेता है। इन लोगोंको सर्वज्ञ माननेका एक कारण और है। प्रथम यह कि वेद को अपौरुषेय सिद्धकरना कठिन है। अगर करभी दिया जाय तो वास्तविक अर्थ कौन बतावे ? रागद्वेष अज्ञानसहित मनुष्यतो वास्तविक अर्थ बतला नहीं सकता क्योंकि ऐसे पुरुष आप्त नहीं होसकते। अगर अर्थ करनेवाला आप्त न हो तो उस पर कौन विश्वास करेगा ? मीमांसकोंकी इस कमजोरीसे भी सांख्य दर्शन बचगया है। और न्याय-वैशेषिक तो वेदको अपौरुषेय माननेकी अन्धश्रद्धा से भी बच गये हैं।

जब सर्वज्ञताकी कल्पना योगियोंमें भी की गई तब यह प्रश्न उठा कि योगीलोग सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर सरल था। प्रायः सभी आस्तिक दर्शन आत्माके साथ कर्म, प्रकृति, माया अदृष्ट आदि मानते हैं। बस, इसके बन्धन छूटजाने पर आत्मा सर्वज्ञ होजाता है।

परन्तु इसके साथ एक जबर्दस्त प्रश्न उठा कि यदि बन्धन छूटजाने से आत्मा सर्वज्ञ होजाता है तो ज्ञान आत्माका गुण कहलाया, इसलिये बन्धन छूटजाने पर उसे सदा प्रकाशमान रहना चाहिये। वह एक समय अमुक पदार्थको जाने और दूसरे समय दूसरे पदार्थको जाने, यह कैसे होसकता है ? बन्धनमुक्त आत्माका ज्ञान तो सदा एकसा होगा। वह कभी इसे जाने, कभी उसे जाने, यह कैसे होगा ? इसप्रकारके उपयोग बदलनेका कोई कारण तो होना चाहिये ? जो कारण होगा वही बन्धन कहलायगा। इसलिये बन्धनमुक्त आत्मा या तो असर्वज्ञ होगा या प्रतिसमय उपयोगात्मक सर्वज्ञ होगा।

इस प्रश्नने दार्शनिकों को फिर चिन्तातुर किया। सांख्यदर्शन तो इस प्रश्नसे सहजहीमें बचगया। उसने कहा कि पदार्थोंको जानना यह आत्माका गुण नहीं है। वह तो जड़प्रकृतिका विकार है। बिलकुल बन्धनमुक्त होनेपर तो आत्मा ज्ञाताही नहीं रहता।

परन्तु जो लोग ज्ञान या बुद्धिको आत्माका गुण मानते थे उनको ज़रा विशेष चिन्ता हुई। न्याय-वैशेषिक यद्यपि मोक्षमें ज्ञानादि गुणोंका नाश मानते हैं इसलिये मुक्तात्माओंके विषयमें उन्हें कुछ चिन्ता नहीं हुई। न्यायवैशेषिकका मुक्तात्मा सांख्योंके मुक्तात्मासे कुछ विशेष अन्तर नहीं रखता। परन्तु मुक्त होनेके पहिले ज्ञान तो आत्मामें रहताही है। उस अवस्थामें जो योगी सर्वज्ञ होगा वह कैसा होगा? सर्वदा उपयोग रूप या कभी कभी उपयोग रूप? त्रिकालत्रिलोकवर्ती पदार्थोंका सर्वदा युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाले योगीकी कल्पना तो एक अटपटी कल्पना है। क्योंकि ऐसा योगी किसीकी बात क्यों सुनेगा? किसीसे वह प्रश्न क्यों पूछेगा? और उसका उत्तर क्यों देगा? क्योंकि उसका उपयोग तो त्रिकाल त्रिलोकमें विस्तीर्ण है, वह किसी एक जगह कैसे आसकता है? साम्हने बैठे हुए मनुष्यकी जैसे वह बात सुनरहा है उसी तरह वह अनंत कालके अनंत मनुष्यों अनंत तिर्यञ्चों अनंत देवों और अनन्त नारकियोंके शब्द सुनरहा है। अब किसकी बातका उत्तर दे? अमुक मनुष्य वर्तमान है, इसलिये उसकी बातका उत्तर देना चाहिये और बाक़ीका नहीं देना चाहिये—इस प्रकारका विचार भी उसमें नहीं आ-सकता क्योंकि इस विचारके समान अनन्तकालके अनन्तविचार भी उसी समय उनके ज्ञानमें झलक-रहे हैं। तब वे किसके अनुसार काम करें? इतनाही नहीं, किन्तु किस विचारके अनुसार काम करें यह भी एक विचार है जोकि अन्य अनन्त विचारोंके समान झलकरहा है। इसप्रकार सार्वकालिक सर्वज्ञ माननेमें योगी लोग उपदेश भी नहीं देसकते। इस-प्रकार जिस बातके लिये सर्वज्ञ योगियोंकी कल्पना कीगई थी उसीको आघात होने लगा। दूसरी तरफ़ अगर इसप्रकारके योगी नहीं मानते तो उपयोगके बदलनेका कारण क्या? इस तरह दोनोंही तरहसे आपत्ति है।

इस आपत्तिसे बचनेके लिए न्यायवैशेषिकोंने योगियोंकी दो श्रेणियाँ मानलीं। एक युक्त दूसरी युञ्जान। जो त्रैकालिक पदार्थोंका सर्वदा प्रत्यक्ष करनेवाले योगी हैं उनको युक्तयोगी कहते हैं, और जो चिन्तापूर्वक किसी बातको जानते हैं वे युञ्जान* कहलाते हैं। परन्तु जैनदर्शनने इस विषयमें क्या किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है और इसीपर यहाँ विचार किया जाता है।

ऐसा मालूम होता है कि जैनलोग भी एक समय सर्वदा उपयोगात्मक प्रत्यक्षवाले (युक्तयोगी) सर्वज्ञको नहीं मानते थे। परन्तु पीछे उपयोग-परिवर्तनका ठीक ठीक कारण न मिलनेसे समाधानके लिये इनने भी युक्तयोगी माने। परन्तु युक्तयोगी माननेमें वार्तालाप उपदेश आदिभी नहीं होसकता था इसलिये इनने उपयोगके दो भेद किये—एक दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग। और इन दोनों उपयोगोंको स्वभावसे परिवर्तनशील माना। परन्तु इन उपयोगोंके क्षणिक परिवर्तनसे भी समस्या पूरी न हुई, बल्कि गुत्थी और उलझगई। इससमय दो उपयोगोंकी मान्यता तो मिट नहीं सकती थी इस-लिये दोनों उपयोगोंको एक साथ माननेका सिद्धान्त चला। परन्तु एक आत्मामें दो उपयोग एक साथ हो नहीं सकते इसलिये सिद्धसेन दिवाकरने दोनों उपयोगोंको फिर एक कर दिया। गुत्थीको सुलझाने के लिये ज्यों ज्यों कोशिश होती गई त्यों त्यों वह और उलझती गई।

इस गुत्थीको सुलझानेके लिये दर्शन और ज्ञान की परिभाषाही बदलदी गई। उनके भेदोंकी भी

*योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्त युञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥६५॥

परिभाषा बदलदी गई (जैसे अचक्षुदर्शनकी परिभाषा सिद्धसेनने बदलदी है)। इतनाही नहीं किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक चरित्रोंपरभी इसचर्चा का बड़ा विकट प्रभाव पड़ा। उदाहरणके लिये दिगम्बरोंका महावीर चरित्र देखिये।

दिगम्बर सम्प्रदायमें महावीर-जीवन नहींके बराबर मिलता है। इसके अनेक कारण हैं, परन्तु मुख्यकारण सर्वज्ञताकी चर्चाकी गुत्थियाँ हैं, जो सुलझ नहीं सकी हैं। मैं पहिले कह चुका हूँ कि युक्तयोगी मानने में कोई बातचीत, प्रश्नोत्तर आदि नहीं कर सकता। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तो पुराना सूत्रसाहित्य माना जाता था और उसमें महावीरका जीवन था जिसे वे हटा नहीं सकते थे। दूसरी बात यह कि इनमें क्रमवाद प्रचलित था इसलिये महावीर जीवनके वे भाग-जिनमें महावीर बातचीत करते हैं प्रश्नोत्तर करते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं, आदि बने हुए हैं। परन्तु दिगम्बरोंने सूत्रसाहित्य छोड़ दिया। इसलिये सूत्रसाहित्यमें जो महावीरचरित्र था उस की उनको पर्वाह न रही और इधर वे केवलदर्शन-ज्ञानका क्रमवाद नहीं मानते थे इसलिये उपयोग परिवर्तनकी बिलकुल सम्भावना न थी। इन सब आपत्तियोंसे बचनेके लिये महावीरजीवनके वे सब भाग-जिनमें महावीर किसीसे बातचीत करते हैं— सब उड़गये। श्वेताम्बरसाहित्यमें धर्मका परिचय महावीर-गौतमके संवादरूपमें है जब कि दिगम्बर साहित्यमें गौतम और श्रेणिकके संवादरूप है। इसका कारण यह है कि महावीर सर्वज्ञ थे, वे प्रति समय त्रिकालत्रिलोककी वस्तुओंका साक्षात्प्रत्यक्ष करते थे इसलिये किसी एक बातकी तरफ उपयोग कैसे लगासकते थे। यही कारण है कि दिगम्बरोंमें गोशाल जमालि आदिकाभी उल्लेख नहीं मिलता।

आरम्भमें तो सिर्फ इतनीही कल्पना की गई कि महावीर वार्तालाप, शङ्कासमाधान, या शास्त्रार्थ नहीं कर सकते। वे सिर्फ व्याख्यान दे सकते हैं, क्योंकि व्याख्यान देनेमें किसी दूसरे आदमीके शब्दों पर ध्यान नहीं देना पड़ता। परन्तु इतना सुधार करने परभी समस्या ज्योंकी त्यों खड़ी रही, क्योंकि व्याख्यानमें भी किसी खास विषयपर तो ध्यान लगाना ही पड़ता है। युक्तयोगीमें यह उपयोगभेद कैसे हो सकता है?

इस आपत्तिके डरसे व्याख्यान देनेकी बातभी उड़गई। उसके बदलेमें अनक्षरीदिव्यध्वनिका आविष्कार हुआ, जो मेघगर्जनाके समान थी। परन्तु इस मेघगर्जनाको समझेगा कौन? तो इसके दो उत्तर दिये गये। पहिला यह कि भगवानके अतिशयसे वह सब जीवोंको अपनी अपनी भाषामें सुनाई पड़ती है। जबतक कानमें नहीं आई तबतक निरक्षरी है और जब कानमें पहुँची तब साक्षरी अर्थात् सर्वभाषामयी होगई। दूसरा उत्तर यह कि उस भाषाको गणधरदेव समझते हैं और वे सबको उपदेश देते हैं। इस दूसरे उत्तरने महावीरचरित्रमें एक और विशेष बात पैदा कर दी।

श्वेताम्बरोंके अनुसार भगवान महावीरने केवलज्ञान पैदा होनेपर प्रथम उपदेश दिया, परन्तु वह सफल न हुआ अर्थात् उन्हें एकभी श्रावक न मिला। परन्तु दिगम्बर कहते हैं कि कोई गणधर न होनेसे भगवान् ६६ दिन तक मौन रहे; क्योंकि उनकी दिव्यध्वनि का अर्थ लोगोंको समझावे कौन? केवलज्ञानी तो किसीके साथ बातचीत कर नहीं सकता या प्रश्नोत्तर कर नहीं सकता। अन्तमें बेचारे इन्द्रको चिन्ता हुई। वह किसी प्रकार गौतमको वहाँ लाया। मानस्तंभ देखतेही इन्द्रभूतिका मान गल गया; बिना किसी बातचीतके गौतम गणधर हो गये, आपसे आप उन्हें चार ज्ञान पैदा होगये। तब दिव्यध्वनि खिरी, आदि। और।

अब दूसरी तरफ देखिये। एक प्रश्न यह उठा कि बिना इच्छा और विशेष उपयोगके भगवान् ओष्ठ जीभ तालु आदि कैसे चलायगें? तो कहागया कि भगवान् मुँहसे नहीं बोलते किन्तु सर्वाङ्गसे वाणी खिरती है। श्रोताओंके पुण्यके द्वारा उनके सर्वांगमेंसे मृदंगकी तरह आवाज निकलती है। फिर शंका हुई कि भगवान् बिना किसी विशेष उपयोगके खास जगह जाँयगे कैसे? तो उत्तर मिला कि वे तो पद्मासन लगाये आपसे आप उड़ते जाते हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञताकी कल्पनाने इतना गोरख-धंधा मचादिया है कि जिसमेंसे निकलना असंभव होगया है। अंतमें जान बचानेके लिये अंधश्रद्धापूर्ण अतिशयोंकी कल्पना करके किसी तरहसे संतोष किया गया है। कुछका परिचय मैं दूसरे अध्यायमें दे चुका हूँ। कुछकी आलोचना आगे करूँगा। यहाँ तो सिर्फ रेखाचित्र दिया गया है।

अन्यायको रोककर मनुष्यको सुखी बनानेके लिये सदाचार धर्मकी सृष्टि हुई। इन नियमोंका पालन करानेके लिये जगन्नियन्ता ईश्वर कल्पित किया गया। उसके जगन्नियन्तृत्वके लिये सर्वज्ञता आई। जिनने ईश्वर नहीं माना उनने विश्वकी समस्या सुलझानेका तथा सदाचार आदिके स्थिर रखनेका स्वतन्त्र प्रयत्न किया किन्तु उसकी प्रामाणिकताके लिये सर्वज्ञयोगियोंकी कल्पनाकी। इस तरह ईश्वरकी सर्वज्ञताका प्रतिबिम्ब अनीश्वरवादी योगियों पर पड़ा। परन्तु ईश्वर अगम्य होनेसे ईश्वरवादियोंको भी सर्वज्ञयोगी मानना पड़े। इस प्रकार अनीश्वरवादी योगियोंका प्रतिबिम्ब ईश्वर-वादी योगियों पर पड़ा। परन्तु सर्वज्ञवाद पर जब अनेक तरहके आक्षेप हुए तब सर्वज्ञताके अनेक भेद होगये और अन्तमें घोर अन्धश्रद्धामें उसकी समाप्ति हुई। जो चित्र प्रारम्भसे ही बिगड़जाता है उसे स्याही पोतपोतकर सुधारनेसे वह औरभी बिगड़ता है। उसी प्रकार इस सर्वज्ञताके प्रश्नकी दुर्दशा हुई। यदि प्रारम्भसे यह प्रयत्न किया गया होता कि कल्याणमार्गके ज्ञानके लिये इतने लम्बे चौड़े सर्वज्ञकी आवश्यकता नहीं है, तो मनुष्यका बहुत कल्याण हुआ होता। परन्तु दूरभूतमें मनुष्य समाज इतना अविकसित था कि वह इस विवेकपूर्ण तर्कको सह नहीं सकता था। और जब इस तर्कको सहनेकी शक्ति आई तब मनुष्य उन पुराने संस्कारोंमें इतना रँग गया था कि वह नये विचारोंका अपमान नहीं चाहता था। वह विद्वान होकरके भी अपनी विद्वत्ताका उपयोग पुरानी बातोंके समर्थनमें करता था। ऐसा करनेसे साधारण जन समाज भी उसे अपनाता था। इस प्रलोभनको न जीत सकनेके कारण, बड़े बड़े विद्वानभी पुराने क़ानूनोंके अनुसार वकालत करते रहे परन्तु सच्चे क़ानूनोंकी रचना न कर सके।

जैनधर्म सरीखा तार्किक धर्मभी :अंतमें इसी झमेलेमें पड़गया। भगवान पार्श्वनाथके बाद भगवान महावीरने इसे बहुत कुछ सुधारा परन्तु पीछे इसे सुधारना तो दूर रहा परन्तु बिगाड़ना शुरू होगया।

खैर, ये सब बातें तो फिर कहूँगा। यहाँतो सर्वज्ञताके विषयमें ही चर्चा करना है। यद्यपि जैनशास्त्रोंने वास्तविक सर्वज्ञताके प्रश्नको झमेलेमें डालदिया है और अनेक मिथ्या कल्पनाएँ करके सत्यको बहुत नीचे दबा दिया है, फिरभी दिगम्बर श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इस विषयमें इतनी अधिक सामग्री है कि वास्तविक सत्य ढूँढ़ निकालना कठिन होनेपरभी असंभव नहीं है। यहाँतो मैंने सर्वज्ञताके इतिहासका रेखाचित्र दिया है, जिससे पाठकोंको अगली बात समझनेमें सुभीता हो।

विरोधी मित्रोंसे ।

(९)

आक्षेप (२४)—आजीवक सम्प्रदाय प्राचीन जैनधर्मसे निकला था । बौद्ध ग्रंथ कहते हैं कि एक उपक आजीवक अनन्त जिनकी उपासना करता था । आजीविकों में कोई अनन्त जिन नहीं है । इससे मालूम होता है कि वह चौदहवें तीर्थंकर अनन्त नाथकी उपासना करता था ।

समाधान — आजीवक सम्प्रदायके संस्थापक मंखलि गोसाल थे जो महावीरकी छद्मस्थ अवस्थामें उनके साथ रहे थे । किन्तु मतभेद होजानेसे उनने अपना स्वतंत्र धर्म स्थापन किया । जिससमय महावीरने अपना धर्म प्रचार किया उस समय गोसाल छः वर्षसे अपने धर्मका प्रचार करचुके थे । इस तरह महावीरके जैनधर्मसे गोसालका आजीवक धर्म छः वर्ष पुराना ठहरता है । किन्तु गोसालने करीब छः वर्ष साथ रहकर महावीरसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की थी इसलिये उसे जैनधर्मकी शाखा कह सकते हैं । इसके सिवाय पार्श्वनाथके जैनधर्मसे आजीवक सम्प्रदायका कुछ सम्बन्ध था या वह किसी अन्य तीर्थंकरके जैनधर्मकी शाखा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । खैर असली बात 'अनन्त जिन' शब्द पर है । यहाँ भी आपने अपनेही टाइपकी भूल की है । आप 'जिन' शब्दसे निर्ग्रंथ जिन समझ गये हैं । परन्तु जिन, बुद्ध और अर्हन् ये तीनों शब्द जैनधर्म में जैन तीर्थंकरके लिये, बौद्धधर्ममें बौद्ध तीर्थंकरके लिये और आजीविकादिमें अपने अपने तीर्थंकरोंके लिए प्रसिद्ध हैं । और ये प्रयोग एक दो जगह नहीं किन्तु सैकड़ों जगह हुए हैं । इस प्रकार उस समय की प्रत्येक श्रमणपरंपरा अपने तीर्थंकरको जिन कहती थी । बौद्ध साहित्यमें जितनी जगह बुद्धको बुद्ध कहागया है, करीब उतनी जगह उन्हें जिन और अर्हन् कहा गया है । इसी प्रकार जैन साहित्यमें जिनको भी बुद्ध कहा गया है ।

विकारों पर विजय प्राप्तकरनेवालेको जिन कहते हैं । जिनकी मात्रा होती है । जैसे जैनधर्ममें चतुर्थगुणस्थानमें भी जिन कहा जाता है, किन्तु पूर्णजिन या अनन्त जिन तेरहवें गुणस्थानमें माना जाता है । उसी प्रकार दूसरे सम्प्रदायमें भी पूर्णविजयीको अनन्त जिन कहते हैं । 'अनन्त जिन' यह नाम नहीं है किन्तु जिनत्वकी पूर्णताका पद है । और, उपक आजीवकने जहां अनन्तजिन शब्द का जिकर किया है उस प्रकरण कोभी देखलीजिये । यह महावग्गके विनय पिटकमें है ।

बुद्ध जब बुद्धत्व प्राप्त करके बनारसकी तरफ जारहे थे तब रास्तेमें उपक आजीवकने उन्हें देखा और बुद्धसे पूछा—'तेरा गुरु कौन है ?' बुद्ध बोले—मैं सबको जीतने वाला सबको जानने वाला स्वयं ज्ञान कर उपदेश करूंगा । मेरा कोई आचार्य नहीं, मेरे समान कोई नहीं, मैं अर्हन् हूं, शास्ता हूं, सम्यक संबुद्ध हूं, ... धर्मचक्र घुमानेके लिये काशीको जारहा हूं ।

उपक बोला—आयुष्मन , तू जैसा दावा करता है उससे तो तू "अनन्त जिन" होसकता है ।

बुद्ध बोले—मेरे समान प्राणीही जिन कहलाते हैं जिनके आश्रव नष्ट होगये हैं । मैंने पापोंको जीता है इसलिये जिन हूं ।

उपक — "अच्छा भाई ! होगा तू जिन ।" ऐसा कहकर वह लापर्वाहीसे सिर हिलाकर चलागया ।

इस वार्तालापमें 'अनन्त जिन" यह शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है । वह एक पदका वाचक है । जिससे किसी तीर्थङ्करकी सिद्धि नहीं होती ।
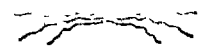
सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

सर्वज्ञता की चर्चा।

मैंने अपनी लेखमालामें जब सर्वज्ञत्वके वास्तविक स्वरूपका संकेत किया तब कुछ लोग इकदम घबरा उठे। कुछने विरोध भी किया। अनेक आक्षेपोंका उत्तर देनेपर भी मैंने अभीतक इस विषयपर उपेक्षा रक्खी थी क्योंकि इस विषयको चतुर्थ अध्यायमें स्पष्ट करने वाला था। वह चर्चा इस अङ्कसे चालू होगई है। इस चर्चाके कमसे कम चार लेखांक होंगे। इसकी तरफ हम पाठकोंका, खासकर विद्वानोंका तथा विरोधी मित्रोंका ध्यान विशेषरूप में आकर्षित करदेते हैं। जैनशास्त्र और युक्तिवाद, सर्वज्ञत्वके विषयमें क्या प्रकाश डालते हैं इस विषयमें विद्वानों के लिये भी बहुतसा मसाला है। कोई मेरे विचारों से सहमत हो या न हो परन्तु उसे यह मानना पड़ेगा कि मेरे ये विचार उतावली के नहीं हैं, उच्छृंखलता के नहीं हैं, परन्तु इन विचारोंके निर्णयके लिये वर्षोंतक यथाशक्ति चिन्तन किया गया है। वह सारी सामग्री मैं पाठकों के सामने रखदेना चाहता हूं।

ज्ञान पूजा।

शास्त्रको विराजमान करके उसके सामने माथा रगड़ देना या अर्घ चढ़ा देना ज्ञानपूजा नहीं है। ज्ञानको प्राप्त करना और उसका प्रचार करना ही सच्ची ज्ञानपूजा है। ज्ञानपूजाके लिये समाजने अनेक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की हैं, परन्तु इनसे तो पूजाकी योग्यता प्राप्त होती है—पूजाका काम तो बाकी ही रहजाता है। ज्ञानपूजाके क्षेत्रमें हमलोगोंसे वे लोग कोसों आगे हैं जिन्हें हमारे धुरंधर पंडित म्लेच्छ कहदिया करते हैं। न्यूयार्क में एक ग्रन्थभंडारका मकान साढ़ेतीनकरोड़ रुपयोंका है, जिसमें तेरहलाख अच्छे ग्रंथ हैं; जिसका खर्च बीसलाख रुपया सालाना है। बोस्टनमें भी एक ऐसा ग्रंथालय है जिसका वार्षिक खर्च बारह लाख रुपया सालाना है। छोटे पुस्तकालय तो हजारों हैं।

कहा जा सकता है कि अमेरिका श्रीमान् देश है इसलिये वहाँ ऐसे पुस्तकालय हैं। यह बात ठीक है परन्तु इसमें आंशिक सत्य है। अपने यहाँ विवाहशादियोंमें मरण आदिमें जैसी फिज़ूलखर्ची होती है अगर उसका उपयोग ज्ञान पूजाके लिये किया जाय तो अमेरिका बराबर न सही परन्तु अपने अनुरूप ज्ञानपूजा कर सकते हैं। खेद यह है कि हममें स्वाध्यायप्रेम बिलकुल नहीं है। हमारे यहाँ मंदिरमें जाकर शास्त्रजीके पन्ने खोलकर ही स्वाध्याय किया जाता है। स्वाध्यायका जो विशाल और जीवित-क्षेत्र है उसे हम स्वाध्यायही नहीं समझते। हमारे यहाँ दो चार सरस्वतीभवन हैं परन्तु उनका उपयोग नहीं होपाता। एकतो उनका प्रबन्ध रंग ढंग आदि इतना खराब है कि कोई उसका उपयोग ही नहीं करसकता। दूसरे जिज्ञासा नहीं है। सबसे बड़ी शिकायत तो उन पंडितोंसे है जिनके ऊपर ज्ञानकी पूजाका भार है। जिन पंडितोंको आजीविका की सुविधा नहीं है उनको अगर छोड़ दिया जाय तोभी ऐसे बहुतसे पंडित हैं जो ज्ञानकी पूजाके लिये एक पैसा भी खर्च करना नहीं चाहते। वे चाहें तो सालमें पचीस पचास रुपया सहजमें खर्च करसकते हैं। पाठशालामें जो पुस्तक पढ़ानी पड़ती है उसके सिवाय ये और कुछ नहीं पढ़ते। फल इसका यह होता है कि ये विद्वान अत्यन्त संकुचित रहजाते हैं और इससे समाजकोभी ये संकुचित बनायेरखते हैं।

जबसे मैंने जैनजगत्का सम्पादन अपने हाथमें लिया है तबसे इसमें बहुत शास्त्रीय बातें ऐसी रहती हैं जो विद्वानोंके लिये अवश्य ही विचारणीय हैं। जो पंडित दंभी और स्वार्थी हैं, वे ऊपरसे भलेही इसका बहिष्कार करें, परन्तु अधिकांश विद्वान् ऐसे नहीं हैं। वे जैनजगत् पढ़ना चाहते हैं परन्तु सिर्फ इसलिये नहीं पढ़ते कि उनके यहाँ कोई ऐसा आदमी जैनजगत् नहीं मँगाता जिससे मँगाकर वे जैनजगत् पढ़ सकें। यह कैसी कंगाल मनोवृत्ति है! जैनजगत्का तो मैंने सिर्फ उदाहरण दिया है, परन्तु ज्ञानवृद्धिके लिये ये महानुभाव चार पैसेकी पुस्तक भी खरीदते हों सो भी नहीं है। जनताको ये ज्ञान का उपदेश दें, परन्तु खुद ज्ञानवृद्धिके लिये (धार्मिकदृष्टिसे नहीं तो योग्यता बढ़ानेकी स्वार्थकी दृष्टिसे) चार पैसे भी खर्च न करें यह कितनी लज्जाकी बात है! माणिकचंद

ग्रंथमाला सस्ता संस्कृतसाहित्य निकालती है परन्तु उस की पुस्तकें संस्कृतज्ञ जैन पंडित बहुत कम खरीदते हैं। वे श्रद्धालु लोगोंके द्वारा भंडारोंमें विराजमान होती हैं। प्रत्येक पंडित कमसे कम अगर एक रुपया मासिक खर्च करे तो उसके लिये यह भारी न होगा। इसप्रकार साल में वह १२) खर्च करके १२००) सेभी अधिककी योग्यता बढ़ायगा। ये विद्वान् जितने योग्य और उदार होंगे समाज भी उतनी ही योग्य और उदार बनेगी। अगर हम ज्ञान पूजामें पाश्चात्योंका पूरा अनुकरण न करसकें तोभी इतना तो करना चाहिये जिससे हमारे लिये शर्मकी बात तो न रहे।

स्थानकवासी—साधु सम्मेलन।

श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज संगठनके मार्गमें ठीक ठीक प्रगति कररहा है। इस सम्प्रदायमें करीब दोहज़ार साधु और साध्वियाँ होंगी जोकि ३२ गच्छोंमें विभक्त हैं। इन सब गच्छोंमें कोई मतभेद नहीं है लेकिन अपने अपने पक्षका अभिमान अवश्य है। कई बहुसंख्यक गच्छोंमें यह अभिमान मात्रासे भी कुछ अधिक है, इसलिये वर्षोंसे एक साधुसम्मेलनके लिये चर्चा चलरही थी। अनेक कठिन प्रयत्नोंके बाद साधुसम्मेलन होना निश्चित हुआ। परन्तु इसके पहिले समाजमें तदनुकूल वातावरणकी आवश्यकता थी। इसके लिये यह निर्णय किया गया कि पहिले प्रान्तिक साधुसम्मेलन हों। तदनुसार राजकोट, पाली, इन्दौर, ब्यावर आदि अनेक स्थानोंपर प्रान्तिक सम्मेलन हुए और वे सफल हुए। आर्यिकाओंका भी एक सम्मेलन हुआ। इसप्रकार अच्छी भूमिका तैयार होगई है। अब चैत्रशुक्ला १० को अजमेरमें यह बृहत्साधुसम्मेलन होनेवाला है। ऐसा साधुसम्मेलन पिछले हज़ार वर्षसे जैनसमाजमें नहीं हुआ। साधुसम्मेलनके बाद ही अजमेरमें स्थानकवासी जैनकान्फ्रेन्सका अधिवेशन होगा। इस प्रकार चतुर्विधसंघ मिलकर जैनसमाजको पुनरुज्जीवित करनेकी कोशिश करेगा। तैयारियाँ खूब होरही हैं। हम चाहते हैं कि इस सम्मेलनमें गच्छभेदकी कट्टर दीवाल नष्ट होजाय और इनकी संख्याभी आधीसे कम होजाय, तथा सच्चे जैनत्वके प्रचारके लिये कुछ भूमिका तैयार हो।

मुनिनिन्दकता क्या है ?

जिससमय शांतिसागरजी सदलबल उत्तरप्रान्तकी तरफ़ चले उससमय उत्तरप्रान्तवासियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी। परन्तु ज्यों ही ये आगे बढ़े अपनी करतूतोंसे जैनसमाजको और जैनसाधुसंस्थाको लजाने लगे। तंबुओंमें रहना, पयार ओढ़ना, झूठी प्रशंसाओंका और अतिशयों का प्रचार करना, लोगोंका घोर अपमान करना, दंभ और ढोंगोंका प्रचार करना, आदि बातें सुनकर हम कुछ चौंकते हुए। जब शिखरजीमें जाकर इनकी सब लीलाएँ आँखों देखीं तब हमारा मन बहुत खट्टा होगया। उस समय हमें स्वर्गीय दरयावसिंहजी सोधियाके ये शब्द याद आये कि "एक दिन इन तुमड़या बाबोंसे समाजका नाकों दम आजायगा"। उन नाकोंदम करनेवालोंमें शांतिसागरजी हमें पहिले नम्बर दिखाई दिये। इसके बाद इनकी दम्भशीलता और अशान्तिसागरताका जो भयंकर प्रदर्शन हुआ उससे जगतके पाठक परिचित हैं। परन्तु कुछ स्वार्थी पंडितोंने सुधारकोंके आक्रमणसे बचनेके लिये इनका सहारा लिया। इसप्रकार इस पंडितदल और मुनिदल का गठजोड़ा हुआ और इनने सचमुचमें समाजका नाकों दम कर दिया। बस, जैनजगत्को यह असह्य हुआ। वह अपनी हिम्मतके बलपर अकेला भिड़ पड़ा और ऐसा भिड़ा कि इन दलोंको उसने बाहरसे ही नहीं, किन्तु भीतरसे भी नंगा कर दिया।

प्रारम्भमें जब शांतिसागरजीको पंडितदलने अपनाया तब कई निरक्षर भट्टोंके मुँहमें पानी आगया। उनने सोचा कि मुनि बननेके समान कोई दूसरा धंधा अच्छा नहीं है। बस, मुन्नालाल सरीखे अनेक धूर्त, मुनीन्द्रसागर बनकर भ्रष्टाचार फैलाने लगे और ऐसा नंगा नाच किया कि जिसे देखकर निर्लज्जताकोभी लज्जा आने लगे।

जैनजगतने इन सबसे मोरचा लिया। उससमय इन लोगोंने हमें मुनिनिन्दक कहा। परन्तु जब मैंने 'मुनि क्या है? मुनिनिन्दा क्या है—किसी व्यक्तिविशेषकी निन्दा क्या मुनिनिन्दा कही जासकती है?' आदि शास्त्रीय विवेचन किया तब इन शास्त्रियोंको इतनी हिम्मत न हुई कि शास्त्रोंसे सामना करें। ये आँख मूँदकर मुनिवेषियोंको

मुनि कहते रहे और समाजको समझाते रहे कि मुनि कैसा भी हो परन्तु जो उसकी निन्दा करता है वह मुनिनिन्दक है, घोर पापी है, बहिष्कार के योग्य है। कुछ भोले भाई भी उनकी बातोंमें आते रहे। फल यह हुआ कि इनके मुनि खूब दुराचारी उच्छृङ्खल होगये। इसका फल यह हुआ कि एक तरहसे इन दोनोंके गठजोड़ने पंडितदलकी और मुनिदलकी लुटियाही डुबादी।

अभीतक ये दोनोंदल हमें मुनिनिन्दक कहते रहे हैं, परन्तु यह कौन जानता था कि इन दोनोंको भी मुनिनिंदा के पापसे पवित्र होना पड़ेगा? और इन लोगोंके 'मुनिनिंदा' शब्दका क्या भीतरी अर्थ है, इसका पोल खुल जायगी?

कोपरगाँवमें लाण बाँटने के विषयमें कुछ झगड़ा हुआ। किसी मृतक आदमी के उद्देशसे जो जातिवालों को कुछ बर्तन वगैरह दिये जाते है, वह लाण कहलाती है। यह श्राद्धका एक रूपान्तर मात्र है। रूपान्तरमें पात्रका परिवर्तन हुआ है परन्तु उस मिथ्यात्व भावका त्याग नहीं हुआ है, जिसके त्यागका जैनधर्म उपदेश देता है। यह स्पष्ट ही मिथ्यात्व है। इसकी चर्चा स्थानाभावसे यहाँ नहीं कीजाती है।

खैर, कुछ पंडितोंने श्रीमानोंको खुश करने के लिये और अपने परमपुरुषार्थ पेटके पोषण के लिये इसे समर्थित कहा। वहाँ मुनिजयसागरजी थे। उन्हें यह मिथ्यात्व बुरा लगा और इसके ठीकठीक निर्णय होनेके लिये उन्होंने उपवास ठान लिये। जयसागरजीको मैं जानता नहीं हूं, इसलिये वे कैसे है, यह मैं नहीं कहसकता। परन्तु पंडितदल के विरोध में बोल सके, और दृढ़ता से मनकी बात कह सके, इससे वे साहसी मालूम होते है। खैर।

अब देखिये पंडितों की करतूत! जो लोग अभी तक हमें मुनिनिन्दक कहते थे और समाजको सिखाया करते थे कि मुनि कैसे भी हों परन्तु अपनसे तो अच्छे हैं, वे आज जयसागरजीकी निन्दा करने पर उतारू होगये है। जैनगज़ट के प्रकाशकजी जयसागरजीको साधारण मुनि तो क्या किन्तु टूटे फूटे मुनिभी नहीं मानते। क्यों? क्योंकि उनके विचार कुछ सुधारकों से मिलते हैं। अब पाठकों की समझमें आजायगा कि पंडितदल की और महासभा कहलानेवाली मंडली के मुखपत्रकी दृष्टिमें मुनित्व की परिभाषा क्या है? जो पंडितोंकी हाँ में हाँ मिलावे वह कितना भी मूर्ख, दुराचारी, दंभी, अशान्तिकर, धूर्त आदि हो, वह मुनि है, आचार्य है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ आदि, सब कुछ है! परन्तु जो इनकी हाँ में हाँ न मिलावे वह कैसा भी हो, भ्रष्ट है, टूटे फूटेमेंभी गया बीता है। मुनीन्द्रसागर के अगणित भ्रष्टाचार की कथाएँ समाजमें खूब प्रसिद्ध हो चुकी है परन्तु इसदल ने उसे कभी टूटा फूटा भी नहीं कहा। परन्तु अगर मुनीन्द्रसागर का आचार सोटंचसुवर्ण के समान शुद्ध होता, किन्तु वह पंडितदल की हाँ में हाँ न मिलाता तो कुछ भी न रहता।

सुधारकों ने मुनिवेषियों का भंडाफोड़ किया है परन्तु 'उनके विचार सुधारक नहीं है' —इस दृष्टिसे उनने कुछ नहीं कहा। परन्तु पंडितदल ने अपनी इस छुपी नीतिका नंगा करदिया है या परिस्थिति ने उनसे अपना ही भंडाफोड़ करालिया है।

अब समाजको समझ लेना चाहिये कि अगर पंडितदल किसीको मुनि, आचार्य, सदाचारी आदि कहे तो इससे कोई मुनि, आचार्य, सदाचारी आदि न समझले किन्तु सिर्फ इतना ही समझे कि वह पंडितदलकी हाँ में हाँ मिलानेवाला है। इसीप्रकार अगर पंडितदल किसीको मुनिनिन्दक कहे तो समाजको समझना चाहिये कि वह (मुनिनिंदक कहा जाने वाला) किसी ऐसे आदमी की आलोचना कररहा है जो वास्तव में है तो भ्रष्ट, किन्तु पंडितोंकी हाँ में हाँ मिलाता है। इसीप्रकार अगर पंडितदल किसीको टूटा फूटा मुनिभी न कहे तो समझना चाहिये कि वह मुनि होगा तो ठीक, परन्तु पंडितों की हाँ में हाँ न मिलाता होगा। मुनिनिंदक आदि शब्दों के अर्थ में जो लोग अभी तक भ्रममें है, उन्हें गज़ट के प्रकाशक की कृपा से उनके ठीक अर्थ ध्यानमें रखलेना चाहिये।

परिषद् और महासभा।

जिस समय महासभाके प्राणस्वरूप कुछ महानुभावों ने महासभा की मूर्खतापूर्ण नीतिसे तंग आकर महासभा

को तलाक़ दिया तथा परिषद्की स्थापना की, उससमय जवानी के जोशमें अंधी महासभा ने लापर्वाही से हँस दिया; परन्तु वह हँसी उसकी अंतिम हँसी थी, और वह दिन उसकी जवानी का अंतिम दिन था ।

उसका सौभाग्य छिनगया, परन्तु उसने अपनी भूलको न समझा । वह खिसयानी बुढ़िया की तरह अंड बंड बकने लगी । फल यह हुआ कि किसी भले आदमी को उसके पास खड़ा रहना भी रुचिकर न रहा । पुरानी कमाईके बलपर वह अपनी गुज़र अभीतक करती रही है परन्तु इन वर्षोंमें उसने क्या खोया है, यह पूछनेकी अपेक्षा यही पूछना उचित है कि उसने क्या नहीं खोया ?

परिषद्को जन्मसे ही महासभाके साथ लड़ना पड़ा । वह जमकर लड़ी भी । अंतमें उसने महासभाको पछाड़कर छोड़ा । वह बुढ़िया, यह बालिका । इन दोनों अवस्थाओंमें प्राणी निर्बल होता है इसलिये लड़ते लड़ते दोनों ही थकगई, दोनोंही निर्जीवसी होगई । परन्तु बुढ़ापे की थकावट वापिस नहीं लौटती जबकि बाल्य और युवा अवस्थाकी थकावट क्षणिक होती है । महासभा और परिषद् के विषयमें भी यही हुआ है । रोहतक अधिवेशन में हम परिषद् को ताज़गीके साथ काम करते देखते हैं और सहारनपुर अधिवेशनमें तो वह शानके साथ दिखलाई देती है । उसके लिये—सिर्फ़ उसके लिये—सैकड़ों मीलकी यात्रा करके मान्य सज्जन आते हैं जबकि महा सभा किस कुलियामें गुड़फोड़ रही है यह किसीको मालूम नहीं होता । परिषद्ने शक्रसभामें अप्सराकी तरह अपनी अदा बतलाई है जबकि महासभा ग्राम्यवेश्या की तरह बुंदेलखण्ड के किसी ग्राम्य मेलेमें अपने पोपले मुँह की अदा बताने जाती है । इसलिये इन दोनोंमें एक विशेषता यह है कि परिषद्के यहाँ लोग आते हैं और महासभा लोगोंके यहाँ जाती है ।

परन्तु समाजकी आवश्यकता दोनोंही पूरी नहीं कर पातीं । महासभा मुरझाना फूल है; परिषद् कली । पहिले को कुछ आशा नहीं है; द्वितीयको आशा है, अगर निमित्त मिले तो ।

एकबात और । एक ग्रामीण वेश्या है, दूसरी अप्सरा परन्तु दोनों ही लोगोंको रिझाती हैं । लोगोंपर शासन करनेके लिये सम्राज्ञीका स्थान अभी ख़ाली पड़ा है । पहिली उस स्थानको पा नहीं सकती; दूसरीको आशा है ।

समाज के गुलाम ।

दिगम्बर जैन समाजके पंडित कितकेभी संकुचित हों परन्तु आख़िर वे हैं तो पण्डित, इसलिये थोड़ी बहुत समझ रखतेही हैं । वे सुधारकी बातोंको समझते हैं और जिसविद्वानके जितने कुसंस्कार क्षीण होते हैं उसमें उतनी निष्पक्ष विचारशीलता जाग्रत होती है, वह उतनाही सुधारक होता है । साधारण लोग इतने समझदार नहीं होते इसलिये वे सच्ची, किन्तु उनकी दृष्टिमें नयी, बात सुनकर कुछ चौंकते हैं । इस समय अगर कोई स्वार्थी, जनताको फँसानेवाला न मिले तो जनताकी विचारशीलता भी जाग्रत होजाय । परन्तु समाजकी इस कमज़ोरीसे लाभ उठानेका प्रलोभन सभी नहीं जीतपाते । कुछ लोग जनताकी हाँ में हाँ मिलाते हैं । जनता यह तो चाहती ही है कि कोई उसका समर्थक मिले । इसलिये वह अपनी हाँ में हाँ मिलाने वाले गुलामोंको अपनाती है । बाक़ी सब पंडितों पर इसका बहुत बुरा असर पड़ता है । उनके विचार कुछ भी हों, परन्तु इतनी बाततो स्पष्ट है कि विचारों से पेट नहीं भरता । पेटके लिये और जनता से सन्मान पानेके लिये जनताकी इच्छानुसार ही चलना पड़ता है । इसप्रकार विद्वानोंकी आत्मा बहुतही सस्ते दामोंमें बिका करती है ।

यह प्रतियोगिता खूब बढ़ रही है । कुछ पण्डित ऐसे हैं जो पैसाधर्मका अच्छी तरह पालन करते हैं । वे यह तत्त्व समझ गये है कि लोगोंको खुश करके पैसे ऐंठना इस धर्मकी कुंजी है । जो लोग उनके इसमार्गमें आड़े आते हैं उनकी वे खूब निंदा करते हैं । विद्वत्तासे साम्हना करना एक बात है; परन्तु इनसे यह नहीं होता, न होसकता है । तब ये निन्दा करनेके सिवाय और क्या कर सकते हैं ?

आजसे दस वर्ष पहिले किसीको सुधारक कहना भी गाली था । परन्तु पीछे सुधारक शब्द गौरवकी चीज़ होगया । बादमें विधवाविवाहके पक्षपाती, छूताछूत मिटानेवाले आदि अनेक गालियाँ बनीं, परन्तु इनका स-

इसत्र भी शीघ्र नष्ट होगया। ये लोग जिन विद्वानोंको साफ़ शब्दोंमें ऐसे विशेषण नहीं लगा सकते उनपर एक नये ढंगसे आक्रमण किया जाता है। वह अमुकके विचारों का खंडन नहीं करता, वह अमुकका भाई है, अमुकका शिष्य है! बस, ऐसे आरोपोंसे समाजके दृष्टिकोपका शिकार बनानेकी कोशिशकी जाती है।

कोपरगाँवमें पं० मुन्नालालजी समगौरयाने लाण बाँटनेका विरोध किया। गज़टके प्रकाशकको और कुछ न मिला तो लिखाः—

"पं० मुन्नालालजी की हमसे मुलाक़ात हुई थी और हमने उनसे पूछा था कि पंडित दरबारीलालजीके विचारों का खंडन क्यों नहीं कर? मुन्नालालजीने कहा—दरबारीलालजी मेरे गुरु हैं, उनके विरुद्ध लेखनी नहीं उठाऊँगा"।

मुन्नालालजीको समाजके दृष्टिकोपका शिकार बनानेके लिये गज़ट—प्रकाशककी यह असफल और कायरतापूर्ण कुचेष्टा है। मेरा शिष्य होजानेसे, कोई मेरे विचारोंका पोषक है, यह नहीं कहा जासकता। मुन्नालालजी मोरेना विद्यालयके प्रचारक रहे हैं, जैन गज़टके ख़ास लेखक रहे हैं, तब भी तो मेरे शिष्य थे। तब आपको यह बात क्यों नहीं खटकती थी? दर्जनों पंडित मेरे शिष्य हैं, परन्तु उनमें कट्टर सुधारकसे लेकर कट्टर स्थितिपालक तक सभी श्रेणियोंके हैं। मेरा शिष्य होनेसे ही सुधारक नहीं हो जाता। सुधारक तो सिर्फ़ वही होजाता है जिसमें निर्भयता और विवेकबुद्धि होती है।

मुन्नालालजीने अगर मेरा खंडन नहीं किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? और भी दर्जनों पंडित हैं जो मेरे शिष्य नहीं हैं; उनमेंसे कितनों ने मेरा खण्डन किया है? आप मुन्नालालजी पर आक्षेप करते हो परन्तु आपने ही मेरा कितना खण्डन किया है? आपके मित्रोंने और भाइयोंने मेरा कितना खंडन किया है? जैनजगत्में मैंने शास्त्रीय चर्चाएँ भी इतनी अधिक लिखी हैं कि एक सच्चा विरोधी विद्वान या तो उनसे सहमत होजाय या उसे खंडन किये बिना चैन न पड़े। परन्तु आप लोग बराबर कानमें तेल डाले पड़े हो मानो कुछ सुनही न पड़ता हो। केवल गाल बजानेसे मेरा खंडन नहीं होजाता; इसके लिये कुछ दम चाहिये।

जो लोग खुद मुँह छुपाते फिरते हैं और दूसरोंसे कहते हैं कि—तुम साम्हना क्यों नहीं करते! उनकी वीरता का फोटो प्रदर्शनीमें रखने लायक़ होगा।

अन्तमें मैं समाजसे कहना चाहता हूँ कि कौनका किससे क्या सम्बन्ध है इसबात पर विचार न करके यही देखो, कि कौन क्या कहता है और उसके कहनेकी आवश्यकता क्या है? इसके अतिरिक्त एक बात और कह देना चाहता हूँ कि अगर तुम विद्वानोंके मुँहसे अपने हित की बात सुनना चाहते हो उन्हें निर्भयता और स्वतन्त्रतासे बोलनेका अवसर दो। समाजके गुलामोंसे सावधान रहो। वे गुलामी कर सकते हैं; परन्तु सच्ची सलाह देकर तुम्हारी सेवा नहीं कर सकते।
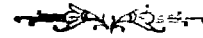
विविध विषय।

(लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

केरलकी कराल अस्पृश्यता।

यों तो भारतवर्षके तमाम प्रान्तोंमें अस्पृश्यताका पाप फैला हुआ है, परन्तु केरल, आन्ध्र और मद्रासप्रांतों में इसने बहुतही विकराल रूप धारणकर रक्खा है जिसे देख सुनकर मनुष्यता काँप उठती है। त्रावणकोरकी राजधानी ट्रिचूरके के० एन० नाम्बुद्रीपादने अपने एक पत्रमें अछूतसेवकमंडलके अध्यक्ष श्री अमृतलाल ठक्करको लिखा है—

"केरल प्रान्तमें सुतार (बढ़ई), कड़िया, लुहार, सुनार, तीया (ढेड़), एझुआ, वाला, कनाकान, चेरुमा अथवा पुलाया, पराया और नायाडी आदि जातियाँ अस्पृश्य समझी जाती हैं। इन जातियोंको ब्राह्मणोंसे बोलने, उन्हें छूने, उनकी नज़रमें पड़ने, शहरमें आने, जूते पहिनने आदिकी मनाही है।

"सुनारको यदि वह औज़ार लिये हो तो ब्राह्मणसे २४ फुट दूर रहना पड़ता है और यदि औज़ार न हों तो ३६ फुट।

"पुलाया, कनाकान अथवा बटुआ जातिके लोगोंको ६४ फुट, पराया जातिके लोगोंको ९६ फुट और नायाड़ी जातिके लोगोंको १६४ फुटका अन्तर अपने और ब्राह्मण के बीच रखना पड़ता है।

"नित्यकर्म करते हुए ब्राह्मणकी नज़र यदि संयोगसे उक्त जातियोंमेंसे किसीके ऊपर पड़ जाय, तो उसे तुरंत नित्यकर्म छोड़कर हाथ पाँव और मुँह धोना पड़ता है।

"नायाड़ीको गाँवमें आनेकी मनाही है। उसे देखना भयंकर पाप समझा जाता है। जो ब्राह्मण उसे देखलेता है उसे सिरसे स्नान करना पड़ता है।

"गाँवके किसी हिस्सेमें शूद्र जूते नहीं पहिनसकता। भीख माँगनेके लिये उसे किसी ऊँचे टीले अथवा खेतमें खड़े होकर ज़ोरसे चिल्लाना पड़ता है।"

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको इतनी घृणा करे, इतना अपवित्र समझे, यह इसी पुण्यभूमि (?) कहलानेवाले भारतवर्षमें सम्भव होसकता है। अछूतताको बड़े गौरव की चीज़ समझनेवाले जैनसमाजके पंडितोंसे हम पूछते हैं कि क्या वे केरलकी उक्त अस्पृश्यताको भी शास्त्रानुमोदित और ठीक समझते हैं?

महात्मा बुद्धदेव और जातिभेद।

इच्छानङ्गल नामके उपवनमें भगवान् बुद्ध ठहरे थे। वसिष्ठ और भारद्वाज नामक दो जिज्ञासु उनके पास इस विषयका समाधान करनेके लिये आये कि ब्राह्मण कर्मसे होता है अथवा जन्मसे। भगवान् बुद्धने कहा—

"वृक्ष, तृण इत्यादि वनस्पतियोंमें और उसीप्रकार कीड़े-मकोड़े आदि छोटेसे छोटे जीवधारियोंमें भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखाई देती हैं। श्वापद, जलजीव एवं पक्षियोंमें भी जुदा-जुदा जातें मालूम होती हैं। अलग अलग जातियों के चिन्ह सब जातोंमें अलग अलग दीखते हैं परन्तु मनुष्योंमें ऐसा कोई चिन्ह नहीं दीखता। बाल, कान, आँख, मुँह, नाक, ओंठ, भौंहें, सिर, पेट, पीठ, हाथ, पैर इत्यादि सभी अवयवोंमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे भिन्न नहीं होसकता। इसलिये मनुष्यमें जातिभेद निश्चित करना सम्भव नहीं है। परन्तु कर्मसे मनुष्यकी जाति निश्चित करना सम्भव है। अगर कोई ब्राह्मण गायका पालन करके जीविका चलाता हो तो उसे ग्वालाही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं। इसीप्रकार शिल्पीको कारीगर, व्यापारीको बनियाँ, राष्ट्रपर स्वामित्व करनेवालेको राजा कहा जायगा। केवल जन्म लेनेसे इन सबको ब्राह्मण नहीं कहा जासकता।"

"सर्व संसार–बन्धनसे मुक्त, परोपकारी और क्षमा जिसका बल हो, उसीको मैं ब्राह्मण कहता हूँ। वह इस लोकके विषय–सुखसे, कमल-पत्र पर पानीके समान अलिप्त रहता है।" (प्रतापसे)

जाति-पाँतिसे ही देशकी दुर्दशा हुई।

अब लोग इस दृष्टिसे विचार करने लगे हैं कि भारतवर्षमें जो हज़ारों जातियाँ हैं और तीन बाम्हन तेरह ऑर्गाठियाँज़ लती हैं, इन्होंने दरअसल इस देशका कल्याण किया है, या इसे पराधीनताकी जंजीरसे जकड़नेमें सहायता दी है। पंजाबमें एक 'जाति-पाँति तोड़क मंडल' नामकी संस्था है। लाहौरमें ता० २६ जनवरीको उसका अधिवेशन हुआ था, जिसमें उसके सभापति सर हरीसिंहजीने अपने व्याख्यानमें इस विषयपर विचार किया है। जगत्के पाठकोंकी जानकारीके लिए उसका सार नीचे दिया जाता है। उन्होंने कहा—

"मैं जातिका संकुचित अर्थ नहीं लगाता। हममेंसे सबसे महान् तथा एक उच्च आत्माने दो हज़ार छः सौवर्ष पहिले जातिभेद, ऊँचनीचके विचारको मिटानेका अनवरत परिश्रम किया था। वह सारे आर्यावर्तको अपने विचार का बना सका था। जबतक बौद्धधर्म भारतका धर्म था तब तक उसमें ऊँच नीचका विचार नहीं था। देशमें उस समय एकता एवं स्वतंत्रता थी। तभी बाहरी आक्रमणकारी उन दिनों हारकर लौटजाते थे। १२ सौ वर्ष तक भारत स्वतन्त्र रहा तथा अशोकका साम्राज्य अराकानसे लेकर हिन्दुकुशपर्वत तक था। वह साम्राज्य ब्रिटिशसाम्राज्यसे भी बहुत बड़ा था। परन्तु जब ऊँचनीचका विचार होने लगा, तभीसे हमारे देशमें फूट होगई तथा देशका अधःपतन हो गया। अबभी भारतमें वही लोग रहते हैं। अबभी यहाँकी जलवायु वैसी ही है। उनकी संख्या अब

पहिलेसे भी बढ़गई है। फिरभी वे लोग संसारके सभी देशोंकी अपेक्षा कमज़ोर हैं। ऐसी दशामें हमारे सामाजिक जीवनमें अवश्यही कोई बहुत बड़ी खराबी होगी।

"ज़रा ध्यान देनेसे पता लगजायगा कि हमारी दुर्दशा और हमारी राजनैतिक गुलामीका कारण क्या है। भारत अब भी वैसाही बना हुआ है। सामाजिक जीवनको छोड़ कर और कुछ नहीं बदला। सामाजिक जीवनमें अब कोई एकता नहीं रही। उसका जीवन नष्ट होगया है। भाई भाईके साथ लड़ता है तथा उसे धोखा देता है। हमारा चरित्र जिसका हमारे पूर्वजोंको गर्व था, अब नष्ट होगया है। हमारा जीवन अब कुत्ते, बिल्लियोंकी भाँति होगया है।

"हम अपनी बुराइयोंको नहीं देख सकते। हमारे सामाजिक जीवनमें जाति-पाँतिने बहुत खराबी पैदा कर दी है। इससे राष्ट्रमें फूट होगई है। हमलोग पशुओंसे भी गये बीते हैं। जंगलमें रहनेवाले पशुओंपर भी जब कोई विपत्ति आती है तब वे सब मिलकर उसका सामना करते हैं। परन्तु हम लोगोंमें तो ज़राभी एकता नहीं रही। आपमेंसे बहुतेरे व्यक्ति यह कहेंगे कि एक समय ऐसाभी था जब जाति-भेद सामाजिक रक्षाके लिये बहुत आवश्यक था। यदि ऐसा है तो मैं चार जातियोंको स्वीकार कर सकता हूँ। परन्तु आज कल तो हिन्दू समाजमें ३,५०० जातियाँ हैं। इसपर भी सैकड़ों उपजातियाँ भी हैं। हमारा सामाजिक जीवन केवल कमज़ोरही नहीं होगया वरन वह एक प्रकारसे घृणास्पद होगया है।

"हमारी बहुतसी सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक बुराइयाँ जातिभेदसे ही उत्पन्न हुई हैं। इससमय हमें मिलकर समाजसे इस रोग को दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए।"
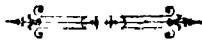
सूचना।

मैंने एक 'नित्यप्रार्थना' नामकी कविता लिखी है जिसकी १५०० प्रतियाँ विना मूल्य वितरण करनेके लिए छपाई गई हैं। बिना मूल्य वितरण करनेके लिये कोई उसे छपा सकते हैं—केवल २५ प्रतियाँ मेरे पास भिजवादी जावें। बिक्रीके लिये छपानेवालोंको—चाहे वे उसे अलग छपावें या किसी संग्रहमें—मुफ्त से लिखित इजाज़त लेकर छपाना चाहिये। इसके खिलाफ़ कार्यवाही करनेवाले दोषी समझे जावेंगे।

—ज्योतिप्रसाद जैन, देवबंद (सहारनपुर)
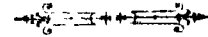
जातिभेदकी वैज्ञानिक नींव।

(लेखक—श्रीयुत बाबू हेमचन्द्रजी मोदी बम्बई।)

पाठकों को यह मालूम होगा कि घोड़े और गधेके संयोगसे खच्चर नामक नये जानवरकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार जानवरोंकी एक नूतन जाति ही बन गई है।

सप्टेम्बरके मेंचेस्टर गार्डियन नामक सुप्रसिद्ध पत्रमें नेटाल म्यूजियमके संचालक डॉक्टर अर्नेस्ट वारेन लिखते हैं कि वेस्टमिनिस्टरके मि० आर० ई० हेल्मने, जो कि आजकल आरेञ्जफ्रीस्टेटमें हैं, एक और भी नूतन जानवर की उत्पत्ति की है। अफ्रीका की एक गाय और उसी देशके एक बड़े आकारके कदावर हिरन (Bull eland) के संयोगसे इस नूतन जानवरकी उत्पत्ति हुई है। ये दोनों जानवर शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे अत्यन्त भिन्न होते हैं। नूतन जानवर पुल्लिङ्गयुक्त है। उसका आकार बछड़े से मिलता जुलता है परन्तु कान अत्यन्त छोटे और नुकीले हैं, अंग पतले और कोमल हैं, गलेमें वजनदार थन हैं।

इसीप्रकार पोमेरिया देशके कुत्ते और लोमड़ी के संयोगसे जो संतान हुई उसका संयोग एक भेड़िये से कराया गया जिसकी जो संतानें जीवित हैं। सिंह और बाघ की मिश्रित संतानें तो एक तरहसे साधारण हैं। इन सब बातोंसे प्राणिशास्त्रियोंमें काफी हलचल मच गई है, क्योंकि प्राणिशास्त्रके ग्रन्थोंमें अबतक शरीरशास्त्रके आधारपर जो जानवरोंकी विभिन्न जातियोंके नामकरणकी विधि प्रचलित थी वह बिलकुल गलत सिद्ध हुई है। यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है कि दरअसलमें जाति नामकी कोई चीज नहीं है। जातिनाम समानता शब्दका ही पर्यायवाची है। कोई दो या अधिक जानवर शरीरादिकी दृष्टिसे समान होनेपर वे एक जातिके कहलाते हैं। किसी भी एक या अनेक जानवरोंको आदर्श मानकर एक जातिकी स्थापना करना असंभव है। ऐसा डा० वारेनसाहब फर्माते हैं।

भूस्तर और भूगर्भशास्त्र तथा इतिहास हमें बताता है कि आजसे शताब्दियों पहले जानवरों की जिन जातियोंका अस्तित्व था उनका अस्तित्व अब नहीं है तथा जानवरोंकी सैकड़ों नई जातियाँ ऐसी पैदा होगई हैं, जिनका अस्तित्व पहले नहीं था। सिवाय इसके, एक जानवरकी ही अनेक जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं। बर्फीले प्रदेशों में भी मनुष्यकी काली जातियाँ पाई गई हैं। इस सबका रहस्य क्या है?

इन सब शंकाओंका उत्तर डार्विनसाहबके विकासवादके सिद्धान्तमें एक कड़ी और जोड़ देनेसे मिल जाता है। यह कड़ी यही वर्णसंकरता ही है। सृष्टिकी उत्पत्ति और विकासकी शृंखलामें यह कड़ी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और प्रकृतिका सबसे बड़ा हथियार है।

जो जानवरोंके सम्बन्धमें सत्य है वही मनुष्यके सम्बन्धमें भी सत्य है। यह बात निश्चित है कि मनुष्य भी अपने पूर्वयुगके किन्हीं दो प्राणियों का संकर है और उन प्राणियोंका अस्तित्व संभवतः अब नहीं रहा है। देशकाल आदिके परिवर्तनसे जानवरोंकी अनेक जातियोंका अस्तित्व असंभव हो गया है और होता जारहा है। ऐसी जातियां अपनी संकर सन्तानोंको जो देशकाल आदिके विशेष अनुरूप होती हैं, छोड़कर अदृश्य हो जाती हैं। लाखों वर्ष पूर्व कार्बोनीफेरस (Carboniferous) युगके राक्षसी आकारके जानवरोंका, जिनका ज्ञान चूने की चट्टानोंमें मिलने वाले उनके अस्थिपिंजरोंसे

होता है, अब क्या हुआ ? साइबेरियाकी हिमराशि में दबे हुए मिलनेवाले हाडमांसयुक्त मृतदेहवाले वर्तमान हाथियोंके महान् पूर्वजोंका अब पता भी नहीं है। महाभारत और पुराणोंके राक्षस भी अब अदृश्य हो गये हैं।

मनुष्य बुद्धिमान जानवर है। बदलते हुए देश कालको भी न बदलने देने की उसमें सामर्थ्य है तथा वह देशकालके अनुसार स्वयं भी परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि उसका अस्तित्व बहुत ही प्राचीनकालसे अपेक्षाकृत अधिक अपरिवर्तित रूपमें चला आता है। उसने अपने अस्तित्व को क़ायम रखनेके लिए निम्नलिखित नियमों के अनुसार काम किया:—

(१) अपनी कन्या या अपने कुलकी लड़की अथवा लड़केका सम्बन्ध बल, बुद्धि, विद्या, आदि में श्रेष्ठ लड़के या लड़कीसे करके। विजित जातियो ने विजेताओंसे सम्बन्ध करके समानता या श्रेष्ठता का सम्पादन किया। हरेक पुरुष या स्त्री सन्तानोत्पादन के लिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ स्त्री या पुरुषकी इच्छा करती है। हमेशासे रूप, यौवन और शौर्य आकर्षण के प्रधान केन्द्र रहे हैं। सभ्यताके विकासके साथ विद्या, बुद्धि और धन रूप, यौवन और शौर्यका स्थान लेते जारहे हैं।

(२) समाजकी रक्षाके लिये उपयोगी कार्योंका बटवारा करके प्रत्येक प्रकारके कार्यको पृथक पृथक समूह या संघोंके सुपुर्द करके। भारतवर्षमें इस नियमके अनुसार संघोंकी रचना अत्यन्त प्राचीन कालमें हुई थी। यूरोप आदि देशोंमें वैसी रचना अब हो रही है। वहाँ मजूरसंघ, पूँजीवादीसंघ, शस्त्रजीवीसंघ, विद्याजीवीसंघ आदि अनेक संघों की स्थापना इसी बातका सूचन है। अभी इन संघों की रचना अधिक दृढ़ भित्तिपर नहीं होने पाई है, इस कारण इनमें परस्पर वैमनस्य और संघर्ष चलता रहता है। भारतवर्षमें भी जब चातुर्वर्ण्य संघकी भित्ति दृढ़ नहीं होने पाई थी तब ऐसे संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक चले थे। परशुरामकृत क्षत्रियमदमर्दन आदिकी पौराणिक कथाएँ उसी युगकी परिचायक हैं।

भारतवर्षमें जब तक उक्त दो नियमोंके अनुसार कार्य होता रहा तब तक वह सुखमें, समृद्धिमें और सभ्यतामें सर्वश्रेष्ठ रहा और बराबर उन्नतिके पथपर आरूढ़ रहा। वर्तमान युरोपीय समाजोंकी उन्नति का कारण भी जान अनजानमें उक्त नियमोंका पालन ही है। स्त्री-पुरुषके चुनावमें वहाँ जाति आदि अप्राकृतिक भेदोंकी कोई रुकावट नहीं है। यदि चुनावमें कोई ग़लती हो जाती है तो वह सुधारी भी जासकती है। चातुर्वर्ण्यसंघनियमका पालन वहाँ प्राकृतिक रूपसे हो हुआ करता है।

भारतवर्षकी अवनतिका प्रधान कारण यहाँकी चातुर्वर्ण्यव्यवस्थामें सुभीता या सगवडपंथका कीट या बैक्टीरिया लगजाना है जो कि इसे घुनकी तरह पोला किये देता है। सुभीतेके लिहाजसे स्त्री-पुरुषका चुनाव अपने आसपासके, जानपहिचानके समानसंघके लोगोंसे ही होने लगा और धीरे धीरे इसने एक नियम, एक क़ानून, एक व्यवस्था, एक बेड़ी, एक बंधन, एक जंजीरका रूप धारण कर लिया। इसीप्रकार समाजकी सुव्यवस्थाके लिये स्थापित संघोंने जातियोंका रूप धारण कर लिया तथा जानवरोंमें बकरी और शेर जिस प्रकार विभिन्न जातिके प्राणी माने जाते थे उसीप्रकार विभिन्न संघोंके सदस्य भी विभिन्न जातिके माने जाने लगे। इसका परिणाम जो हुआ है और हो रहा है, उसे हम विज्ञान-रूपी दूरबीन और खुर्दबीनसे भलीभाँति देख सकते हैं। हमारा देश हीनवीर्य और नस्लसे पतित हो रहा है। जब देश स्वातंत्र्य युद्धके लिये योद्धाओंकी चाह करता है तब हम अपनेको कायर पाते हैं। नेता बननेको सभी तैयार हैं, पर सिपाही कोई नहीं है।

हम अपने देशके गायबैलोंकी नस्ल सुधारनेके लिये विदेशोंसे साँड लाते हैं और गायें लाते हैं परंतु अपने संघ या जातिकी शरीरसम्पत्ति सुधारनेके लिये पठानोंसे सम्बन्ध करनेको तैयार नहीं हैं। ओजस्विता प्राप्त करनेके लिये बङ्गालियोंसे सम्बन्ध करनेको तैयार नहीं हैं, कार्यपटुता और व्यवस्थाशक्ति प्राप्त करनेके लिए गुजरातियोंसे सम्बन्ध करनेको तैयार नहीं हैं, चालबाज़ी और नीतिज्ञता प्राप्त करनेके लिये दक्षिणियोंसे सम्बन्ध करनेको तैयार नहीं हैं। ब्राह्मणका काम कोरी पण्डिताईसे नहीं चल सकता, क्षत्रियका काम केवल बहादुरीसे नहीं चल सकता, वैश्योंका काम केवल व्याजके रुपये खानेसे नहीं चल सकता और शूद्रोंका काम केवल चाकरीसे नहीं चल सकता। हीनाधिक परिमाणमें सभी गुणोंकी सभी वर्णोंको आवश्यकता है। वर्णोंकी रचना किन्हीं एकान्त गुणों परसे नहीं हुई थी, परन्तु किसी गुणकी विशेषतासे हुई थी। इस कारण अल्पाधिक परिमाणमें सभी गुणोंकी प्राप्तिके लिए सभी जातियोंमे परस्पर सम्बन्धकी आवश्यकता है। यदि ऐसा न होगा तो हम पङ्गु हो जाँयगे। मनुष्य-शरीरके लिये सभी अङ्गोंकी आवश्यकता है पङ्गु बननेसे काम नहीं चलसकता। स्वयं भगवान महावीर भी बिना उपयुक्त शरीरसंहननके मोक्ष नहीं प्राप्तकर सकते। हम कितनेभी बुद्धिमान और विद्वान् क्यों न हो जाँय, हम अपने दुर्बल शरीरसे कुछ न कर सकेंगे। सभीके महात्मा गाँधी बननेसे देशकी उन्नति नहीं हो सकती। केवल उत्तम सेनापतियोंसे किसीभी सेनाने विजय नहीं पाई। देशको उत्तम सैनिकोंकी आवश्यकता है। यह चिरस्मरणीय सत्याग्रहकी लड़ाई बहु-लीडरलालित भारतकी अपेक्षा सेना-बहुल सीमाप्रान्तही अधिक उत्तमतासे लड़ सका।

हमारा कहना यह नहीं है कि विज्ञानकी दृष्टिमें जातिभेद है ही नहीं। हमारा कहना तो सिर्फ़ इतना ही है कि विज्ञान और साधारण जनसमाज जिसे आजतक जाति कहता आया है, वह कोई वस्तु नहीं है। विज्ञानको जातिकी परिभाषा बदलनेकी आवश्यकता हुई है न कि स्वयं जातिकी। जातिकी नूतन परिभाषामें गधा और घोड़ा एकही जातिके माने जावेंगे, बाघ और सिंह एकही जातिके माने जावेंगे परन्तु कीड़ी और हाथी एक जातिके नहीं माने जा सकते क्योंकि कीड़ीका गर्भ न हाथीके रह सकता है और न हाथीका कीड़ी को।

जैनधर्मके अनुसार भी एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय-पंचेन्द्रिय आदि जातिभेद हैं, न कि हाथी, बैल, घोड़ा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि। उपर्युक्त भेद प्रचलित सभी भेदोंकी अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त हैं। सिवाय इसके Survival of the fittest अर्थात् योग्यतम व्यक्तिका अतिजीवन और अयोग्यका नाशके नियमानुसार एक जातिके जानवरोंका परस्पर सम्बन्ध भी हमेशा आवश्यक नहीं है। बन्दर और मनुष्यका संयोग बन्दरका विकास कर सकता है, मनुष्यका नहीं, इसलिये मनुष्यको इसकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु विभिन्न देशीय और विभिन्न गुणयुक्त मनुष्योंका पारस्परिक संयोग सभीके लिये लाभकारी है।

बुद्धि और विवेकयुक्त विजातीय सम्बन्ध मनुष्यकी उन्नति, विकास और अस्तित्वके लिये अनिवार्य है। यदि हमें अपनी, अपने समाजकी, अपने देशकी उन्नति करना है तो हमें चाहिये कि इस अप्राकृतिक जातिभेदका नाश करें तथा विवेकयुक्त संघोंका पुनर्निर्माण करें और समस्त भारतकी पुनर्घटना करें।

प्राचीन भारतके वर्णाश्रमधर्ममें वर्णान्तर सम्बन्ध बहुत संख्यामें होते थे। श्रुतियाँ इसकी प्रमाण हैं, स्मृतियाँ इसकी प्रमाण हैं और पुराण इसके खातावही हैं। उस समयका वर्णाश्रमभेद अपरि-

वर्तनीय नहीं था जैसा कि निम्न प्रमाणसे मालूम होता है —

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्ववर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वोवर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

—आपस्तम्भ गृह्यसूत्र २. ५. १०, ११।

वर्णके बदलनेका समय उस समय सातयुग या ३५ वर्ष निर्धारित था —

अभ्ययेन् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्।

—मनुस्मृति अ० १०

ऊपर जो प्रमाण दिये जाते है वे केवल मूर्खोंको समझानेके लियेही हैं क्योंकि पंडितोंकी जीविका मूर्खों पर ही अवलम्बित है। यदि सभी पण्डित होजायँ तो पण्डिताईकी कद्र न रहे। लोगोंके मूर्ख बने रहनेमेंही पंडित अपना कल्याण देखते हैं। बुद्धिमानोंको प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे जानते हैं कि:—

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनो गतिः।

बुद्धि ही मनुष्यकी अन्तरङ्ग आत्मा है और बुद्धि ही आत्माकी गति है।

और धर्मका ठेका केवल पण्डितोंकी बपौती नहीं है क्योंकि—न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् अर्थात् पोपटके समान ग्रन्थ पढ़ लेनेसे ही धर्म नहीं जाना जासकता। धर्म तो वह वस्तु है जो देश काल समयानुसार बदला करती है। देशकालनिमित्तानां भेदैर्धर्मो विभिद्यते।

हम कहा करते हैं कि जैनधर्म वैज्ञानिकधर्म है। वही धर्म वैज्ञानिक होसकता है,और वही धर्म जीवित रहता है जो देशकालादिके परिवर्तनसे परिवर्तित होने की क्षमता रखता है। जो धर्म अपरिवर्तित रहता है वह नष्ट हो जाता है। परिवर्तनका ही दूसरा नाम जीवन है। यदि हम अनेकान्त या स्याद्वादको इस रूपमें नहीं देख सकते तो हम अन्धे हैं, हम महावीरके सच्चे अनुयायी नहीं हैं, हम मिथ्यादृष्टि—अन्धे हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक वस्तुका जीवन परिवर्तन है, उसीप्रकार प्रत्येक समाज, प्रत्येक देशका जीवन भी निरन्तर परिवर्तन ही है। जहाँ परिवर्तन बन्द होता है वहीं सड़ना, गलना, नष्ट होना प्रारम्भ हो जाता है। हमारे समाजकी, हमारे देशकी वृद्धिमें बाधा हो रही है उसका कारण हमारे शरीर संस्थानकी निरन्तर होनेवाली क्षीणता, पुरुषार्थकी कमी, जोश की कमी है। इन गुणोंका विकास यदि हम करना चाहते हैं तो उसका ऋजुतम मार्ग विभिन्न जातियों विभिन्न शक्तियों, विभिन्न संस्थानोंका समन्वय, संभोग या मैथुन ही है। समन्वय, संभोग या मैथुनसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, और विकास होता है। समस्त दृष्टियों, समस्त धर्मों, समस्त शक्तियोंके मैथुनका, समन्वयका ही नाम अनेकांत है, जैनधर्म है। यही सत्य है, यही तत्त्व है।

यदि हम मैथुनका उपयोग अपनी उत्पत्ति और विकासके लिये न करके निरर्थकही क्षणिक सुखके लिये करते हैं तो वही सत्य व्यभिचार, अनाचार, दुराचार हो जाता है। इसीप्रकार अनेकान्तके इस महान सत्यका उपयोग यदि हम अपने पुनर्जीवन और विकासके लिये नहीं करते, केवल तर्क वितर्क आदि बौद्धिक तृप्तिके लिये करते हैं तो व्यभिचार करते है—बौद्धिकव्यभिचार करते हैं। परस्त्रीगमन ही व्यभिचार नहीं है, अपने नीच भावोंकी तृप्तिके लिए नीच विचार करना भी व्यभिचार है।

जैनी कहलानेवालो, जिनवाणी पर दया करो उसके साथ व्यभिचार मत करो। तत्त्वको समझो और व्यभिचारको ब्रह्मचर्यमें परिवर्तित कर दो। कल करनेका विचार रखते हो तो आज करो, आज करनेवाले हो तो अभी करो। जिस किसीभी रीति से महावीरकी सन्तान महावीर हो, वही मार्ग सत्य है। मूर्खोपजीवी पंडितोंकी काँव काँव मत सुनो। चलेजाओ, चलेजाओ, प्रकाशकी ओर चलेजाओ!

युवकोंका सुधार।

[अङ्क ४ से आगे]

(ले०—श्री० बा० सूरजभानजी वकील।)

अमेरिका देशवासियोंने इसबातको अच्छी तरह अनुभव करलिया है कि बुरेको बुरा, बुरा कहने और बदनाम करते फिरने से बुराई दूर नहीं होती है किन्तु और ज्यादा दृढ़ होती है। वास्तवमें मनुष्यकी लज्जाशीलता ही सर्व प्रकार से उसकी रक्षा करती है और उसको दोषोंसे दूर बचाये रखती है। इसही कारण वहाँपर सरकारकी तरफ़से ऐसे सुधार—आश्रम खुले हुवे हैं जहाँपर नौजवान अपराधी अदालतके द्वारा सुधारके वास्ते भेजे जाते हैं। पुलिस उनको पकड़कर वहाँ नहीं लेजाती है, किन्तु अदालत स्वयम् उनकोही समझाती है कि तुम समझदार और इज्ज़तदार हो, नहीं मालूम किस कारणसे तुम इन अपराधोंको करने लगगये हो, तुमको चाहिये कि तुम अमुक सुधार-आश्रममें जाओ और वहाँसे नेकनाम होकर आओ। हम तुमको कुछ दंड नहीं देते हैं किन्तु उस आश्रमके नाम तुमको चिट्ठी देते हैं। तुम स्वयम् इस चिट्ठीको लेकर जाओ और वहाँ दाखिल होजाओ। इसप्रकार वह स्वयम् जजकी चिट्ठी लेकर जाता है और वहाँ बहुत ही इज़्ज़त के साथ रक्खा जाता है और सपनेमें भी इसबातका नाम नहीं लिया जाता है कि इसने कभी कोई अपराध किया है। वहाँ तो उसके साथ सर्व प्रकार सद्व्यवहार ही होता है जिससे वह भी सबके साथ सद्व्यवहार ही करने लग जाता है। और यदि अपनी खोटी आदत के कारण वहाँ भी वह कोई दोष करता है तो उसको छिपानेकी ही कोशिश कीजाती है जिससे वह स्वयमही शरमिंदा होजावे और फिर उस दोषके करनेका साहस न करने पाय। आपसमें एक दूसरे से प्रीति करना, इज़्ज़त से पेश आना ऐबोंको छिपाना, एक दूसरेकी सहायता करना, दुख सुख सहना और रातदिन काममें लगे रहना, यह ही अभ्यास वहाँ कराया जाता है। सबसे ज़्यादा ध्यान आपसमें एक दूसरे की इज़्ज़त करने में ही दिया जाता है, जिससे बिल्कुल निर्दोष और इज़्ज़तदार होकर ही वह वहाँ से निकलता है, आगामी जीवन बहुत ही इज़्ज़तके साथ बिताता है और प्रतिष्ठा पाता है।

बच्चोंका उत्थान मातापिताके ही हाथमें होना है। वे ही उनको सभ्य, सुशील, विनयवान, आज्ञाकारी, सहनशील और कर्तव्यनिष्ठ बना सकते हैं और वे ही उनको उद्धत, उद्दंड, ज़िद्दी, हठी, असभ्य, अविचारी, शोख़ घमंडी, गुस्ताख़, बेहया, बेशरम, और कर्तव्यहीन बना देते हैं। परन्तु शोक है कि बच्चेके बिगड़ जानेपर और ऐसे बिगड़ जानेपर कि फिर उनकी दुरुस्ती असम्भवसी ही प्रतीत होने लग जाय, वे अपने कसूरको मानकर पश्चात्ताप नहीं करते हैं, किन्तु बालकका ही दोष बताकर उसही पर रोष करने लग जाते हैं वा दुःखी होकर अपनी क़िस्मतका ही दोष बताते हैं। हमने इसको ऐसा लाड़लड़ाया, अपना खाना पीना पहनना ओढ़ना ऐश आराम सब खोकर तन,मन,धन सब एकमात्र इसही की सेवामें लगा दिया; इसही के आरामको अपना आराम और इसही की खुशीको अपनी खुशी मानकर अपनेको मानो इसपर बलिही चढ़ा दिया, जिसका फल यह मिला कि जवान होकर वह अब हमको कुछ समझता ही नहीं है, बिल्कुल ही उद्दंड हुवा फिरता है, न हमारी सुनता है और न अपनी ही अक़्लसे कुछ काम लेता है, जिससे वह हमारे काम न आये तो अपना जीवन तो सुखसे बिताने लगजाय. हम तो अपनी ज्यों त्यों बिताही लेंगे, पर इसका किस तरह बीतेगी, जो कुछ भी सोच समझ से काम नहीं लेता है और न कुछ अपनी फ़िकर ही करता है, छोटे छोटे बच्चोंकी तरह बिल्कुल ही बेफ़िकर हुवा फिरता है। यह हमारी क़िस्मतका दोष नहीं तो क्या है? ऐसे ऐसे उद्गार निकालकर माता-पिता दुःखी हुवा करते हैं। परन्तु ऐसा हुवा क्यों? क्यों उनका बच्चा ऐसा उद्धत और बेपरवाह होगया है? इसपर ज़रा भी ध्यान देना नहीं चाहते हैं। कारण ढूंढनेमें तो स्वयम् अपनाही दोष निकलता है। अपना दोष कोई भी स्थापित होने देना नहीं चाहता है। इसवास्ते अपने बचावके वास्ते भाग्य पर वा भाग्यका निर्माण करनेवाले विधाताके शिरपरही सारा दोष थोप देना आसान प्रतीत होता है और ऐसाही कियाभी जाता है।

सच तो यह है कि मूर्ख माता पिता मोहवश पग पगपर बच्चेके साथ दुश्मनी करते हैं और उसको बिगाड़ने में ज़राभी कसर नहीं छोड़ते हैं। पैदा हुआ बच्चा तीन मास तक रात दिन सोताही रहता है. केवल दूध पीनेके वास्ते दो दो घन्टे पीछे जागता है और फिर सो जाता है। यह ही उसका स्वभाव है। परन्तु उसके पैदा होनेके दिन से ही कुटुम्बकी, अड़ौस पड़ौसकी, वा इष्ट मित्रोंकी जो स्त्रियाँ मिलने आती रहती हैं वह ज़च्चाखानेके बाहर खड़ी होकर बालकको दिखा देनेका आग्रह किया करती हैं और माता व धाय बारबार उसे सोतेको उठा उठाकर उन्हें दिखाती रहा करती हैं और जगा जगाकर उसकी आँख भी खुलाती रहा करती हैं—देख, तेरी काकी आई, दादी आई, नानी आई इत्यादि कहकर उसे दिक़ करती रहा करती हैं। इसप्रकार बारबार जगानेसे बालकके स्वास्थ्यको बड़ी हानि पहुँचती है। भरी नींदमें जगा देने पर वह बेचारा रोनेभी लगता है जिससे आनेवाली स्त्रियाँ उसके भूखे होनेका अनुमान करके उसकी माताको उसे दूध पिला देनेपर मजबूर करती हैं। इसतरह बिना भूखही बारबार दूध पीकर उसका स्वास्थ्य और भी ज्यादा बिगड़ जाता है और ज़च्चाखानेमें ही बीमार होना शुरू होजाता है। बेज़रूरत दूध पीनेपर बच्चा उसको उगलभी देता है तोभी मा अपनी भूलको नहीं मानती है किन्तु दूध उगल देनेसे पेट खाली हुआ समझ उसे फिर पिलादेती है जिससे कुपच होकर उस बेचारेको बीमार होनाही पड़ता है। माताकी ममता रूपी ऐसी ही असावधानियोंसे हिन्दुस्तान के हज़ारों बच्चे ज़च्चाखानेमें ही मृत्युकी गालमें पहुँच जाते हैं। परन्तु माता पिता अपना दोष स्वीकार करने पर राज़ी नहीं होते हैं। इसही प्रकार जब बच्चा गायका दूध पीने लगजाता है वा अनाज खानेके योग्य होजाता है तब भी दिन भर उसको कुछ न कुछ खिलाते रहनेकी ही कोशिश रहती है। पेट भरा होनेके कारण वह बेचारा खानेसे इनकार करता है और दूर भागता है, परन्तु बहकाकर, फुसलाकर, डराकर, धमकाकर बड़ी बड़ी सुस्वाद वस्तुओं का लालच दिखा दिखाकर माता उसके पेटमें कुछ न कुछ ठूँसती ही रहती है जिससे भी वह बारबार बीमार होता है और मृत्युका भी आहार बनजाता है। परन्तु माता पिताको सपनेमें भी अपनी गलतीका भान नहीं होता है। कुछ और बड़ा होकर लाड़ला बालक समय पर रोटी नहीं खाता है और न वह ऐसा खाना खाता है, जो उसके स्वास्थ्यके अनुकूल हो; किन्तु जो भी वस्तु उसे सुस्वादु लगे उसही को खाना चाहता है। उसहीके लिये ज़िद करता है। माता पिता यह बात भलीभाँति जानते हुए भी कि यह वस्तु उसके स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर है उसकी ज़िद पूरीकरनेके लिये उसको वहही वस्तु देते हैं और पेट भर देते हैं जिससे वह अवश्य बीमार पड़ जाता है। यदि माता पितासे कहा जाता है कि ऐसी वस्तु तुम उसको खानेको क्यों देते हो जिससे वह बीमार पड़े तो जवाब देते हैं कि क्या करें ज़िद्दी लड़का है; जब वह रोने लगता है और नहीं मानता है तब देनी ही पड़ती है। अच्छा भाई, दो, पर अपने भाग्यको तो दोष मत दो किंतु उसका फल भोगनेको तैयार रहो। ममता वश अन्धे होकर स्वयम् तो अपने हाथों अपने प्यारे बालकको मृत्यु के मुँहमें ढकेलते हो और दोष भाग्यका बताने लग जाते हो। यह कहाँका न्याय है? और तुम्हारे दोष स्वीकार न करनेसे होता क्या है? तुम मानो या न मानो, भुगतना तो तुमही को पड़ता है। इसही प्रकार बालकको हरवक्त गोदमें रखकर मा बाप उसको पंगु बना देते हैं। फिर जब उसको गोदमें ही लदा फिरनेका अभ्यास होजाता है और कुछ बड़ा होकर भी गोदसे उतरना नहीं चाहता है तो उसपर रोष करके बुराई करने लगजाते हैं कि इतना बड़ा होकर भी पैरों नहीं चलता है। इसही प्रकार बच्चा जब बोलने लगता है तो वह वही शब्द बोलना चाहता है जो कानोंसे सुनता है। परन्तु उस समय उसकी जीभ पूरी नहीं उठती है इस कारण कोशिश करनेपर भी वह सही शब्द नहीं बोल सकता है। मा बापको चाहिये कि वह कैसाही अशुद्ध शब्द बोले किन्तु स्वयम् शुद्ध शब्द ही बोलते रहें जिससे शुद्ध शब्दही उसके कानमें पड़ते रहें और वह शुद्ध शब्द बोलनेकी ही कोशिश करता रहे। परन्तु माता पिता ममतामें आकर स्वयमही बच्चे की तोतली बोली बोलने लगजाते हैं, जिससे बच्चेके कानमें अशुद्धही शब्द पड़ने लगजाते हैं और वह उनहीके बोलने का अभ्यासी होजाता है। बुद्धिमान माता पिताके बालक

तीन चार बरसकी आयुमें ही शुद्ध बोलने लगजाते हैं और मूर्ख माता पिताके बालक सात आठ बरसकी आयु तकभी तोतली ही बोली बोलते रहते हैं। ये मूर्ख मा बाप भी अपना कसूर नहीं मानते हैं, किन्तु हमारे बालकों की जीभ देरमें उठा करती है, ऐसी ही बातें बना दिया करते हैं। मा बाप जब मजाकमें आते हैं, तो मा तो बाप का मुक़ाबिला करनेको, दुतकारनेको, बुरा भला कहनेको, पगड़ी उतारने को, मूँछें खेंचने को बच्चेको उभारती है और बाप, माको दुतकारने और ओढ़ना उतारनेको उकसाया करता है। इससे मा बापकी आपसकी छेड़ छाड़ होकर उनका तो दिल खुश हो जाता है परन्तु बालककी आदतमें जो बिगाड़ आता है इसका उन्हें कुछभी ख़याल नहीं होता है। बच्चेको खुश करनेके लिये बाप हँसी हँसी में उसकी मा को पीटने लगजाता है। भावज अगर अपने बापके यहाँ चली गई है तो बच्चेको खुश करनेके लिये कहने लगजाते हैं कि वह तुझको दिक़ किया करती थी इस वास्ते हमने उसको घरसे निकाल दिया है। इनबातों से तुरन्तका दिल बहलावा तो ज़रूर होजाता है, परन्तु फिर किसी वक्त बच्चा अपनी मा से नाराज़ होकर बापसे उसको पीटनेको कहता है वा भावजके निकालदेनेकी ज़िद करने लगता है तो बहुत बुरा मानते हैं और उलाहना देने लग जाते हैं कि अभीसे जब इसके ऐसे भाव हैं तो बड़ा होकर तो ज़रूर ही हम सबको मार मारकर निकाल बाहर करेगा। इसप्रकार आदत बिगड़ने पर बालक पर रोषकरनेको तो ज़रूर तैयार होजाते हैं परन्तु यह ध्यानमें नहीं लाते हैं कि हम ही ने तो इसको बिगाड़ा है।

ग़रज़ सिरसे पैर तक बच्चेमें जो बुराई आती है वह सब माबापकी ही पैदा की हुई होती है। परन्तु यहाँ इसलेखमें तो हमको यह नहीं दिखाना है कि बालकमें बुराइयाँ किस किस रीतिसे आती हैं किन्तु यही बताना है कि वे किस प्रकार दूर की जासकती हैं। यहाँ तो केवल उदाहरणके तौर पर ही कुछ यह दिखादिया है कि किसप्रकार मा बाप ही बच्चेको बिगाड़ते हैं जिससे वह अपना कसूर मानकर उसके सुधारने की ज़िम्मेदारी भी अपनेही ऊपर समझें और सुधारनेकी विधिको जानने और समझनेमें दिल देवें। मुश्किल तो सबसे बड़ी भारी यह है कि जिसप्रकार घोड़ेके सुधारने वाले चाबुक सवार मिल जाते हैं उसप्रकार मनुष्योंको सुधारने वाले नहीं मिलते हैं। इस वास्ते जो मा बाप सन्तानके सच्चे हित-चिन्तक हैं उनको स्वयम् ही सुधारनेकी यह विद्या सीख कर सुधारका कार्य करनेकी ज़रूरत है। इस अवसर पर यह बात ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है कि चाबुक सवार घोड़ेको इसतरह नहीं सधाता है जिससे घोड़ेकी सवारीकाभी कुछ कार्य सिद्ध होता रहे, जहाँ जाना हो वहाँ पहुँच जाता रहे कोई मंज़िलतै करनी हो तो तै होती रहे, किन्तु वह तो उससे कोईभी कार्य सिद्ध न करके एकमात्र उसके सधानेकी ही फ़िकर करता है। उसको घुमाता है, फिराताहै, दुड़ाता है कुदाता है, इसप्रकार तीन चार घंटे हर रोज़ व्यर्थकी मिहनत कराता है जिससे उसको मिहनत करनेका और सवारके आधीन होकर उसकी इच्छाके अनुसार चलनेका अभ्यास होजाय। सधाना क्या है? वास्तव में दूसरेके आधीन काम करनेका अभ्यास करानेका ही दूसरा नाम सधाना है। अभ्यास करानेके द्वाराही बड़े बड़े नटखट और चंचल स्वभाव बंदर यहाँ तक कि खूँख़ार रीछ तक भी ऐसे सधाये जाते हैं कि वह कलन्दरके इशारे पर ही अद्भुत अद्भुत खेल दिखाने लग जाते हैं। अभ्यास के द्वारा चूहे तक सधाये जाते हैं। पक्षी भी अजीब अजीब खेल करने लग जाते हैं। इस कारण नवयुवकों को भी गृहस्थी के कामोंका अभ्यास कराना चाहिये। यह ही उनका सधाना है। छोटा बालक जब पाठशालामें बिठाया जाता है तो वह बहुत बिदकता है। उसवक्त उसको बहका कर फुसलाकर मेवे मिठाईका लालच दिलाकर दबाकर धमकाकर पाठशाला भेजा जाता है। कभी वह तुरन्त ही भाग आता है, कभी सौ सौ बहाने बनाता है और जाना नहीं चाहता है। जाता है तो वहाँ रोता ही रहता है और बड़ा कष्ट मानता है। परन्तु कुछ ही दिन पीछे अभ्यास होजाने पर वह माता पिताके मना करनेपर भी सबसे पहले पाठशाला पहुँच जाता है. और फिर बरसों पढ़ते रहने के बाद अधिक अभ्यास होजानेपर तो वह जवान होने परभी पढ़ताही रहना चाहता है। कालिजकी पढ़ाई ख़तम करके भी यह ही चाहता है कि इससे कोई ऊँचा विद्यालय हो तो उसमें दाख़िल होजाऊँ, उमर भर

पढ़ता ही चलाजाऊँ। पाठशाला, स्कूल और कालिजमें विद्यार्थीको कुछ भी स्वतंत्रता नहीं होती है, पढ़ने लिखने, चलने, फिरने, सोने जागने आदि सब ही बातोंमें पराधीन रहना होता है, जहाँ बहुत ही सख्ती के साथ नियमों और आज्ञाओंका पालन कराया जाता है, परन्तु अभ्यास हजाने के कारण ही ये सब सख्तियाँ और पाबन्दियाँ उसको ज़राभी नहीं अखरती हैं, किन्तु बड़े चावके साथ बर्दाश्त की जाती हैं। इस ही प्रकार जवान होजाने पर यदि मा बाप उसको गृहस्थी के नियमों का अभ्यास करावें तो वह आहिस्ता आहिस्ता गृहस्थ आश्रम के भी सबही नियमों को बड़े चावके साथ पालने लगकर पूर्ण गृहस्थी होजाता है, स्वयम् सुख भोगता है और कुटुम्बका पालनपोषण करके उनको सुखी रखता है।

नवयुवकोंके सुधारनेका अर्थ क्या है? यह ही न कि वे सद्गृहस्थी बना दिये जावें। परन्तु यह कार्य समझाने बुझाने उपदेश सुनाने वा झिड़कने और भला बुरा कहते रहनेसे नहीं होसकता है। इसका भी एक मात्र उपाय अभ्यास करानाही है। जिसप्रकार अलङ्क छेरा बेफ़िकर चाहे जिधर कूदता फिराकरता है और बड़ा होने पर जब उसपर सवारी शुरू की जाती है तो वह दुलत्ती फेंकता है और सवारको गिराकर भागजाना चाहता है, इसही प्रकार जो बच्चे जवान होने तक खेल कूदमें रहते हैं, अपनी नींद सोते हैं और अपनी नींद उठते हैं, जो माँगा सो मिला, जो चाहा सो खाया और मन माना किया, जवान होने पर जब उनसे उत्तम गृहस्थ बनजानेकी आशा की जाकर गृहस्थीकी गाड़ीमें जोते जाते हैं तो वेभी दुलत्तियाँ फेंकते हैं और बहुत कुछ स्वच्छंदता दिखाते हैं। ऐसे मौके पर यदि मा बाप चतुर होते हैं तो आहिस्ता आहिस्ता अभ्यास कराकर उनको पक्का गृहस्थी बना देते हैं और यदि मूर्ख होते हैं तो उनके बिदकते ही घबरा जाते हैं और अपनी क़िस्मतको रोने वा उनकी बुराई गाते फिरनेके सिवाय और कुछभी नहीं करपाते हैं। फल यह होता है कि वे नवयुवक और भी ज़्यादा अल्हड़ होजाते हैं और बहुत ही ज़्यादा ढीठ बनकर किसीभी कामके नहीं रहते हैं।

जो बच्चे बचपनसे ही पढ़ाईकी चक्कीमें जोत दिये गये होते हैं और जवानी तक बराबर जुतेही रहते हैं वे बेशक अलंग छेरोंकी तरह स्वच्छंद फिरनेवाले नहीं होते हैं, किन्तु सख्त क़ैद में रहने और पूरी पाबंदीके साथ सख्त काम करनेके अभ्यासी होते हैं। तोभी जिसप्रकार ज़ीन सवारीका अभ्यासी घोड़ा ज़ीन सवारी तो दिनरात देसकता है, तीस तीस चालीस चालीस मीलकी मंज़िल तै करसकता है परन्तु बग्गी टमटममें जोतनेपर दुलत्ती चला चलाकर आधमीलभी नहीं चलने पाता है कि आप भी घायल होजाता है और बग्गीको भी तोड़ डालता है, इसहीप्रकार स्कूल और कालिजोंकी पाबंदियोंका अभ्यासी भी जब अव्वल अव्वल गृहस्थजीवन शुरू करता है तो दुलत्तियें फेंकता है, आपभी दुखी होता है और घरका सुखभी मटियामेट करदेता है। इस कारण जिसप्रकार ज़ीनसवारीके अभ्यासी घोड़ेको भी बग्गीमें जोतनेसे पहले खड़खड़ेमें निकालनेकी ज़रूरत होती है, पाँच छः महीने तक बराबर लकड़ीके ढाँचेमें बाँधकर इधर उधर फिराना पड़ता है तबही वह बग्गीमें जुतने के योग्य होता है, इसही प्रकार कालिजसे निकले हुवे नवयुवकको भी गृहस्थ जीवन शुरू करानेसे पहले गृहस्थीके कामोंके समान व्यर्थ के कुछ काम कराकर अभ्यासी बनानेकी ज़रूरत होती है। हरएक काम नया अभ्यास चाहता है। इसमें संदेह नहीं कि एक कामका अभ्यास होने पर दूसरे किसी कामका अभ्यास शीघ्र होजाता है। इसहीप्रकार कालिजके बंधनों का अभ्यासी नौजवानभी शीघ्रही गृहस्थके बंधनोंको स्वीकार करलेता है। परन्तु उसकोभी अभ्यास करानेकी आवश्यकता ज़रूर है। बिना अभ्यास सभी काम अनोखे दिखाई दिया करते हैं। इसहीकारण घबराकर उससे दूर भागनेको जी चाहा करता है। (अपूर्ण)

जयपुर समाचार ।

जयपुरसे शांतिसागर संघ चला गया, पर वह पारस्परिक द्वेष और कलहका जो बीज छोड़ गया था, सो अपना फल दिखा रहा है। चातुर्मासके आखिरी दिनोंमें मुनिसंघने यह नियम बना लिया था कि प्रतिग्रहके समय गृहस्थको यह बोलना चाहिये कि मैं ११ आदमियों (सुधारकों) और उनसे सम्बन्ध रखनेवालोंसे किसीभी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रक्खूँगा। शूद्रजलत्यागके साथही जो यह प्रतिज्ञा बोलता था, उसहीके यहाँ मुनि आहार लेते थे। जयपुरके २०-२५ गृहस्थोंने इस प्रकारकी प्रतिज्ञा ली होगी। जब मुनिसंघने देखा कि इसप्रकार की प्रतिज्ञासे केवल उनको आहार देनेवाले लोग ही समाजसे छूट गये और सुधारकोंका कुछ बिगाड़ न हुआ तो उन्होंने आमतौर पर सर्वसाधारणको इस प्रकारकी प्रतिज्ञायें दिलाना शुरू कीं। मुनियोंको यह बात बखूबी मालूम हो चुकी थी कि अछूत समझे जानेवाले लोगोंके साथ खानपीन किसी भी जैनीने नहीं किया था, पर सत्यके अवतार (!) मुनियोंने बराबर यह कहकर लोगोंको भड़काना जारी रखा कि जैनसमाजके ११ आदमी भंगियोंके साथ खा पी आये और उनसे व्यवहार छोड़ देना चाहिये। खुले आम इसके लिए प्रतिज्ञायें कराई गईं मगर पूछने परभी किसीकी यह हिम्मत न हुई कि ११ आदमी कौन हैं, उनके नाम तो बता दे। पंचायतमें जो कुछ हुआ और जिसप्रकार मुनिभक्तोंको मुँहकी खाकर जलील होना पड़ा उसका हाल जैनजगत्के पाठकों को मालूम ही है। कुछ लोगोंने मुनियोंको समझाने की कोशिश भी की कि अब इसबारेमें हठ रखनेकी जरूरत नहीं है, पर उन मानशिखर पर चढ़े हुये महात्माओंको अच्छी सीख कब सुहाती ? वे तो समझते थे कि जयपुरमें सुधारकोंने उनके सम्बन्धमें जो कुछ आंदोलन किया था, उसका पूरा बदलाही निकाल लेंगे और उनके विरुद्ध काफ़ी विषैला वातावरण पैदा कर देंगे, पर बेचारोंकी जी की जी में ही रह गई और उल्टा नतीजा यह हुआ कि मुनिसंघकी असलियत नग्नरूपमें लोगोंके सामने आगई।

मुनिसंघने जयपुरसे चले जाने परभी जयपुरके अपने कतिपय मूढभक्तोंमें सुधारकोंके प्रति विद्वेष फैलानेका अपना प्रोग्राम जारी रखा। फलतः ऐसा देखनेमें आया कि मुनिभक्तोंने एक दो स्थानों पर ऐसी कोशिश की कि सुधारकपक्षीय कुछ खास खास लोगोंके यहाँ निमंत्रण न दिये जावें; और लोगोंको ऐसी धमकियाँ दी जाने लगीं कि अगर ऐसा न किया गया तो समाजके बहुतसे लोग उस जीमणमें शरीक न होंगे। सुधारकोंने इसप्रकारकी कार्रवाइयोंको बिल्कुल उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा, क्योंकि यह निश्चय था कि सुधारक पक्षवालोंके खिलाफ़ इसप्रकारकी कार्रवाई चल न सकेगी। आखिर शीघ्रही एक ऐसा मौक़ाभी आगया कि जिससे बिगाड़क लोगों (इनको पंडितपार्टीके कहना गलत है) को अपनी कमजोरी का पता स्पष्ट तौर पर लग गया।

गत ता० २४ दिसम्बरको कुछ सुधारकपक्षीय लोग दक्षिणकी ओर यात्रार्थ जारहे थे। सोचा कि जानेके पहिले मित्रमण्डलीके साथ एक प्रीतिभोज हो जाय। ता० २२ को मोहनबाड़ीमें एक प्रीतिभोज होगया, जिसमें खण्डेलवाल जैनसमाजके क़रीब ५०० प्रतिष्ठित पुरुष सम्मिलित थे। यह गोठ या प्रीतिभोज क्या हुआ, बेचारे बिगाड़क लोगों की जी को जलनके लिए एक तेज़ मसाला हो गया। गोठमें शामिल होने वालोंकी लिस्ट तैयार की गई। पूरे नाम तो न मिल सके, पर १६९ घरोंकी लिस्ट तैयार हुई। इन १६९ घरोंके साथ सब प्रकार का सामाजिक व्यवहार बंद कर देने का प्रचार शुरू हुआ। रजिस्टर बनाकर दस्तखत कराये जाने लगे।

लोगोंको ऐसा दीखने लगा कि शायद समाजमें काफी समयके लिये दो पाले या पार्टियाँ होजायेंगी। जो लोग इन १६९ घरों से सम्बन्ध रखने वाले पाये जाने लगे, उनका भी नाम बायकोट लिस्टमें चढ़ाया जाने लगा। इसप्रकार दिन प्रति दिन सुधारक पक्ष या बाबूपार्टीकी संख्या बढ़ने लगी और धर्मके ठेकेदार बनने वालोंके थोक की कम होने लगी। कुछ ही दिनोंमें पौष और माघके साहे यानी विवाहकी तिथियाँ आ पहुँची थोकबंदी दोनों ओरसे काफी कट्टरता लिए हुए थी। सुधारक पक्ष वाले विरोधी पक्षवालों की बराबर शुद्धियाँ करके अपनेमें मिला रहे थे। उनकी ओरकी सभी शादियाँ बड़े धड़ल्लेके साथ हुई। लोगों का कहना है कि सुधारक पार्टी वालोंकी ओर की शादियोंमें निकासी आदिमें इतने अधिक आदमी सम्मिलित होते थे कि जितने गत ४०-५० वर्षमें भी बड़े बड़े प्रतिष्ठित आदमियोंके यहाँ भी निकासी आदिके अवसर पर नहीं देखे गये थे। यह सुधारकपक्षके संगठनका एक नमूना है कि जिसे देखकर बिगाड़कदलवाले दोनों नीचे जीभ दबाते थे। इन शादियोंसे पहिले कुछ समझदार भाइयोंने इस बातकी हर तरह कोशिश की कि समाजमेंसे यह वैर्द्धपार्टी मिटजाय पर इन्द्रलालजी शास्त्री आदिने समझौतेकी बातचीतके बीचमें हर तरह रोड़ाही अटकाया। अन्तमें फल यह हुआ कि सेठ फूलचन्दजी ठोलिया, सेठ गोपीचन्दजी निगोतिया व दारोगा मोतीलालजी आदि मध्यस्थ लोगों ने भी सुधारकपक्षीय लोगोंसे अपना सम्बन्ध जारी रखना निश्चय कर लिया और सुधारकपक्षीय लोगोंके यहाँ अब इन सज्जनोंके यहाँ से बेरोकटोक शामिल होते हैं। इस प्रकार अब स्थितिपालक दल में जयपुर जैनसमाजके प्रतिष्ठित घरानोंमें से नाम मात्रके लिये एक दो घराने रह गये हैं, बाकी सब सुधारकपक्षकी ओर हो गये हैं। अपने हृदयकी शांतिके लिये बेचारे बिगाड़क पार्टीके नेता अब यह कहते हैं कि क्या होगा, हम लोग १००-५० घर ही रह जायेंगे, पर धर्मकी तो रक्षा होजायगी। इसके सिवा बेचारे कहही क्या सकते हैं क्योंकि अब यह साफ तौर पर नज़र आने लग गया है कि दो चार महीनोंमें ही अब उन लोगोंकी संख्या १००-५० पर आ ठहरने वाली है और यह भी संभव है कि शायद वह संख्या ११ पर ही जा ठहरे।

रैणवालमें खण्डेलवाल महासभाका अधिवेशन होगया। कोई खास बात नहीं हुई। जयपुर राज्यकी ओरसे सभाके प्रबन्धकोंके मुचलके करवा लिये गये थे कि सभामें कोई कार्रवाई ऐसी नहीं होने पायगी कि जिससे समाज के किसी भी हिस्से में उत्तेजना फैले। सुधारक पक्षवालोंने तो महासभा का बायकाट ही किया था और इसके लिए विज्ञप्ति भी निकाल दी थी। हाँ, एक बात जरूर मजेदार हुई। महासभाके चन्देके चिट्ठेमें सेठ गोपीचन्दजी ठोलियाने ५०१) और सेठ फूलचन्दजी निगोतियाने ३०१) लिखदिया था। जब महासभाके अधिवेशन में लोहसाजनियों सम्बन्धी प्रस्ताव पर बहस हो रही थी तो वहाँ आपसमें काफी तू तू मैं मैं होने लगी। इसे देखकर सेठ गोपीचन्दजी व सेठ फूलचन्दजी निगोतिया व अन्य करीब बीस सज्जन सभा में से उठकर चले आये और कहगये कि जिस सभा में ऐसी तू तू मैं मैं और झगड़ा फसाद हो वहाँ पर हम लोग नहीं ठहरना चाहते। सेठ फूलचन्दजी यह भी कह आये कि "हमने जो चिट्ठेमें चन्दा भरा है वह कुछ अच्छा काम हो इसलिए भरा था, न कि पंडितोंका पेट भरनेके लिए। इसलिए जो ३०१) मैंने देनेके लिए लिखा है वह अब मैं महासभाको नहीं दूँगा। यह रुपया किसी दूसरे अच्छे काममें लगा दूँगा।" हम सेठ फूलचन्दजी साहिबके इस सत्साहसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

अच्छा हो यदि हमारे दूसरे धनाढ्य भाई भी दान देते समय इसीप्रकार पात्रता, कुपात्रता देखलिया करें। दान देनेके लिए हज़ारों तरीके हैं। केवल नाम के लिए या शर्माशर्मीसे किसी जगह दान देने से कोई लाभ नहीं होता है। मेहनतसे कमाया हुआ पैसा अच्छे कामोंमें ही लगाना चाहिये, कुपात्रोंका पेट भरनेके लिए नहीं।

रैणवालके उत्सवके अन्तिम दिन कलशाभिषेक के समय भी एक मनोरञ्जक घटना हुई। सेठ फूलचन्दजी निगोतियाके सुपुत्र बाबू भँवरलालजीने माल के लिए 'बोली' बोली थी। बिगाड़क पार्टीवालोंने चाहा कि वे माल न पहिनने पावें, क्योंकि सेठ फूलचन्दजी दो दिन पहिले ही सुधारक पार्टीमें शामिल हुये थे। दोनों ओर से बोलियाँ बढ़ाना शुरू हुआ। आखिर ४४११) रु० की आखिरी बोली बाबू भँवरलालजी निगोतियाकी हुई और उन्होंने ही माल पहिनी। इससे बिगाड़कदलवालोंके जी को बड़ी चोट पहुँची। हमें भी उनके साथ सहानुभूति है।

—संवाददाता।

(दूसरे पृष्ठ से आगे)

(३) विवाहमें खर्च कम किया जाय।

(४) महासभाके सरफेकी सालानारिपोर्ट पास की जाय।

(५) आजीविका बिना कई भाई धर्मसे गिरते हैं, उनकी सहायता की जाय।

(६) जातीय संगठन किया जाय।

(७) कुछ सज्जनोंके स्वर्गवास पर खेदप्रकाशन।

(८) जयपुरमें वीरसेवकमण्डलकी तरफ़से 'खुला चैलेञ्ज' नामक झूँठे पैंफलेटमें श्री परमपूज्य आचार्य महाराजके विषयमें अनुचित शब्दोंका प्रयोग किया गया है और यह भी लिखा है कि इस पैम्फलेटकी बातें ग़लत साबित कर दीजायें तो समाज जो कुछ प्रायश्चित्त दे, हम लेनेको तैयार हैं, इसलिए ११ आदमियोंकी एक कमेटी इसका निर्णय करनेको मुक़र्रर कर दी जाय।

आश्चर्यकी बात यह है कि सब्जेक्टकमेटीने यह प्रस्ताव तो पास करदिया, पर जाँचकमेटीके लिए ११ आदमियोंका नाम चुननेकी ज़रूरत न समझी। ४ तारीख़को महासभाके अधिवेशनमें यह प्रस्ताव भी नहीं पढ़ा गया। मालूम नहीं, सब्जेक्ट कमेटीसे पास होनेके पश्चात इसकी क्या गति हुई? शायद यह प्रस्ताव सब्जेक्टकमेटीमें, ग्रामीण लोगों पर प्रभाव और दबदबेकी ग़र्ज़से ही सुनाया गया था, क्योंकि जाँच होने पर तो सारी पोल खुल जाने का डर है।

प्रस्ताव नं० ९ लोहरसाजनोंके बारेमें निम्नलिखित रूपमें पेश हुआ:—

लोहरसाजन अलग किस तरह रहे, इसका पूरा निर्णय न हो तब तक इनको सभासद व प्रतिनिधि (खण्डेलवाल महासभाके) न समझे जायें।

प्रस्तावक—बाबू जमनालालजी, अजमेर।

समर्थक—मुंशी सुंदरलालजी सोनी, जयपुर।

उपस्थित सज्जनोंमेंसे इस प्रस्तावका विरोध किया गया और कहा गया कि लोहरसाजनोंके प्रतिनिधि हमेशासे महासभाके हर अधिवेशनमें सम्मिलित होते आये हैं। लाला प्यारेलालजी सेठी जयपुर (लोहरसाजन) ने इसकी नज़ीरें देकर बतलाया कि ब्यावर, लाडनूँ, मोज़माबाद, नावाँ, गया, देहली आदि हर अधिवेशनमें लोहरसाजन भाई मेम्बर चुने जाकर शामिल होते रहे हैं। फिर आज ही यह नया झगड़ा क्यों? इस पर प्रस्ताव वापिस ले लिया गया।

अब फिर, लोहरसाजनों के सम्बन्धमें ९ आदमियों की कमेटीवाले फैसलेके विरुद्धवाला प्रस्ताव पेश हुआ। पं० इंद्रलालजी, बाबू माणकचन्दजी बैनाड़ा, पं० श्रीलालजी पाटणी, परसादीलालजी पाटणी आदि कई लोगोंने प्रस्तावका विरोध किया यानी कमेटीकी रायकी पुष्टिकी; मगर अजमेरके कुछ लोगोंने तथा शांतिधर्मरक्षकमण्डल (!) जयपुरके कुछ लोगोंने प्रस्तावका समर्थन किया। कोई अढ़ाई घंटे तक आपमें बहस मुबाहिसा होता ही रहा और

कोई नतीजा न निकला। पं० पन्नालालजी सोनीने ९ आदमियोंकी कमेटीकी रायको फिरसे गौरके लिए वापिस भेज देने पर काफी जोर दिया। आखिर पं० इंद्रलालजी शास्त्रीने अपने हाथमेंसे रजिस्टर उठाकर फेंकदिया और बोले कि हम तो हमारे हाथसे हमारे ही फैसलेके खिलाफ कुछ नहीं लिखेंगे; जिस किसीको लिखना हो, लिख दे। कुछ देर तक सन्नाटा रहा, पर फिर मुंशी सुन्दरलालजी सोनीने लिखाया कि उक्त कमेटीके निर्णयसे सहमत न होकर महासभा राय देती है कि इस बातका निर्णय होना चाहिये कि लोहरसाजन अलग क्यों हुये और किस किस काममें शरीक हुये और होसकते हैं। इस रायका बहुत कुछ विरोध हुआ पर सभापतिने उन लोगोंको बोलनेकी इजाजत देना ही बन्द कर दिया। इतना होने परभी जब मामला तै न हुआ और रातका १॥ बज गया तो अन्तमें यह निश्चय हुआ कि इस मामले को महासभाकी जनरल बैठकको रायपर छोड़ दिया जाय। वहाँ पर जैसा बहुमत हो वैसा किया जाय।

४ तारीख को दिनके १॥ बजेके क़रीब महासभाका जनरल जलसा शुरू हुआ। मुनिमण्डली भी आकर एक तख्त पर विराजमान होगई। मुनि (!) चन्द्रसागरजीको पहिले दिनका सब्जेक्ट कमेटीका हाल मालूम होने पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और आज वे प्रातःकाल से ही दर्शनार्थ आनेवाले लोगों को लोहरसाजनियोंके विरुद्ध काफी तौर पर भड़का रहे थे। इधर मङ्गलाचरणके बाद सभाका काम शुरू हुआ, उधर दरवाजेपर पुलिस इन्स्पेक्टर मय अपने कांस्टेबलोंके आडटा। शायद इसीकारण वीरसेवक मण्डल सम्बन्धी प्रस्ताव न पेश किया गया हो। बाक़ी सब प्रस्ताव धीरे धीरे पास हो गये। सभाके लिए चन्देकी अपील कीगई, और अनुमान २०००) के चन्देके वचन मिले। इसके बाद फिर वही लोहरसाजनियों सम्बन्धी प्रस्ताव पं० पन्नालालजी सोनी किशनगढ़ निवासीने पेश किया, जिसका समर्थन बाबू म्होरीलालजी बोहरा अजमेरनिवासीने किया। ९ आदमियोंकी कमेटीकी राय वापिस लौटानेके प्रस्तावका विरोध जयपुरनिवासी लाला गैंदीलालजी साहने किया और उनका समर्थन सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया, सेठ फूलचन्दजी निगोतिया आदि सज्जनों ने किया। पं० इन्द्रलालजीने भी इन लोगोंका साथ दिया। इसपर यह पक्ष जोरदार होता देखकर मुनि मण्डलीसे न रहा गया और उनलोगोंने अपने आगे बैठी हुई ग्रामीण जनताको भड़काना शुरू किया कि तुम लोग कह दो कि हमारे यहाँ लोहरसाजनोंसे रोटीव्यवहार नहीं है। कुछ लोगोंने उनका कहना किया भी पर झूठी बात जोरसे कहनेकी लोगोंको हिम्मत नहीं होती थी। रङ्ग बदलता देखकर मुनिमंडली क्रुद्ध हो पण्डाल छोड़कर चल दी। उनकी ऐसी हरकतें देखकर उनके लौटते समय ५ श्रावक भी उन लोगोंको पहुँचाने उनके साथ न लगे।

इसप्रकार बहस मुबाहिसे में ५॥ बज गये तो लोग अपने अपने डेरोंको चले गये। रातको ८ बजे से फिर सभाका काम शुरू हुआ। पुलिस दिनकी तरह ही अभी भी डटी हुई थी। पं० पन्नालालजी ने फिर अपना प्रस्ताव पेश किया और इसीपर वाद विवाद चलता रहा। काफी रात होगई पर कोई बात तै न हो पाई और सभामें हो हल्ला होता रहा। यह देखकर सेठ गोपीचन्दजी ठोलियाने कहा कि हमारी जयपुरकी पञ्चायत सम्वत १९८१ में लोहरसाजनों के सम्बन्धमें स्पष्ट सम्मति दे चुकी है कि इनसे रोटी व्यवहार जारी है। आप लोग इसेभी नहीं मानते तो आपकी इस महासभाको कौन मानता है? यह कह कर वे और सेठ फूलचन्दजी निगोतिया आदि कई सज्जन पण्डाल छोड़ कर चले गये। सब रङ्ग बिगड़ गया देखकर लोगों का नशा उड़ा और उन्हें अब खयाल आया कि यह तो सब अनर्थ होगया। तब पं० पन्नालालजी ने अपना विरोधात्मक प्रस्ताव उठालिया और इसप्रकार लोहरसाजन लोगों पर जो आपत्ति आई थी वह दूर होपाई। इसके बाद जयपुर नरेश, गवर्नमेंट व पुलिस अधिकारियोंको धन्यवाद के प्रस्ताव पास कर सभा विसर्जित हुई।

यह कथाचित्र उस सभाके जल्सेका है कि जिसे लोग खण्डेलवाल **महासभा** सरीखा बड़ा नाम देनेकी हिमाक़त करते हैं सभामें जयपुर राज्यके निवासियोंके सिवा बाहरके लोग मुश्किलसे २५ होंगे।—संवाददाता।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.
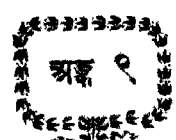
वर्ष ८ — १ मार्च सन् १९३३ — अङ्क ९

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

 जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

५) श्रीमान बा० चेतनदासजी बी० ए० मल्हीपुरने चिरंजीव मंगलकिरणके विवाहके उपलक्षमें दिये।

११) श्रीमान सुगनचंदजी रारा अजमेर ने अपने पुत्र मोहनलाल के विवाहके उपलक्ष में दिये।

२) श्रीमान लाला ज्योतिप्रसादजी बजाज देवबंदने चि० सुखवीरसिंहके विवाहके उपलक्षमें दिये।

उपरोक्त दातारोंको संचालकोंकी ओर से अनेकानेक धन्यवाद। —प्रकाशक।

दिगम्बर जैनमहासभाका नाटक।

ता० १६, १७, १८, फ़रवरीको थूबौनजी क्षेत्रपर होगया। बाहिरसे प्रायः इने गिने व्यक्ति ही शरीक हुए थे। प्रबंधकारिणी कमेटीका कोरम सिर्फ़ १३ का है किन्तु इस संख्याकी पूर्ति भी बड़ी मुश्किल से हुई। अनुपस्थित सदस्यों की प्रॉक्सी मिलाने से भी काम नहीं चला तो नये सदस्य बनाकर तथा उसी समय प्रबंधकारिणी कमेटी के सदस्य चुनकर किसीतरह कोरम पूराकिया। कुल १० प्रस्ताव पास हुए जिनमें प्रायः सभी मामूली व महत्त्वहीन हैं। "चर्चासागर" के विरोधमें इतना व्यापक आन्दोलन होचुकने पर भी महासभा अभीतक उसके विषय में कोई सम्मति निर्धारित नहीं करसकी है और इसलिये चर्चासागरकी जाँच करनेके लिये शास्त्री परिषत्को सिफ़ारिश की है। किन्तु 'मोक्षमार्गप्रकाश' के विषयमें पहिलेसे ही अपना मंतव्य प्रकट करदिया और साथही शास्त्री परिषत द्वारा जाँच करानेके लिये प्रस्ताव पास किया है। जैन गजटके सहायक सम्पादकके पदके लिये श्रीमान् पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीका नाम पेश कियागया था किन्तु उन्होंने साफ़ इनकार करदिया और कहा—जब तक महासभा अपनी नीतिको नहीं बदले, मैं सम्पादक नहीं बनसकता। महासभाकी नियमावली जैसी पहिले थी, वैसीही होनी चाहिये। विजातीयविवाहको धर्मानुकूल माननेवालोंके विरुद्ध जो रोक लगाई गई है वह हटाई जानी चाहिये। शोलापुरीय पण्डित बंशीधरजीने इसका विरोध किया। इसपर पंडित देवकीनन्दनजी तथा न्यायालंकार पं० बंशीधरजी इन्दौरने साफ़ शब्दोंमें कहा कि हम विजातीयविवाहको धर्मसम्मत प्रमाणित करनेके लिये हरसमय तैयार हैं। श्रीमान पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ (मंत्री शास्त्रार्थसंघ) ने भी क़रीब आधा घंटेतक इसी विषय पर

विवेचन किया और कहा कि मैं विजातीयविवाहको धर्म सम्मत सिद्ध करनेके लिये हर समय शास्त्रार्थ करनेको तैयार हूँ। परन्तु सभामें मौजूद होते हुए भी पंडित मक्खनलालजी पण्डित बंशीधरजी (शोलापुरीय) पण्डित खूबचन्दजी आदिकी हिम्मत नहीं हुई कि चैलेंज स्वीकार करें। क्या महासभामण्डली अबभी अपनी भूल स्वीकार कर ठीक रास्ते पर आवेगी ? चन्देके लिये अपील करने पर झोलीमें केवल ५००) रुपयों की प्राप्ति हुई।
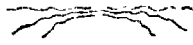
नुकता (मृत्युभोज) प्रथाकी धार्मिकता

यह सर्वविदित है कि जिसप्रकार वैष्णव आदि अन्य हिन्दू श्राद्धके नामसे ब्राह्मणोंको जिमाने व दक्षिणा आदि देनेमें, अपने पूर्वजोंकी तृप्ति मानते हैं, उसी ढंग पर, कई जैनी नुकतेके नामपर पंचोंको ज्यौनार जिमाकर तथा 'लाण' बांटकर अपने पूर्वजोंकी 'गति होना' समझते हैं। राजपूतानामें जब कोई व्यक्ति अपने पूर्वजोंका नुकता किये बिना, अपनी स्त्रीको नये जेवर पहिनाने लगता है तो बिरादरी की व पास पड़ौसकी स्त्रियाँ उलहना देती हैं, और कहती हैं कि तुम्हारे बड़ेरे—तुम्हारे अमुक अमुक रिश्तेदार—तो राखमें पड़े हैं और तुम ये जेवर पहिनते हो ! क्या तुम्हें शर्म नहीं आती ? आदि, जिसका साफ़ अभिप्राय यह है कि उनके ख्यालसे उन पूर्वजोंका 'राखकी चितासे' उद्धार मोसर करने परही होसकता है ! कई स्त्रियाँ अक्सर इस बातकी प्रतिज्ञा लेती हैं कि जबतक मेरे सास ससुर आदि का मोसर (नुकता) नहीं होगा, मैं अमुक जेवर नहीं पहनूंगी, अमुक यात्रा नहीं करूँगी आदि। इससेयह बिलकुल स्पष्ट है कि नुकतेकी प्रथाकी नींव "मिथ्यात्व" पर है, जो मानकषायकी तृप्तिका एक मुख्य साधन बनकर वर्तमानरूपमें समाजमें प्रचलित है। और इसलिये प्रत्येक सम्यक्त्वीका कर्तव्य है कि वह नुकता न स्वयं करे और न किसीके यहाँ ऐसी प्रथामें शरीक हो।

आश्चर्य है कि श्रीमान पं० मक्खनलालजी शास्त्री इतने स्पष्ट मामलेमें भी समाजको गुमराह लेजानेका प्रयत्न कर रहे हैं। आपके ख़यालमें नुकता धार्मिक प्रथा है और पातक शुद्धिके लिये किया जाता है !

नुकता (मृत्युभोज) किसीकी मृत्युके उपलक्षमें किया जाता है। समझमें नहीं आता कि किसीकी मृत्यु किस तरह किसी पातकका कारण हो सकती है, जिसका फल उसके वारिसोंको भोगना पड़े तथा जिसकी निवृत्ति केवल पंचोंको यह पंचायती टैक्स (नुकता जिमाना व लाण बाँटना आदि) चुकाने परही होसके ? साथही निम्नलिखित प्रश्न भी विचारणीय हैं—

(१) यदि नुकता धार्मिक प्रथा है तथा पातक शुद्धिके लिये आवश्यक है तो वह बालक बालिकाओंका व किसीभी अवस्थाके अविवाहित पुरुषोंका क्यों नहीं किया जाता है ?

(२) कई व्यक्ति अपने आप अपनी ज़िन्दगीमेंही अपना नुकता करडालते हैं। यह क्यों ? पातक मृत्यु होनेपर लगता है या मृत्यु पहिलेही उसका असर शुरू होजाता है ?

(३) पातकशुद्धिकी कुछ मर्यादाभी है या नहीं? राजपूतानामें अकसर नुकता मृत्युके २०—२५ वर्ष बाद तक होता है ! क्या इतने अर्से तक मृत व्यक्तिके वारिस पातकदूषित समझे जाते हैं ?

श्रीमान पं० मक्खनलालजीने अपने पक्ष समर्थनमें एक बड़ी अजीब दलील दी है। आप श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी प्रभृति धनसम्पन्न व्यक्तियोंके नाम गिनाते हुए यह पूछते हैं कि यदि नुकता श्राद्धका रूपान्तर है व मिथ्यात्व है तो क्या ये श्रीमान जो नुकता करते हैं, लाण बांटते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं ? यह दलील एक पेटार्थू पंडितके ही योग्य है। कोई भी समझदार व्यक्ति इसको ज़राभी महत्व नहीं दे सकता ! हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप किये बिना साधारण तौरपर कहदेना चाहते हैं कि धनिकों के आंतरिक चरित्रोंकी गाथाएँ बाहिर वालोंसे भलेही छुपी हुई हों, परन्तु उस स्थान वालोंसे वे छुपी नहीं रहतीं। केवल भाट, चाटुकार व उनके आश्रित व्यक्तिही धनिकोंकी सभी करतूतोंकी कीर्ति बखानकर उनको आदर्श मान सकते हैं, विवेकी पुरुष नहीं। —एक समाजसेवी।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.

वर्ष ८ | अंक ९

फाल्गुण शुक्ला ६ | ता० १ मार्च

वीर संवत २४५९ | सन् १९३३ ई०

जैनजगत्

तेरी खोज ।

तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ।
नव ऊषा के अरुण राग में,
सन्ध्या के नक्षत्र गान में,
नभ प्रदीप्त मध्याह्न काल में,
रजनी के निस्तब्ध जाल में,
देखा, किन्तु न तूने अपना रूप तनिक दिखलाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ १ ॥

सोऽहं सोऽहं की सुस्मृति में,
योगीगण की स्थिर विस्मृति में,
राग भरे वैराग्य भाव में
योग भरी भक्ति-प्रभाव में,
मन की भ्रान्त कल्पनाओं में मिली न तेरी छाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ २ ॥

गिरजे में, क्रिस्चन समाज में,
मस्जिद रोज़े में नमाज़ में,
पत्थर के नश्वर मन्दिर में,
मेरु, गुफा में, गिरि, कन्दर में,
घूमा, फिरा और अपने मन को सदैव भटकाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ३ ॥

पथ अनुकूल हुए भक्तों में,
हरि चरणों के आसक्तों में,
भस्म विभूषित अवधूतों में,
ईश्वर के भेजे दूतों में,
मस्तक कितनी बार अरे! मैंने अपना टकराया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ४ ॥

मधुर गान की झंकारों में,
महा मंत्र की हुंकारों में,
शंखनाद भेरी की ध्वनि में,
तालबद्ध नर्तन कीर्तन में,
तेरा रूप देखने को हा! मैं कितना ललचाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ५ ॥

ऋद्धि सिद्धि के चमत्कार में,
देवों की माया अपार में,
बाह्याडंबर की छाया में,
क्रिया कलापों की माया में,
कहीं तुम्हारा रूप तनिक भी नहीं ध्यान में आया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ६ ॥

अरे! अरे! मैं बड़ा अज्ञ था,
तुझ से उन्मुख था अविज्ञ था,
भ्रम मदिरा में हुआ चूर था,
सचमुच तुझ से बहुत दूर था,
कहाँ खोजता फिरा तुम्हें मैं, कितना कष्ट उठाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं पता न तेरा पाया ॥ ७ ॥

तुम मेरे ही निकट पास थे,
मन के भीतर के प्रकाश थे,
भक्त भावना के विकास थे,
अन्तस्तल की तेज राशि थे,
तुम्हें ले गया दूर अरे! मन को था व्यर्थ भ्रमाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ८ ॥

भक्ति तुला पर तोला मैंने,
दिव्य प्रेम रस घोला मैंने,
अन्तर आत्म टटोला मैंने,
घट का पट जब खोला मैंने,
अहे! भक्तवत्सल उसमें ही बैठा तुझ को पाया ।
तुझे खोजते हार गया मैं, पता न तेरा पाया ॥ ९ ॥

—'वत्सल'-विशारद ।

जैनधर्म का मर्म ।

(२२)

उपयोगके विषयमें जैनशास्त्रोंका मतभेद ।

जैनदर्शनमें उपयोगके दो भेद किये गये हैं। एक दर्शनोपयोग, दूसरा ज्ञानोपयोग। प्रचलित मान्यताके अनुसार वस्तुके सामान्य प्रतिभासको दर्शन कहते हैं और विशेष प्रतिभासको ज्ञान कहते हैं। जाननेके पहिले हमें प्रत्येक पदार्थका दर्शन हुआ करता है। श्वेताम्बरसम्प्रदायके आगमग्रन्थोंके अनुसार सर्वज्ञभी इसी क्रमसे वस्तुको जानते हैं-पहिले उन्हें केवलदर्शन होता है, पीछे केवलज्ञान होता है। इस विषयमें जैनाचार्योंके तीन मत हैं।

१—केवलदर्शन पहिले होता है, केवलज्ञान पीछे (क्रमवाद)।

२—दोनों साथ होते हैं (सहोपयोगवाद)।

३—दोनों एक ही हैं (अभेदवाद)।

पहिलामत (क्रमवाद) प्राचीन आगमग्रन्थोंका है, जिसका वर्णन भगवती पराणवणा आदिमें किया गया है। इसका वर्णन यह है।

"हे भदन्त* ! केवली जिस समय रत्नप्रभा पृथ्वीको आकारसे हेतुसे उपमासे ···· जानते हैं, क्या उसी समय देखते हैं ? ·········· ।"

"गौतम, यह बात ठीक नहीं है ?"

"सो किसलिये भदन्त ?"

"गौतम ! ज्ञान साकार होता है, और दर्शन निराकार होता है, इसलिये वह जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं और जिस समय देखता है उस समय जानता नहीं। जो बात रत्नप्रभाके लिये कही गई है वही शर्कराके लिये जानना चाहिये। इसीप्रकार वालुका आदि सप्तम पृथ्वी तक सौधर्म आदि ईषत प्राग्भार पृथ्वी तक परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिये।

दूसरा मत (सहपयोगवाद) मल्लवादीका* है और दिगम्बरसम्प्रदायमें तो वह आमतौरपर प्रचलित है†। प्रथममतके विरोधमें इन लोगोंका यह कहना है।:-

(क) ज्ञानावरण और दर्शनावरणका क्षय एक साथ होता है इसलिये दोनों एक ही साथ प्रकट होना चाहिये‡। पहिले पीछे कौन होगा ?

(ख) सूत्रमें केवलज्ञान और केवलदर्शनको सादि अनन्त कहा है। अगर ये उपयोग क्रमवर्ती होंगे तो दोनों सादि सान्त होजायँगे।

---

* "केवली णं भन्ते ! इमं रयणप्पभं पुविं आगारेहि हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठन्तेहिवण्णे हिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जंसमयं जाणति तंसमयं पासइ जंसमयं पासइ तं समयं जाणइ ?"

"गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे"

"सेकेणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति केवली णं इमंरयणप्पभं · "

"गोयमा सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति से तेणट्ठेणं जाणो तं समयं जाणति एवं जाव अहे सत्तमं। एवं सोहम्मकप्पंजाव अच्चुयं गेविज्जविमाणा अणुत्तर विमाणा ईसीपब्भारं पुढविं परमाणुं पोग्गलं दुपदेसियं खंध जाव अणंत पदेसियं खंधं" पण्णवणा पद ३०, सूत्र३१४

* मल्लिवादिनस्तु युगपद्भावितद्वयं—सम्मतिप्रकरण द्वि—कांड १०।

† दंसणपुव्वंणाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णिउवयोगा, जुगवंजम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि। द्रव्य संग्रह।

‡ केवल णाणावरणक्खय जायं केवलं जहाणाणं। तह दंसणं पि जुज्जइ णिय आवरणक्खयस्संते। स० प्र० २-१०।

† केवलणाणी णं पुच्छा गोयमा सातिए अपज्जवसिए। पण्णवणा—१८—२४१

(ग) सूत्रमें केवलीके ज्ञान, दर्शन एक साथ कहे$ हैं।

(घ) यदि ये क्रमसे होंगे तो एक उपयोग दूसरे उपयोगका आवरण करने वाला होजायगा।

(ङ, जिस समय केवली देखेंगे उस समय जानेंगे नहीं, इसलिये उपदेश देनेसे अज्ञात वस्तुका उपदेश देना कहलायगा।

(च) वस्तु सामान्य विशेषात्मक है किन्तु केवलदर्शनमें विशेष अंश छूट जानेसे और केवलज्ञानमें सामान्य अंश छूट जानेसे वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान कभी न होगा।

इत्यादि अनेक आशंकाएं हैं। येही सब आक्षेप अभेदोपयोगी सिद्धसेन आदिने भी किये हैं। परन्तु विशेष बात इतनी है कि सिद्धसेन दिवाकरको सहोपयोगवाद इसलिये पसन्द नहीं है कि एक समयमें दो उपयोग नहीं होसकते। (हंदियुवेणत्थि उवयोगा)

इसप्रकार मल्लवादी और सिद्धसेन, इन दोनोंने प्राचीन आगम परम्पराका विरोध किया है। परन्तु इन दोनों महानुभावों की शङ्काओंका समाधान बहुत अच्छी तरहसे विशेषावश्यक और नन्दीवृत्तिमें किया गया है। यहाँ भी उसका सार दिया जाता है।

ऊपर जो प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, उनका उत्तर यह है।

(क) दोनों कर्मोंका क्षय तो एक साथ होता है और उसके फलस्वरूप केवलदर्शन और केवलज्ञान भी एक साथ होते हैं परन्तु वह उपयोगरूपमें एक साथ नहीं रहता। जैसे चार ज्ञानधारी मनुष्य, चारों का उपयोग एक साथ नहीं करता उसीप्रकार केवल ज्ञान और केवलदर्शनका उपयोग भी सदा नहीं होता॥।

(ख) यद्यपि दोनोंको सादि अनन्त कहा है, किन्तु वह लब्धिकी अपेक्षा कहा है। उपयोग की अपेक्षा तो भद्रबाहु स्वामी दोनोंमें से एक ही उपयोग बताते हैं। "ज्ञान और दर्शनमेंसे एक ही का उपयोग होता है। क्योंकि दो उपयोग एक साथ कभी नहीं होते*। जैसे मतिज्ञानकी स्थिति ६६ सागर बतलाई है परन्तु इतने समय तक उसका उपयोग नहीं होता है, उसी प्रकार ये उपयोग भी सादि अनन्त हैं।

(ग) आक्षेप "ख" में जो समाधान है उसीसे 'ग' का समाधान भी हो जाता है।

(घ) जिसप्रकार मत्यादि चार ज्ञानोंके उपयोग एक साथ न होनेसे वे एक दूसरेके आवरण करने वाले नहीं हो सकते उसीप्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन भी एक दूसरेके आवरक न होंगे।

(ङ) जब हम मतिज्ञानसे कोई वस्तु देखकर श्रुतज्ञानसे विचार करके कहते हैं तब श्रुतज्ञानके समय मतिज्ञानका उपयोग न होनेपर भी यह नहीं

$केवलनाणुव उत्ता जाणन्तीसव्वभावगुणभावे। पासंति सव्व ओखलु केवलदिट्ठीहि णं ताहिं॥ विशेषावश्यक ३०९४ टीका।

*इस समग्र चर्चाके लिये सम्मतितर्क प्रकरणका दूसरा काण्ड देखना चाहिये। गुजरात विद्यापीठसे प्रकाशित सम्मति तर्कमें टिप्पणीमें इस विषयकी प्रायः समग्र गाथाएँ उद्धृत कीगई हैं। संस्कृतज्ञोंको स्पष्टताके लिये आगमोदय समिति रतलामके सटीक नन्दीसूत्रके १३६ पत्रसे देखना चाहिये अथवा विशेषावश्यक गाथा ३०९१ से देखना शुरू करना चाहिये। यहाँ स्थानाभावसे इन सब ग्रन्थोंके अवतरण नहीं दिये जासकते।

॥ जुगवमयाणन्तोऽविहु चउहिविनाणेहि जहव चउणाणी भन्नइतहेव अरिहा सव्वण्णू सव्वदरिसीय। युगपत्केवलज्ञानदर्शनोपयोगाभावेऽपि निःशेषतदावरणक्षयात सर्वज्ञः सर्वदर्शी चोच्यते इत्यदोषः। (नन्दीवृत्ति)

*नाणम्मिदंसणम्मिय एत्तो एगयरयम्मि उवउत्तो। सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दोनत्थि दोनित्थि उवयोगा। विशेषावश्यक ३०९७।

कहा जाता कि हम बिनादेखी वस्तुका उपयोग करते हैं।

(च) यदि छद्मस्थोंमें ज्ञानदर्शन भिन्न समयवर्ती होनेपर भी सच्चा ज्ञान होता है तो केवलीके होनेमें क्या बाधा है?

इसप्रकार क्रमवादके विरोधमें जो आशंकायें कीगई हैं उनका उत्तर दिया गया है। अभेदवाद तो जैनागमसे स्पष्ट ही प्रतिकूल है। यदि केवलदर्शन और ज्ञान एकही हैं तो उसको भिन्नरूपमें कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? इतना ही नहीं किन्तु इसके घातक दो जुदे जुदे कर्म बनानेकी भी क्या आवश्यकता है?

यह चर्चा बहुत लम्बी है। यहाँ इसका सार दिया गया है। इससे यह बात साफ मालूम होती है कि जैनशास्त्रोंकी प्राचीन परम्पराके अनुसार केवलीके भी केवलज्ञान और केवलदर्शनका उपयोग सदा नहीं होता। इसप्रकार जैनधर्ममेंभी युञ्जान योगियों (केवलियों) की मान्यता सिद्ध हुई।

यद्यपि ये तीनों मत विचारणीय या सदोष हैं परन्तु मौलिकताकी दृष्टिसे और युक्तियुक्तताकी दृष्टि से इन तीनोंमेंसे अगर एकका चुनाव करना हो तो इनमेंसे पहिला क्रमोपयोग ही मानना पड़ेगा।

क्रमोपयोगवाद तीनों वादोंमें सर्वश्रेष्ठ होने पर भी उसके प्रचलित अर्थमें कुछ विकार आगया है। कुछ लोगों का (जिनमें प्राचीनकालके लेखक भी शामिल हैं) ऐसा विचार है कि केवलदर्शन और केवलज्ञानका जो क्रमसे उपयोग बतलाया है उसका अर्थ यह है कि एक समयमें केवलदर्शन होता है, दूसरे समयमें केवलज्ञान, तीसरे समयमें फिर केवलदर्शन और चौथे समयमें फिर केवलज्ञान, इस प्रकार प्रत्येक समयमें ये दोनों उपयोग बदलते रहते हैं। विशेषावश्यक भाष्यमें शंकाकारकी तरफसे इसीप्रकार का क्रमोपयोग कहलाया* गया है परन्तु प्रतिसमय उपयोग बदलनेकी बात ठीक नहीं मालूम होती। एकान्तर उपयोगका यह अर्थ नहीं है कि उपयोग प्रति समय बदले। उपयोग बदलते जरूर हैं—परन्तु वे प्रत्येक समयमें नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्तमें बदलते हैं।

यदि एकान्तर शब्दका ऐसा अर्थ न किया जायगा तो अल्पज्ञानीका भी उपयोग प्रतिसमय बदलनेवाला मानना पड़ेगा। क्योंकि क्रमवादके समर्थनमें यह कहा गया है कि "यदि केवलज्ञानके समय सर्वदर्शित्वका अभाव माना जायगा और केवलदर्शनके समय सर्वज्ञत्वका अभाव माना जायगा तो यह दोष छद्मस्थके भी उपस्थित होगा †। क्योंकि उसके भी दर्शन ज्ञानका उपयोग एकान्तर होता है। जब उसके ज्ञानोपयोग होगा तब चक्षुदर्शन आदिका अभाव मानना पड़ेगा और चक्षुदर्शन आदिके उपयोगमें मतिज्ञान आदिका अभाव मानना पड़ेगा। तब इनकी ६६ सागर आदि स्थिति कैसे होगी? इनका उपयोग तो अन्तमुहूर्त ही होता है।"

यदि मति आदि ज्ञानोंका और चक्षु आदि दर्शनोंका उपयोग अन्तमुहूर्त तक ठहर सकता है तो केवलज्ञानका उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक क्यों न ठहरे? वह एक समयमें ही नष्ट होनेवाला क्यों मानाजाय? जिन कारणोंसे मतिज्ञान अन्तर्मुहूर्त तक ठहर सकता है वे कारण केवलज्ञानीके पास अधिक हैं। इसलिये

* क्रमोपयोग... केवलज्ञानदर्शनयोः प्रतिसमयं सान्तरं प्राप्नोति। ...... समयात्समयात् केवलज्ञानदर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावान्... विशे० वृत्ति। 'एकस्मिन् समये जानाति एकस्मिन् समये पश्यतीति'। नन्दीवृत्ति।

† छद्मस्थस्यापि दर्शनज्ञानयोः एकान्तर उपयोग सर्वमिदं दोषजालं समानं। विशेषा० वृत्ति ३१०३

§ उपयोगस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् नैतावन्तं कालंभवति वि० वृ० ३१०१

केवलज्ञानोपयोग भी एक समयवर्ती नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्तका मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी यहाँ विचारणीय है। जो लब्धि हमें प्राप्त होती है वह उपयोगात्मक होना ही चाहिये, यह कोई नियम नहीं है। अवधिज्ञानी वर्षों तक अवधिज्ञानका उपयोग न करे तो भी चलसकता है, तथा वह अवधिज्ञानी कहलाता रहता है। इसी तरह केवलज्ञानभी एक लब्धि है (नव क्षायिक लब्धियोंमें इसकी भी गिनती है) इसलिये उसका उपयोग भी सदा होना चाहिये—यह नियम नहीं बनसकता।

प्रश्न—जो लब्धियाँ क्षयोपशमिक हैं उनका उपयोग सदा न हो, यह होसकता है; परन्तु जो क्षायिक लब्धि है उसके विषयमें यह बात नहीं कही जासकती।

उत्तर—लब्धि और उपयोगका क्षयोपशम और क्षयके साथ कोई विषमसम्बन्ध नहीं है। क्षयोपशमसे अपूर्ण शक्ति प्राप्त होती है और क्षयसे पूर्णशक्ति प्राप्त होती है। क्षयोपशममें थोड़ी शक्ति भले ही रहे परन्तु जितनी शक्ति है उसको तो सदा उपयोग रूप रहना चाहिये। यदि क्षयोपशमिक शक्ति, लब्धिरूपमें रहते हुए भी उपयोग रूपमें नहीं रहती तो केवलज्ञानभी लब्धिरूपमें रहते हुए उपयोग रूपमें रहना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता*।

दूसरी बात यह है कि अन्य क्षायिक लब्धियाँ भी उपयोगरहित होती हैं। अन्तरायकर्मके क्षय होजानेसे केवलीको दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच क्षायिक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इस विषयमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी एकमत हैं कि इन लब्धियोंका उपयोग सदा नहीं होता†, खास कर दानादि चार लब्धियोंका उपयोग सिद्धोंके तो नहीं होता, यद्यपि अन्तराय कर्मका क्षय तो रहता ही है।

तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धिमें भी क्षायिक दानादिका स्वरूप बतलाकर यह प्रश्न किया गया है कि सिद्धोंको भी अन्तराय कर्मका क्षय है परन्तु उनके दानादि कैसे सम्भव होंगे? इसके उत्तरमें कहा गया है कि अनन्तवीर्य रूपमें दानादि सिद्धोंको फलदेते हैं*। परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि अनन्तवीर्य तो अरहन्तमें भी होता है तब क्या दानादि भी जब अनन्तवीर्य रूपमे परिणत होते हैं उस समय अनन्तवीर्यमें भी वृद्धि होती है? क्षायिक लब्धिमें भी क्या तरतमता होसकती है? तरतमता होनेसे तो वह क्षायोपशमिक होजायगी। यदि कुछ वृद्धि नहीं होती तो वह (दानादि) लब्धि निरर्थक ही हुई। इसप्रकार कर्मकाक्षय भी निरर्थक हुआ। दूसरी बात यह है कि यदि एक लब्धि दूसरे रूपमें परिणत होने लगे तब तो केवलज्ञानभी केवलदर्शन रूपमें परिणत होने लगेगा। इसलिये अगर सिद्धोंमे कोई केवलज्ञान न माने, सिर्फ केवल दर्शन माने तो क्या आपत्ति की जासकेगी? इसलिये यही मानना चाहिये कि क्षायिक लब्धिभी उपयोग रहित

*विशेषावश्यककी यह गाथाभी इसीबातका समर्थन करती है—

देसक्खए अजुत्तं जुगवंकसिणोभओवओगित्तं। देसो भओवओगे पुणाइ पडिसिज्झए किं सो?—३१०५

†अहनवि एवं तो सुण, जहेव खीणन्तरायओ अरिहा। संतेवि अन्तरायक्खयंमि पचण्पयारम्मि॥समयं न देइ लहइ व, भुंजइव सव्वण्णू। कज्जं मि देइलहइव भुंजइव तहेव इहयंपि॥ नन्दीवृत्ति।

*यदि क्षायिक दानादिभावकृतमभयदानादि,सिद्धेष्वपितत्प्रसङ्गः। इतिचेन्न शरीर नाम तीर्थंकर नामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावेत अप्रसङ्गः कथं तर्हितेषां सिद्धेषु वृत्तिः परमानन्तवीर्याव्याबाध सुखरूपेणैवतेषां तत्र वृत्तिः। सर्वार्थ सिद्धि २-४।

लब्धिरूपमें चिरकाल तक रह सकती है। और उसे कार्यरूपमें परिणत होनेके लिये बाह्य निमित्तों की आवश्यकता भी होती है। जैसे क्षायिक दानादिको कार्यपरिणत होनेके लिये तीर्थंकर नामकर्म शरीर नामकर्म आदि निमित्तोंकी आवश्यकता मानी गई है।

केवलज्ञानोपयोगका रूप।

यहाँ तकके विवेचनसे पाठक दो बातें समझ गये होंगे। एक तो यह कि आवरण आदि घातिकर्मोंके क्षय होजाने पर केवलज्ञान उपयोग रूपमें सदा नहीं रहता, वह चिरकाल तक अनुपयुक्त भी रहसकता है। दूसरी यह कि यह मत अन्य दोनों मतों की अपेक्षा प्राचीन है। इसलिये इसे जैनधर्म का मूलमत कहना चाहिये।

अब इसके बाद एक विचारणीय बात और है। आजकल क्रमवादी भी यही समझते हैं कि जब केवलदर्शन उपयोग होता है तब त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास होता है और जब केवलज्ञानोपयोग होता है तब त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थोंका युगपत् विशेष प्रतिभास होता है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि यह बात असम्भव है। एक समयमें सबपदार्थोंका सामान्य प्रतिभास तो किसी तरह उचित कहा जासकता है किन्तु सब पदार्थोंका विशेष प्रतिभास उचित नहीं कहा जासकता। "सब पदार्थ हैं" इसप्रकारका प्रतिभास एक साथ होसकता है किन्तु अगर आप सब पदार्थों की विशेषताको एक साथ जानना चाहें तो यह असम्भव है। यह बात एक उदाहरणसे स्पष्ट होगी।

एक मनुष्य एक समयमें एक फल को देखता है। अब यदि वह एक साथ दो फलोंको देखेगा तो दोनों फलों की विशेषताएँ उसके विषयके बाहर होजायँगी, और उन दोनों फलोंमें जो समान तत्त्व है सिर्फ वही उसका विषय रहजायगा*। इसीप्रकार ज्यों ज्यों उपयोगका क्षेत्र विशाल होता जायगा, त्यों त्यों विशेषताके अंश विषयके बाहर होते जाँयगे और उन सबकी समानता विषयमें रह जायगी। जब किसी उपयोग का विषय बढ़ते बढ़ते लोत्रिकव्यापी

* विशेषावश्यक की निम्नलिखित गाथाओं में इसी बातका उल्लेख :—

समयमणेगग्गहणं जइ सीओसिण दुगम्मिको दोसो।
केणव भणियं दोसो उवयोग दुगे वियारो यं ॥२४३९॥
समयमणेगग्गहणं एगाणे गोवओग मेओ को।
सामण्णमेग जोगो खंधविरोव ओगोव्व ॥ २४४० ॥
खंधारोऽयं सामण्णमेत्त मेगो वओगया समयं।
पइवत्थुविभागो पुण जोसोऽणे गोवयोगस्ति ॥ २४४१ ॥
तेच्चिय न संति समयं सामण्णाणेगगहणमविरुद्धं।
एगमणेगंपितयं तम्हा सामण्णभावेणं ॥ २४४२ ॥
उसिणेयं सीमेयं न विभागो नोवओगदुगमित्थं।
होअसमं दुगगहणं सामण्ण वेयणामेत्ति ॥२४४३॥ इत्यादि

भावार्थ—एक समयमें शीत और उष्ण का ज्ञान होजाय तो क्या दोष है? उत्तर—इसमें दोष कौन कहता है? हमारा कहना तो यह है कि दो उपयोग एक साथ न होंगे किन्तु दोनों का एक सामान्य उपयोग ही होगा। जैसे सेना शब्द से होता है। सेना यह सामान्य उपयोग है किन्तु रथ अश्वपदाति आदि विशेषोपयोग हैं वे अनेक हैं। वे अनेकोपयोग एक साथ नहीं हो सकते, हाँ! उनमें जो समानता है वह हम एक साथ ग्रहण कर सकते हैं। जो एक साथ उष्णवेदना और शीतवेदनाका अनुभव करता है वह शीत और उष्ण के विभाग को अनुभव नहीं करता हाँ सामान्य रूपसे वेदनाका ग्रहण करता है।

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि एक साथ अनेक वस्तुओं का विशेषज्ञान नहीं हो सकता। एक साथ अनेक विशेषों का ज्ञान मानने से मुनिगंग को जैनधर्म का दोषक (निह्नव) माना है। इसलिये केवली के भी त्रिलोक की सब वस्तुओं का विशेषज्ञान एक साथ कैसे हो सकता है?

होजायगा तब त्रिलोकमें रहनेवाली समानता उस उपयोगका विषय होगी, न कि सब विशेषताएँ। अन्यथा केवलज्ञानके समयमें अनन्त उपयोग मानना पड़ेंगे। परन्तु जब एक साथ एक आत्मामें दो उपयोग नहीं होसकते तब अनन्त उपयोग कैसे होंगे ?

केवलज्ञान और केवलदर्शन जो आत्मामें एक साथ नहीं माने जाते उसका कारण सिर्फ यही है कि जिस समय केवलीकी दृष्टि विशेषअंश पर है उस समय वह सामान्य प्रतिभास नहीं कर सकता और जब समानअंश पर है तब विशेषप्रतिभास नहीं करसकता। जब समान तत्त्वों और विशेष तत्त्वोंका प्रतिभास एक साथ नहीं होसकता तब अनन्त विषयोंका प्रतिभास एक साथ कैसे होसकेगा ? यदि केवली महासत्ताके प्रतिभासके समय जीवकी सत्ता (अवान्तरता) का प्रतिभास नहीं करसकता और जीवकी सत्ताके प्रतिभासके समय महासत्ताका प्रतिभास नहीं कर सकता तो जीवकी सत्ताके प्रतिभासके समय अजीवकी सत्ताका प्रतिभास कैसे होगा ? यदि वह जीव और अजीव दोनोंकी सत्ता का प्रतिभास एक समयमें करेगा तब तो वह महासत्ताका प्रतिभास होगा इसलिये दर्शनोपयोग हो जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई भी ज्ञानोपयोग एक ही समयमें (युगपत्) सब पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

आगमसे भी मेरे इस वक्तव्यका कुछ समर्थन होता है। पहिले मैं पराणवणा सूत्रके महावीर-गौतम संवादका उल्लेख कर आया हूँ जिसमें गौतम, महावीर से पूछते हैं कि जिस समय केवली रत्नप्रभा पृथ्वीको देखता है क्या उसीसमय रत्नप्रभा पृथ्वी को जानता भी है ? महावीर कहते हैं 'नहीं'। फिर गौतम यही प्रश्न शर्कराप्रभा पृथ्वीके विषयमें भी करते हैं, फिर बालुकाप्रभा, इसीप्रकार सब पृथिवियोंके विषयमें करते हैं। फिर यही प्रश्न सौधर्मआदि के विषयमें, परमाणुसे लेकर अनंतप्रदेशी स्कंधके विषयमें करते हैं। इससे मालूम होता है कि केवली का उपयोग कभी रत्नप्रभापर, कभी शर्कराप्रभापर कभी सौधर्म स्वर्गपर, कभी ग्रैवेयकपर, कभी परमाणुपर, कभी स्कंधपर, पहुँचता है। उनका ज्ञानोपयोग एक साथ त्रिकाल त्रिलोकपर नहीं पहुँचता। यदि उनका ज्ञानोपयोग सदा त्रिकाल त्रिलोकव्यापी होता तो रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदिके विषयमें जुदे जुदे प्रश्न न किये जाते। इससे मालूम होता है कि केवलीके जब कभी ज्ञानोपयोग होता है तब सब द्रव्यपर्यायोंपर नहीं किन्तु किसी परिमित विषयपर होता है।

प्रश्न—तब तो केवली असर्वज्ञ होजायँगे ?

उत्तर—किसी मनुष्यका ज्ञान कितना है, यह बात उसके उपयोग पर नहीं, लब्धिपर निर्भर है। एक विद्वान अगर षड्दर्शनोंका ज्ञाता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसका उपयोग छःदर्शनपर सदा बना रहता है। अथवा जब दार्शनिक शास्त्रपर वह उपयोग करता है तो सभी दर्शनोंपर उसका उपयोग जाता है। एक दर्शनके उपयोगके समयपर भी वह षड्दर्शनशास्त्री कहलायगा। इसीप्रकार अगर केवली एक पदार्थपर उपयोग लगाते हैं तो भी वे अनन्ततत्त्वज्ञ कहलायँगे।

प्रश्न—छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) भी एक समयमें एक वस्तुपर उपयोग लगासकते हैं और केवली भी उतनाही उपयोग लगाते हैं तब छद्मस्थ और केवली में अन्तर क्या रहेगा ?

उत्तर—एक मूर्खभी एक समयमें एकही अक्षर का उच्चारण कर सकता है और विद्वान भी इतना ही उच्चारण कर सकता है, परन्तु इससे मूर्ख और विद्वान् एकसे नहीं होजाते। विद्वत्ताका फल एक समयमें अनेक अक्षरोंका उच्चारण नहीं है, किन्तु अक्षरोंका अनेक तरहसे सार्थक उच्चारण करना है।

अथवा जैसे एक साधारण पशु एक समयमें एकही उपयोग करता है और एक श्रुतकेवली परमावधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी भी एक समयमें एकही उपयोग करता है तो उन दोनोंकी योग्यता एकसी नहीं होजाती। उपयोगकी विस्तीर्णतामें ज्ञानकी महत्ता नहीं है किन्तु उसकी महत्ता शक्तिकी महत्तामें है। अवधिज्ञानी आदिका उपयोग भी केवलीके समान होसकता है परन्तु ऐसे बहुतसे विषय हैं जहाँ केवली उपयोग लगासकता है किन्तु अवधिज्ञानी नहीं लगा सकता। अथवा केवलीका उपयोग जितना गहरा जाता है उतना अवधिज्ञानी आदि छद्मस्थोंका नहीं जाता। अथवा जिस तत्त्व तक केवलीकी पहुँच है वहाँ तक अन्यों (छद्मस्थों) की नहीं है।

प्रश्न—आत्मा स्वभावसे ज्ञाता दृष्टा है। आत्मा जितने पदार्थोंको जान सकता है उन सबके आकार आत्मामें अकृत्रिम रूपमें स्थित हैं। जब तक आत्मा मलिन है तब तक वे आकार प्रकट नहीं होते। जब आत्मा निर्मल होजाता है तब वे सब आकार एक साथ प्रकट होजाते हैं। इसप्रकार एकसाथ अनन्त पदार्थोंका प्रतिबिम्ब प्रकट होता है। यही अनन्तज्ञान है।

उत्तर—आत्मा दर्पणकी तरह नहीं है कि उसके एक एक भागमें एक एक आकार बना हो। दर्पण में एक साथ पचास चीजों का प्रतिबिम्ब पड़े तो वह दर्पणके जुदे जुदे भागोंमें पड़ेगा। जिस भागपर एक वस्तुका प्रतिबिम्ब है उसी भागपर दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। परन्तु आत्मामें जो ज्ञान पैदा होता है वह आत्माके भागमें नहीं होता—प्रत्येक ज्ञान आत्मव्यापक होता है। इसलिये अनेकाकार रूप अनेक ज्ञान आत्मामें एक साथ कभी नहीं होसकते। यह आकारकी बात इसलिये भी ठीक नहीं है कि आत्मा अमूर्तिक है इसलिये उसमें किसीका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इसके अतिरिक्त आत्माके एक प्रदेशमें अगर एक वस्तुका प्रतिबिम्ब मानलिया जाय तो आत्मामें इतने प्रदेश नहीं हैं जितने जगत् में पदार्थ हैं। तब वे प्रतिबिम्ब कैसे होंगे? फिर एक एक पदार्थ की भूत और भविष्य कालकी अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं उन सबके जुदे जुदे प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेंगे? इसके अतिरिक्त एक बाधा और है। किसी भी पदार्थमें किसी वस्तुको ग्रहण करनेकी शक्ति स्वाभाविक होसकती है, परन्तु उस शक्तिके प्रयोगके जो परसम्बन्धी विविधरूप हैं वे स्वाभाविक और सार्वकालिक नहीं होसकते। दर्पणमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति स्वाभाविक है परन्तु दर्पण मे जितने पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़सकते हैं वे सब प्रतिबिम्ब दर्पणमें प्रारम्भसे ही सदा विद्यमान हैं और निमित्तमिलनेपर वे सिर्फ अभिव्यक्त (प्रकट) हुए हैं यह कहना अप्रामाणिक है। इसीप्रकार यह कहनाभी अप्रामाणिक है कि आत्मामें अनन्त पदार्थोंके आकार बने हुए हैं, वे निमित्त मिलनेपर या आवरण हटने पर अपने आप प्रकट होते हैं। इस विषयमें एक और बड़ी भारी अनुभव बाधा है।

एक मनुष्य अल्पज्ञानी है। कल्पना करो वह दस पदार्थोंको जानता है परन्तु एक समयमें वह एक ही वस्तुपर उपयोग लगा सकता है। दूसरा आदमी सौपदार्थोंको जानता है परन्तु वह भी एक समयमें एकही उपयोग लगासकता है। इसीप्रकार कितना भी बड़ा ज्ञानी होजाय वह भी एक समयमें एकही उपयोग लगासकेगा। हम जब पचास चीजोंको जानते हैं तब वे सब चीजें हमें सदा क्यों नही झलकतीं? हमें जितना ज्ञान है उतना तो सदा झलकते रहना चाहिये। ऐसा नहीं होता. इसलिये यही कहना चाहिये कि अगर कोई मनुष्य सर्वज्ञ होगा तो वहभी लब्धि रूपमें ही सर्वज्ञ होगा, उपयोगरूपमें नहीं। यह बात अनुभवसे युक्तिसे और आगमके कथन तथा उसके ऐतिहासिक निरीक्षणसे स्पष्ट होजाती है।

विरोधी मित्रोंसे ।

(१०)

आक्षेप (२५)—सर्वज्ञताका अर्थ असाधारण पाण्डित्य नहीं है। महात्मा बुद्ध भगवान महावीरको सर्वज्ञ मानते हैं। जैनधर्मके वैज्ञानिकरूपमें जो विकृति आगई हो उसे बड़ी सावधानीसे काट छाँट कर ठीक कर लेनेकी ज़रूरत अवश्य है किन्तु उसके मिससे जैनधर्मके मूलसिद्धान्तों परही कुठाराघात करना किसी तरहभी उचित नहीं कहा जा सकता और न वह आस्तिक्यताका ही समर्थक है।

समाधान—सर्वज्ञताका अर्थ क्या है, इसका ठीक ठीक शास्त्रीय विवेचन तो लेखमालाके चतुर्थ अध्यायमें निकलने लगा है। उसके पढ़नेपर आपको विदित हो जायगा कि मैंने यह निर्णय उतावलीमें किया है या विचारपूर्वक किया है। "महात्मा बुद्ध महावीरको सर्वज्ञ मानते थे"—यह मिथ्यासूत्र आपके अस्थिमज्जा तक प्रविष्ट होगया है। आप न तो अपनी इस बातको साबित करनेके लिये तैयार हैं और न इस मिथ्यासूत्रको छोड़नेके लिये तैयार हैं। जैनमुनियोंने जो शब्द भगवान महावीर के लिये कहे हैं उनको आप भ्रमवश बुद्धका कथन मान रहे हैं।

आपने मज्झिमनिकायका जो अवतरण 'भगवान महावीर', में उद्धृत किया है उसका सयुक्तिक खण्डन मैं लेखमाला के आठवें अंकमें दे आया हूँ। (देखो जैनजगत् वर्ष ७ अंक १५) अगर सर्वज्ञतासूचक वाक्य महात्मा बुद्धके हों तो उसमें चार दोष आते हैं। (१) निर्ग्रंथोंके उत्तरका अधूरापन (२) कथनशैलीका परिवर्तन। (३) व्याकरणकी अशुद्धि। (४) घटनाकी असंगतता। खेद है कि इन चारों दोषोंका परिहार आपने अभी तक नहीं किया। बल्कि उसीबातको आप यत्र तत्र लिखा ही करते हैं। ओसवाल-नवयुवक, के विशेषांकमें भी वही बात आपने लिखी तब उसके सम्पादकने भी आपकी भूलकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया। अगर आपको लिखना ही था तो मेरी युक्तियोंका खंडन करके आप फिर अपने पक्षको लिखसकते थे। परन्तु आपकी ग़लती इतनी स्पष्ट है कि उसे एक बच्चा भी समझसकता है। ग़लती विद्वानोंसे भी होती है, परन्तु जब उनकी ग़लती स्पष्ट होजाय तब अगर वे उसे शब्दोंमें स्वीकार न करें, मौनरूपमें स्वीकार न करें और दोषारोपणको दूरकरनेकी भी चेष्टा न करें, परन्तु अपनी बातको अवसर अनवसरका विचार किये बिना कहतेही चलेजाँय तब उनका अपराध अक्षन्तव्य होजाता है। भूल होना निंदनीय नहीं है किन्तु अभिमानी और दुराग्रही होना निंदनीय है।

आपके अर्थके विरोधमें जो चार युक्तियाँ दी हैं वे ही सत्यताके प्रकाशके लिये काफ़ी हैं; परन्तु पाँचवीं बात तो ऐसी है जिससे मेरे खेद और आश्चर्यका पार नहीं रहता है। आपने मज्झिमनिकायके उद्धरणमें जैनमुनियोंके कथनको बुद्धका कथन बनादिया है, यह बड़ी भारी ग़लती है सो तो है ही, परन्तु बुद्धने जैनधर्मका और जैनमुनियोंका जो कठोर खंडन किया है उसे आपने साफ़ उड़ादिया है! इसप्रकारकी चेष्टासे किसीभी विद्वानका सिर लज्जासे झुकजायगा। खैर, मैं सबबात का खुलासा किये देता हूँ।

एकबार बुद्धने जैनमुनियोंको तपस्या करते देखा और उनसे कहा कि 'तुमलोग यह देहदंड क्यों सहरहे हो?"

जैनमुनियोंने कहा—"आयुष्मन्! निगंठ नातपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उनने कहा है, तुम्हारे सब पाप कठोर तपस्यासे दूर होंगे। हमें यह विचार रुचता है इससे हम सन्तुष्ट हैं।"

(बाबू कामताप्रसादजी जैनमुनियोंके इस कथनके अन्तभागको बुद्धका कथन बनाते हैं जो किसी तरह बन नहीं सकता; और आगे बुद्धने जो जैनमुनियोंके विरोधमें कहा है वह साफ़ उड़ाजाते हैं। खैर इसके आगेका भाग देखिये।)

बुद्ध—ऐसा कहनेपर हे महानाम! मैंने उन निगंठों से कहा—"निगंठो पूर्वजन्ममें तुम थे कि नहीं? तुमने पाप किया कि नहीं? किसप्रकारका पाप किया है? इतना दुख पूरा होगया, इतना बाकी बचा, इस लोकमें भी पापोंका नाश किया जासकता है और पुण्यकी प्राप्ति कीजासकती है, यह सब तुम जानते हो।"

जैनमुनि—न, यह हम नहीं जानते।

बुद्ध—यदि तुम लोग ये बातें नहीं जानते तब तो

यही कहना चाहिये कि पूर्वजन्ममें अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले चोर चाण्डाल आदि ही इस जन्ममें निगंठके धर्ममें प्रवेश करते हैं।

जैनमुनि—आयुष्मन गौतम ! सुखसे सुख नहीं मिलता। दुःखसे सुख मिलता है। जो सुखसे सुख मिलता तो श्रेणिक बिम्बसार आयुष्मान गौतमसे ज्यादः सुखी होता।

बुद्ध—तुम बिना बेचारे बोले। अगर तुमने यह पूछा होता कि श्रेणिक और गौतममें ज्यादः सुखी कौन, तो यह प्रश्न ठीक होता।

जैनमुनि—अच्छा, ऐसा ही सही।

बुद्ध—अच्छा ! अब मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ कि बिम्बसार राजा देह हिलाये बिना, शब्दोच्चारण किये बिना, सात दिन, छः दिन पाँच चार तीन दो या एक दिन भी पूर्ण सुखका अनुभव करसकता है।

जैनमुनि—नहीं कर सकता।

बुद्ध—लेकिन मैं करसकता हूँ। अब बताओ ज्यादा सुखी कौन ?

जैनमुनि—तब बिम्बसारकी अपेक्षा आपही सुखी हैं।

बस, यहाँ चूलदुक्खक्खंधसुत्त समाप्त होता है। अब मेरे मित्र विचारें कि बुद्ध, जैनधर्मको पुराने (पहिले जन्मके) चोरों और चांडालों का धर्म कहते हैं और जैनमुनियोंका खंडन करते हैं। परन्तु आप बुद्धके वक्तव्यको छुपाकर और ज़बर्दस्ती जैनमुनियोंके वक्तव्यको बुद्धका वक्तव्य कहकर बड़ा अन्याय करते हैं ! किसी को सर्वज्ञ माननेके लिये आप स्वतंत्र हैं परन्तु इसके लिये बुद्धपर अन्याय करना अनुचित है।

आपने अंगुत्तरनिकाय, संयुक्तनिकाय आदिमें भी ऐसी ही भूलकी है। इन सब निकायोंमें बुद्धने अनेकबार जैनधर्म और महावीरकी निंदाकी है। हाँ, अनेक जगह जैनश्रावक बुद्धके साम्हने महावीरकी प्रशंसा करते हैं; परन्तु सब जगह बुद्ध उनकी बातका खंडन करते हैं। बुद्धने महावीरकी और जैनधर्मकी जहाँ जहाँ निन्दाकी है वे सब प्रकरण अगर लिखे जाँय तो एक छोटीसी पुस्तक तैयार होगी। अगर आवश्यकता होगी तो इसपर अलग विचार किया जायगा।

आपने मुझे मूलसिद्धान्तोंपर कुठाराघात करने वाला लिखा है सो इसका उत्तर मैं ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके आक्षेपके समाधानमें कहआया हूँ। पहिले तो मूल सिद्धान्त और अमूल सिद्धान्तका निर्णयही करना है। दूसरी बात यह कि जब सत्यकी पूजा करने बैठे तब मूल अमूल का क्या विचार ? असत्य अगर मूलमें हो तो उस पर कुठाराघात करना चाहिये और सत्य अगर अमूलमें हो तो भी उसकी रक्षा करनी चाहिये।

अन्तमें आपने मुझे नास्तिक साबित करनेकी कृपा की है। शताब्दियोंसे जैनधर्मको भी वैदिक लोग नास्तिक कहते रहे हैं। इस पर जैनियोंका यह वक्तव्य रहा है कि "जो पुण्यपापके फलको न माने वह नास्तिक है। हम लोग पुण्यपापका फल मानते हैं इसलिये आस्तिक हैं; अगर यह कहोकि जो ईश्वरको कर्ता न माने, वेद को न माने वह नास्तिक है तो हम लोग नास्तिक हैं और इस नास्तिकतामें ही अपना गौरव समझते हैं।" जैनधर्मका यही उत्तर मैं अपनी ओरसे अपने मित्रके साम्हने उपस्थित करता हूँ।

बाबू कामताप्रसादजी के आक्षेपोंका उत्तर यहाँ समाप्त होता है। अन्तमें मैं अपने ऐसे मित्रोंसे कहना चाहता हूँ कि जैनधर्मको आप जितना प्राचीन सिद्ध कर सकें अवश्य करें, परन्तु प्राचीनतासे जैनधर्मकी सत्यता साबित होगी यह भ्रम निकालदें। ऐतिहासिक दृष्टिसे जब आप कुछ लिखें उस समय आप सच्चे न्यायाधीश की तरह दृढ़ और निष्पक्ष बनें। यदि आप ऐसा न करेंगे तो जैनधर्म, समाज और साहित्यका नुकसान करेंगे।

'बुद्ध, महावीरको सर्वज्ञ मानते थे'—यह बात जब कोई बौद्धशास्त्रज्ञ विद्वान पढ़ेगा और जब वह देखेगा कि आपने किस तरह बुद्धके शब्दोंको छुपाया है, किस तरह जैनमुनियोंके वचनोंको आपने बुद्धके वचन बताया है, तब वह सभी जैन विद्वानोंको इसी तरहका अप्रामाणिक समझेगा। वह जैनत्वसे ही घृणा करने लगेगा। अनुचित और मिथ्या प्रशंसा निंदाका भयंकर रूप है। इसलिये आप मिथ्याप्रशंसासे जैनधर्म की निंदाके कारण होंगे। सब धर्मोंकी अपेक्षा मुझे जैन धर्म अधिक प्यारा है; मेरे हृदयमें अन्य महापुरुषोंकी

अस्पृश्य और जैनसंस्कृति ।

(लेखक—श्रीमान् पण्डित सुखलालजी)

हजारों वर्ष पहले भी चाण्डालों और अन्त्यजों के प्रति इससमय जैसी ही, शायद इससेभी अधिक और बहुत अधिक, घृणा और तुच्छ दृष्टि थी। उस समयके प्राचीन ब्राह्मण-सूत्रोंके पढ़नेसे इस विषय में कोई सन्देह नही रहजाता है। भगवान् महावीर ने अपने त्यागमय जीवनमें इस बातका विरोध किया और अन्त्यजों तथा अस्पृश्योंको साधु—संघमें दाखिल किया। इससे ब्राह्मणों और दूसरे उच्चवर्ण वाले लोगोंमें क्षोभ प्रकट हुआ, खलबलाहट मचगई; परन्तु भगवानने इसकी जरा भी परवाह न की।

अस्पृश्यों को गुरुपद देना, इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उन्हें अपनी तमाम शक्तियोंको विकसित करनेकी स्वतन्त्रता देना। उससमयके जैनराजा और दूसरे गृहस्थ भी इन अस्पृश्य जैनगुरुओंको स्पर्श करना एक सम्मानका कार्य समझते थे; उनके पैरों पड़ते थे और ब्राह्मण जैनगुरुओंके समान ही उनका आदर करते थे।

भगवानके उक्त आन्दोलनके दो उदाहरण उत्तराध्ययन सूत्रमें मिलते हैं, एकतो चित्त-संभूतिका और दूसरा हरिकेशी बलका। ये दो घटनाएँ किस समय घटित हुई, यह निश्चयपूर्वक तो नही कहा जासकता, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भगवानके ही समयमें अथवा उनके बाद तत्कालही घटित हुई होंगी। चित्त और संभूति दोनों एक चाण्डालके पुत्र थे। जिस समय वे ब्राह्मणों और दूसरे वैदिक लोगोंके तिरस्कारसे दुखी होकर आत्मघात करनेके लिए तैयार होते हैं, उस समय भगवानकी सच्ची दीक्षा ही उन्हें बचालेती है। वर्णतिरस्कारके विरुद्ध यह पहला उदाहरण है। हरिकेशी चाण्डाल है। उसे मारे वेदानुयायी सताते हैं, तिरस्कृत करते हैं और धिक्कार देते हैं। उस समय जैन दीक्षा इस चाण्डालपुत्रमें भी केवल तेज ही नही किन्तु असाधारण तेज भर देती है।

इनके सिवाय भी कुछ विरल उदाहरण मिलते हैं। मुख्य मुद्देकी बात यह है कि जैनसंस्कृति जन्म से नहीं किन्तु गुणकर्मसे वर्णभेद मानती है। अवश्य ही बौद्धसंस्कृति भी ऐसी ही है; परन्तु दुःख की बात यह है कि भगवान् महावीरका झंडा लेकर फिरनेवाले जैनसाधु इस संस्कृतिकी रक्षा नहीं कर सके।

नौवीं शताब्दितकके दिगम्बरसम्प्रदायके विद्वान अपने ग्रन्थोंमे ब्राह्मणोंकी जिस जन्मसिद्ध उच्चता और अन्त्यजोंकी जन्मसिद्ध नीचताके विरुद्ध तुमुल युद्ध करते रहे हैं और पश्चिम तथा उत्तर भारतके श्वेताम्बर आचार्य जिसे अन्त अन्त तक अपने शास्त्रोंमें तत्त्वदृष्टिसे स्थापित करते रहे हैं, उसी विषय में सभी जैन—तीनों ही सम्प्रदायके जैन—ब्राह्मणों से हार गये हैं। ब्राह्मणों ने जो किया, जो कहा और जो लिखा, उसे जैनोंने मानलिया, वे फिर गुलाम हो गये। एक समय था जब अन्त्यज जैनदीक्षासे पवित्र होजाते थे और उनकी अस्पृश्यता मिटजाती थी। परन्तु अब अन्त्यज और उनकी अस्पृश्यता जैनदीक्षाको अपवित्र बना देती है। जैनोंका इससे अधिक घोर पराजय और क्या होसकता है? क्या पहलेकी जैनदीक्षामें पवित्रताकी अग्नि थी जिसमें अस्पृश्यता-अछूतता-जलजाती थी, और इस समयकी अछूततामें इतना मैल है कि उसके सम्मुख वर्तमान जैनदीक्षा कुछ भी कर सकनेमें असमर्थ है? यदि स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय, तो इस समयकी दीक्षामें

अपेक्षा भगवान महावीरका अधिक स्थान है। परन्तु मैं इस भक्ति और प्रेमको अन्यायमें परिणत नहीं करना चाहता क्योंकि ऐसा करके मैं जैनत्वकी निंदाका कारण होजाऊँगा। आपसेभी मेरा यही अनुरोध है।

यदि वास्तवमें कुछ सत्व हो, तो वह अस्पृश्यता से भ्रष्ट न होगी, बल्कि इसके विरुद्ध अछूतताको ही धो डालेगी।

अत्यन्त हास्यकर बात तो यह है कि स्वयं भगवानके पास तो अस्पृश्य जाते थे और पवित्र होजाते थे; परन्तु उनकी मूर्तिके पास अथवा उनके धर्मस्थानोंमें जानेकी उन्हें मनाई करदी गई है। जिन्हें हम जैनमूर्ति कहते हैं, यदि वे जिनसमान ही हों, तो जिस तरह जिन-तीर्थंकरके पास अन्त्यज जाते थे उसीप्रकार उनकी मूर्तिके पासभी वे जासकते हैं और पवित्र होसकते हैं। या तो यह बात गलत है या कहने भर की है कि 'जिन प्रतिमा जिन सारखी' है. और नहीं तो इस बातको सच्ची सिद्ध करनेके लिए और यह बतलानेके लिए कि जैनसाधु ब्राह्मणोंसे नहीं हारे, अन्त्यजोंको जैनसंघमें शामिल करना चाहिए और यदि वे चाहें तो उन्हें कमसे कम जैन मन्दिरोंमें और दूसरे धर्मस्थानोंमें जाने-आने में कोई रुकावट न होनी चाहिये।

यह तो केवल धर्मदृष्टिसे विचार हुआ, परन्तु यदि हमारे जैनभाई, समाज और राजनीतिकी दृष्टि से भी इसबात पर विचार न करेंगे, तो उनकी निःसत्वता और विचारहीनतापर उनकी भविष्य सन्तान हँसेगी। यदि ब्राह्मणधर्मानुयायी लोगोंके अस्पृश्यता दूर करने पर जैनोंने उनका अनुकरण किया, तो इसमें उनकी अपनी संस्कृतिकी कोई विशेषता नहीं कहलायगी।

इस समय यह प्रश्न केवल सहानुभूतिका ही नहीं है। प्रत्येक गृहस्थ और संस्थाके संचालकको कमसे कम एक अन्त्यज बालक या बालिकाको अपने यहाँ समभावपूर्वक रखकर जैनसंस्कृतिका निर्भय परिचय देना चाहिए।

युवकोंका सुधार।

[गताङ्क से आगे]

(ले०–श्री० बा० सूरजभानजी वकील।)

अभ्यास करानेके वास्ते कोई ऐसा कार्य नहीं देना चाहिये जो कोई वास्तविक कार्य दीखता हो और जिससे कोई वास्तविक कार्य भी बनता जाता हो, किन्तु ऐसा ही कार्य देना चाहिये जिसको अभ्यासी अपने अभ्यास के वास्ते एक पाठके ही समान समझता हो और वास्तविक कार्य कुछ भी न बनता हो। चतुर माता जब अपनी लड़की को सीना सिखाती है तो उसको नरका कोई कारआमदकारी कपड़ा सीनेको नहीं देती है किन्तु दिलबहलावके वास्ते कुछ गुड़ियाँ देकर उनके कपड़े सीने पर लगाती है। कुछ बनाती और सिखातीभी जाती है परंतु अधिकतर कार्य उसहीके हाथसे कराती है। शुरू शुरूमें वह अटकलपच्चू कपड़े काट काटकर उल्टे पुल्टे सीकर कपड़े खराब करती है, जिसपर भी मा उसका उत्साह बढ़ाती ही रहती है, बार बार कपड़े खराब करने को देती है जिससे होते होते उसको गुड़ियाओंके कपड़े काटने और सीनेका अच्छा अभ्यास होजाता है और फिर घरके कपड़े सीनेमें भी दिल लगने लगजाता है। जो कन्याएँ स्कूल और कालिजोंमें पढ़कर बीजगणित और ज्यामितिके बड़े बड़े प्रश्न हल कर सकती हैं, फिलासाफीके ऊँचे ऊँचे सिद्धान्तों तक पहुँचती हैं, सुई और करोशियासे बड़े २ सुन्दर जाली कपड़े निकालती हैं लेस और फीते बुनती हैं, तस्वीरें बनानेमें भी कमाल कर दिखाती हैं, पियानो बजानेमें सबसे बाजी लेजाती हैं, परन्तु रसोई बनानेकी अभ्यासी नहीं होती हैं वे ससुराल जानेपर जब रसोई बनानेमें लगाई जाती हैं तो दाल भात और रोटीकी जो दुर्गति बनाती हैं उसकातो कहनाही क्या है? वे तो आग भी नहीं सुलगापाती हैं, हाथ भी जला लेती हैं और कपड़ोंमेंभी आग लगालेती हैं, फूँक मारते मारते नाकों दम आजाता है, आँखोंसे पानी बहने लगजाता है, तो भी आग नहीं जल पाती है, आटेमें गाँठें पड़ जाती हैं, रोटी टूट पड़ती है दाल भात सब अध-

कचाराही रह जाता है । मूर्खा सास यह दशा देख कर बहुत कुछ चीखती चिल्लाती है — हमनेतो सुना था बहू बहुतही होशियार है, बहुतही पढ़ी लिखी है, बड़े २ कतर ब्योंत जानती है, बड़े २ कसीदे निकालती है और तस्वीरें भी बनाती है पर इससे तो एक साधारणसी रोटीभी न बनाई गई । तब और तो क्याही करसकेगी—इस प्रकार घृणा करके वह फिर उसको चूल्हे पर नहीं बिठाती है, उसको और उसके मातापिताको बुरा भला कह कह कर ही अपने दिलका गुबार निकालती रहती है, जिससे बहू सदाके लियेही रसोईके कामसे अनजान रहजाती है । परन्तु जो सास समझदार होती है, वह उसके रसोई बिगाड़देने और हाथ पैर जलालेने पर कुछभी बुरा न मानकर आहिस्ता २ उसको रसोई बनानेका अभ्यास कराती है जिससे वह थोड़ेही दिनोंमें बढ़ियासे बढ़िया रसोई बनाने लगजाती है और खूब प्रशंसा पाती है,

किसी ऐम. ए., बी ए., ऐल ऐल डी., वा किसी बड़े प्रसिद्ध वकील बैरिस्टर वा किसी बड़े नामी डॉक्टरको बढ़ई (सुतार) का बसोला देकर यह कहा जायकि लकड़ीका एक मामूलीसा खूँटाही घड़दोतो खूँटा बनाना दूर रहा वह तो एक पचरभी न उतार सकेगा, किन्तु अपने हाथ पैर पर बसोला मारकर अपनेको घायल जरूर करलेगा, क्योंकि यद्यपि वह अनेक विद्याओंमें बड़ा निपुण है परन्तु बसोला चलानेका तो उसने अभ्यास नहीं किया है, इसही कारण नहीं चलासकता है । तात्पर्य यह कि सब ही को प्रत्येक नवीन कार्यके लिये अभ्यासकी ज़रूरत होती है । इसही प्रकार नवयुवकोंको भी चाहे वे कितनेही विद्याओंमें पारंगत होगयेहों, गृहस्थी बननेके लिये प्रथम उसका अभ्यास करनेकी ज़रूरत होती है,

कॉलिजके विद्यार्थी कॉलिजमें पढ़ते हुए बड़े बड़े प्रसिद्ध फ़िलासफ़रोंके सिद्धान्तोंको पढ़ २ कर मनहीमन उनके चटखारे लियाकरते है, इतिहासकी बड़ी २ पुस्तकोंको पढ़ २ कर नवीन २ बातोंको मालूम करके बहुत खुश होते हैं, बीजगणित और रेखागणितके कठिन २ प्रश्नोंको हलकरके घमंडके मारे फूले नहीं समाते हैं, अंग्रेज़ी वा अन्य किसी भाषाकी गद्य पद्यकी बढ़िया पुस्तकों को पढ़कर उसभाषाका मज़ा लेनेमें ही मस्त होजाते हैं । इसही प्रकारके अन्यभी अनेक विषय होते हैं जो उनके आनन्दकी सामग्री बनजाते है । चार विद्यार्थी जब इकट्ठे होते हैं तबभी वह इनही विषयोंकी चर्चा करके दिल बहलाते हैं । यहही उनका स्वर्ग होता है जिसमें मग्न रहकर वे अपनेको धन्य २ मानाकरते हैं । परन्तु कालिज छोड़कर जब वे घर आते हैं तो दुनियाही निराली पाते हैं । यहांतो इन विषयोंमेंसे किसीका स्वप्नमेंभी नाम सुनाई नहीं देता है । इसके विपरीत पैसा कमाने और किफ़ायतके साथ गृहस्थी चलानेकाही ज़िकर सुनाई देता है । कॉलिजमें पढ़तेहुएतो न उनको कभी पैसा कमानेका फ़िकर हुआ था और न संकोचके साथ हाथ थाम कर खर्च करनेकी ही ज़रूरत पड़ी थी । बेखटके मातापितासे काफ़ी खर्च मिल जाता था और बेफ़िकरीके साथ खर्च कियाजाता था । परन्तु कालिज छोड़कर घर आने परतो हरतरफ़से पैसेकीही चिन्ता सुनाई देने लगजाती है । पिता कहता है—इस वर्ष आमदनी बहुत कम है खर्च किस तरह चलेगा । मा कहती है—बेटा जवान होगया है सबखर्च सम्हाल लेगा । बीबी कहती है— मेरे पास न बढ़िया कपड़ा है न बढ़िया गहना, अबतकतो मैंने सबर किया, सास ससुरके झिड़के सहते २ दिन काटे पर अबतो तुम पढ़लिखकर सब लायक होगयेहो, इस कारण लाड़ लड़ाओ और सहेलियोंमें ऊँचा सिर करनेके लायक बनाओ । यह दशादेखकर उस नवयुवककी ऐसी हालत हो जाती है मानो किसी दूसरीही दुनियाँमें आगयाहो । स्वर्गोंका स्वप्न देखते हुवे आँख खुलने पर वह अपने को एक दम नरककुंडमें पटका हुवा पाता हो । इसप्रकार जब वह अपने घरका वायुमंडल कालिजके वायुमंडलसे बिल्कुलही निराला पाता है तो बहुत घबराता है, बेचैन होता है और मनको इर उधर भटकाता है, संसारका अनुभव न होने से शेखचिल्ली वाले बड़े बड़े हवाई क़िले बाँधने लगजाता है,—मुझ जैसे चतुर और विद्वानके वास्ते रुपया कमाना कौन मुश्किल बात है ? धन कमाने पर आऊँ तो सोनेके महल खड़े कर दिखाऊँ; जब बिल्कुलही महामूर्ख और अनपढ़ मारवाड़ीभी बड़े बड़े कारखाने खोलकर लाखों

रुपया कमालेते हैं तो मुझ जैसा होशियार आदमी तो उनसे दुगना तिगना कमाकर दिखादे। परन्तु पिताजीके पासतो इतना धन नहीं है जो कोई कारखाना चलाकर दिखाद्ूँ, है भी तो वह मेरा विश्वास नहीं करते हैं। पास नहीं है तो उनको कर्ज़तो मिलसकता है। मैंतो एकही वर्ष में सारा कर्ज़ा उतारकर दिखादूँ। पर, वहतो मुझे पतियानाही नहीं चाहते हैं। तो करूँतो क्याकरूँ? अच्छा, मैंही कहीं जुगत लगाउँगा और किसी धनीको साझी बनाकर कोई नवीनही कारखाना खोलकर दिखाऊँगा। पर, यह काम जल्दीके थोड़ेही होते हैं? खोज करनेपर कोई हमारा भी क़द्रदान मिलही जायगा। परन्तु पिताजीतो बहुतही जल्दी करते हैं और जादू मंतरकी तरह बिना कौड़ी पैसा लगाये एकदमही धन पैदा करके अपनी झोली भरवालेना चाहते हैं। सो यह कैसे होसकता है। और फिर उनको मेरे कालिज छोड़तेही धनकी ऐसी ज़रूरतही क्यों होगई है? मेरे कालिजमें पढ़ते हुवे तो कमसेकम पचास रुपया महीना वे मेरी पढ़ाईके खर्चको देते थे। अब वह खर्च बन्द होकर यह पचास रुपया महीनातो उलटा बचने लगया है। तब और कौनसा खर्च आपड़ा है जिसके कारण वे हरवक्त हायहाय करते हैं और मेरे सिर होते हैं? इस प्रकारवह अपने मनको शान्त करलेता है और दिनभर किसी फ़िलासफ़ीकी पुस्तक वा इतिहास वा सायंस आदि किसी ऐसे विषयकी पुस्तकें पढ़नेमें ही लगारहता है जिसका उसको व्यसन होगया है। जिसप्रकार शतरंज ताश या चौपड़ आदिका व्यसनी दिनभर इनही खेलोंमें लगारहता है और कुछ नहीं सोचता है कि इन खेलोंमे कारज क्या सिद्ध होता है, इसहीप्रकार कालिजसे निकले हुवे नवयुवकोंकोभी इन पुस्तकोंका व्यसन हो जाता है जिनमें वे दिनभर बिनासोचे समझे लगेरहते हैं और कुछभी कार्य नहीं सिद्धकर पाते हैं।

मा बापके ज्यादा दिक़ करनेसे यदि कुछ काम करने की जीमें आतीभी है तो कोई भी काम स्थिर नहीं होपाता है। स्थिर तो तब हो जब संसारका उनको कुछ अनुभव हो। खुदको कुछ अनुभव होता नहीं और बाप, भाई, चचा, ताया आदि अनुभवप्राप्तोंको बिचामें अपनेसे कम पाकर उनकी सलाह लेना चाहते नहीं। इसकारण बन्दर की तरह चंचल और अस्थिरचित्त होकर कभी कुछ करना चाहते हैं और कभी कुछ, परन्तु मन कहीं भी नहीं ठहरता है। क्या करूँ और क्या न करूँ, इसही उधेड़बुनमें सख्त बेचैन रहने लगजाते हैं परन्तु इस गोरखधंधेको सुलझानेका कोई भी रास्ता स्थिर नहीं होपाता है। इधर इसही प्रकार कुछ समय बीतनेपर माता पिता उसको किसीभी काममें लगा न देखकर घबराते हैं, घरकी ज़रूरतोंको बताकर जल्द किसी रोज़गार में लगजानेको समझाते हैं, बारबार तक़ाज़ा करने परभी जबकुछ असर नहीं होता है तो बुराभला कहने लगजाते हैं और अन्तको लोगोंसे बुराई करकरके अपने दिलका बुखार निकालने लगजाते हैं। नवयुवक बेचारा इन सब बातोंको देखकर हैरान होता है कि मैं तो खुदही सोचके मारे मरा जारहा हूँ और ये अलग ही आकाश पाताल एक कररहे हैं। पर, इससे क्या होता है? कोई काम स्थिर होजाय तबही तो उसमें लगूं वा पागलोंकी तरह वैसेही सिर मारने लगजाऊँ?

बात सारी यह होती है कि अभीतक वह विद्यार्थी-जीवनकाही अभ्यासी रहा है, रोज़गार कमाने और गृहस्थ जीवन बितानेका अभी उसको कुछभी अभ्यास नहीं हो पाया है। इसही कारण इच्छा होते हुवे भी किसी काममें लगनेमे हिचकचाता है और कुछ भी स्थिर नहीं करपाता है। चतुर दूकानदार अपने नौजवान बालकको जो न कालिजमें ही रहा है और न अबतक गृहस्थमें ही फँसा है किन्तु अलग बछेरेकी तरह योंही कूदता फिरता रहा है, जब दूकानके काममें लगाना चाहते हैं तो तुरन्तही दूकानकी गद्दी पर बिठाकर सौदा बेचनेको नहीं लगादेते हैं। बिठादें तो वह अनाड़ीपनसे एकही दिनमें सारी दूकान उलट पुलट करदे, वे उसको दूकानसे सौदा निकाल निकाल कर देते रहनेके काममें भी नहीं लगाते हैं। यह कामतो चार रुपयेके घटियासे नौकरोंका होता है जिसके करनेमें वह नवयुवक हतक समझता है। तब वे उसको किस-काममें लगाते हैं? यहही सवाल बड़े ज़ोरके साथ पाठकोंके हृदयमें बड़े ज़ोरके साथ उठता होगा। वे उसको दूकान की वस्तुओंसे भिन्न अलगही दो चार प्रकार की सस्तीसी

वस्तुएँ मँगा देते हैं और दूकानके बाहर चबूतरे पर या दूकानके एककोनेमें बैठकर स्वतन्त्ररूपसे बेचनेको कहते हैं। दूकानकी वस्तुओंसे भिन्न वस्तु बेचनेमें एक प्रकारकी नवीनता आजाती है जिसको वह नवयुवक पसंद करता है और दिलसे उस काममें लगजाता है। दूकानपरही यह नवीन व्यापार होते रहनेसे निगरानी भी रहती है और स्वतन्त्रता भी पूरी पूरी दीजाती है जिससे उसका हौसला बढ़ता रहे और जी भी लगा रहे। किसी गलतीको सुझानेकी जरूरत होती है तो इस रीतिसे सुझाई जाती है जिससे उसको यह ख़याल न हो कि मेरे इस छोटेसे काम में भी दख़ल देकर मेरी स्वतन्त्रता छीनी जाती है। इस छोटेसे व्यापारमें यदि कुछ नुकसानभी रहे तो कुछ परवाह नहीं कीजाती है क्योंकि वास्तवमें कोई व्यापार थोड़ाही कराया जाता है किन्तु व्यापार में लगनेकी शिक्षा प्राप्त होजानाही असल मतलब होता है। इसप्रकार स्वयम् व्यापार करनेकी स्वतन्त्रता मिलनेमें वह खूबही जी लगाकर उस कामको करने लग जाता है, इधर उधर कूदते फिरना, आराम करना वा खेल तमाशे में लगना सब भूल जाता है, एकमात्र अपनी उस छोटीसी दूकानसे ही चिपका बैठा रहता है और उसके चलानेमें तन मनसे मग्न रहता है जिससे उसकी लड़कपनकी चंचल प्रकृति सब नष्ट होजाती है, उद्धतपन जाता रहता है और ग्राहकों को आकर्षित करनेका ही अभ्यास होने लगजाता है। असली दूकान पर ही बैठनेके कारण उस दूकानकी वस्तुओंके भावका ज्ञानभी उसको आहिस्ता आहिस्ता होने लगजाता है जिससे पिताकी ग़ैरहाज़रीमें वह स्वयम्भी कोई चीज़ बेचने लगजाता है, सौदा निकाल निकाल कर दिखाता है और ग्राहककी पहचानभी करने लगजाता है। इसप्रकार आहिस्ता आहिस्ता अभ्यास होने पर वह बड़ी दूकानके काममें भी पिताको सर्व प्रकारकी सहायता देने लगजाता है और बड़ा दूकानदार बनजाता है।

कालिज से निकले नवयुवकों का भी एक दम उस कारोबार में लगना असम्भव होता है जो उसका पिता करता आरहा है। अव्वल तो वह कारोबार उसके कालिज जीवन की बनी हुई रुचिके अनुकूल नहीं होता है इस वास्ते वह उसमें लगना स्वीकार नहीं करता है। और यदि स्वीकार भी करता है तो समूचा कारोबार अपने ही हाथ में लेलेनेकी ख़ाहिश करता है। परन्तु कारोबार में उस के अनजान होनेके कारण पिताको यह मंजूर नहीं होता है कि सारा कारोबार उसके ही हाथमें देदे। और यदि किसी कारण से सारा कारोबर सौंप भी दिया जाता है तो वह अपनी नातजरुबेकारीके कारण थोड़े ही दिनों में उस जमे जमाये कारोबारको नष्टभ्रष्ट करडालता है। यदि सारा कारोबार न सौंपकर पिता ही सारा कारोबार अपने हाथमें रक्खे, उस नवयुवकसे छोटे छोटे कामलेना चाहे तो इसमें वह नवयुवक अपना अपमान मानता है और किसी प्रकार भी करना पसंद नहीं करता है। इस कारण शुरू शुरूमें तो उसको कोई दूसराही छोटा मोटा काम देने की ज़रूरत है जो उसको रुचिकर भी हो और दिन रात उस में लगारहना भी होता हो। आमदनी चाहे एक कौड़ीकी भी नहो, यहाँ तक कि चाहे गाँठसे ही कुछ जाता हो परन्तु उस नवयुवक को यह निश्चय ज़रूर हो कि इस काम से आजीविका ज़रूर होगी। अब नहीं होगी तो काम बढ़ जानेपर ज़रूर होगी जिससे मैं घर का ख़र्च चलाऊँगा और पिता को कुछ कर के दिखाऊँगा कि अब मैं बालक नहीं रहाहूँ किन्तु पक्का गृहस्थी बनगयाहूँ जिससे आजीविका करना और घरका बोझ उठाना मेरा मुख्य कर्तव्य होगया है। यह बात सबसे पहले उसके हृदय में जमजानी ज़रूरी है जिससे वह पिताके आश्रय न पड़ा रहकर स्वयम् अपने पैरों खड़ा होनेकी इच्छा करने लगे। परन्तु उसके हृदयमें इस बातके जमानेके लिये बड़ी बुद्धिमानी से काम लेने की ज़रूरत है जो बहुत ही खूबसूरतीके साथ बिल्कुल ही आहिस्ता अहिस्ता जमानी चाहिये।

इस बातके जमजानेके बाद दूसरी ज़रूरी बात यह होती है कि उस को काम में लगे रहने का अभ्यास कराया जाय। कालिज जीवनमें भी बेशक विद्यार्थी को काममें लगे रहनेका पूरा पूरा अभ्यास होता है यहाँ तक कि तेली के बैल की तरह वह हरदम पढ़नेमें इतना जुटारहता है जितना गृहस्थी भी अपने गृहस्थी के काम में नहीं जुटता है। विद्यार्थी अवस्थामें तो वह एक महान तपस्वी की तरह एकाग्रचित्त होकर बिल्कुल ही विद्याध्य-

यन में लगारहता है और सबही कुछ भूल जाता है परन्तु यह तपस्या उसकी इस मतलब से नहीं होती है कि इस से मुझको कोई आजीविका प्राप्त होरही है, किन्तु आजीविका से बिल्कुल ही बेफिकर होकर और संसारके विषयभोगों से भी विरक्त रहकर वह तो एक मात्र विद्याध्ययन करना ही अपना ध्येय बनालेता है, और उस ही में लगजाता है। पर अब गृहस्थीजीवन शुरू करनेपर तो सारा नकशाही बदला हुवा नज़रआता है इसही वास्ते घबराता है और काममें लगनेसे जी चुराता है। पाठशाला में बैठनेसे पहले छोटे बच्चे क्या मिहनत नहीं करते हैं? वे तो ऐसे नटखट होते हैं कि एक पल भर भी चैन नहीं लेते हैं, सुबहसे शामतक कुछ करतेही रहते हैं जिस से मा बापके भी नाकमें दमआजाता है। परन्तु वह कब चैन से बैठ सकते हैं? बेमतलब कुछ न कुछ करते रहना ही उनका खेल होता है। और उस ही में लगारहना उनका ध्येय होता है। परन्तु जब वे पाठशाला में बिठाये जाते हैं तो वे भी घबराते हैं, वहाँ जाना नहीं चाहते हैं और भाग भाग आते हैं। कारण इसका यह नहीं होता है कि वे मिहनत से जी चुराते हैं। नहीं नहीं मिहनत करे बिदून तो वे जी ही नहीं सकते हैं, किन्तु उनके खेलकी मिहनत और प्रकारकी थी और अब यह पाठशालाकी मिहनत दूसरे प्रकारकी है, इसही वास्ते बिदकते हैं। अभ्यास होजाने पर पाठशालाकी मिहनतभी उनको ऐसी प्यारी होजायगी कि आपके मनाकरने पर भी वह उसको छोड़ना नहीं चाहेंगे। इसही प्रकार विद्यार्थी जीवनकी मिहनत यद्यपि गृहस्थीजीवनसे कई गुणा अधिक होती है परन्तु गृहस्थीजीवनकी मिहनत उससे निराली ज़रूर होती है, इसही कारण शुरू २ में बहुतही ज्यादा अरुचिकर होती है। फिर अभ्यास पड़नेपर ऐसी रुचिकर होजाती है कि भारीसेभारी मुसीबत आने परभी उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता है, इसकारण गृहस्थी जीवन में लगनेका अभ्यास करानेकीही सबसे पहले ज़रूरत है।

(क्रमशः)

अस्पृश्यता और हार--जीत

[ले०—श्रीमान् पं० सुखलालजी]

अस्पृश्यताका विषवृक्ष कमसे कम तीन हज़ार वर्ष पुराना है। इसका सबसे पहले और सबसे उग्र विरोध करनेवाले दो ऐतिहासिक महापुरुषोंको प्रायः सभी जानते हैं—एक भगवान महावीर और दूसरे भगवान बुद्ध। इनका जीवन अन्तःशुद्धिके ऊपर गढ़ा गया था। इस कारण इन्होंने जो अस्पृश्यताका विरोध किया वह धर्मप्रदेशमें भी दिखलाई दिया। इसके परिणामस्वरूप चित्त और संभूति नामके दो अस्पृश्य बालक—जो सामाजिक तिरस्कारसे दुखी होकर आत्महत्या करनेके लिये तैयार थे—और हरिकेशी आदि (अन्त्यज) चाण्डाल भी जैनमुनिसंघमें प्रविष्ट कर लिये गये। बौद्ध भिक्षुसंघमें भी अस्पृश्य दाखिल हुए और इस तरह अस्पृश्य त्यागियों—साधुओं—के पैरोंमें राजा और बड़े बड़े श्रीमान ही नहीं परन्तु जैन और बौद्ध ब्राह्मण भी पड़ने लगे। अर्थात् धर्मजागृति समाजमें दाखिल हुई। एक ओर वैदिक ब्राह्मणोंका प्रचण्ड रोष और दूसरी ओर जैन—बौद्ध भिक्षुओंका त्याग, इन दोनोंके बीच युद्ध शुरू हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर ब्राह्मणधर्मकी गीतामें अस्पृश्यों को भी अपनाया गया। इसे जैन और बौद्ध त्याग तथा विचारोंकी जीत समझनी चाहिये।

परन्तु जैन और बौद्ध दोनों ही संघोंमें जो हज़ारों ब्राह्मण प्रविष्ट हुए थे, वे अपना जन्मसिद्ध जातिअभिमान नहीं छोड़ सके और विचार तथा प्रभावमें महान होनेके कारण दूसरे लोग उनके वशवर्ती होगये। अर्थात् यद्यपि शास्त्रीय विचारोंमें जैनपरम्परा अस्पृश्यताका बराबर विरोध करती रही, फिर भी संघसे बाहरके और भीतर

के ब्राह्मणोंके मिथ्या जाति-अभिमानके वशमें गृहस्थ और त्यागी सभी होगये और इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और समाज दोनोंही प्रदेशोंमें जैनलोग अस्पृश्यताके बारेमें हार गये। बौद्धसंघ जैनसंघके जितना निर्बल न था, इससे वह भारतके भीतर और बाहर अस्पृश्यताके बारेमें अपने मूलध्येयसे दूर न गया। गरज़ यह कि अन्तमें इस विषयमें जैन ही हारे।

रामानुज, कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम और दूसरे अनेक सन्तोंने धर्मदृष्टिसे अस्पृश्यों को अपनानेके लिए बहुत कुछ किया; परन्तु पीछे उनके ही शिष्य अपने आसपास फैले हुए जन्मसिद्ध उच्च-नीचताके खयालसे हार गये। अन्त में स्वामी दयानन्दजी आये। उन्होंने धर्म, समाज और राष्ट्र इन सब दृष्टियोंसे अस्पृश्यता को पापरूप बतलाया और उसे धो डालनेके लिए संगीन प्रयत्न शुरू कराये। यद्यपि ये प्रयत्न पहले के तमाम प्रयत्नोंसे अधिकसे अधिक सफल हुए; फिर भी अबतक ये केवल एक समाज की तरफ़से होते थे और दूसरे समाज या तो विरोध करते थे और या तटस्थ रहते थे।

अन्तमें महात्मा गाँधीजीका तप शुरू हुआ। इसके कारण सभी समाजोंमें अस्पृश्यता विषयक जागृति हुई। यह जागृति विश्वव्यापी है और यह बड़ीसे बड़ी जीत है। इस जीतमें गर्व से फूल उठनेके लिए अवकाश नहीं है; अब तो हमारे सामने कर्तव्यका प्रश्न है। जो अस्पृश्यता निवारणके काममें पीछे रहेंगे वे अपने धर्मसे तो चूकेंगे ही, साथही अपने सम्मानकी भी रक्षा नही कर सकेंगे। संक्षेपमें इस समय हमारे नीचे लिखे हुए कर्तव्य हैं—

१—अन्त्यजोंको अपने यहाँ दूसरे उच्च भाइयोंके समान रखना।

२—छात्रवृत्तियाँ (स्कालर्शिपें) स्वयं देकर अथवा दूसरोंसे दिलाकर उन्हें पढ़ाना लिखाना।

३—उनके बीचमें जाकर दवादारू करना, स्वच्छता और सभ्यतासे रहना सिखाना और उनकी खानपान शुद्धिके लिए प्रयत्न करना।

४—उन्हें कथा कहानियों द्वारा और दूसरे उपायोंसे हिन्दूधर्मका स्पष्ट स्वरूप बतलाना और उनमें जो वहम फैले हुए हैं उन्हें दूर करना।

साहित्य परिचय।

लक्षण संग्रह:—संग्राहक-भिक्षु गौरीशंकर। पता-मनभरीदेवी पुट्ठी, पोस्ट जमालपुर जिला हिसार। मूल्य ।)॥

दार्शनिकसाहित्यमें आयेहुए पारिभाषिक शब्दोंके लक्षणोंका यह संग्रह है। कुल २७०० शब्दोंके लक्षण हैं और संस्कृतमें हैं। संस्कृतज्ञोंके लिये बहुत कुछ उपयोगी है। ऐसी पुस्तककी अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु इसमें कुछ सुधार होना चाहिये। पहिला सुधार यह कि अभी ये शब्द बहुत थोड़े हैं। जैन और बौद्ध दर्शनोंके शब्दोंका संग्रह होना चाहिये। वैदिक दर्शनों मेंसे भी बहुत दर्शनोंके बहुतसे शब्द रहगये हैं। उदाहरणार्थ मैंने सांख्य दर्शनके कुछ शब्द देखे परन्तु न मिले, जोकि सांख्यतत्त्वकौमुदी आदिमें से सहज में ही उठाये जासकते थे। दूसरा सुधार यह कि कौनसा लक्षण किस पुस्तकमें से उठाया गया है इसका कुछ संकेत वहाँ मिलना चाहिये। तीसरा सुधार यह कि लक्षणोंका परिचय हिन्दीमें भी होना चाहिये। इससे पुस्तक बढ़ेगी जरूर, परन्तु उसकी ठीक ठीक उपयोगिता इन सुधारोंसे ही है। फिरभी अभी यह पुस्तक अनुपयोगी नहीं है। यह तीसरी आवृत्ति है जो पहिली आवृत्तियोंकी अपेक्षा छपाई सफाईमें उत्तम है।

ओसवाल नवयुवक (महावीराङ्क)—इस विशेषाङ्कके सम्पादक हैं छोगमल चोपड़ा बी० ए० बी० एल० और पूरणचन्द शामसुखा। अंक सचित्र और सुन्दर है। तीन लेख अंग्रेजीके हैं; बाकी हिन्दीके हैं। अधिकांश लेख पठनीय हैं। महावीरजीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी सामग्री ऐसी है जो ठीक रूपमें प्रकाशमें नहीं आपाई है; उसे प्रकाशमें लानेकी जरूरत है। इस अङ्कमें कुछ सामग्री आई है। प्रयत्न प्रशंसनीय है। इस अंक का मूल्य ॥) वार्षिक मूल्य ३) प्रकाशक- सुमेरमल बोथरा बी० ए० नं० २८ स्ट्रेण्डरोड कलकत्ता।

दिगम्बर जैन (विशेषाङ्क)—सम्पादक प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत। मूल्य ।॥) वार्षिक मूल्य २।) प्रति वर्षकी तरह इसवर्ष भी यह विशेषाङ्क निकला है। परन्तु २५ वर्ष पूरे होगये हैं इसका यह रजत महोत्सव अंक है। अन्य विशेषाङ्कोंकी अपेक्षा इसबार कुछ विशेषता भी है। पहिली यह कि इसबार पठनीय लेख कुछ अधिक हैं। कैलाशचन्द्रजीका 'भगवान महावीरका समय' और "जैन ग्रन्थोंमें ज्योतिश्चक्र" (मिलापचन्दजी कटारियाका) ये लेख बहुत परिश्रमसे लिखे गये हैं। और भी पठनीय लेख हैं। चित्रोंका चुनावभी दूसरे ढंगसे किया है। पं० टोडरमल्लजी और पं० सदासुखजीके पुराने चित्र दर्शनीय हैं। बाकी बहुतसे चित्र लेखकोंके हैं। प्रायः उन सभी जैन लेखकोंके चित्र दिये गये हैं जिनने इस अङ्कमें लेख दिये हैं। विशेषाङ्क अच्छा है।

मौर्यसाम्राज्यके जैनवीर—लेखक अयोध्याप्रसाद गोयलीय। प्रकाशक जैनमित्रमण्डल धर्मपुरा, देहली। मूल्य ।≈)

तीन वर्ष पहले लेखकने इस शीर्षककी पुस्तक लिखी थी। यह उसका संशोधित और परिवर्तितरूप है। लेखक इसे खूब बढ़ाकर लिखना चाहते हैं। यह सिर्फ प्रथम खण्ड है। इसमें सम्राट चन्द्रगुप्त बिन्दुसार और सम्प्रति पर विवेचन किया गया है। बहुभाग चन्द्रगुप्तके विषयमें लिखा गया है। चन्द्रगुप्तके विषयमें बहुत विस्तार और परिश्रमसे लिखा गया है फिर भी इस चन्द्रगुप्तका जैनत्व और उसका भद्रबाहु-शिष्यत्व विचारणीय है। पुस्तक विशुद्ध ऐतिहासिक तो नहीं है किन्तु उसमें जानने की बातें पर्याप्त हैं। चन्द्रगुप्तकी शासनप्रणाली आदि पठनीय है। लेखकमें उत्साह खूब है और पुस्तक पढ़नेसे पाठकोंमें भी उत्साहका संचार होता है।

विविध विषय ।

(लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

दो प्रतिष्ठित कुलोंमें विजातीयविवाह

वर्धामें ता० १४ फरवरी को वहाँके सुप्रसिद्ध गृहस्थ श्रीरामासाव बकारामजी रोडेकी पुत्री श्रीमती शान्ताबाईका विवाह धरणगाँव (खानदेश) के श्रीयुत् जिनदास नानासा गाँधीके साथ सानन्द और सकुशल होगया। कन्या पद्मावती पुरवार जातिकी और वर श्रीमाल जातिका। पाठक जानते हैं कि पद्मावती पुरवार जातिकी बस्ती प्रधानतः आगरा-एटा जिलेके आसपास है। इनके कुछ घर किसी समय बहाड़मे वर्धा, भण्डारा आदि स्थानोंमें बसगये थे, जो अब बिलकुल दाक्षिणात्य बनगये हैं। उनकी भाषा, उनके वेशभूषा और अनेक अंशोंमें रीति-रिवाज भी बदलगये हैं। बहाड़की अन्यान्य अनेक जैन जातियोंके समान इनकी गृहसंख्या भी बहुत थोड़ी है, इसलिए इन्हें विवाह सम्बन्ध करनेमें घोर कष्ट होता था। अबसे कोई २०-२५ वर्ष पहले स्वर्गीय सेठ बकाराम पैकाजी रोडे आदि गृहस्थोंने इसबातका प्रयत्न किया कि अपने उत्तर-भारतके पद्मावती-पुरवारोंके साथ विवाहसम्बन्ध जारी कियाजाय और उन दिनों चूँकि पण्डितदलकी वर्तमान मनोवृत्तिका निर्माण नहीं हुआ था, इसलिए उत्तरभारतके पद्मावतीपुरवार भी जिनमें पण्डितोंकी काफ़ी संख्या थी उक्त प्रयत्नमे सहायक हुए। इसका फल यह हुआ कि एक प्रस्ताव द्वारा दोनोंमें विवाहसम्बन्ध होनेकी स्वीकारता दे दीगई और शायद सरनौ ज़िला एटा निवासी पंडित रघुनाथदासजीने, जो जैन-गज़ट जैसे कट्टरपत्रके सम्पादक रहचुके हैं, सबसे पहले अपनी कन्या दक्षिणके एक पद्मावती पुरवारके साथ ब्याह दी। इसके बाद पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, उनके भाई श्रीलालजी आदिभी इसकार्यमें अग्रसर हुए और इसतरह उत्तर-दक्षिणके बीच कई विवाहसम्बन्ध होगये।

परन्तु इस सम्बन्धके मूलमें एक दोष था और वह यह कि उत्तर और दक्षिणके पद्मावतीपुरवार मूलमें एक होते हुए भीप्रकृतिमें भिन्न होगये हैं, भाषा और वेशमें उनमें बहुत अन्तर पड़ गया है,इसकारण जो विवाह हुए,वे परिणाममेंसुखदायक न हुए और उनसे दोनोंही पक्षवालोंको कोई सन्तोष न हुआ। फलतः यह व्यवहार आगे न बढ़ सका।

पद्मावती पुरवारोंके ही समान, धरणगाँव और उसके आसपास श्रीमाल जातिके भी थोड़े से घर हैं, जो अपने मूलनिवासस्थानसे बहुत दूर पड़ गये है और वेशभूषा में भी बिलकुल दक्खिनी बन गये हैं। गुजरातमें श्रीमालों के हज़ारों घर हैं, परन्तु वे इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इस सम्बन्ध-विच्छेद के स्थायी होजानेका एक और कारण यह है कि गुजरातके श्रीमाल श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी हैं और ये दिगम्बर सम्प्रदायके। ऐसी दशामें इन दिगम्बरी श्रीमालोंकी रक्षाका इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि ये अपने ही आसपासकी अन्य अल्पसंख्यक जातियोंसे विवाहसम्बन्ध करने लगें। श्रीमान् रामासावजी इसके लिए बहुत ही धन्यवादके पात्र हैं कि उन्होंने अपनी कन्या श्रीमाल कुटुम्बमें देकर इस जातिकी रक्षाका द्वार खोल दिया। विजातीयविवाहके विषयमें सेठ रामासावजीने जिस साहस और उदारताका परिचय दिया है, वह औरोंके लिए सर्वथा अनुकरणीय है। जगत्‌के पाठक जानते होंगे कि इसके पहले वे अपनी कन्यायें गंगेरवाल और बदनेरा जातिमें भी देचुके हैं और इस तरह उन्होंने बहाड़की अल्पसंख्यक जैनजातियों को एकत्र करनेका एक आदर्श उपस्थित कर दिया है।

सी० पी० और बरारमें पद्मावतीपुरवारोंके सिवाय धाकड़ पोरवाड़, बघेरवाल, नेवे, और पल्लीवाल आदि कई जातियोंके भी बहुत थोड़े थोड़े घर है। इन सभीके वेश-भूषा दक्षिणी हैं। इस प्रान्तके शिक्षित बन्धुओंको, दिग्रसके श्रीयुत मनोहर बापू जी महाजन और आर० आर० जोवड़े महाशयको चाहिए कि वे इस विषयमें कोई संगठित प्रयत्न करें और श्रीयुत रामासावजीके प्रारम्भ किये हुए कार्यको पूर्णता पर पहुँचा देवें।

विधवा और उसे बिगाड़नेवाले के पापमें फ़र्क़।

जैनसमाजमें विधवाओंका भ्रष्ट होना, गर्भपात करना या दूसरोंके साथ निकलजाना अब इतना मामूली हो

गया है, कि ऐसे समाचारोंका पत्रोंमें प्रकाशित कराना लोग आवश्यकही नहीं समझते है, ये घटनाएँ इतनी साधारण समझी जाने लगी हैं कि अब इन्हें सुनकर या पढ़कर लोग चौंकतेभी नहीं हैं। सी० पी० के एक उत्तरीय ज़िलेमें कुछही समय पहले एक परवार सज्जनने अपनी सगी चाचीको, जो जवान विधवा है, भ्रष्ट किया था जिससे बेचारीको गर्भ रह गया था। इसपर पंच सरदारोंने उसे तो हमेशाके लिए जाति बहिष्कृत करदिया, परन्तु भतीजे साहब दंड देकर अपना लिये गये और अभी सुना है कि उनका दूसरा विवाहभी होगया। उनकी पहली स्त्रीका देहान्त होगया था। उन पंचोंकी नैतिक बुद्धिकी हम क्या प्रशंसा करें, जिनकी दृष्टिमें माताके तुल्य सगी चाचीको बिगाड़ना—मातृगमन करना भी एक बिलकुल साधारणसा पाप है, जो एक ज्योनार और कुछ दण्ड लेकरही धोया जा सकता है और एक अबला, पराधीना लोकलज्जाभिभूता धर्षिता स्त्रीका पदस्खलन सर्वथा अक्षम्य है।

विधवा के सुधारक पिता की कमज़ोरी

एक और घटना सी० पी० के ही एक दक्षिणी ज़िले में घटित हुई है, जो इस कारण अत्यन्त क्षोभजनक है कि विधवाका पिता सुधारक विचारोंका है और विधवाविवाहका कट्टर पक्षपाती। वह यह नहीं सोच सका कि मेरी अत्यन्त लाड़ली और विलासिताके वातावरणमें पली हुई जवान लड़की—जिसे संयम या तपकी कभी हवाभी नहीं लगी है—कैसे कठिन वैधव्यव्रतको पालेगी? मैं जब ४५ के पहुँच कर भी अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं रख सकताहूँ, इस विषयमें काफ़ी बदनाम हूँ, और इसे लड़की जानती है, फिर वह कैसे जितेन्द्रिय बनी रहेगी जिसकी उम्र मुश्किलसे २५ वर्षकी होगी? उसका किसी युवा परवारसे सम्बन्ध हो गया। इसपर पिताजी बहुत बिगड़े और क्रोधपरवश होकर, सुनते हैं कि उन्होंने उस पुरुषको और अपनी लड़कीको भी बहुत मारा। इसका फल यह हुआ कि लड़कीको स्पष्ट शब्दोंमें कहना पड़ाकि मैं उसे चाहती हूँ और उसीके साथ रहूँगी! पिता अत्यन्त निर्बल और उच्छृंखल प्रकृतिके आदमी हैं। बिरादरीकी वे बहुतही कम परवा रखते हैं। फिरभी वे समयपर सावधान नहीं हुए। उन्हें चाहिए था कि वे स्वयंही किसी योग्यपात्रको देखकर पुनर्विवाह करदेते। परन्तु जान पड़ता है, प्रतिष्ठा और इज्जतको उन्होंने पंचोंसेभी भयंकर समझा और उसके लिये उन्हें यह दिन देखना पड़ा। सच्चा सुधारक वह है, जो अपने कर्तव्यके सामने प्रतिष्ठा और इज्जतको पंचोंके ही समान नगण्य समझता है। दुर्भाग्यसे जैनसमाजमें मिस्त्रीजीकेसमान सैकड़ों सुधारक मौजूद हैं जिनके घरोंमें युवती विधवाएँ प्रतिष्ठाके बहुत ऊँचे शिखरकी बिलकुल कगारपर चल रही हैं, ज़रासी असावधानीसे उनका पैर कब फ़िसल पड़ेगा और कब वे पतनके गहरे गड्ढेमें गिर पड़ेंगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

अविवाहित-युवककी चिट्ठी

ग्वालियर-रियासतके एक छोटे शहरसे एक अविवाहित युवककी चिट्ठी आई है, जो यहाँ प्रकाशितकी जाती है। "... मेरी उम्र इसवक्त २८ सालकी है और मैं इसवक्त भिलसामें रहता हूँ, दुकानदारी पंसारटकी करता हूँ व मेरे काका भी मेरे पास हैं। श्रीजीकी कृपासे हालरोटीसे सब तरह हालत अच्छी होरही है। हिन्दी बहुत अच्छी जानता हूँ। मगर बालपनमें मा बापके न रहनेके सबब विवाहसे महरूम रहा। हमारे परवारोंके घर बहुत कम है तासे मेलभी नहीं मिलता। दूसर (तीसरे) अठसखा परवार लड़की देनेको काहेको चले हैं। मैंने इधर उधर जाने आनेमें सो दो सौ रुपया हर तरहसे खर्च किया मगर शादीका मेल नहीं बैठा। अब हद दर्जे की तकलीफ़ें भोगते हुए आपको लिखनेमें आता है कि दिगम्बर जैनधर्मको पालने वाली वैश्यजातिकी औरत (विधवा) मिलेतो पुनर्विवाह खुशीसे करूँगा। आशा है कि किसी दुखियाकी आप मदद देनेमें कोई कसर ना रखेंगे। पत्रका उत्तर देना! आप जहाँ जानो वहाँसे मेरा काम निकलवा दीजिये। आपका बड़ा उपकार होगा। मैं अपने विचारपर अटल हूँ।"

इस चिट्ठी पर वहाँकी जैन पाठशालाके शास्त्री महाशयने अपनी ओरसे लिखा है—"मान्यवर अगर आप

इस काममें सहायता न देंगे, तो इस युवकके धर्म भ्रष्ट हो जानेका अन्देशा है।"

चिट्ठीमें शास्त्रीजी और युवक दोनोंनेही अपने नाम लिखे हैं, परन्तु हमने उन्हें प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। शहरका नामभी हमने छोड़ दिया है।

इस तरहकी चिट्ठियाँ अक्सर आया करती हैं। 'जगत्' के पिछले किसी अंकमें कई युवकोंकी लिखी हुई एक चिट्ठी हम प्रकाशितभी कर चुके हैं, परन्तु इनसे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि नवयुवकोंके विचारोंमें परिवर्तन होगया है और वे विधवाविवाह या विजातीय विवाहको अच्छा समझने लगे हैं, या उनमें इतना साहस आगया है कि वे इन्हें करने और इनसे आपड़नेवाली आपत्तियोंको कर्तव्यके खयालसे सहन करने के लिये तैयार हैं। इनसे तो सिर्फ़ यही प्रकट होता है कि जैनजातियोंमें एक तो विवाहयोग्य कन्याओंकी कमी है, दूसरे ग़रीब आदमीभी अपनी कन्यायें अपनी बराबरीकी स्थितिवाले ग़रीबोंको न देकर धनियोंको ही देना चाहते हैं, जिससे ग़रीब और साधारण स्थितिके नवयुवक अविवाहित रह जाते हैं और हज़ार सिर पटकनेपर भी विवाह नहीं करपाते हैं, तब लाचार होकर, और कोई उपाय न देखकर विधवा-विवाह और विजातीय विवाहभी कर लेनेको तैयार हो जाते हैं। हम ऐसे कई युवकोंको जानते हैं, जो विधवा-विवाह करनेके लिए तैयार थे, यहाँ तक कि वचनबद्ध होचुके थे; फिर भी कन्यायें मिल जानेसे अन्तमें फिसल गये। इस मनोवृत्तिको किसी तरह प्रशंसनीय नहीं कहा जासकता। यह तो शुद्ध स्वार्थ है, सुधार, रिफ़ॉर्म आदिसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक नवयुवक कुछ स्वार्थत्याग करनेके लिये तैयार नहीं होते, पंचायतियोंके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करके अपना स्वतन्त्र संगठन नहीं करते और अपने अपने दलको प्रबल नहीं बना लेते, तब तक कुछ नहीं हो सकता। विवाहेच्छु विधवाओं की कमी नहीं है, परन्तु वे तब तक प्रकट नहीं होसकतीं जब तक कि उन्हें विश्वास न होजाय कि इस नवयुवकदलके पीछे कोई बल है, कोई साहस है और कर्तव्यके लिए मर मिटनेकी साध है।

पर्युषणपर्व व्याख्यानमाला।

गत भाद्रपदमें बम्बईके जैनयुवकसंघकी ओर से जिस पर्युषणपर्व-व्याख्यानमालाका प्रबन्ध किया गया था और जिसमें अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानोंके व्याख्यान हुए थे, वे सब व्याख्यान अब पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। सब मिला कर १३ व्याख्यान हैं, जिनमें ३ हिन्दी और शेष गुजराती हैं। लगभग १७० पृष्ठ की पुस्तकका मूल्य केवल आठ आना बहुत कम रक्खागया है। जो लोग जैनधर्मका और दूसरे दार्शनिक तत्त्वोंका कुछ गहराईसे अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसे अवश्य मँगालेना चाहिए। इसके दो छोटे छोटे व्याख्यानोंको जो पण्डितवर्य सुखलालजीके हैं, हम हिन्दीमें अनुवाद करके अन्यत्र प्रकाशित कररहे हैं। उक्त पुस्तक और इसके पहले के बरसोंकी व्याख्यानमालायें गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय गाँधी रोड अहमदाबादसे मिलसकती हैं। अकेली यही व्याख्यानमाला "सेक्रेटरी जैन युवक संघ, २६–३० धनजी स्ट्रीट, बम्बई" के पतेसे मँगाई जा सकती है।
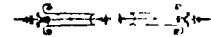
शांतिसागरसंघकी अजीब लीलायें।

शांतिसागरजी व उनकी साथकी मुनिमण्डलीको जयपुरसे काफ़ी चिढ़ बैठी हुई है। जयपुरमें सुधारकपक्षके बलके बढ़ते जानेके समाचार सुन सुनकर इनके हृदयपर साँप से लोटने लगते हैं। क्रोधके कारण इनलोगोंकी ज़ुबान भी बेक़ाबू होती चली जा रही है और इन्हें अपने कर्तव्य अकर्तव्य की भी सुध नहीं रहती। रैणवालमें एकदिन एक सुधारक महाशय मुनि चंद्रसागरके सामने जा निकले तो मुनि महाराज (!) ने उन्हें सुना कर अपने भक्तोंसे कहा कि जयपुरमें आजकल 'खण्डेलवाल भंगी' नामक एक नई जाति उत्पन्न हुई है"। सुधारकमहाशयने मुनिजीको जो करारा जबाब दिया, उसके लिखनेकी तो आवश्यकता नहीं है, पर चंद्रसागरजी ने जो

कुछ कहा, उससे पाठक उनकी बुद्धिका अंदाज़ लगा सकते हैं। इसीप्रकार, एक दिन सेठ बनजीलालजी ठोलिया जौहरीके सुपुत्र श्रीयुत सेठ हरखचंदजी ठोलिया, व सेठ फूलचंदजी निगोतिया आचार्य (!) शांतिसागरजी के पास गये और उन्हें नमस्कार किया तो आचार्य महाराजने उन्हें धर्मवृद्धि न दी और मुँह फेर लिया; फिर थोड़ी देर बाद बोले कि 'जयपुरका सर्वनाश हो जायगा'। शायद मुनींद्रसागर वाला असर धीरे धीरे शांतिसागरजी में भी आरहा है क्योंकि जिस प्रकार मुनीन्द्रसागर अजमेरको फूँकसे उड़ादेनेके लिए दम भरता था, उसी प्रकार ये आचार्य (!) महाराज अपने शापसे जयपुरका सर्वनाश करनेकी हिम्मत दिखाते हैं। एक दिगम्बर साधु (!) का इस प्रकार अपने आपे से बाहिर हो जाना क्या बतलाता है! अब अपराध भी सुन लीजिये कि जिसके कारण यह शाप दिया गया। दो दिन पहिले उपर्युक्त दोनों सज्जन सुधारकपक्षवालोंके यहाँ एक जीमण में शरीक हो गये थे! बस यही महान अपराध था!

सुना है कि सेठ गोपीचंदजी ठोलिया व मुंशी सुन्दरलालजी सोनी इन दोनों घरोंका चौका भी बंद कर दिया गया था यानी संघ के साधु इन लोगों के यहां आहार नहीं लेते थे। ये दोनों सज्जन मुनिसंघके अनन्य भक्त थे और सेठ गोपीचंदजीसाहिबने तो संघके आवभगतमें हज़ारों रुपये भी खर्च किये थे, मगर इस सबका यह फल हुआ कि अंतमें, जयपुर के पास पड़ोससे आते आते मुनिसंघ इनका चौका भी बंद कर गया। अपराध यह था कि सेठ गोपीचंदजी के ससुरालमें शादी थी। ससुराल वाले सुधारकपक्षीय थे। उस शादी में सेठ गोपीचंदजी के भाई व उनकी धर्मपत्नी आदि शामिल हो गये थे। ऐसी हालत में मुनिसंघ उनके यहाँ आहार कैसे ले सकताथा! इसी प्रकार मुंशी सुन्दरलालजी सोनीके यहाँ चौके में एक दिन उनके बड़े भाई मुंशी जमनालालजीसोनी आहार करते देख लिये गये। मुंशी जमनालालजीके सुपुत्र मुंशी मोतीलालजी सोनी वकीलका नाम मुनिसंघके लिए हव्वा स्वरूप ११ आदमियोंकी लिस्टमें है। ऐसी हालतमें मुनिसंघका सारा धर्म भ्रष्ट हो जाता यदि वे उस चौकेमें भोजन कर लेते, जिसमें मुंशी जमनालालजी भोजन कर लेते हों, हालाँकि मुंशी जमनालालजी खुद शूद्रस्पृष्टजल के त्यागी हैं। मुंशी सुन्दरलालजी ठहरे मुनिमण्डली के अनन्य भक्त। आप मुनियोंकी नाराज़ीसे बहुत घबराये। एक दफ़ा तो आप अपना सब चौकेका सामान लेकर जयपुर लौट आये मगर फिर दो तीन दिन बाद पुनः जा कर आपने मुनियों से क्षमा माँग ली और सुनते हैं कि अब उनका चौका फिर खोलदिया गया है। अजीब मज़ाक़ है!

ये हैं उस मुनिसंघकी लीलायें कि जिसे लोग परमपूज्य समझते हैं और जिसके पीछे समाजका हज़ारों रुपया बरबाद हो रहा है। न मालूम, जैनसमाजकी आँखें कब खुलेंगी!

—संवाददाता।
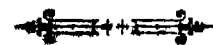
कुन्दकुन्दाचार्यका समय और प्रेमीजी।

(लेखक—श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार)

मित्रवर पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने 'साहित्य और इतिहास' नामकी अपनी लेखमालाके १० वें नम्बरमें 'आचार्य कुन्दकुन्दका समय छठी शताब्दि' इस शीर्षकके साथ एक नोट जैनजगत्के गतांक नं० ४ में प्रकाशित कराया है, जिसका सारांश यह है कि— नियमसारकी निम्नगाथामें चूँकि 'लोकविभाग' नाम के ग्रन्थका उल्लेख है और लोकविभाग (प्राकृत) को सर्वनन्दिने शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) में बनाकर समाप्त किया था, ऐसा उसके सिंहसूरिकृत संस्कृतानुवादसे जाना जाता है। "अतएव नियमसार विक्रमकी छठी शताब्दिके पहलेका ग्रंथ किसी भी तरह नहीं होसकता है" और इसलिये उसके रचयिता कुन्दकुन्दका समयभी छठी शताब्दिमें पहुँच जाता है:—

> चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
> एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥

इस समयके समर्थनमें डा० के० बी० पाठकका मतभी 'समयप्राभृत' की भूमिका परसे दियागया है, और उसे देते हुए लिखा है—

"राष्ट्रकूटराजा तीसरे गोविन्दके शक सं० ७१९ और ७२४ के जो दो ताम्रपत्र मिले हैं उनमें कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्य और उनके शिष्य पुष्पनन्दि तथा प्रशिष्य प्रभाचन्दका उल्लेख है, अतएव ७१९ के प्रभाचन्दके दादागुरु तोरणाचार्य शक सं० ६०० के लगभग हुए होंगे और उनके आम्नायके प्रवर्तक उनसे १५० वर्ष पहले अर्थात् शक संवत् ४५० (वि० संवत् ५८५) के लगभग मानलेनेमें कोई हानि नहीं है। इसके सिवाय पंचास्तिकायके कनड़ी टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनके मतानुसार कुन्दकुन्दने अपना पंचास्तिकाय शिवकुमार महाराज के प्रतिबोधके लिये लिखा था और ये शिवकुमार कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्मा हो सकते हैं जिनका समय शक संवत् ४५० के लगभग ही सिद्ध होता है। इस तरह डा० पाठकके मतसे भी भगवत्कुन्दकुन्द विक्रमकी छठी शताब्दिके ग्रन्थकार हैं।"

साथ ही यह भी प्रकट किया है कि "इस समयको न माननेमें केवल दो ही बातें कहीजासकती हैं, एक तो यह कि नियमसार कुन्दकुन्दकी रचना नहीं है और दूसरी यह कि जिस लोकविभागका उसमें उल्लेख है, वह इसके अतिरिक्त कोई और ही ग्रन्थ होगा।" परन्तु आप स्वयं इन दोनोंमेंसे किसीभी एक बातको कहनेके लिये तय्यार मालूम नहीं होते, इसीसे आपने उसके विषयमें कोई साधार कल्पनाभी नहीं की और इसलिये आपका निश्चित मत इस समय वही जान पड़ता है, जिसे आपने अपने नोटके शीर्षक तकमें प्रकट किया है।

मालूम होता है इस नोटके लिखते समय प्रेमी जी के सामने अथवा उनकी स्मृतिमें 'स्वामी समन्तभद्र' नामका वह इतिहास नहीं रहा है, जो लेखककी ओरसे उन्हें खास तौरपर समर्पित हुआ है। अन्यथा उनकी प्रवृत्ति इस नोटके लिखनेमें कदापि न होती और यदि किसी तरह होती भी तो उसका रूप दूसरा ही होता। क्योंकि उक्त इतिहासमें पृष्ठ १५८ से १८९ तक (३२ पृष्ठोंमें) कुन्दकुन्दके समयका विचार करते हुए उस पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है, डा० पाठकके मतका हर पहलूसे खण्डन किया गया है और साथही मर्कराके ताम्रपत्रका निम्न-

अंशभी प्रकट किया गया है, जो कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले कुछ आचार्योंके उल्लेखको लिये हुए है और जिसमें उसके लिखे जानेका समय भी शक संवत् ३८८ दिया है:—

"······श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीत नामधेयदत्तस्य देसिगगणं कोंगडकुन्दान्वय-गुणचंद्र भटार—शीष्यस्य अभ [य] णंदिभटार तस्य शिष्यस्य शिलभद्र भटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणंदि भटारर्गो अष्ट-अशीति उत्तरस्य त्रयोशतस्य सम्वत्सरस्य माघमासं ·····"

इस ताम्रपत्रसे स्पष्ट है कि शक संवत् ३८८ में जिन आचार्य वन्दनन्दिको जिनालयके लिये एक गाँव दान किया गया है वे गुणनन्दिके शिष्य थे, गुणनन्दि जनानन्दिके, जनानन्दि शीलभद्रके, शीलभद्र अभयनन्दिके, और अभयनन्दि गुणचन्द्राचार्यके शिष्य थे। इस तरह गुणचन्द्राचार्य वन्दनन्दिसे पाँच पीढी पहले हुए हैं और वे कोंगडकुन्दके वंशज थे—उनके कोई साक्षात् शिष्य नहीं थे।

अब यदि यहाँ कुन्दकुन्दके समयकी गणना पाठकजीकी गणनापद्धतिके अनुसार ही कीजाय तब तो वह शक संवत् १ अथवा उससेभी कुछ पहले तक पहुँच जाती है; क्योंकि उन्होंने तीन आचार्योंके समयकी कल्पना ११९ वर्षके लगभगकी थी; तब यहाँ छह आचार्योंका समय २३८ वर्षके लगभग हुआ और १५० वर्षका वह कल्पित अन्तर ताम्रपत्रकी वंशावलीके प्रथम वंशज आचार्यसे कुन्दकुन्द तक ज्यों का त्यों ही रहा। परन्तु इसे छोड़िये और मोटे रूप से गुणचन्द्रादि छह आचार्योंका समय १५० वर्ष ही कल्पना कीजिये, जो उस समयकी आयुकायादिककी स्थितिको देखते हुए अधिक नहीं कहा जासकता, तब कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले गुणचन्द्रका समय शक संवत् २३८ (वि० संवत् ३७३) के लगभग ठहरता है। ऐसी हालतमें कुन्दकुन्दका समय किसी तरहभी विक्रमकी छठी शताब्दि अथवा वि० संवत् ५८५ के लगभग नहीं कहा जासकता, न शिवकुमारका समीकरण कदम्बवंशी राजा शिवमृगेशवर्मा के साथ किया जासकता है और न नियमसारमें किसी ऐसे 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थका उल्लेख ही माना जासकता है जिसका निर्माण शक संवत् ३८० में हुआ हो। उक्त गाथामें तो 'लोयविभागेसु' यह पद बहुवचनान्त पड़ा हुआ है और इसलिये उसमें 'लोकविभाग' नामके किसी एक ग्रंथविशेषका उल्लेख मालूम भी नहीं होता; बल्कि वह लोकविभाग सम्बन्धी कथन वाले अनेक ग्रन्थों अथवा प्रकरणोंके संकेतको लिये हुए जान पड़ता है और उसमें खुद कुन्दकुन्दके लोयपाहुड-संठाणपाहुड जैसे ग्रंथ तथा दूसरे लोकानुयोग अथवा लोकालोकके विभागको लिये हुए करणानुयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल किये जासकते हैं। मैं तो इस उल्लेखको बहुवचनान्त पदके साथ होनेसे सर्वार्थसिद्धिके "इतरो विशेषो लोकानुयोगतो वेदितव्यः (३—२)" इस उल्लेख से भी अधिक स्पष्ट समझता हूँ जिसमें विशेष कथन के लिये 'लोकानुयोग' को देखनेकी प्रेरणा कीगई है, जोकि किसी ग्रंथविशेषका नाम नहीं किन्तु लोक विषयक ग्रंथसमूहका वाचक है। और इसलिये 'लोयविभागेसु' इसपदका जोअर्थ टीकाकारने "लोकविभागाभिधानपरमागमे" ऐसा एकवचनान्त दिया है उसे मैं ठीक नहीं समझता। जानपड़ता है इस अर्थपरसे ही प्रेमीजीको भ्रम हुआ है और उन्होंने इसमें शक संवत् ३८० के बनेहुए उक्त लोकविभागका उल्लेख समझ कर ही विक्रमकी छठी शताब्दि में कुन्दकुन्दके समयकी कल्पना करडाली है और उसकी पुष्टिमें डा० पाठकका मत भी दे डाला है! अन्यथा, 'षटप्राभृतादिसंग्रह' की अपनी भूमिकामें वे स्वयं ही कुन्दकुन्दके इस समय पर और

डा० पाठकके उक्त मत पर आपत्ति कर चुके हैं और शिवकुमारका समीकरण कदम्बवंशी शिवमृगेशवर्माके साथ अस्वीकार करतेहुए उसे प्रायः पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्माके साथ स्वीकार कर चुके हैं, जिसका समय भी प्रो० ए० चक्रवर्तीके मतानुसार आपने विक्रमको प्रथम शताब्दि दिया है। अतः नियमसारको छठी शताब्दिसे पहलेका ग्रंथ मानने में कोई बाधा नहीं आती और उसे कुन्दकुन्दकी कृति उसके प्रायः १२ वीं शताब्दिके टीकाकार पद्मप्रभ मलधारिदेव प्रकट ही करचुके हैं, जिसपर आपत्ति की कोई वजह मालूम नहीं होती।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट करदेना चाहता हूँ कि कुन्दकुन्दके 'बोधपाहुड' के अन्तमें एक गाथा निम्नप्रकारसे पाई जाती है, जिसका विशेष विचार भी उक्त इतिहासमें दिया हुआ है:—

> सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥ ६१॥

इसमें बतलाया है कि 'जिनेन्द्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दों में गूँथा गया है—भद्रबाहुके मुख्यशिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथमें) कथन किया है।'

इससे बोधपाहुडके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु के शिष्य मालूम होते हैं और ये भद्रबाहु श्रुतकेवली से भिन्न द्वितीय भद्रबाहु जान पड़ते हैं, जिनका समय जैन कालगणनाओंके अनुसार वीर नि० संवत् ६१२ अर्थात् विक्रम सं० १४२ से पहलेका भले ही हो परन्तु पीछेका मालूम नहीं होता। और इसलिये कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी दूसरी और तीसरी शताब्दि तो होसकता है परन्तु तीसरी शताब्दिसे बादका वह किसी तरह भी नहीं बनता और छठी शताब्दिका समय तो बिलकुल ही असंभव है, उसे माननेपर तो बहुतसी आपत्तियाँ खड़ी होती हैं, कितने ही शिलालेखों तथा ग्रंथादिके उल्लेखोंको योंही बिना किसी हेतुके अप्रमाण कहना पड़ता है और समन्तभद्र ही नहीं किन्तु पूज्यपाद तक भी कुन्दकुन्दसे पहलेके विद्वान ठहरते हैं।

आशा है प्रेमीजीको इतने परसे ही संतोष होगा और वे इस सब कथन पर तथा उक्त 'स्वामी समन्तभद्र' नामके इतिहासमें दिये हुए पूरे विवेचनपर यथेष्ट विचार कर इस विषयमें अपना निश्चित मत प्रकट करनेकी कृपा करेंगे।

स्थानीय चर्चा।

१–आर्यसमाज अजमेरको स्थापित हुए ५० वर्ष होगये। इसके उपलक्षमें ता० २२ फ़रवरीसे स्वर्ण जयन्ती महोत्सव मनाया जा रहा है। इस अवसर पर महिला सम्मेलन, सर्वधर्मसम्मेलन, शुद्धि सम्मेलन, दलितोद्धार सम्मेलन, कवि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, जातपांत तोड़क सम्मेलन, मल्लयुद्ध, धनुर्विद्याके खेल, टूर्नामेन्ट आदि अनेक आयोजन किये गये और किये जारहे हैं। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण व सर्वोपयोगी आयोजन है स्वदेशी प्रदर्शिनी। प्रदर्शिनी देखने प्रतिदिन हज़ारों हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, स्त्री पुरुष व बालक जाते हैं। राजपूताना भरमें इस तरहका यह पहिलाही उत्सव है, अतः दूर २ से स्त्री पुरुष इस वृहत् मेलेको देखनेके लिये आरहे हैं। आर्यसमाजको इस कार्यमें आर्यसमाजियोंके अलावः अन्य धर्मावलम्बियोंसेभी पूर्ण सहायता व सहानुभूति मिली है। आर्यसमाज किस उत्तम ढंगसे अपना संदेश जनताको पहुँचाता है, धार्मिक क्षेत्रके अलावः अन्य क्षेत्रोंमें भी जनताकी सेवाकर किस तरह उनके हृदयको स्पर्श करता है, यह अन्य धर्मावलम्बियोंके लिये अनुकरणीय है। हमारे जैन मेलोंमें लाखों रुपया व्यय होता है परन्तु वे इतने उपयोगी व व्यापक नहीं होते। उनसे जैनियोंकी धनशीलता मात्र प्रकट होती है किन्तु और विशेष लाभ नहीं होता।

आर्यसमाजकी उदारता व विशालता भी प्रशंसनीय है। जब कि स्थितिपालक विद्वान् खास अपनेही सम्प्रदाय के लोगोंको स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारोंको प्रकट करने का अवसर नहीं देते, तथा भिन्न विचारवाले व्यक्तियोंको अपनी सभाओंसे अलग रखनेका प्रयत्न करते हैं, तब आर्य समाज अन्य सभी धर्मवालोंको अपने पण्डालमें बुलाकर आर्यसमाज प्लेटफ़ोर्मसे उन्हें अपने अपने धर्मका प्रतिपादन करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। हर्ष है कि इस सर्वधर्मसम्मेलनमें जैनियोंने भी भागलिया था और उनकी ओरसे श्रीमान् ब्रह्मचारी कुँवर दिग्विजयसिंहजी व पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थने जैनधर्म पर भाषण दिये थे। कुछ वर्ष पूर्व नवजीवन मण्डलके अधिवेशनोंमें कुछ जैनियों के शरीक होनेपर स्थायी जैनसमाजमें काफ़ी हलचल मची थी। हर्ष है कि इसबार जैन स्त्री व पुरुष बहुत अधिक संख्यामें इन सम्मेलनोंमें उत्साहपूर्वक भाग लेरहे हैं।

२–श्रीमान् डॉक्टर गुलाबचन्दजी पाटणीने अपनी पुत्रीके विवाहके अवसरपर पंचायती नियमोंको भंगकर जो मर्यादाका उल्लंघन किया था उस सम्बन्धमें विचार करनेके लिये गत मिती फाल्गुण कृष्णा १३ को स्थानीय तेरहपंथी धड़ेकी पंचायत एकत्रित हुई। रातभर वादविवाद चलतारहा। डॉक्टर साहिबने अपना अपराध स्वीकार किया तथा उसके लिये माफ़ी माँगी। कुछ पंचोंका कहना था कि यह उनका पहिला अपराध नहीं है—उन्हें पहिलेभी माफ़ी दी जाचुकी है अतः इसबार उनपर कुछ दंड किया जाना चाहिये। सुना है कि इसपर पाटणीजीके समर्थकोंसे यह तय होगया था कि बात आगे न बढ़ाई जावे और डॉक्टर साहिबसे एक नारियल दण्डस्वरूप लेकर मामला खतम किया जावे। लेकिन बादमें पंचायती बहीमें केवल माफ़ीकी बात लिखी जाने लगी। इससे परस्पर असंतोष होगया। अब जब कि पाटणीजीके समर्थक, जिनमें मुख्य श्रीमान् रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी हैं, पाटणीजीकी माफ़ीको काफ़ी समझते हैं, दूसरे कई पंच अपनी बात पर अड़े हुए हैं। मालूम हुवा है कि दूसरे दलने पाटणीजीके बहिष्कारका निश्चय किया है अर्थात् जिस ज्यौनारमें पाटणीजी, उनकी स्त्री या बालबच्चे शरीक होंगे वहाँ वे शरीक नहीं होंगे। तेरहपंथी धड़ेमें पहिले भी दलबन्दियाँ हुई हैं परन्तु श्रीमान् सेठ टीकमचन्दजीके पूर्वज हमेशा दलबन्दियोंसे परे रहे हैं तथा दोनों दलोंको बराबर समझते हुए उन्हें एक करनेके प्रयत्नमें रहे हैं। अफ़सोस है कि श्रीमान् सेठसाहिब इस बार स्वयं दलबन्दीके दलदलमें फँसे हुए हैं—यही नहीं बल्कि उनकी ओरसे दूसरे दलवालों पर अनुचित दबाव देनेके प्रयत्नभी किये जारहे हैं। श्रीमान् मोहरीलालजी बोहरा (भूतपूर्वसम्पादक खंडेलवालजैनहितेच्छु) पाटणीजीके विरुद्ध पक्षमें हैं। कोई तीन वर्षसे बहुत असुविधा व कष्ट उठाकर भी वे स्थानीय महावीर जैनविद्यालयका संचालन कररहे हैं। सेठसाहबको बर्दाश्त नहीं हुवा कि मोहरीलाल जी उनके विरुद्ध पक्षमें रहते हुए उनकी पाठशालाके मैनेजर बने रहें अतः बिना किसी वजहके उन्हें मैनेजर पदसे हटा दिया गया। बोहराजी ऑनिरेरी कार्यकर्ता थे अतः इसतरह अकृतज्ञतापूर्वक पृथक् करनेसे उनकी कोई हानि नहीं, विद्यालयकी ही हानि है। सेठसाहिबकी इस मनोवृत्तिके लिये अफ़सोस है। बेहतरहोता यदि वे अपने स्वर्गीय पिता व पितामहकी तरह निष्पक्ष रहकर अपनी पंचायतीमें शांतिस्थापन करनेका प्रयत्न करते।—स्पष्टवक्ता।

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ १६ मार्च सन् १९३३ अङ्क १०

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र ।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र ! | विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र ।

जैन जगत्

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि ।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई. | प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर ।

स्थानीय चर्चा ।

१—श्रीमान डाक्टर गुलाबचन्दजी पाटणीके मामलेको लेकर स्थानीय तेरहपंथी धड़ेकी पञ्चायतके सदस्योंमें परस्पर वैमनस्य बढ़ता जारहा है। पाटणीजीके विरुद्ध पक्ष मे होनेके कारण श्रीमान मोहरीलालजी बोहरा ([illegible] सम्पादक "खंडेलवाल जैनहितेच्छु") को स्थानीय महावीर विद्यालयके मैनेजरपदसे जिस प्रकार निरादरपूर्वक पृथक किया गया था उसके समाचार पाठकोंसे प्रकट हो चुके हैं। इससे विद्यालयके अन्य सञ्चालकोंमें भीषण असंतोष फैला और श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी की इस स्वेच्छाचारिताके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करनेके लिये विद्यालयके कोषाध्यक्ष श्रीमान् धीसूलालजी बाकलीवाल (श्रीमान रायबहादुर सेठ [illegible]लालजी रामस्वरूपजीकी अजमेर फर्मके प्रमुख मुनीम) तथा सहायक मैनेजर श्रीमान कल्याणमलजीने भी अपने पद त्याग कर दिये। सेठ साहिबने इस विरोधकी कतई परवाह न की और उक्त त्यागपत्रोंको साथ ही स्वीकार कर विद्यालयका प्रबन्धकार्य एक अजैन अध्यापकको तथा [illegible] रोकड़ का काम अपने एक मुनीमको सुपुर्द करदिया-मानो "श्री महावीर दिगम्बर जैनविद्यालय" उनकी निजी संपत्ति हो !

यहाँ यह प्रकट करदेना आवश्यक होगा कि इस विद्यालय से पहिले यहा स्थानीय समस्त दिगम्बर जैन समाजकी ओरसे "श्री दिगम्बर जैन व्यापारिक पाठशाला" नामक संस्था स्थापित थी जिसका करीब दस बारह हजार रुपया अभीतक इन्हीं सेठ साहिबके पास जमा है। सेठ साहिबने [illegible]ग्रहवश उससंस्थाको बन्दकर अपनीपञ्चायतीकी ओरसे इस विद्यालयको स्थापित कराया। किन्तु आज सेठ साहिब के दुराग्रहकी मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि उन्होंने [illegible] सत्ताको भी हड़पा लिया है और विद्यालयको अपने [illegible] पूर्तिके लिये साधन बना रक्खा है।

[illegible] धड़ेकी पञ्चायती गोठ चैत्र कृष्णा १० को [illegible]। इसमें श्रीमान गुलाबचन्दजी पाटणीको अपने भाई [illegible] सम्मिलित होने दिया जाय या नहीं, यह परस्पर मनोमालिन्यका विषय है। उक्त पंचायतके करीब [illegible]—१० प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका एक डेपुटेशन सेठ टीकमचन्दजीके पास गया था जिसका उद्देश यह था कि सेठ साहिबको अनुरोध किया जावे कि वे न्याय व निष्पक्षता पूर्वक इस झगड़ेको निबटादें अथवा जब तक झगड़ा न निबटे तब तकके लिये गोठको स्थगित करदें। अफ़सोस

है कि सेठ साहिबपर इस नेक सलाहका कोई असर न हुवा और उन्होंने न्याय व निष्पक्षताका अनुसरण करने के बजाय दुराग्रहको पकड़े रहनेमेंही अपनी शान समझी।

तेरहपंथी धड़ा श्रीमान सेठ टीकमचन्दजीके पितामह स्वर्गीय श्रीमान रायबहादुर सेठ मूलचन्दजी द्वारा स्थापित किया गया था। कई परिवार जो उस समय उनके साथ हुए थे, आज तक इस घरानेके प्रति पूर्ण श्रद्धा व भक्ति रखते हैं तथा इस पंचायतके मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं। श्रीमान रायबहादुर सेठ मूलचन्दजी व नेमीचन्दजी इनकी बड़ी इज्जत करते थे और सदा उनकी सलाहके अनुसार पंचायतका संचालन करते थे। जब कभी धड़ेमें दो दल हुए तो वे सदा उनसे अलग रहे, कभी अपनेको किसी एक दलमें शामिल नहीं किया, दोनोंको बराबर समझा तथा प्रयत्न कर दोनों दलोंको शामिल किया। इस नीतिके कारण पंचायतमें परस्पर प्रेम व संगठन था तथा उन महानुभावोंकी अपनी पंचायतके अलावः बाहिर भी यथेष्ट प्रतिष्ठा थी।

श्रीमान सेठ टीकमचन्दजीकी कार्यप्रणाली अपने पूर्वजोंकी उक्तप्रणालीके बिलकुल विपरीत है। वे कुछ स्वार्थपरायण चाटुकारोंके हाथकी कठपुतली बनेहुए हैं। वे न अपनी अकलसे कामसे लेते हैं और न उन अपने स्वर्गीयपितामहके अनुगामी महानुभावोंकी हितपूर्ण बातको ध्यानसे सुनते हैं। स्वार्थियोंकी कुटिल चालोंमें फँसकर सेठ साहिबने कई ऐसी अनीतिपूर्ण कार्यवाहियाँकी कि कई स्वाभिमानी महानुभावोंको इस परिवारके व धड़ेके प्रति अनेक वर्षोंके सम्बन्धका मोह विच्छेद कर खुल्लमखुल्ला अनुचित कार्यवाहियों के विरोधमें खड़ा होनेके लिये विवश होना पड़ा। ऐसी कुटिलतापूर्ण कार्यवाहियोंसे इस पंचायतमें ही नहीं किन्तु समस्त अजमेर जैनसमाजमें अशान्ति फैल रही है और सामाजिक वातावरण अत्यन्त कलुषित होरहा है, अस्तु।

अब परिस्थिति बिलकुल स्पष्ट होगई है। सेठ साहिब स्वयं दलबन्दीकी गहरी दलदलमें फँसे हुए हैं। धड़ेमें शान्ति स्थापित करनेके लिये मामलेको निबटादेनेकी प्रार्थनाएँ ठुकराई जाचुकी हैं। हितैषी मित्रोंकी वहाँ कोई सुनवाई नहीं है—वहाँ खुशामदियों व ठकुरसुहाती कहने वालोंकी कद्र है। जो महानुभाव सेठजीके पूर्वजोंकी सत्कीर्तिके कारण इस परिवारके प्रति श्रद्धा व प्रेम रखते हैं और इसकारण अब तक अपनी अन्तरात्माको कुचल कर भी उनकी बातको निबाहते रहे हैं, अब उनका मोहभंग होकर स्वात्माभिमान जाग्रत होरहा है। वे अपने नेता के अनुयायी हैं, उसकी उनको "कान" है, लेकिन उसके चाटुकारोंकी—टकेकी गुलामोंकी—उसको गुमराह करनेवालों की—उनको कोई परवाह नहीं है।

बेहतर हो यदि अबभी सेठ साहिब अपने हितैषियों की बात मानकर अपनी पंचायत में शान्तिस्थापित कर सकें। वरना प्रत्येक न्यायप्रिय व्यक्तिका कर्तव्य होगा कि सेठजीके पूर्वजोंकी कीर्तिकी रक्षाके लिये व तेरहपंथी धड़े की पंचायत तथा समस्त अजमेर जैनसमाजमें शांति स्थापित करनेके लिये सेठजीके उन स्वार्थी मित्रोंका—उन्हें गुमराह करने वालोंका—पूर्ण शक्तिसे विरोध करे। नादान बालक अगर दूसरोंके बहकाने से अपने घरका अनिष्ट करता हो तो उस अनिष्टको रोकनेका एक तरीका यह भी है कि उन बहकाने वालोंको ताड़ना देकर उनके संसर्गसे बालकको बचाया जाय। —स्पष्टवक्ता।

२—यहाँ ता० ५ अप्रेलसे श्री साधुसम्मेलन शुरू होगा तथा ता० २२, २३ व २४ अप्रेल को श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्सका नववाँ अधिवेशन होगा। स्वागताध्यक्ष श्रीमान् राजाबहादुर सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसादजी जौहरी (महेन्द्रगढ़) चुने गये हैं। सम्मेलन व अधिवेशन की सफलता के लिये बहुत जोरों से तैयारियाँ की जारही हैं। आर्यसमाज के स्वर्णजयन्ती महोत्सवके पंडाल इनके लिये रोक लिये गये हैं। करीब ४—५ हजार प्रतिनिधियों व कई हजार दर्शकोंके आनेकी आशा की जाती है। इसी अवसर पर महिला परिषद व शिक्षा परिषद भी होंगी। प्रतिनिधि फ़ीस ४) तथा दर्शक फ़ीस ३) है। स्वागतसमिति की ओरसे सबके लिये भोजन आदि की समुचित व्यवस्था रहेगी। —प्रकाशक।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

वर्ष ८

चैत्र कृष्णा ५

वीर संवत २४५९
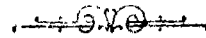
जैनजगत्

अंक १०

ता० १६ मार्च

सन् १९३३ ई०

जैनधर्म का मर्म ।

(२३)

केवली और मन ।

यहां तकके विवेचनसे पाठक समझ गये होंगे कि जैनशास्त्रोंके अनुसार केवली सदा ज्ञानोपयोगी नहीं होता और न वह सदा सब वस्तुओं को जानता है। यह मत सबसे प्राचीन है। दिगम्बर श्वेताम्बर आचार्यांके जो इससे भिन्न मत हैं वे इससे अर्वाचीन हैं।

केवली, सब वस्तुओंको एकसाथ नहीं जानते इस विषयमें और भी बहुतसी विचारणीय बातें हैं जिनका यहां उल्लेख किया जाता है।

इस विषयमें विशेष विचारणीय बात यह है कि केवलीके मनोयोग होता है। जहाँ मनोयोग है वहां सब वस्तुओंका एक साथ प्रत्यक्ष हो नहीं सकता * क्योंकि मन, एक समयमें एक तरफ़ही लग सकता है। केवलीके मनोयोग होता है यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है † ।

"केवलीके मनोयोग होता है" इस मान्यता से यह बात स्पष्ट है कि केवली, युगपत् सर्व-वस्तुओंका साक्षात्कार नहीं कर सकते। इतने परभी इस मान्यताका त्याग नहीं किया जा सका, इसलिये पीछेके लेखकोंने इस बातकी कल्पनाकी कि केवलीके मनोयोग तो होता है परन्तु उपचारसे होता है। उनके वास्तव में मनोयोग नहीं होता। उपचारके कारण निम्नलिखित बताये जाते हैं।

१—छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) जीवोंके मनपूर्वक वचनव्यवहार देखा जाता है, इसलिये केवली के भी मनोयोग माना गया क्योंकि वे भी वचन व्यवहार करते हैं * (वोलते हैं)

२—केवलीके मनोवर्गणाके स्कंध आते हैं इसलिये उनके उपचारसे मनोयोग माना गया है § ।

ये दोनोंही कारण हास्यास्पद हैं। इनके विरोधमें चार बातें कही जासकती हैं।

---

* चित्तंपि नेंदियाइं समेइ समसहय स्विरपचारित्ति । समयं व मुक्क सक्कुलि दसणे सव्वोवलद्धित्ति । विशेषावश्यक २४३४ ॥

† संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादारभ्यायावत् सयोग केवली तावदाद्यतुर्यौमनोयोगौ लभ्येते । तत्त्वार्थ सिद्धसेन टीका २—२६ (श्वे०) " क्षयेऽपि हि सयोगकेवलिनः त्रियोग इष्यते " राजवार्तिक ६—२ (दिग०)

* मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि । उत्तो मणो व पारेणिदियणाणेण हीणम्मि । २२८ । गोम्मटसार जीवकांड ।

§ अंगोवं गुदयादो दव्वमणट्ठं जिणंदचंदम्हि । मणवग्गण खंधाणं आगमणादो दु मणजोगो । २२९ गो० जी० ॥

१—असंज्ञीजीवोंके वचनयोग और वचन व्यवहार होता है किन्तु उनके मनोयोग नहीं माना जाता। तब केवलीके भी मनोयोग मानने की क्या आवश्यकता है?

२—अगर छद्मस्थोंके वचनव्यवहार मनः पूर्वक होता है तो होता रहे। यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो बात छद्मस्थोंके होती है वह केवलीके न होने पर भी मानीजाय। छद्मस्थों के चार मनोयोग होते हैं परन्तु केवलीके सिर्फ दो (सत्य, अनुभय) ही बताये जाते हैं। छद्मस्थोंको मरनेके बादही कार्मण योग होता है; केवली जीवित अवस्थामें ही कार्मण योगी हो सकते हैं। इससे सिद्ध है कि अगर केवलीके मनोयोग न होता तो छद्मस्थोंकी नक़ल कराने के लिये उनमें मनोयोग न बताया जाता।

३—मनोयोगके उपचारके लिये मनोवर्गणाओंका आगमन कारण बताया गया है परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि जिस जाति की वर्गणाएँ आवें उसी जातिका योगभी होना चाहिये। तैजस वर्गणाएँ सदा आती हैं परन्तु तैजसयोग कभी नहीं होता। इसके अतिरिक्त जिस समय काययोग होता है उस समय भाषा वर्गणा और मनोवर्गणाएँ भी आती हैं। इसी प्रकार वचनयोगके समयभी अन्य वर्गणाएँ आती हैं। क्या काययोग या वचनयोग से मनोवर्गणाएं नहीं आसकतीं जिससे जिनेन्द्रमें मनोवर्गणाओंके लिये मनोयोगका उपचार करना पड़े। एक बात और है कि मनोयोगका समय ज्यादासे ज्यादा अन्तर्मुहूर्त है जब कि मनोवर्गणाएं जीवनके प्रारम्भसे लेकर अन्ततक या तेरहवें गुणस्थानके अन्ततक आती हैं। यदि मनोवर्गणाओंके आनेसे मनोयोगकी कल्पना होती तो जीवनभर मनोयोग मानना चाहिये था। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे मालूम होता है कि केवलीके मनोयोग वास्तवमें है, कल्पित नहीं।

४—जब बोलचालका सम्बन्ध मनोयोग के साथ इतना ज़बर्दस्त है कि केवलीके भी उपचारसे मनोयोगकी कल्पना इसलिये करना पड़ी कि वे बोलते हैं, तब एक सत्यान्वेषी पाठक यह समझ सकता है कि केवलीके मनोयोग होता है। जब कोई प्रश्न पूछता है, तब वे मन लगाकर उसकी बात सुनते हैं और मन लगा कर उसका उत्तर भी देते हैं। एक आदमी वर्षों तक देश देश में विहार करता है, उपदेश देता है, अपने मतका प्रचार करता है, सबकी शंकाओं का समाधान करता है, किन्तु ये सब काम वह बिना मनके करता है—ऐसा कहने वाला अन्धश्रद्धालुताकी सीमापर बैठा है, यही कहना पड़ेगा। इसलिये ऐसे मनका कुछ मूल्य न होगा।

दिगम्बर संप्रदायके समान श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी केवलीके मनोयोग माना जाता है। परन्तु वहाँ मनोयोगको स्पष्ट ही स्वीकार किया है। बल्कि एक बात तो इतनी सुन्दर है कि जिससे मनोयोगका सद्भाव ही नहीं किन्तु उसका उपयोग एक तरफ़को लगता है, यह भी साबित होता है। तेरहवें गुणस्थानमें मनोयोग है, इसका वर्णन करते हुए वहां कहा गया है कि "जब मनःपर्ययज्ञानी या अनुत्तर विमानके देव मनसे ही केवली से प्रश्न पूछते हैं तो केवलज्ञानीभी मनसे ही उसका उत्तर देते हैं। इससे केवलीके विचारों का प्रभाव केवलीके द्रव्यमन पर पड़ता है। उस द्रव्यमनको मनःपर्ययज्ञानी अपने मनःपर्ययज्ञान से, और अनुत्तरके देव अपने अवधिसे देखते हैं और अपने प्रश्नका उत्तर समझ लेते हैं।

इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि केवलीका मन अजागलस्तनकी तरह निरर्थक नहीं

है किन्तु वह विचार का साधन है। यदि केवलीके त्रिकाल—त्रिलोकका युगपत साक्षात्कार होता तो केवलीका मन किसी अमुक व्यक्ति के उत्तर देने में कैसे लगता?

अब मैं यहां कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करता हूं, जिससे पाठकोंको मालूम होगा कि केवलीके मनोयोग वास्तविक होता है, उससे वे किसी खास वस्तुपर विचार करते हैं।

१—जब केवलियोंसे कोई बातचीत करता है और दो केवली जब आपसमें बातचीत करते हैं तब यह बात स्पष्ट है कि बातचीत करने वालेकी बात केवली सुनते हैं और सुनकर उत्तर देते हैं।

प्रश्न—केवली किसी के शब्द सुनते नहीं हैं किन्तु जबसे उन्हें केवलज्ञान पैदा हुआ है तभी से वे शब्द उनके ज्ञानमें झलक रहे हैं।

उत्तर—यदि पहिलेसे वे शब्द झलकते हैं तो भूतभविष्यके अनन्त प्राणियोंके अनन्त शब्द उनके ज्ञानमें झलकेंगे। परन्तु इन सबकी विशेषताओंपर वे अलग अलग ध्यान न दे सकेंगे। और एक साथ सब पर ध्यान देंगे तो वह सामान्य (दर्शन) उपयोग होगा। दूसरी बात यह है कि अनन्त प्राणियों के अनन्त शब्द जब उनके ज्ञानमें एक साथ झलकेंगे तब वे किस किस का उत्तर देंगे?

प्रश्न—जो वाक्य उनके लिये कहा गया है और वर्तमान है, उसीका उत्तर देंगे।

उत्तर—जब उन्हें अनन्तकालके अनन्त-व्यक्तियोंसे कहे गये, अनन्त शब्द झलकते हैं, तब उन्हें अमुकका उत्तर देना चाहिये, अमुक का उत्तर न देना चाहिये, इतना विचार तो करना पड़ेगा; और विचार तो मानसिक क्रिया है।

प्रश्न—केवलीको इतना विचार भी नहीं करना पड़ता किन्तु उनके मुखसे आपसे आप प्रश्न का उत्तर निकलता है।

उत्तर—इस तरह तो केवली मनुष्य न रहेंगे, मशीन हो जायगे। ऐसी हालतमें केवली का उत्तर प्रश्नकर्ताके प्रश्नकी प्रतिध्वनि ही होगी। परन्तु प्रश्नकी प्रतिध्वनिसे ही प्रश्नका उत्तर नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि केवली जब उत्तर देते हैं तब उनका आत्मा वचन बोलनेके अभिमुख होता है या नहीं? यदि नहीं होता तब तो उनके वचनयोग भी न होना चाहिये, क्योंकि बोलनेके लिये अभिमुख आत्माका जो प्रदेश परिस्पंद (कम्पन) है वही वचन योग * है। परन्तु केवलीके वचनयोगका निषेध नहीं किया जासकता। यदि वह बोलनेके लिये अभिमुख होता है तो अमुक स्वर व्यञ्जन बोलनेके लिये विशेष प्रयत्न होना चाहिये। परन्तु वह विशेष प्रयत्न विचारपूर्वकही होसकता है। अपने आप विशेष प्रयत्न नहीं हो सकता। अगर वह अपने आप होगा तो केवलीके मुखसे सदा एकसी आवाज़ निकलेगी क्योंकि आवाज़ बदलनेका विशेष प्रयत्न कौन करेगा?

प्रश्न—केवलीकी आवाज़ मेघगर्जनाकी तरह एक तरहकी होती है। वह श्रोताओंके कानमें आते आते अनेकरूप हो जाती है +। इसलिये जबतक वह वाणी श्रोताओंके कानमें नहीं पहुँचती तबतक वह अनक्षरात्मक रहती है। इसीलिये उनके अनुभय वचनयोग होता है।

---

* वाकपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो वाग्योगः। राजवार्तिक ६—१—१० ॥

+ सयोग केवलिदिव्यध्वनेः कथंसत्यानुभय वाग्योगत्वमितिचेन्न, तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेश प्राप्ति समय पर्यंतमनुभय भाषात्वसिद्धेः।

—गोम्मटसार जीवकांड टीका २२७॥

जुदे जुदे अक्षरोंके लिये जुदे जुदे प्रयत्नोंकी आवश्यकता है, अनक्षरात्मकके लिये नहीं।

उत्तर—प्राचीन विद्वानोंने भक्तिवश होकर केवलीकी सर्वज्ञता बनाये रखनेके लिये अनक्षरात्मक वाणीकी कल्पना अवश्यकी है। परंतु यह कल्पना भक्तिवश कीगई है। अन्य प्रामाणिक शास्त्र इसके विरोधी हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके सबसे अधिक प्रामाणिक धवलादि ग्रंथों में से श्रीधवलमें अनक्षरात्मक वाणीका निषेध किया गया है। और अनुभय वचनयोगका कारण यह बतलाया है कि भगवान् 'स्यात्' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। इसलिये उनके अनुभय वचनयोग होता है[1]। सिर्फ अनक्षरात्मक भाषा ही अनुभय वचनयोगका कारण नहीं है, किन्तु निमन्त्रण देना, आज्ञा करना, याचना करना, पूछना, विज्ञप्ति करना, त्यागकी प्रतिज्ञा करना, संशयात्मक बोलना, अनुकरणकी इच्छा प्रकट करना, ये भी अनुभय वचनयोगके कारण* हैं। इस प्रकार केवलीके अनक्षरात्मक भाषा शास्त्रविरुद्ध है तथा युक्तिसे भी विरुद्ध है, क्योंकि अनक्षरात्मक वचनोंको श्रोताओंके कानमें पहुँचनेपर अक्षररूपमें परिणत करने का कोई कारण नहीं है। बोलते समय तात्वादिस्थानोंके भेदसे अक्षरमें भेद होता है। यदि मुखमें अक्षरों का भेद नहीं होसका तो कानमें कौन कर देगा?

प्रश्न—देवलोग ऐसा कर देते हैं।

उत्तर—अनक्षरात्मक वाणीका कौनसा भाग "क' बनाया जाय, कौनसा 'ख' बनाया जाय आदिका निर्णय देव कैसे कर सकते हैं? केवली किस प्रश्नके उत्तरमें क्या कहना चाहते हैं, क्या यह बात देव समझलेते हैं? यदि केवलीके ज्ञानको देव समझते हैं तो देव केवली होजायगे। यदि उत्तर देनेके लिये केवलीका अभिप्रायही देव समझते हैं तो भी केवलीके जुदे जुदे अभिप्राय सिद्ध होंगे जिससे सदा त्रिकालत्रिलोकका ज्ञान उनमें साबित न होसकेगा।

प्रश्न—अनक्षरात्मक भाषामें ही ऐसा सूक्ष्मभेद होता है जिसे देव समझते हैं। तदनुसार वे परिवर्तन करते हैं।

उत्तर—अनक्षरात्मक भाषाका सूक्ष्म भेदभी कैसे पैदा होगा? अनक्षरात्मक भाषाका जो अंश 'क' बनने वाला है और जो अंश 'ख' बनने वाला है उसमें अन्तर सूक्ष्म भलेही हो, परन्तु अन्तर है अवश्य। उसी सूक्ष्म अन्तरको देव लोग बढ़ा सकेंगे। परन्तु अनक्षरात्मक भाषा में सूक्ष्म अन्तर पैदा करनेके लिये केवली को विशेष प्रयत्न तो करनाही पड़ेगा। उनकी भाषा में स्थूल 'क' 'ख' के बदले में सूक्ष्म 'क' 'ख' आगये, परन्तु 'क' 'ख' आदिका भेद तो बना ही रहा, जिनके उच्चारणके लिये केवलीको जुदा जुदा प्रयत्न करना पड़ेगा। और जुदे जुदे प्रयत्न होने से जुदा जुदा उपयोग या विचार भी होगा जोकि बिना मनके हो नहीं सकता।

तीर्थंकर केवलीके पास देव रहते हैं; परंतु इस प्रकार की सुविधा सामान्य केवलियों को नहीं होती; किन्तु वार्तालाप तो वे भी करते हैं।

---

[1] तीर्थंकरवचनम् अनक्षरत्वद्ध्वनिरूपं, तत एव तदेकं, तदेकत्वान्नतस्य द्वैविध्यं घटते इति चेन्न, तत्रस्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्वतः तस्यध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः। श्रीधवल—सागरकी प्रतिका ५४ वाँ पत्र ॥

* आमंतणि आणवणी याचणियापुच्छणी य पण्णवणी। पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमाय। २२५। णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसाहवंति भासाओ। सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंस संजणया। २२६ ।

—गोम्मटसार जीवकांड ॥

बोलते समय केवलीके ओंठ कैसे चलते हैं, दाँत कैसे चमकते हैं आदि वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है (दूसरे अध्यायमें इस विषयका खुलासा किया गया है) इससे भी सिद्ध होता है कि उनकी वाणी अनक्षरात्मक नहीं होती।

केवलियोंकी वाणीको अनक्षरात्मक कहना, बिना विचारे बिना सुने उनसे प्रश्नोत्तर कराना आदि बातें अन्धश्रद्धालुताकी सूचक हैं, इस लिये विचारक्षेत्रमें उनका कुछ मूल्यही नहीं है। किन्तु उत्कटभक्तों को भी कुछ संतोष हो इस लिये मैंने यहाँ कुछ लिख दिया है।

अब यहाँ कुछ ऐसी घटनाएँ उपस्थितकी जाती हैं जिनसे मालूम होगा कि केवली वार्तालाप करते हैं, विचारते हैं, सुनते हैं, आदि।

(क) न्यायग्रन्थों में जहाँ वादविवाद का वर्णन है वहाँ—केवलीभी शास्त्रार्थ करता है—ऐसा वर्णन मिलता है। तीन तरह के वादियोंके साथ केवली वाद या चर्चा करता है। विजिगीषु (जयकी इच्छा करने वाला) के साथ, स्वात्मनितत्वनिर्णिनीषु (अपने लिये तत्वनिर्णयकी इच्छा वाला) के साथ, परत्रतत्वनिर्णिनीषु छद्मस्थ (दूसरेके लिये तत्वनिर्णयकी इच्छा वाला) के साथ। विजिगीषुके साथ केवली चतुरङ्ग वाद करता है। अर्थात् शास्त्रार्थ का निर्णय देने वाले सभ्य और सभापतिके सामहने केवली वाद करता है। मनका उपयोग लगाये बिना केवली ऐसी सभाओंमें शास्त्रार्थ करे, यह असम्भव है।

(ख) जब दैववादी (आजीवक) शब्दालपुत्रके यहाँ भगवान महावीर ठहरे और जब वह घड़े उठा उठा कर सुखानेके लिये बाहर रख रहा था तब उसका यह काम देखकर भगवान महावीर ने उससे कुछ प्रश्न किया और शब्दालपुत्रके वक्तव्य पर अनेक उदाहरण देकर उनने अच्छी तरह दैववादका खण्डन किया। मंखलि गोसालके साथभी भगवान महावीरका आक्षेपपूर्ण वार्तालाप हुआ है। इस प्रकार के खंडनमंडन बिनाविचारके नहीं कहे जासकते।

(ग) शब्दालपुत्रने अपने यहाँ ठहराने का भगवान महावीरको निमन्त्रण दिया, तब उसके शब्द भगवानने सुने हैं*। इससे मालूम होता है कि भगवान शब्द सुनते थे, अर्थात् कर्ण इन्द्रिय का उपयोग करते थे।

ये तो थोड़से नमूने हैं परन्तु सूत्रसाहित्य में प्रत्येक सूत्रमें महावीरके साथ वार्तालाप प्रश्नोत्तर आदिका विस्तृत वर्णन आता है, जो उनके इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय उपयोग का सूचक है।

प्रश्न—श्वेताम्बर साहित्य भलेही केवलियों के वार्तालापका, प्रश्नोत्तरका, शास्त्रार्थका वर्णन करता हो परन्तु दिगम्बर साहित्यमें ऐसा वर्णन नहीं मिलता।

उत्तर—इस निःपक्ष लेखमालामें किसी बातको सिर्फ़ इसीलिये अप्रामाणिक नहीं कहा जासकता कि वह अमुक सम्प्रदायकी है अथवा अमुक की नहीं है।

कोई महापुरुष बिना वार्तालप किये, बिना प्रश्नोत्तर किये, अपने विचारों का प्रचार करे, बिना विचारके देश देशमें भ्रमण करे आदि, यह असम्भव है।

यदि भगवान महावीर ये काम न करते तो श्वेताम्बरों को क्या ज़रूरत थी कि वे महावीर जीवन का ऐसा चित्रण करते? महावीर दोनों

* तएणं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओ वासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ। उवासग ७—१९१॥

को समान प्यारे हैं। दोनोंही उन्हें सर्वज्ञ आदि मानते हैं। इसलिये दोनोंके वर्णनोंमें जिसका वर्णन सम्भव और स्वाभाविक होगा उसीका मानना उचित है।

श्वेताम्बरों का सूत्र साहित्य दिगम्बर साहित्यकी अपेक्षा अधिक प्राचीन और अधिक मौलिक है इसलिये उसमें विकार कम आया है।

इसके अतिरिक्त पाँचवीं बात यह है कि दिगम्बर साहित्यमें भी केवलियोंके वार्तालाप प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन मिलता है।

(घ) श्रीधवलमें पाँचवें अंगके स्वरूपके वर्णनमें लिखा है ⚘ कि—"गणधर देवको जो संशय पैदा होते हैं उनका छेदन जिस प्रकार किया गया तथा बहुतसी कथा उपकथा का वर्णन इस अंगमें है"।

"गौतमको जीव अजीव के विषयमें सन्देह हुआ था जिसको दूर करानेके लिये वे महावीर के पास आये थे। पीछे महावीरके शिष्य होकर उनने द्वादशाङ्गकी रचना की थी * "।

श्रीधवलके ये दोनों अंश गौतम और महावीरके बीचमें प्रश्नोत्तर होनेके सूचक हैं।

इसके अतिरिक्त राजवार्तिकसे भी मालूम होता है कि गौतम प्रश्न करते थे और महावीर उत्तर देते थे "विजयादिके देव कितने बार गमनागमन करते हैं" इसप्रकार गौतमके पूछने पर भगवान महावीरने कहा है—विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागतीः विजयादिषु कुर्वन्ति इति **गौतम प्रश्ने भगवतोक्तम्।** राजवार्तिक ४-२६-५)

इससे भी स्पष्ट है कि केवली प्रश्नोंका उत्तर देते हैं अर्थात् वार्तालाप करते हैं।

(ङ) अनन्तवीर्य केवलीकी सभामें उनके एक शिष्यने केवलीसे अनुरोध किया है कि सब लोग धर्म सुनना चाहते हैं, आप उपदेश दें। तब केवलीने उपदेश दिया †। मतलब यह कि शिष्यके अनुरोधको सुनकर उनने व्याख्यान दिया।

(च) देशभूषण कुलभूषणको केवलज्ञान होनेपर रामचन्द्रजी प्रश्न पूछते हैं और केवली उत्तर देते हैं (पद्मपुराण ३९ वाँ पर्व)। रामचन्द्रजी अनेकबार बीच बीचमें प्रश्न पूछते हैं और केवली व्याख्यान का क्रम बदल करके भी रामचन्द्रजी का समाधान करते हैं।

(छ) शिवंकर उद्यानमें भीम केवलीके पास कुछ देवाङ्गनाएँ आती हैं और केवलीसे पूछती हैं कि हमारा पहिला पति मर गया है, अब बताइये हमारा दूसरा पति कौन होगा? केवली कहते हैं कि अमुक भील मरकर तुम्हारा दूसरा पति होगा (आदिपुराण पर्व ४६ श्लोक ३४६ से)

(ज) इस तरहके बीसों उदाहरण दिये जासकते हैं जिनमें केवलियोंने प्रश्नोत्तर किये

⚘ णाहधम्मकहा ... गणहर देवस्स जादसंसयस्स संदेहछिदण विहाणं,बहु विहकहाओ उवकहाओ चवण्णेदि।—श्रीधवल।

* तम्हि चेवकाले तत्थेव खित्ते खयोवसम जणिद चउरमल बुद्धि संपण्णेण बम्हणेण जीवाजीवविसयसंदेह विणासणट्ठं मुवगय वड्ढमाणपाद मूलेण इन्दभूदिणा वहारिदो।

† ततश्चतुर्विधैर्देवैस्तिर्यग्भिर्मनुजैस्तथा। कृतशंसमुनिश्रेष्ठ शिष्येणैव मपृच्छयत॥ भगवन्! ज्ञातुमिच्छन्ति धर्मा धर्मफलंजनाः। समस्ता मुक्तिहेतुं च तत्सर्वं वक्तुमर्हथ॥ ततः सुनिपुणं शुद्धं विपुलार्थं मिताक्षरं। अप्रधृष्यं जगौ वाक्यं यतिः सर्वहितंप्रियं॥ १४—१७ पद्मपुराण। मिताक्षर विशेषणसे यह भी मालूम होता है कि केवलीकी वाणी निरक्षरी नहीं होती।

हैं। कोई अपने पूर्वजन्म पूछता है तो उसके पूर्वजन्म कहे जाते हैं। फिर कोई दूसरा पूछता है तो उसके पूर्वजन्म कहे जाते हैं। इसप्रकार के पूर्वजन्मोंका वर्णन उन पूर्वजन्मों पर विशेष उपयोग लगाये बिना नहीं हो सकता। इसलिये इसविषयमें दिगम्बर-श्वेताम्बर का विचार करना निरर्थक है।

(भ) कूर्मापुत्रको जब केवलज्ञान पैदा हो गया तब वे विचार करते हैं कि 'अगर मैं गृहत्याग करूँगा तो पुत्रवियोग से दुखित होकर मेरे मातापिताका मरण होजायगा" इसलिये वे भावचारित्रको धारण करके केवलज्ञानी होने पर भी मातापिताके अनुरोधसे घरमें रहे। कूर्मापुत्रके समान मातापिताका भक्त कौन होगा जो केवली होकरके भी उनके ऊपर दया करके घरमें रहे ‡।

कोई त्रिकाल त्रिलोकका युगपत प्रत्यक्ष भी करे और मातापिता के विषयमें ऐसे विचार भी करे, यह असम्भव और अनावश्यक है।

दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वान ऐसी बातोंपर भलेही विश्वास न करें परन्तु ऐसी घटनाएँ जैनधर्मके प्राणके समान हैं। इस बात पर आगे पाँचवें अध्यायमें विचार किया जायगा।

२—भावमन के बिना मनोयोग कभी नहीं हो सकता। "भावमन की उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न है वही मनोयोग है"। मनोयोग की यह परिभाषा * केवलीके भी भाव मन सिद्ध करती है।

३—केवलज्ञान भी एक प्रकारका मानस प्रत्यक्ष है। नंदीसूत्रमें ज्ञानके जो भेद प्रभेद कहे हैं उनमें केवलज्ञान नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का भेद बताया गया है।

ज्ञानके संक्षेपमें दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकारका है-इन्द्रिय प्रत्यक्ष, नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष; रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकारका है—अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष, केवलज्ञान प्रत्यक्ष ॥।

इससे मालूम होता है कि एक समय अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष माने जाते थे; परन्तु पीछे से यह मान्यता बदल गई और खींचतान कर नोइन्द्रियका अर्थ आत्मा कर दिया गया, और उसका प्रसिद्ध अर्थ "मन" छोड़ दिया गया। परन्तु इसका सरल सीधा और सम्भव अर्थ लिया जाय तो इससे यह स्पष्ट होगा कि केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष है इसलिये केवलीके मन होता है।

‡ जइताव चरित्तमहं गहेमि ता मज्झ मायतायाणं। मरणं हविज्ज,नूणं सुय सोग वियोग दुहिआणं।१३५। तम्हा केवलकमलाकलिओ निअमायताय उवरोहा। चिट्ठइचिरं घरंमिय स कुमारो भाव चारित्तो। १३६। कुम्मापुत्तसरिच्छो को पुत्तो मायताय पयभत्तो जो केवली वि सघरे ठिओ चिरं तयणुकंपाए। १३७। कुम्मापुत्त चरिअम्।

* भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः मनोयोगः।
—श्रीधवल- सागरकी प्रतिका ५३वाँ पत्र।

॥ त समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च (सूत्र २) से किं तं पच्चक्खं? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं तं जहा इंदियपच्चक्खं नोइंदियपच्चक्खं (सूत्र३) से किं तं इंदिय पच्चक्खं। इन्द्रियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा सो इन्दियपच्चक्खं चक्खिंदिय पच्चक्खं घाणिन्दिय पच्चक्खं जिब्भिंदिय पच्चक्खं फासिंदिय पच्चक्खं। (सू.४) से किं तं नोइन्दिय पच्चक्खं। नो इन्दिय पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं तं जहा ओहिनाण पच्चक्खं मणपज्जवणाण पच्चक्खं केवलनाणपच्चक्खं (सूत्र ५)

यहाँ पर टीकाकारोंके अर्थमें एक भूल यह है कि अगर नोइन्द्रिय प्रत्यक्षका अर्थ आत्मिक प्रत्यक्ष किया जाय तो मानसप्रत्यक्ष किसभेद में शामिल किया जायगा? इन्द्रिय प्रत्यक्षके तो पाँचही भेद हैं, उनमें मानस प्रत्यक्ष शामिल हो नहीं सकता। और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ आत्मिक प्रत्यक्ष किया गया है तब मानस प्रत्यक्षका भेद खाली रहजाता है। शास्त्रोंमें इतनी मोटी भूल हो नहीं सकती। इसलिये नोइन्द्रिय प्रत्यक्षका अर्थ मानस प्रत्यक्ष ही करना चाहिये। और केवलज्ञानको मानस प्रत्यक्षका भेद मानना चाहिये।

(४) तेरहवें गुणस्थानमें केवलीके ध्यान बतलाया जाता है। ध्यान बिना मनके हो नहीं सकता इसलियेभी केवलीके मन मानना पड़ता है। तेरहवें गुणस्थानके सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यानमें वचनयोगके समान मनोयोगका भी निरोध किया जाता है *। यदि मनोयोग उपचरित माना जाय तो ध्यानके लिये उसके निरोधकी आवश्यकताही क्या है? जब वास्तव में मनोयोग है ही नहीं तो उसका निरोध क्या?

प्रश्न—केवलीके ध्यानभी उपचरित होता है। वास्तवमें ध्यान उनके नहीं होता; किन्तु असंख्य गुणनिर्जरा होती है इसलिये उपचारसे ध्यानकी कल्पनाकी जाती है। अगर वहाँ ध्यान न मानें तो असंख्य गुणनिर्जराका कारण क्या माना जाय?

उत्तर—असंख्यगुणनिर्जरा वास्तविक होती है या उपचरित? यदि उपचरित होती है तो मोक्षभी उपचरित होगा। तथा उपचरित निर्जराके लिये ध्यानकी कल्पनाकी ज़रूरत क्या है? अगर निर्जरा वास्तविक है तो उसका कारण ध्यानभी वास्तविक होना चाहिये। नक़ली ध्यानसे असली निर्जरा नहीं होसकती। यदि निर्जराका कारण ध्यानके अतिरिक्त कुछ और माना जाय तो निर्जराके लिये उपचरित ध्यानकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिये उनके वास्तविक ध्यान मानना चाहिये।

सच बात तो यह है कि केवलीके भी ध्यान तथा सोचना, विचारना, आदि मनुष्योचित सभी क्रियाएं होती हैं परन्तु जब अन्धभक्तिके कारण लोग केवलज्ञानके स्वरूपको भूलकर उसके विषयमें अटपटी कल्पना करनेलगे और जब शास्त्रीय वर्णनोंसे अटपटी कल्पनाका मेल न बैठा तब मेल बैठानेके लिये वास्तविक घटनाओं को उपचरित कहना शुरू कर दिया गया, अथवा ध्यानकी परिभाषाएँ बदली गईं। यह लीपापोती साधारण लोगों को भलेही धोखादे परन्तु एक परीक्षक को धोखा नहीं दे सकती।
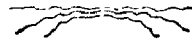
आदेश।

अनाचारकी वृष्टि न मगमें होने देना।
सदाचारकी सृष्टि न जगसे खोने देना॥
स्वार्थवासना दृष्टि न पथमें डटने देना।
समता, सत्य समृष्टि न पथ से हटने देना॥

× × ×

पटने देना धर्म का घाट न जीते जी कभी।
लुटने देना कर्मकी, हाट न जीते जी कभी॥

—"वत्सल" विशारद।

* स यदान्तर्मुहूर्त शेषायुष्कस्त तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्चभवतितदासर्वं वाङ्मानसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाय योगालम्बन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानमास्कन्दितुमर्हति। —सर्वार्थसिद्धि ९-४४।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ ।

हिन्दुओंका क्षयरोग ।

प्रतिदिन हज़ारों स्त्रीपुरुष हिन्दूधर्मको तिलाञ्जलि देकर मुसलमान ईसाई आदि होजाते हैं। इसप्रकार प्रतिवर्ष भारतवर्षमें हिन्दूबल कम होता जारहा है। इससे यहांके राष्ट्रीय जीवनको भी बहुत बड़ी क्षति पहुँच रही है। परन्तु हिन्दूसमाजको इस बातकी जरासी चिन्ता नहीं है। इसकी पाचनशक्ति बिलकुल नष्ट होगई है और विवेकका दिवाला निकल चुका है। फिरभी समाजके पंडित उसकी मूढ़ताको बढ़ानेमें या स्थायी रखने में मदद करते हैं। हिन्दुओंका जातिभेद हिन्दुत्वके नाश में पूर्ण सहायक होरहा है। फिरभी समाज इससे अभी तक चिपटा है।

अभी लाहौर में लाला हरकिशनदास के पुत्र कन्हैयालाल ने हिन्दूधर्म छोड़कर मुसलमान धर्म अंगीकार करलिया है। एक शिक्षितकी दृष्टिमें हिन्दुओंके दर्शनसे मुसलमानोंका दर्शन उच्चश्रेणीका ऊँचे, यह हो नहीं सकता। तब मुसलमानों के पास ऐसी कौनसी वस्तु है जिससे किसी हिन्दूयुवकका चित्त उस तरफ़ खिंचे? उत्तर मिलेगा कि—समता और सामाजिक स्वतन्त्रता। यही एक गुण है कि मुसलमान समाज ज्ञान और धनमें हिन्दुओंकी अपेक्षा पिछड़ा होनेपरभी हिन्दुओंको पचाता जाता है और धीरे धीरे भारतको हिन्दूशून्य बनारहा है। कन्हैयालालने १० वर्ष पहिले एक मुसलमान लड़कीसे शादी की थी। १० वर्ष मे वह उसे हिन्दू न बनासका परन्तु लड़कीने उसे मुसलमान बनालिया। इस प्रकार हिन्दूस्त्री अगर मुसलमानके साथ सम्बन्ध करे तो उसे मुसलमान होना पड़ता है और हिन्दू पुरुष अगर मुसलमान कन्यासे शादी करे तो उसे भी मुसलमान होना पड़ता है। हर एक हिन्दू ऐसी बात को जानता है, परन्तु उसका विवेक जाग्रत नहीं होता। उसका मुर्दापन अनन्त मालूम होता है।

खेद है कि हिन्दुओंका यह मुर्दापन जैनसमाजमें भी आगया है इसलिये इसे भी क्षयरोग हुआ है। परन्तु इससे भी बड़ी दुःख और शर्मकी बात यह है कि जैन समाजके पंडित समाजके इस मुर्देपनको सुरक्षित रखने की चिन्तामें लीन हैं क्योंकि सींथनेके लिये मुर्दाही बहुत उपयोगी है।

सुधारकाभास ।

समाजमें कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिनमें सुधारकों सरीखी उदारता, निःपक्षता, विचारसहिष्णुता आदि तो नहीं हैं, परन्तु स्थितिपालकोंकी भूलें तो सुधारकोंमें ढकेल दिये गये हैं।

सुधारक और स्थितिपालकका भेद सिर्फ़ किसी एकाध बात का भेद नहीं है। सैकड़ों मनुष्य विजातीयविवाहके समर्थक होनेपर भी स्थितिपालक हैं। एक आदमी मजबूरी से किसी सुधारको अपनाते हैं, परन्तु उनकी मनोवृत्ति स्थितिपालकोंके समान ही होती है। स्थितिपालक मनोवृत्तिका परिचायक उसकी अनुदारता है। वह अपनेसे विरोधी विचारोंको सह नहीं सकता; जबकि सुधारक सह सकता है। सुधारक दूसरेके विचारोंसे सहमत भले ही न हो परन्तु वह उसके विचारोंका दमन नहीं करता, न उनके प्रचारमें बाधा डालता है। वह अपने से भिन्न विचारकके दृष्टिबिन्दुको समझनेकी चेष्टा करता है; अगर समझमें नहीं आता तो चुपरहता है या उसकी ग़लती बताता है। बस; इससे आगे नहीं बढ़ता। वह यह नहीं चाहता कि मेरा विरोधी किसी प्रकार अपने विचारोंके प्रचारसे रोक दिया जाय। साधारण समाज से जब वह यह आशा करता है कि लोग मेरी बातोंको मानें या न मानें परन्तु उनपर शान्तिसे विचार अवश्य करें तब वह दूसरोंके साथभी इस उदारताका व्यवहार करने को तैयार रहता है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो समझना चाहिये कि वह सुधारकाभास है।

जब मैंने 'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमाला लिखी-तब उस विषयमें नाना लोगोंके नाना मत हुए। उनमें उग्र प्रशंसकसे उग्र निंदक तक सभी श्रेणीके महाशय थे। परन्तु बेरिस्टर चम्पतरायजी साहिब यहां तक उखड़े कि उनने मतभेद होनेके कारण जैनजगत्‌के बहिष्कार का प्रयत्न किया। सचमुच एक सुधारकके लिये यह

लज्जाकी बात थी। परन्तु उसका असर उलटा हुआ बल्कि अच्छे विद्वानोंने बैरिस्टरसाहिबकी इस नीतिकी निन्दाकी। और जैनजगत् पहिलेकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी परिस्थितिमें आगया। परन्तु "हारा जुवारी दूना खेले" की नीतिके अनुसार आप एक पत्र में लिखते हैं कि "एक समय जैन संसारमें इस पत्रको (जैन जगतको) प्रधान स्थान मिला हुआथा किन्तु मेरे खुलेपत्रके पश्चात् इसकी वह प्रतिष्ठा जैनजनताकी दृष्टिमें नहीं रही है और आज अधिकांश जैनी उसकी मान्यताओंसे सहमत नहीं हैं बल्कि दि० जैन शास्त्रार्थ संघ ने उसे अपनी मान्यताओंको प्रमाणित करनेके लिये चैलेञ्ज भी दिया है।"

जैनजगत्का जैनसमाजमें क्या स्थान है और लेखमालासे उसकी माँग कितनी बढ़ी है, तथा उसे कैसी सम्मतियाँ मिली हैं, इसके कहने की ज़रूरत नहीं है। परन्तु अगर इसका स्थान गिर भी गया होता तो भी एक सुधारकके लिये यह गौरवकी बात होती। सुधारकों की सच्ची पूजा तो उनके मरनेके बाद होती है, उनका जीवन भर तो भोली और मूर्ख समाज के द्वारा पीड़ित होनेमें ही जाता है। जैन जगत् का स्थान अभी गिरा नहीं है, परन्तु मैं कहता हूँ कि कल गिरता था तो आज गिर जाय! मेरे लिये शर्मकी बात तो तब हो, जब मैं किसी स्वार्थ के लिये काम करूँ और गिरजाऊँ। मेरे काम मेरे शुद्ध हृदयके फल हैं, इस लिये मुझे सफलता असफलता की विशेष चिंता नहीं है। समाजको ज़रूरत होगी तो मुझसे काम लेती रहेगी, न होगी तो मेरे पास अपनी सेवाके लिये ही बहुत काम हैं।

बैरिस्टर साहिब घोर अहंकारकी मूर्ति हैं, यह बात मैं बहुत दिनों से जानता हूँ। परन्तु इस जगह तो उनका अहंकार बिलकुल दिगम्बर बन कर खड़ा होगया है। बैरिस्टरसाहिब को अभिमानवश यह भ्रम हुआ है कि मेरे इशारेपर ही समाज नाच रही है। उनकी दृष्टिमें जैनजगत् अच्छा था तो समाजके लिये अच्छा था और उनकी दृष्टिमें गिर गया तो समाजकी दृष्टि में गिर गया। स्थितिपालक पंडितोंके अहंकारसे यह अहंकार कई क़दम आगे ही नहीं है किन्तु कईगुणा अधिक है। पश्चिममें एक ऐसी दूरबीनका आविष्कार हुआ है जिससे कोई भी चीज़ ढाईलाखगुणी दिखती है। शायद अपने व्यक्तित्वके देखने दिखानेके लिये आप इसी का उपयोग करते हैं।

शास्त्रार्थ संघने मुझे चैलेंज दिया है, यह तो आपने लिखा परन्तु मैंने यह वह चैलेञ्ज अच्छी तरह स्वीकार किया—यह नहीं लिखा। फिरभी मैं अपनी मान्यताओं को बराबर प्रमाणित करता जारहा हूँ। आप के विधवाविवाहसम्बन्धी प्रश्नोंका जब मैंने उत्तर दिया था तब भी इन महाशयने चैलेञ्ज दिया था। तब चैलेञ्ज न खटका और अब आप उसे रामबाण समझ रहे हैं!

ख़ैर, मेरे विचारोंसे कौन असहमत है, इसकी तो मैं कभी परवाह करता नहीं हूँ; परन्तु इस बात का कुछ खेद ज़रूर होता है कि बैरिस्टर साहिब सरीखे व्यक्ति भी अपने दुरभिमान का ऐसा असभ्य और नग्न प्रदर्शन करते हैं। जिन्हें सुधारक बनना चाहिये था वे सुधारकाभासकी कोटिमें चले गये हैं।

मैं आशा करता हूँ कि "जैन जगत्" के पाठक सुधारकाभासता का त्याग करेंगे। बैरिस्टर साहिब तो जैन जगत्को पढ़ना पसंद नहीं करते परन्तु मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे सुधारकाभासोंके विचारोंको अवश्य पढ़ें।

शूद्रोंका अपमान।

अभी मुझे शाहपुर (सागर) जानेका काम पड़ा। एक दिन शामको दो चार आदमियोंमें एक वैवाहिक अत्याचारकी चर्चा चलरही थी। खुरईके एक वृद्धने करीपुर में एक लड़कीके ऊपर बड़ा अत्याचार किया है। एक चौदह वर्षकी लड़कीके साथ ज़बरदस्ती पैसोंके बलपर शादी का ढोंग करलिया है। सागरके युवकोंने गतवर्ष बहुत परिश्रम करके इस शादीको रोकदिया था; परन्तु इसवर्ष वृद्ध महाशयने चुपचाप तैयारीकी और पहिलेसे गाँवके कृषकोंको सैकड़ों रुपया देकर फ़ौजदारीके लिये तैयार करलिया और धावा मारा, और विवाहके एक दिन पहिलेही लड़कीको पकड़कर वरके चारों तरफ़ घुमा दिया गया। लड़की इसकेलिये ज़राभी तैयार न थी। वह बहुत रोयी

चिल्लायी और भाँवर न पड़ानेके लिये अड़गई परन्तु उसे ज़बरदस्ती खींचकर घुमाया गया। सुनते हैं इस काममें उसकी साड़ी भी फटगई।

इस विवाहकी चर्चा शाहपुरमें होरही थी। पासमें आसपासके ग्रामोंके कुछ स्त्रीपुरुष भी बैठे हुए थे। वे भी इस चर्चामें भाग लेरहे थे और लड़कीके मा बाप और वर को कोस रहे थे। कोई उन्हें कसाई कहता था, कोई और कुछ। इतनेमें हममेंसे एक आदमी बोला—"अरे वे लोग जैनी काहेके हैं? चमार हैं।"

तब वे ग्रामीण बोले—"मालिक! ऐसा पाप आप चमारोंमें कभी न देखोगे"। मैं चौंका। मुझेमालूम हुआ कि ये ग्रामीण भाई बलिन जातिके चमार हैं जिनकी अन्तरात्मा इसलिये तिलमिला उठी है कि हम लोग एक पापीको इसलिये चमार कहते हैं कि वह पापी है।

चमार एक जाति है जो कि अमुक प्रकारके धंधेके कारण बनी है। परन्तु उच्च कहलानेवाले लोग अपने ज्ञान और अज्ञान अभिमानके कारण पापियोंको ऐसीही गालियाँ दिया करते हैं। वास्तवमें यह शूद्र भाइयोंका घोर अपमान है। यह तो उनलोगोंकी दयालुता या विनय समझिये कि उनने यह नहीं कहा कि "मालिक, ऐसे पाप आप लोगोंकी ही जातिमें होसकते हैं। हमारी जातिमें कोई ऐसा पाप करे तो जीता न बचे"। वास्तवमें उन्हें ऐसा कहनेका हक था। सचमुच उच्चजातियोंमें जैसे भीषण पाप होते हैं वैसे शूद्र कहलानेवाली जातियोंमें नहीं होते। फिरभी हम उनका अपमान करते हैं! यह हमारी मदोन्मत्तता नहीं तो क्या है?

एक दूसरी बात और है। किसी जैनीकी निन्दा करनेके लिये उसे चमार कहते समय हम इस बातको भूल जाते हैं कि चमारपन और जैनीपनका विरोध नहीं है। चमारभी जैनी होसकता है। चमार एक जाति है, और जैन एक धर्म, जिसे कि हरएक जाति प्राप्त करसकती है।

पुत्रैषणा।

अनेक एषणाओंमें पुत्रैषणाभी है। वहभी मनुष्यके स्वभावमें शामिल होगई है। इनेगिने लोगोंको छोड़कर बाकी सबकी यह इच्छा होती है कि मेरा पुत्र हो जिससे मेरा नाम चले और जो मुझे बुढ़ापेमें तथा विपत्तिमें सहायता दे।

गृहस्थमें यह पुत्रैषणा स्वाभाविक है और एक तरहसे यह अनुचित नहीं कही जासकती। किन्तु जो लोग संसार छोड़नेका ढौंग करते हैं, निर्ग्रन्थ मुनि वेषमें रहते हैं उनमें भी यह पुत्रैषणा हो, यह लज्जाकी बात है।

आजकल जैनमुनियोंमें यह पुत्रैषणा खूब बढ़रही है। गृहस्थोंकी पुत्रैषणा उसके आगे पासंग बराबर भी नहीं है। एक दो पुत्रोंके होनेपर गृहस्थ सन्तुष्ट होजाता है। ज्यादः पुत्र वह भी पसन्द नहीं करता क्योंकि उनके पालनपोषण आदिका सारा बोझ उसी पर होता है। परन्तु मुनियोंको यह चिन्ता नहीं होती। सैकड़ों हज़ारों पुत्र प्राप्त करें तो भी उनका क्या जाता है? क्योंकि उनके पोषणका बोझ समाजपर आता है। गृहस्थ पुत्रकी जितनी सेवा करते हैं उसका बदला शायदही प्राप्त करपाते हैं परन्तु मुनि तो शिष्यसे जीवनभर सेवा कराता है, भक्ति कराता है और उसके द्वारा अपने नामको अजरामर बनानेकी चेष्टा करता है।

इसप्रकार गृहस्थोंकी पुत्रैषणासे मुनियोंकी पुत्रैषणा बहुत अधिक है। कुछ समयसे इसका तांडव होरहा है। गृहस्थोंके छोटे छोटे बच्चोंको फुसलाया जाता है, उन्हें मिठाई आदिका लोभदिया जाता है, वे रातों ही रात उड़ा दिये जाते हैं! और इन सब पापोंके लिये बहाना है कि हमतो वीतरागका मार्ग सुरक्षित रखना चाहते हैं। जो लोग ऐसे पापोंका विरोध करते हैं उनकी निन्दा कीजाती है और कहा जाता है कि ये लोग वीतरागताके विरोधी हैं, नास्तिक हैं, आदि।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस बातको लेकर भयङ्कर तूफ़ान खड़ा होगया है। कुछ श्वेताम्बर मुनियोंका कहना है कि आठवर्षका केवली होसकता है! परन्तु ऐसे अपवादोंको अगर सामान्य नियम बनालिया जाय तो दूसरी तरफ़ ऐसे अपवाद भी तो मिलते हैं कि कूर्मापुत्र आदि घरमें रहते हुए भी केवली होगये थे। तब बच्चोंको मूड़नेकी क्या ज़रूरत है? अगर वे आठ वर्षमें केवली या मुनि बननेकी योग्यता रखते होंगे तो वे घरमें रहते हुए भी बनसकेंगे। इसके अतिरिक्त शास्त्रोंका यह नियम भी तो

है कि जब तक मातापिता आदिसे आज्ञा न लीजावे तब तक किसी को मुनि न बनना चाहिये। फिर जो मनुष्य सचमुच वीतरागताके योग्य है वह संसारका कुछ अनुभव करके मुनि बनेगा तो और भी योग्य बनेगा। इस विषय में बहुत कुछ कहा जासकेगा परन्तु अभी इसपत्रमें उसकी ज़रूरत न होनेसे कुछ नहीं कहा जाता है। असली बात तो यह है कि मुनियोंको शास्त्रका या न्यायका विचार नहीं करना है; उन्हें तो अपनी पुत्रैषणा पूरी करना है।

इसविषयके अन्धेरको दूर करनेके लिये बड़ौदा राज्य ने एक दीक्षानियामक क़ानून बनाया है जिसके अनुसार १६ वर्षसे कम उमरका कोई स्त्री पुरुष दीक्षा न लेसकेगा। इसके विरोधके लिये बड़ौदामें मुनियोंने अड्डा जमाया है। जब कि बड़ौदा राज्यकी जैन और जैनेतर प्रजा ९५ फी सदी इस क़ानूनके पक्षमें है, बल्कि जैनियोंकी माँग यह है कि १६ वर्षके बदले १८ वर्षसे कम उमरमें दीक्षाका अधिकार न मिलना चाहिये।

जैनमुनियोंके लिये यह लज्जाकी बात है कि वे एक संसारको छोड़करके भी दूसरे संसारको बसाने के लिये इतना हायतोबा मचा रहे हैं और वीतरागताकी हँसी करा रहे हैं!

इङ्गलैण्डकी अस्पृश्यता।

इङ्गलैण्डके विश्वविख्यात लेखक बर्नार्डशॉसे किसीने अस्पृश्यताके विषयमें बात [illegible] तो उनने कहा कि इङ्गलैण्डमें भी एक धनिक एक ग़रीबके साथ सम्बन्ध नहीं करता इसलिये इंगलैण्डमें भी एक प्रकारकी अस्पृश्यता है। इसपर जैनगज़ट लिखता है कि "भारतके हिन्दू नामक अंग्रेज़ोंकी यह बात कभी पसन्द न होगी। गुरुसे भी चार क़दम अधिक दौड़े तभी तो उसका नाम चेला"।

[illegible] अस्पृश्यताके [illegible] का विनाश कर दिया गया था। उससमय अंग्रेज़ोंने [illegible]ताकाभी पाठ नहीं पढ़ाथा इसलिये यह कहना कि "अस्पृश्यताका विनाश अंग्रेज़ोंकी नक़ल है" बिलकुल भूल है। भारतवर्ष शताब्दियों तक अस्पृश्यताका विरोधी रहा है। और पिछले समयमें भी नानक कबीर आदि अस्पृश्यतानिवारणका आन्दोलन करते रहे हैं। जैनधर्म भी अस्पृश्यताका विरोधी रहा है, यह बात मैं विस्तारसे लिख चुका हूँ।

इंगलैंडमें अस्पृश्यता हो या न हो, सुधारकोंको इससे कुछ मतलब नहीं है। वे तो न्यायरक्षाके लिये अस्पृश्यताका नाश कर रहे हैं। नक़लचीपन तो हमारे स्थितिपालक मित्र दिखा रहे हैं। इंगलैंडमें अगर अस्पृश्यता है तो स्थितिपालकोंको इससे प्रसन्नता क्यों होती है? उनकी दृष्टिमें तो अंग्रेज़ आदि म्लेच्छ हैं, उनके देशमें जानेसे ही धर्म डूब जाता है, इसलिये उनके देशमें अगर अस्पृश्यता हो भी तो उन म्लेच्छोंकी नक़ल इन पवित्र [illegible] क्यों करना चाहिये? कोई अपना ख़राब रिवाज़ या पाप म्लेच्छोंमें भी पाया जाता है, इसमें आर्योंको ख़ुशी की क्या बात है? ख़ैर।

परन्तु इंगलैंडमें अस्पृश्यता है यह कहना ही मिथ्या है और पाठकोंको धोखा देना है। [illegible] जिस अस्पृश्यताका उल्लेख किया गया है वैसी अस्पृश्यताका विरोध नहीं किया जारहा है। ऐसी अस्पृश्यता तो यहाँ एक ही जाति और धर्मवालोंमें भी पाईजाती है।

एक करोड़पति आदमी अपनी जाति और धर्मवाले दूसरे कंगाल आदमीसे शादी नहीं करना चाहता तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह करोड़पति आदमी कंगालको अछूत समझता है।

बर्नार्डशॉ अंग्रेज़समाजके उग्र समालोचक हैं। वहाँ के राजनैतिकोंकी रायमें बर्नार्डशॉकी [illegible] जाति की छातीपर फैलाई [illegible]के समान हैं। वे सुलेखक होने से अंग्रेज जातिके दोषोंका बड़ा ही मार्मिक व्यंग्यपूर्ण आलङ्कारिक चित्रण करते हैं। और अभी जबसे वे रशिया का भ्रमण कर आये हैं तबसे तो उनके ऊपर बोल्शेविज़्म की अच्छी छाप पड़ी है। एक आदमी करोड़पति हो और एक मज़दूर [illegible] भरपेट भोजन न पावे—यह बात बर्नार्डशॉको पसन्द नहीं है। इसलिये धनिक, ग़रीबोंके साथ बेटीव्यवहार आदि नहीं करते, इसबातको वे अस्पृश्यता बताते हैं। ऐसी अस्पृश्यता तो भारतवर्षमें और भी अधिक भयंकर है। उसको दूर करनेका तो यहाँ विचार ही नहीं किया जाता, उसकी चर्चा तो बहुत दूर है।

भारतवर्षमें जिस अस्पृश्यताके कलंकको दूर करनेका

प्रयत्न किया जाता है उसका तो इंग्लैंडमें स्वप्न भी नहीं है। धनवान गरीबोंसे सम्बन्ध नहीं करते, इसका कारण है—"समानशीलव्यसनेषु मैत्री"।

परन्तु जिसके साथ हम समानताका सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते उन्हें इतना भी हक नहीं है, वे मंदिर में भी नहीं जासकते, यहांतक कि वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते अथवा किसी तरह शिक्षा प्राप्त करें तो वे तदनुकूल पद प्राप्त नहीं कर सकते, उनको छू लेनेसे ही हम अशुद्ध होजाते हैं—इसप्रकार अमानुषिक अहंकारसे भरी हुई अपमानजनक अस्पृश्यता पाप है। इंग्लैंडमें यह पाप नहीं है। बर्नार्डशा इस पापका उल्लेख नहीं करते और महात्माजी या अन्य सुधारक इसी प्रकारकी अस्पृश्यताके पापको धोना चाहते हैं।

भाई! बर्नार्डशाको समझो; उनकी कृतियोंको, उनके भावोंका थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त करो। तब कहीं उनके शब्दोंका मर्म समझ पाओगे। उनके शब्दोंको न समझ कर अपनी अज्ञताका परिचय देकर विद्वत्समाजमें हँसी न कराओ!
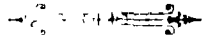
मूल आगमोंका विच्छेद (?)

(लेखक—श्रीमान पंडित बेचरदास जीवराजजी दोशी न्यायव्याकरणतीर्थ, प्रोफेसर गुजरात विद्यापीठ।)

सुननेमें आता है कि मूल आगमोंका विच्छेद हो गया है। ऐसी बात दिगम्बर भाई कहा करते हैं। उनसे सविनय पूछता हूँ कि 'मूल आगम विच्छिन्न हो गये हैं"—ऐसा प्राचीनसे प्राचीन उल्लेख किस ग्रंथमें है? जिस ग्रन्थमें हो उसे, उसके इतिहासके साथ दिखलाने की कृपा करें।

तत्त्वार्थराजवार्तिकमें चौथे अध्यायके "विजयादिषु द्विचरमाः' २६ सूत्रके "आर्षविरोध इति चेन्न प्रश्नविशेषापेक्षत्वात्"-इस पाँचवे वार्तिक की व्याख्यामें आचार्यवर्य श्रीमान् भट्टाकलंकदेव मुनि, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्रोंके दंडकों की साक्षी देते हुए लिखते हैं कि —

"विजयादिविमानों में रहनेवाले देव मनुष्य भव को पाते हुए कितनी गति आगति विजयादि विमानोंमें करते हैं? गौतमके इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें भगवानने कहा है कि जघन्यसे एक भव और उत्कृष्टसे दो भव'।

व्याख्याप्रज्ञप्तिकी इस साक्षीसे मालूम होता है कि ऐसी कोई व्याख्याप्रज्ञप्ति होनी चाहिए जिसमें गौतमके प्रश्न और भगवान महावीर के उत्तर हों। इस सम्बन्धमें दिगम्बर पण्डितोंसे जानना चाहता हूँ कि दिगम्बर सम्प्रदायमें ऐसी कौनसी व्याख्याप्रज्ञप्ति है, जिसमें गौतमके प्रश्न और भगवानके उत्तर हों और जिसको (व्याख्या प्रज्ञप्ति को) देख कर श्री भट्टाकलंकजीने उसकी साक्षी दी है?

राजवार्तिकका मूल पाठ इस प्रकार है —
"एवंहि व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डकेषूक्तम् विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागतीः विजयादिषु कुर्वन्ति इति गौतमप्रश्ने भगवतोक्तम्—जघन्येनैको भवः आगत्या उत्कर्षेण गत्यागतिभ्यां द्वौभवौ"—पृ० १७५।

सम्पादकीय नोट—धवलादि ग्रन्थोंकी रचनाके पहिले अनेक आचार्यों ने जिस षट्खण्डागम की रचनाकी थी उसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति थी। उस व्याख्याप्रज्ञप्ति को लेकर आचार्यवीरसेनने धवलादि टीकाओं की रचनाकी थी। यह बात इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमे पाई जाती है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्।
—श्रुतावतार १८०॥

सम्भवतः यह व्याख्याप्रज्ञप्ति अकलंकदेवने देखी हो। परन्तु प्रश्न यह है कि इसमें क्या महावीर और गौतमके प्रश्नोत्तर हैं? दिगम्बर जैनियोंमें

आमतौरपर यही मान्यता है कि तीर्थंकर इसप्रकार के प्रश्नोत्तर नहीं करते। मेरे खयालसे यह मान्यता ठीक नहीं है। धवला टीकामें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं जिससे महावीरके साथ गौतमके प्रश्नोत्तर का समर्थन है। इसलिये सम्भव है कि षट्खण्डागमके भीतर की व्याख्याप्रज्ञप्तिमें भी महावीर-गौतम संवाद हो। धवलादि को देखनेसे इस बात पर प्रकाश पड़ सकता है। हाँ, श्वेताम्बरोंमें जो भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) प्रचलित है उसमेंसे राजवार्तिकके उक्त वक्तव्यका अंश उद्धृत करना चाहिये। मैं समयाभावसे यह काम नहीं करपाया। आशा है पण्डितजी किसी आगामी अंकमें प्रकाशित करायेंगे। समय मिलेगा तो मैं भी कोशिश करूँगा।

फिरभी इतना तो कहनाही पड़ता है कि आगमों के विच्छेदके विषयमें दिगम्बरोंकी जैसी मान्यता है, वह ठीक नहीं है। श्वेताम्बरोंने अगर आगमोंको परिवर्तित रूपमें कर लिया था तो दिगम्बरोंने उसे मूलरूपमें क्यों न सुरक्षित रक्खा? सबका सब नहीं रहसकता था तो थोड़ा बहुत तो रख सकते थे। श्वेताम्बरोंसे आधा या चतुर्थांशही रखते। इस विषयमें थोड़ा बहुत मैं लिख चुका हूँ, इसलिये यहाँ नहीं लिखता। परन्तु विद्वानोंको निष्पक्ष होकर इस विषयपर गम्भीर विचार करना चाहिये।
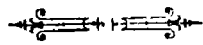
अछूत।

(ले०—श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' विद्यालंकार ऐम० आर० ए ऐस० संयुक्त संपादक 'मनोरंजन', देवबन्द।)

जेठका महीना था और दोपहरका समय। भगवान् सूर्य क्रोधके मदमय आवेशमें अंगारोंकी वर्षासी कर रहे थे! पृथ्वी-मण्डल उत्तप्त तवेकी भाँति तप रहा था। वृक्ष आश्रयहीन अनाथकी भाँति अपना मस्तक झुकाये, दीनता के साथ शीतल सन्ध्याकी प्रतीक्षामें जीवनकी घड़ियाँ गिन रहे थे—उनकी सम्पूर्ण सौन्दर्यविभूति हरीतिमा अपमानके दारुण आघातोंकी भाँति लूकी असह लपटोंसे झुलस गई थी। ऐसी गरमी कई बरसोंसे नहीं पड़ी थी। चारों ओर 'त्राहि त्राहि' की पुकार मच रही थी। सभी अपने अपने घरोंमें घुसे इस महामारीसे बचनेका उद्योग कर रहे थे। इस 'दर्पहरी' में किसकी सामर्थ्य थी कि अपने घरसे बाहर पैर रखनेका साहस करसके? पर किशना चमार सिरपर अपनी मैली चादर रक्खे, अथकभावसे चला जारहा था। प्याससे उसका तालू सूख गया था। प्राण आकुल थे। साहस अधीर होरहा था। पर उसकी गतिमें कोई अंतर न था। वह यमपाश द्वारा आकृष्ट प्राणीकी भाँति किसी शीतल आश्रय की आशामें अबाध गतिसे बढ़ा जारहा था। हमीरपुरका विशालकूप एवं पासही बरगदका श्रमहारी वृक्ष देखकर उसकी मुरझाई आशा—लता हरी होगई। कुएँ पर एक और पं० कमलनाथ स्नानसे निवृत्त हो प्राणायाम कर रहे थे और दूसरी ओर लछुन भिश्ती अपने चमड़ेके डोल से मशक भरनेमें व्यस्त था। किशना आश्वासनकी मधुर तन्द्रासे अभिभूतसा होकर कुएँ पर चढ़ गया; कन्धेसे लोटा—डोर उतारा, सिरसे चादर उतार कर, नीचे फ़र्श पर रखदी, पानी खींच कर मुँह धोने बैठा। इसी समय पण्डित जीने प्राणायामसे निवृत्त हो आँखें खोलीं। देखा, एक चमार कुएँ पर चढ़ा, मुँह धोरहा है! उनका "जातीय अभिमान" भड़क उठा, क्रोधने उनका साथ दिया। किशनाकी असहायता दोनोंके मार्गमें आनेका साहस न कर सकी! पण्डितजीने अपनी खड़ाऊँ उठाई और गालियों की एक तीखी बौछारके साथ उसे उस असहायके मस्तक

की ओर प्रेरित करदिया। किशन आँखें बन्द किये जल-स्पर्शकी शीतलताका सुखद अनुभव कर रहा था। खड़ाऊँ लगतेही उसकी तन्द्रा खण्डित होगई। उसने देखा—पण्डितजी रुद्र-रूप धारण किये, सामने खड़े हैं! ब्राह्मण का क्रोध, उसके मस्तकसे टपकते हुये रक्तके रूपमें मूर्तिमान हो, उसके वस्त्रोंको रँग रहा था। उसने हृदयकी सम्पूर्ण दीनता कण्ठमें भर कर कहा—"महाराज! मैंने क्या कुसूर किया है जो आप नाराज़ होरहे हैं" ?

"हरामज़ादा! कुएँ पर चढ़ा खड़ा है और पूछता है कि क्या कुसूर हुआ? बेहयाई देखो, बदमाशकी!"

"कुएँ पर तो यह भिश्ती भी चढ़ा हुआ है, महाराज!"

गालियोंकी एक बौछार किशनके सिर परसे उतर गई।

"मियाँ साहबकी नक़ल करना चाहता है, बदमाश?"

किशनाकी हृदय-तंत्री अपमानके इस दारुण आघातसे अपने अस्वाभाविक रूपमें झंकृत होउठी। उसका सोया आत्माभिमान जाग पड़ा। प्रतिहिंसाने उसे प्रोत्साहित किया, दर्पने उसे अपना पाशविकबल दे, सबलता प्रदान की। वह गरज उठा; हिन्दुत्वकी आत्मा काँपने लगी!!

× × ×

किशना कासिमपुरके मौलाना लतीफ़हुसेनके पास बैठा बातें कर रहा था। वह मुसलमान होनेको तैयार था, पर उसकी एक शर्त थी—मैं कल दिनके १२ बजे हमीरपुरके बरगदवाले कुएँ पर पानी भरूँगा! मौलाना ने मुसलमानों की एक पंचायत की; किशना का प्रस्ताव सबको सुनाया और उनकी राय पूछी। मुसलमान होजाने पर उसकी प्रतिज्ञापूर्तिके लिये २०० मुसलमान अपने प्राण न्यौछावर करनेको तैयार थे। किशनाने कलमा पढ़ा। चोटी कटा कर अपनी चादर के एक कोने में बाँधली। आज भी उस अभागेके हृदयका मोह, इस चुटियासे दूर न हुआ था।

दूसरे दिन किशन, अब्दुल रहमानके रूपमें हमीरपुरके कुएँसे पानी भरने चला। वह अकड़ता हुआ आगे आगे जारहा था और २०० वीर मुसलमान लाठी लिये हुये उसके पीछे थे, जैसे किसी नेताका जेलसे लौटने पर जुलूस निकल रहा हो, या कोई क्षत्रिय अपनी सेना के साथ किसी स्वयम्वरमें जारहा हो!

आज उसमें संकोच न था। वह निश्चिन्त हो कुएँ पर चढ़ गया। पं० कमलनाथ आजभी सदा की भाँति, सन्ध्या कर रहे थे। उसने बिल्कुल ही पास खड़े होकर पानी खींचा, मुँह धोया, जानबूझकर दोचार छींटे पंडितजीके मस्तक पर लगाये। उन्होंने एक बार आँखें खोली। कलका किशन आज अब्दुल रहमानके रूपमें सामने खड़ा गर्वके साथ ऐंठ रहा था। सारा काण्ड उनकी आँखोंके सामने घूम गया। उन्होंने अपनी दबी आँखें चारों ओर फैलाई। वीर मुसलमानोंकी भारी संख्या देखकर उनका हृदय सन्न होगया। उन्होंने आँखें बन्द करलीं और मौन रूपसे योगयुक्त होकर भगवानका ध्यान करने लगे।

किशनसे यह बात छिपी न रही। वह अट्टहास कर उठा—"पण्डितजी! आँखें क्यों बन्द करते हो? अब मैं आपका घृणापात्र किशना नहीं रहा। मैं तो अब्दुल रहमान हूँ! अब यह बदमाश किसी की नक़ल करना नही चाहता"!

पण्डितजीकी आत्मा काँप उठी; पर उनमें आँखें खोलने का साहस शेष न था!

अब्दुल रहमान गाँवके सभी कुओं पर क्रम—क्रमसे गया। हिन्दुओंने उसे इस रूपमें देखा, पर आज उससे कुछ कहनेकी आवश्यकता किसीको न थी!

अब्दुल रहमान आजभी अपने झोंपड़ेमें रहता है। वह चुटिया आजभी उसकी चादरमें बँधी हुई है। हिन्दुओंने उसे ठुकरा दिया है, पर हिन्दू धर्मके प्रति उसका प्रेम आजभी ज्योंका त्यों है। झोंपड़ेके एक कोनेमें लिखे हुये 'राम—राम' में आजभी उसके हृदयका यह प्रेम हम देख सकते हैं। दूसरे तीसरे दिन मैं उधरसे निकलता हूँ और अपनी अभागी जातिके इस मूर्तिमान पापको देखकर सिहर उठता हूँ।

कभी कभी देखता हूँ, किशना अपनी झोंपड़ीके एकान्त कोने में "राम राम" के सामने हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहा है।

अनायास मुँह से एक आह निकल कर अन्तरीक्षमें विलीन हो जाती है और जलते हुए दो आँसू आँखों में छलक कर दृष्टि का अवरोध कर लेते हैं*। —"वीर"
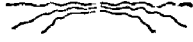
* मेरे ही ज़िलेके एक ग्रामकी सच्ची घटनाके आधार पर। —लेखक।

अन्धेर।

मतवालन कैसी होली मचाई ॥ टेक ॥
लाखन प्रतिमा धरीं मंदिर में ठीक न होत समाई।
इक इक भाग परेंगी दश दश तोहू प्रतिष्ठा कराई ॥
वृथा धन देत लुटाई ॥ मत० १ ॥
स्वारथ काज मिले भेषिन संग मनमानी कहलाई।
नूतन ग्रन्थ बनाय अनेकन गोबर-पन्थ चलाई ॥
अँखियन धूल उड़ाई ॥ मत० २ ॥
सोने काँच मढ़ाय मंदिरन साज अनेक सजाई।
वीतराग विज्ञान नसावहिं चित-भ्रम देत कराई ॥
नाम हित कछु न सुझाई ॥ मत० ३ ॥
बूढ़े संग विवाहि बालिका थैली लेत भराई।
बड़ी बहू संग छोटे ब्याहैं बड़े भाग जसु पाई ॥
आप रस रंग उड़ाई ॥ मत० ४ ॥
पूजा रचि ज्यौनार करावें मरतेहु देत जिमाई।
रंडी भड़वा आतिशबाज़ी ब्याह में धनहिं लुटाई ॥
जाति हित खर्चें न पाई ॥ मत० ५ ॥
न्यारी न्यारी डफली बाजे न्यारा ही राग सुनाई।
सुनत न कोई तूती की धुनि बाज रही शहनाई ॥
चेत अब राम-दुहाई ॥ मत० ६ ॥

—चन्द्रसेन जैन, वैद्य।

युवकोंका सुधार।

(ले०—श्री० बा० सूरजभानुजी वकील ।)

[गतांक से आगे]

विद्यार्थीजीवन समाप्त करनेपर भी यदि कोई नवयुवक फ़िलासॉफ़ीकी पुस्तकोंके पढ़ने, योगाभ्यासका अध्ययन करने वा इतिहास, साइंस वा ऐसेही अन्य किसी विषयके पढ़नेमें दिल लगाता है तो समझलेना चाहिये कि अभीतक उसने गृहस्थीजीवन शुरूही नहीं किया है किन्तु विद्यार्थीजीवनके संस्कारोंमें ही घूमा फिर रहा है, चाहे वह रात दिन इन पुस्तकोंके पढ़नेमें लगा-रहा हो तोभी वह यह सारा श्रम उसही चक्करमें उठारहा है, जो विद्यार्थीजीवनमें चढ़ा था, और अभीतक उतरा नहीं है। विद्यार्थीजीवन और गृहस्थीजीवनमें यही तो अन्तर है कि तेलीके बैलकी तरह रात दिन जुते रहनातो दोनोंही जीवनोंमें होता है किन्तु विद्यार्थीजीवनका सारा श्रम ज्ञानप्राप्तिके वास्ते होता है, और गृहस्थी जीवनका सारा श्रम धनप्राप्तिके वास्ते। अतः जिस श्रम से तुरन्तही धनप्राप्तिकी आशा नहीं है, किन्तु ज्ञान-प्राप्तिही जिसका फल है, वह कदाचित्भी गृहस्थीजीवन का श्रम नहीं कहा जासकता है, और न उससे गृहस्थी जीवनका अभ्यासही होसकता है। हम यह नहीं कहते हैं कि गृहस्थीजीवन शुरू होतेही एकदम इन पुस्तकोंका पढ़ना बन्द कर दिया जाय। दिलबहलानेके वास्ते कोई समय इनके वास्ते भी निकाल लिया जाय, तो कोई हरज़ की बात नहीं है, किन्तु यह कदापि न समझना चाहिये, कि इनके पढ़नेसे गृहस्थीजीवनका अभ्यास तो कुछ होता ही है; और कुछ नहीं तो श्रम करनेका अभ्यास तो अवश्य होताही है। नहीं, वास्तवमें कुछ भी अभ्यास नहीं होता है। यौंतो जो लोग सारा दिन शतरंज, ताश वा अन्य कोई खेल खेलते रहते हैं, थियेटर वा सिनेमा देखनेके लिये रातों जागते हैं, वे भी कहने लगेंगे कि हम भी तो यह सारा कष्ट श्रम करनेका अभ्यास बना रहनेके वास्तेही उठाते हैं। नहीं, वे श्रमका अभ्यास करनेके वास्ते तो कुछ भी नहीं करते हैं, किन्तु अपना दिल बहलावेके वास्ते ही यह सब कष्ट उठाते हैं; अपने व्यसनको पूरा करनेके वास्ते ही यह सब कुछ कररहे हैं। इसीप्रकार पढ़ेलिखे लोग भी जो ये पुस्तकें पढ़ते हैं तो अपना व्यसनही पूरा करते हैं। विद्यार्थीजीवनमें उनको यह व्यसन लग गया है, इससे लाचार हैं। गृहस्थीजीवन शुरू करेंगे तो ये सब व्यसन छूट जायँगे, और किसी दूसरेही धंधेमें लगजायँगे, उसहीके स्वप्न आने लगजायँगे, उसहीमें आनन्द आने लगेगा, और वही जीवन सर्वप्रिय हो जायगा।

नवयुवको, एक चौथाई ज़िन्दगी तुम्हारी विद्यार्थी जीवन में बीती। अब बाकी सारी ज़िन्दगी अटलरूपसे गृहस्थीजीवनमेंही बीतेगी। इस कारण अब विद्यार्थीजीवन का नशा उतारकर गृहस्थीजीवनकीही मस्ती चढ़नेकी ज़रूरत है। चाहे हँसी खुशीसे चावके साथ इस जीवनमें प्रवेश करो, और चाहे रो झींक कर और टालमटूल करके। होगा वह ही जो होना है। विद्यार्थीजीवनमें भी जो बालक हँसी खुशीसे लगजाते हैं, वे क़दर पाते हैं। और जो रो झींक कर और पिट छित कर जाते हैं वे बेक़दरे रहजाते हैं। यहही हाल गृहस्थीजीवनका है, विद्यार्थी जीवनमें तुम पिताके आश्रित थे। तुम्हारे खाने कपड़े आदिका सारा फ़िकर वही उठाता था और तुमको बे-फ़िकर बनाता था। इसही प्रकार अब सारा घर तुम्हारे आश्रित होगया है, मा का, बापका, जोरूका, बच्चोंका, भाईका, बहनका, चचाका, तायाका सबहीका फ़िकर अब तुम्हारे ज़िम्मे है। तुमही उन सबका फ़िकर उठाओ और उन सबको बेफ़िकर बनाओ। पुस्तकोंके चटखारे लेने छोड़कर अब आटे दालका भाव मालूम करने लगजाओ। घरकी क्या क्या ज़रूरियात हैं, वे किस तरह पूरी होनी चाहिये, सबही घरवालोंकी रक्षा करना, उनके दिलको थामना, नख़रोंको सहना, रूसोंको मनाना, उलटी सीधी सुनना और पीजाना—इसही प्रकारके काम हैं जो गृहस्थीको करने पड़ते हैं। तुम समझतेहो कि पिता कमाता है, और घरका खर्च चलजाता है, तब स्वयम् भी क्यों सरदर्दीमें पड़ें? परन्तु ये तो बेहयाईके ख़यालात हैं। जब तुम इस लायक़ होगये हो कि कमाओ और घर का बोझ उठाओ, तब जो अबतक तुम्हारा बोझ उठाते रहे हैं, उनको आराम देना और सारा बोझ अपने सिरलेना

तुम्हारा फ़र्ज़ होगया है। यह हम नहीं कहते कि एकदम सारा बोझ अपने सिरलेलो। नहीं, नहीं आहिस्ता आहिस्ता अभ्यास करते जाओ, और बोझ सिर धरते जाओ। परन्तु यह अपने मनमें धारणातो करलो कि ऐसा करना हमारा मुख्य कर्तव्य है, न करें तो बेहयाई की ज़िन्दगी बसर करना है।

भाई नवयुवको, तुमको जो अपनी विद्याका इतना भारी घमंड हो रहा है कि उसके कारण अपने पिता आदिको भी मूर्ख समझने लगगये हो, यह किस कारण से है? अंग्रेज़ी, संस्कृत लैटिन वा अन्य कोई भाषा सीख कर क्या कोई बड़ा ज्ञानवान होजाता है। हिन्दी बोलने वाला यदि कोई पुरुष गुजराती, मराठी, मदरासी, बंगला और पंजाबी आदि अनेक भाषा सीखजाय तो क्या वह कोई विद्वान होजाता है? इसही प्रकार फ़िलासॉफ़ी जो तुमने पढ़ी है, वह जीवनमें तुम्हारे किसीभी काम आने वाली नहीं। इतिहासमें देशोंका उत्थान और पतन पढ़कर, अमुक राजा न्यायवान था, अमुक अन्यायी, अमुक दयावान और अमुक कसाई, बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी-गईं, और इसप्रकार हार जीत हुई—इससे तुम्हारे छोटे से जीवनमें तो कुछ भी फ़ायदा नहीं मिलेगा। गणितकी भी जो महान महान पुस्तकें तुमने पढ़डाली हैं, उनका भी कुछ उपयोग तुम्हारे जीवनमें नहीं होगा। तुमसे तो वह मूर्ख बनियाही अधिक गणितज्ञ है, जो तुरन्त बता-देता है कि इस दरसे इतना सौदा इतने पैसेका हुवा। इसही प्रकार साइंसभी तुम्हारे किसी काम नहीं आरहा है। फिर तुम घमंड किस बातका कररहे हो, और किस बिरते पर अपने घरवालोंको मूर्ख समझ रहे हो? जिस प्रकार मकानके लीपनेमें एक चमारी तुम्हारेसे ज्यादा होशियार है, इसही प्रकार कपड़ोंके धोनेमें एक धोबी तुमसे ज्यादा जानकार है। रसोईके बनानेमें एक रसोइया तुमसे ज़्यादा समझदार है। इसही प्रकार गृहस्थजीवनमें तुम्हारे मातापिता तुमसे ज्यादा ज्ञानवान हैं। बल्कि यदि यह कहाजाय कि अभी तक तुम गृहस्थजीवनसे बिलकुलही अनभिज्ञ और ज्ञानशून्य हो तो कुछ अनुचित न होगा। तब तुमको ज़रूरी हो गया है कि गृहस्थजीवनमें पैर रखनेसे पहले तुम उनसे सलाह लो, जो कुछ वे कहें उसको बहुत कुछ समझो और उसही के अनुसार चलो।

नवयुवको, शेखचिल्लीवाले बड़े बड़े मंसूबे बाँधना छोड़कर अब तुम असली काम में लगजाओ। तुमही लोगों में से जिन्होंने अपनेको तुच्छ समझकर कोई छोटासा काम शुरू करदिया है उसही में दिल लगाया है और रातदिनकी मिहनतसे अपनी योग्यताका सबूत देदिया है, वे ही उन्नतिके पथपर लगकर सब योग्य होगये हैं। और जो अपने मन-मनमें ही ऊँचे ऊँचे क़िले बाँधकर रहगये हैं वे किसीभी योग्य नहीं होपाये हैं। इस कारण अपनेको छोटा समझो और अपने मातापिताके मशवरे से अभ्यासके तौरपर किसीभी छोटे मोटे काममें लग जाओ और इसही प्रकार पिलच जाओ जिस प्रकार विद्यार्थी जीवनमें सब कुछ भूलकर अपनी पुस्तकोंसे पिलचे रहा करते थे। पहले पहल कदाचित भी किसी बड़े काममें क़दम मत रक्खो, न उस तरफ़ अपने ख़यालको ही लगाओ, किन्तु पहले किसी छोटे काममें दिल लगाकर उसका अच्छी तरह अभ्यास होजाने परही उससे बड़े कामकी तरफ़ क़दम बढ़ाओ। जो कुछ करो Duty bound अर्थात् कर्तव्यमें बँधकर करो। मत समझो कि यह छोटासा काम है, इसको तो खेलते मालते भी करदेंगे। नहीं नहीं, काम चाहे कितनाही छोटा हो तुम उसको छोटा मत समझो और बेपरवाहीसे मत करो, किन्तु जान मिहनत लड़ाकर पूरे फ़िकरके साथ करो क्योंकि तुमको तो अभी गृहस्थजीवनका अभ्यास करना है। छोटे छोटे कामोंमें पूरा पूरा अभ्यास करलोगे तो फिर बड़े बड़े काम भी उसही रुचिसे करने लगोगे और कुछ भी दिक़्क़त नहीं मानोगे। विशेष हम क्या कहें? तुम खुद ही समझदार हो और ऊँच नीच विचार सकतेहो। जिस प्रकार विद्यार्थीजीवनमें पहले किसी छोटीसी पाठशालामें दाख़िल होना होता है, फिर आहिस्ता आहिस्ता वहाँकी पढ़ाई ख़तम करके किसी स्कूलमें भरती होता है, वहाँ भी आहिस्ता आहिस्ता अनेक कक्षा पास करके तब कॉलेजमें जाता है और आहिस्ता आहिस्ता कई परीक्षा पास करके तब ही ऐम॰ए॰, बी॰ए॰ होता है। इसही प्रकार गृहस्थजीवन भी पहले बहुतही छोटी कक्षासे शुरू करनेकी ज़रूरत है, फिर आहिस्ता आहिस्ता तरक़्क़ी

अपूर्व बलिदान !

(ले०—श्री० पं०परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ सूरत ।)

महाराजा सिद्धराजके द्वारा पाटनका दुःख दूर करनेके लिये तैयार करायेगये सहस्रलिङ्ग तालाबमें एक बूँद भी पानी नहीं टिकता था। कलाकारोंने अपनी पूर्ण कारीगरीसे काम लिया, मगर वे तालाब में पानी लानेके लिये समर्थ न होसके। सहस्रलिंग पर जसमा सतीके भयंकर शापका प्रभाव था! पाटन के पुरजन पानी बिना तड़फड़ा रहे थे, और शाप को लेने वाले जयसिंह महाराजको दुःखका कारणभूत मानकर राजाको उपालम्भ देते थे।

सहस्रलिंगको बँधाये हुये बारहवर्ष व्यतीत होगये, प्रत्येक वर्ष यथेच्छ वर्षा हुई, परन्तु तालाबमें एक बूँद भी पानी नहीं टिका! मूसलधार वर्षाका पानी तालाब में आकरभी न जाने कहाँ अदृश्य होजाता था—मानों तालाबके नीचे पातालतक पानी पहुँचनेके लिये नलही लगे हों। पानी बिना प्रजा घबड़ाती थी, भव्य सुन्दर तालाबको देखकर निश्वास छोड़ती थी, और कहती थी कि क्या पाटननरेश इसका कोई उपाय नही करेंगे? क्या प्रजा इसी प्रकार पानीके लिये तरसेगी? क्या इस राजधानीमें प्रजा को नहाने, धोनेके लिये पानी नहीं मिलेगा? मालवा के यशोवर्माको पराजित कर महायश प्राप्त करके आनेवाले महाराजा सिद्धराजको पाटनकी प्रजाने कितनामान दिया था, परन्तु प्रजाका दुःख निवारण महाराज नहीं करेंगे? प्रजामें हाहाकार बढ़ता गया, जनता महाराजके प्रति मनमानी चर्चा करने लगी। प्रत्येकके मुँहसे यही आवाज निकलती थी, कि कोई उपाय, कोई उपाय, सतीके शापके निवारणका क्या कोई उपाय नहीं है? क्या चितामें जलती हुई जसमाके द्वारा दिये गये शापका निवारण नहीं हो सकता?

प्रधानने एक उपाय सोचा—विद्वानों, पंडितों ज्योतिषियोंकी एक सभा बुलाना चाहिये। शापका निवारण असम्भव नहीं हो सकता।

जसमाका शाप महाराजाको बारबार याद आता था। शाप देकर अग्निमें भस्म होजाने वाली सती जसमाका सौन्दर्यभंडार महाराजा सिद्धराजके अन्तस्तलमें अभीतक चित्रित था। उन्हें यह विश्वास था कि सतीका शाप टल नहीं सकता, तथापि सभा की आयोजना की।

पाटनके पण्डित, जोषी, कर्मकाण्डी, सनातनी तथा अनेक विद्वान एकत्रित हुये। सबने अपनी अपनी पोथी खोली, चर्चा की परन्तु कोई प्रमाण न मिला! किन्तु एक वयोवृद्ध जोषीने हिम्मत करके कहा—'महाराज! प्रश्न रखिये—शुद्ध अन्तःकरणके प्रश्न रखिये, सहस्रलिंगमें यदि पानी लाना हो तो आप सत्य निष्ठासे प्रश्न रखिये, और मैं कुंडली बनाऊँ, ग्रह देखूँ और जवाब मिले तो पाटन के सद्भाग्य; अन्यथा होचुका! मैं ६० वर्षसे ज्योतिष की उपासना करता हूँ। मेरी उपासना सत्य होगी तो अवश्य फलेगी, नहींतो जैसा भाग्य महाराज!

"हाँ महाराज! प्रश्न रखिये, यही अन्तिम उपाय है"—दूसरे जोषियोंने त्रिलोचन पण्डितका समर्थन किया। महाराजा सिद्धराज क्षणभर विचार करके बोले—"जोषीराज! जसमासतीने मुझे शाप दिया

करते करते सबसे ऊंचे पहुँच सकता है और दुनियामें नाम करजाता है, परन्तु जिस प्रकार विद्यार्थीजीवनमें प्रथम कक्षासे ही पूरी पूरी मिहनत करने और रातदिन लगे रहनेकी ज़रूरत होती है तबही उस कक्षासे उत्तीर्ण होकर वह अगली कक्षामें जासकता है, इसही प्रकार गृहस्थजीवनमें भी, चाहे कैसाही छोटा काम शुरू किया जावे उसमें भी पूरे पूरे दिल लगाने और जान मिहनत लड़ानेकी ज़रूरत होती है। तबही वह सफलीभूत हो सकता है और कुछ आगे बढ़नेके योग्य बनसकता है। (समाप्त)

है, उसका फल मेरी प्रजा भोगरही है। क्या सतीका यह शाप शान्त होगा ? सहस्रलिंग का पानी हमारी प्रजा पीकर सुखी बने, ऐसा क्या उपाय वह सती सुझावेगी ?"

जोषीने घटिका, पल, विपल गिनकर कुण्डली रखी, पंचांग पत्रिका देखी, ग्रहोंपर विचार किया और ऊँगलियोंकी पोरे गिनते हुये कुछ स्मित मुँह से कहा — "महाराज! उपाय है, शापका निवारण सती सुझारही है—सहस्रलिंगके मध्यमें मानवरक्त का सिंचन करके धरातल तृप्त किया जायतो सरोवर में पानी टिक सकता है। शापसे संतप्त सहस्रलिंग की पृथ्वी बलिदान माँगती है, बलिदान दीजिये।'

"बलिदान! मानवरक्तका!"—महाराजाने पूछा।

"हाँ महाराज! मानवरक्त का! जो मनुष्य स्वेच्छा से सहर्ष बलिदान देने के लिये आगे आवे उसी का बलिदान सूचित हो रहा है!" जोषी ने ग्रह समझाये, राशि के अनुसार उनका फल समझाया। सभाने उसे स्वीकार किया और एक ही स्वरसे कहा —"महाराज! बलिदान दीजिये!"

पाटनमें ढ़िंढ़ोरा पिटाया गया—"सहस्रलिंग मानवरक्त माँगता है, जो स्वेच्छासे बलिदान देनेको तैयार हो, आगे आवे।" प्रभात होते होतेतो ढ़िंढ़ोरा पाटनके कौने कौनेमें पहुँचगया। सबको सभाका निर्णय मालूम हुआ, और सर्वत्र इसीकी चर्चा होने लगी। समस्त राजगढ़ और प्रजाजन आतुरतासे जानना और देखना चाहते हैं कि कौन तैयार होता है, परन्तु स्वयं तैयार होनेकी आवश्यकता पर कोई विचार नहीं करता। सबेरेसे मध्याह्न हुआ और मध्याह्नसे संध्या होगई मगर पाटनमेंसे कोई वीर नहीं निकला।

राजपुरुषोंको चिन्ता हुई। फिरसे डोंडी पिटानेका हुकुम दिया गया, और रात्रिको बड़े ही जोरों से डोंडी पिटाई गई। सब लोग उसे सुनते हैं और पानीके दुःखकी बातें करते हैं, मगर स्वयं बलिदान होनेको कोई तैयार नहीं हुआ। सबेरे बहुत जल्दी उठकर सभी लोग यह जाननेका प्रयत्न करते हैं कि कौन तैयार हुआ! इसीप्रकार सात दिन व्यतीत होगये! ब्राह्मण पण्डित कहते हैं कि क्या कोई भी तैयार नहीं है? क्या पाटनकी नाक जायगी? क्षत्रियवीर दूसरोंको चढ़ाते हैं मगर सफलता नहीं मिलती। वैश्योंमें नानाप्रकारकी चर्चा होरही है, मगर कोई सामने नहीं आया।

डोंडी पीटनेवाले चाण्डाल का गला बैठ गया। उसने अपने युवान पुत्रसे कहा—"बेटा मया! आज सात दिनसे मैं बराबर आवाज़ लगा रहा हूँ। अब तो मैं थक गया हूँ। अब आज अन्तिम दिन है, तू आज खूब जोरसे डोंडी पीट आ।"

"मैं ही बलिदान दूंगा पिताजी। मुझे ही बलिदान देना चाहिये, मेरा मन यही कहता है।" मयाने बड़ी दृढ़तासे कहा। लोग आश्चर्यचकित हो उसकी ओर देखने लगे।

"बेटा! तूही मेरा एक सहारा है, तू ऐसा विचार मत कर।"

"नहीं पिताजी, डोंडी पीटकर तुम्हारा गला बैठ गया, परन्तु कोई भी पाटनमेंसे नहीं निकल रहा है। कल अवधि पूरी होजायगी तो क्या पाटनका दुःख योंही बना रहेगा? जब कोई बलिदानके लिये तैयार नहीं है तब पिताजी, आप राजदरबार तक मेरी खबर पहुँचा दो। मैं बलिदानके लिये सहर्ष तैयार हूँ!"

वृद्ध चाण्डालने दृढ़ निश्चयको जानकर पूछा कि बेटामया! तूने अपनी माता से पूछ लिया है?

मया—आज रातको पूछ लूँगा पिताजी! आप बड़े हैं इसलिये प्रथम आपही आज्ञा दीजिये।

रात हुई, सारा पाटन नगर चिन्तामें था। कल बलिदानका दिन है। परन्तु अभी तक कोई वीर

नहीं निकला। आपसमें एक दूसरेकी विविध टीकायें कर रहे थे और कहते थे कि यदि अमुक कारण न होता तो मैं अवश्य निकल पड़ता! उधर गाँवके छोर पर बसी हुई चाण्डालोंकी झोंपडियोंमें एक कोठरीमें बैठा हुआ मया अपनी मातासे बलिदानकी आज्ञा माँग रहा है कि 'माता! आज्ञा दे।'

माता—बेटा, तू एकही मेरा पुत्र है।

मया—माता, एकही आदमीकी जरूरत है। अब तू मेरा मन मत दुखा और खुशीसे आज्ञा दे दे। सात सात दिन होगये मगर कोईभी बलिदानके लिये तैयार नहीं हुआ। अब मुझे जाना ही चाहिये। मेरा तो दृढ़ निश्चय है। तू मुझे आशीर्वाद दे। मेरे तुच्छ बलिदानसे पाटनका दुःख दूर होगा। इससे अधिक सौभाग्यकी बात और क्या होसकती है?

माता-बहूका भी विचार किया है?

एक कोनेमें बैठी हुई बहू सब बातें सुनरही थी। वह बीचमेंही बोली—"सासूजी पहिले यह आपका पुत्र है। मेरा कोई विरोध नहीं होसकता। परके निमित्त इनका देह समर्पण होगा तो ये जुग जुग जीते रहेंगे। मैं इन्हींका स्मरण करके जिऊँगी और जगत् को बताऊँगी कि मयाकी स्त्री भी सती थी।"

माताकी हृत्तंत्री कंपायमान हुई। पुत्रका साहस और बहूका ऊत्तर सुनकर वह फूलगई और बोली—धन्य मेरे बेटा! तू परोपकारार्थ बलिदान हो करके देव बने।

तमाम जातिजन एकत्रित होगये। बड़ेही गाजेबाजे के साथ नृत्यगीत करती हुई तमाम चाण्डालमण्डली राजबाड़ेकी ओर गई, और खबर की गई कि 'मया बलिदानके लिये तैयार है।'

सारे रजवाडेमें खलबली मच गई। पण्डितोंकी सभा बुलाई गई और पूछा गया कि मया अस्पृश्य है, सहस्रलिंगकी धरा उसके खूनसे संतुष्ट होगी? त्रिलोचन पण्डितने जवाब दिया कि महाराज, पृथ्वी माताके लिये समस्त बालक समान हैं। माता हृदयको देखती है, बाह्यबंधनोंको नहीं। नगरके हितार्थ बलिदान देनेवाला मया ब्राह्मणोंका ब्राह्मण है। बहुत कुछ दलीलोंके बाद बलिदानके लिये चाण्डालपुत्र मया स्वीकार किया गया।

सहस्रलिंगपर मानवमेदनी जमी हुई थी। सारा पाटन रक्तबलिदानकी क्रिया देखनेको उलट पड़ाथा। सहस्रलिंगके मध्यमें त्रिलोचन पण्डितने मयाको आसनपर बिठाया। और मंत्रोच्चार पूर्वक होमविधि प्रारम्भ हुई। आजूबाजू अनेक पण्डित, त्यागी और महाराज तथा राजपुरुष बैठे थे। मात्र मयाकी जाति और कुटुम्बके स्त्रीपुरुष दूरसे वृक्षोंपर चढ़कर अपने मयाका अपूर्व बलिदान देख रहे थे।

सतीके शापशमनके लिये प्रयत्न होने लगा। होम विधिपूर्ण हुई, बलिदानका समय पास आगया। बध करनेवाला चमकती हुई तीक्ष्ण तलवार लेकर तैयार खड़ा था। उसे देखकर जनताका हृदय कंपायमान होगया।

महाराज—मया, मेरे पाटनके लिये तू प्राण समर्पण कररहा है। जो तुझे माँगना हो माँग ले। मैं तेरे कुटुम्बियोंको देनेके लिये तैयार हूँ।

मया—आपने मेरा बलिदान स्वीकार कर लिया, बस यही बहुत है। मुझे कुछ भी माँगनेकी इच्छा नहीं है। सिर्फ मेरी जातिका विचार करना। हालाँकि मैं हलकी जातिमें उत्पन्न हुआ हूँ, फिर भी मैं मनुष्य हूँ, हमें मनुष्योचित अधिकार मिलना चाहिये। हमारी जातिके साथ मनुष्यत्वका व्यवहार होना चाहिये। इसके अतिरिक्तमुझे कुछ नहीं चाहिये।

महाराज—जरूर मया, तेरे कथनानुसार अवश्यही व्यवस्था की जायगी।

बलिदान का समय होगया। जोर जोरसे मंत्रोच्चार होने लगे और बिजली के समान चमकती हुई तलवार मयाकी गरदन पर निर्दयतापूर्वक आपड़ी।

परोपकारके प्रभावसे वह पुष्पमाला बन गई! तुरंतही ऊपरसे पुष्पोंकी वर्षा हुई और नीचेसे सहस्रलिंगमें पानी भर आया। थोड़ीही देरमें तो समस्त सरोवर लबालब भरगया और लोग आश्चर्यचकित होगये। लोगोंका हर्षभी हृदयमें नहीं समाता था और सर्वत्र "मयाकी जय। सती जसमाकी जय" की आवाज़ आरही थी।

उधर दूर वृक्षोंकी डालोंपर चढ़े हुये मयाके माता, पिता, पत्नी तथा कुटुम्बी और जातिजन इस दृश्यको देखनेके लिये लालायित होरहे थे। महाराजा सिद्धराज ने उनसे पूछा—तुम क्या चाहते हो? तुमने आज पाटन की लाज रखी है। माँगो, जो माँगना हो सो माँगलो।

पाँच सात वृद्धोंने मिलकर कहा—महाराज! हमारे साथ मनुष्यताका व्यवहार होना चाहिये— हम भी मनुष्य हैं। इसके अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं चाहिये।

महाराजने तुरंतही उनके समान अधिकारोंकी घोषणा करदी। पाटनकी प्रजाने इसका कोई विरोध नहीं किया और कर भी नहीं सकती थी।

रात्रिको आकाशमें मेघ गर्जना हुई—मूसलधार पानी बरसा और सहस्रलिंग सरोवर पानीसे उभरा गया। सर्वत्र शान्ति सन्तोष और आनन्द छागया। राजा, प्रजा पण्डित विद्वान और गरीब अमीर सभी ने मिलकर उस आत्मसमर्पक चाण्डालपुत्र मयाकी प्रतिष्ठा की। राजाने त्रिलोचन पंडितको इनाम दिया। प्रजाने सत्कार किया और मयाके कुटुम्बियों तथा जातिजनोंका लोगोंने यथोचित आदर किया। सबने सहस्रलिंग सरोवरका पानी पिया और पाटनका इस प्रकार संकट निवारण होगया। मयाके अपूर्व बलिदानकी सूचक मढ़िया अभीतक विद्यमान है, जो उसके आत्मसमर्पणकी याद दिलाती है।*

* परिवर्तित और परिवर्धित।
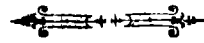
एक कन्याका बलिदान।

समाजके मुखियों और पंडितोंके लिये विचारणीय समस्या।

(लेखक—श्रीयुत बाबू रतनलालजी मालवीय बी० ए० एलएल० बी० वकील सागर और एक दर्शक।)

"जैनजगत्" के पाठक कई मास पहिले जैनसेवासंघ सागरकी रिपोर्टमें श्री० गुलज़ारीलालजी खुरईवालोंका विवाह रोके जानेके समाचार पढ़ चुके होंगे। आप खुरईके धनी मानी सज्जनोंमेंसे हैं। इस समय आपकी आयु लगभग ४५ वर्षकी है, और आपकी दो स्त्रियोंका स्वर्गवास हो चुका है। गत वर्ष आपकी इच्छा तीसरी बार शादी करने की हुई और अपना सम्बन्ध कर्रापुर (सागर) निवासी श्री० कन्छेदीलाल मोदीकी पुत्री सुन्दरबाईके साथ निश्चय किया। कन्याकी आयु उस समय लगभग १३ वर्ष थी। यह जानकर कि कन्याके पिताकी भी आयु वरसे लगभग १० वर्ष छोटी है, खेद और ग्लानि मालूम होती है। इस अनमेल सम्बन्धसे कर्रापुर समाजके असन्तुष्ट होनेपर मोदीजीने सागरसे विवाह करनेका निश्चय किया परन्तु जैनसेवासंघ के प्रयत्नसे वहाँ भी उन्हें सफलता नहीं मिली और अन्तमें पंचायतके द्वारा यह सम्बन्ध अनमेल बतलाकर रोकदिया गया। यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह सम्बन्ध लालचवश किया गया था। परन्तु समाजकी बात अन्तमें मानली गई और कन्याके पिताने इस सम्बन्धको उस समय तिलाञ्जलि देदी।

इसके अनन्तर कन्याके पिताकी प्रार्थना पर खुरई

बाईके योग्य वरकी तलाशके लिये 'संघ' की ओरसे एक विज्ञापन "जैनमित्र" में प्रकाशित किया गया और इन पंक्तियोंके लेखकके पास उक्त कन्यासे शादी करनेके लिये लगभग एक दर्जन वरोंकी कुण्डलियाँ और प्रार्थनापत्र आये। इन पत्रोंमें न्यायतीर्थ, मैट्रिक और एफ़० ए० पास तक वरोंके पत्र सम्मिलित थे। परन्तु इनमेंसे कोई इतना धनवान न था जो कन्याके पिताकी लिप्सा तृप्त करता। अन्तमें अन्य जगह सम्बन्ध निश्चित होने पर भी विवाह गुलज़ारीलालजीके साथही तय हुआ। इस सम्बन्धकी सूचना समाजको इतनी देरसे मिली कि उसके भरसक प्रयत्न करने पर भी सागर और जबलपुरकी अदालतोंकी छुट्टी होनेके कारण कोई क़ानूनी कार्रवाई सफलतापूर्वक न हो सकी।

विवाहकी तारीख़ १९ फरवरी १९३३ निश्चित हुई। इस बार हाथ और भी लम्बा था और इसलिये कन्याके पिताने इसी वरके साथ विवाह करनेकी प्रतिज्ञा करली थी। उसे समझाने बुझानेका कुछभी परिणाम न हुआ। फिर भी कुछ समाजहितैषी युवकोंने वर, और कन्याके पिता दोनोंसे यह सम्बन्ध न करनेकी प्रार्थनाका निश्चय किया और वहाँ गयेभी; परन्तु जैसे ही उन्हें मालूम हुआ, न जाने क्या समझकर वरने शीघ्र पाणिग्रहणकी तैयारी करदी और भाँवरोंकी रस्म जिस ढंगसे अदाकी गई उसे विवाहकी विडम्बनासे अधिक कुछ नहीं कहा जासकता।

विवाहमें करोपुरकी जैनसमाजने कोई भाग नहीं लिया और भाँवरोंके अवसरपर तो समाजका एक बच्चा भी घरसे बाहर नहीं निकला। जो अजैन भाई बहिन भाँवरोंकी विडम्बना देखरही थी उनके मुँहसे अपशकुनिक शब्द निकल रहे थे। भाँवरोंका श्रीगणेश अपशकुनिक शब्दोंसे हुआ था और अन्त भी अपशकुनिक शब्दोंसे ही हुआ। वास्तवमें भाँवरोंके समय कन्याकी दयनीय दशा जिन लोगोंने देखी थी उनमेंसे एकभी व्यक्ति ऐसा न था जिसने उस अबलाकी करुण दशापर एक निराशापूर्ण ठंडी आह न खींची हो। बहुतोंकी आँखोंसे तो आँसू बह रहे थे। समाजके बहिष्कार और अन्य लोगोंके असहयोगके कारण डरकर वरने विघ्नबाधाओंका सामना करनेके लिये किरायेके गुण्डोंका ज़बरदस्त प्रबन्ध कर रक्खा था। लोगोंके प्रार्थनाके लिये पहुँचतेही लग्नके पहिलेही भाँवरोंकी तैयारी होने लगी। न बरातकी अगवानी हुई, न कोई दस्तूर हुआ। भाँवरोंकी लग्न रात्रि की थी परन्तु दिनमें ही वह रस्म अदा करदी गई। भाँवरोंके पहिले वीरयुवक सुन्दरलालने वर महोदय के चरणोंपर गिरकर उनसे प्रार्थना की। उसका पुरस्कार उसे सिरपर पादप्रहारके रूपमें मिला। वर महोदय इस युवकको पुरस्कार देकर कन्याके घरमें प्रवेश कर गये। इसके बाद कन्या ज़बरदस्ती खींचकर भाँवरोंके लिये लाई गई। यह दृश्य अत्यन्त हृदयविदारक और दयनीय था। कन्याने अपने इस निरपराध बलिदानका विरोध किया और शक्ति भर किया। अपनी यह भावना उसने अपनी प्रबल अश्रुधारासे अपने मातापितापर प्रकट करदी। मालूम हुआ है कि भाँवरोंके पहिलेभी लग्नके उपरान्त कईबार वह अपनी करुणाजनक अश्रुधारा और दुःखभरी आहोंसे अपने मातापितापर अपनी भावना प्रकट कर चुकी थी। इन पंक्तियोंके लेखककी आँखोंके सामने २२ अप्रेल सन् १९३२ का वह दृश्य अभीभी सिनेमाकी तस्वीरकी नाँई झूल रहा है जब यह अबला कन्या इन्हीं वर महोदयके साथ अपनी भाँवरोंकी बात जानकर गोपालगंज सागर में बिलख बिलख कर रोई थी और जब समाजके प्रयत्नसे अपने बन्धनसे मुक्त होकर ताँगे पर बैठकर जैन पाठशालाकी धर्मशालाकी ओर रवाना हुई थी; तब इस मुक्तिसे उसका मुख कमलकी तरह खिल उठा था और प्रफुल्लित चहरेकी हरएक रेखासे हर्ष उल्लास और हँसी टपकने लगी थी। उस समय इस अबलाकी दशा उस हत्याके अपराधीकी नाँई थी जो मुक़द्दमे भर अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ गिनता रहता है और फाँसीकी रस्सीको याद कर हृदयसे दुःखभरी आहें निकालता है परन्तु जजके फ़ैसलेमें अपनेको बरी पाकर खिल उठता है और नवजीवन प्राप्त कर लेता है।

इस बार भी भाँवरोंके अवसरपर इस अबला कन्याने अपने रक्ताश्रुओंसे अपनी मनोव्यथा प्रकट की थी परन्तु उसके गर्म निश्वास और करुणक्रन्दन निर्दयी मातापिताके निष्ठुर और शुष्क हृदयपर गिरकर अन्तरालमें विलीन हो गये। उनका हृदय ज़राभी न पसीजा। कन्या ज़बरदस्ती खींचकर [illegible]पर उपस्थित करदी गई। वर महोदय

कन्याके आगे सात फेरियाँ लगानेके लिये खड़े होगये। मँडवेके अन्दर आनेके बाद उसने एक बार फिर रक्षाकी आशासे आँसुओंसे परिप्लावित आँखें चारों ओर फेंकी परन्तु रक्षकोंके स्थानमें उसे चारों ओर लट्ठबन्द खूँख्वार दिखे जो उस अवसरपर विघ्नबाधाओंको रोकनेके लिये नियुक्त किये गये थे। अपनेको निस्सहाय पाकर वह पत्थरकी मूर्तिकी नाँई निर्मूक खड़ी होगई। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। अंचल आँसुओंसे तर होगया था और हृदय हाय हाय कर रहा था। अन्तमें उसने बल-संचय कर अन्तिम विरोध किया और वरके पीछे चलनेमें मूक अस्वीकारिता प्रकट करदी। बहुत प्रयत्न करने परभी वह अपनी जगहसे टससे मस न हुई जब कन्याकी इतनी अधिक दृढ़ता देखी गई तब एक निर्दयस्त्रीने बलप्रयोग द्वारा कन्यासे चक्कर लगवाना आरम्भ करदिया। क़दम क़दम पर उस अबलाने जिस दृढ़तासे अपने इस बलिदा नका विरोध किया और जिस प्रकार बलप्रयोग द्वारा ज़बर-दस्ती सात चक्कर उस अबलासे लगवाए गये उसका अनुभव पाठक केवल इतनेसेही करसकते हैं कि उसके सुहागकी पवित्र साड़ी इन सात चक्करोंमें ही फटगई। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इस पवित्र अवसरपर न तो वहाँ खाम, जिसे साक्षी मानकर सात परिक्रमाएँ लगाई जाती हैं, गाड़ा गया था, न वर वधूका गँठजोड़ा हुआ और न कंकण और मौर जो भाँवरोंके समय अत्यन्तावश्यक समझे जाते हैं, पहिनाए गये। स्नान, तेल, हल्दी और धर्म पद्धतिके अनुसार कार्य करना तो बिलकुल दरकिनार था। इसके अतिरिक्त कन्याके विरोध करने परभी कुछ मनचली स्त्रियोंने जिन अश्लील शब्दोंसे कन्याका इस पवित्र अवसरपर अपमान किया उन्हे लिखनेमें यह लेखनी सर्वथा असमर्थ है। आप स्वयं अपने हृदयपर हाथ रखकर पूछिये, कि यह विवाह था या विवाहकी विडम्बना? क्या समाज इसे विवाह कहनेके लिये तैयार है? क्या धर्मका और उसकी पवित्र रस्मोंका औरभी अधिक भयंकर उपहास हो सकता है?

भाँवरोंका स्वांग समाप्त हो जानेके पश्चात् कन्याके पिताका ताण्डवहास्य प्रारम्भ हुआ। बलिदान हो चुका था, परन्तु अभी अन्तिम आहुति बाक़ी थी। भाँवरोंके बाद तुरन्तही कन्याका पिता खुशीके मारे नाचता हुआ बाहर निकला और विजयोल्लासमें उन प्रहरियोंको जो भाँवरोंके अवसरपर विघ्नबाधाओंको रोकनेके लिये डटे थे, बधाइयाँ दीं, उन्हे फूलमालाएँ पहिनाई और गोदीमें उठाकर नाचने लगा। अंग्रेज़ी बैण्डने भी भीषण अट्टहास प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस वीभत्स और रोमांचकारी बलिदानका अन्त होगया।

सामाजिक कोढ़।

हमारे इस अभागे समाजमें आज एक दो नहीं हज़ारों "सुन्दर बाइयाँ" हैं जिनके यौवनका सुन्दरप्रभात वृद्ध पतियोंके विषमय सहवासमें नष्ट होता है और जो रात दिन अपने मातापिता और समाजके इस लोमहर्षण अत्याचारपर रक्तके आँसू बहाती हैं; जिनकी प्रत्येक कल्पनासे जीवनकी विषमय रागनियाँ प्रतिध्वनित होती हैं; जिनका प्रत्येक निःश्वास आत्माके अनन्त पतनकी रौद्रमूर्ति उपस्थित करदेता है और जिनकी आत्माका सुन्दर विकास समाजके निष्ठुर एवं निरङ्कुश अत्याचारोंसे जर्जरित होकर पैशाचिकताके अत्यन्त अन्धकारपूर्ण गह्वरमें पतित होजाता है। यह तो हुई उनकी बात जो ऐसे सम्बन्धके उपरान्त वैधव्यमें बन जाती हैं परन्तु जिनपर असमय ही यौवन के प्रभातमें वैधव्यका वज्र गिर पड़ता है उनका जीवन जिस प्रकार "रौरव नर्क" बन जाता है उसे लिखनेमें यह लेखनी थर्राती है। गुप्त व्यभिचार, भ्रूणहत्याएँ और भयंकर पतन उनमेंसे अधिकांशका परिणाम होता है। वे बहिनें अतीत स्मृतिके अत्यन्त मधुर प्रान्तमें अपनी वर्तमान वेदनाओंकी चोटके कारण प्रति क्षण लाख लाख आँसू बहाती हैं। हमारी इन बहिनोंकी कहानी अत्यन्त कारुणिक मर्मस्पर्शी और वेदनापूर्ण है। यह हमारे सामाजिक और धार्मिक इतिहासके काले पत्रोंकी कहानी है और कहानी है उन क्षुब्ध और पीड़ित आत्माओंकी जिनकी असहायावस्था और जिनके जीवनके दारुण कष्टों ने जीवन भरके लिये उन्हें पतनके श्रोतमें प्रवाहित कर दिया है।

इन अभागिनियों का मूक अश्रुप्रवाह निरन्तर पतित होकर जैनसमाजके शून्य वायुमण्डलमें एक भीषण कोलाहल निरन्तर प्रकम्पित कर रहा है ।

विचारणीय समस्या ।

ये पंक्तियाँ लिखते समय लेखकको समाजकी एक ऐसी ही अभागिनी अबला "ललिता" का समाचार मिला है जिसका विवाह गतवर्ष केवल ११ वर्षकी आयु में बड़ा रसोई (ज़िला सागर सी०पी०) निवासी रज्जूलाल के साथ उनकी लगभग ४५ वर्षकी आयुमें हुआ था और जिनका हालहीमें विवाहके केवल ८ मास बाद स्वर्गवास हो गया है । मालूम हुआ है कि पतिकी मृत्युके समय इस अभागिनी बालिका की आँखोंमें आँसू न थे और सुहाग की चूड़ियाँ फूटते समय शायद वह यह समझ कर प्रसन्न हुई थी कि उसे उन चूड़ियोंके बदलेमें नई और अधिक सुन्दर चूड़ियाँ पहिननेको मिलेंगी । श्री० रज्जूलाल अपनी मृत्युके पहिले अपने गाँव की पट्टी का अधिकांश भाग क़र्ज़में एक व्यक्तिको बेंच चुके थे और जो थोड़ासा भाग इस अभागिनी की जीविका के लिये बचा था वह एक अन्य क़र्ज़दार ने अपने क़र्ज़में कुर्क करा लिया है । इस अबोध ललिता को अपने ललित जीवन में कितनी आपत्तियाँ कितना अपमान और समाज के कितने कुठाराघात सहना बाकी हैं यह भविष्यके गर्भ में है । ललिता अभी अबोध बालिका है । उसके यौवन के प्रभातकी अभी अरुणिमा भी नहीं झलकी । यौवनकी विकराल रातें और प्रौढ़ और वृद्धावस्था की दुखभरी घड़ियाँ प्रारम्भ होनेके लिये अभी बहुत देर है । कायर समाज इस अभागिनीके जीवनके परिवर्तन को आँखें फाड़ फाड़ कर देखेगा और उन्हें जीवनकी साधारण घटनाएँ समझकर उसे विस्मृत कर देगा । जीवनके भयंकर थपेड़ों में जीवननौका को डगमगाती देख निर्दय समाज भीषण अट्टहास करेगा और उसी विभीषिकामें एक सुकुमार और ललित जीवनका करुण-क्रंदन विलीन हो जायगा ।

विचारणीय बात तो यह है कि मातृशक्ति का श्राप अपनी छातीपर झेल कर समाज कबतक जीवित रह सकेगा ? इस प्रकारके अनुचित सम्बन्ध एक दो नहीं, हज़ारों हुए हैं और यह कहानी आजकलकी नहीं, सदियों पुरानी है । परन्तु धनिक और "नक्कू" किन्तु असंगठित कायर और बुज़दिल समाजका कभी भी यह साहस नहीं हुआ कि एक भी अनमेलसम्बन्धके विरोधमें आन्दोलन उठाता और अपनी ऐसी अभागी पुत्रियोंको पैशाचिक अत्याचारों से बचाकर उन नरपिशाचोंको उचित दण्ड देता । समाज यदि ऐसे विवाहोंको धर्मका कलंक समझता है तो अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिये उसका यह पुनीत कर्तव्य है कि वह उनके सतीत्वपर हाथ साफ़ होनेके पहिले धार्मिक पद्धति से उनका पाणिग्रहण अन्य योग्य वर के साथ करादे ।

यह जागृतिका समय है । जो जाति समयानुसार अपना क़दम न बढ़ावेगी, उस का समय-चक्रके नीचे दब कर रसातलको पहुँचना स्वाभाविक है । समय हमें ऐसे दुराचारों को समाजसे उखाड़कर फेंकने के लिये पुकार रहा है । अतएव इस उन्नतिशील समय में समाजके नेताओं मुखियों और पण्डितोंका यह परम कर्तव्य है कि वे उक्त विवाहके औचित्य और अनौचित्यके सम्बन्धमें शास्त्रोक्त रीति से अपना मत पत्रों में प्रकाशित कर दें और सदैवके लिये एक ऐसा मार्ग निश्चित करदें जिससे समाज की अबोध और अबला बालिकाओं का इस प्रकार बलिदान होना एकान्त रूपसे बन्द होजाय और समाज उस मार्गका अनुकरण कर संसारके अन्य उन्नत समाजोंमें अपना मस्तक ऊँचा कर सके ।

सम्पादकीय नोट—इसी अंक के मेरे एक नोट में इस घटना का उल्लेख हुआ है । इस लेखसे मेरे वक्तव्यका या मेरे वक्तव्यसे इस लेखका समर्थन होताहै । समाजमें कैसे कैसे निर्दय और क्रूर प्रकृतिके मनुष्य हैं, इस बात का पता इस लेखसे मिलजाता है । इन लोगोंको समाज क्या दंड देना चाहती है या क्या दंड देसकती है— यह एक प्रश्न तो है ही, परन्तु यह भी एक प्रश्न है कि उस कुमारी बालिकाका क्या किया जाय, जिसने विवाहमें किसीभी तरहका सहयोग नहीं किया है बल्कि विरोध किया है, साथही जिसमें विवाहकी विधिभी ठीक नहीं हुई है । थोड़ी देरके लिये एक अबोधकन्या के विवाहको हम इस लिये

विवाह मान लेते हैं कि उसकी इच्छा प्रदर्शित न होने पर भी उसका विरोध प्रदर्शित नहीं होता है। परन्तु इस बालिकाने अपना शक्तिभर विरोध बताया है — यहाँतक कि उसके कपड़े भी चिथड़े होगये हैं। इससे बढ़कर एक बालिका खूंख्वार राक्षसोंके सामने क्या विरोध प्रकट कर सकती है? मुझे जहाँ तक पता है करीपुरकी पंचायत उस समय इस विवाह को विवाह मानने के लिये तैयार नहीं थी। करीपुर के पंच अगर अपनी मनुष्यता कायम रखना चाहते है तो उन्हे अपने विचारपर दृढ़ रहना चाहिये और एक बैठक करके उस विवाहको नाजायज़ ठहरा देना चाहिये। इसके बाद अगर उसपर कुछ कानूनी कार्रवाई होसके तो उसे करके उस कुमारी बालिका का संरक्षण पंचों को या संघको अपने हाथमें लेना चाहिये। और फिर उस कुमारी बालिकाका विवाह किसीयोग्य वरके साथ करना चाहिये। मनुष्यता के कानून के अनुसार यही बात होना चाहिये। मैं नहीं समझता कि ऐसे विवाह को कोई भी मनुष्य विवाह माननेके लिये तैयार होगा। धर्मशास्त्रके अनुसार इसे किसी तरह विवाह नहीं कह सकते। जैन विवाहपद्धतिमें प्राणस्वरूप जो विधि है वह सप्तपदी है और सप्तपदी का सार यह है कि कन्या इस सम्बन्धको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती है। जैनसमाज में जो विवाह जैनविवाहपद्धतिसे नहीं भी होते हैं उनमें यह सप्तपदीका सार तो रहता ही है। परन्तु इसमें कन्याने प्रसन्नता से तो दूर रहे परन्तु अप्रसन्नतासे भी उस विवाहको स्वीकार नहीं किया है। तथा पंचों का सहयोग या अनुमति न होने से तो यह और भी अधिक नाजायज़ होगया है। इसलिये किसीभी तरह से हम उस बलिदान को विवाह नहीं कह सकते हैं। जब वह विवाह ही नहीं है तब उसका वास्तविक विवाह करने में क्या हानि है? मैं आशा करता हूँ कि लेखक महोदय इस मामलेको ठीक तौर पर आगे बढ़ायेंगे। ऐसे आततायिओं को अगर समाज शिक्षा नहीं देसकती तो उसे विधवाविवाह, सधवाविवाह, तलाक़ आदि सभीबातों को छुट्टी देना चाहिये। जब वह ऐसे अत्याचारों को नहीं रोक सकती अथवा उसका पूरा बदला नहीं ले सकती तब उसे इन कामोंको रोकनेका कोई हक़ नहीं है।

वर्तमान हालत।

अब देखो सोच विचार दशा कैसी बिगड़ी ॥ टेक ॥

साधू भेषी बने स्वार्थी अभिमानी अज्ञानी।
उल्टी पुल्टी राह बताते घर जानी मनमानी ॥ १ ॥

ज्ञान हमारे से पढ़ पण्डित हुये उपाधी धारी।
साँची बात कहे ना करते मिथ्या भाषण भारी ॥ २ ॥

भोले भाली नर नारी ये भेड़ धसान मचाते।
अपने पांव कुल्हाड़ी मारें फिर पीछे पछताते ॥ ३ ॥

—चन्द्रसेन जैन वैद्य।

श्रीमहावीर जैनबालाश्रमकी आवश्यकताएं।

आवश्यकता है ऐसे १० विद्यार्थियोंकी जो वर्तमानमें अंग्रेज़ी पांचवी या इससे आगे पढ़ रहे हों, और आगे मैट्रिक, एम. ए. या बी. ए. तक पढ़ाई करना चाहते हों परन्तु उनके पास पढ़ाईके साधन न हो, ऐसे दस विद्यार्थियोंकी आवश्यकता है। जो यहाँ रहकर पढ़ना चाहते हों वे शीघ्र लिखें। देर करनेसे स्थान न मिलेगा।

ज़रूरत है ऐसे मास्टरोंकी जो एम. ए. या बी. ए. हों, साथमें संस्कृत, उर्दू जानते हों, संस्थाका काम किये हुए हों, अनुभवी हों उम्र २५ सालसे ऊपर हो, दुर्व्यसनी न हों, सदाचारी हों।

ज़रूरत है ऐसे हुनर मास्टरोंकी जो तबला, पेटी, सिलाई, बुनाई, सुतारी आदि हुनर जानते हों।

ज़रूरत है ऐसे प्रचारकोंकी जो व्याख्यान आदि देनेमें कुशल हों, श्रोताओंका चित्ताकर्षण कर सकें, साथमें चन्दा वसूलीका भी काम कर सकें, जैनसमाज की परिस्थितिसे विशेषकर मारवाड़ी जैनसमाजकी स्थितिसे वाकिफ़कार हों, अनुभवी हों, जैनसिद्धान्तोंसे वाकिफ़कार हों।

पत्रव्यवहार इस पतेसे करें—

श्रीमहावीर जैन बालाश्रम
मोमिनाबाद. (निज़ाम स्टेट)

तार का पता--"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.
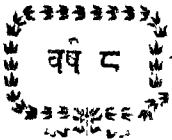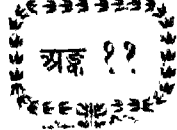
वर्ष ८ — १ अप्रेल — सन १९३३ — अङ्क ११

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र। — विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

जैन जगत्

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—आचार्य हरि०।

सम्पादक—मा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई.
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

कन्याकी आवश्यकता।

एक गोलालारीय जैन (दिगम्बर) लडकेके लिए जो एम० ए० पास है, आयु २२ वर्षकी है तथा मासिक आय २००) रु. एक सुन्दर स्वस्थ और पढ़ी लिखी कन्याकी आवश्यकता है। कन्याकी वय १४ वर्षकी हो, सीना पिरोना भी जानती हो और गृह कार्यमें निपुण हो। दिगम्बर जैन अन्तर्जातीय विवाहेच्छुक भी पत्र व्यवहार कर सकते हैं।

—कुन्दनलाल जैन.
बी० ए० एलएल० बी० वकील।
C/o के० एल० मानकचन्द कठरया
बीना (सागर)

भाई छगनमलजी बाकलीवाल लापता!

आप ता० २२ मार्च को सवेरे दर्शन करने गये थे तबसे एकाएक लापता होगये हैं; किसीसे कुछ कह सुन कर नहीं गये। ता० २० मार्चको वे अपने घर (सुजानगढ़) से आये थे। ता० २२ मार्चको सवेरे कहीं चले गये थे और रातको ९ बजे लौटे थे। उसके दूसरे ही दिन फिर चल दिये। अबकी बार हम लोगोंसे कुछ बातचीत नहीं की जिससे उनके चित्तका कुछ पता लगता, पर वे कुछ चिन्तित अवश्य थे। यदि कहीं चले गये हों और किसी भाई को मिलें तो [illegible] इनेकी कृपा करें। उनकी उम्र लगभग [illegible] वर्षकी है [illegible] है। जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईके मालिक हैं।

नाथूराम प्रेमी, हीराबाग बम्बई ४

विधवाकी आवश्यकता।

एक खण्डेलवाल जैन युवक जिसकी आयु २१ वर्ष गोत्र पाटणी, व मासिक आमदनी करीब ५०) है, तथा जो अविवाहित है, किसी योग्य जैन विधवा से विवाह करनेके लिये तैयार है। इच्छुक व्यक्ति निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करें:—

बीठूरामजी मदारुरामजी दगड़ा,
बेलापुर रोड़ (अहमदनगर)

"विज्ञान" की मिट्टी पलीद।

जैन गजट अंक २२ ता० २९ मार्च १९३३ में किसी "कुमुद" महाशयका "यज्ञोपवीत जैनों मात्र को धारण करना चाहिये" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। "ज़माना वैज्ञानिक है। हर बात वैज्ञानिक से सिद्ध हो जाना चाहिये। सिद्ध हो जाने पर लोग उसे जल्दी से स्वीकार कर लेते हैं"। अतः जिस "बात को अभी तक किसी भी विद्वानने वैज्ञानिक रूप से सिद्ध नहीं किया" उसके करनेका श्रीयुत कुमुद महाशयने बीड़ा उठाया है। आपके विज्ञान (?) के अनुसार " यदि दोनों कानोंकी नसोंको दबा दिया जाय तो मल एवं मूत्र त्याग भले प्रकार हो सकता है, और यदि नसोंको न दबाया जाय तो उससे पुरुषके पुरुषत्व को बहुत हानि पहुँचती है। " "कानों का दबाना ज़रूरी है और यह कर्म सूतसे हो सकता है। इसलिये यज्ञोपवीत शरीर स्वस्थ्य रखनेका भी प्रबल कारण है।" मालूम होता है कुमुद महाशयका यह वैज्ञानिक आविष्कार (?) उनके बाल्यावस्थाके निजी अनुभव पर अवलम्बित है जब कि उनके कानोंकी नसोंको दबाने का कार्य यज्ञोपवीत सूतके बजाय उनके अध्यापक की कठोर अँगुलियोंको करना पड़ा होगा, जिसके फल स्वरूप शायद उन्हें तत्काल ही "मल एवं मूत्रत्याग" का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया होगा। कुमुद महाशयकी यह वैज्ञानि— कता औरोंको क्या मंजूर होगी, स्वयं जैनगजट सम्पादक महाशय ही इस पर नाक भौं सिकोड़ते हुए लिखते हैं — "लेखक महोदयने जैसी कि लेखके प्रारम्भमें वैज्ञानिक ढंग से यज्ञोपवीतकी मान्यता सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है वह तो इस लेखमें सिद्ध हो नहीं सकी है। अन्तमें यह जो आपने लिखा है कि यज्ञोपवीतसे कानोंकी नसोंके दब जानेसे मल और मूत्रका त्याग भले प्रकार हो सकता है सो यह विज्ञान (?) भी हम समझते हैं कि शायद ही किसी पाठककी बुद्धिमें ठीक जँचेगा। कान कोई नलकी टोंटी नहीं है।" आदि।

हर्ष है कि स्थितिपालक बन्धु भी अब विज्ञानकी दुहाई देने लगे हैं। लेकिन जबकि उन्हें विज्ञानके सिद्धान्तोंके अनुसार उन्हें अपने मन्तव्योंकी जाँच करना चाहिये, वे इसके विपरीत अपने मन्तव्योंकी पुष्टिके लिये विज्ञानकी खींच तानकर उसकी मिट्टी पलीद किया करते हैं।

स्थितिपालकोंके सौभाग्यसे ऐसे ही एक और वैज्ञानिक श्रीमान प्रोफेसर धर्मचन्दजी चौधरी बी० एससी० भूतपूर्व कुर्गम बख्शजीका प्रादुर्भाव हुआ है। तीर्थङ्करोंके अतिशयोंके विषयमें आपने कुछ कल्पनाएँ गढ़ रखी हैं जिन्हें आप भोली जनताके समक्ष विज्ञान (?) द्वारा प्रमाणिक बतलाकर वाहवाही लूट रहे हैं। क्या ही अच्छा हो यदि आपभी अपनी उन रिसर्चोंको जैन गजटमें प्रकाशित करानेकी कृपा करें।　　　　—विज्ञान प्रेमी।

वृद्ध विवाहका परिणाम।

बरेलीमें—२२-२-३३ को एक कायस्थ देवीने जिसकी वय २५ वर्ष थी, ६५ वर्षीय बूढ़े के साथ अपना विवाह निश्चित जानकर अपने वस्त्रोंमें मिट्टीका तेल डाल कर आग लगाली, और इसप्रकार अपघात करके आजन्म भावी कष्टोंसे मुक्त होगई। क्या वृद्धविवाहके पोषक सहृदय अहिंसाधर्मी इस भीषण परिणामसे शिक्षा ग्रहण करेंगे।

"हिन्दूधर्मका अथवा किसी धर्मका नाश किसीके आक्रमणसे कभी नहीं हो सकता। यह स्वयंसिद्ध नियम है। जिसका नाश किसी भी बाहरी शक्तिसे हो सकता है, वह धर्म नहीं—भले ही वह सामाजिक व्यवहार हो। धर्मका नाश उसके भीतर कुछ गन्दगी पैदा होनेसे ही हो सकता है। अस्पृश्यता हिन्दू धर्ममें एक ऐसी ही गन्दगी है। उसका नाश न किया जायगा तो हिन्दूधर्मका नाश निश्चित है। अस्पृश्यता महा असत्य है। उसका निवारण स्पर्शसे है। अस्पृश्यता हमारे दिलमें है। यह आदमी अस्पृश्य जातिका है, इसलिये इसका मैं स्पर्श नहीं करूंगा ऐसा मानना घोर पाप है। इसमें घृणा भरी है, अहंकार है, उच्च नीचभाव है। यह सब अधर्म है, असत्य है।"　　　　—महात्मा गाँधी।

जैनधर्म का मर्म ।

(२४)

केवली के अन्य ज्ञान ।

इस [illegible] से पाठक समझगये होंगे कि केवली के मन होता है, वे मनसे विचार करते हैं आदि। इससे सिद्ध है कि केवली त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थों [illegible] एक साथ [illegible] नहीं करते हैं।

पहिले शब्दानुपात के साथ भगवान [illegible] बातचीतका उल्लेख किया गया है। उससे मालूम होता है कि केवली मानसिक विचारही नहीं करते, किन्तु वे आंखोंसे देखते भी हैं, कानोंसे सुनते भी हैं। इसप्रकार [illegible] उनका अस्तित्व और उनके [illegible] होता है।

यद्यपि बहुत से जैनाचार्योंका मत है कि केवली के दूसरा ज्ञान नहीं होता है, परन्तु यह पिछले आचार्योंका मत है प्राचीन और प्रामाणिक मान्यता यही है कि केवलीके पांचों ज्ञान होते हैं। सूत्रकार उमास्वाति अपने तत्त्वार्थभाष्यमें उस प्राचीन मतका उल्लेख इस प्रकार करते हैं.—

"कोई कोई आचार्य कहते हैं कि केवलीके मति आदि चार ज्ञानोंका अभाव नहीं होता किन्तु वे इन्द्रियोंके समान अकिञ्चित्कर होजाते हैं अथवा जिसप्रकार सूर्योदय होने पर चन्द्र नक्षत्र अग्नि मणि आदि प्रकाशके लिये अकिञ्चित्कर होजाते हैं किन्तु उनका अभाव नहीं होता उसीप्रकार केवलज्ञान होने पर मति श्रुत आदि ज्ञानोंका अभाव नहीं होता [illegible]"

इससे मालूम होता है कि केवलज्ञानके समय मति आदि ज्ञानोंको मानने वाला मत उमास्वातिसे भी प्राचीन है। तथा युक्तिसंगत होनेसे प्रामाणिक [illegible] है।

यह बात विश्वसनीय नहीं है कि किसी मनुष्य को [illegible] होजानेपर आंखोंसे दिखना [illegible] हो जावे। जबकि केवलीके आंखें हैं तो क्या केवलज्ञान के [illegible] अन्धेकी तरह वे खराब हो जाती हैं? क्या केवलज्ञान द्रव्येन्द्रियोंका नाशक है? जब कि जैनशास्त्र उनके द्रव्येन्द्रिय का [illegible] स्वीकार करते हैं तब वे अपना काम क्यों न करेंगी? पदार्थ की किरणें [illegible] आंखपर पड़ता है [illegible] कोई दार्शनिक नेत्रोंकी किरणें पदार्थोंपर पड़ती हैं इससे पदार्थ दिखलाई देता है ऐसा मानते हैं; परन्तु इस मतमें अनेक दोष हैं, इसलिये वैज्ञानिक लोग इस मतको

केचित्त्वाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किन्तु [illegible] दकिञ्चित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्।

यथा [illegible] नभसि आदित्य [illegible] [illegible]त्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्र प्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिञ्चित्कराणि भवन्ति तद्वदिति। त० स० भाष्य १-३१।

नहीं मानते) तब हमें पदार्थ दिखलाई देते हैं। तब भला वे किरणें केवलीकी आँखोंका बहिष्कार क्यों करेंगी? वे उनकी आँखों पर भी जरूर पड़ेंगी। जब किरणें आँखों पर पड़ेंगी तब दिखलाई क्यों न देगा?

प्रश्न—किरणें तो केवलीकी आँखों पर भी पड़ती हैं, परन्तु भावेन्द्रिय न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। भावेन्द्रिय तो क्षयोपशमसे प्राप्त होती है किन्तु केवलीके सम्पूर्ण ज्ञानावरणका क्षय होजाने से क्षयोपशम नहीं हो सकता।

उत्तर—भावेन्द्रिय और कुछ नहीं है, वह द्रव्येन्द्रिय के साथ सम्बद्ध पदार्थको जाननेकी शक्ति है। वह ज्ञानगुणका अंश है। क्षयोपशम अवस्थामें वह अंश ही प्रकट हुआ था किन्तु क्षय होनेपर उस अंशके साथ अन्य अनन्त अंश भी प्रकट होगये। इसका यह अर्थ कैसे हुआ कि क्षयोपशम अवस्था जो अंश प्रकट था वह अब लुप्त होगया है? क्षयोपशम अवस्थामें जो अंश प्रकट था, क्षय अवस्थामें भी वह प्रकट रहेगा। यदि वह अप्रकट हो जायगा तो उसको अप्रकट करने वाले घातक कर्मका सद्भाव मानना पड़ेगा। परन्तु जिसके ज्ञानावरणका क्षय हुआ है उसके ज्ञानघातक कर्म कैसे होगा? इसलिये केवलीके, आंखों से जानने की शक्तिका घात नहीं मानना चाहिये। इसप्रकार केवलीके आंखें भी हैं और जाननेकी पूर्ण शक्ति भी है तब आँखोंसे दिखना कैसे बन्द होसकता है? एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

एक मनुष्य मकानमें बैठा हुआ गवाक्ष (खिड़की) में से एक तरफका दृश्य देख रहा है। अन्यदिशाओं में दीवालें होने से वह अन्यदिशाओंके दृश्य नहीं देखपाता। इतने में, कल्पना करो कि किसीने दीवालें हटादीं। अब वह चारों तरफसे देखने लगा। इस अवस्थामें खिड़की तो न रही परन्तु जिस तरफ खिड़की थी उस तरफसे अब भी वह देख सकता है इसी प्रकार ज्ञानावरणके क्षय होजानेसे क्षयोपशमके द्वारा जो देखनेकी शक्ति प्रकट हुई थी, वह नष्ट नहीं होसकती। बल्कि उसकी शक्ति बढ़जाती है। अब वह अपनी आँखों से और भी अच्छी तरह देखसकता है।

इसलिये केवलीके इन्द्रियज्ञान मानना चाहिये। इसप्रकार उनके पाँचों ज्ञान सिद्ध होते हैं।

अगर हम केवलीके इन्द्रियज्ञान न मानेंगे तो केवलीके जो ग्यारह परिषह मानी जाती हैं, वे भी सिद्ध न होंगी। केवलीके ग्यारह परिषहोंमें शीत उष्ण दंशमशक आदि परिषहें हैं।

यदि केवलीकी इन्द्रियां बेकार हैं तो उनकी स्पर्शन इन्द्रिय भी बेकार हुई। तब शीत उष्णकी वेदना या डाँसमच्छरकी वेदना किस इन्द्रियके द्वारा होगी?

प्रश्न—केवलीके जो शीत उष्ण आदि ग्यारह परिषहें बताई हैं वे वास्तवमें नहीं हैं, किन्तु उपचार से हैं। उपचारका कारण वेदनीय कर्मका उदय है।

उत्तर—वेदनीय कर्मका उदय बतलानेके लिये परिषहोंके कहनेकी क्या जरूरत है? जब परिषहें वहाँ नहीं होतीं तब क्या परिषहोंका अभाव बतलाकर कर्मका उदय नहीं बताया जासकता। दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहका उदय तो है परन्तु वहाँ चारित्रमोह के उदयसे होनेवाली सात परिषहों का अभाव बतलाया गया है। इससे साफ मालूम होता है कि कर्मका उदय होने से ही परिषहोंका सद्भाव नहीं बताया जाता किन्तु जब वे वास्तवमें होती हैं तभी उनका सद्भाव बताया जाता है। तेरहवें गुण-

† जो लोग इसी मतको मानना चाहें उन्हें, पदार्थ की किरणें केवलीकी आँखों पर पड़ती हैं, ऐसा कहनेकी अपेक्षा केवलीके नेत्रोंकी किरणें पदार्थ पर पड़ती हैं, ऐसा कहना चाहिये; और इसी आधारपर यह विवेचन लगाना चाहिये।

स्थान (केवलीके) में वे परिषहे वास्तवमें हैं इसलिये वे वहाँ बताई गई हैं।

प्रश्न—जिनेन्द्रके ग्यारह परिषहोंका सद्भाव नहीं बताया है किन्तु अभाव बताया है। तत्वार्थ सूत्रके 'एकादशजिने' इस सूत्रमें 'न सन्ति' यह अध्याधार है। अथवा 'एकादश' की सन्धि इसप्रकार है - एक + अ + दश; 'अ' का अर्थ 'नहीं' है इसलिये एकादश का अर्थ एकदश नहीं अर्थात् 'ग्यारह नहीं' ऐसा हुवा।

उत्तर—ये दोनों ही कल्पनाएँ अनुचित हैं। क्योंकि इसप्रकार मनमाना अध्याधार किया जाने लगे तो संसारके सब शास्त्र उलट जायँगे। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रमें भी 'नास्ति' का अध्याहार करके सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा अर्थ कर दिया जायगा। इस प्रकार तत्त्वार्थके प्रत्येक सूत्रका अर्थ बदला जासकेगा।

दूसरी बात यह है कि पहिलेसे अगर निषेधका प्रकरण हो तो यहाँ भी परिषहोंका निषेध समझा जाय परन्तु दसवें सूत्रमें परिषहोंका सद्भाव बताया गया है तब 'न' की अनुवृत्ति कहाँसे आजायगी? अगर 'न' की अनुवृत्ति आ भी जाय तो बारहवें सूत्र (बादर सांपरायेसर्वे) में भी 'न' की अनुवृत्ति जायगी और नवमे गुणस्थान मे सब परिषहों का अभाव सिद्ध होगा। इस प्रकार 'न सन्ति' काअध्याहार नहीं बन सकता।

'एक + अ + दश' इसप्रकारकी सन्धिभी अनुचित है। संस्कृतमें ग्यारहके लिये 'एकादश' शब्द आता है। अगर 'एकदश' शब्द आता होता तो कह सकते थे कि 'अ' अधिक है इसलिये उसका निषेध अर्थ करना चाहिये। अथवा 'अ' अगर एकदशके आदिमें या अन्तमें आया होता तो वह निषेधवाचो अलग पद बनता। यहाँ वह ग्यारहको कहने वाले एक शब्दके बीचमें पड़ा है इसलिये वहाँ अलगपद नहीं बन सकता। खैर, व्याकरणकी दृष्टिसे उसपर जितना विचार किया जायगा 'एकादश' का 'ग्यारह नहीं' अर्थ निकालना उतनाही असंगत होगा।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि निषेध अर्थ निकाल करके भी निषेध अर्थ नहीं होता। इस प्रकरणमें इस बातका उल्लेख है कि किस गुणस्थानमें बाईसमें से कितनी परिषहे हैं दसवें सूत्रमें सूक्ष्म सांपराय उपशांतमोह क्षीणमोह गुणस्थानोंमें चौदह परिषहें बतलाई गई हैं। ग्यारहवें सूत्रमें जिनेन्द्रके ग्यारह परिषहें बतलाई हैं, और बारहवें सूत्रमें बादरसांपरायके सब परिषहे बतलाई गई हैं। ग्यारहवें सूत्रमें जिनेन्द्रके चाहे ग्यारह परिषहोंका अभाव कहो या सद्भाव, बात एक ही है। बाईसमें से ग्यारह मानो तो ग्यारहका निषेध है, और ग्यारह न मानो तो ग्यारहकी विधि है।

कुछ भी करो, जिनेन्द्रके ग्यारह परिषहे सिद्ध हैं। किसी भी तरहकी तोड़ामरोड़ी से उनका अभाव सिद्ध नहीं होता। जब शीत उष्ण परिषहें सिद्ध हुए तब उनके वेदनके लिये स्पर्शन इन्द्रिय भी सिद्ध हुई। जब स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हुई तब इन्द्रियजन्य मतिज्ञान भी सिद्ध हुआ। इसप्रकार केवलीके केवलज्ञान के अतिरिक्त मत्यादिज्ञान सिद्ध हुए।

घातिकर्मोंके क्षय होजाने से केवलीको नव-लब्धियाँ प्राप्त होतीं हैं। उनमें भोगान्तराय और उपभोगान्तरायके क्षय से भोगलब्धि और उपभोग-लब्धि भी होती है। पंचेन्द्रियके विषयोंमें जो एक बार भोगनेमें आवे वह भोग और जो बारबार भोगनेमें आवे वह उपभोग * है। भोजन भोग है,

* भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियोविषयः॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार।

अतिशयवाननन्तो भोगः अर्थात् असंख्यात पंचवर्णसुरभि कुसुमवृष्टि विविधदिव्यगंधचरणनिक्षेपस्थान सप्तपद्म पंक्ति

वस्त्र उपभोग है। केवलीके जब भोग और उपभोग माना जाता है तब यह निश्चित है कि उनके इन्द्रियाँ भी होती हैं, और वे विषय ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के सद्भावसे मतिज्ञान सिद्ध हुआ। इस तरह केवलीके जब मतिज्ञान आदि भी सिद्ध होंगे तब यह कहना अनुचित है कि उनके सदा केवलज्ञान या केवलदर्शन का उपयोग होता है। क्योंकि मतिज्ञान के उपयोगके समय केवलज्ञानका उपयोग नहीं हो सकता और केवलीके मतिज्ञान सिद्ध होता है।

यदि केवलीके केवलज्ञानके सिवाय अन्य ज्ञान न माने जाँय तो केवली भोजनभी न कर सकेंगे। क्योंकि आँखोंसे देखे बिना भोजन कैसे किया जा सकता है? केवलज्ञानसे भोजन देखेंगे तो केवलज्ञान से तो त्रिकाल त्रिलोकके पवित्र अपवित्र अच्छे बुरे सब पदार्थ दिखते हैं इसलिये अमुक भोज्यपदार्थ की तरफ़ उनका उपयोग कैसे लगेगा?

प्रश्न—श्वेताम्बर लोग केवलीका भोजन स्वीकार करते हैं परन्तु दिगम्बर लोग स्वीकार नहीं करते। इसलिये दिगम्बरोंके लिये यह दोष लागू नहीं हो सकता।

उत्तर—दिगम्बर लोग जैसे केवलीकी पूजा करते हैं उसी प्रकार श्वेताम्बर भी करते हैं। भक्त लोग अतिशयोंकी कल्पना ही किया करते हैं, वास्तविक अतिशयों को मिटाते नहीं हैं। यदि केवलीके भोजनके अभावका अतिशय होता तो कोई कारण नहीं था कि श्वेताम्बर लोग उस अतिशयको न मानते। इसीलिये यह पीछेकी कल्पना ही है। दूसरी बात यह है कि दिगम्बर लोग भी क्षुधा परिषह तृषा परिषह तो मानते हैं। यदि केवलीको भूख और प्यास लगती है तो वे भोजन क्यों न करते होंगे? दूसरे अध्यायमें भी इस विषयमें लिखा गया है। केवलीके भोजन न मानना, यह सिर्फ़ अन्धभक्तिकी कल्पना है जो कि केवलज्ञानके कल्पित स्वरूपमें आती हुई बाधाको दूर करनेके लिये कीगई है। कोई मनुष्य जो कि जीवनभर भोजन करता रहा है किन्तु विशेष ज्ञानी होजाने से देशदेशान्तरोंमें विहार करता हुआ व्याख्यान आदि करता हुआ वर्षों और युगों तक भोजन न करे, इस बातपर अन्धश्रद्धालुओं के सिवाय और कोई विश्वास नहीं कर सकता।

केवलज्ञानके इस कल्पित रूपकी रक्षाके लिये भगवानके निद्राका अभाव मानना पड़ा है और निद्राको दर्शनावरणका कार्य कहना पड़ा है जबकि ये दोनों बातें अविश्वसनीय और तर्कविरुद्ध हैं।

केवलीको अगर निद्रा मानी जायगी तो निद्रावस्थामें केवलज्ञानका उपयोग न बन सकेगा। इस लिये भक्त लोगोंने यह मानलिया कि भगवान निद्रा ही नहीं लेते। निद्रा तो शरीरका धर्म है। ज्ञानी हो जानेसे किसीको नींद न लेना पड़े, यह कदापि नहीं कहा जासकता। जो भोजनादि करता है उसे नींद लेनी पड़ती है। इसलिये केवली भी नींद लेते हैं। निद्रावस्थामें उपयोग रहे चाहे न रहे परन्तु लब्धि तो रहती है। एक विद्वान अगर निद्रावस्थामें मूर्ख नहीं होजाता तो केवली भी निद्रावस्थामें अकेवली नहीं हो जाता। हाँ, "केवलज्ञान को सदा त्रिकाल त्रिलोकको विषय करने वाला होना चाहिये"—यह मान्यता अवश्य खण्डित होती है।

सुगन्धिधूपसुखशीतमारुतादयो भावाः यत्कृताः सिंहासन बालव्यजनाशोकपादपछत्रत्रय प्रभामण्डल गंभीर स्निग्ध-स्वरपरिणाम देवदुंदभिप्रभृतयोभावाः।

—त० राजवार्तिक २-४-४।

शुभविषयसुखानुभवो भोगः अथवा भक्ष्यपेयलेह्या-दिसकृदुपयोगाद्भोगः। स च कृत्स्नभोगान्तरायक्षयात् यथेष्टमुपपद्यते न तु सप्रतिबन्धः कदाचित्करि।

—सिद्धसेन गणिकृततत्त्वार्थ टीका।

'निद्रा आदि दर्शनावरण कर्ममें शामिल किये गये' यह बात बिलकुल नहीं जचती। ज्ञानके जितने भेद हैं उतने ही ज्ञानावरणके भेद हैं। इसी प्रकार दर्शनके जितने भेद हैं उतने ही दर्शनावरणके भेद होना चाहिये। चक्षुदर्शन आदि चार भेदों से अतिरिक्त अगर कोई पाँचवाँ दर्शन होता तो उसे घातने के लिये निद्रा आदि दर्शनावरण माने जा सकते। दूसरी बात यह है कि निद्रा अवस्थामें अगर हम देख नहीं सकते तो जान भी तो नहीं सकते। इसलिये निद्रा आदिको दर्शनावरण के समान ज्ञानावरणका भेद क्यों न मानना चाहिये ?

प्रश्न—निद्रावस्थामें जब स्वप्न आदि आते हैं तब ज्ञान होता है इसलिये निद्रा, ज्ञानकी घातक नहीं है। इसीलिये ज्ञानावरणमें उसका समावेश नहीं किया।

उत्तर—ज्ञानके पहिले दर्शन अवश्य होता है। यदि निद्रा अवस्थामें ज्ञान माना जायगा तो दर्शन भी अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार निद्रा, दर्शन घातक भी सिद्ध न होगी।

प्रश्न—चक्षुर्दर्शनावरणादि चक्षुर्दर्शन आदिका मूलमें घात करते हैं। परन्तु निद्रा इसप्रकार मूलसे घात नहीं करती। वह प्राप्तलब्धिको उपयोग रूप होने में बाधा डालती है।

उत्तर - यदि प्राप्त दर्शनको उपयोग रूप न होने देने वाली कर्मप्रकृतियाँ अलग मानी जायगीं तो प्राप्त ज्ञानको उपयोग रूप न होने देने वाली कर्म प्रकृतियाँ भी अलग मानना पड़ेंगी। सिद्धोंके सभी लब्धियाँ उपयोगरूप नहीं रहतीं इसलिये उनको सकर्म मानना पड़ेगा। इसलिये पाँचों निद्राओं को दर्शनावरणके भीतर डालने की कोई जरूरत नहीं है। दर्शनावरणके नवभेदोंकी मान्यता बहुत प्राचीन और सर्वजैनसम्प्रदायसम्मत होने पर भी मौलिक नहीं हो सकती, क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे वह आगमाश्रित युक्तियोंके भी विरुद्ध जाती है। इसलिये दर्शनावरणी नाश हो जानेसे केवलीको नींद नहीं आती, यह मान्यता मिथ्या है, भक्तिकल्प्य है।

प्रश्न—प्रमादके पंद्रह भेद हैं (चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा, प्रणय) इनमें निद्रा भी है। केवलीके अगर निद्रा हो तो प्रमाद भी मानना पड़ेगा, किन्तु प्रमाद तो छट्ठे गुणस्थान तक ही रहता है और केवलीके तो कम से कम तेरहवाँ गुणस्थान होता है। तेरहवें गुणस्थानमें प्रमाद कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर—उपर्युक्त पन्द्रह भेद प्रमादके द्वार हैं। जब प्रमाद होता है तब वह इन द्वारोंसे प्रकट होता है। इन द्वारोंके रहनेसे ही प्रमाद साबित नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ, प्रमादके भेदोंमें कषाय भी है परन्तु कषाय तो दसवें गुणस्थान तक रहती है, किन्तु प्रमाद छट्ठे गुणस्थान तक ही रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि सातवें से दसवें गुणस्थान तक जो कषाय है वह प्रमादरूप नहीं है। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थानकी निद्रा भी प्रमादरूप नहीं है। जिससे कर्तव्यकी विस्मृति हो, अच्छे कार्यमें अनादर हो, मनवचन कायकी अनुचित प्रवृत्ति हो उसे प्रमाद* कहते हैं। जो कथा, जो कषाय, जो इन्द्रियविषय सेवन, जो निद्रा और जो प्रणय इस प्रमादके द्वारा होगा वह प्रमाद रूप होगा, अन्यथा नहीं। अप्रमत्त गुणस्थानमें जीव चलता फिरता है, इसलिये आँखोंसे देखता भी है तो भी वह प्रमादी नहीं कहलाता।

---

* प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरोयोगदुष्प्रणिधानं च (स्वोपज्ञतत्त्वार्थ भाष्य ८-१)

स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानं (तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८-१-३)

प्रश्न · अप्रमत्त गुणस्थानमें जीव चलता फिरता है, इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि अप्रमत्तमें तो ध्यान अवस्था ही होती है।

उत्तर—ध्यानावस्था आठवें गुणस्थानमें होती है। सातवें गुणस्थानमें अगर चलना फिरना बन्द हो जाय तो परिहार विशुद्धि संयम वहाँ न होना चाहिये। श्री धवल टीकामें यह कहा गया है कि आठवें गुणस्थानमें ध्यानावस्था होती है और गमनागमनादि क्रियाओंका निरोध होता है इसलिये वहाँ परिहारविशुद्धि संयम होता है क्योंकि परिहार तो प्रवृत्तिपूर्वक होता है। जहाँ प्रवृत्ति नहीं वहाँ परिहार क्या ※ ? इससे अप्रमत्त गुणस्थानमें गमनागमनादि क्रिया सिद्ध हुई। देखना आदि भी सिद्ध हुआ। किन्तु ये कार्य प्रमादका फल न होने से वहाँ अप्रमत्त अवस्था मानी गई है। केवलीकी निद्रा भी प्रमादका फल नहीं है परन्तु शरीर का स्वाभाविक धर्म है इस लिये निद्रा होने से वे प्रमादी नहीं कहला सकते।

इस प्रकार जब केवलीके निद्रा सिद्ध हुई तब यह निश्चित है कि उनका ज्ञान सदा उपयोग रूप नहीं होता है। निद्रा होने से भोजन वगैरह भी सिद्ध हैं। उससे उनके अन्य ज्ञान भी सिद्ध हुए।

इसप्रकार जब केवलीके अन्य ज्ञान सिद्ध हुए तब यह बात भी समझमें आती है कि केवलज्ञान और अन्य ज्ञानोंके विषयमें अन्तर है। केवलज्ञान सबसे महानज्ञान है परन्तु मतिश्रुत आदि उससे जुदे हैं। उनका विषय भी केवलज्ञान से जुदा है। जिस प्रकार सर्वावधि ज्ञान से हम उन सब चीजों को देख सकते हैं जिनको आँखोंसे देख सकते हैं फिरभी आँखोंका कार्य सर्वावधिसे जुदा है, उसी प्रकार मति आदि का कार्य भी केवलज्ञानसे जुदा है। यहाँ इतनीही बात ध्यानमें रखना चाहिये कि केवलज्ञान और मति आदि ज्ञानोंके विषय स्वतन्त्र हैं। केवलज्ञान क्या है और उसका विषय कितना है, यह बात तो आगे कही जायगी।

त्रिकाल त्रिलोकके युगपत् और सार्वकालिक प्रत्यक्षको केवलज्ञान कहनेमें अनेक सच्ची और आवश्यक घटनाओंको कल्पित कहना पड़ा है और उनका अभाव तक मानना पड़ा है। इसी कारण उनके वास्तविक मनोयोगको उपचरित मानना पड़ा, उनकी भाषा निरक्षरी आदि विशेषणोंसे जकड़ी गई, यहाँ तक कि प्रश्नोंका उत्तर देना भी उनके लिये असम्भव हो गया; उनके वास्तविक ध्यानको भी उपचरित कहना पड़ा, भोजनका अभाव, निद्राका अभाव, भोगान्तराय आदि कर्मप्रकृतियों के नाशकी निष्फलता, परिषहोंका अभाव आदि सब बातें इसीलिये कहना पड़ी हैं, जिससे केवली सदा त्रिकाल त्रिलोकके युगपत् प्रत्यक्षदर्शी कहलाएँ। इसप्रकार एक कल्पनाकी मिथ्यापुष्टिके लिये हजार कल्पनाएँ करना पड़ी हैं। परन्तु इतना करनेपर भी असम्भव, सम्भव कैसे हो सकता है ? ये सब कल्पनाएँ कितनी थोथी और प्रमाणविरुद्ध हैं इसका विवेचन यहाँ तक अच्छी तरह से किया गया है।

असत् का प्रत्यक्ष असम्भव।

केवलज्ञानकी प्रचलित परिभाषामें एक और बड़ा भारी दोष यह है कि उसमें असत्का प्रत्यक्ष मानना पड़ता है जो कि असम्भव है। कोई पदार्थ कितना भी दूर हो फिर भी सम्भव है उसका प्रत्यक्ष हो जाय, क्योंकि दूर और व्यवहित होने पर भी कम से कम वह है तो; परन्तु जो वस्तु है ही नहीं

※ उपरिष्टात्किमित्ययं संयमो न भवेदितिचेन्न, ध्यानामृत सागरांतर्निमग्नांतानां वाचयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकाय व्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः। प्रवृत्तः परिहरतिना प्रवृत्तः। (श्रीधवल टीका—सागरकीप्रति ७२ वाँ पत्र)

उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? अगर असत्‌का भी प्रत्यक्ष होने लगे तो खरविषाण (गधेका सींग) का प्रत्यक्ष भी होगा। इसलिये केवलज्ञानके द्वारा वस्तुकी वर्तमान पर्यायोंका ही प्रत्यक्ष हो सकता है भूतभविष्यकी अनन्त पर्यायोंका नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष करते समय उनका अस्तित्व ही नहीं है।

प्रश्न—भूतभविष्य पर्यायोंका अस्तित्व भले ही न हो, परन्तु जिस द्रव्यकी व पर्यायें होती हैं उसका अस्तित्व तो सदा होता है। इसलिये जब किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है तब उसमें भूतभविष्यकी अनन्त पर्यायें भी शामिल होजाती हैं। इसलिये एक द्रव्यका पूर्ण प्रत्यक्ष करलेने पर भूतभविष्यकी अनंत पर्यायोंका भी प्रत्यक्ष होजाता है।

उत्तर—एक द्रव्यके पूर्ण प्रत्यक्ष होने पर अनंत पर्यायोंका प्रत्यक्ष हो, यह बिलकुल ठीक है परन्तु आपत्ति तो यह है कि एक द्रव्यका ऐसा पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसके वर्तमान अंशका ता ही प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि वही सत्‌रूप है।

प्रश्न—वर्तमान अंशके प्रत्यक्ष होने से उसके भूत भविष्य अंशोंका भी प्रत्यक्ष होजाता है क्योंकि सभी पर्यायें द्रव्य से अभिन्न हैं।

उत्तर—अभिन्न तो हैं परन्तु उनमें सर्वथा अभिन्नता नहीं है। उनमें अंश अंशीका भेद निश्चित है। यदि उनमें सर्वथा अभेद माना जायगा तो हर एक आदमी सर्वज्ञ या अनंतदर्शी हो जायगा। क्योंकि किसी द्रव्य की एकाध पर्यायको तो हर एक आदमी जान सकता है और उस पर्यायका द्रव्य से अभेद होने से वह द्रव्यकी अनन्त पर्यायें भी जान सकेगा। इसप्रकार हरएक आदमी को अनंतज्ञ होना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये मानना चाहिये कि किसी पर्यायके प्रत्यक्ष हो जाने से समग्र द्रव्यका अर्थात् उसकी भूतभविष्य की अनंत पर्यायों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये वर्तमान पर्यायों का प्रत्यक्ष भूतभविष्यकी अनन्त पर्यायोंका प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता।

प्रश्न—हम लोगोंको भी एक अवस्थाको देख कर दूसरी अवस्थाका ज्ञान होता है इसलिये केवली भी वर्तमानकी एक पर्यायका प्रत्यक्ष करके भविष्यकी अनंत पर्यायोंका प्रत्यक्ष करलें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

उत्तर—एक अवस्थाको देखकर जो दूसरी अवस्थाका ज्ञान किया जाता है वह प्रत्यक्ष नहीं कहलाता है किन्तु अनुमान या परोक्ष कहलाता है। परोक्षमें हम वस्तुको सामान्य रूपमें जान सकते हैं, सब पदार्थोंका पृथक पृथक ज्ञान नहीं कर सकते। प्रत्येक पर्यायको जाननेके लिये हमें जुदा जुदा अनुमान करना पड़ेगा और इसमें अनन्तकाल व्यतीत हो जायगा। तब भी एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायों को कोई न जान सकेगा। सामान्य रूपमें सब वस्तुओंको जानने वाला यदि सर्वज्ञ माना जाय तो इसमें कोई बाधा नहीं है; परन्तु ऐसा सर्वज्ञ तो हर एक आदमी कहला सकता है क्योकि ' सब जगत् सत् रूप है ' इस वाक्यके द्वारा हमें सारे जगत का ज्ञान होता है।

प्रश्न—अतीतमें देखी हुई वस्तुओंका हम आँखें बन्द करके मानस प्रत्यक्ष करलेते हैं। इस प्रकारका मानस प्रत्यक्ष यदि अतीतका होता है तो भविष्यका भी होसकता है; और जब साधारण मनुष्य भी इतना प्रत्यक्ष करलेता है तब केवली अनन्त वस्तुओंका प्रत्यक्ष करे, इसमें क्या आश्चर्य है ?

उत्तर—अतीतमें जानी हुई वस्तुका जो आँख बन्द करके अनुभव होता है, वह वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु परोक्ष है, अतीतका स्मरण मात्र है, जो कि पहिलेके किसी प्रत्यक्षका फल है। अनंत पदार्थोंका ऐसा ज्ञान केवलीके तभी होसकता है जब

वे उसका पहिले अनुभव कर चुके हों। अनुभूत ज्ञान जो संस्कार छोड़ जाता है उसीके प्रकट होने पर हम आँखें बन्द करके ज्ञात वस्तुका प्रत्यक्षवत् दर्शन कर सकते हैं।

प्रश्न—ज्ञानमें असत् और अननुभूत (अनुभव में नहीं आये हुए) पदार्थको जाननेकी भी शक्ति है। उदाहरणार्थ, हम चाहें तो गधेके सिर पर सींग की कल्पना कर सकते हैं, यद्यपि गधेका सींग कभी देखा नहीं गया है, फिरभी वह ज्ञानका विषय हो जाता है।

उत्तर - ऊपर कहा जाचुका है कि वह प्रत्यक्ष नहीं है, कल्पना है।

प्रश्न—केवलीके भी हम इसीप्रकारका कल्पना-रूप ज्ञान मानलें तो क्या हानि है? अन्तर इतनाही है कि हमारी कल्पनाएँ असत्यभी होती हैं जबकि केवलीकी कल्पनाएँ असत्य नहीं होतीं।

उत्तर—अनंत पदार्थोंकी कल्पनाके लिये अनंत काल चाहिये। इस प्रकारसे कभी कोई सर्वज्ञ न होगा। दूसरा दोष यह है कि वह प्रत्यक्षज्ञानी न कहलायगा। तीसरी और सबसे मुख्य बात यह है कि अज्ञात वस्तुकी हम कल्पना भी नहीं करसकते। अनेक ज्ञात वस्तुओंको हम कल्पना द्वारा मिला सकते हैं परन्तु अज्ञात वस्तुकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, गधेके सींगकी कल्पना लीजिये। यद्यपि हमने गधेका सींग नहीं देखा है, किन्तु गधा और सींग जरूर देखा है। जिसने गधा नहीं देखा और सींग नहीं देखा वह गधेके सींगकी कल्पना कदापि नहीं करसकता। केवली अगर अनंत पदार्थोंकी कल्पना करें तो उन्हें उनके मूलभूत अनन्त पदार्थोंको जानना पड़ेगा। तब उस पर उनकी कल्पना चलेगी। परन्तु कल्पना सत्य है कि असत्य, इसका निर्णय प्रत्यक्षके विना हो नहीं सकता और केवली जिसे कल्पना से जानते हैं उसे प्रत्यक्ष करने वाला दूसरा महाकेवली कहाँ से आयगा? इसलिये कल्पना से सर्वज्ञत्व मानना अनुचित है।

इस प्रकार भूतभविष्य पर्यायोंका प्रत्यक्ष कोई नहीं कर सकता, यह बात सिद्ध हुई। इसलिये त्रैकालिक समस्त द्रव्यपर्यायोंका प्रत्यक्षज्ञान केवल ज्ञान है, यह बात ठीक नहीं है।

अनन्त का ज्ञान असम्भव।

सर्वज्ञत्वके प्रचलितरूपके विषयमें जो सबसे बड़ी बाधा है वह है अनन्तके ज्ञानकी असम्भवता। मैं पहिले कहचुका हूँ कि केवलज्ञानसे भी जिस तरफ़ उपयोग लगाया जाय वही वस्तु जानी जा सकती है। इसलिये केवली भूत और भविष्यकी जिस किसी अवस्था को जानेगा उसके बाद कोई न कोई अवस्था ज़रूर रहेगी क्योंकि पर्याय (अवस्था) के विना वस्तु रह नहीं सकती और वस्तु तो सदा रहने वाली है। जब केवलज्ञानके बारा वस्तुकी अन्तिम पर्याय जानली जाय तभी कहा जासकता है कि केवलज्ञानमे पूरी वस्तु जानली गई। परन्तुवस्तु तो अनन्त है इसलिये केवलज्ञानके द्वारा भी वस्तुका अन्त नहीं जाना जासकता। तब केवलज्ञानसे पूरी वस्तु जानली गई, यह कैसे कहा जासकता है? मतलब यह कि अगर केवलज्ञान वस्तुकी सब पर्यायोंको जान ले तो वस्तुका अन्त होजायगा; अथवा यदि वस्तुका अन्त न मिलेगा तो पूर्ण वस्तुका ज्ञान न होगा। इस प्रकार या तो वस्तुको सान्त मानना पड़ेगा या केवल ज्ञानको सान्त मानना पड़ेगा। परन्तु वस्तुका अंत कभी हो नहीं सकता, उसकी सिर्फ पर्यायें बदलती हैं। (न सतो विनाशः न असत् उत्पत्तिः=सत्का विनाश नहीं होता, असत् की उत्पत्ति नहीं होती) इसलिये केवलज्ञानको ही सान्त मानना पड़ता है।

प्रश्न—केवलज्ञानका उपयोग अगर जुदी जुदी वस्तुओं पर जुदा जुदा हो तब यह कहा जासकता

है कि केवली जिस किसी पर्यायपर दृष्टि लगायगा उसके बाद भी कोई न कोई पर्याय रहेगी; इसलिये केवली पूर्ण वस्तुको न जान सकेगा। परन्तु केवलज्ञान का उपयोग युगपत् त्रिकालव्यापी माननेसे यह दोष नहीं रहता है। वह एक साथ भूतभविष्यकी सब पर्यायें जानेगा।

उत्तर - यह मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि त्रैकालिक समस्त वस्तुओंका युगपत् प्रत्यक्ष बन नहीं सकता। अगर किसी तरह यह सिद्ध भी हुआ होता तो भी भूतभविष्य [illegible] अनन्त पर्यायोंको नहीं जानसकता। क्योंकि [illegible] पर्यायों को जानने के लिये वस्तु की [illegible] जानना आवश्यक है। परन्तु वस्तुकी [illegible] पर्याय असम्भव है।

प्रश्न - अगर वस्तु अनन्त है तो केवलज्ञान वस्तु को अनन्तरूपमें ही जानेगा।

उत्तर—अनन्तरूपमें जानना अर्थात् वस्तुका अन्त नहीं पा सकना, इसमें प्रचलित सर्वज्ञत्वके अर्थका विरोध होता है। क्योंकि अनन्तरूपमें वस्तु को साधारण आदमी भी जान सकता है। वस्तुका अन्त नहीं है वह नित्य है, इसप्रकार का ज्ञान तो हमें भी होता है। अनन्तत्व या नित्यत्व वस्तुका एक धर्म है। उसे जानलेनेसे तो वस्तुका एक धर्म ही जाना गया, न कि पूरी वस्तु; इसलिये अनन्तत्वेन वस्तुको जानलेनेसे कोई वस्तुकी अनन्त पर्यायोंका ज्ञाता नहीं कहा जासकता। वह अनन्तत्व या नित्यत्व नामक एक धर्मका ही ज्ञाता कहा जासकता है। परंतु इस एक धर्मके ज्ञानसे सर्वज्ञत्वके प्रचलित अर्थका समर्थन नहीं होता।

प्रश्न - हम लोगोंकी दृष्टिमें वस्तु अनन्त है परंतु केवलीकी दृष्टिमें नहीं।

उत्तर—केवलीकी दृष्टिमें अगर वस्तु अनन्त नहीं है तो उनकी दृष्टिमें वस्तुका निर्मूल नाश हो जायगा। परन्तु वस्तुका नाश हो नहीं सकता, इस लिये केवली मिथ्याज्ञानी साबित होंगे।

इस बात पर कितना भी विचार करो, सब तरह प्रचलित सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं होती। अगर वस्तु को अनन्त मानते हैं तो सर्वज्ञत्व नहीं बनता और किसी को सर्वज्ञ मानते है तो वस्तु अनन्त अर्थात् नित्य साबित नहीं होती। इस प्रकार सर्वज्ञताका प्रचलित अर्थ गणित शास्त्रके भी विरुद्ध जाता है। यह विरोध एक महान विरोध है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

कन्याओंकी रक्षा।

इस पुण्यभूमि (?) का ही यह प्रताप है कि यहाँ पर कन्याएँ बिना अपनी इच्छाके जबर्दस्ती बुड्ढोंके साथ विवाह दी जाती हैं। पहिले तो लज्जाके कारण कन्याएँ चुपचाप यह अत्याचार सह लेती थीं, परन्तु अब वे कहीं कहीं इसका विरोधभी प्रकट कर देतीं हैं। फिर भी हम देखते हैं कि ऐसे बलिदान रुक नहीं रहे हैं। कर्णपुरके अत्याचारके विषयमें गतांक में लिखा जाचुका है। परन्तु ऐसी घटनाएं भारतमें, खासकर हिन्दू समाज में, बराबर होती रहती हैं और उनके भयङ्कर परिणाम भी आया करते हैं। अभी टाटाग्राममें एक १५ वर्षकी लड़कीका विवाह उसकी इच्छाके विरुद्ध एक बुड्ढेके साथ जबर्दस्ती कर दियागया था। लड़कीका जब कुछ बश न चला तो विवाहके दूसरे ही दिन उसने विष खाकर आत्म-हत्या करली। निःसन्देह इसे आत्महत्या न कहना चाहिये; किन्तु यह तो उस बुड्ढे पति और माँबापके द्वारा किया गया एक बालिकाका खून है। खेद है कि क़ानून, ऐसे खूनोंकी योग्य चिकित्सा नहीं करता। इसीप्रकारकी पंजाबकी एक घटना मैंने समाचार पत्रोंमें पढ़ी थी कि एक कन्याकी जबर्दस्ती

एक बुड्ढेके साथ शादी करदी गई। विवाह तो जबर्दस्ती करदिया गया परन्तु इससे उस कन्याका क्रोध पीड़ित सर्पिणीकी तरह भभक उठा। विवाहके बाद उसने बुड्ढे पति (पत्याभास) को विष देदिया उसका मुक़दमा चल था; मालूम नहीं, अन्तिम परिणाम क्या हुआ।

इसप्रकारकी राक्षसी घटनाएँ देशमें बराबर होती रहती हैं, परन्तु खेद है कि इस तरफ समाज का यथोचित ध्यान नहीं है। अगर कहीं कुछ ध्यान जाता भी है तो राक्षसोंके हथकण्डोंके मारे बेचारी कन्या की रक्षा नहीं हो पाती। इस बातको कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसे अत्याचारोंको विवाह नहीं कह सकते। ऐसी हालतमें उन क्रूर बुड्ढोंके द्वारा बेचारी कन्याओंके साथ बलात्कारपूर्वक घोर व्यभिचार किया जाता है।

ऐसे अत्याचारोंको रोकनेके लिये लोकमत कुछ सहायक होजाता है परन्तु वह ऐसी घटनाओंको रोकनेमें अशक्त है। जो लोग कुछ मनुष्य हैं वे तो लोकमतके डरसे ऐसे अत्याचारोंसे विरक्त हो जाते हैं परन्तु जोलोग बिलकुल राक्षस हैं वे पशुबल आदि के साधन एकत्रित करके लोकमतको कुचलकर कन्याओंका शिकारकर लेजाते हैं। ऐसे लोगोंके दमन के लिये सरकारी क़ानूनकी आवश्यकता है। क़ानून में निम्न लिखित बातें अवश्य हों।

१—कन्याकी उमरसे वरकी उमर दुगुनी से अधिक न होना चाहिये, अथवा दोनोंकी उमरमें बीस वर्षसे अधिक अन्तर न होना चाहिये।

२—यदि वरकी उमर ढ़ाईगुनी हो या २५ वर्ष अधिक हो तो इस विवाहकी सूचना एक मास पहिले कोर्टको और समाजको देना चाहिये। यदि कोर्ट और समाजको मालूम हो कि इस विवाहमें कन्याके साथ ज़बर्दस्ती नहीं की जारही है तो विवाह की अनुमति दे।

३—यदि कन्याकी उमर १८ वर्षसे कम न हो तो उसके विवाहके लिये पहिली और दूसरी क़लम लागू न होगी। परन्तु कन्याको कोर्टमें जाकर यह इकरार करना पड़ेगा कि मै इस सम्बन्धको स्वेच्छा से स्वीकार करती हूँ।

४ जो विवाह उपर्युक्त क़लमोंके विरुद्ध होंगे वे विवाह न समझे जायँगे।

५—विवाहके नाजायज़ ठहराये जानेपर कन्या की प्रतिष्ठाके अनुसार वरपक्ष और कन्यापक्षसे कन्याको क्षतिपूर्तिके रूपमें कुछ रक़म दिलाई जायगी, जिसके ऊपर जीवनभर उस कन्याका ही अधिकार होगा।

६—ऐसे नाजायज़ विवाह होनेपर वरको और कन्याके अभिभावकोंको दो वर्ष तककी सख्त क़ैद अथवा २०००) रु० तक जुर्मानाकी सज़ा दी जासकेगी।

७ यदि यह सिद्ध हो कि विवाहमें कन्याके ऊपर शारीरिक बलप्रयोग किया गया है तो वरको और कन्याके अभिभावकोंको तीनवर्ष तककी सज़ा की जायगी। इस धारामें जेलकी सजा अनिवार्य है। साथ ही दो हजार रुपयेतक जुर्माना भी किया जासकता है।

८—जुर्मानेकी रक़म कन्याको मिलेगी।

९—विवाहके एक वर्ष बाद तक इसकी फ़र्याद होसकेगी।

१०—कोई भी नागरिक इसकी फ़र्याद १५) डिपाज़िट जमाकरके कर सकेगा।

बालविवाहकी अपेक्षा वृद्धविवाह और भी भयङ्कर है। साथ ही उसमें जो क्रूरता और पैशाचिकता है वह बालविवाहमें नहीं है। इसलिये इसके विरोधके लिये शीघ्र ही क़ानून बननेकी आवश्यकता है। व्यवस्थापक सभाके मेम्बरोंको इस तरफ़ ध्यान देना चाहिये। और पाठकोंको भी इस तरफ़ उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिये।

तलाक् बिल ।

तलाक़के नाम से लोग बहुत घबराते हैं । परंतु जिस परिस्थिति में तलाक़की आवश्यकता होती है उस परिस्थितिमें क्या करना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तर में सभी बगलें झाँकने लगते हैं। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य नपुंसक हो और उसने अपनी शान रखनेके लिये शादी करली हो, और पत्नी जीवन-भर कौमारव्रत पालने को तैयार न हो तो ऐसी हालत में वह उस नपुंसकको तलाक़ देकर किसी पुरुषके साथ शादी करले, यह अच्छा है; अथवा व्यभिचारके लिये सैकड़ोंका शिकार करती रहे और इस प्रकार वेश्याजीवन व्यतीत करे, यह अच्छा है ? निःसन्देह ऐसी हालतमें तलाक़ ही पसन्द करना पड़ेगा ।

हम यह नहीं चाहते कि स्त्री—पुरुषका सम्बन्ध जरा जरासी बातोंपर विच्छिन्न हो जाया करे । परन्तु हम यह भी नहीं चाहते कि इसकी ओटमें स्त्रियोंको जीवित नरकमें रहना पड़े। हम इस विषय में यूरोपसरीखी उच्छृंखलताके विरोधी हैं परन्तु साथ ही भारतके कठोरतापूर्ण अत्याचारोंके भी विरोधी हैं ।

सर हरिसिंह असेम्बलीमें एक तलाक़ बिल पास कराना चाहते हैं, जिसके अनुसार तीन कारणों से तलाक़ दिया जासके । १—जबकि पुरुष अव्यस्थितचित्त (पागल) हो । २—जबकि पुरुष को कोढ़की बीमारी हो । ३—जबकि वह नपुंसक हो ।

ये कारण बहुत थोड़े और आवश्यक हैं । और ये ऐसे कारण नहीं हैं जिन का दुरुपयोग होकर भारतीय कौटुम्बिक जीवन अशान्तिमय बनसके । पुरुष तो सिर्फ़ इसी बात से दूसरी शादीकर सकता है कि उसकी इच्छा है, या उसको अनेक स्त्रियों का मज़ालेना है । अगर स्त्री के सन्तान न होती हो वह बीमार हो, उसका स्वभाव ख़राब हो तो वह दूसरे विवाहके लिये लोकमतसे भी प्रेरणा पाता है । ऐसी हालत में स्त्री को कम से कम ऐसी अनिवार्य अवस्था में तलाक़का अधिकार अवश्य मिलना चाहिये ।

शिक्षित स्त्रियोंकी तरफ़से ऐसे बिलकी माँग बराबर हो रही है । अशिक्षित स्त्रियोंमें, जिनके सिर पर ऐसी तलाक़की परिस्थिति बीत नहीं रही है और जिनमें दूसरोंके दुःखको समझने की बुद्धि नहीं है अथवा समझ करके भी जिनमें सहानुभूति प्रकट करने योग्य चेतना तत्व भी नहीं है, वे इसका विरोध करें अथवा लोकलाज से अपने अन्तस्तलकी वेदना को दबाकर कोई विरोध करे तो उसका कुछ मूल्य नहीं है । परन्तु जिसकी न्यायचेतना जागृत है वह ऐसे अन्याय को चुपचाप नहीं देख सकता ।

उपर्युक्त तीनों कारण ऐसे हैं जिससे तलाक़का भयंकर परिणाम नहीं आसकता । फिरभी उक्त तीनों क़लमोंके विषयमें निम्नसुधार अवश्य होना चाहिये । एक तो यह कि तलाक़के लिये उक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भी कम से कम एक वर्ष तक तलाक़ न दिया जासके । दूसरी बात यह कि तलाक़ के बाद भी पुरुषकी सम्पत्तिमें से स्त्री को कुछ हक़ मिले । और अगर पुरुष, विवाहके समय ही नपुंसक हो तो उसपर फ़ौजदारी केस भी चलायाजासके और तलाक़के समय उसकी सम्पत्तिमें से उसे कुछ अधिक सम्पत्ति मिले ।

इस प्रकारका तलाक़ देनेका हक़ स्त्रियोंको ही रहे; पुरुष, स्त्री को तलाक़ नहीं देसके; क्योंकि पुरुषको एक स्त्रीके रहने पर भी दूसरी स्त्रीके साथ शादी करनेका हक़ है । स्त्री को ऐसा हक़ नहीं है इसलिये उसे यह अधिकार मिलना चाहिये ।

दक्षिण प्रान्तके जैनसमाजमें जिस प्रकार तलाक़ की प्रथा प्रचलित है उसके साम्हने यह तलाक़ बिल

नहीं के बराबर है। दक्षिण प्रान्तकी तलाककी प्रथा का नियन्त्रण करनेकी जरूरत है और जहाँ यह नहीं है वहाँ इन तीन शर्तोंपर उसके प्रचार की जरूरत है।

हाँ, इसमें एक सुधार और होना चाहिये। वह है उमरका नियंत्रण। अधिक से अधिक चालीस वर्ष की स्त्री इस प्रकारका तलाक़ देसके। यद्यपि इतनी उमर के बाद तलाक़ देने की सम्भावना बहुत कम है; फिरभी यह बात एक शर्तके रूपमें रहे तो अच्छा है।

गुलामी की प्रथा।

एक समय सभी देशोंमें गुलामीकी प्रथा थी; युद्ध में हारे हुए लोग गुलाम बनाये जाते थे, तथा आर्थिक संकट आदिसे भी लोग गुलाम हो जाते थे। परन्तु अब इस गुलामीका सभी देशोंमें बहिष्कार होगया है। परन्तु यह पुण्यभूमि ही ऐसी है जिसकी गोदमें अनेक पापोंके साथ यह गुलामी का पाप भी पलरहा है। नेपालकी गुलामी तो अभी कुछ वर्ष हुए तभी क़ानूनन बन्द कीगई है। परन्तु राजस्थानमें आज भी यह गुलामी भयंकर रूपमें अपना ताण्डव दिखला रही है। अजमेरके दासता-विरोधी संघके मंत्रीकी एक सूचना 'जागरण' के २० मार्च के अंकमें प्रकाशित हुई है। उसमें वे लिखते हैं—

"यहाँ गुलामी करीब करीब वैसी ही जारी है जैसी किसी समय अमेरिका में थी आजभी इस प्रांत में दरोगा, गोला, चेला, हायजवाल आदि नामोंकी कई जातियाँ गुलाम बना रक्खी गई हैं। ठाकुर और [illegible] इनकी अपनी बहन बेटियोंके साथ दुराचार करना भी अपना अधिकार समझते हैं, उनके साथ बुरेसे बुरा अत्याचार करनेमेंभी कोई बुराई नहीं समझते। इस घृणित प्रथाकी सैकड़ों रोमांचकारी सप्रमाण घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सुनकर प्रत्येक नागरिकको आश्चर्य होगा। अभी कुछ दिन पूर्व एक घटना मेवाड़की जागीर बड़ी सादड़ीमें हुई है। वहाँ के राजरानाने अपने एक गुलाम और कुछ लड़कों के साथ किस तरहके कर्म किये, दासियोंके साथ क्या किया, उसकी स्त्रीको रानीने किस बुरी तरह मारा, किस तरह उसके मूत्रस्थानमें बोतल ठूँसदी गई और किसप्रकार उसका लड़का मारा गया यह सब इतनी हृदय द्रावक कहानी है कि उसे पढ़ कर ही जनता उसका ठीक ठीक रूपक समझ सकेगी।"

इस पुण्यभूमिमें कितने अन्याय अत्याचार खुले आम होते हैं और लोगोंके कानोंपर जूँ भी नहीं रेंगती, यह देखकर आश्चर्य और खेदसे हृदय जल उठता है, मानो मनुष्यताने यहाँ से विदा ही लेली हो। धार्मिक क्षेत्रमें, सामाजिक क्षेत्रमें, राजनैतिक क्षेत्रमें दम्भ, अन्याय, अत्याचार, गुलामी आदिका ताण्डव होरहा है और इस पुण्यभूमिके मनुष्याकार जन्तु चुपचाप यह तमाशा देख रहे हैं! सभ्यताके शिखर पर बैठे [illegible] भारतके [illegible] असभ्यता और बर्बरताके शिखर पर विराजमान हैं।

पैसा धर्म।

उस दिन जब मैं बम्बईसे सागर जाने लगा तब बोरीबन्दरसे ही मेरे डिब्बेमें ग्वालियर स्टेट के कुछ पुलिस कर्मचारी आधमके। उनमें एक पुलिस इन्सपेक्टर था जो हिन्दू था और कुछ साधारण सिपाही थे जिनमें कुछ हिन्दू थे कुछ मुसलमान थे। इन्सपेक्टर साहिब अपनी ड्यूटी पर कितने धर्मात्मा थे यह तो मैं नहीं जानसका परन्तु ट्रेनमें वे धर्मात्मा भी मालूम हुए। क्योंकि सुबह होने पर किसी स्टेशन पर उनने स्नान, किसी स्टेशन पर कुछ पूजा पाठ किया। इसके बाद वे कृष्ण–सुदामाकी कथा बाँचने लगे और कथा सुननेके लिये उनने अपने

सब सिपाहियोंको आसपास बिठालिया। खैर, हिन्दू सिपाहियोंको कथा सुनानेकी बाततो किसी तरह ठीक परन्तु मुसलमानोंको कथा सुनाना तो बेचारों पर कुछ ज्यादती करना था। मैं मनमें यही सोचता था; परन्तु मेरा अनुमान गलत साबित हुआ। मैंने देखा कि कथा सुननेमें हिन्दू सिपाहियोंका दिल जरा भी नहीं लगरहा है वे कथा सुननेको पास तो बैठे हैं परन्तु कभी इस यात्रीसे बात करते हैं, कभी उस यात्री से बात करते है, कभी पेशाब आदिके बहाने उठकर चले जाते हैं; परन्तु मुसलमान सिपाही बगुला की तरह बराबर ध्यान लगाकर कथा सुन रहे हैं। इतना ही नहीं, किन्तु बात बात पर श्रद्धाके साथ सिर भुकाते हुए वाह वाह ! धन्य है ! आदिकी आवाज भी कररहे है। मौका मिलने पर जो मूर्ति तोड़नेको तैयार हैं वे ही इस कथाको बड़े ध्यानसे सुन रहे हैं— इसका कारण पैसा-धर्म है। वास्तव में जगत् के अधिकांश मनुष्य न हिन्दू हैं न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध; वे सब पैसाधर्मी हैं। यदि कथा सुनने से इन्सपेक्टर साहिब खुश होते हैं और उनके खुश होनेसे अपनी तरक्की है और प्रजाको लूटनेमें कुछ स्वतंत्रता है तो मुसलमान होकर कृष्ण कथा सुनना भी धर्म है। मैंने सोचा—ये तो अशिक्षित सिपाही हैं परन्तु बड़े बड़े विद्यावारिधि और बड़े बड़े केशरी भी तो इसी पैसा धर्मका पालन करते हैं। जैन समाजके अधिकांश पण्डित इसीप्रकारके पैसा-धर्मी हैं। जिससे सेठजी खुश हों वही उनका धर्म है, फिर भले ही सेठजी जहन्नुम में जाँय या समाज रसातल में पहुँचे, उन्हें तो पैसाधर्मका पालन करना है। जो पंडित छापेके प्रचारक हैं, जिनने एकदिन विजातीय विवाहका समर्थन किया है, नुकता, रथ प्रतिष्ठा आदि फिजूलखर्चियोंके एक दिन विरोधी थे, जो विधवाविवाहकी न्यायसंगतता समझ चुके हैं, जो एक दिन साधुवेषियोंके भण्डाफोड़के लिये मुँह बाये रहते थे, जो एक दिन दम्भपूर्ण लोकाचार के प्रकट विरोधी थे और जो मन ही मन आजभी इन सब बातोंको स्वीकार करते हैं, वे आज पैसाधर्मी होकरके ही इन सब बातोंका विरोध करने लगे हैं। आज वे जिन देव, जैन शास्त्र और युक्तितर्क आदि की दुहाईके बदले सेठोंकी दुहाई देने लगे हैं ! जब पण्डितोंकी यह दशा है तब ये तो बेचारे अशिक्षित पुलिसमैन हैं।

मैं इन्हीं विचारोंमें लीन था कि मेरी पत्नीने कहा—देर तो होगई है, अब कुछ खाओगे नहीं ? मैंने पेट पूजा की तैयारी करते हुए मन ही मन कहा—'पैसा धर्मकी बलिहारी।'

विविध विषय।

(लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

आकोलाका विधवाश्रम।

ता० ९ फ़रवरीकी पोल-पत्रिकामें 'विधवाश्रममां चालती पोल', 'ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ध्यान आपशे के ?' इस शीर्षकका एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें आकोलाके जैन-विधवाश्रम और उसके संचालक श्री कस्तूरचंद-जी पर बहुतसे आक्षेप किये गये हैं। लेखकके कथनानुसार यह संस्था कोई बाक़ायदा संस्था नहीं है और आकोलाके प्रतिष्ठित और उत्तर-दायी लोगोंका उसमें कोई हाथ नहीं है; श्री कस्तूरचन्दजीकी वह निजी दूकानदारी है और उससे वे अपना स्वार्थसाधन करते हैं। जैनजगत्‌के किसी पिछले अङ्कमें तथा स्वराज्य आदि दूसरे पत्रोंमें आश्रमके सम्बन्धमें जो बातें लिखी गई थीं, उनका अभी तक श्री कस्तूरचन्दजीने

कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया है। इससे लोगों का सन्देह और भी बढ़ता जाता है। हमारी समझ में उन्हें सब आक्षेपों का सन्तोषजनक उत्तर देना चाहिए और संस्थाको हर तरहसे सुव्यवस्थित और निर्दोष रखनेका यत्न करना चाहिए। और यदि यह न होसके तो उसे बन्द करदेना चाहिए। विधवाविवाह अभी योंही लोगोंकी दृष्टिमें गिरा हुआ है, फिर यदि उसके प्रचारक और सहायक ईमानदार न हुए, उन्होंने सुधार की आड़में अपना स्वार्थ-साधन किया तब तो उसका मार्ग और भी कंटकाकीर्ण हो जायगा। ऐसी संस्थायें उन्हींकी देखरेख में चलनी चाहिए, जो सच्चे, सदाचारी, निर्लोभी और त्यागी हों।

एक त्यागी के लिए चन्दा।

कुछ महीने पहले बम्बईमें यू० पी० के एक त्यागी ब्रह्मचारीजी आये थे। उन्होंने कहा कि यात्राके लिए मुझे कुछ चन्दा करा दीजिए। इस पर भक्तजन प्रयत्न करने लगे और पचास साठ रुपये के लगभगका चन्दा लिख गया। इसी समय एक ऐसी घटना घटित होगई जिसकी त्यागीजीने कल्पना भी नहीं की थी। एक चलता पुर्ज़ा लड़का त्यागीजीके पास उनकी सेवामें रहने लगा था। उसने किसी तरह भाँप लिया कि महाराजके पास कुछ रक़म है। बस, मौक़ा पाकर वह उस रक़म को लेकर चम्पत हो गया। अब लगे महाराज हाय तोबा मचाने—मेरे पास ८६) रु० थे, वे चोरी चले गये, अब मैं क्या करूं! भक्तोंने पूछा—महाराज, आप तो कहते थे कि मेरे पास कुछ नहीं है और इसीलिए यह चन्दा लिखाया था, फिर ये ८६) रु० कहाँसे आगये? बोले, मुझे १००) रुपया का परिग्रह रखने की प्रतिज्ञा है, चन्दा तो मैंने यात्राके लिए कराया है, आदि आदि। आखिर महाराज अपना चन्दा वसूल करके यहाँ से चले गये, परन्तु ले-देकर उन्हें घाटे में ही रहना पड़ा।

चमार की लड़की ओसवालको ब्याही।

ता० २८ मार्च के 'नव भारत' (बम्बई) में प्रकाशित हुआ है कि इन्दौरके एक चमारकी केसर नामकी १४-१५ वर्षकी लड़कीको रूड़मल और आल्हसींग नामके दो मनुष्य फुसलाकर अहमदाबाद लेगये और यह कहकर कि यह हमारी बहिन है साकरचन्द नामक ओसवाल बनिये को ब्याहदी; और दक्षिणामें ६००) रुपया लिये। लड़की के बापने ढूंढ खोज शुरूकी। उसने अपने बहनोई को भी समाचार लिखा जो कि अहमदाबादमें ही रहता है। बहनोईने भी खोजकी और पता लगनेपर उसने पोलिस को सूचना दे दी। पोलिसने रूड़मलको गिरफ्तार कर लिया है और केसर उम्र की जाँच करनेके लिए अस्पताल भेजी गई है। ओसवाल आदि वैश्य जातियोंमें कन्याओंकी इतनी तंगी है कि हज़ारों युवक समर्थ होने पर भी ब्याह नहीं करसकते हैं और जब कहीं ठिकाना नहीं लगता है तब रूढ़मल जैसे लोगोंके जाल में फंसनेके लिए लाचार होते हैं। अब बेचारा बरबाद होगा, फ़ज़ीहत होगी और स्त्री भी हाथ से जायगी।
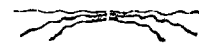
श्री अमृतचन्द्रसूरि

(ले०—श्री० जगदीशचन्द्रजी एम० ए०, रिसर्च स्कालर)

जैनजगतके किसी पिछले अंकमें श्रीयुत नाथूराम प्रेमीजीका श्री अमृतचन्द्रसूरिपर कुछ वक्तव्य प्रकाशित हुआ था। इस सम्बंधमें निम्नलिखित बातें और भी विचारणीय हैं—

अमृतचन्द्रद्वारा रचित ग्रन्थोंमें तीन प्रकारके श्लोक व गाथायें उपलब्ध होती हैं।

(क) कुछ श्लोक कुन्दकुन्द आचार्यकी प्राकृत गाथाओंके अक्षरशः छायानुवाद है।

१—दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा
(पंचास्तिकाय, गाथा १३)

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता
(तत्त्वार्थसार—अजीवप्रकरण, श्लोक १३)

२—पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति
(पंचास्तिकाय, गाथा १२)

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः
(तत्त्वार्थसार, अजीव०, श्लोक १२)

३—भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति
(पंचास्तिकाय, गाथा १५)

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य संभवः
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च
(तत्त्वार्थसार, अजीव० १३)

४—अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत्तं णेव इंदिये गेज्झं
अद्दव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणेहि
(नियमसार, गाथा २६)

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथाऽऽत्मान्तश्च नेन्द्रियैः
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते
(तत्त्वार्थसार, अजीव० ६०)

(ख) कुछ श्लोक सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें 'उक्तं च' के रूपसे दी हुई तथा अन्य गाथाओंके अक्षरशः छायानुवाद है।

१—पुट्ठं सुणादि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सेद रूपं
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि
(सर्वार्थसिद्धि पृ० ६७, तथा राजवार्तिक पृ० ४८)
रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गंधं तथा रसम्
(तत्त्वार्थसार—जीवप्रकरण, श्लोक ४९)

२—गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चम्
(सर्वार्थ० पृ० १७९, तथा राज० पृ० २४३)
गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात् समुदायस्तयोर्द्वयोः
(तत्त्वार्थ०, अजीव० ९)

३—गाथा क (४) (अत्तादि अत्तमज्झं इत्यादि)
(सर्वार्थ पृ० १७२, राज० पृ० २३५)
(तत्त्वार्थ०, अजीव० ६०)

४—रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठा
(सर्वार्थ० पृ० २२३ राज० पृ० २८४)
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः
(पुरुषार्थसि०, श्लो० ४४)

५—उच्चालिदम्मि पादे इरिया समिदस्स णिग्गमट्ठाणे
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोग मासेज्ज
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसेदि समये
मुच्छा परिग्गहोत्तिय अज्झप्प पमाणदो भणिदो
(सर्वार्थ० पृ० २०५, राज० पृ० २७५)

ये दोनों गाथाएँ तात्पर्यवृत्ति पृ० २९२ पर दी गई हैं।

६—अप्पा कुणदि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं
गच्छंति कम्मभावं अण्णुण्णा गूढभावेन

(यह गाथा अनगारधर्मामृत पृ० ५४२ पर 'उक्तं च' के रूपमें दी हुई है।)

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्रपुद्गला कर्मभावेन

(पुरुषार्थ०, श्लोक १२)

७—पक्केसु अ आमेसुअ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु
सातत्तियमुववादो तज्जादीणं निगोदाणं
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मांसस्स खादि फासदि वा
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं

(प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, पृ० ३१३)

इन गाथाओंमेंसे पहली गाथा श्वेताम्बर विद्वान् रत्नशेखरसूरिकृत संबोधसत्तरिका में ६६ वीं गाथा है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्

(पुरुषार्थ० श्लो० ६७, ६८)

८—मज्जे महुम्हि मंसम्हि णवणीयम्हि चउत्थरा
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो

(रत्नशेखरसूरिकृत संबोध सत्तरिका गाथा ६५)

मधुमद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र

(पुरुषार्थ० ७१)

(ग) कुछ श्लोक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगम भाष्यसे मिलते हैं।

(१) तत्त्वार्थभाष्य पृष्ठ २००-२ में १-७ तक, ९ से १८ तक तथा २१ से ३२ तक श्लोकों का क्रम तत्त्वार्थसार मोक्षप्रकरणमें क्रमशः २० से २६ तक, २७ से ३६ तक तथा ४३ से ५४ तक श्लोकोंका क्रम है।

(ये तत्त्वार्थभाष्यके सभी श्लोक राजवार्तिक पृ० ३६८ में 'उक्तं च' के रूपमें दिये हैं।)

(२) दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवांकुरः

(तत्त्वार्थभाष्य पृ० २०१ श्लोक ८)

यह श्लोक तत्त्वार्थसार मोक्षप्रकरणमें ७ वाँ श्लोक है तथा इसे अकलंकदेवने राजवार्तिकमें और आचार्य हरिभद्रने षडदर्शन समुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चयमे 'उक्तंच' के रूपमें उद्धृत किया है।

(३) कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च

यह श्लोक कुछ हेरफेरके साथ तत्त्वार्थसारके अजीवप्रकरणमें ६० वाँ श्लोक है, तथा इसे तत्त्वार्थभाष्यमें और राजवार्तिकमें 'उक्तं च' के रूपमें दिया है।

(क) भागसे मालूम होता है कि अमृतचन्द्रसूरिने कुन्दकुन्द आचार्यकी गाथाओंको अपने ग्रंथके अनुकूल समझकर उन्हें संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी सुविधाके लिये संस्कृत अनुवादके रूपमें दी हैं।

(ख) से भी यही प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ किन्हीं प्राचीन जैन आगम-ग्रन्थोंकी हैं, तथा इनमेंसे कुछ गाथाओंको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विद्वानोंने अपने अपने ग्रन्थोंमें स्थान दिया है उदाहरण के लिये (ख)—१ नंबरकी गाथा 'आवश्यक सूत्र' की है। यही गाथा जिनभद्रगणिने विशेषावश्यक भाष्यमें भी दी है।

(ग) से भी यही व्यक्त होता है कि उस समय तक जैन आचार्योंमें कट्टर साम्प्रदायिकताका भाव प्रविष्ट नहीं हुआ था। यही कारण था कि दोनों सम्प्रदायोंके आचार्य एक दूसरेकी कृतिको अपने ग्रन्थोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक स्थान देते थे।
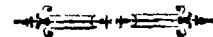
जैनशासनके अछूत सन्त-पुरुष।

(लेखक—श्री० बा० कामताप्रसादजी जैन ऐम० आर० ए० ऐस०, सम्पादक 'वीर'।)

जैन धर्म में मनुष्य जाति एक बताई गई है। मनुष्यों में कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं, जिसके कारण उनके टुकड़े टुकड़े किये जा सकें। तो भी समाज व्यवहारकी उपयोगिताको लक्ष्य करके जैन राजाओंने उस एक मनुष्य जातिके क्षत्रियादि भेद किये हैं। शूद्रोंमें कुछ ऐसी जातियां भी उपरान्त मानली गई हैं जो अपने अशुच, पर समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी, कर्म के कारण अस्पृश्य अथवा अछूत कही जाती हैं। व्यवहारमें इनसे भी गये-बीते लोग चाण्डाल आदि माने गये हैं, क्योंकि वे महान हिंसक होते हैं। चौथा शताब्दि ईस्वी में चीन देश से फाह्यान नामक यात्री जब भारत आया तो उसने इन चाण्डाल लोगों को बस्ती बाहर रहते देखा। जब वे नगर में जाते तो एक डण्डा खटखटाते जाते थे कि लोग उनसे छू न जाँय! हिंसा जैसे पाप-कार्य में लगे हुये मनुष्यसे बचना ही चाहिये; किन्तु उससे घृणा करना धर्म नहीं है। धर्मका द्वार प्रत्येक मनुष्यके लिये खुला हुआ है। धर्म का सच्चाश्रद्धानी इसी लिये पापीसे घृणा नहीं करता, वह तो पाप से डरता है। जैन शासन जब तक ऐसे सच्चे धर्मश्रद्धानी नर-रत्नों से अलंकृत रहा, तब तक यह बराबर मनुष्य ही क्या जीव मात्र का कल्याण करता रहा। जैनशासन ने ऐसे अनेक महापुरुष हुये जिन्होंने महान अछूत चाण्डालों तक का उद्धार किया, उन्हें धर्म के मार्ग लगा दिया। आज उन अछूत सन्त पुरुषों के पवित्र चरित्र जैनग्रन्थों की शोभा बढ़ा रहे हैं, और वर्तमानके जैनियों को उनकी गल्ती सुझा रहे हैं। जातिमद का नशा यदि उनके पढ़ने से आज उतर जावे तो जैन शासनका सितारा फिर एक बार चमक उठे। जैन सासन के उन अछूत सन्तपुरुषों का चरित्र हम यहाँ पाठकों की भेंट करते हैं:

(१) यमपाल चाण्डाल।

दक्षिण भारत के सुरम्यदेश के पोदनपुर नामक नगर में जैनधर्मानुयायी राजा महाबल राज्य करता था। अष्टान्हिका पर्व के अवसर पर उसने 'अमारीघोष' करवाया कि मेरे राज्य में कोई भी किसी प्रकार की हिंसा न करे। दुर्भाग्यवश राजा का पुत्र बलकुमार अत्यन्त मांसासक्त था। उसने राजा की आज्ञा नहीं माना और राजा के ही एक मेढ़े को लेजाकर चोरी से भूनकर खागया। किन्तु बात छिपी न रही। राजा को अपने पुत्र की उद्दण्डताका पता चल गया। उन्होंने न्यायालय से पुत्र को फाँसी का दण्ड दे दिया। कोतवाल उसे वधभूमि को लेगये और यमपाल चाण्डाल को उसे मारने के लिये ढूँढने लगे। वह चतुर्दशी का पर्व दिन था। चाण्डाल यमपाल को किसी जैन मुनि की सत्संगति का लाभ हुआ था। उसने उनसे अहिंसाव्रत ग्रहण किया था। अब उसके लिये नरहत्या करना असम्भव था। वह अपने झोंपड़े में छिप गया, परन्तु कोतवालने उसे ढूँढ निकाला और राजपुत्रकी हत्या करनेका आदेश दिया। एक ओर धर्म और दूसरी ओर राजा की आज्ञा थी! यमपाल चाण्डाल ने अपने धर्म पर दृढ़ रहना उचित समझा! उसने नरहत्या करने से साफ इनकार करदिया! राजा की आज्ञा न मानी जाय, इससे ज्यादा और क्या अपराध होगा? यमपाल के हाथ पैर बँधवाकर राजा ने अथाह जल भरे तालाब में फिकवा दिया। यमपाल के सामने उसकी मौत आकर नाचने लगी पर तो भी वह धर्मवीर अपने प्रण से नहीं डिगा! एक देव ने उसका यह अद्भुतधर्म प्रेम देखा और झट से उसको बन्धनमुक्त कर दिया। देव ने उसके लिये तालाब के बीच में एक सिंहासन बनाया और उस पर उसे बैठाकर उसके लिये खूब 'धन्य धन्य' शब्द कहे! राजा यह सब वृत्तान्त जान कर पहले तो भयभीत हुआ, परन्तु जब उन्होंने यह सब कुछ चाण्डाल के धर्मप्रभाव का फल जाना तो वे भी प्रसन्न

हुये। उन्होंने चाण्डालका विशेष आदर सत्कार ही नहीं किया, बल्कि उसे सिंहासन पर बैठाया और अपने हाथोंसे उसका अभिषेक (स्नान) करके उसे स्पृश्य बना दिया। देखिये, एक चाण्डाल धर्मप्रभावसे देव और राजा द्वारा सम्मानित होकर लोकमान्य होगया ! वह चाण्डाल अपने हिंसाकर्मके कारण अछूत था। उस पाप-कर्म का त्याग उसने एक दम कर दिया ! फिर वह सम्माननीय क्यों न होता ? राजा उसका स्पर्श क्यों न करते ? जो लोग अछूत को हर हालतमें न छूने योग्य और धर्म का अधिकारी नहीं समझते, उन्हें इस कथा से अपनी गलती ठीक कर लेना चाहिये !

(२) चण्ड चाण्डाल।

पुष्कलावती देश में एक पुण्डरीकिणी नामक नगर था। एक समय वहाँ पर गुणपाल नामक राजा राज्य करता था। चण्ड उसीका शाही जल्लाद था। एक दिन राजा गुणपाल संसार से विरक्त हो दिगम्बर मुनि होगया। उससमय चण्ड चाण्डालने भी साधु महाराज की बन्दना की और उनसे पर्वके दिनोंमें अहिंसाव्रत और उपवास करने का नियम ले लिया। इस धर्माचरण से चण्ड तो धर्मात्मा हुआ ही, पर साथ ही उसके कुटुम्ब के लोग भी धर्म का महत्त्व जान गये। उपरान्त वसुपाल राजा हुवे। उनका एक मुंहलगा प्यादा था। एक दिन उसने राज-भंडार से चोरी की, जिसका पुरस्कार उसे प्राणदण्ड मिला। ऐन चतुर्दशी के दिन वह प्यादा चण्ड के हवाले किया गया, किन्तु चण्ड ने उस दिन उसे मारने से इनकार कर दिया। राजा इस पर कुपित होगया और उसने चण्ड को प्यादे के साथ लाख के घर में बन्द करवा दिया, तथा यह आज्ञा दी कि सवेरे इन दोनों को जला कर भस्म कर दिया जाय ! रात हुई। वह प्यादा चोर, चांडाल से बोला-'भाई, तू मुझे मार कर सुखी क्यों नहीं होता ?' चांडाल ने उत्तर दिया कि 'जैनधर्मका अतिशय ही ऐसा है ! मैंने अहिंसाव्रत और उपवास किया है; सो मैं मर जाऊँगा परन्तु दूसरे को नहीं मारूँगा।' यह सुनकर चोर को अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ। उसकी प्रार्थना पर चांडालने उसे धर्मोपदेश दिया, जिसको सुनकर वह भी धर्ममें दृढ़ होगया ! सवेरा हुआ। राजाज्ञा से लाख के घर में आग लगवा दीगई और चण्ड तथा वह चोर-दोनों समपरिणामों से उस आगमें जलमरे। चांडाल चण्ड अपने धर्मके प्रभाव से स्वर्ग में देवता हुआ। देखिये, एक अछूत चांडाल भी साधु संगतिसे धर्मको पाकर खुद देव होगया और सछूत प्यादे को भी धर्म के मार्ग में लगा गया ! राजा आदि लोग यदि उसे अपने साथ मुनिवन्दनाको न जाने देते तो भला बताइये किस तरह धर्म का उद्योत होता ? धन्य हो चण्ड ! तुम चांडाल नहीं—नर रत्न हो ! बड़े बड़े धर्माचार्य भी आज तुम्हारा यशगान करते हैं। तुम धर्म के कारण लोकमान्य हो और वह सछूत (उच्चजातीय) प्यादा पाप पंक में सना होने के कारण तुम्हारी दया का पात्र था। इसीसे तो जैनधर्म में जाति और कुल का मद एक कलंक कहा गया है।

[३] अर्जुन चाण्डाल।

चंडका पुत्र अर्जुन था। अपने पिताके संसर्गसे वह भी धर्म से अनुराग रखता और व्रतों का पालन करता था। अशुभोदय से उसके कोढ़ फूट निकला। रोग को असाध्य जानकर वह एक गुफामें सन्यास धारण करके बैठ गया। चार व्यन्तर देवियाँ, श्री भीम केवली से यह जानकर कि यहाँ मरकर हमारा पति होगा, उसके पास गईं और उसके परिणामों को संक्लेशित नहीं होने दिया। अर्जुन समभावोंसे मरा और सुरदेव नामक व्यंतर देव हुवा ! इस प्रकार अछूत हिंसक जातिका वह चांडाल उपवास करनेके फलस्वरूप देवता हुआ ! सचमुच धर्म ऊँच-नीचका भेद नहीं जानता। वह प्राणी मात्रका कल्याण करता है।

(४) जन्मांध चाण्डाल पुत्री !

चम्पानगर (भागलपुर) में नील नामका एक चांडाल रहता था। नील चांडालकी स्त्रीका नाम कौशाम्बी था। उन दोनों के, जन्म से अंधी एक पुत्री हुई। दुर्भाग्यसे उसका शरीर भी दुर्गंध देता था, जिससे लोगोंको बड़ा दुःख होता था। एक रोज़ चम्पानगरमें सूर्यमित्र और अग्निभूति नामके दो साधु महाराज आये। उस दिन मुनि सूर्यमित्र का उपवास था, इस लिये अकेले अग्निभूति

आहार के लिये नगर में गये। वहाँ एक जामुन के वृक्षके तले उस जन्मांध चाण्डाल पुत्री को देख कर अग्निभूति को उस पर करुणा होआई और उन की आँखों में आँसू आगये। उन्होंने लौटकर अपने गुरु सूर्यमित्र से यह सब बात कही। गुरु जी ने उत्तर में कहा कि 'यद्यपि वह चांडालपुत्री हत्भाग्य है, पर है निकटभव्य। उसकी मृत्यु आजही होगी। इसलिये तुम जाकर उसे कुछ उपदेश दो! सचमुच सच्चे गुरु, प्राणी मात्रका हित करने वाले होते हैं। उनके लिये एक गव, ऊँच नीच, छूत-अछूत—सबही एक समान होते हैं। मुनि अग्निभूति गुरु की आज्ञा पाकर उस अछूत चाण्डालपुत्री के पास गये और उसे तरह-तरह से धर्मामृत का पान कराने लगे। फलतः चाण्डालपुत्री ने श्रावक (गृहस्थजैनी) के पाँच अणुव्रत ग्रहण कर लिये और उसने सन्यास धारण कर लिया। समताभावों से शरीर छोड़कर वह उसी चम्पानगर में नागशर्मा ब्राह्मण के पुत्री हुई! धन्य मुनि अग्निभूति जिन्होंने उस अछूत चाण्डाली के पास जाकर उसे जैनी बनाया; जिस धर्म प्रभाव से वह चाण्डाली से ब्राह्मणी हो गई! यही ब्राह्मणी का जीव उपरान्त महात्मा सुकुमाल हुआ था, जिनकी कथा आज प्रत्येक घर में कही जाती है।

[५] चांडाल और कुत्ती!

अयोध्या में पूर्णभद्र और मानभद्र नाम के दो सेठ रहते थे। उन्होंने एक दिन एक चांडाल और कुत्ती को देखा, जिन्हें देखकर उनके बिना कारण मोह उत्पन्न हुआ। दोनों सेठों ने एक ज्ञानी साधु से इसका कारण पूछा। साधु महाराज ने उन्हें बताया कि वह चाण्डाल और कुतिया उनके पहले जन्म के माता-पिता हैं! यह जानकर उन दोनों सेठों ने जाकर उस चाण्डाल और कुतिया को धर्मोपदेश दिया। चाण्डाल ने श्रावकके व्रत ग्रहण कर लिये और कुतिया भी देखादेखी धर्मका अभ्यास करती रही। आखिर चाण्डाल ने सन्यास लेकर शरीर छोड़ा और सोलहवें स्वर्गमें नंदीश्वर नामका देव हुवा। कुतिया मरकर वहाँ के राजा की रूपवती नाम की पुत्री हुई! सच है, धर्म वही है जो जीव को ऊँचा पद प्रदान करे—उसे रंक से राव बना दे!

[६] देवदत्ता वेश्या।

भगवान महावीरके समयमें पटनाके सेठ सुदर्शन एक प्रसिद्ध धर्मात्मा थे। प्रकृति की देन से उनका रूप अनूठा था। रसीली कामनियों का मन उन्हें देखते ही बहक उठता था। परंतु सेठ सुदर्शन पक्के ब्रह्मचारी थे। उनके एक पत्नी-व्रत था। आखिर वे साधु होगए और नग्न भेष में यहाँ-वहाँ विहार करने लगे। एक दिन वह फिर पटने पहुँचे। आहार के लिए वह नगरमें गए। देवदत्ता वेश्या उनके रूप पर मतवाली होगई। उसने धोखे से मुनि को पड़गाह लिया। सुदर्शन मुनि आहार के लिए वहाँ ठहर गए। देवदत्ता हठात उन्हें पकड़ कर अपनी सेज पर लेगई, वेश्यासुलभ अनेक चाटुक बचन उनसे कहे और अपने कुच खोलकर उनसे लिपट गई। सुदर्शन मुनि ने अपने ऊपर उपसर्ग आया जानकर समधि माद ली। तीन दिन तक देवदत्ता ने सुदर्शन महाराज को डिगाने के प्रयत्न किए, परंतु वे अपने व्रत में अटल रहे। हठात उसने उन्हें श्मशान में भिजवा दिया। साधु सुदर्शन ने बड़ी तपस्या की और वे केवलज्ञानी हो गए। देव और मनुष्य उनकी बन्दना के लिए आए। देवदत्ता को मुनि सुदर्शन पहले ही धर्मोपदेश दे चुके थे। उसे अपने पर घृणा हो गई। वह भी उनकी वंदनाको आई और उसने भी साधु महाराज से दीक्षा ग्रहण करली। पापिनी वेश्या अब व्रत-शीलसंयुक्त धर्मात्मा हो गई! धन्य है मुनि सुदर्शन जिन्होंने वेश्या जैसी अधम-नारी का भी उद्धार कर दिया।

[७] धोबिन वत्सिनी।

उपरोक्त सेठ सुदर्शन की धर्मपत्नी का नाम मनोरमा था। अपने पहले जन्म में वह चंपापुरी में साँवल नामक धोबी की यशोमती स्त्री के वत्सिनी नाम की कन्या थी। एक दिन उसे एक साध्वी—आर्यिका के दर्शनहो गये। उसने उनकी बड़ी भक्ति की। आर्यिका के संसर्ग से उस धोबिन वत्सिनी ने खूब धर्माराधना करके पुण्योपार्जन किया। उस पुण्य प्रभाव से वह धोबिन मरकर मनोरमा हुई और उसे सेठ सुदर्शन के समान सुन्दर और धर्मात्मा पति मिले! धर्मने एक अछूत धोबिनकी काया पलटदी! प्राचीन जैनसंघ ने उसके धर्मसाधन में बाधा नहीं डाली।

[८] कमन्द प्रभूकुरुम्ब ।

मध्यकालमें दक्षिण भारतके टोण्डमण्डलम् नामक पहाड़ी प्रदेशमें कुरुम्ब लोग रहते थे। उनका आचार-विचार म्लेच्छों जैसा था। वे शिकार खेलते और उससे अपना उदरपोषण करते थे। कमन्द प्रभू कुरुम्ब तब उनका नायक था। उससमय शैवोंके त्राससे जैनधर्म हीनप्रभ होरहा था। जैनाचार्य धर्मोत्कर्षके लिये तड़फड़ा रहे थे। इत्तफ़ाकसे एक जैनाचार्य कुरुम्बोंकी पल्लीमें पहुँच गये। इन्होंने कमन्द प्रभूको प्रतिबुद्ध करलिया। उसके साथ सब ही कुरुम्ब लोगोंने मांस खाना और मद्य पीना छोड़ दिया। आचार्य महाराजने उन्हें धर्मका उपदेश दिया और उन्हे सैन्यसंचालन मे दक्ष किया। आचार्यजीके संकेतानुसार उन्होंने टोण्डमण्डलम्के राजा पर धावा बोल दिया और उसमे वे विजयी हुए। कमन्द प्रभु कुरुम्ब राजा बन गये। मद्रासके पास पुल नामक स्थानमें उन्होंने अपनी राजधानी बनाई और वहाँ पर कमन्द प्रभुने एक बड़ा भारी जैनमन्दिर बनाकर उसकी प्रतिष्ठा कराई! जैनधर्मकी प्रभावनाके लिये वह चोल राजाओंसे बराबर लड़ते रहे। देखिये एक कुरुम्ब म्लेच्छ, धर्मप्रभावसे राजा हुआ।

[९] मृगसेन धीवर।

अवन्ति देशके शिरीष नामक गाँवमें मृगसेन धीवर रहता था। वह मछली मार कर अपना जीवन पालन करता था। एक रोज़ सिप्रा नदीसे मछलियाँ पकड़नेके लिये जाल लेकर वह चला। रास्तेमें उसने देखा कि यशोधर मुनिराजका धर्मोपदेश होरहा है। उसने भी वह उपदेश सुना। उसके परिणाम कोमल होगये। मुनिराजने भव्य जानकर उसे णमोकार मन्त्र दिया और यह नियम कराया कि तेरे जालमें जो पहले जीव आये उसे छोड़दिया करना। मृगसेन व्रत लेकर मछली पकड़ने चला गया। पहले ही बड़ा भारी मच्छ आया, जिसे देख कर उसका मन ललचाया; परन्तु वह व्रत पर दृढ़ रहा! होनीके सिर उस दिन कई बार जाल डालने पर भी वही मच्छ फँसा और मृगसेनने उसे छोड़ दिया। आखिर खाली हाथ वह घर लौटा। उसकी कंकाला स्त्री यह देखकर आग बबूला होगई। बेचारेको रात भर बाहर ही सोना पड़ा। रातमें एक साँपने उसे काट खाया। वह धीवर एक रोज़ ही व्रत में दृढ़ रहने और मंत्रको जपनेके कारण मर कर बड़ा भारी सेठ हुआ। धर्म नीच-ऊँचाका भेद नहीं जानता। 'भावमें ही तो भगवान बसते हैं!'

[१०] चाँदनपुरका चमार।

रियासत जयपुरके चाँदनपुर गाँवमें एक चमार रहता था। उसे स्वप्न हुआ कि जहाँ उसकी गायका दूध टपक पड़ता है वहाँ पर भगवान महावीरकी अतिशयवान मूर्ति है। चमारने उस मूर्तिको खोद निकाला और वहाँ पर छप्पर डालकर रहने लगा। रोज़मर्राह वह उस मूर्तिकी पूजा-वन्दना करता था। जैनीका बच्चा बच्चा उसकी इस भक्तिसे परिचित है। वे गाते हैं:—

'जितनी श्रद्धा शूद्रकी थी, बहु भाँति ही भक्ति करता था।
स्नान ध्यान फिर दर्शन कर वो चरणोंमें जा पड़ता था॥

भरतपुर राज्यके दीवान जोधराज जैनी थे। वह चाँदनपुरकी ओर जा निकले। भव्य मूर्तिको देखकर उन्होंने वहाँ पर एक विशाल मन्दिर बनवा दिया और वह मूर्ति उसमें विराजमान करादी! किन्तु उस चमारको भी मूर्ति की भक्ति करनेकी आज़ादी थी। उसके द्वारा मूर्तिकी प्रसिद्धि चहुं ओर होगई और उस ओरके सबही लोग-गूजर चमार मीना आदि उसे अपना कुल देवता मान कर पूजने लगे। चमारकी भक्तिने उसे यह अधिकार दिलवाया कि जब चाँदनपुरमें वार्षिक रथयात्रा होती है तो उस चमारके वंशज ही पहिले रथको चलाते हैं। कहते हैं कि मूल प्रतिमा पहले उस चमारके छू लेनेके बाद ही मन्दिरजीमें विराजमान की जा सकी थी। इस दैवी चमत्कारको यदि वास्तविक घटना माना जाय तो कहना होगा कि देवता आज भी एक भक्तवत्सल शूद्रको जन्मजात श्रावकोंसे श्रेष्ठ समझते हैं!

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि जैन शासनमें गुण पूज्य है, जातिका वहाँ कुछ महत्व नहीं है। अछूत भी वहाँ सम्यग्दर्शन पा कर देवतुल्य होजाता है। इस लेखका शेषांश आगे प्रकट किया जायगा। उसमें और भी सन्तपुरुषोंके चरित्र होंगे, जो जन्मसे नीच माने गये हैं।

साहित्य परिचय।

कुर्मी-जाति निर्णय—लेखक—बा० करुणाशङ्कर पँवार, सागर (मेवाड़ा); प्रकाशक, क्षत्रियरिसर्च सोसाइटी एलगिन रोड, दिल्ली। मूल्य ॥)

जब से वर्णव्यवस्थामें ऊँचनीचका भूत घुसा, मनुष्यके गुणोंको गौणस्थान और बापदादोंके नामको मुख्यस्थान मिला तब से सभी लोग अपनी जातिको उच्च साबित करनेके लिये एड़ीसे चोटी तक पसीना बहारहे हैं। कृषि करने वाली कुर्मी जाति अपनेको क्षत्रिय सिद्ध करनेके लिये ऐसाही परिश्रम कर रही है। गोरखपुर ज़िलेके एक कुर्मी नरेश इस विषयमें बहुत कोशिश कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसके विरोधमें लिखी गई है। इसमें कुर्मियोंको शूद्र साबित किया गया है। इसके लिये पर्याप्त प्रमाण दिये गये हैं। राजाबहादुर पडरौना (गोरखपुर) को आपने शूद्र साबित करनेकी पूरी कोशिश की है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात ठीक कही जासकती है परन्तु लेखकका मुख्य ध्येय यह मालूम होता है कि कुर्मी लोग क्षत्रिय महासभामें घुसकर अपनेको क्षत्रिय साबित न करालें। इस युगमें दोनोंके ये प्रयत्न मूर्खतापूर्ण है। कोई अपनेको क्षत्रिय साबित करे या दूसरोंको शूद्र, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि गुलाम देशमें क्षत्रिय नहीं होते। यदि इस व्यापक दृष्टिसे विचार न किया जाय तो भी इतना विचार तो करना चाहिये कि किसी जातिको ज़बर्दस्ती क्षत्रिय सिद्ध करनेसे क्या फ़ायदा है और जो घराना पीढ़ियों से राजपदपर आसीन है उसे शूद्र किस हैसियत से कहा जाता है? राजाभी शूद्र कहलावे और रोटी पकानेवाला ब्राह्मण कहलावे, मज़दूरी करने वाला क्षत्रिय कहलावे तो वर्णव्यवस्थाका कुछ अर्थ ही नहीं रहता। एक और मज़ेकी बात है कि कोई महाभारतके समयसे, कोई रामायणके समयसे अपनी वंश परंपरा बताते हैं। परंतु यह सब भूलजाते हैं कि सम्राट अशोकके बाद करीब एक हज़ार वर्ष तकके लिये सभी वर्ण नष्ट होगये थे। शङ्कराचार्य आदिने जब पुनर्निर्माण किया तब वर्ण जातिकी पुरानी व्यवस्थाओंसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहगया था। इस पुस्तकका यह लक्ष्य मालूम होता है कि कुर्मियोंको शूद्र मानकर कुर्मी राजाओंके साथ भी क्षत्रिय लोग रोटीबेटीव्यवहार न करें। परन्तु यह बहुत खराब लक्ष्य है। जिस समय वर्णव्यवस्था सुव्यवस्थित थी उस समयभी इतने कठोर बन्धन नहीं थे, फिर आज वर्णव्यवस्था है कहाँ? कुर्मियोंको चाहिये कि वे फ़िज़ूल ही ऐसी कोशिश न करें। अगर कोई उन्हें शूद्र साबित करता है तो इसमें उनका गौरव ही है। जो मनुष्य एक दिन शूद्र था और आज राजा है, उसका पुरुषार्थ प्रशंसनीय है। शर्मकी बात तो है उनके लिये, जो अपने को रामकृष्णके वंशज कहते हैं और गुलामी करते हैं। हमारे ख़याल से कुर्मी लोग वैश्य हैं क्योंकि वे कृषि करते हैं। कृषि और वाणिज्य वैश्योंका कर्म है। लेखकने कुर्मियोंके विषय में एक बात यह कही है कि इनमें विधवाविवाह आदिका रिवाज़ है, इसलिये ये शूद्र हैं। परन्तु विधवा-विवाहका रिवाज़ चारों वर्णोंमें रहा है और दक्षिणके जैनियोंमें आज भी ये रिवाज़ पाये जाते हैं; परन्तु वे वैश्य हैं।

अन्तगड़ाणुत्तरोववाइयदसाओ—सम्पादक एम० सी० मोदी एम० ए० एलएल० बी०। प्रकाशक शम्भुलाल जगसी गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय गांधीरोड अहमदाबाद।

इसमें सूत्रसाहित्यके अष्टम और नवम अंक हैं। सम्पादन अंग्रेज़ीमें हुआ है। प्रारम्भमें चालीस पृष्ठका सुन्दर विवेचनामय Introduction है, फिर मूलपाठ, फिर अभयदेवकृत वृति बादमें अंग्रेज़ी अनुवाद, फिर विशेष शब्दोंपर नोट हैं। पीछे वर्णकादि विस्तार भी दिया है। बम्बई यूनिवर्सिटीकी इन्टर कक्षाके लिये यह पुस्तक चुनीगई है, इसलिये कालेजके छात्रोंके लिये यह बहुत अच्छी आवृत्ति है। आजकल जब कि सूत्रसाहित्य की पुस्तकें मुश्किलसे मिलती हैं, संस्कृत पाठक भी इससे लाभ उठा सकते हैं; और अंग्रेज़ी जाननेवालोंके लिये तो पूरी सुविधा है।

जातिनिर्णय संवाद-लेखक और प्रकाशक गणपतिराय अग्रवाल। १६१।१ हरिसन रोड कलकत्ता। मूल्य।)

वैदिकधर्मीय शास्त्रोंके अनुसार इस पुस्तकमें जातिके विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। पुस्तक प्रश्नोत्तररूपमें है इसलिये समझनेमें और सुविधा है। इसमें जन्मसे जातिका विरोध और वास्तविक जातिकी उपपत्ति बतलाई गई है। पुस्तक पठनीय है।

अकलंक चरित—लेखक चतुर्भुज मोदी भिषगरत्न प्रकाशक भागचन्द मोदी मुकाम गाँगई पो० चीचली (गारड़वास सी० पी०) मूल्य ।)

आराधना कथाकोषके आधारपर राधेश्याम तर्जमें अकलंकभट्टका चरित लिखा गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस कथाका मूल्य कुछ नहीं है। समय भी ऐसी कथाओंके अनुकूल नहीं है। कवित्व और भाषाकी प्रौढ़ता नहीं के बराबर है। फिर भी अल्पशिक्षित लोग इससे अपना कुछ मनोरंजन कर सकते हैं।

गायनगोष्ठी—लेखक, चन्द्रसेन जैन वैद्य इटावा। प्रकाशक, जैन युवकसंघ इटावा। लेखककी सूचना है कि 'ये हमारे हृदयके उद्गार हैं, कवियोंकी छन्द शास्त्रानुसार अलङ्कारयुक्त कविता नहीं।' इस सूचनाद्वारा लेखकने अपनी समालोचना आपही करदी है। सचमुच ये लेखकके उद्गार हैं और उच्छे उद्गार हैं। आपके उद्गार समाजमें गानेलायक हैं। मूल्य-सप्रेम गायन।

मोक्षमार्ग प्रकाशक (द्वितीय, भाग)—लेखक, ब्र० शीतलप्रसादजी। प्रकाशक, मूलचन्द किशनदास कापड़िया। दिगम्बर जैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन सूरत। मूल्य २) रु०

स्व० पण्डितप्रवर टोडरमलजीका मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ समाजमें सुप्रसिद्ध है। दुर्भाग्यसे वह ग्रन्थ अधूरा रहगया। ब्रह्मचारीजीने उसकी पूर्ति की है। टोडरमलजीके समयसे आजके समयमें बहुत अन्तर है। टोडरमलजीकी संगतिभी नहीं मिल सकती है। ऐसी अवस्थामें पूर्वार्धके अनुरूप उत्तरार्ध कैसे होसकता है? फिरभी ब्रह्मचारीजीने लिखनेमें परिश्रम किया है, और एक स्वाध्यायोपयोगी पुस्तक पाठकोंके हाथ में दी हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारपर कर्मप्रकृतियोंका अच्छा विवेचन किया गया है। हमारे ख्यालसे इस ग्रन्थको किसीका उत्तरार्ध न बनाना था क्योंकि इससे अपने विचारोंपर बन्धन लग जाता है। इस बन्धनसे रहित होकर कुछ मौलिकतासे ग्रन्थ लिखाजाता तो अच्छा था। फिर भी ग्रन्थ स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये उपयोगी है।

शाकद्वीपीयब्राह्मण बन्धु (साहित्याङ्क)—सम्पादक सत्यव्रत शर्मा 'सुजन,' प्रकाशक प्राणशङ्करकुँवरजी शर्मा १६ बी० बाबुलनाथ चाल कमरा नं० ४२ चौपाटी बम्बई। वार्षिक मूल्य २॥) इस अंकका मूल्य १) रु०

यद्यपि यह एक उपजातिका पत्र है परन्तु इस अंकके प्रायः सभी लेख सर्वोपयोगी हैं। अच्छी साहित्यिक सामग्री एकत्रित की गई है। फिरभी गम्भीर लेखोंकी कमी है। एक लेखमें शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंको उस दिनका सिद्ध किया गया है जिस दिन यह दुनियाँ भगवानने बनाई थी। ऐतिहासिक जगत्में ऐसे विचार शेखचिल्लीके विचारके समान हैं और आज ऐसे जातीयअहंकारयुक्त विचारोंकी आवश्यकता नहीं है। साथ ही प्राचीनताको अनुचित महत्त्व न देना चाहिये। अगर इतनी उदारता न हो तो ज़रा विस्तारपूर्व प्रबल प्रमाणोंसे अपनी बात सिद्ध करना चाहिये। साथ ही इस विषयके अन्य मतोंकी आलोचना करना चाहिये। उदाहरणार्थ शाकद्वीपीय ब्राह्मणोंका सम्बन्ध सुप्रसिद्ध शक नामक अनार्य जातिसे है ऐसी मान्यता प्रचलित है। इसपर विचार करना चाहिये था। खैर, एक पत्रके इस लेखसे विशेषांककी उपयोगिता कम नहीं होजाती। विशेषांक अच्छा निकला है और पठनीय है।
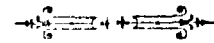
"सत्य ही जीवन है और ज्योंही यह किसी मानव व्यक्तिमें अपना घर करलेता है त्योंही यह अपने को फैला लेता है। बहुधा मूक आचरण सबसे अधिक प्रभावशाली वक्तृताका काम करता है। कार्यकर्ताओंको इसीलिए अपने में और अपने उद्देश्य में जीती जागती श्रद्धा रखनी चाहिए।" —महात्मा गाँधी।

प्रति चैलेंजका प्रत्युत्तर

हिन्दी जैनगजटके फागण सुदि ५ वी० नि० सं० २४५९ के अङ्कमें बेलगाँव जिलेके आसपास के कुछ जैन भाइयोंकी सहीसे 'खुला चैलेंजका प्रति चैलेंज' शीर्षक एक विज्ञप्ति निकली है जिसमें बहुत से असभ्य शब्दों द्वारा हमारे 'खुला चैलेंज' शीर्षक पर्चेका जवाब देनेकी कोशिश की गई है और जब असत्य बातोंका जवाब देते बन न पड़ा तो कुछ इधर उधरकी बातें लिख कर और गाली-गलौज कर लोगोंको भ्रममें डालनेकी कोशिश की है। श्री शांतिसागरजीके अन्धभक्तोंसे इसप्रकारकी बातके सिवा दूसरी आशा भी नहीं की जासकती।

'खुला चैलेञ्ज' शीर्षक पर्चेका मुख्य मुद्दा (Main Issue) यह था कि श्री शान्तिसागरजीकी जातिमें विधवाविवाह खुलेआम प्रचलित है, पर इस खास बातका कोई सीधा जवाब न देकर 'प्रति चैलेंज' के लेखक यह लिखकर टालमटूल करते हैं कि "महाराजके वंशमें पूर्वपरम्परासे विधवापुनर्विवाह सरीखी धर्मविरुद्ध बातें कभी भी नहीं हुई हैं।

श्री शान्तिसागरजीके बापदादोंने कभी किसी विधवासे विवाह किया या नहीं, इसकी जाँच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय तो सवाल यह है कि शान्तिसागरजीकी जातिमें विधवाविवाह प्रचलित है या नहीं? और अपने आपको पाटील बता कर वे जातिसे जुदा कैसे हो सकते हैं? हमारे यहाँ जयपुरमेंभी अजैनोंमें ऐसी कई जातियाँ हैं कि जिनके यहाँ आम तौर पर विधवाविवाह प्रचलित है। उन जातियोंमें भी जो बड़े आदमी, जागीरदार या मालदार हैं उनके घरोंमें प्राय: विधवाविवाह नहीं होता, मगर क्या वे लोग श्री शान्तिसागरजीकी तरह यह कहनेका साहस कर सकते हैं कि हमारे कुलमें विधवाविवाह नहीं हुआ अत: हम हमारी जातिसे ऊँचे या अलग हैं? यह हिम्मत तो श्री शान्तिसागरजी जैसे महाव्रतधारी आचार्य (!) में ही हो सकती है। साधारण व्यक्तियों में इतनी हिम्मत कहाँ से हो?

श्री शान्तिसागरजी कहते हैं कि जिस जातिमें विधवाविवाह होता है वह शूद्र है। इस व्याख्याके अनुसार चतुर्थ जातिमें, जिसमें विधवाविवाह आम तौर पर प्रचलित है, उत्पन्न होनेके कारण श्री शान्तिसागरजी अपने आपके बारेमें क्या कहेंगे?

उनका अपने आपको पाटील जाहिर कर यह कहना कि पाटीलोंमें विधवाविवाह नहीं होता, सत्य व्रतका स्पष्ट भंग है। हम 'प्रति चैलेंज' के लेखकों से यह निवेदन करते हैं कि वे दूसरी चर्चामें पड़ने के पहिले ज़रा निम्नलिखित प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कृपा करें।

१—चतुर्थ जातिमें विधवाविवाह बिना रोक-टोक आम तौर पर प्रचलित है या नहीं?

२—शान्तिसागरजीके कुलवालोंका वैवाहिक सम्बन्ध चतुर्थ जातिवालोंके साथ होता है या नहीं यानी इनके कुलके पुरुषोंका विवाह चतुर्थ जातिवालों की लड़कियोंके साथ और इनके कुलकी कन्याओं का सम्बन्ध चतुर्थ जातिवाले पुरुषोंके साथ होता है या नहीं?

३—जिन कुटुम्बोंमें विधवाविवाह हो चुका है, ऐसे कुटुम्बों से श्री शान्तिसारजीके कुलका वैवाहिक सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो शान्तिसागर जी अपने आपको अलग कैसे बता सकते हैं?

४—दूधगाँवके गाँव कामगार पाटील श्री शाम गोडा पाटीलकी धर्मपत्नीका जन्म पुनर्विवाहित माता

से हुआ है या नहीं ? और उनके हाथसे खुद शान्तिसागरजीने आहार लिया है या नहीं ?

५—दानोली (कोल्हापुर स्टेट) के सोलह आनेके मालगुजार पाटीलका जन्म पुनर्विवाहितोंके उदर से हुआ है या नहीं ?

६—दूधगाँव, समडोली, कुंभोज, नाँदणी आदि गाँवों के पाटीलोंमें विधवा पुनर्विवाह हुये हैं, ऐसा आप मानते हैं या नहीं ?

७—"खास भीज (चिकौटी) गाँवमें ही जिनगौड़ा पाटील नामके शान्तिसागरजीके भाई हैं,उनके लड़केका विवाह जयसिंहपुरकी एक विधवाके साथ हुआ है—यह बात श्रीशान्त गौड़ाथीगिर गौड़ा पाटील ने बैरिस्टर चम्पतरायजीसे कही थी, ऐसा जैनजगत ता० १६फरवरी १९३० में प्रकाशित हुवा है। इसकी सत्यताके बारेमें आपका क्या कहना है ?

इन बातोंका स्पष्ट उत्तर मिलने पर आगे की कार्रवाई की जायगी। यों कोरी काग़ज़ी कार्रवाई और गोलमोल जवाबातसे काम नहीं चल सकता श्री शान्तिसागरजीका सब असली रहस्य खुल चुका है। जिन आचार्य महाराज (!) की तारीफोंके इतने पुल आप बाँध रहे हैं, वे जब स्वयं ही अपने हाथों अपनी पोल खोलते चले जा रहे हैं तो आप लोग कहाँ तक सहारा देंगे ? अच्छा होता, यदि आपलोग उन्हें दक्षिणमें ही रहने देते और उत्तर प्रान्तकी ओर न आने देते। शायद इससे उनकी पोल इतनी जल्दी बाहिर न आती। उनकी हालकी लीलाओंमें से एक नमूना आपकी जानकारीके लिए पेश किया जाता है। जयपुरके एक मोअज्जिज़ सज्जन एक दिन रैणवाल में महाराजके दर्शनके लिए गये। यह सज्जन आचार्य महाराज (!) की आज्ञाके विरुद्ध कुछ ही दिन पहिले सुधारक पक्षमें शामिल होगये थे। बस, उन्हें देखते ही महाराज का पारा तेज़ होगया। कुछ देरतक उन सज्जनको बुरा भला कहते रहे और अन्तमें आपके तौर पर बोले कि "तेरे लड़केको कोढ़ निकलेंगे और वह गल गल कर मरेगा"। वे सज्जन यह सुनते ही वहाँ से उठ कर आगये। इस बातसे उनके व दूसरे लोगों के दिलोंमें महाराजके प्रति जो कुछ भाव पैदा हुये वह हरएक अनुमान कर सकता है। 'तू नरकमें जायगा'—यह तो महाराज ज़रा ज़रा सी बातमें नाराज़ होकर चाहे जिसे कह देते हैं। जिसकी ज़ुबान इतनी बेक़ाबू हो वह कितने दिन तक अपनी इज्ज़त क़ायम रख सकता है ? महाशयो ! दक्षिणमें बैठे रह कर महाराजकी जातिकी शुद्धताके बारेमें औंधी सीधी बातें लिखते रहनेके बजाये ज़रा उत्तरमें आकर महाराजको अपना व्यवहार सुधारनेके लिए समझाइये। महाराजके खानपीन आदि चारित्र के विषयमें हमको कोई विशेष शिक़ायत नहीं, पर ख्यातिलाभ, पूजाकी इच्छाका जो प्रबल रोग उन्हें लग गया है और उसके कारण जो वे सच्चे श्रद्धानके समीप नहीं पहुँच पाते हैं, उससे उनको छुटकारा दिलाना बहुत आवश्यक है। यदि आप महाराजके सच्चे भक्त हैं तो इस ओर प्रयत्न कीजिये और धर्म प्रभाव के नाम पर जो वे जगह जगह जैन समाज में दलबंदियाँ और अजैनोंसे सम्बन्धविच्छेद कराते चले जारहे हैं, उससे समाजकी रक्षा कीजिये; वरना इससे महाराजकी तो अपकीर्ति होती ही है, साथ में जैन समाज का भी बड़ा अहित हो रहा है।

आप लोगोंने लिखा है कि हमने हमारे 'खुला चैलेंज' शीर्षक पर्चेमें दो बातें लिखी हैं, (१) श्री शांतिसागर महाराजका जन्म पंचम जातिमें हुआ है;' (२) 'दक्षिणमें अछूत समझे जाने वाले पंचम जात जैन समाजमें हैं'। इन दोनोंमें पहिली बातमें अलबत्ता भूल हुई है। हमें मालूम है कि श्री शांतिसागरजीका जन्म चतुर्थ जातिमें हुआ है—पंचममें

नहीं। हमने हमारे ड्राफ्टमें केवल इतना लिखा था कि "दर असल आचार्य महाराज (!) की जातिमें विधवाविवाह खुले आम होता है........," पर हमारे एक मित्र महोदयने उसमें संशोधन कर यह लिख दिया कि "दर असल पंचम जातिमें जिसमें महाराजका जन्म हुआ है, विधवाविवाह खुले आम होता है........, '। उनके इस भ्रमका कारण यह था कि महाराजके भक्त लोग भी उन्हें पंचम जाति में उत्पन्न मानते हैं। महाराजके भक्तोंद्वारा रचित 'संघ पूजा' नामक पुस्तकमें शांतिसागरजीकी पूजामें जयमालामें पृष्ठ १७ लाइन ९-१०-११ में यह लिखा है; "वर भोज नगरि प्रासाद खान, राष्ट्र सुदक्षिणमें विद्यमान। तुम जनक भीमगौड़ा सुख्यात, पाटील गोत **पञ्चम सुजात**। तिन घर जन्मे तुम सच्चरित्र........'। इसी पाठ से नित्य प्रति आचार्य महाराज अपनी पूजा करवाते हैं। ऐसी हालतमें हमारे मित्र महाशयका उनकी जाति 'पंचम' समझ लेना अस्वाभाविक न था और इसी कारण उन्होंने उपर्युक्त संशोधन कर प्रेसको दे दिया। इस भूलका यही कारण है।

दूसरी बातके लिए हम नहीं समझते कि 'प्रति चैलेंज' के लेखकोंको यह बात हमारे 'खुले चैलेंज' में कहाँ मिली। ऐसा हमने कहीं भी नहीं लिखा है। हाँ, इतनी बात तो है ही कि दक्षिणमें पंचम नामक हिन्दू जाति है, कि जो अछूत समझी जाती है; पर जैन पंचम अछूत नहीं समझे जाते। कुछ इतिहासकारोंका ऐसा मत है कि किसी जमानेमें ये दोनों पंचम एक ही थे। जैनधर्मके सिद्धान्तोंके अनुसार कोई अछूत हो ही नहीं सकता। और हर-एक मुमुक्षु प्राणीको अपने अंकमें आश्रय देनेवाले इस विशाल (जैन) धर्मके अनुयायियोंमें स्पृश्यास्पृश्यका जो इतना विचार फैला है वह केवल अन्य हिन्दुओंके संसर्गके कारण। आशा है कि हमारे उपर्युक्त वक्तव्य से 'प्रतिचैलेंज' देने वाले हमारे भाइयोंमें विवेककी जागृति होगी और वे शाब्दिक जालसे लोगोंमें भ्रम फैलाने की कोशिश छोड़कर श्री शांतिसागरजी को सही रास्ते पर लाने की कोशिश करेंगे।

जिन दक्षिणस्थ जैन जातियोंमें आम तौर पर विधवाविवाह चालू है, उन्हें किसी भी प्रकार हीन या पतित बतानेका हमारा जरा भी अभिप्राय नहीं है। यह प्रश्न तो केवल इस बातसे पैदा हुआ है कि श्री शांतिसागरजी अपने आपको चतुर्थ जाति से अलग बताकर लोगोंको भ्रममें डालनेका दुष्प्रयत्न करते हैं।

निवेदक—

कर्पूरचन्द्र पाटणी मन्त्री

श्री वीर सेवक मण्डल, जयपुर।

प्रार्थना।

भगवन् दीजे सुन्दर ज्ञान पंच कहलाने वालों को ॥ टेर ॥
पंचायत की काण नहीं है, न्याय नीति पर ध्यान नहीं है।
बैठें जाजम ढाल फालतू बकने वालों को ॥ १ ॥
जितनी खोटी रीतें जारी, यह सब इनकी है बलिहारी।
सुधार करें नहीं करने दें पर लड़ने वालों को ॥ २ ॥
धरम धरम चिल्लाते फिरते, छल से परके धन को हरते।
मंदिर में जा अबलाओं को तकने वालों को ॥ ३ ॥
तीर्थों पर जा गरभ गिराते, पाप कृत्य से नहीं लजाते।
धर्मवीर कहलाने वाले माया वालों को ॥ ४ ॥
संस्थाओं का द्रव्य हड़प कर, दानवीर कहलाते हैं पर।
शीघ्र सुधारो नाथ दुष्ट कटु नीती वालों को ॥ ५ ॥
जाति मान मर्यादा हरते, बने जाति भूषण यह फिरते।
रचकर नित षड्यन्त्र पाप पग धरने वालों को ॥ ६ ॥
कहाँ तक इनकी राम कहानी कहें प्रभू नहीं तुमसे छानी।
गले माल कर तिलक भाल जग ठगने वालों को ॥ ७ ॥
इन पंचोंसे जाति दुखी है "जाहिल" कर प्रभुभक्ति सुखी है।
आन बचाओ नाथ! नरक में पड़ने वालों को ॥ ८ ॥

—"जाहिल" अजमेर।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ १६ अप्रेल सन् १९३३ अङ्क १२

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र ।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र ।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र ।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" ॥—श्रीहरिभद्र सूरि ।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग़ तारदेव, बम्बई.

प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर ।

अजमेरमें महावीर—जयन्ती उत्सव ।

गत दो तीन वर्षोंसे यहाँ श्री जैसवाल दिगम्बर जैन सभाकी ओरसे श्री महावीर जयन्ती उत्सव मनाया जाता है जिसमें केवल दिगम्बर जैन व्यक्तिही शरीक होते हैं । अबकी बार उनकी इच्छा हुई कि उत्सव विशेष समारोह से किया जाय तथा उसमें भागलेनेके लिये जैनधर्मान्तर्गत तीनों सम्प्रदायवालोंको आमन्त्रित किया जाय । तदनुसार उत्सवका प्रोग्राम निश्चित कर निमन्त्रणपत्र भिजवा दिये गये । प्रोगाममें मिती चैत्र शुक्ल १३ ता० ८ अप्रेल को रथयात्रा निकालना नियत था और उसके लिये श्री० रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीसे रथ आदि माँगे गये थे । सेठ साहिबने यद्यपि पहिले सब सामान देनेका वादा कर लिया था किन्तु बादमें सम्मिलित उत्सवकी आयोजनामें उन्हें 'धर्म ख़तरेमें' दिखाई दिया और इसलिये जैसवाल सभावालोंको रथ आदि सामान न देनेकी धमकी देकर उनसे एक अलग नोटिस निकलवाया गया जिससे रथयात्रा में केवल दिगम्बरजैनधर्मावलम्बियोंको सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित किया गया । समझमें नहीं आता कि रथयात्रामें दिगम्बरेतर जैनों व अजैनोंके शरीक होनेसे दिगम्बरधर्मको क्या आघात पहुँचता था ? ख़ैर !

ता० ७ अप्रेल की रात्रि को श्रीमान बा० हेमचन्द्रजी सोगाणी बी० ऐससी० ऐलऐल० बी० ऐडवोकेट के सभापतित्व में पहिली सभा हुई । उसमें श्रीमान पं० बनारसीदासजी शास्त्री, पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ, पं० विद्याकुमारजी न्यायतीर्थ, मा० राजमलजी, पं० सुखलालजी आदि तीनों सम्प्रदायोंके विद्वानोंके भाषण हुए । श्रीमान पं० बनारसीदासजी ने महावीरस्वामीकी स्तुति करते हुए अछूतोद्धार आन्दोलनके सम्बन्धमें भी अपने उद्गार प्रकट किये और उसको जैनधर्मके विरुद्ध बतलाया; किन्तु श्रीमान पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थने अनेक शास्त्रप्रमाण व उदाहरण देकर अछूतोद्धार आन्दोलनको जैनधर्मानुकूल प्रतिपादन किया । कुछ असहिष्णु लोगोंमें इससे उत्तेजना फैली और वे बीचमें ही उठकर चले गये और रथयात्राके लिये सामान न देनेके लिये सेठ साहिबको फिर भड़काया । जैसवाल भाइयोंको रथयात्राका अत्यन्त मोह था और उनकी दृष्टिमें जैनधर्मकी प्रभावना सेठ साहिबके रथोंसे ही होसकती थी । आख़िर बड़ी ख़ुशामदके बाद सामान मिला तो सही लेकिन इस शर्त पर कि आगेकी सभाओंमें पंडितपार्टीके वक्ताओंके अलावा और किसीको बोलनेका मौक़ा नहीं दिया जावेगा ।

ता० ८ अप्रैल की रात्रिको दूसरी सभा हुई। ८ बजेका समय दिया गया था, किन्तु ९॥ बजेतक कार्य प्रारम्भ नहीं किया गया। आजकी सभाके लिये श्रीमान ब्र० कुँवर दिग्विजयसिंहजी प्रमुख वक्ता थे परन्तु सभापति पद पर भी उन्हीं को बैठा दिया गया। श्रीमान पं० बनारसीदासजी व पं० सुखदेवजी के पश्चात् ब्रह्मचारीजी का भाषण हुवा। रातके ११ बजे तक इधर उधरकी बातों में समय व्यतीत करनेके बाद आपने अछूतोद्धार आंदोलनके बहाने सुधारकों पर आक्षेप करने प्रारम्भ किये। साथही इतनी चालाकी और कीगई कि अपना भाषण समाप्त करते हुए ही आपने सभा भी विसर्जन करदी ताकि कोई उनके आक्षेपों के विषयमें कुछ न कहसके। तथापि श्रीमान पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ व मैंने ब्रह्मचारीजीकी इस कार्यवाहीके प्रति असन्तोष प्रकट किया। ब्रह्मचारीजी महाराजने फ़रमाया--सभाओं का यह क़ायदा होता है कि सभापतिके भाषणका विरोध नहीं किया जाता; अतः आप लोग मेरे भाषणके विरोधमें कुछ नहीं कह सकते। बहुत इच्छा हुई कि ब्रह्मचारीजी से पूछूँ कि—महाराज, गतवर्ष देहलीमें जीवदया प्रचारिणी सभाके सभापति श्रीमान समाजभूषण सेठ ज्वालाप्रसादजी साहबके भाषणके विरोधमें आपने व आपकी मंडलीने बीच सभामें जो वितण्डावाद फैलाया था, क्या उस समय आप इस नियमसे नावाकिफ़ थे? या आज सभापति पद की ओट में अपना बचाव करनेके लिये ही उसकी दुहाई दी जारही है? किन्तु खैर, सब मामलेसे भलीभाँति वाकिफ़ होते हुए भी मैंने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा कि—अच्छा महाराज, हम आपकी आज्ञा स्वीकार करते हैं किंतु क्या हम आशा करें कि कल हमें आपके आक्षेपोंका प्रतिवाद करनेका अवसर दिया जावेगा? इस पर ब्रह्मचारीजी खुल पड़े—कहने लगे, आप और किसी जगहसे चाहे जो कहें, यहाँ आपको बोलनेका अवसर नहीं दिया जा सकता। वास्तवमें दिग्विजयसिंहजीको ऐसा कहनेका कोई अधिकार नहीं था, वे तो केवल उस दिनकी सभा के सभापति थे, उत्सवके संयोजक नहीं। लेकिन इससे उनके हृदयका पता लग गया। शास्त्रार्थसंघके प्रचारकमें इतनी असहिष्णुता कि अपने सम्प्रदायवालोंके मतभेदको भी बर्दाश्त न कर सके, तथा अपनेसे भिन्न विचारवालों के प्रति इस प्रकार दमननीतिका व्यवहार करे, अवश्यही अक्षन्तव्य है। कहाँ तीनों सम्प्रदायोंके सम्मिलित उत्सवकी आयोजना और कहाँ इतनी सङ्कुचिता कि उसमें एक सम्प्रदायके लिये भी गुंजाइश न रही!

इन लोगोंका निश्चित प्रोग्राम पूरा हो जानेके बाद ता० १० अप्रैल को श्री जैनयुवकमंडलकी ओर से श्रीमान बा० हेमचन्द्रजी सोगाणी ऐडवोकेटके सभापतित्वमें एक व्याख्यान सभाकी आयोजना कीगई जिसमें श्रीमान् पं० बनारसीदासजी शास्त्री, ब्र० कुँवर दिग्विजयसिंहजी, बा० ज्योतिप्रसादजी सम्पादक जैनप्रदीप पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ सहसम्पादक 'वीर' सेठ राजमलजी ललवाणी भूतपूर्व ऐम० ऐल० सी० पं० कृष्णचन्द्रजी (शान्तिनिकेतन) पं० सज्जनसिंहजी सम्पादक "जैनपथप्रदर्शक" प्रभृति तीनों सम्प्रदायों के विद्वानों को "श्री वीर प्रभुका संदेश" सुनानेके लिये आमन्त्रित किया गया। अजमेर जैनसमाजके लिये यह आयोजन अपूर्व था और वह पूर्ण सफल रहा। श्रीमान पं० बनारसीदासजी अपने आश्रयदाता सेठ टीकमचन्दजी साहब से अनुमति न मिलसकने के कारण नहीं आसके। शेष वक्ताओंने अपने अपने दृष्टिकोणसे श्री महावीरस्वामीकी स्तुति करते हुए उनके प्रमुख सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक प्रतिपादन किया। श्रीमान पं० शोभाचन्द्रजीने वर्ण और जाति के विषयमें विशेष प्रकाश डाला और ता० ८ अप्रैल की सभामें ब्र० दिग्विजयसिंहजी द्वारा किये गये आक्षेपोंका प्रतिवाद किया। नियत व्याख्यानोंके पश्चात् श्री० ब्र० दिग्विजयसिंहजीने अपनी स्थिति स्पष्ट करनेके लिये विशेष समय माँगा जो सहर्ष दिया गया। इस अवसरपर ब्रह्मचारीजीने शोभाचन्द्रजीको शास्त्रार्थके लिये चैलेंज दिया और शोभाचन्द्रजी द्वारा वह उसी समय स्वीकार कर लिया।

शास्त्रार्थके विषयमें उपरोक्त दोनों विद्वानोंमें परस्पर पत्रव्यवहार होरहा है। ब्रह्मचारीजी दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघकी ओरसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। आपका मन्तव्य है कि वर्ण व जाति व्यवस्था धार्मिक है तथा उसका जन्म

(शेष आगे पृष्ठ २८ कॉलम २देखें)

जैनधर्म का मर्म ।

(२५)

युक्त्याभासोंकी आलोचना ।

सर्वज्ञताके विकृत स्वरूपको सिद्ध करनेके लिये प्राचीन और नवीन लेखकोंने अनेक युक्त्याभासोंका प्रयोग किया है। सत्यकी खोजके लिये उनपर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। प्राचीन लेखकोंने इस कल्पित सर्वज्ञत्वकी सिद्धिके लिये बहुत कोशिश की है, परन्तु आत्मवञ्चनाके सिवाय उसमें और कुछ नहीं है। प्राचीन आस्तिक दर्शनोंमे मीमांसक दर्शन सर्वज्ञत्वका कट्टर विरोधी है। प्राचीन लेखक इस विषयमें इसी दर्शनके विरुद्ध खड़े हुए हैं। मीमांसक दर्शनकी कमज़ोरियोंसे लाभ उठाकर उनने सर्वज्ञ-सिद्धि की है। परन्तु मीमांसक दर्शनके खण्डनसे सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नहीं होती। मीमांसकदर्शन सर्वज्ञ तो नहीं मानता परन्तु इसके स्थानपर वेद मानता है, और अतीन्द्रिय बातोंका ज्ञान इसीसे करता है, तथा वेदकी प्रमाणताका आधार अपौरुषेयत्व मानता है। उसे सर्वज्ञत्वके खण्डनके साथ वेदकी इस विचित्रता का मण्डन भी करना है, यही उसकी कमजोरी है। इसलिये मीमांसकके सामने जिन युक्तियोंका मूल्य है उनका मूल्य एक निःपक्ष विचारकके सामने नहीं के बराबर हो सकता है। खैर, इस विषयमें अलौकिक सर्वज्ञसिद्धिके लिये जो युक्तियाँ दी गई हैं उन परही विचार किया जाता है। यह विषय सरलताके लिये प्रश्नोत्तरके रूपमें लिखा जाता है।

प्रथम युक्त्याभास।

प्रश्न – जगत्‌के समस्त पदार्थ किसी न किसीके प्रत्यक्षके विषय हैं क्योंकि वे अनुमानके विषय हैं। जो अनुमानका विषय है वह किसी न किसीके प्रत्यक्ष का विषय है जैसे अग्नि आदि। जिसके प्रत्यक्षके विषय हैं, वही सर्वज्ञ * है।

उत्तर—पहिले तो यह व्याप्ति ही ठीक नहीं है कि जो अनुमानका विषय हो, वह प्रत्यक्षका विषय भी होना चाहिये। जब तक यह व्याप्ति सिद्ध न हो जाय तब तक इसके आधार पर कोई अनुमान कैसे खड़ा किया जा सकता है? चुम्बककी आकर्षणशक्ति, विद्युत वगैरह अनुमेय (अनुमानके विषय) तो हैं परन्तु वे प्रत्यक्ष नहीं हैं साधन से साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। साधन, साध्यका कार्य, कारण, सहचर, पूर्वचर, उत्तरचर, आदि अनेक रूप होता है। अगर यह नियम हो कि जिसके कार्य आदिका प्रत्यक्ष हो उसका प्रत्यक्ष भी होना चाहिये तो यह (अनुमेय

* सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः ॥ ५ ॥
—आप्तमीमांसा।

की गई है। और कुछ युक्तियाँ है परन्तु वे भी ठीक नहीं है। संक्षेपमें उनकी आलोचनाभी की जाती है।

द्वितीय युक्त्याभास।

प्रश्न—'त्रिकाल-त्रिलोकमें कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा कहनेवालेने अगर त्रिकाल-त्रिलोक नहीं देखा तो उसके वचनोंका मूल्य ही क्या है? अगर उसने त्रिकाल-त्रिलोक देखकर सर्वज्ञत्वका अभाव बतलाया है तब तो वहीं सर्वज्ञ हुआ; क्योंकि त्रिकाल-त्रिलोक-ज्ञाता ही सर्वज्ञ है। इसलिये सर्वज्ञ हुए बिना कोई सर्वज्ञत्वका अभाव नहीं बतला सकता। और सर्वज्ञ होकर कोई सर्वज्ञत्वका अभाव कैसे बतायगा?

उत्तर—किसी वस्तुका अगर अभाव सिद्ध न भी किया जासके तो इसीसे उसका सद्भाव सिद्ध नहीं होजाता है। सद्भावसिद्धिके लिये प्रमाण देना पड़ते है, अगर सद्भावसिद्धि न की जा सके तो तब तक उसका अभाव ही माना जायगा।

प्रश्न—हमारे हाथमें एक फल है। एक लाख वर्ष बाद इस फलके परमाणुओंका क्या होगा, यह हम नहीं जान सकते। तब क्या इससे यह कहा जासकता है कि इन परमाणुओंका कुछ होगा ही नहीं?

उत्तर—एक लाख वर्ष बादकी अवस्था क्या होगी यह हम भले ही सिद्ध न करसकें, परन्तु इतना तो सिद्ध कर सकते हैं कि कोई न कोई पर्याय अवश्य होगी, क्योंकि सत्का कभी विनाश नहीं होता। फलके परमाणु भी सत् हैं, इसलिये उनका कभी विनाश न होगा। इसलिये "एक लाख वर्ष बाद परमाणुओंका कुछ होगा ही नहीं" यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमानसे उनका 'कुछ होना' सिद्ध है।

प्रश्न—जिसका भाव सिद्ध नहीं कर सकते और अभाव सिद्ध नहीं कर सकते उसे संशयकोटिमें डालना चाहिये। त्रिलोक-त्रिकालका ज्ञान न होनेसे कोई सदा सर्वत्र सर्वज्ञत्वके अभावका दावा नहीं कर सकता और आज साधक प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञसिद्धि भी नहीं होसकती। इसलिये सर्वज्ञत्वको आप संदिग्ध कहो; उसका निश्चयात्मक रूपमें अभाव क्यों मानते हो?

उत्तर—यदि इस प्रकार संदेहका विस्तार किया जायगा तो वस्तु नित्य है इत्यादि सिद्धान्तभी संदिग्ध होजायँगे। क्योंकि वर्तमानकी स्थिरतासे सार्वकालिक स्थिरता (नित्यता) नहीं मानी जासकती और हम सर्वज्ञ है नहीं कि त्रैकालिक ज्ञान कर सकें। इस प्रकार दुनियाँ से तार्किकोंकी उपयोगिता नष्ट होजायगी। जैन लोग जो ईश्वरकर्तृत्ववादका खंडन करते हैं वह भी निरर्थक जायगा क्योंकि सर्वज्ञके बिना त्रिकाल-त्रिलोकमें कर्ता ईश्वरका अभाव कैसे सिद्ध किया जायगा? सार यह है कि सर्वज्ञ आजकल है नहीं, और असर्वज्ञ त्रैकालिक निर्णय कर नहीं सकता इसलिये अनुमान प्रमाण भी न बन सकेगा क्योंकि अनुमान की नींव तो त्रैकालिक व्याप्तिके आधारपर होती है, जो कि सर्वज्ञके बिना न मानी जायगी। इस प्रकार स्वार्थानुमानकी सत्ता ही उठ जायगी।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञत्वको संदिग्ध मान लेना भी सर्वज्ञत्वको असिद्ध मान लेना है। क्योंकि संदिग्ध वस्तु भी असिद्ध मानी जाती है। जब सर्वज्ञत्व असिद्ध है तो उसकी दुहाई देकर कोई उपदेश नहीं दिया जासकता और न किसी शास्त्रकी प्रामाणिकताके लिये उसका उपयोग किया जासकता है।

प्रश्न—वस्तुकी नित्यताका ज्ञान हमें प्रबल तर्क के आधार पर होता है, इसलिये सर्वज्ञ न होने पर भी वस्तु सदा रहेगी, ऐसा कहा जासकता है। परन्तु त्रिकाल त्रिलोकमें सर्वज्ञत्वका अभाव बतलानेके लिये कोई प्रबल तर्क चाहिये अर्थात् सर्वज्ञत्व बाधक प्रमाण चाहिये।

उत्तर—यदि सर्वज्ञत्वके बिनाभी हम वस्तुके विषयमें कोई त्रैकालिक निर्णय देसकते हैं तो सर्वज्ञत्व के विषयमें भी दे सकते हैं। सर्वज्ञत्वके अस्तित्वमें

अगर प्रबल बाधक प्रमाण हैं तो हम त्रिकाल त्रिलोकको जाने बिना भी सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। सर्वज्ञत्व असम्भव है और वह गणितसे भी बाधित है इत्यादि बातें पहिले कही जाचुकी हैं। उन बाधक प्रमाणोंके बलपर ही सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध किया जाता है।

एक बात और है कि यहाँ सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध नहीं किया जारहा है, यहाँ तो सर्वज्ञके स्वरूप की मीमांसाकी जारही है। अमुक प्रकारका सर्वज्ञत्व होसकता है कि नहीं, इस बातपर विचार है। किसी लक्षणपर विचार करनेके लिये त्रिकाल त्रिलोकके ज्ञानकी क्या आवश्यकता है?

तृतीय युक्त्याभास।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञत्व न होता तो उसका निषेध कैसे होता? क्योंकि सर्वज्ञत्वकी अभावसिद्धिमें जो साध्य और हेतु कहे जायँगे वे अगर सर्वज्ञ रूपपक्ष में हैं तो सर्वज्ञत्व सिद्ध होगया; अगर पक्षमें नहीं हैं तो सर्वज्ञत्वाभावसाधक हेतु कहाँ रहेगा? निराधार होनेसे वह कुछ भी सिद्ध न कर सकेगा। साथ ही साध्यभी निराधार होजायगा।

उत्तर—न्याय शास्त्रका यह एक छोटासा प्रश्न है। जहाँ पर किसी वस्तुका सिर्फ अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करना होता है वहाँ पर पक्ष (धर्मी) विकल्पसिद्ध माना जाता है* अर्थात् थोड़ी देरके लिये उसे कल्पित कर लिया जाता है।

जैसे अगर कोई बतावे कि 'खरविषाण (गधेका सींग) नहीं है' तो यहाँ खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी होगा। यदि विकल्पसिद्ध धर्मी मानकर खरविषाणका नास्तित्व सिद्ध किया जासकता है तो सर्वज्ञत्वका नास्तित्व सिद्ध किया जासकता है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञत्वके अभावको साध्य बनानेका अर्थ यह है कि आत्मा इतना ज्ञाता नहीं होसकता अथवा ज्ञान इतने पदार्थको नहीं जान सकता। इस दृष्टिसे आत्मा या ज्ञान पक्ष है और उसका सर्वज्ञत्वाभाव साध्य। जो लोग विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं मानते वे इसी तरहसे पक्ष और साध्यका व्यवहार करते हैं।

चतुर्थ युक्त्याभास।

प्रश्न—कोई प्राणी थोड़ा ज्ञानी होता है, कोई अधिक। इस प्रकार ज्ञानकी तरतमता पाई जाती है। जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सबसे छोटा और कोई सबसे बड़ा अवश्य है। जिस प्रकार परमाणु, परमाणु में सबसे छोटा और आकाशमें सबसे बड़ा (अनन्त) है, उसी प्रकार कोई सबसे बड़ा ज्ञानी भी होगा; किन्तु वह अनन्त ही होगा।

उत्तर—जहाँ तरतमता है, वहाँ कोई सबसे बड़ा अवश्य होगा, परन्तु वह अनन्त होना चाहिये यह नियम नहीं है। किसी का शरीर छोटा, किसी का बड़ा होता है; इस प्रकार शरीरकी अवगाहनामें तरतमता होने पर भी किसी का शरीर अनन्त नहीं है। जैन शास्त्रोंमें शरीरकी अवगाहना ज्यादः से ज्यादः एक हजार योजनकी बतलाई है। कोई एक ग्रास भोजन करता है, कोई दो ग्रास, कोई दस बीस तीस आदि; इस प्रकार भोजनमें तरतमता होने पर भी कोई अनन्त ग्रास नहीं खासकता। कोई एक हाथ कूदता है, कोई दो हाथ; परन्तु कोई अनंत हाथ नहीं कूद सकता। उमरमें तरतमता होने पर भी कोई अनन्त वर्षकी उमरका नहीं होता। मतलब यह कि तरतमता तो सैकड़ों वस्तुओंमें पाई जाती है परन्तु उनकी सर्वोत्कृष्टता अनन्तपर नहीं पहुँचती।

* जिनने परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थ पढ़े हैं वे शीघ्र ही यह बात समझ जायँगे। संस्कृत न जाननेवाले न्यायप्रदीप पृ० २८ से ३० तक, खास कर ३० वें पृष्ठ की टिप्पणी देखें।

की गई है। और कुछ युक्तियाँ है परन्तु वे भी ठीक नहीं है। संक्षेपमें उनकी आलोचनाभी की जाती है।

द्वितीय युक्त्याभास।

प्रश्न—'त्रिकाल-त्रिलोकमें कहीं भी सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा कहनेवालेने अगर त्रिकाल–त्रिलोक नहीं देखा तो उसके वचनोंका मूल्य ही क्या है? अगर उसने त्रिकाल-त्रिलोक देखकर सर्वज्ञत्वका अभाव बतलाया है तब तो वहीसर्वज्ञ हुआ; क्योंकि त्रिकाल-त्रिलोक-ज्ञाता ही सर्वज्ञ है। इसलिये सर्वज्ञ हुए बिना कोई सर्वज्ञत्वका अभाव नहीं बतला सकता। और सर्वज्ञ होकर कोई सर्वज्ञत्वका अभाव कैसे बतायगा?

उत्तर—किसी वस्तुका अगर अभाव सिद्ध नहीं किया जासके तो इसीसे उसका सद्भाव सिद्ध नहीं होजाता है। सद्भावसिद्धिके लिये प्रमाण देना पड़ते हैं। अगर सद्भावसिद्धि न की जा सके तो तब तक उसका अभाव ही माना जायगा।

प्रश्न—हमारे हाथमें एक फल है। एक लाख वर्ष बाद इस फलके परमाणुओंका क्या होगा, यह हम नहीं जान सकते। तब क्या इससे यह कहा जासकता है कि इन परमाणुओंका कुछ होगा ही नहीं?

उत्तर—एक लाख वर्ष बादकी अवस्था क्या होगी यह हम भले ही सिद्ध न करसकें, परन्तु इतना तो सिद्ध कर सकते हैं कि कोई न कोई पर्याय अवश्य होगी, क्योंकि सत्का कभी विनाश नहीं होता। फलके परमाणु भी सत हैं, इसलिये उनका कभी विनाश न होगा। इसलिये "एक लाख वर्ष बाद परमाणुओंका कुछ होगा ही नहीं" यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमानसे उनका 'कुछ होना' सिद्ध है।

प्रश्न—जिसका भाव सिद्ध नहीं कर सकते और अभाव सिद्ध नहीं कर सकते उसे संशयकोटिमें डालना चाहिये। त्रिलोक-त्रिकालका ज्ञान न होनेसे कोई सदा सर्वत्र सर्वज्ञत्वके अभावका दावा नहीं कर सकता और आज साधक प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञसिद्धि भी नहीं होसकती। इसलिये सर्वज्ञत्वको आप संदिग्ध कहो; उसका निश्चयात्मक रूपमें अभाव क्यों मानते हो?

उत्तर—यदि इस प्रकार संदेहका विस्तार किया जायगा तो वस्तु नित्य है इत्यादि सिद्धान्तभी संदिग्ध होजायँगे। क्योंकि वर्तमानकी स्थिरतासे सार्वकालिक स्थिरता (नित्यता) नहीं मानी जासकती और हम सर्वज्ञ हैं नहीं कि त्रैकालिक ज्ञान कर सकें। इस प्रकार दुनियाँ से तार्किकोंकी उपयोगिता नष्ट होजायगी। जैन लोग जो ईश्वरकर्तृत्ववादका खंडन करते हैं वह भी निरर्थक जायगा क्योंकि सर्वज्ञके बिना त्रिकाल-त्रिलोकमें कर्ता ईश्वरका अभाव कैसे सिद्ध किया जायगा? सार यह है कि सर्वज्ञ आजकल है नहीं, और असर्वज्ञ त्रैकालिक निर्णय कर नहीं सकता इसलिये अनुमान प्रमाण भी न बन सकेगा क्योंकि अनुमान की नींव तो त्रैकालिक व्याप्तिके आधारपर होती है, जो कि सर्वज्ञके बिना न मानी जायगी। इस प्रकार स्वार्थानुमानकी सत्ता ही उठ जायगी।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञत्वको संदिग्ध मान लेना भी सर्वज्ञत्वको असिद्ध मान लेना है। क्योंकि संदिग्ध वस्तु भी असिद्ध मानी जाती है। जब सर्वज्ञत्व असिद्ध है तो उसकी दुहाई देकर कोई उपदेश नहीं दिया जासकता और न किसी शास्त्रकी प्रामाणिकताके लिये उसका उपयोग किया जासकता है।

प्रश्न—वस्तुकी नित्यताका ज्ञान हमें प्रबल तर्क के आधार पर होता है, इसलिये सर्वज्ञ न होने पर भी वस्तु सदा रहेगी, ऐसा कहा जासकता है। परन्तु त्रिकाल त्रिलोकमें सर्वज्ञत्वका अभाव बतलानेके लिये कोई प्रबल तर्क चाहिये अर्थात् सर्वज्ञत्व बाधक प्रमाण चाहिये।

उत्तर—यदि सर्वज्ञत्वके बिनाभी हम वस्तुके विषयमें कोई त्रैकालिक निर्णय देसकते हैं तो सर्वज्ञत्व के विषयमें भी दे सकते हैं। सर्वज्ञत्वके अस्तित्वमें

अगर प्रबल बाधक प्रमाण हैं तो हम त्रिकाल त्रिलोकको जाने बिनाभी सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। सर्वज्ञत्व असम्भव है और वह गणितसे भी बाधित है इत्यादि बातें पहिले कही जाचुकी हैं। उन बाधक प्रमाणोंके बलपर ही सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध किया जाता है।

एक बात और है कि यहाँ सर्वज्ञत्वका अभाव सिद्ध नहीं किया जारहा है, यहाँ तो सर्वज्ञके स्वरूप की मीमांसाकी जारही है। अमुक प्रकारका सर्वज्ञत्व होसकता है कि नहीं, इस बातपर विचार है। किसी लक्षणपर विचार करनेके लिये त्रिकाल त्रिलोकके ज्ञानकी क्या आवश्यकता है?

तृतीय युक्त्याभास।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञत्व न होता तो उसका निषेध कैसे होता? क्योंकि सर्वज्ञत्वकी अभावसिद्धिमें जो साध्य और हेतु कहे जायँगे वे अगर सर्वज्ञ रूपपक्ष में हैं तो सर्वज्ञत्व सिद्ध होगया; अगर पक्षमें नहीं हैं तो सर्वज्ञत्वाभावसाधक हेतु कहाँ रहेगा? निराधार होनेसे वह कुछ भी सिद्ध न कर सकेगा। साथ ही साध्यभी निराधार होजायगा।

उत्तर—न्याय शास्त्रका यह एक छोटासा प्रश्न है। जहाँ पर किसी वस्तुका सिर्फ अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करना होता है वहाँ पर पक्ष (धर्मी) विकल्पसिद्ध माना जाता है अर्थात् थोड़ी देरके लिये उसे कल्पित कर लिया जाता है।

जैसे अगर कोई बतावे कि 'खरविषाण (गधेका सींग) नहीं है' तो यहाँ खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी होगा। यदि विकल्पसिद्ध धर्मी मानकर खरविषाणका नास्तित्व सिद्ध किया जासकता है तो सर्वज्ञत्वका नास्तित्व सिद्ध किया जासकता है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञत्वके अभावको साध्य बनानेका अर्थ यह है कि आत्मा इतना ज्ञाता नहीं होसकता अथवा ज्ञान इतने पदार्थोंको नहीं जान सकता। इस दृष्टिसे आत्मा या ज्ञान पक्ष है और उसका सर्वज्ञत्वाभाव साध्य। जो लोग विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं मानते वे इसी तरहसे पक्ष और साध्यका व्यवहार करते हैं।

चतुर्थ युक्त्याभास।

प्रश्न—कोई प्राणी थोड़ा ज्ञानी होता है, कोई अधिक। इस प्रकार ज्ञानकी तरतमता पाई जाती है। जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सबसे छोटा और कोई सबसे बड़ा अवश्य है। जिस प्रकार परमाणु, परमाणु में सबसे छोटा और आकाशमें सबसे बड़ा (अनन्त) है, उसी प्रकार कोई सबसे बड़ा ज्ञानी भी होगा; किन्तु वह अनन्त ही होगा।

उत्तर—जहाँ तरतमता है, वहाँ कोई सबसे बड़ा अवश्य होगा, परन्तु वह अनन्त होना चाहिये यह नियम नहीं है। किसी का शरीर छोटा, किसी का बड़ा होता है; इस प्रकार शरीरकी अवगाहनामें तरतमता होने पर भी किसी का शरीर अनन्त नहीं है। जैन शास्त्रोंमें शरीरकी अवगाहना ज्यादः से ज्यादः एक हजार योजनकी बतलाई है। कोई एक ग्रास भोजन करता है, कोई दो ग्रास, कोई दस बीस तीस आदि; इस प्रकार भोजनमें तरतमता होने पर भी कोई अनन्त ग्रास नहीं खासकता। कोई एक हाथ कूदता है, कोई दो हाथ; परन्तु कोई अनंत हाथ नहीं कूद सकता। उमरमें तरतमता होने पर भी कोई अनन्त वर्षकी उमरका नहीं होता। मतलब यह कि तरतमता तो सैकड़ों वस्तुओंमें पाई जाती है परन्तु उनकी सर्वोत्कृष्टता अनन्तपर नहीं पहुँचती।

* जिनने परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थ पढ़े हैं वे शीघ्र ही यह बात समझ जायँगे। संस्कृत न जाननेवाले न्यायप्रदीप पृ० २८ से ३० तक, खास कर ३० वें पृष्ठ की टिप्पणी देखें।

प्रश्न—जो तरतमताएँ परनिमित्तक हैं वे अन्त सहित होती हैं, जैसे कूदनेकी, खाने की, शरीर की आदि। स्वाभाविक तरतमता अनन्त होती है, यद्यपि जब तक तरतमता है तब तक स्वाभाविकता नहीं आसकती, क्योंकि न्यूनाधिकता (तरतमता) का कारण कोई परवस्तुही होती है। फिर भी एक तो ऐसी तरतमता होती है जो अपने अन्तिम रूपमें भी परनिमित्तक बनी रहती है जैसे शरीर आदि की। यह अन्त सहित होती है। और एक ऐसी तरतमता होती है जो अन्तिम रूपमें परनिमित्तक नहीं रहती जैसे ज्ञान की। यह अनन्त होती है।

उत्तर—यह नियम भी अनुभवके विरुद्ध है; इतना ही नहीं, किन्तु जैन शास्त्रोंके भी विरुद्ध है। जीवकी अवगाहना मुक्तावस्था में परनिमित्तक नहीं रहती, फिर भी वह अनन्त नहीं है। किसी तरह अगर वह स्वाभाविक अवस्थामें भी पहुँच जाय तो भी वह लोकाकाशसे अधिक नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जैन शास्त्रोंके अनुसार परनिमित्तक तरतमता भी अनन्त होती है, जैसे पुद्गल स्कंधोंमें न्यूनाधिक परमाणु रहते हैं, यह तरतमता परनिमित्तक है फिरभी इनमें अनन्त परमाणु पाये जाते हैं। (मैं पुद्गलस्कंधोंमें अनन्त परमाणु नहीं मानता, असंख्य मानता हूँ। इस विषयका विवेचन आगामी किसी अध्यायमें होगा। यहाँपर तो वर्तमान जैन शास्त्रोंकी इस मान्यता को इसलिये उद्धृत किया है जिससे इस मान्यतावालोंका समाधान हो।) इस प्रकार परनिमित्तक स्वनिमित्तक तरतमताओंका सान्त—अनन्तके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है इसलिये ज्ञानमें तरतमता होने से कोई ज्ञानी अनन्तज्ञानी या सर्वज्ञ होगा, यह कदापि नहीं कहा जासकता।

इस विषयमें एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना चाहिये। जब ज्ञानमें तरतमता है तब कोई सबसे बड़ी ज्ञानशक्तिवाला अवश्य होगा। परन्तु सबसे बड़ी ज्ञानशक्ति वाला छोटी ज्ञानशक्ति वाले के विषय को अवश्य जाने, यह नहीं हो सकता। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। एक ऐसा विद्वान है जो संस्कृत, प्राकृत, बंगाली, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओंके साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, सिद्धान्त, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयोंका पारंगत विद्वान है; परन्तु वह मराठी भाषा बिलकुल नहीं जानता। अब एक किसी ऐसी स्त्रीको लीजिये जो बिलकुल अशिक्षित है किन्तु मराठी भाषाको जानती है। अब इन दोनोंमें ज्यादः ज्ञानशक्ति किसकी है? दोनों के ज्ञानमें तरतमता तो अवश्य है। अगर यह कहा जाय कि उस स्त्री का ज्ञान अधिक है, तो वह संस्कृत प्राकृत से अनभिज्ञ क्यों है? इसलिये कुतर्क छोड़कर उसी विद्वानको अधिकज्ञानी कहाजायगा। परन्तु वह विद्वान भी उस स्त्रीके समान मराठी भाषा नहीं जानता। यदि कहा जाय कि दोनोंमें तरतमता नहीं है, तब तो जगत के किसी भी प्राणी मे तरतमता न बतायी जासकेगी फिर तरतमतासे जो सर्वोत्कृष्टताका अनुमान किया जाता है; वह नहीं हो सकेगा। इसलिये यही मानना चाहिये कि दोनों में वह विद्वान अधिक ज्ञानशक्ति वाला है, फिर भी वह उस स्त्री के समान मराठी भाषा नहीं जानता। इसीप्रकार जो सबसे अधिक ज्ञानी होगा, वह अपने से अल्पज्ञानवाले सब प्राणियोंके ज्ञातव्य विषयको नहीं जान सकता; फिर भी वह सबसे बड़ा ज्ञानी कहला सकता है।

कल्पितसर्वज्ञतावादियोंकी भूल यह है कि वे यह समझते हैं कि जो सबसे बड़ा ज्ञानी होगा, वह, जो कुछ हम जानते हैं वह भी जानेगा, जो कुछ तुम जानते हो वहभी जानेगा, जो और लोग जानते हैं वह भी जानेगा। इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीको वे सब बातें जानना चाहिये जिन्हें कोई भी जानता हो,

जानता था, जानेगा। उनका यह भ्रम उपर्युक्त (पारंगत विद्वान और अशिक्षित स्त्री के) उदाहरणसे निकल जायगा। फिर भी स्पष्टताके लिये कुछ और लिखना अनुचित न होगा।

ज्ञानमें जब तरतमता है, तब हम ज्ञानके अंशों की कल्पना करलेते हैं। किसीको एक अंश प्राप्त है, किसीको दो, किसीको पाँच, इसी प्रकार दस, बीस, तीस आदि। जो सबसे बड़ा ज्ञानी है, उसके १०० अंश हैं। मानलो १०० अंशसे अधिक ज्ञान किसी को नहीं होता। अब एक ऐसे मनुष्यको लीजिये जिसके पास ज्ञानके पाँच अंश हैं। उसने एक अंश धर्मविद्यामें लगाया है, एक अंश व्यापार विद्यामें, एक अंश कला आदिकी जानकारीमें, एक अंश काव्यमें, एक अंश अन्य प्रकीर्णक बातोंमें। अब एक दूसरा ज्ञानी है, उसके भी पाँचअंश वाला ज्ञान है। परन्तु उसने अपने अंशोंको किसी दूसरे ही काममें लगाया है। इसी प्रकार कोई तीसरा ज्ञानी है जिसने कि अपने ज्ञानांशोंका उपयोग किसी तीसरे ही क्षेत्रमें लगाया है। इस प्रकार पाँच अंश वाले ज्ञानका उपयोग सैकड़ों तरहसे हो सकता है। अब एक ऐसे मनुष्यको लीजिये जिसके छः अंशवाला ज्ञान है। उसका ज्ञान पाँचअंश वाले से अधिक अवश्य है परन्तु जितने पाँचअंशज्ञान वाले हैं उन सबसे अधिक नहीं है, क्योंकि पाँच अंश वाले सभी ज्ञानियोंके ज्ञानको एकत्रित करो तो वह सैकड़ों अंशका हो जायगा, और १०० अंश वाला ज्ञानी भी उन सबको न जान पायगा। यह भी हो सकता है कि पाँच अंश वाले का कोई ज्ञानांश छः अंशवाले के न हो। फिरभी छः अंश वाला बड़ा ज्ञानी है क्योंकि पाँच अंश वालेके अगर कोई एक अंश नया है तो छः अंश वालेके दो अंश नये हैं। यही उसकी महत्ता है। इसी प्रकार सबसे बड़ा ज्ञानी (१०० अंशवाला) भी पाँचअंशवालेकी किसी बातसे अपरिचित रह सकता है। परन्तु १०० अंश वाला अगर एक अंशसे अपरिचित रहेगा तो पाँच अंशवाला ९६ अंशोंसे अपरिचित रहेगा। यही १०० अंशवालेकी महत्ता है। इस प्रकार सबसे बड़ा ज्ञानी होकरके भी कोई वर्तमान मान्यताका कल्पित सर्वज्ञ न बन सकेगा।

स्पष्टताके लिये एक उदाहरण और देखिये। कल्पना कीजिये कि कोई करोड़पति सबसे बड़ा धनवान है। उस नगरमें बाकी लोगोंमें कोई ९० लाखका धनी है, कोई अस्सी लाख इसीप्रकार ५० लाख, १० लाख, १ लाख, आदि के श्रीमान हैं। यद्यपि यहां करोड़पति सब से बड़ा धनी है फिर भी अगर नगरके सबके सब धनियोंकी सम्पत्ति एकत्रित कीजाय तब वह धन उस धनीसे बढ़ जायगा। साथ ही ऐसा भी हो सकता है कि पचास लाखके धनीके पास कोई ऐसी चीज़ हो जो करोड़पतिके पास न हो। परन्तु करोड़पतिके पास पचास लाख के धनीकी अपेक्षा अन्य वस्तुएँ अधिक होंगी। इसी प्रकार हर एक प्रकारकी तरतमताको उदाहरण रूपमें पेश किया जा सकता है।

इस प्रकार तरतमतासे जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सिद्ध होता है वह कल्पितसर्वज्ञताका स्थान नहीं लेसकता। अगर वह अनन्तज्ञानरूप मान लिया जाय तब भी दो बातें विचारणीय रहती हैं।

केवलज्ञानका रूप जब कल्पितसर्वज्ञतारूप कहाजाता है तब केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद (ज्ञानशक्तिके अंश) जगत्के प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से भी अनन्तगुणे बताये जाते हैं। इस प्रकार केवलज्ञान की शक्ति सम्पूर्ण जगत् की शक्तिसे

* देखो गोम्मटसार बड़ीटीका, पर्याप्ति प्ररूपणाका प्रारम्भ।

अधिक कही जाती है। अब प्रश्न यह होता है कि एक केवलीका ज्ञान दूसरे केवलीके ज्ञानको जान सकता है या नहीं? यदि नहीं जानता है तो सर्वज्ञ कैसा? यदि जानता है तो ज्ञाता केवलीका ज्ञान दूसरे केवलीसे बड़ा कहलाया तभी तो दूसरे केवलीका ज्ञान ज्ञाता केवलीके ज्ञानके भीतर आगया। इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञानियों (केवलियों) में भी तरतमता हुई। इससे उनकी सर्वोत्कृष्टता नष्ट हो गई।

प्रश्न—दोनों केवली बराबर शक्तिशाली हैं और एक दूसरेको जानलेते हैं।

उत्तर—बराबर शक्तिशाली दो केवली अगर एक दूसरेको जाननेमें ही अपनी शक्ति लगादेंगे तो एक दूसरेको जाननेमें ही उनकी शक्ति खतम होजायगी, फिर वे तीसरे केवली, चौथे केवली आदिको तथा समस्त संसारको किस शक्तिसे जानेंगे?

प्रश्न—आपभी किसी न किसीको सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी मानते हैं। अगर इस प्रकार दो आत्मा सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हों तो वे एक दूसरेको कैसे जानेंगे? क्योंकि एक दूसरेको जाननेमें ही उनकी शक्ति खतम हो जायगी।

उत्तर—एक सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी दूसरे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीको जाने, इस बातकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह कल्पित सर्वज्ञकी तरह नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्यक्षदर्शी ही हो। वह आत्मप्रत्यक्षदर्शी होगा परन्तु बाह्य वस्तुओंका परोक्षज्ञाता होगा। दूसरे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीको वह अनुमान और उपमानके द्वारा जान सकता है। अनुमान उपमान आदि परोक्ष प्रमाण हैं। परोक्ष प्रमाणसे किसी वस्तुके जाननेमें उतनी ज्ञानशक्ति खर्च नहीं करना पड़ती जितनी प्रत्यक्षके लिये करना पड़ती है, क्योंकि परोक्षमें सामान्य अंश अधिक होता है और विशेष अंश कम, जब कि प्रत्यक्षमें विशेष अंश अधिक रहता है और सामान्य अंश कम। जैसे अगर हम अपनी आँखोंसे किसी मनुष्यको देखें तो उस मनुष्यकी आकृति अन्य मनुष्योंकी आकृतिसे भिन्न है, इस बातका भी हमें ज्ञान होगा; किन्तु अगर हम किसीके कहनेसे या अनुमानसे जानें कि वहाँ कोई मनुष्य है तो हमें मनुष्यका ज्ञान तो होगा परन्तु दूसरे मनुष्यों से जो उसमें विशेषता है उसका ज्ञान न होगा। अगर थोड़ा बहुत होगा भी, तो भी वह ऐसा न होगा, जैसा प्रत्यक्षमें होता है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे परोक्ष प्रमाणमें न्यूनशक्तिकी आवश्यकता है। इसीलिये वह अस्पष्ट भी कहा गया है। हमारा माना हुआ सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी अगर दूसरे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीको जानेगा तो परोक्षप्रमाणसे जानेगा, इसलिये उसे अपनी सारी शक्ति दूसरे ज्ञानीको जाननेमें न लगाना पड़ेगी।

प्रश्न - हमारा सर्वज्ञ भी दूसरे सर्वज्ञोंको परोक्ष प्रमाण से जानेगा।

उत्तर—यदि उसे परोक्षज्ञानकी आवश्यकता होगी, तब वह आपकी परिभाषाके अनुसार सर्वज्ञ न रहेगा, क्योंकि परोक्षज्ञानसे जो जाना गया है वह आपके सकल प्रत्यक्षने नहीं जान पाया। तभी तो उसे अन्य परोक्ष प्रमाणों की आवश्यकता हुई।

इस बात पर विचार करके और अगर यह बात न जंचे तो पूर्वोक्त कथनोंपर विचार करके यह बात स्वीकार करना चाहिये कि सर्वज्ञका ज्ञान समस्त या अनन्त प्रमेयोंको नहीं जानता।

प्रश्न—जड़ पदार्थोंमें जो रूप, रस, आदि गुण पाये जाते हैं उनमें भी इन गुणोंके अविभाग

प्रतिच्छेद अनन्त माने जाते हैं, फिर ज्ञानके भी अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त क्यों न कहे जाँय ?

उत्तर—यहाँ पर अनन्तका यह अर्थ नहीं है कि जिसका अन्त न हो, किन्तु उसका अर्थ एक प्रकारका असंख्य ही है। संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीनों ही संख्याएँ हैं। असंख्यातका जो परिमाण मान रक्खा है, जब कोई संख्या उससेभी ज्यादः होती है तब वह अनन्त कही जाने लगती है। ऐसाही मध्यम अनन्त (वास्तवमें असंख्य) रूपादि गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंके परिमाणमें कहा गया है। ऐसा अनन्त ज्ञान गुणमें भी माना जासकता है। इस प्रकारका अनन्त मान लेनेपर ज्ञान गुण वास्तवमें अनन्त (अन्तरहित) अर्थात् अन्तरहित वस्तुओंको जाननेवाला न होजायगा। यही बात क्रोधादि कषायोंके विषयमें भी है। एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट होगी।

कल्पना करो, किसी मनुष्यको अमुक डिग्री का क्रोध आने पर उसके शरीरकी गर्मी एक डिग्री बढ़ जाती है। अगर उसका क्रोध अनन्त गुणा हो जाय (क्योंकि कषायोंमें अनन्तगुण वृद्धि बीसों बार होती है) तो उसके शरीरकी गर्मी अनन्त डिग्री न बढ़ जायगी, क्योंकि दस बारह डिग्री गर्मी बढ़नेसे ही मनुष्य मर जाता है। इससे दो बातें मालूम हुईं, एक तो यह कि अनन्तका अर्थ यहाँ पर एक परिमित संख्या है दूसरी यह कि जितने गुणी कषाय होती है उतने गुणा उसका बाहरी असर नहीं होता। यही बात ज्ञानके विषयमें भी जानना चाहिये।

सबसे जघन्य ज्ञानी निगोदिया जीव है। परन्तु उसके ज्ञानमें भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद पाये जाते हैं। इस तरहसे वह अनन्तज्ञानी है। दूसरा निगोदिया उससे अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद वाला होसकता है, इसलिये वह पहिले निगोदियाके लिये अनन्त ज्ञानी है। इस प्रकार तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, हज़ारवाँ, लाखवाँ, असंख्यातवाँ निगोदिया होसकता है जो उत्तरोत्तर अनन्तगुणी शक्ति रखता हुआ पहिले निगोदियासे असंख्यवार अनन्त गुणा है। इतना होने पर भी उस अनन्तज्ञानी निगोदियाको एक अक्षरका भी ज्ञान नहीं होता*। इससे सिद्ध होता है कि अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होनेसे ही कोई ज्ञान अनन्त पदार्थोंको नहीं जानता है। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी गणनाकी दृष्टिसे संसारका प्रत्येक प्राणी अनन्तज्ञानी है। परन्तु कोई भी अनन्त पदार्थोंको नहीं जानता।

एक निगोदियाकी अपेक्षा दूसरे निगोदिया के ज्ञानमें अनन्त गुणे अविभाग प्रतिच्छेद होने पर भी वह उससे अनन्त गुणे पदार्थों को नहीं जानता, उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी (केवली) के ज्ञानमें हमसे अनन्तगुणे अविभाग प्रतिच्छेद होसकते हैं, फिर भी वे हमसे अनन्तगुणे पदार्थों को न जानलेंगे।

* इस विषयको स्पष्ट समझनेके लिये गोम्मटसार जीवकाण्डके ज्ञानमार्गणाधिकारमें पर्याय और पर्याय समासका प्रकरण देखना चाहिये। सूक्ष्मनिगोदियाके जघन्य ज्ञानमें कितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं, इसका स्पष्ट वर्णन पर्याप्ति प्ररूपणाके प्रारम्भमें इसप्रकार किया है। जीव अनन्तानन्त हैं; उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे कालके समय हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे श्रेण्याकाश प्रदेश हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे प्रतराकाश प्रदेश हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे धर्मद्रव्यके अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे एक जीवके अगुरुलघुगुणके अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकके जघन्यज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद हैं।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ ।

बड़ौदामें व्याख्यान ।

जैन युवक संघ बड़ौदाने दीक्षा-प्रकरण-पर व्याख्यान देनेके लिये मुझे निमन्त्रित किया था। तदनुसार ता० १९-३-३३ को मैं बड़ौदा गया और सुबह ९ बजे मेरा व्याख्यान मुनि श्री न्यायविजयजीकी अध्यक्षतामें घड़यालीपोलकी धर्मशालामें हुआ। व्याख्यानका संक्षिप्त सार 'जैन' आदि गुजराती पत्रोंमें निकलचुका है। यहाँ तो सिर्फ उसके मुख्य मुख्य अवतरण दिये जाते हैं।

"मिथ्यात्वके उदयसे प्राणियोंको यहाँ तक दृष्टिभ्रम हुआ करता है कि वे अपनी पराजयको जय समझते हैं। वे कषायोंको जीतनेका प्रयत्न करते हैं किन्तु खुद कषायोंसे जीते जाते हैं और फिरभी समझते हैं कि हम कषायोंको जीत रहे हैं।"

"पुत्रादिका मोह छोड़कर मनुष्य मुनि बनता है और समझता है कि मैंने मोहको जीत लिया किन्तु मोह तो अन्तस्तलमें वेष बदलकर साम्राज्य बनाये बैठा रहता है, और वह गृहस्थावस्थाकी पुत्रैषणाको शिष्यैषणाके रूप में अगणितगुणी कर रहता है, क्योंकि पुत्रैषणाकी मात्रा बढ़ानेमें तो पोषण आदिका भय है किन्तु शिष्यैषणाके रूप में जो पुत्रैषणा है उसमें वह भय नहीं होता।"

"शैतान जब खुदाका रूप धारण करके आता है तब वह बहुत भयंकर होजाता है। इसीप्रकार जब अधर्म, धर्मका जामा पहिनता है तब उसकी भयंकरता बहुत बढ़ जाती है। आज पुत्रैषणा जगदुद्धारकताका वेष धारण करके जो ताण्डव दिखलारही है इसीसे उसकी भयंकरता असीम होगई है।"

"नारकियोंके अवधिज्ञान होता है परन्तु वे उसका उपयोग दुःख अशान्ति कषाय लड़ाई झगड़ा आदिके बढ़ाने में करते हैं। इससे उनका कुछ भी कल्याण नहीं होता। उनकी दृष्टि सदा अशुभपर जाती है। इसी तरह आज हमारी दृष्टि भगवान महावीरके जीवनपर न जाकर बालदीक्षा या असम्मत दीक्षाके एकाध अपवाद पर दौड़ती है, और हम उत्सर्गको सिंहासनच्युत करके अपवादको सिंहासन पर बिठलाना चाहते हैं।"

"भगवान महावीर—कि जिनका आज तीर्थ चलरहा है और जिनके अनुयायी होनेका हम दावा करते हैं—वे अगर कुटुम्बियोंकी इच्छाके विरुद्ध दीक्षा लेनेको तैयार न हुये, तथा शास्त्रोंमें जो हरएक दीक्षाके वर्णनमें मातापिता आदिकी आज्ञाके लेनेका वर्णन आता है, और आज्ञाके बिना दीक्षाके रुके रहनेके वर्णन आते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैनधर्म असम्मत दीक्षाको अनुकरणीय नहीं बताता। मल्लिकुंके साथ शादी करनेके लिये आनेवाले राजालोग जब श्रीमती मल्लिके कौशल्यपूर्ण उपदेशसे उनके शिष्य होगये तबभी श्रीमती मल्लिने यही कहा कि जाओ! पहिले अपने कुटुम्बियोंसे आज्ञा प्राप्त करो। शास्त्रोंके ये सब वर्णन कागज़ काले करनेके लिये नहीं हैं, इनका कुछ अर्थ होता है।"

"अपवाद अपने आप बनते हैं; उनके बनानेके लिये कोई संघ [illegible] संस्था प्रयत्न नहीं करती। यदि ऐसा करे तो समाजका [illegible] होजाय। मैं पूछता हूँ कि क्या शास्त्रोंमें किसी ऐसे अपवादके [illegible] अच्छा है जहाँ [illegible] नहीं [illegible] कि [illegible] तो जगत्में श्रीकृष्ण सरीखे महापुरुष कैसे पैदा होंगे? क्या हम अपवादके उदाहरणोंसे [illegible] ठीक होगा? क्या प्रद्युम्नके उदाहरणसे बच्चोंको [illegible] शिलाओं के नीचे दबाना ठीक होगा? क्या तीर्थंकरोंके उदाहरणसे नवजात शिशुका मेरुके शीतल जलके विशाल घड़ोंसे स्नान कराना उचित होगा? बात यह है कि नदीमें फेंकने से बालक श्रीकृष्ण नहीं बनता, शिलाके नीचे दबानेसे प्रद्युम्न नहीं बनता, अभिषेक करानेसे तीर्थंकर नहीं बनता। ये सारी [illegible] महत्त्वके कारण नहीं, महत्त्वके फल हैं। नदीमें डालनेसे बालक श्रीकृष्ण नहीं बने किन्तु वे श्रीकृष्ण थे इस लिये नदीमें फेंकेपड़े और सर्पके विषको सहसके। बालदीक्षा से कोई हेमचन्द्र नहीं बनता किन्तु हेमचन्द्र होनेसे बाल-दीक्षाके विषको पचासकता है। परन्तु अगर इन घटनाओं का अनुकरण कराया जाय तो इसका अर्थ बालहत्याके सिवाय और कुछ नहीं है। मैं कहचुका हूँ कि अपवाद

बनाये नहीं जाते, वे बनते हैं। श्रीकृष्णको किसीने नदीमें नहीं फेंका किन्तु अपनी बहादुरीके बलपर वे स्वयं कूदे।"

"यदि अपवादोंको राजमार्ग बनाया जाय तब तो साधुसंस्थाको उठादेनेकी बातका भी समर्थन किया जा सकता है; क्योंकि कूर्मापुत्र घरमें रहते हुए ही केवली हुए थे और केवली होने पर भी वे घरमें रहे थे। यदि किसी बालकको पूर्वजन्मके प्रबल संस्कारोंसे बाल्यावस्थामें ही वैराग्य हुआ है तो अपना मार्ग वह स्वयं बनालेगा, वह घरमें रहते हुए केवली बनेगा, वह राजकानूनोंका और दुनियाँके विरोधका सामना करेगा। उसे मुनि बननेके लिये प्रलोभन देनेकी आवश्यकता न रहेगी, न दूसरी तरह लड़कर कुटानेकी आवश्यकता होगी। यदि वह इतना नहीं कर सकता तो फिर इसपर अपवाद होनेका दावा कैसे कर सकता है?"

"शास्त्रोंमें अनेक जगह ऐसा वर्णन आता है कि जब किसी युवकका दीक्षा लेनेका विचार होता था तब उसके माबाप आदि उसे रोकते थे। जब माबाप हर तरह हार जाते थे तब वे कहते थे कि हम तुम्हारी राज्यश्रीके दर्शन करना चाहते हैं जिससे वह एक दिनके लिये राजा बनाया जाता था, यहाँ तक कि किसी किसीका तो विवाह तक कियाजाता था, परन्तु जब वह राज्यश्रीके प्रलोभनको जीत लेता था, लावण्यवती नवयुवतियोंके मोहपाशमें भी न फँसता था, तब उसका वैराग्य पक्का माना जाता था और तभी उसे दीक्षा की आज्ञा दी जाती थी। क्या आज इस परीक्षाविधिका अनुकरण करके उनके वैराग्यकी जाँच की जाती है? बच्चेको एकान्तमें तोतेकी तरह वैराग्यके गीत रटाकर बुलवादेना, और माबापको अपने संरक्षणमें लेकर वैराग्यकी परीक्षा लेने देना, इन बातोंमें इतना ही अन्तर है जितना नरक और स्वर्गमें होता है।"

"महात्मा बुद्धने प्रारम्भमें कुछ बालदीक्षाएँ दी थीं परन्तु उनके पिताने जो बुद्धको उलहना दिया है उसे पढ़कर कौन पत्थर है जो पसीज न जाय! इसके बाद ही महात्मा बुद्धने बालदीक्षा और अनुमतदीक्षाका सख्त विरोध किया है"। (धर्मोंमें भिन्नता शीर्षक व्याख्यानमें ये वाक्य निकल चुके हैं।)

"भगवान महावीरकी संघव्यवस्था दृढ़ और अद्भुत थी इसलिये जैनधर्म आजतक टिका रहसका है। अपने अपने स्थान पर सभीका पूर्ण महत्त्व है। अगर साधुसे गलती होजाती थी तो भगवान महावीर साधुको आज्ञा देते थे कि वह श्रावकसे माफी माँगे। भगवानके खास शिष्य और साधुसंघके नायक इन्द्रभूति गणधरको एकबार आनन्द श्रावकसे माफी माँगना पड़ी थी। श्रावकके द्वारा साधु पूज्य है, परन्तु कोई साधु मर्यादाके बाहर काम करे तो एक जैन नागरिककी दृष्टिसे एक जैन गृहस्थका अधिकार है कि वह साधुको उसकी बुरी हरकतसे रोके।"

"कानून और धर्मका क्षेत्र एक है, सिर्फ उनमें मात्राका दृष्टिकोणका अन्तर है। सतीप्रथा, नरमेधयज्ञ आदि धार्मिक माने जाने पर भी कानूनके द्वारा रोके गये हैं। आज जो हमारे मुनि देशी रियासतोंमें कानूनसे पशुबलि बन्द कराते हैं। हम नहीं समझते हैं कि ऐसा करना कोई बुरा कहेगा? इसी प्रकार बालदीक्षा अगर अनुचित है तो कानूनको हस्तक्षेप करनेका हक है।"

मेरे व्याख्यानके बाद श्रीमान् पंडित लालनका व्याख्यान हुआ था। बादमें मुनि श्री न्यायविजयजीने अपने उद्गार प्रगट किये थे और मेरी प्रशंसाके बहाने 'जैनधर्म' का मर्म शीर्षक लेखमालाकी खूब प्रशंसाकी थी, जिससे जैन जगत्के दो ग्राहक बने थे। गुजरात प्रान्त होनेसे हिन्दी पत्रके अधिक ग्राहक नहीं होपाये। मुनिश्री साम्प्रदायिक पक्षसे रहित, सत्यधर्मसमभावी विद्वान हैं। आप संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदिमें अच्छी रचनाएँ करते हैं तथा न्याय शास्त्रोंके मर्मज्ञ और लेखक हैं।

युवकोंसे—

मर्द यदि हो तो मरदानगी दिखाओ ज़रा,
बलहीन बन मातृदुधको लजाओ न।
अधर्मोको गात लगा, धर्मका प्रचार करो,
संकुचितता से अब जातिको मिटाओ न।
पराधीन, धनहीन, दुःखी आज देश बना,
होके निर्लज्ज लाज देश की गँवाओ न।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

बड़ौदामें व्याख्यान।

जैन युवक संघ बड़ौदाने दीक्षा-प्रकरण-पर व्याख्यान देनेके लिये मुझे निमन्त्रित किया था। तदनुसार ता० १९-३-३३ को मैं बड़ौदा गया और सुबह ९ बजे मेरा व्याख्यान मुनि श्री न्यायविजयजीकी अध्यक्षतामें घड़यालीपोलकी धर्मशालामें हुआ। व्याख्यानका संक्षिप्त सार 'जैन' आदि गुजराती पत्रोंमें निकलचुका है। यहाँ तो सिर्फ़ उसके मुख्य मुख्य अवतरण दिये जाते हैं।

"मिथ्यात्वके उदयसे प्राणियोंको यहाँ तक दृष्टिभ्रम हुआ करता है कि वे अपनी पराजयको जय समझते हैं। वे कषायोंको जीतनेका प्रयत्न करते हैं किन्तु खुद कषायोंसे जीते जाते हैं और फिरभी समझते हैं कि हम कषायोंको जीत रहे हैं।"

"पुत्रादिका मोह छोड़कर मनुष्य मुनि बनता है और समझता है कि मैंने मोहको जीत लिया किन्तु मोह तो अन्तस्तलमें वेष बदलकर साम्राज्य बनाये बैठा रहता है, और वह गृहस्थावस्थाकी पुत्रैषणाको शिष्यैषणाके रूप में अगणितगुणी कर रहता है, क्योंकि पुत्रैषणाकी मात्रा बढ़ानेमें तो पोषण आदिका भय है किन्तु शिष्यैषणाके रूप में जो पुत्रैषणा है उसमें वह भय नहीं होता।"

"शैतान जब खुदाका रूप धारण करके आता है तब वह बहुत भयंकर होजाता है। इसीप्रकार जब अधर्म, धर्मका जामा पहिनता है तब उसकी भयंकरता बहुत बढ़ जाती है। आज पुत्रैषणा जगदुद्धारकताका वेष धारण करके जो ताण्डव दिखलारही है इसीसे उसकी भयंकरता असीम होगई है।"

"नारकियोंके अवधिज्ञान होता है परन्तु वे उसका उपयोग दुःख अशान्ति कषाय लड़ाई झगड़ा आदिके बढ़ाने में करते हैं। इससे उनका कुछ भी कल्याण नहीं होता। उनकी दृष्टि सदा अशुभपर जाती है। इसी तरह आज हमारी दृष्टि भगवान महावीरके जीवनपर न जाकर बालदीक्षा या असम्मत दीक्षाके एकाध अपवाद पर दौड़ती है, और हम उत्सर्गको सिंहासनच्युत करके अपवादको सिंहासन पर बिठलाना चाहते हैं।"

"भगवान महावीर—कि जिनका आज तीर्थ चलरहा है और जिनके अनुयायी होनेका हम दावा करते हैं—वे अगर कुटुम्बियोंकी इच्छाके विरुद्ध दीक्षा लेनेको तैयार न हुये, तथा शास्त्रोंमें जो हरएक दीक्षाके वर्णनमें मातापिता आदिकी आज्ञाके लेनेका वर्णन आता है, और आज्ञाके बिना दीक्षाके रुके रहनेके वर्णन आते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैनधर्म असम्मत दीक्षाको अनुकरणीय नहीं बताता। मल्लिकुके साथ शादी करनेके लिये आनेवाले राजालोग जब श्रीमती मल्लिके कौशलपूर्ण उपदेशसे उनके शिष्य होगये तबभी श्रीमती मल्लिने यही कहा कि जाओ ! पहिले अपने कुटुम्बियोंसे आज्ञा प्राप्त करो। शास्त्रोंके ये सब वर्णन कागज़ काले करनेके लिये नहीं हैं, इनका कुछ अर्थ होता है।"

"अपवाद अपने आप बनते हैं; उनके बनानेके लिये कोई संघ समाज या संस्था प्रयत्न नहीं करती। यदि ऐसा करे तो समाजका ध्वंस होजाय। मैं पूछता हूँ कि क्या बालकोंको किसी ऐसी नदीमें फेंकना अच्छा है जहाँ भयंकर सर्प रहता हो ? तो आप उत्तर देंगे- नहीं। परन्तु मैं कहूँ कि अगर आप बालकोंको ऐसी नदीमें न फेंकेंगे तो जगतमें श्रीकृष्ण सरीखे महापुरुष कैसे पैदा होंगे ? क्या इस अपवादके उदाहरणसे बालकोंको नदियोंमें फेंकना ठीक होगा ? क्या प्रद्युम्नके उदाहरणसे बच्चोंको विशाल शिलाओं के नीचे दबाना ठीक होगा ? क्या तीर्थङ्करोंके उदाहरणसे नवजात शिशुका समुद्रके शीतल जलके विशाल घड़ोंसे स्नान कराना उचित होगा ? बात यह है कि नदीमें फेंकने से बालक श्रीकृष्ण नहीं बनता, शिलाके नीचे दबानेसे प्रद्युम्न नहीं बनता, अभिषेक करानेसे तीर्थंकर नहीं बनता। ये कार्य महत्वके कारण नहीं, महत्वके फल हैं। नदीमें कूदनेसे बालक श्रीकृष्ण नहीं बने किन्तु वे श्रीकृष्ण थे इस लिये नदीमें कूदपड़े और सर्पके विषको सहसके। बालदीक्षा से कोई हेमचन्द्र नहीं बनता किन्तु हेमचन्द्र होनेसे बाल-दीक्षाके विषको पचासकता है। परन्तु अगर इन घटनाओं का अनुकरण कराया जाय तो इसका अर्थ बालहत्याके सिवाय और कुछ नहीं है। मैं कहचुका हूँ कि अपवाद

बनाये नहीं जाते, वे बनते हैं । श्रीकृष्णको किसीने नदीमें नहीं फेंका किन्तु अपनी बहादुरीके बलपर वे स्वयं कूदे।"

"यदि अपवादोंको राजमार्ग बनाया जाय तब तो साधुसंस्थाको उठादेनेकी बातका भी समर्थन किया जा सकता है; क्योंकि कूर्मापुत्र घरमें रहते हुए ही केवली हुए थे और केवली होने पर भी वे घरमें रहे थे । यदि किसी बालकको पूर्वजन्मके प्रबल संस्कारोंसे बाल्यावस्थामें ही वैराग्य हुआ है तो अपना मार्ग वह आप बनालेगा, वह घरमें रहते हुए केवली बनेगा, वह राजकानूनोंका और दुनियाँ के विरोधका सामना करेगा । उसे मुनि बननेके लिये प्रलोभन देनेकी आवश्यकता न होगी, सम्पत्तिकी तरह लूटकर छुपानेकी आवश्यकता होगी । यदि वह इतना नहीं कर सकता तो किस दमपर अपवाद होनेका दावा कर सकता है ?"

"शास्त्रोंमें अनेक जगह ऐसा वर्णन आता है कि जब किसी युवकको दीक्षा लेनेका विचार होता था तब उसके माबाप आदि उसे रोकते थे । जब माबाप हर तरह हार जाते थे तब वे कहते थे कि हम तुम्हारी राज्यश्रीके दर्शन करना चाहते हैं जिससे वह एक दिनके लिये राजा बनाया जाता था, यहाँ तक कि किसी किसीका तो विवाह तक कियाजाता था, परन्तु जब वह राज्यश्रीके प्रलोभनको जीत लेता था, लावण्यवती नवयुवतियोंके मोहपाशमें भी न फँसता था, तब उसका वैराग्य पक्का माना जाता था और तभी उसे दीक्षा की आज्ञा दी जाती थी । क्या आज इस परीक्षाविधिका अनुकरण करके उनके वैराग्यकी जाँचकी जाती है ? बच्चेको एकान्तमें तोतेकी तरह वैराग्यके गीत रटाकर बुलवादेना, और माबापको अपने संरक्षणमें लेकर वैराग्यकी परीक्षा लेने देना, इन दोनोंमें इतना ही अन्तर है जितना नरक और स्वर्गमें होसकता है।"

"महात्मा बुद्धने प्रारम्भमें कुछ बालदीक्षाएँ दी थीं परन्तु उनके पिताने जो बुद्धको उलहना दिया है उसे पढ़कर कौन पत्थर है जो पसीज न जाय ! इसके बाद ही महात्मा बुद्धने बालदीक्षा और असम्मतदीक्षाका सख्त विरोध किया है" । ('धर्मोंमें भिन्नता' शीर्षक व्याख्यानमें ये वाक्य निकल चुके हैं ।)

"भगवान महावीरकी संघव्यवस्था दृढ़ और अद्भुत थी इसीलिये जैनधर्म आजतक टिका रहसका है । अपने अपने स्थान पर सभीका पूर्ण महत्त्व है । अगर साधुसे ग़लती होजाती थी तो भगवान महावीर साधुको आज्ञा देते थे कि वह श्रावकसे माफी माँगे । भगवानके ख़ास शिष्य और साधुसंघके नायक इन्द्रभूति गणधरको एकबार आनन्द श्रावकसे माफ़ी माँगना पड़ी थी । श्रावक के द्वारा साधु पूज्य है, परन्तु कोई साधु मर्यादाके बाहर काम करे तो एक जैन नागरिक की दृष्टिसे एक जैन गृहस्थ को अधिकार है कि वह साधुको उसकी बुरी हरकतसे रोके।"

"क़ानून और धर्मका क्षेत्र एक है, सिर्फ़ उनमें मात्रा या डिग्रीका अन्तर है । सतीप्रथा, नरमेधयज्ञ आदि धार्मिक माने जाने पर भी क़ानूनके द्वारा रोके गये हैं । आज भी हमारे मुनि देशी रियासतोंमें क़ानूनसे पशुबलि बन्द कराते हैं । हम नहीं समझते हैं कि ऐसा करना कोई बुरा कहेगा ? इसी प्रकार बालदीक्षा अगर अनुचित है तो क़ानूनको हस्तक्षेप करनेका हक़ है । "

मेरे व्याख्यानके बाद श्रीमान् पंडित लालनका व्याख्यान हुआ था । बादमें मुनि श्री न्यायविजयजीने अपने उद्गार प्रगट किये थे और मेरी प्रशंसाके बहाने 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक लेखमालाकी खूब प्रशंसाकी थी, जिससे जैन जगत्के दो ग्राहक बने थे । गुजरात प्रान्त होनेसे हिन्दी पत्रके अधिक ग्राहक नहीं होपाये । मुनिश्री साम्प्रदायिक पक्षसे रहित, सर्वधर्मसमभावी विद्वान हैं । आप संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदिमें अच्छी रचनाएँ करते हैं तथा न्याय शास्त्रोंके मर्मज्ञ और लेखक हैं ।

युवकोंसे—

मर्द यदि हो तो मरदानगी दिखाओ ज़रा,
बलहीन बन मातृ-दुधको लजाओ न ।
अधर्मोंको मात लगा, धर्मका प्रचार करो,
संकुचितता से अब जातिको मिटाओ न ।
पराधीन, धनहीन, दुःखी आज देश बना,
होके निर्लज्ज लाज देश की गँवाओ न ।

विविध विषय ।

(लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

"जैनधर्मका मर्म" मराठीमें।

'जगत्' के पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि 'जैन धर्मका मर्म' शीर्षक लेखमालाका मराठी अनुवाद दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभाके मुखपत्र 'प्रगति आणि जिन विजय' में प्रकाशित होने लगा है । अब तक १० लेखाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं । दक्षिणके जो विद्वान् हिन्दी नहीं जानते हैं और जैनजगत् जिन तक नहीं पहुँचता है, वे भी इस लेखमालाके नये विचारोंसे परिचित होंगे और उन्हें जैनधर्मका रहस्य समझनेमें सुभीता होगा ।

शारदा-क़ानूनका भंग करनेवालोंको सज़ा।

ता० ४ अप्रेलका 'फ्री प्रेस' खबर देता है कि करांची के प्रधान मजिस्ट्रेटने चार आदमियोंको पचास पचास रुपया दण्ड इसलिए किया कि उन्होंने शारदा-क़ानूनका भंग किया था, अर्थात् १८ और १४ वर्षकी उम्रके पहले वर-कन्याका ब्याह दिया था । दण्ड न देने पर दो दो महीने की जेल होगी । शारदा क़ानूनका भंग तो जगह जगह होरहा है, परन्तु लोग भंग करनेवालोंपर मुकद्दमा नहीं चलवाते हैं: इसीलिए यह अन्धाधुन्धी चलरही है। नवयुवकोंको चाहिए कि वे प्रत्येक बड़े शहरमें एक एक संगठित संस्था इस कामके लिए बना लेवें, जो क़ानून भंगकरनेवालोंका पता लगाकर तुर्त मामला चला दिया करें । यह काम बहुत ही सहज है ।

बूढ़े दूल्हाजीको सज़ा ।

हींगनघाटके धनिक महेश्वरी व्यापारी रामगोपालजी भाँगड़िया बुढ़ापेमें एक कम उम्र कन्याके साथ ब्याह कर रहे थे । इसके विरुद्ध लोगोंने प्रयत्न किया और आकोला की कोर्टसे विवाह रोकनेके लिए इंजंक्शन निकलवा दिया। फिर भी सेठजी नहीं माने और अपने धनके ज़ोरसे ब्याह करके ही शान्त हुए । इस पर सेठजी और कन्याके तीन रिश्तेदारों पर मुकद्दमा चलाया गया । फल यह हुआ कि चारों सज्जन छह छह महीनेके लिए बड़े घर भेजदिये गये । नागपुर हाईकोर्टमें अपील करने पर भी यही सज़ा बहाल रही । मालूम नहीं सेठजीको यह ससुराल नई लाड़ी जी के बिना कहाँ तक पसन्द आती होगी ।

> कर्मशील, बलवान, 'वीर' महावीर, बनो,
> आपदामें सहो, पीछे क़दम हटाओ न ॥
> —रघुवीरसरण जैन 'वीर' मुरादाबाद ।

रीवाँराज्यमें बालविवाहनिषेधक क़ानून ।

रीवाँ नरेशने हाल ही एक क़ानून बनाया है जिसके अनुसार उन माबापोंको सज़ा दीजायगी, जो अपने लड़के और लड़कियोंका विवाह १८ और १२ वर्ष की उम्रसे पहले करेंगे । तमाम देशी राज्योंमें इस प्रकारके क़ानूनकी ज़रूरत है ।

विवाहित स्त्रीको एक हज़ारमें बेची।

धूलियाके एक मारवाड़ीकी पत्नी राधा, चुन्नी नामके एक ब्राह्मणके साथ अपने बापके घरको इस कारण चलदी कि उसके पतिने एक रखेल रख छोड़ी थी और वह इस से अत्यन्त दुखी थी । ब्राह्मण देवताने देखा कि भागनेसे इसका दुःख तो दूर हो जायगा: परन्तु मुझे क्या लाभ होगा ? सोच विचार कर उन्होंने एक जगह लेजाकर उसे एक हज़ाररुपयामें एक 'नागर' को बेच दी। अन्तमें भंडा फूट गया और चुन्नी और नागर दोनों गिरफ़्तार हुए । दोनों को सज़ा भी हो गई । परन्तु 'राधा' का क्या होगा ?

सम्मेदशिखर और मुकद्दमेबाज़ी ।

सम्मेदशिखरकी एक अपील विलायतकी प्रिवी कौन्सिलमें चलरही थी, उसका फ़ैसला अभी हालही हुआ है जो श्वेताम्बरसम्प्रदायके लाभमें हुआ है। श्वेताम्बर भाइयोंने राजा पालगंजसे जो बैनामा करा लिया था, उसको मंसूख करानेके सम्बन्धका यह मामला था— 'सेल कैन्सलेशन केस' । अनुमान किया जाता है कि इस काममें शुरूसे अबतक लगभग दो लाख रुपया दिगम्बर सम्प्रदायका और तीन लाख रुपया श्वेताम्बर सम्प्रदाय

का खर्च हुआ है। इसी तरहका एक मामला, अभी और भी दोनों सम्प्रदायोंके बीचका प्रिवी कौन्सिलमें है—इंजंक्शन केस। उसमें भी आशा करनी चाहिए कि इससे कम खर्च न होगा। इन और इन्हीं सरीखे पावापुरी आदिके दूसरे झगड़ोंके सम्बन्धमें विचार करने पर मालूम होता है कि हममें साम्प्रदायिक कट्टरता कितनी बढ़ी हुई है और हमारे धार्मिक विचार कितने विकृत होगये हैं कि हम दोनों ही जगदुद्धारक शान्तिप्रचारक महावीर भगवान्के अनुयायी बननेका दावा करते हुए भी परस्पर हिल-मिलकर नहीं रह सकते और इस अत्यन्त ग़रीब देशका रुपया इतनी बेरहमीके साथ धर्मके नाम पर खर्च किये जाते हैं!

जैनों में अस्पृश्यता और महात्मा गाँधी।

महात्मा गाँधी गुजराती 'हरिजन बन्धु' में लिखते हैं—"जैन ग्रन्थों और अपने जैन मित्रोंके परिचयसे मुझे मालूम हुआ है कि जैनोंमें तो अस्पृश्यताकी गन्ध भी न होनी चाहिए। परन्तु अस्पृश्यताका स्पर्श जैनोंको भी अच्छी तरह हो गया है। कवि श्री राजचन्द्र कहा करते थे कि जैनमत मुख्यतया वैश्य वर्गमें फैला, इस लिए जिनमें सर्वश्रेष्ठ वीरता होनी चाहिए उनमें भीरुता आ बसी है और जिनमें उत्तम ज्ञान होना चाहिए उनमें शुष्कता आगई है और ज्ञानहीन तपका कोई प्रभाव नहीं रहा है। चूँकि जैनोंके साथ मेरा विशेष परिचय है, इसलिए इस आरोपमें जो सत्य निहित है उसका मैं साक्षी हूँ और इससे मुझे हमेशा दुःख होता रहा है। अहिंसाधर्मपर जैनोंने अपना विशेष अधिकार मान रक्खा है परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप तो बिलकुलही ढँक गया है। मनुष्येतर प्राणियोंपर की जाने वाली दयाने भी वक्र स्वरूप धारण कर लिया है और उसका अमल बलात्कारसे कराते हुए भी अनेक व्यक्ति संकोच नहीं करते हैं। यदि जैनोंमें अहिंसा शुद्ध रूपमें जीवित होती तो अस्पृश्यताकी गन्ध भी जैनोंमें न होती और प्रत्येक जैन प्रेमकी मूर्तिस्वरूप देखनेमें आता और जैनों में से ही ढेरों सेवक और सेविकायें निकल पड़तीं।"

अस्पृश्योद्धार का पूर।

ता० २५ फ़रवरीके 'प्रगति आणि जिन विजय' में उसके विद्वान् सम्पादक लिखते हैं—"अस्पृश्योद्धार के विषयमें हिन्दू समाजमें जो ज़ोर शोर का आन्दोलन शुरू हुआ है, उसका प्रभाव यदि जैनधर्मानुयायियोंपर न पड़ता तो आश्चर्य होता। जैन समाज का सुधारक पक्ष व्यर्थ बकवाद न करके अपनी कृतिसे सुधार करने वाला है, परन्तु पण्डितपक्ष इससे बिलकुल भिन्न है। वह इस विषयके शास्त्र-प्रमाणोंके बन्दूकोंके फैर करने लगा है। परन्तु जब ये शास्त्र-प्रमाण लँगड़े और अपूर्ण सिद्ध होने लगते हैं तब ऐसे मौक़ों पर वह अपनी रक्षाके लिए सन्यासियों—जैन मुनियोंके अभिप्रायोंका किला ढूँढने लगता है। इस तरहके अन्धभक्तोंकी कमी नहीं है जो मुनिजनोंको सर्वज्ञ मानकर उनके प्रत्येक शब्दपर अत्यन्त विश्वास रखते हैं और इसलिए अनेक मौक़ों पर वास्तविक शास्त्रप्रमाण एक तरफ़ रक्खे रह जाते हैं और उक्त मुनिजनोंके शब्दोंको शास्त्राज्ञाका स्वरूप प्राप्त हो जाता है। कुछ मुनिजनोंके पवित्र आचरण, मनोनिग्रह और दूसरे असामान्य गुणोंके विषयमें अत्यन्त आदरभाव रखते हुए भी सुधारकों की यह विशेषता है कि वे अपने मन और मस्तिष्कको उनके यहाँ बिलकुल गिरो नहीं रख देते हैं। देशकाल और देशकी परिस्थितियोंका विचार करके और विवेक बुद्धि जागृत रखकर वे ऐसे मुनियोंके शब्दोंपर इतना विश्वास नहीं रखते हैं कि वे जो कुछ कहें, उसीको शिरसा मान्य करलें। शास्त्रकारोंपर भी उनके समयकी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और इसलिए आचार विचारोंमें और कर्मकाण्डके विषयमें जुदा जुदा और परस्पर भिन्न आधार मिलते हैं। हाँ, अहिंसादि मूलभूततत्त्व स्वयंसिद्ध और प्रत्येक परिस्थितिमें एकरूप ही रहते हैं और इसीलिए उनके विषयमें मतभेद नज़र नहीं आता। अस्पृश्यताके विषयमें २५-३० वर्ष पहले इधरके जैनसमाजमें कौनसी परिस्थिति थी और आज क्या है, इस विषयका मुनि श्री शान्तिसागरका अनुभव पहले विचारमें लेकर फिर उनके वर्तमान वचनोंका मूल्य ठहराना चाहिए। ऐसा न करके यदि कोई उनके वचनोंका आधार लेकर छलाँग मारेगा, तो किसी गहरे गड्ढेमेंही पड़ेगा।"

बीस हज़ारमें वर विक्रय।

हमें विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि संयुक्त प्रान्तीय एक प्रसिद्ध ज़िलेके जहाँ कि श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्का बहुत कुछ प्रचार भी होचुका है, एक जैन रायबहादुर साहबने अपने पुत्रका एक सेठजी साहबकी पुत्रीसे सम्बन्ध करनेके बदलेमें सेठजीसे लड़केको विलायत पढ़ानेके लिये, लगभग २० हज़ार रुपया ठहराया है। उक्त रायबहादुर महोदय अपने शहरके धनी व मानी सज्जनोंमें से एक हैं, फिर यह समझमें नहीं आता कि क्यों वे अपने अनमोल लालको २० हज़ार रुपयोंमें विक्रय कर रहे हैं? क्या वे स्वयं लड़केको अपने द्रव्यसे विलायत में शिक्षा नहीं दिला सकते?

यदि यह बात सत्य है तो हम रायबहादुर साहबसे निवेदन करते हैं कि वे समाजकी वर्तमान परिस्थितिको देखते हुए इस घोर हानिकारक तथा समाज नाशक प्रथा को कभी भी अपने द्वारा कार्यमें परिणत न होने दें। साथ ही नवयुवक वर महाशयसे भी हमारा यह कहना है कि वे उपरोक्त प्रस्तावको निर्भीकतापूर्वक अस्वीकार करके अपने कर्तव्यका पूर्णरूपसे पालन करें और अन्य नवयुवक विद्यार्थियोंके सन्मुख उच्च आदर्श रखनेका गौरव प्राप्त करें।

अन्तमें मैं "भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्" व जैन विद्यार्थीमण्डलके कार्यकर्ताओंसे भी यह निवेदन करूंगा कि वे शीघ्र अपना ध्यान इस ओर आकर्षित कर के इस कुप्रथाको कार्यरूपमें न होने दें। —स्पष्टवक्ता।

खण्डेलवाल जैनहितेच्छुकी घृणित नीति।

पत्रसंचालकोंकी यह नीति रहनी चाहिये कि किसी भी बारेके समाचार देते हुये, चाहे वे अपने मन्तव्योंकी पुष्टिमें हों अथवा विपक्षमें, सत्यका अवलम्बन न छोड़ें और यथार्थ समाचार ही प्रकाशित करें। इसीसे संसारमें ऐसे पत्रोंके प्रति लोगोंकी श्रद्धा बढ़ती है। जैनजगत्की नीति प्रारम्भसे ही ऐसी रही है और उसके संचालकोंको हमेशा यह चिन्ता रहती है कि पत्रमें प्रकाशित सम्वादोंमें कोई भी बात असत्य न निकल जाय। पर खेद, है कि जैनसमाजमें ऐसेभी कुछ समाचारपत्र मौजूद हैं कि जिनके संचालक अपने उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए किसी भी प्रकार की झूठी बातें लिखनेमें नहीं हिचकिचाते। ऐसे पत्रों में, पंडित इन्द्रलालजी शास्त्रीके सम्पादकत्वमें निकलने वाले खण्डेलवालजैनहितेच्छुका खास स्थान है। इस पत्रके ता० २७ मार्च सन् १९३२ के अंक नं० ९ में मदनचन्दजी जैनके नामसे एक लेख निकला है कि जिसमें जैनजगत्के पिछले अङ्कोंमें निकले हुये खण्डेलवाल जैनमहासभाके रैणवाल अधिवेशन तथा श्रीशांतिसागरसंघसम्बन्धी समाचारोंको मिथ्या बतलानेकी धृष्टताकी गई है और प्रत्यक्ष सत्य बातोंसे भी इनकार किया गया है। इसी अङ्कमें सम्पादक महाशयने भी अपने खुदके नामसे एक नोट हमारे व जयपुरके सुधारकपत्रोंके सम्बन्धमें अण्डबण्ड लिखा है। हमारे कुछ मित्रोंकी सलाह थी कि उक्त लेखोंका जवाब दिया जाना चाहिये, पर हमारी समझमें ऐसे लोगोंके लेखोंके जवाब देनेमें कोई फ़ायदा नहीं कि जिनके नज़दीक सत्य—असत्यका कोई भेद या विचार ही नहीं है और जो शुरूसे लेकर आखिर तक सभी झूठ लिखनेमें भी नहीं हिचकिचाते और जो सैकड़ों आदमियोंकी जानकारीवाली बातोंके बारेमें भी झूठ लिखते नहीं शरमाते। ऐसे लोगोंको जवाबात देनेके लिए न तो हमारे पास समय ही है और न हम इसकी आवश्यकता ही समझते हैं।

एक दफ़ा एक रास्तेमें एक सिंह बैठा हुआ था। संयोगसे उसी रास्ते एक सूअर जा निकला और उसने सिंहसे कहा कि मुझे रास्ता दे। सिंहने कहा कि भाई, यहाँ हम बैठे हैं, तुम दूसरे रास्तासे चले जाओ, पर सूअर सीधे तौर पर कब माननेवाला था। वह बोला कि या तो तुम खड़े हो कर मुझे रास्ता दो वरना मेरेसे हार मानो। यह सुनकर सिंह ने हँस कर कहा:—

गच्छ शूकर ! भद्रं ते, वद सिंहो जितो मया।
लोकाः स्वयं विजानन्ति, सिंहशूकरयोर्बलम् ॥

अर्थात् अरे सूअर ! तेरे लिए यही अच्छा है कि तू यहाँसे चला जा और लोगोंसे यह कह दे कि मैंने सिंहको जीत लिया। लोग खुद जानते हैं कि सिंह और शूकर इन दोनोंमें किस किसमें कितनी कितनी ताक़त है।

हमाराभी पंडित इन्द्रलालजीसे यही निवेदन है कि आप अपने पत्रमें कुछभी सच्ची झूँठी बातें लिखते रहिये, हमें इसकी कोई चिन्ता नहीं है। जयपुरमें तो आपने और आपके परमपूज्य गुरु श्री शान्तिसागर जीने सुधारकदलको कुचलनेके लिए भरपूर कोशिश करली, पर कुछ फल न निकला। सुधारकपक्षमें और आपके पक्षवालोंमें कितना कितना बल है, इस बातको जयपुर जैनसमाजका तो बच्चा बच्चा जानता है ही, बाहिरके जैनी भी बहुत कुछ जान गये हैं और जान जायेंगे. भले हीसे आप कितना ही अपना अपनी पार्टी, महासभा अथवा मुनिसंघकी तारीफ का राग अलापते रहिये।

—कर्पूरचन्द्र पाटणी, जयपुर।

जैनधर्मका मर्म पर सम्मति

[२४]

मान्यवर पण्डितजी महोदय,

जबसे "जैनजगत" में "जैनधर्मका मर्म" शीर्षक लेखमाला निकलनी शुरू हुई है, तबसे अबतक मेरे विचारों में एक घोर परिवर्तन होगया है। यद्यपि मैं यह कहनेको तैयार नहीं हूँ कि मैं लेखमालासे पूर्णतः सहमत हूँ परन्तु साथ ही निर्भीकतापूर्वक यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मैं उसके अधिकांश में सहमत हूँ। मेरी सदा यह नीति रही है कि मेरे सन्मुख जो बात भी विचारने योग्य आती है उस पर मैं खूब विचार करता हूँ और यदि वह बुद्धिकी कसौटी पर सत्य जँचती है तो मैं अपनाए बिना नहीं रहसकता; परन्तु यदि वह असत्य ठहरती है तो मैं उसे कभी किसी हालतमें भी नहीं अपनाता। लेखमाला के कुछ विषय अभी मेरे लिये विचाराधीन हैं, अतः यह बतलाना कि मैं अमुक भागसे सहमत हूँ, अमुकसे नहीं— ठीक न होगा।

निःसंदेह आपकी लेखमाला विचारशील तथा निष्पक्ष सत्यप्रेमियोंके लिये एक अमूल्य वस्तु है और 'अन्धविश्वास' के भयंकर रोगसे ग्रसित जैनसमाजके लिये एक रामबाण औषधि है। वास्तवमें आपने यह लेखमाला निकाल कर जैनसमाजपर ही नहीं बल्कि समस्त संसारके सत्यखोजियों व धर्मप्रेमियोंपर बड़ाभारी उपकार किया है।

पंडितजी, मैं आपकी लेखनीपर मरता हूँ। आप की लेखनी अत्यन्त चित्ताकर्षक, मनोहर, भाव-पूर्ण व अजीब है। जैनसमाज आप जैसे अमूल्य रत्नों पर क्यों न गर्व करे? भले ही कुछ मूर्ख लोग आप को बुरा कहें परन्तु समझदार मनुष्यतो आपका सप्रेम आदर ही करेंगे। आपकी पाण्डित्यपूर्ण विद्वत्ताके आगे विरोधियोंके सिर झुकगये हैं, इसके लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। मैं आपकी कृतियोंको सदा आदर व प्रेमकी दृष्टिसे देखता रहा हूँ। मुझे आपके दर्शनकी अत्यन्त अभिलाषा है। मुझ पर कृपादृष्टि रखते रहिये।

—रघुवीरशरण जैन, मुरादाबाद।

नोटः—श्रीयुत भाई रघुवीरशरणजी, जैनजगत्के पुराने पाठक हैं। जब तक विधवाविवाह आदिके आन्दोलन चलते रहे तब तक जैनजगत्के आप अच्छे समर्थक थे परन्तु दिगम्बरत्वसम्बन्धी मेरे विचारोंसे तथा लेखमाला के क्रान्तिकारी भागोंसे आप चौंके। आपने कुछ पत्र भी मुझे लिखे जिसके उत्तरमें मैंने इतना ही लिखा कि आप जैनजगत् पढ़ते रहिये और अपनेको कट्टर जैनी न समझ कर सत्यान्वेषी समझिये। सम्भवतः इससे आपका समाधान होजायगा। एक वर्षके बाद मेरा अनुमान सत्य निकला है। जो लोग चिढ़कर, अभिमानवश, या असहिष्णुतासे जैनजगत्का बहिष्कार करनेपर उतारू होजाते हैं वे अपनी कमज़ोरी तो साबित करते ही हैं, साथही आत्मकल्याणके मार्गमें भयंकर बाधा डालकर आत्मघात

करते हैं। वे सत्यको ठुकराते हैं। भाई रघुवीरशरणजीने सत्यान्वेषी बन कर अपने जैनत्वकी रक्षा की है। उनकी इस दीर्घदर्शिताका अगर दूसरे लोग भी अनुकरण करें तो वे भी अपना कल्याण कर सकते हैं। अगर मेरे विचार असत्य होंगे तो उन्हें खण्डन करनेकी सामग्री मिलेगी और वे अपने विचारोंको सुरक्षित करनेके प्रयत्नमें लगेंगे। अगर मेरे विचार सत्य होंगे तो उन्हें सत्यकी प्राप्ति होगी। जो अपने पक्षको कमज़ोर समझते हैं और जिन्हें मिथ्यात्व के उदयसे सत्यप्रियता नहीं आपाई है वे ही बहिष्कार करते हैं। —सम्पादक।
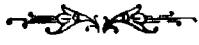
वर्तमान समाज–तन्त्रका नाश हो।

मैं अपनी इस वर्तमान समाज-रचनाका नाश चाहता हूँ जो बन्धुता के लिए सृष्ट हुई मानवजातिके भीतर परस्पर विरोधी वर्ग खड़ा करती है, सबलों और निर्बलों के बाड़े पैदा करती है और धनियों और गरीबों के भेद-भाव को जन्म देती है।

वर्तमान समाज-रचनामें करोड़ों मनुष्य मुट्ठीभर मनुष्योंकी गुलामी बरदाश्त करते हैं और मुट्ठीभर मनुष्य अपनी दौलतकी गुलामी करते हैं। अतएव मैं इसका नाश चाहता हूँ।

मैं उस तन्त्रका नाश चाहता हूँ जो मजूरीमें से मौजको मिटा देता है, मजूरीको गुलामी बना देता है, मौजको दुर्गुण गिनता है, एक मनुष्यको ज़रूरतसे बहुत कम देकर कंगाल रखता है और दूसरेको ज़रूरतसे बहुत ज्यादा देकर चिन्तातुर बना देता है।

मैं उस समाज-तन्त्रकी इमारतको ज़मींदोज़ करना चाहता हूँ, जो अर्थहीन चीज़ोंके लिए और स्थूल मनुष्योंकी पूजाके लिए मानवजातिकी सर्वोत्तम रचना शक्तिका अपव्यय कराता है।

जो तन्त्र मानवजातिके एक भागको अर्थहीन व्यवसायोंमें लगा रखता है, फौजकी नौकरी, क्लर्की, सट्टा, ब्याजखोरी और ऐसे ही और अनेक सुस्त काम काजोंमें लाखों मनुष्योंकी अवाणीके ओजको नष्ट कराया करता है और इन तिरस्कारयोग्य व्यवसायोंसे बाहरके शेष मनुष्यों से अमर्याद मजूरी कराके उनकी ज़िन्दगीका सारा रस लूट लेता है, उस समाज-तन्त्रका मैं नाश चाहता हूँ।

बलात्कार, झूठ, आँसू, ग़मगीनी, कंगाली, दग़ा फ़रेब, दुःख और अपराधोंकी ईंटोंसे चिनी हुई इस समाज तन्त्रकी इमारतका नामोनिशान मिटा देनेकी मेरी इच्छा है। इस समाज-तन्त्रकी एक एक स्मृतिका मैं नाश चाहता हूँ। —रिचर्ड वाग्नर।
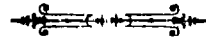
वर्ण धर्म।

(लेखक—महात्मा गाँधी।)

"आप कहते हैं, कि उच्च-नीच-भाव नष्ट होना चाहिए, छोटी-छोटी जातियाँ न रहनी चाहिएँ। किसीके साथ रोटीव्यवहार करना और बेटी-व्यवहार करनेके लिए भी अवकाश रखना—और फिर यह कहना, कि हम वर्ण व्यवस्थाको तोड़ना नहीं चाहते, उसमें केवल सुधार चाहते हैं! आपकी इन असंगत बातोंका क्या अर्थ होता है? यह तो मुझे एक पहेली सी दिखाई देती है।

इसी समस्या के अन्तर्गत दूसरी पहेली यह है—ब्राह्मण और वैश्यके विवाहका निषेध नहीं, तो ब्राह्मण और शूद्रके विवाहमें भी प्रतिबन्ध न होना चाहिए। और अगर यह बात ग्राह्य हो तो हरिजनोंके नेताओंकी बात भी कैसे अग्राह्य कही जा सकती है, जब वे कहते हैं, कि जबतक आप लोग अपनी बेटियाँ हमें न देंगे तब तक हम नहीं मानेंगे कि आप हमसे समान भाव रखते हैं? वर्णव्यवस्था बनी रहेगी—आपका यह आश्वासन बहुत तसल्ली नहीं दे सकता। और विवाह पर आप कुछ मर्यादा रखना चाहते हैं या नहीं?"

एक हरिजन-सेवकने ये प्रश्न पूछे हैं। मेरी बातें पहेली-सी लगती हैं, क्योंकि मैं प्रचलित वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानता हूँ। वर्तमान वर्ण-व्यवस्था तो स्पर्शास्पर्श और रोटी-बेटी-व्यवहारका प्रतिबन्ध—इन दो बातोंमें ही आजाती है। आजकलकी स्पर्शास्पर्श की नीतिको मैं धर्मका अंग नहीं समझता। वह तो धर्मके शरीरपर एक

बतौरी है, जिसे दूर ही करदेना चाहिए। रोटी-बेटी-व्यवहारके प्रतिबन्ध को वर्ण-व्यवस्थाका अंग मानने के लिए रूढ़िको छोड़कर शास्त्रका कोई आधार नहीं।

वर्णका तो आजीविकाके पेशेके साथ निकट संबंध है। प्रत्येक व्यक्तिका पेशा उसका स्वधर्म है। उसे छोड़ देने से वह वर्णभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। मतलब यह है, कि उसकी आत्माका हनन हो जाता है। वह व्यक्ति वर्णसंकरता का दोषी है। उससे समाज को हानि पहुँचती है। जब सब लोग अपने अपने वर्ण-धर्मका त्याग कर देते हैं तब समाज की व्यवस्था छिन्न भिन्न होजाती है, अंधेर होने लगता है और फिर समाज नष्ट हो जाता है। ब्राह्मणका धर्म अध्यापन का है। उसे उसने छोड़ दिया, कि उसका पतन हुआ। क्षत्रियने प्रजा-रक्षण का काम छोड़ा, कि वह वर्ण-भ्रष्ट हुआ। वैश्य द्रव्योपार्जन का धर्म छोड़कर वर्ण-च्युत हो जाता है और शूद्रका पतन सेवाधर्म छोड़ने से हो जाता है।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संशुद्धिं लभते नरः।'

स्वधर्म त्यागको पतनका पर्याय ही समझना चाहिए। स्वधर्मका त्याग कर देनेवाले ब्राह्मण से स्वधर्म पालन करने वाला शूद्र श्रेष्ठ है।

इस वर्ण-व्यवस्था में अधिकारकी बात नहीं। यहाँ तो केवल कर्तव्यकी बात है। और जहाँ सिर्फ़ कर्तव्यकी ही बात हो, वहाँ उच्च-नीच-भावके लिए स्थानहीं कहाँ?

आजकल वर्ण-धर्मका लोप दिखाई दे रहा है। एक भी वर्ण अपना धर्म छोड़ देता है तो वर्ण-लोप हो जाता है। आज तो ब्राह्मणने ब्राह्मणत्व का, क्षत्रियने क्षत्रियत्व का और वैश्यने वैश्यत्वका त्याग कर दिया है। यदि इस पर कोई यह शंका करे कि द्रव्योपार्जन तो सब कोई करलेते हैं, तब फिर यह क्यों माना जाय कि वैश्य धर्म का लोप हो गया है? यह ठीक नहीं है। आजकल वैश्य तो अपने स्वार्थ के लिए ही द्रव्योपार्जन करता है, अतएव वह गीता की भाषा में चोर ही है—'स्तेन एव सः'। वैश्य का धर्म तो यह है कि वह द्रव्योपार्जन करके अपनी आजीविका के लिए उसका उचित अंश रखले और शेष समाजके हितार्थ देदे। ऐसे वैश्य-धर्मका तो शायदही कोई पालन करता हो। इसलिए उसका भी लोप ही हुआ समझें।

रहा शूद्र-धर्म। कितने ऐसे शूद्र होंगे, जो शुद्ध शूद्र-धर्म अर्थात् सेवा-धर्मका पालन करते हैं? अनिच्छावश की हुई मज़दूरी सेवा नहीं है। धर्ममें बलात्कार के लिए स्थान नहीं। धर्म समझकर स्वेच्छासे समाजकी उन्नतिके लिए की गई मज़दूरी ही सेवा कही जासकती है। इसलिए यह तो दुःखपूर्वक स्वीकार करनाही पड़ेगा, कि वर्ण-धर्म का सर्वथा नाश हो गया है। शूद्र का अर्थ 'मज़दूर' करने से शूद्रका अपमान किया गया है और हिन्दू धर्म को हानि पहुँचाई गई है।

पर यह स्पष्ट है, कि वर्ण-धर्मतो हर हिन्दूकी रगरग में समा गया है—भूलसे भले ही रोटी-बेटीके व्यवहारको ही वर्ण-धर्मके लिए पर्याप्त समझ लिया हो। वर्ण-धर्मकी कल्पनाके बिना हिन्दू मात्रके हृदयको शांति नहीं। इसलिए वर्ण धर्मका पुनरुद्धार सम्भव है। इसका एकमात्र साधन तप है। तप ही एक महाशक्ति है, जिससे धर्मकी रक्षा और उसकी संस्थापना हो सकती है। ज्ञान-शून्य तप, तप नहीं। वह तो केवल शारीरिक क्लेश ही है। तप और ज्ञानका संमिश्रण ब्राह्मण-धर्ममें ही होसकता है। ब्रह्म-ज्ञानके लिए जो शुद्ध परिश्रम करता है, वही ब्राह्मण होनेके योग्य है। अगर आज ऐसा परिश्रम किया जायगा, तो किसी न किसी दिन हिन्दूधर्म याने वर्ण-धर्मका उद्धार होजायगा। सौभाग्यसे आज ऐसा परिश्रम करनेवाला एक छोटासा समूह मौजूद है। इसलिए मेरी तो यह अचल श्रद्धा है, कि हिन्दू-धर्म—शुद्ध सनातन-धर्म—पुनः एक बार अपना तेज प्रकट करेगा और संसारको कल्याणका मार्ग दिखायगा।

मेरा हिन्दू-धर्म सर्वव्यापक है। उसमें न तो किसी धर्मके प्रति द्वेष है, न अवगणना। समस्त धर्म एक दूसरेके साथ ओतप्रोत हैं। प्रत्येक धर्ममें कई विशेषताएँ हैं, किन्तु एक धर्म दूसरे धर्मसे श्रेष्ठ नहीं। जो एक में है वह दूसरे में नहीं है। इसलिए एक धर्म दूसरे धर्म का पूरक है। अतः एक धर्मकी विशेषता दूसरे धर्मकी विशेषता के प्रतिकूल नहीं हो सकती, जगत् के सर्वमान्य

सिद्धान्तोंकी विरोधी नहीं हो सकती। इस दृष्टि से वर्ण-धर्म को देखेंगे तो मालूम होगा, कि उसका जो अर्थ मैंने किया है, वही निकल सकता है, और इतिहास सिद्ध करता है कि एक समय हिन्दू कहे जानेवाले सभी लोग ऐसे धर्म का स्वेच्छापूर्वक पालन करते थे।

इस वर्णधर्मका पालन पुनः होने लगे, इसलिए हर एक व्यक्ति को आवश्यक है कि वह स्वेच्छापूर्वक शूद्र धर्म को स्वीकार करले। शूद्र मुख्यतया शारीरिक श्रमसे सेवा करता है। यह धर्म सबके लिए सुलभ और सुसाध्य है। और क्योंकि आजकल शूद्रवर्ण नीच वर्ण मानाजाता है, इसलिए सब अपने को शूद्र मानने लगेंगे, तो उच्च नीच का भाव न रहेगा।

अगर अपने को शूद्र मानें तो हरिजन क्यों नहीं? यह प्रश्न हो सकता है। इस आग्रहका विरोध मैं नहीं करता। लेकिन धर्ममें पाँच वर्ण नहीं हैं और अस्पृश्यता तो आखिरी साँस ले रही है। इसलिए शूद्र बनना ही मुनासिब होगा। जिस दिन भारत-भूषण पण्डित मालवीयजीकी अध्यक्षतामें गत सितम्बर मासमें हिन्दू-जाति के नाम से बंबई में प्रतिज्ञा की गई, उसी दिन हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं रहा। इसलिए वर्णधर्मके पुनरुद्धारके समय सबको हरिजनों में गिनने की बात ठीक मालूम नहीं होती। जब हरिजन और हम सब शूद्र धर्म का पालन करते हुए शूद्र बन जायँगे, तब हम सबके सब हरि के जन हो जायँगे।

जब सभी ज्ञानपूर्वक सेवा धर्मका पालन करने लगेंगे और शूद्रोंमें अपने को गिनाने लगेंगे, तब ब्रह्म-विद्या कोई सीखेगा ही नहीं, यह बात तो नहीं है। अपनी रुचि के अनुसार कोई ब्रह्म-विद्या सीखेगा और कोई सिखायगा। कोई प्रजा-पालन करेगा, तो कोई द्रव्योपार्जन करेगा। सबके रहन-सहन का ढंग एकसा ही होगा। करोड़पति और कौड़ीपति, ऐसा भेद नहीं रहेगा। वैश्य का धन प्रजा का ही धन होगा। सब शूद्र होंगे। फिर कौन उच्च और कौन नीच? ऐसे धर्म-पालन से ही वर्ण धर्म का पुनरुद्धार होगा।

वर्णधर्ममें वंश परंपराकी प्रणाली अवश्यही रही है। इसके बिना सुव्यवस्था असम्भव है। इसलिए अध्यापन करनेवालोंकी सन्तान उसी धर्मका पालन करेगी। सबके सब एकाएक ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकते। अगर बन सकें तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी बननेका अर्थ सेवाकी पराकाष्ठाको पहुँचना है। उसमें अभिमान या स्वार्थकी गंध भी नहीं आ सकती। ऐसे ब्रह्मज्ञानी जब काफ़ी तादाद में पैदा होंगे, तब कहीं वर्णव्यवस्थाका पुनरुद्धार होना शक्य है।

अब रोटीबेटी व्यवहारके बारेमें दो शब्द कहे जाते हैं। उपर्युक्त विचारोंका मर्म जो समझ गये हैं, उनके लिए अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। किसीका किसीके साथ रोटी खाना कर्तव्य नहीं है, न किसीको अपनी लड़की देना ही कर्तव्य है। इसलिए स्वाभाविक रीतिसे सब लोग अपने अपने समान रीतिरस्मवालोंके साथही रोटी बेटीका व्यवहार रखेंगे। आज तो एक वर्णकी मैंने कल्पनाकी है और हरिजनोंका उसी वर्णमें समावेश होता है। इसलिए अपनी अपनी अनुकूलताके अनुसार सब लोग अपने अपने सम्बन्ध ढूँढलेंगे—और जिसका मन जहाँ चाहता होगा और जहाँ अपनेको शांति मिलेगी, वहीं वह खायगा उठेगा बैठेगा। अस्पृश्यताका सदाके लिए नाश होने पर इस विषयमें कुछ कहनेको रहता ही नहीं।

अन्तमें, एक बात फिरसे दुहराता हूँ। वर्ण-व्यवस्थाके प्रश्नका अस्पृश्यताके प्रश्नके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। अस्पृश्यता-निवारण हिंदू-मात्रका परम धर्म है। इसके लिए ही हरिजन-सेवक-संघकी स्थापना हुई है। उसने अपना क्षेत्र तैयार कर लिया है। मेरी भी उसके लिए ज़िम्मेवारी है।

वर्णधर्मके सम्बन्धमें मेरे ये विचार हैं। उन्हें स्वीकार न करनेवाले भी अस्पृश्यता-निवारणके कार्यमें अलग नहीं रह सकते हैं; और इस वास्ते घबरा जानेकी ज़रूरत नहीं है कि मैं ही इस कार्यका प्रधान प्रणेता हूँ। अगर हिंदू-समाज वर्णव्यवस्था-सम्बन्धी मेरे विचार स्वीकार न करेगा, तो वे मेरे ही पास रहेंगे। अपने विचार स्वीकार करानेके लिए मैं किसीको मजबूर नहीं करूँगा; न करने की मेरी इच्छा है। अगर ये विचार हिंदूधर्मके विरोधी होंगे, तो समाजमें से मैं कंकड़-सा हटा दिया जाऊँगा। लेकिन अस्पृश्यता-निवारणकी प्रतिज्ञाका पालन तो प्र-

महावीरकी संघ-व्यवस्था ।
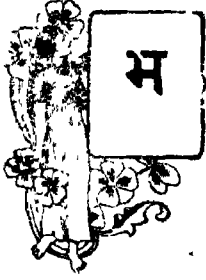
भगवान महावीरके जीवनमें यों तो अनेक आश्चर्यजनक विशेषताएँ पाई जाती हैं और वे विशेषताएँ अन्धश्रद्धालुओंके लिये ही आश्चर्यजनक नहीं हैं किन्तु विद्वानों और परीक्षकोंके लिये भी आश्चर्यजनक हैं । भगवानका ज्ञान अद्भुत था और चरित्र और तपमें तो वे चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे । इसके अतिरिक्त और भी विशेषताएँ थी परन्तु जिस विशेषताने जैन समाजको आजतक जीवित रखनेमें मुख्य भाग लिया है वह थी उनकी प्रबन्ध-कुशलता । वे जितने बड़े ज्ञानी थे, जितने बड़े तपस्वी थे, जितने बड़े लोकहितैषी थे, उतने ही बड़े व्यवस्थापक भी थे । उनकी संघव्यवस्था वास्तवमें आश्चर्यजनक थी ।

जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों भारतमें प्रचलित हुए हैं, दोनोंने राज बल प्राप्त किया है, बल्कि एक दो घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि जिनसे बौद्धधर्मका कुछ अधिक प्रचार हुआ है, फिरभी हम देखते हैं कि अनेक तरहकी आपत्तियाँ आने पर भी जैनधर्म टिका रहा और बौद्धधर्म उखड़ गया । इसके अनेक कारण हैं परन्तु उसका मुख्य कारण संघ-व्यवस्था का अन्तर है । महावीरकी संघ-व्यवस्था इतनी सुदृढ थी कि उससे जैनधर्म उन आपत्तियोंका सामना कर सका ।

महावीर और बुद्धमें हम प्रारम्भसे ही इस विषयमें अन्तर पाते हैं । बुद्धने प्रारम्भमें सिर्फ साधु संघकी स्थापना की थी । जो लोग साधु नहीं हो पाते थे वे उपासक (गृहस्थ) बनते थे । परन्तु उनका कोई संघ नहीं था । और साध्वी संघ तो मूल में था ही नहीं । वह तो आनन्दके अनुरोधसे पीछे हुआ । परन्तु महावीरने प्रारम्भसे ही चार संघकी व्यवस्था की थी और ये चारों ही संघ अपने अपने क्षेत्रमें स्वतन्त्र होनेपरभी एक दूसरेके ऊपर पूरा प्रभाव रखते थे । फल इसका यह हुआ कि जब कोई

त्येक हिंदूका सामान्य धर्म है । मैं अपने वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचार प्रकट भरकर देता हूँ क्योंकि मैं किसीको धोखेमें नहीं रखना चाहता । वर्णव्यवस्थाके प्रश्नका अस्पृश्यताके साथ परोक्ष सम्बन्ध है सही । इसलिए अपने साथियोंकी इस विषयकी जिज्ञासा समझना मेरे लिए कठिन नहीं है । इसीसे मैंने यहाँ इस सम्बन्धमें थोड़ा विस्तार किया है । इन विचारोंसे किसीको दुविधामें पड़नेकी ज़रूरत नहीं है, न दुःख मानने की । धर्मके विषयमें व्यक्तिकी कोई गिनती नहीं । व्यक्ति आज है, कल नहीं । धर्म सनातन है और सनातन रहेगा । उसके बारेमें नित्य नवीन कल्पनाएँ होती आई हैं और होती रहेंगी । जैसे ईश्वरके गुण अनंत है, धर्मकी मर्यादा भी वैसे ही अनंत है । धर्मको सम्यक् रूपसे किसीने नहीं जाना । यह काफ़ी है, कि जितना जिसका धर्मज्ञान हो उतना उसे वह पालन कर ले । बस, इतना होता रहेगा, तो धर्मकी प्रगति और जागृति होती ही रहेगी ।

इतना स्मरण रखते हुए, मुझे अलग रखकर, सब लोग अपने अपने धर्मका संशोधन करलें । इसका संशोधन करने के लिए धर्म-पालन करनेके नियम तो सुविज्ञात हैं ही । धर्म का पालन करनेवालाही धर्मको जान सकेगा । प्रत्येक प्रकार के ज्ञानके लिए परिश्रम आवश्यक है । धर्म-संशोधनके लिए उसकी अधिक आवश्यकता है । इसलिए इस संशोधनके आरम्भमें ही अनुभवियोंने धर्मके नियमोंके पालनकी आवश्यकता बतलाई है । ['हरिजन-बंधु' से अनुवादित]

एक संघ कर्त्तव्यच्युत होने लगा है तो दूसरेके अ-कुशके कारण वह बहुत कुछ सम्हलता रहा है।

साधु-संघ

इस संघकी स्थापना तो प्रायः सभी धर्म संस्थापकोंने की है। इस संघमें ब्राह्मण, क्षत्रियसे लेकर चाण्डाल तक सभी को स्थान था। उस युगमें जब कि शूद्र लोग वेद सुननेके अधिकारी नहीं थे, वेद सुननेके अपराधमें उनका निर्दयतासे वध तक किया जाता था, जब कि लोगोंकी यह मान्यता थी कि शूद्र अगर तप करे तो उसका सिर काट लेना चाहिये— ऐसे ज़मानेमें भगवान महावीरने साधुसंस्थाके भीतर शूद्रों और उनमें भी चाण्डालों तकको स्थान दिया, उन्हें उच्चवर्णियोंके समान शास्त्राध्ययनकाभी अधिकार दिया; इतनाही नहीं किन्तु उन्हें केवलज्ञानी तक होनेका अवसर दिया, हरिकेशी सरीखे चाण्डाल महर्षियोंकी प्रशंसा की—यह भगवानकी उदारताका अद्भुत नमूना है।

ऐसी ही एक दूसरी उदारता मौर्यपुत्रके विषय में है। मौर्यपुत्रकी माँ विजया देवी पहिले धनदेव की पत्नी थी। धनदेवसे विजया देवीके मण्डिक नामक पुत्र हुआ। यही मंडिक पीछेसे महावीर के गणधर हुए। मण्डिकके जन्मके बाद धनदेवका देहान्त हुआ। तब विधवा विजयादेवीका दूसरा विवाह धनदेवके मौसेरे भाई मौर्यसे हुआ और मौर्यसे भी विजया देवीको एक पुत्र हुआ जो मौर्यपुत्रके नामसे विख्यात हुआ। ये मौर्यपुत्रभी भगवान महावीरके गणधर हुए। भगवान महावीरने ऐसी सन्तानको साधु ही नहीं बनाया किन्तु अपना खास शिष्य बनाया और अन्तमें मौर्यपुत्रने केवलज्ञान प्राप्त किया। इस विषयमें इससे बढ़कर और क्या उदारता हो सकती है?

भगवानका सारा साधुसंघ ११ गणधरोंके आधीन था। हर एक साधुको स्वयं भिक्षाके लिये जाना पड़ता था। स्वयं इन्द्रभूति गौतम तक भिक्षा को जाते थे। भिक्षामें अधिक भोजन लानेकी मनाई थी, लाई हुई भिक्षा गुरुको दिखलाना अनिवार्य था। भोजन लेनेमें अगर किसीको थोड़ा भी कष्ट होता हो या, दूसरे भिक्षुकोंको कष्ट होता हो तो भोजन लेनेकी मनाई थी। हरएक को आलोचना करनी पड़ती थी, प्रतिक्रमण करना पड़ता था, आदि। भिक्षुसंघके सूक्ष्मस्थूल विषयोंपर अगर विचार किया जाय तो हम उस साधुसंस्थाकी पवित्रता, अहिंसकता और लोकहितैषिताको आश्चर्य और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखे बिना न रहेंगे।

साध्वी-संघ

पुरुषोंके समान स्त्रियोंको भी अधिकार है— इस घोषणाका मूर्तिमन्त रूप भगवानका साध्वी संघ था। उस ज़मानेमें स्त्रियों का व्यक्तित्व नहीं के बराबर रह गया था। पुरुषोंकी सेवामें ही उनके धर्मकी इतिश्री हो जाती थी। वे धर्मग्रन्थों के अध्ययनके लिये अयोग्य मानी गई थीं। यहाँ तक कि इस विषयका वातावरण इतना खराब था तथा स्त्रियोंके विषयमें लोगोंकी आस्था इतनी कम थी कि जो लोग सिद्धान्तरूपमें स्त्रियोंको पुरुषोंके समान मानते थे वे भी व्यवहारमें स्त्रियोंको पुरुषोंके समान अवसर, सुविधा या पद नहीं देना चाहते थे। महात्मा बुद्ध सरीखे सुधारकशिरोमणि भी स्त्रियों को संघमें स्थान नहीं देना चाहते थे। स्त्रियोंको साध्वी बननेके लियेभी कितनी कठिनाई थी यह बात अङ्गुत्तर निकायके पजापती पब्बज्जा सुत्तसे मालूम होती है। यहाँ उसका सारांश दिया जाता है।

"एक बार महात्मा बुद्ध कपिलवस्तुके न्यग्रोधारामें ठहरे थे। वहाँ महाप्रजापती गौतमी आई। उसने महात्मा बुद्धसे कहा "अच्छा हो भन्ते! मातृ-

माम (स्त्रियाँ) भी प्रव्रज्या पावें।" महात्मा बुद्धने कहा—'नहीं गौतमी ! तुझे यह बात कभी रुचिकर न होना चाहिये।' गौतमीने तीन बार प्रार्थना की लेकिन महात्मा बुद्धने नकारमें उत्तर दिया। अन्त में वह वह दुःखी होकर आँसू बहाती हुई चली गयी।"

"इसके बाद एक बार महात्मा बुद्ध वैशालीमें महावनकी कूटागार शालामें ठहरे थे तब वहाँ गौतमी पहुँची। उसने अपने बाल काट लिये थे, काषाय वस्त्र पहने थे, चलते चलते उसके पैर फूल गये थे, शरीर धूलसे धूसरित होगया था वह बहुत सी स्त्रियोंको साथ लेकर बड़े द्वार पर रोती हुई खड़ी हो गई। इसी समय कार्यवश आनन्द (महात्मा बुद्ध के शिष्य) बाहर आये। आनन्दने पूछा—'तू इस दशामें यहाँ क्यों आई है ?' गौतमीने कहा 'भन्ते आनन्द ! तथागत स्त्रियोंको प्रव्रज्या की अनुज्ञा नहीं देते।' आनन्दने कहा—तू यहीं रह, मैं भगवानसे प्रार्थना करता हूँ। आनन्दने भगवानसे गौतमीकी दशा का वर्णन किया और प्रव्रज्याके लिये अनुज्ञा माँगी परन्तु बुद्धने तीनों बार वही उत्तर दिया जो पहिले गौतमीको दिया था। तब आनन्दने दूसरा ढंग पकड़कर कहा—भन्ते ! क्या स्त्रियाँ अर्हत्व फलको साक्षात् नहीं कर सकतीं ?"

बुद्ध—कर सकती हैं।

आनन्द—हो भन्ते ! जो गौतमी, आपकी अभिभाविका पोषिका क्षीरदायिका है, जो आपकी मौसी और उपकारिणी है, जिसने आपकी जननी के देहान्त हो जानेपर आपको दूध पिलाया है—उसे आप प्रव्रज्या दें।

बुद्ध—आनन्द ! यदि गौतमी आठ बड़ी शर्तें स्वीकार करे तो उसे प्रव्रज्या मिल सकती है। कोई भिक्षुणी सौ वर्ष की दीक्षित हो तो भी उसे एक दिनके भी दीक्षित साधुकी वन्दना करना ‡ चाहिये और इसमें अपना गौरव मानना चाहिये। इस नियमका जीवन भर अतिक्रमण न करना चाहिये। कोई भी भिक्षुणी किसी भिक्षुसे कुछ न कह सकेगी न कटु वचन बोल सकेगी, जब कि भिक्षुको भिक्षुणी से कहनेका अधिकार है।

स्त्रियोंके अपमानसूचक इन नियमोंका गौतमी ने स्वीकार किया, तब वहाँ भिक्षुणी-संघ स्थापित किया गया। इतनी शर्तें रखकरके भी महात्मा बुद्ध ने एक दिन आनन्दसे कहा 'आनन्द ! स्त्रियोंके प्रव्रजित होनेसे सम्प्रदाय स्थायी न हो सकेगा पहिले यह सम्प्रदाय एक हजार वर्ष ठहरता तो अब पाँच सौ वर्ष तक ही ठहरेगा।'

महात्मा बुद्धके निर्वाणके बाद बौद्ध संघने आनन्दसे कहा—'आनन्द ! तेरा यह दुष्कृत है जो तूने भगवानके शरीरको स्त्रीसे वन्दन करवाया, रोती हुई उन स्त्रियोंके आँसुओंसे भगवानका शरीर लिप्त हो गया—इसको तू क्षमा माँग !

आनन्द ! यह भी तेरा दुष्कृत है कि तूने तथागतके बतलाये हुए धर्ममें स्त्रियोंकी प्रव्रज्याके लिये उत्सुकता पैदा की !

‡ इसी अर्थकी एक गाथा जैन ग्रन्थोंमें भी मिलती है—

वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमणवन्दणणमंसणविणएण सो पुज्जो॥

निश्चयसे यह गाथा पीछेसे बौद्ध साहित्यमें से आई है। क्योंकि गौतमीके प्रकरणमें यह गाथा हर तरह ठीक स्थान पर है। बौद्ध संघमें स्त्रियोंको जो स्थान था उसे देखते हुए भी यह ठीक है जब कि जैनियोंके लिये यह गाथा असंबिरुद्ध है। यहाँ साध्वी संघ शुरूसे है, उनको कैवल्य तो ठीक परन्तु तीर्थंकरपद तक प्राप्त हो सकता है—यह बात स्वयं भगवान महावीर णायधम्मकहामें मल्लिका उदाहरण देकर कहते हैं। इसलिये महिलाओंका घोर अपमान करनेवाली यह गाथा जैन शास्त्रोंकी मौलिक सम्पत्ति कभी नहीं हो सकती—लेखक।

आनन्दने इन सब पापों (?) की माफी माँगी।"

इससे पाठकोंको मालूम होगा कि महात्मा बुद्ध सरीखे उदार सुधारकभी स्त्रियोंके विषयमें कितने अनुदार थे। परन्तु भगवान महावीरने इस विषयमें असाधारण साहसका परिचय दिया था। उनने साधु-संघके समान स्त्रियोंके साध्वी-संघकी स्थापनाकी और उसकी अध्यक्षा भी एक महिला (चन्दना) को बनाया। यह संघ स्वतन्त्र संघ था और साधुओंको साध्वियों के ऊपर ऐसा कोई अधिकार न था जैसा कि बौद्ध संघमें पाया जाता था। इतने पर भी बौद्धोंका साध्वी संघ टिक न सका। वह इतना दुराचारग्रस्त होगया कि पतित स्त्रियोंके बराबर उसका मूल्य रह गया जब कि जैन साध्वी संघ व्यवस्थित और शुद्ध बना रहा। न वह साधुसंघको गिरानेमें सहायक हुआ न स्वयं गिरा। इसेभगवान महावीरकी अद्भुत व्यवस्थापकताका ही फल कहना चाहिये।

भगवान, साध्वियोंको कितना व्यक्तित्व देना चाहते थे इसके प्रमाण जैन शास्त्रोंमें अनेक मिलते हैं। वे इस बातको हर तरह साबित करना चाहते थे कि स्त्रियाँ पुरुषोंकी गुलाम नहीं हैं। उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र और पुरुषोंके समान है। इसीलिये साध्वियोंको सब तरहके श्रुताभ्यासका अधिकार था, उन्हें भगवानने इतना ज्ञानवान बनादिया था कि वे अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे अपने मार्गका चुनाव कर सकें।

जिस समय जमालिने भगवान महावीरका विद्रोह किया उस समय भगवानकी पुत्री प्रियदर्शना को जमालिका पक्ष अच्छा मालूम हुआ। तब उनने महावीरका पक्ष छोड़ दिया और जमालिका पक्ष लिया। परन्तु जब उन्हें जमालिके पक्षमें दोष मालूम हुआ तब उनने जमालिका पक्ष छोड़दिया और महावीरका पक्ष लिया। इससे मालूम होता है कि भगवान महावीरने स्त्रीजातिको अन्ध श्रद्धाके चङ्गुल में से निकाल कर स्वतन्त्र विचार करना सिखलाया था। स्वतन्त्र विचारक बनकर भले ही वे महावीरकी बातोंमें ननु-नच करें किन्तु इसकी उन्हें पर्वाह न थी।

मल्लि देवीका उदाहरण देकर तो भगवानने स्त्रियोंको उन्नतिकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। मल्लिदेवी कोई ऐतिहासिक महिला हों चाहे न हों परन्तु तीर्थङ्कर रूपमें उनका स्मरण करना और उन्हें तीर्थङ्कर मानकर स्त्रियोंकी उन्नतिकी पराकाष्ठाका जिकर करना भगवान महावीरके ही योग्य था। इस से मालूम होता है कि भगवान महावीरने साध्वी संघ को कितना अधिक महत्व दिया था।

श्रावक-संघ।

गृहस्थ श्रावकोंके बिना किसीभी सम्प्रदायका काम नहीं चल सकता। परन्तु श्रावक संघका स्थान कुछ और ही है। संघ एक संगठित संस्था है। उसके मतामतका कुछ मूल्य होता है। जैन श्रावक संघका स्थान साधुसंघसे कम महत्वपूर्ण नहीं रहा है। भगवान महावीरने साधुसंघ और श्रावकसंघको इस तरह परस्परावलम्बित कर दिया था कि किसी भी संघमें स्वच्छन्दताका प्रवेश होना कठिन था।

बौद्धोंका साधुसंघ बिलकुल स्वतन्त्र था। फल यह हुआ कि निरङ्कुश होजानेसे उसमें अनेक दोषों ने प्रवेश पाया, जिससे गृहस्थोंका पीठबल न रहा और अन्तमें बौद्ध साधुओंको यहाँसे उखड़ना पड़ा; और साधुओंके साथ ही बौद्ध धर्म भी यहाँसे उखड़ गया।

परन्तु जैनियोंका श्रावकसंघ वास्तवमें संघ रहा है। उसके ऊपर साधुओंकी पूरी देखरेख रही है और साधुओंके ऊपर श्रावकोंकी पूरी देखरेख रही है। इसका परिचय हमें 'उवासग दसाओ' के आठवें अध्ययन में मिलता है। महावीरके मुख्य श्रावकोंमें एक महा-

शतक भी थे। उनकी पत्नी रेवती अत्यन्त विषयातुर तथा मांसभक्षिणी थी। जब महाशतक प्रोषधशाल में बैठे हुए थे तब वह वहाँ पहुँची तथा उन्माद सूचक क्रियाएँ करने लगी। तब महाशतकने क्रोध में आकर उसे डाँटा और कहा कि तू शीघ्र ही मर कर नरक जायगी। जब यह बात भगवानको मालूम हुई तब उनने गौतमसे कहा—'गौतम! तुम जाओ और महाशतकसे बोलो कि—तुमने व्रती होकरके भी अपनी पत्नीसे दुर्व्यवहार किया है, परन्तु तुम्हें यह करना उचित नहीं है इसलिये तुम क्षमा माँगो।' गौतमने स्वयं जाकर महावीरका यह संदेश महाशतकको सुनाया और महाशतकने क्षमा माँगी। मतलब यह है कि किसीको अपने सम्प्रदायमें शामिल करके ही महावीर छुट्टी न पाजाते थे किन्तु उसका श्रावकत्व तथा जीवन कैसे सुरक्षित और सत्पथ पर रहे इसका भी उन्हें पूरा ध्यान था।

साधुसंघ जैसे अपनी मर्यादाके भीतर स्वतन्त्र था उसी तरह श्रावकसंघ अपनी मर्यादाके भीतर स्वतन्त्र था; किन्तु जिन कार्योंका असर संघके बाहर होता था अथवा संघकी मर्यादाका जिनसे भंग होता था उनके विषयमें एक संघ दूसरे संघके कार्यमें हस्तक्षेप कर सकता था। श्रावकोंकी अनुमतिके विरुद्ध कोई साधु किसीको दीक्षित नहीं कर सकता था। अगर किसी साधुसे किसी श्रावकका अपराध होता था तो उस साधुको श्रावकसे माफी माँगनी पड़ती थी। एकबार महावीरके मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतमको आनन्द श्रावकसे माफी माँगनी पड़ी थी। और माफी माँगनेके लिये भगवानने गौतमको आनन्दके घर पर भेजा था। मतलब यह कि महावीरका श्रावक संघ साधुओंकी दृष्टिमें मिट्टीका पुतला नहीं था। उसका स्थान साधुसंघके समान ही महत्वपूर्ण था। साधु महाव्रती होते हैं इसलिये श्रावक उनका सन्मान अवश्य करते थे, किन्तु व्यवस्था और न्यायके विषयमें दोनोंका मूल्य बराबर था। श्रावक संस्थाके विरुद्ध होकर के किसी साधुको कुछ भी करनेका अधिकार न था।

श्रावक संघका यह स्थान पीछे भी रहा है। श्रावकोंने साधुओंको चरित्रहीन होनेपर पद-भ्रष्ट किया है, आचार्योंको पदसे उतारा है, दुराचारियों का वेष तक छीन लिया है:—ये घटनाएँ शुरूसे लेकर आज तक होती रही हैं। अरे! सैकड़ों वर्षों तक साधुओंके बिना श्रावकसंघने अपने धार्मिक जीवनको सुरक्षित रक्खा है!

उत्तर प्रान्तके दिगम्बरोंने भट्टारकोंको अमान्य कर दिया और तमाम धार्मिक कार्य—शिक्षण उपदेश, पठन-पाठन, ग्रंथ निर्माण आदि श्रावकोंने अपने हाथमें ले लिये और मुनियोंसे भी अधिक काम लिया। महावीरने श्रावकसंघको जो स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन और गौरव दिया था उसका फल यह हुआ कि अनेक आपत्तियोंके आने पर भी श्रावक संघने अपनी और साधु संघकी बहुत कुछ रक्षा की।

श्राविका-संघ।

महावीरने साध्वी रूपमें ही स्त्रियोंके व्यक्तित्व का विकास नहीं किया, किन्तु श्राविका रूपमें भी किया। साध्वियाँ कौटुम्बिक बन्धनसे छूट जाती हैं इसलिये उनके व्यक्तित्वका मूल्य होना उतना कठिन नहीं था जितना कि श्राविकाओंका था। आज इस सुधरे ज़मानेमेंभी स्त्रियोंका प्रतिनिधित्व पुरुषही कर लेते हैं। स्त्रियाँ अपना सुख दुःख अपने मुखसे कहें इससे अनेक धर्मध्वजियोंको अपना सख्त अपमान मालूम होता है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें स्त्रियोंकी आवाज़ ही नहीं है। कुछ वर्ष पहिले तो सुधारक सभाएँ भी स्त्रियोंकी आवाज़से शून्य रहती थीं। ख़ैर, स्त्रियोंको हमने कितना कुचला है—यह तो एक लम्बा पुराण है, परन्तु भगवान महावीरने

स्त्रियोंको स्वतन्त्र कर दिया था। इसलिये वे साध्वी संघ स्थापित करके ही सन्तुष्ट न हुए, किन्तु श्राविकाओंका संघ भी बनाया। और उसकी नायिकाएँ भी रेवती और सुलसा सरीखीं श्राविकाएँ ही रहीं। बाकी जो श्रावक संघके विषयमें कहा गया है वही श्राविका संघके विषयमें भी कहा जा सकता है।

यों तो सभी धर्मप्रवर्तकोंके श्रावक और श्राविका होते हैं परन्तु उनका संघ नहीं होता। संघमें जो संगठन होता है वही बड़ी भारी विशेषता है। उससे उनका पृथक् व्यक्तित्व तो रहता ही है साथ ही परस्पर अवलम्बनका तत्व और अत्यन्त जबर्दस्त बना देता है।

संघ रचना भी किसी तरहकी जासकती है परन्तु उसके ऊपर देख-रेख रखना मुश्किल होता है। भगवान महावीर चारों संघके ऊपर अपनी दृष्टि रखते थे। उनकी गिनतीका हिसाब तक रक्खा जाता था। साथही इस बात पर दृष्टि रक्खी जाती थी कि कोई किसी पर अत्याचार न करने पावे, अत्याचारके विरोधके लिये भगवान महावीर स्वयं सन्नद्ध रहते थे।

जब रानी मृगावतीके ऊपर चण्डप्रद्योतने आक्रमण किया और उसके साथ जबर्दस्ती शादी करना चाही तो रानीने तो किसी तरह आत्म रक्षा की ही। किन्तु दोनोंके झगड़ेको सदाके लिये दूर करनेके लिये, दोनोंको निर्वैर बनानेके लिये और अत्याचार रोकनेके लिये भगवान महावीर स्वयं कौशाम्बी पधारे और दोनोंके झगड़ेको शान्त करदिया। इतना ही नहीं किन्तु एक कुटुम्बमें अगर झगड़ा होता था तोभी महावीर वहाँ शान्ति करते थे। जब एकबार श्रेणिक राजा अपनी पत्नी चेलनादेवी पर क्रुद्ध होगया तब महावीरने श्रेणिकको अपराधी बताया और श्रेणिकने पश्चात्ताप किया। मतलब यह है कि महावीरने श्रावक और श्राविका संघ क़ायम करके उनमें ऐसी सुव्यवस्था रक्खी कि उनका संघ चिरस्थायी हुआ और आज भी उसने अपना असर थोड़ा बहुत क़ायम रक्खा है।

इसप्रकार चार संघकी स्थापना और उनका संगठन भगवान महावीरकी अद्भुत कुशलता और लोकहितैषिताका परिचय देता है।

अजमेरमें मुनिवेषी ज्ञानसागरजी।

मुनिवेषी ज्ञानसागरजी ता० ६ अप्रेल को यहाँ आये और तबसे अभीतक प्रायः यहीं पर हैं। परम्परा निबाहने के लिये बीचमें एक रोज़ यहाँ आहार लेनेके पश्चात् दिनके तीसरे पहर पुष्कर चलेगये थे किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल ८ बजेके करीब वापिस आगये। आपकी सम्मतिमें मुनिवेषियोंके सम्बन्धमें जैनजगत् की नीति ठीक है और उसकी खरी समालोचनाओंके कारण मुनिलोग रुपयेमें बारह आनाके करीब सुधर गये हैं। मुनींद्रसागरके प्रति आपकी श्रद्धा नहीं है। शांतिसागरजीका जो श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के समान सर्पफणसहित चित्र है, उसको आप कपोलकल्पित बताते हैं तथा उनकी हर किसीको अनेक देनेकी पद्धतिको भी शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। चर्चासागर, त्रिवर्णाचार, प्रभृति ग्रन्थोंको आप मान्य नहीं समझते। आपकी सम्मतिमें पर्व दिनोंमें हरितत्याग आवश्यक नहीं है; तथा रोटतीज व्रत, सुगंधदशमी व्रत मुक्तावली व्रत आदि मूलसंघ द्वारा अनुमोदित नहीं हैं। मुनियोंके लिये स्वेच्छापूर्वक फोटो खिंचवाना आप अनुचित समझते हैं तथा पहिलेसे ऐलान कर जनताको एकत्रित कर उसके समक्ष केशलोंच करनेके भी आप विरोधी हैं। आपका कहना है कि "जैनधर्ममें कई पाखंड घुस गये हैं। उनको मैं नहीं मानता। उनका सुधार होना आवश्यक है।" पुराने ख़यालवालोंको आप अक्सर डाँट कर कहते हैं कि इन सफेद बालोंवाले बुड्ढोंके कारण ही जैनधर्मका प्रभाव नष्ट हो रहा है। जैनधर्मका उद्धार उत्साही नवयुवकोंद्वारा ही होगा। आगमानुकूल जैन शास्त्रोंके प्रचारके लिये आप ज़ोर देते हैं। आपकी सम्मति है कि जैनजगत् हर किसी को—"कायस्थोंको भी"—पढ़नेके

लिये देना चाहिये। मुनिजी को चाहिये कि प्रयत्न कर यहाँ एक सरस्वतीभवन स्थापित करादें, जिससे प्रत्येक ज्ञानपिपासुकी जैनधर्मामृतसे तृप्ति हो सके।

आप केवल उसी व्यक्तिके यहाँ आहार लेते हैं जो स्थानकवासी जैनसाधुको आहार न देनेकी प्रतिज्ञा करे। आपकी यह प्रतिज्ञा स्पष्टतया स्थानकवासी सम्प्रदायके प्रति द्वेषभाव प्रकट करती है। अगर आपकी यह प्रतिज्ञा होती कि मैं केवल उसी व्यक्तिके यहाँ आहार लूँगा जो दिगम्बरजैनेतर किसी भी देव या गुरुको न मानता हो, उनकी वंदना न करता हो, तो वह कुछ संगत मालूम होती। अस्तु। आपका उपदेश प्रायः स्त्रियोंके सम्बन्धमें ही होता है और उसमें भी तथ्यकी अपेक्षा विद्वेष व असम्बद्ध प्रलापकी ही बहुलता रहती है। 'स्त्रियाँ पापकी मूर्ति हैं, पुरुषको नर्कमें लेजाने वाली हैं। तुम्हींने जयपुर वाले ज्ञानसागरको भ्रष्ट कर दिया था। लेकिन मैं वह ज्ञानसागर नहीं हूँ। तुम कहीं मुझे भ्रष्ट न कर देना।" आदि। बेहतर हो यदि मुनिजी इसप्रकार बहकनेके बजाय किसी भक्त से कहकर दरवाज़ेके बाहिर एक चौकीदारको लट्ठ लेकर बैठादें जिससे ये "पापकी मूर्तियाँ" मुनिजी के पास न जाने पावें और उनके द्वारा मुनिजी के भ्रष्ट होने की आशंका न रहे। इसमें मुनिजी की अपेक्षा समाज का विशेष हित है। आपका, पुरुषोंको परस्त्रीत्याग कराने की अपेक्षा स्त्रियोंको परपुरुषत्याग करानेकी ओर विशेष लक्ष्य रहता है। स्त्रीको परपुरुषत्यागकी प्रतिज्ञा उपस्थित मण्डलीके समक्ष खड़े होकर करनी होती है। दिलचले लोगोंको मन बहलानेके लिये अच्छी सामग्री मिल जाती है। दिन भर यह मज़मा देखते रहते हैं और शाम को वहीं भंग छाननेकी सुविधा भी मिलजाती है। जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये ऐसे स्थानोंमें, कि जहाँ स्त्रियोंके चित्र भी लगे हों, ठहरना निषिद्ध बताया गया है। क्या मुनिजीका दिन भर इन सजीव चित्रोंके साथ इसप्रकार चर्चा करते रहना आपत्तिजनक नहीं है ?

आपका नाम यद्यपि ज्ञानसागर है, परन्तु वास्तवमें ज्ञानका आपसे बहुत ही कम सम्पर्क है। ज्ञानप्राप्ति की ओर आपकी रुचि भी नहीं है। आप दिन भर विकथाओंमें रत रहते हैं। कभी कोई भद्र पुरुष आपसे शास्त्रोपदेश देनेके लिये प्रार्थना करता है तो आप उद्दंडता पूर्वक उसे झिड़क देते हैं। एक भक्तने तजवीज़ पेशकी कि आपको शास्त्रका ज्ञान करानेके लिये कोई विद्वान नियुक्त करदिया जाय; इसपर बेचारेको बुरी तरह फटकार खानी पड़ी।

हमारे कई भोले भाई, मुनिजीके पूर्वकथित मंतव्योंसे यह ख़याल करते हैं कि ये सुधारक दलके मुनि हैं। वे भूल करते हैं। पहिले मुनीन्द्रसागरजीकी यहाँ जो फ़ज़ीहत हुई थी, वह ज्ञानसागरजीको बख़ूबी मालूम है। साथ ही उन्हें यह भी विश्वास है कि वे चाहे जो कुछ करें, अथवा कहें, वेषपूजक लोग हज़ार बार फटकारें खाकर भी उनके चरणोंमें नाक घिसनेमें ही अपना कल्याण समझेंगे। अतः उनके ये मन्तव्य ज्ञानप्रेरित होनेके बजाय सुधारकोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये मालूम होते हैं। आजकल मुनित्व भी एक तरहकी दूकानदारी है।

दिगम्बर जैन मुनिपद एक महत्वपूर्ण पद है और उसपर असाधारण गुण व योग्यतावाले व्यक्ति ही शोभा पासकते हैं। ख्यातिलाभलोलुपी अपना अकल्याण तो करतेही हैं किन्तु साथही दिगम्बर जैनधर्मको भी कलङ्कित करते हैं और उसकी हँसी कराते हैं। न जाने वेषपूजकों की कब आँखें खुलेंगी !

—प्रकाशक।
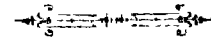
श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फरेंस तथा साधुसम्मेलन समाचार।

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनकॉन्फरेंस तथा साधुसम्मेलनके कारण आजकल अजमेर नगरमें ख़ूबही चहलपहल मची हुई है। सारे नगर और नगर के बाहरकी सड़कें तथा गलियाँ भारतवर्षके भिन्न भिन्न प्रान्तोंके यात्रियोंसे भरी हुई नजर आती हैं। अबतक लगभग २०-२५ हज़ार यात्री आचुके हैं।

साधुसम्मेलन चैत्र शुक्ला दशमीसे आरम्भ हो चुका है। प्रसन्नताकी बात है कि जिन आचार्योंमें बहुत दिनोंसे पारस्परिक विरोध था, उन्होंने समय

धर्मका पालन कर ऐक्य सूत्रमें बँधना स्वीकार कर लिया है और आशा है कि यह सम्मेलन स्थानकवासी समाजके लिए एक आशीर्वादस्वरूप सिद्ध होगा। अबतक सम्मेलनकी कार्रवाही गुप्त रक्खी गई है। उसके प्रकाशित होनेपर मालूम हो सकेगा कि उसने धार्मिक और सामाजिक उत्थानके लिए क्या-क्या योजनाएँ बनाई हैं। सम्मेलनके लिए प्रायः सभी स्थानकवासी सम्प्रदायोंके क़रीब २५० मुनि एकत्र हुए हैं।

कान्फरेंसका कार्य ता० २२ से प्रारम्भ होरहा है। श्रीयुत हेमचन्द्र भाई रामजी जैसे सुयोग्य विद्वान् एञ्जीनियरकी अध्यक्षतामें कान्फरेंस कुछ ठोस कार्य करे, यह अतीव वाञ्छनीय है।

कोन्फरेन्सके साथ साथ विभिन्न विषयोंपर विचार करनेके लिए और भी अनेक परिषदें हो रही हैं। महिला परिषद्, स्थानकवासी जैन युवक परिषद्, शिक्षण परिषद् और ट्रेनिंग कालेज सम्मेलन आदि उत्साह पूर्वक होनेवाले हैं। शिक्षणपरिषद्के प्रमुखमुनि जिनविजयजी प्रोफेसर शान्ति निकेतन, युवक परिषद्के सभापति आगरा निवासी देश सेवक सेठ अचलसिंहजी भूतपूर्व एम० एल० सी०, ट्रेनिंग कालेज सम्मेलनके अध्यक्ष युवकवीर श्रीआनन्दराजजी सुराणा तथा महिलापरिषद्की अध्यक्षा सेठ अचलसिंहजीकी धर्मपत्नी नियत हुई हैं।

यह सब कार्रवाई नगरके बाहर बसाए हुए लौंकानगरमें होरही है। लौंकानगर लगभग ६०० कोठरियों ४० भवनों तथा हजारों आदमियोंको आश्रय दे सकनेवाले तम्बुओंसे बना है, व बिजली पानी आदिका सब प्रकारका सुभीता किया गया है।

उत्सवोंका विशेष विवरण आगामी अंकमें दिया जा सकेगा। इन उत्सवोंके लिए रात्रि दिन महीनों पहलेसे अथक परिश्रम करनेवाले श्री० समाजभूषण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसादजी महेन्द्रगढ़, दुर्लभजी भाई जौहरी जयपुर तथा सेठ नथमलजी सा० चौरड़िया आदि महानुभाव सचमुच बधाईके पात्र हैं।

हम अपने भाइयोंके उत्साहका स्वागत करते हैं। उत्सवके कार्यकर्त्ताओं का ख़याल है कि इसमें लगभग २० लाख रुपये व्यय होंगे। यह भारी रक़म सफल हो और स्थानकवासी समाजमें एक नई स्फूर्ति पैदा हो यह हमारी हार्दिक कामना है।

[पृष्ठ २ से आगे]

से सम्बन्ध है। इसके प्रतिकूल, पण्डित शोभाचन्द्रजी इसे सामाजिक मानते हैं। श्री दिगम्बर जैन शास्त्रार्थसंघमें सभी वर्णोंके व्यक्ति सम्मिलित हैं। उसके मुख्य प्रचारक पंडित विद्यानन्दजी ब्राह्मण, दिग्विजयसिंहजी क्षत्रिय, पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ वैश्य व चौधरी धर्मचन्द्रजी जन्मसे मुसलमान हैं। चौधरीजीकी आर्यसमाज द्वारा शुद्धि की गई और बादमें कुछ समय तक स्थानकवासी सम्प्रदायमें रहनेके बाद अब वे दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रविष्ट हुए हैं। वर्तमानमें उनके साथ अन्य उच्च वर्णवालोंके समान सब व्यवहार किया जाता है। पंडित राजेन्द्रकुमार जी दिग्विजयसिंहजी आदि अपने साथ उन्हें बिना किसी रोक टोकके जैन मन्दिरोंमें लेजाते हैं तथा कट्टर तेरहपन्थी तकके चौकोंमें उन्हें अपने साथ बैठाकर भोजन कराते हैं। अतः अगर शास्त्रार्थ संघ व० दिग्विजयसिंहजी के मन्तव्योंसे सहमत है और वह भी जातिको जन्मगत मानता है तो निःसन्देह वह चौधरी धर्मचन्द्रजी भूतपूर्व करीमबख्शजी के विषयमें समाज को धोखा देरहा है। क्या संघके मन्त्री महाशय इसका खुलासा करेंगे?

—प्रकाशक।

ता० ९ अप्रेल को आकोलामें श्रीमती राजीमती बाई जैनका पुनर्विवाह मामदाबाद निवासी श्री० सेठ माणकचन्दजी जैनके साथ सम्पन्न हुआ।

—कस्तूरचन्द जैन, मन्त्री।

Printed by Pt. Radha Balabha Sharma
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.
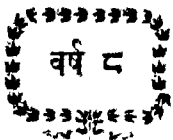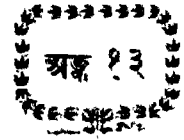
तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ — १ मई सन् १९३३ — अङ्क १३

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा० र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधुसम्मेलन और कान्फरेन्सका विवरण।

जिस श्वे० स्थानकवासी साधु सम्मेलन और कॉन्फरेंसकी महीनों पहलेसे धूम मची थी, उनका अधिवेशन हो चुका। दोनों अधिवेशनोंके साधारण समाचार हम गतांकमें प्रकट कर चुके हैं।

क्या दिगम्बर समाज और क्या श्वेताम्बर समाज, दोनोंकी स्थिति प्रायः एक ही समान है। दोनोंमें ही उदासीनता, अनुत्साह, रूढिप्रियता और परस्पर विरोधका साम्राज्य है। अतएव किसीभी बड़ी योजनाको अपना कर दृढ़तापूर्वक कार्य करनेकी हममें क्षमताही नहीं है। परन्तु अबकी बार अजमेरमें जो कुछ देखा, उससे स्थानकवासी समाजको इस कथनका आंशिक अपवाद मानलेनेकी इच्छा होती है। स्थानकवासी समाजके मुनि ३२ सम्प्रदायों और कई उपसम्प्रदायोंमें विभक्त हैं। उनमें आपसमें किसी प्रकारका खान-पान, वन्दना-व्यवहार आदि नहीं होता था। वे इतने असंगठित थे कि परस्पर मिलकर कोई काम न कर सकते थे। मगर उन्होंने समयकी पुकार सुनी और सबने मिलकर एक सम्मेलन किया। मारवाड़, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, पंजाब, दक्षिण आदि सब प्रान्तोंके २६ सम्प्रदायोंके २४० मुनि उसमें शरीक हुए। पार्लमेंट सभाके ढङ्ग पर सम्मेलनकी बैठकें हुईं। मुनि सम्मेलनकी सारी कार्रवाई प्रायः आधुनिक ढङ्गकी सभासोसाइटियोंके साधारण नियमोंके अनुसार हुई। यथाशक्य विषयनिर्वाचिनी समिति रात्रिमें होती और दिनमें समस्त प्रतिनिधि मुनियोंकी साधारण सभा।

सम्मेलनने जो निर्णय किये हैं, उनमेंसे अधिकांश आजकी परिस्थिति को समक्ष रखकर किये गये हैं। नमूनेके तौर पर कुछ ये हैं:—

(१) सब उपसम्प्रदायोंके मुनि परस्पर सहकार करें, वन्दना आदि व्यवहार चालू किया जावे।

(२) सोलह वर्षसे कम उम्रवालोंको दीक्षा न दी जाय (इसमें विशेष स्थितिमें कुछ अपवाद भी है।)

(३) साधु और दीक्षाभिलाषियोंकी शिक्षाका सुप्रबन्ध किया जाय। सिद्धान्तशालाएँ स्थापित की जाएँ।

(४) एक कमेटी इसलिए बनाई गई कि साहित्य प्रकाशन उसकी अनुमतिसे ही हो, जिससे अनुपयोगी रद्दी साहित्य प्रकाशित न होने पावे।

(५) ग्यारह वर्ष बाद सम्मेलनका द्वितीय अधिवेशन हो।

(६) भिन्न-भिन्न परम्पराके कारण जो आचार-भेद था, उसे मिटाकर सब उपसम्प्रदायोंके लिए एक विस्तृत आचारावली कायम की गई।

सम्मेलन को बाक़ायदा स्थायी रूप देनेके लिए मुनियोंकी एक समिति बनाई गई है। उसके सभापति, मन्त्री, आदि भी चुन लिये गये हैं। प्रान्तिक शाखाएँ स्थापित करनेका निश्चय हुआ है। साधुसम्मेलनके निर्णयोंका पालन करानेके लिए श्रावकोंकी भी एक समिति बनाई गई है।

बहुतेरे लोगोंका ख़याल है कि सम्मेलनकी सफलता में मुनि मिश्रीलालजीने, जो एकताके लिए इसी अवसर पर अनशन धारण किए हुए थे, काफ़ी मदद पहुँचाई है। स्थानकवासी सम्प्रदायके सुधारक श्रावकनेताओं और नवयुवकोंने भी काफ़ी दबाव मुनियों पर डाला था और इसीलिए सम्मेलन को सफलता प्राप्त हो सकी है। जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि साधुसम्मेलनके निश्चयोंका यदि बराबर पालन हुआ तो साधुओंपर से नवयुवकोंकी जो श्रद्धा धीरे धीरे कम हो रही है, कुछ दिनों तक और बनी रहेगी।

स्थानवासी सम्प्रदायके मुनियोंने दूसरे सम्प्रदायके मुनियोंके सामने एक अच्छा शिक्षाप्रद सबक़ रक्खा है। आशा है वे ठीक समय पर चेतेंगे; वर्ना तख़्ता उलटने में अब ज़्यादा देर नहीं है।

सम्मेलन समाप्त होते ही कॉन्फ़रेन्सका अधिवेशन हुआ। लोगोंका अनुमान है कि अन्त तक चालीस-पचास हज़ारकी भीड़ अजमेरमें इकट्ठी हुई थी। लीम्बड़ी (काठियावाड़) के महाराज, महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, दीवानबहादुर हरबिलास जी शारदा एम० एल० ए०, मिस शार्प आदि अजैन महाशय भी पहले दिन उपस्थित थे। लगभग १५ हज़ार मनुष्य पण्डालमें मौजूद थे। सभामें लोगोंने जब तालियाँ बजाईं तो जीवहिंसाके कारण उन्हें मनाई कर दी गई और केवल "जयजिनेन्द्र" ध्वनि करने को कहा गया। अन्त तक इस नियमका पालन हुआ। कॉन्फ़रेन्स के कुछ ख़ास-ख़ास स्वीकृत प्रस्ताव इस प्रकार हैं:--

(१) जेलमें ता० ४ मार्चसे उपवास करनेवाले राष्ट्रभक्त श्री पूनमचन्दजी रांकाकी मुक्तिके लिए प्रार्थना।

(२) शिक्षण परिषद्की सम्मतिके अनुसार एक शिक्षा बोर्डकी स्थापनाकी जाय (मुनि श्रीजिनविजयजी अध्यापक शान्तिनिकेतन, की अध्यक्षता में इसी अवसर पर शिक्षणपरिषद् भी की गई थी।)

(३) एक ऐसे ब्रह्मचारीवर्गकी स्थापनाकी जाय जो समाज और धर्मके लिए अपना जीवन समर्पण करे। इस की नियमावली आदि बनानेके लिए एक कमेटी क़ायम की गई, जो तीन मासमें अपनी कार्रवाई पेश करेगी।

(४) चौथा प्रस्ताव दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि सब सम्प्रदायोंकी एकताके विषयमें है। इसमें सब सम्प्रदायोंसे अपील की गई है कि आपसमें संयुक्त रहकर ही हम जैनधर्मका प्रचार कर सकते हैं अतः कोई भी सम्प्रदाय एकता-विरोधी प्रयत्न न करे। इस प्रस्तावका समर्थन करते हुए श्री कुन्दनमलजी फ़िरोदिया बी० ए० एल-एल० बी० ने ज़ोरदार भाषण दिया। आपने कहा कि—'दिगम्बर', 'श्वेताम्बर', 'स्थानकवासी' ये सब उपाधियाँ हैं। इन्हें तोड़ फोड़कर नष्ट कर दो। महावीर हम सबके पिता हैं, जीवनदाता हैं और हम सब एक हैं। अन्य अनेक वक्ताओंके ख़ूब प्रभावशाली भाषणोंके बाद यह प्रस्ताव सर्वानुमतिसे स्वीकार किया गया।

(५) स्वदेशी वस्तुओंका ही यथासंभव उपयोग किया जाय।

(६) कई लोग साधुवेषमें दुराचार कर धर्म को बदनाम करते हैं। ऐसे लोगोंका वेष छीना जा सकता है या नहीं? इस पर विचार करनेके लिए तीन वकीलोंकी एक कमेटी नियुक्त कीजाय। यदि क़ानूनन वेष न छीना जा सकता हो तो उसे सरकारसे रजिस्टर्ड करा लिया जाय ताकि साधुवेषधारी दुराचारियों पर क़ानूनी कार्रवाई की जासके और समाज को वेष छीननेका अधिकार प्राप्त हो सके। इसके लिए वकीलोंकी एक समिति बनाई गई। इस प्रस्ताव पर कई नवयुवकोंने अपने अपने हृदयके उद्‌गार निकाले। साधुवेषोंकी ख़ूब ख़बर लीगई। स्पष्ट प्रतीत होता था कि नवयुवक अब साधुओंकी उच्छृंखलता को बर्दाश्त करनेमें असमर्थ हैं। अब साधुओंको, यदि वे पुजना चाहते हैं तो, अवश्य ही बीसवीं सदी का बनना पड़ेगा।

(७) जो साधु अकेले घूमते हैं वे छः मासके भीतर किसी सम्प्रदायसे संयुक्त होजाएँ। ऐसा न करनेवालोंका बहिष्कार किया जाय। (शेष पृष्ठ २८ कॉलम २)

जैनधर्म का मर्म ।

(३६)

पंचम युक्त्याभास ।

प्रश्न—ज्ञानस्वभाव सब आत्माओंका एक बराबर है। उसमें जो न्यूनाधिकता है वह ज्ञानावरण कर्मसे है। जब ज्ञानावरणकर्म नष्ट हो जायगा तब जिन जिनका ज्ञानावरणकर्म जायगा उन सबका ज्ञान एक बराबर हो जायगा। इस शुद्ध ज्ञानकी मर्यादा, अगर वास्तविक अनन्तज्ञानरूप नहीं है तो कितनी है?

उत्तर—शुद्ध या पूर्ण ज्ञानकी मर्यादा आज निश्चित हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि वह अनन्त नहीं है, क्योंकि अनन्त होना असम्भव है। सामान्यसे हमें इतना मालूम होगया कि ज्ञान अनन्त पदार्थोंको नहीं जान सकता। अब कितने पदार्थोंको जान सकता है इस विषयमें हमें खोज करना चाहिये।

प्रश्न—यदि आप शुद्ध ज्ञानकी अन्तिम मर्यादा नहीं बता सकते तब हम प्रचलित मान्यताको ही मानेंगे। अनिश्चित रहनेकी अपेक्षा कोई निश्चित बात मान लेना उचित है।

उत्तर—यदि आपको यह न मालूम होसके कि आपको कौनसा भोजन पथ्य होगा तो आपका यह कर्तव्य नहीं है कि आप विषभक्षण करने लगें। पथ्यका निश्चय न हो सके तो न मानिये परन्तु अमुक वस्तु अपथ्य है इतना निश्चय तो हुआ है। इसलिये अपथ्य (विष) का तो त्याग कीजिये। धर्मके निर्णयमें इसीप्रकारकी दुराशाओंने जबर्दस्त बाधा डाली है। आज सभी धर्मोंमें विज्ञानविरुद्ध जो अगणित कल्पनाओंका दर्शन होता है उसका कारण लोगोंकी यही दुराकांक्षा है। जितना अंश सत्यरूप सिद्ध हो उतना मानकर और बाकीके लिये खोजका विषय बनाकर हम सत्यको पासकते थे और सत्यके मार्गमें बाधा डालनेके पापसे बच सकते थे, परन्तु लोगोंका ऐसा बाल-हठ देखकर धर्मतीर्थके संस्थापकोंको अनेक कल्पित बातोंसे लोगोंका समाधान करना पड़ा है। इससे थोड़ेसे बाल-जीवोंका सन्तोष होगया परन्तु इससे सभी धर्म सदाके लिये विज्ञानसे डरने लगे, और इसीलिये धर्मके क्षेत्रमें श्रद्धाको उचितसे अधिक स्थान मिला तथा तर्कका स्थान, उचितसे अधिक गौण बनगया।

वस्तुकी विवेचन अनेक भंगोंसे होता है। कभी हम किसी वस्तुको अस्तिरूप कह सकते हैं, कभी नास्तिरूपसे कह सकते हैं, कभी अस्तिरूपसे कह करके भी अन्यरूपसे नहीं कह सकते, परन्तु ये सब भंग निर्णायक माने जाते हैं। पूर्णज्ञान ज्यादः से

ज्याद: कितनी वस्तुओंको जानता है, इसमें हम इतना तो कहसकते हैं कि वह अनन्तको नहीं जानता परन्तु कितनेको जानता है यह नहीं कह सकते। इसप्रकार नास्ति अवक्तव्य भंगसे हमने इतना निर्णय किया है। जब सातों ही भंग निर्णयात्मक हैं तब हमारा नास्ति अवक्तव्य भंगसे पूर्णज्ञानका रूप बताना भी निर्णयात्मक है। इसलिये आप हमारे उत्तरको अ-निर्णीत कह कर भी अमान्य नहीं कर सकते।

ये बातें तो मैंने इसलिये कही हैं कि जिससे लोगोंके हृदयमें हथेलीपर आम जमाने सरीखी अ-नुचित माँगें पैदा न हों और वे कल्पित समाधानोंसे न ठगे जावें। परन्तु यहाँ इतनी उदारताके बिनाभी काम चल सकता है। क्योंकि हम यहाँ दोनों तरह के उत्तर दे सकते हैं अर्थात पूर्णज्ञानके विषय अ-नन्त और सब पदार्थ नहीं है किन्तु असंख्य पदार्थ हैं। पूर्णज्ञान असंख्य पदार्थोंको जान सकता है।

प्रश्न—तब तो हमें यह ज्ञान कभी न होगा कि काल अनंत है, क्षेत्र अनंत है और न अनंत परमा-णुओंके स्कन्धको हम जान सकेंगे।

उत्तर—कालकी अनन्तताको हम जान सकते हैं क्योंकि कालकी अनन्तता एक ही पदार्थ है। अनन्तत्व एक धर्म है और अनन्तत्वयुक्तकालको जानना एक पदार्थको जानना है। इसीप्रकार क्षेत्रकी अनन्तताको जानना भी एक पदार्थको जानना है। स्कंधोंमें आप अनन्त परमाणु मानते हैं परन्तु मैं असंख्य मानता हूँ। (इसका कारण आगे किसी अध्यायमें बतलाया जायगा।) खैर, अनन्त हो या असंख्य, यहाँ उसमें कुछ बाधा नहीं है; क्योंकि अनन्त या असंख्य परमाणुओंका स्कंध एक ही है, और हम एक स्कंधको जानते हैं, उसके प्रत्येक पर-माणुको अलग अलग नहीं जानते। यह स्कंध अन-न्तप्रदेशी है, इसप्रकारके ज्ञानमें स्कंधका अनन्तप्र-देशित्व नामक एक धर्म जाना गया है।

प्रश्न—पूर्ण ज्ञानकी सीमा आप अनन्त रक्खो या असंख्य, परन्तु यह तो आप मानेंगे ही कि पूर्ण ज्ञानतो शुद्ध ज्ञान ही हो सकता है, और शुद्धता दो तरहकी नहीं हो सकती; इसलिये सबका पूर्ण ज्ञान एक तरह का होगा सबको जाननेसे तो यह समता बन सकती है परन्तु असंख्य को जाननेमें यह समता नहीं बन सकती, क्योंकि अनन्त पदार्थोंमें से कौनसे असंख्य पदार्थ शुद्ध ज्ञानके विषय बताये जावेंगे? जो असंख्य पदार्थ शुद्ध ज्ञानके विषय होंगे उनके सिवाय जो जगतमें अनन्त पदार्थ बाकी रहेंगे उन्हें कौन जानेगा? अथवा कि वे सदा अज्ञात ही रहेंगे। यदि उन्हें कोई जानेगा तो वह पूर्णज्ञानीसे भी बड़ा ज्ञानी कहलाया।

उत्तर-शुद्ध ज्ञानीको ही हम पूर्णज्ञानी कह सकते हैं। परन्तु पदार्थोंको जाननेकी दृष्टिसे वह एकसा नहीं होता किन्तु शुद्धिकी दृष्टिसे एकसा होता है। जैसे अगर किट्टकालिमाको अलग करके सुवर्णके अनेक पिंडोंको सौटंचका सुवर्ण बनावें, तो वे सभी शुद्ध सुवर्ण शुद्धताकी दृष्टिसे एकसे होंगे परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन सबका आकार एक स-रीखा हो। एक दूसरा शास्त्रीय उदाहरण लीजिये।

संसारी अवस्थामें आत्माका जो आकार है वह अशुद्ध आकार माना जाता है इसीलिये उसे विभाव व्यञ्जन* पर्याय कहते हैं। निश्चय नयकी दृष्टिसे सब आत्माओंका आकार एक सरीखा है और वह त्रिलो-कव्यापी माना जाता है। जब आत्मा कर्मरहित हो जाता है, तब उसका शुद्ध आकार हो जाता है। इसीलिये मुक्तात्माओंके आकारको स्वभाव व्यञ्जन†

---

* विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादि पर्यायाः अथवा चतुरशीति लक्षा योनयः। आलापपद्धति।

† स्वभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायाश्चरम शरीरात्किञ्चिन्न्यू-नसिद्धपर्यायाः। आलापपद्धति।

पर्याय कहते हैं। मुक्तात्माओंका आकार यद्यपि शुद्ध है फिर भी वह सब मुक्तात्माओंका एक सरीखा नहीं होता।

स्पष्टताके लिये एक लौकिक उदाहरण लीजिये। बहुत से मैले दर्पण हैं। उनको साफ किया गया। साफ किये जानेपर सब दर्पण एक सरीखे हो गये। परन्तु यह समानता, शुद्धता या स्वच्छताकी दृष्टिसे है प्रतिबिम्ब तो सबके जुदे—जुदे होंगे। किसीमें बालकका, किसीमें स्त्रीका, किसीमें समुद्रका, किसीमें पर्वतका, किसीमें मकानकी दीवालका, किसीमें छप्परका, इत्यादि जुदे जुदे होने परभी वे शुद्धताकी दृष्टिसे समान हैं। प्रतिबिम्ब कुछ भी हो परन्तु जो कुछ प्रतिबिम्बित होता है वह ठीक ज्योंका त्यों झलकता है, यही उनसबकी समानता है औरदूसरे मैले दर्पणोंसे यही उनकी विशेषता है। शुद्ध ज्ञानके विषयमें भी यही बात है। उसमें बाहिरी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब थोड़ा हो या बहुत परन्तु जो कुछ झलकता है, वह ठीक झलकता है। यही उसकी अन्य अशुद्ध ज्ञानोंकी अपेक्षा विशेषता है और यही सभी शुद्ध ज्ञानोंकी समानता है। स्वानुभवकी दृष्टि से सभी ज्ञान समान है। परन्तु बाहिरी पदार्थोंकी दृष्टिसे असमान होने परभी उनकी शुद्धतामें कुछ बाधा नहीं पड़ती। आत्मकल्याणकी दृष्टिसे बाहिरी पदार्थोंके ज्ञानका कुछ मूल्य नहीं है। दुःखसे छूटने के लिये मुक्ति है, और बाह्य पदार्थोंके न्यूनाधिक ज्ञानसे, दुःखक्षयमें कुछ बाधा नहीं है।

छठा युक्त्याभास।

प्रश्न—अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा तथा सूर्य-चन्द्र आदिकी गतियोंका सूक्ष्मज्ञान बिना सर्वज्ञके नहीं हो सकता। भविष्यकी जो बातें शास्त्रोंमें लिखी हैं वे सच्ची साबित हो रही हैं। पंचम कालका भविष्य आज हम प्रत्यक्ष देखरहे हैं। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की रचना भी साफ मालूम होती है। और भी बहुतसी बातें हैं जो हमें शास्त्रसे ही मालूम होती हैं। उनका कोई मूलप्रणेता अवश्य होगा जिसने उन बातोंका ज्ञान शास्त्रसे नहीं, अनुभवसे किया होगा। बस, वही सर्वज्ञ है।

उत्तर—आज जो जगत्‌को ज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान है वह किसी सर्वज्ञका बताया हुआ नहीं है किन्तु विद्वानोंके हजारों वर्षके निरीक्षणका फल है। तारा आदिकी चालें आँखोंसे दिखाई देती हैं, उनके ज्ञानके लिये सर्वज्ञकी कोई जरूरत नहीं है। जो लोग जैनधर्म, जैनशास्त्र और जैनभूगोल नहीं मानते वे भी ग्रहण आदिकी बातें बतादेते हैं और जितनी खोजको हम सर्वज्ञ बिना माननेको तैयार नहीं हैं उससे कई गुणी खोज आजकलके असर्वज्ञ वैज्ञानिक कररहे हैं। ज्योतिष आदिकी खोजसे सर्वज्ञकी कल्पना करना कूपमंडूकताकी सूचक है।

भविष्यकी बातें जो शास्त्रमें लिखी हैं वह सिर्फ लेखकोंका मायाजाल है। शास्त्रोंमें ऐसा कोई प्रामाणिक भविष्य नहीं मिलता जो शास्त्ररचनाके बादका हो। शास्त्रोंमें महावीर या गौतम आदिके मुखसे कुंदकुंद हेमचन्द्र आदिका भविष्य कहला दिया गया है; परन्तु यह सब उन्हीं ग्रन्थोंमें है जो इन लोगोंके बाद बने हैं। ऐसे भविष्य सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें लिखे गये हैं। इनसे कोई सर्वज्ञ तो क्या, मामूली पंडित भी साबित नहीं होता।

भविष्यकी कुछ सामान्य बातें भी हैं परन्तु वे सामान्यबुद्धिसे कही जासकती हैं। जैसे—एक दिन प्रलय होगा, आगे लोग निम्नश्रेणीके होते जाँयगे आदि। ऐसी बातें प्रायः सभी धर्मोंमें कही गई हैं। प्रलयकी बात लीजिये। साधारण लोग भी समझते हैं कि जो चीज कभी बनती है वह कभी नष्ट भी होती है; यह जगत् एक दिन भगवानने बनाया या प्राकृतिक रूपमें पैदा हुआ तो इसका

एक दिन नाश भी अवश्य होना चाहिये। बस, इससे लोग प्रलय मानने लगे। परन्तु जैनदर्शन ईश्वरको नहीं मानता इसलिये उसकी दृष्टिमें सृष्टि अनादि है। इसीलिये उसका अन्त भी नहीं माना जासकता; तब प्रलय कैसा? लेकिन प्रलयकी बहुप्रचलित मान्यताका समन्वय तो करना चाहिये, इसलिये एक मध्यममार्ग निकाला गया और कहा गया कि जगत्का प्रलय तो असम्भव है, किन्तु प्रलय की बात बिलकुल मिथ्या भी नहीं है, भविष्यमें खंडप्रलय होगा जो कि भरतक्षेत्रके आर्यक्षेत्रमें ही रहेगा। मनुष्यका यह स्वभाव है कि उसकी बात को बिलकुल काट दो या किसी बातका उत्तर बिलकुल नास्तिकतासे दो तो वह विश्वास नहीं करता: किन्तु उसकी बातका समन्वय करते हुए उत्तर दो या उसकी बातका कुछ ऐसा मूल बतलाओ जिसका बढ़ा हुआ रूप उसकी वर्तमान मान्यता हो तो वह विश्वास करलेता है। जैनियोंका इतिहास भूगोल आदिका विषय मनोविज्ञानकी इसी भूमिकापर स्थिर है। इससे जैन शास्त्रकारोंकी चतुरता और मनुष्य-प्रकृतिज्ञता साबित होती है, न कि सर्वज्ञता।

आगे लोग निम्नश्रेणीके होते जायँगे अर्थात् वर्तमानमें अवसर्पिणी है, यह भी लोगोंकी साधारण मान्यता है। प्राय हरएक मांबाप अपनेको सतयुगी और अपने बच्चोंको कलयुगी समझता है, और भक्तिवश या कृतज्ञताप्रदर्शनके लिये लोग अपने पूर्व पुरुषोंके अतिशयोक्तिपूर्ण गीत गाया करते हैं। धर्म संस्थापक या सञ्चालक लोगभी जनताके इसविचार को सत्यकारूप देते हैं जिससे भविष्य संतानकी दृष्टि में वे महान् बने रहें और उनके उपदेश या विचार सर्वोत्तम समझे जाते रहें। इसप्रकार यह बहुत साधारण कल्पना है। इसके लिये सर्वज्ञ माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अवसर्पिणीकी कल्पना सत्य है या नहीं, यहभी एक प्रश्न है। योंतो किसी न किसी बातमें उन्नति या अवनति होती ही रहती है। अगर कोई मनुष्य विद्वान बननेकी कोशिश करे तो वह शारीरिक शक्तिमें पिछड़ जायगा। अगर वह पहलवान बननेकी कोशिश करे तो विद्याके क्षेत्रमें पिछड़ जायगा। जो बात व्यक्ति के लिये है वही समष्टिके लिये है। एक समयके लोग कलाकौशल विद्या आदिमें आगे बढ़ते हैं और शरीरमें पिछड़जाते हैं और विद्या आदिमें आगे न बढ़नेपर शरीर में बढ़जाते हैं, ऐसी अवस्थामें उत्सर्पिणी अवसर्पिणी दोनों ही मानी जासकती है। आज मनुष्यने असाधारण वैज्ञानिक उन्नति की है। मनुष्यके असम्भव सरीखे स्वप्नोंको इसने करके दिखाया है। वायुयानकी कल्पना आज मूर्तिमती हो रही है। बेतारका तार, सिनेमा, ग्रामोफोन, विद्युत्का वशीकरण आदि ऐसे आविष्कार हैं जिनका स्वप्न भले ही पुराणोंमें लिखा हुआ मिल जाय परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे जो अभूतपूर्व है। इतना ही नहीं, शास्त्रकी प्रत्येक शाखामें आज अद्भुत गम्भीरता आई है और अनेक नये शास्त्र बन गये हैं। साहित्यकी कला आदिका कई गुणा विकास हुआ है। विद्याप्रचारके अद्भुत साधन प्राप्त हुए हैं। इन सब बातोंको देखकर कौन कह सकता है कि आज अवसर्पिणी है। हाँ, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बननेवाले अन्धश्रद्धालु अहंकारग्रस्त जीवों की बात दूसरी है। वे भूतकालके अप्रामाणिक और अविश्वसनीय स्वप्नोंके गीत गाकर जो चाहे कह सकते हैं।

जब यंत्रोंका विकास और प्रचार हुआ तब शरीरसे काम कम लिया जाने लगा। ऐसी अवस्थामें शरीर कमजोर हो यह स्वाभाविक है। परन्तु इसीसे अवसर्पिणी नहीं कही जासकती; क्योंकि दूसरी दिशामें बहुत अधिक उत्सर्पिणी दिखाई देती है। सभी तरहसे उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी होना अशक्य है।

इस अवसर्पिणीमें उत्सर्पिणी होने लगी है, इस बातको जैनीभी स्वीकार करते हैं किन्तु अवसर्पिणी-पन क़ायम रखनेके लिये कहते है कि पंचमकालमें आरेकी तरह अवसर्पिणी होगी। जिसप्रकार आरे के एक तरफसे दूसरी तरफका भाग नीचा होता है किन्तु बीच बीचमें ऊँचानीचा होता रहता है उसी प्रकार पंचम कालमें उन्नति और अवनति होती जायगी। परन्तु आजकलकी उन्नति तो पंचमकाल के प्रारम्भसे भी अधिक है, बीचकी यह ऊँचाई कैसी ? कहनेकी जरूरत नहीं कि यह लीपापोती है।

शंका—आजकल भौतिक उन्नति भलेही हुई हो परन्तु धार्मिक उन्नति तो नहीं हुई; इसलिये अव-सर्पिणी ही कहना चाहिये।

उत्तर—तब तो प्रथम द्वितीय, तृतीय कालकी अपेक्षा चौथे कालको ज्यादः उन्नत मानना चाहिये क्योंकि पहिले तीर्थङ्कर नहीं थे, जैनधर्म आदि कोई धर्म नहीं था। इससे मालूम होता है कि जैन शास्त्रोंमें उत्सर्पिणी—अवसर्पिणीका विभाग धर्मकी अपेक्षा नहीं था। अन्य विषयोंमें तो आज अवस-र्पिणी नहीं कही जासकती।

इस विषयमें भविष्य बोलनेवालोंको बड़ा सुभीता है। वे अगर उत्सर्पिणी कहदें तो वह किसी दृष्टिसे सिद्ध की जासकती है और अवसर्पिणी कहदें तो वह भी किसी दृष्टिसे सिद्ध की जासकती है। और जिस दृष्टिसे अपनी बात सिद्ध हुई उस पर जोर देना तो अपने हाथमें है।

यदि थोड़ी देरके लिये दृष्टिभेदकी बातको गौण कर दिया जाय तो भी यह कहनेमें कोई कठिनाई नहीं है कि मनुष्यसमाज विकसित होता जाता है या पतित। जीवनके पचीस पचास वर्ष तक जिसने समाजका अनुभव किया है वह भी बता सकता है कि समाज उन्नतिशील है या अवनतिशील उसीपर से भविष्य और भूतका सामान्य अनुमान भी किया जासकता है। इस साधारण ज्ञानके लिये भी सर्वज्ञ माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रोंकी भविष्यकालकी बातों को पढ़कर हँसी आये बिना नहीं रहती। उसमें छोटे छोटे राजाओं का और छोटी छोटी घटनाओंका वर्णन तो मिलता है परन्तु बड़ी बड़ी घटनाओंका वर्णन नहीं मिलता। यूरोप का महायुद्ध कितना विशाल था, जिसकी जोड़ दुनियाँका कोई युद्ध नहीं कर सकता! मुगल साम्राज्य और बृटिश साम्राज्य आदि कितने महान हुए, इनका कुछ उल्लेख नहीं है। क्या इससे यह मा-लूम नहीं होता कि ग्रन्थकारोंको अपने पासमें जो कुछ दिखाई दिया उसीको भगवान महावीर आदिके मुखसे कहलाकर भविष्यज्ञताका परिचय दिया गया है ? अगर आजकलकी मान्यताके अनुसार कोई सर्वज्ञ होता तो उसने इस वैज्ञानिक युगकी ऐसी सूक्ष्म बातोंका इतना अच्छा भविष्य कहा होता कि सुनने वालोंको सर्वज्ञता अवश्य मानना पड़ती।

शास्त्रोंमें जहाँ जहाँ जो जो भविष्य कहा है उस सबको साम्हने रखकर विचार किया जाय तो साफ मालूम होगा कि उसमें सर्वज्ञतासाधक तो एक भी बात नहीं है, परन्तु असाधारण पांडित्य की साधक भी कोई बात नहीं है, तथा भगवान महावीर के साथ उनका सम्बन्ध नहीं के बराबर है। यहाँ मैंने दो एक बातोंकी आलोचनाकी है परन्तु अन्य सब बातोंकी आलोचना भी इसीतरह की जासकती है। इसलिये भविष्यकथनोंको तथा दूसरे कुछ कथनों को सर्वज्ञसिद्धिके लिये उपस्थित करना अनुचित और निष्फल है। इसके अतिरिक्त भूगोल, ज्योतिष आदिकी गड़बड़ी और वर्तमान वैज्ञानिक शोधके साम्हने उसका न टिक सकना तो उस विषयकी प्रामाणिकताको बिलकुल निर्मूल करदेता है। वास्तविक सर्वज्ञता क्या है और किसलिये है, इसकी हमें खोज करना चाहिये; कोरी कल्पनाओं

के जालमें पड़कर असत्यके पीछे, रहे सहे सत्यकी हत्या न कराना चाहिये। अपनी मान्यताकी अन्ध-श्रद्धासे जिन्दगी भर उसे सत्य सिद्ध करनेकी कोशिश करते रहना या उसके सत्यसिद्ध होने की बाट देखते रहना आत्मोद्धार और सत्य प्राप्तिके मार्गको बन्द कर देना है।

न्यायशास्त्रोंमें सर्वज्ञसिद्धिके लिये लम्बे लम्बे विवेचन कियेगये हैं परन्तु उनमें सारतत्त्व कुछ नहीं है। खास खास युक्तियोंकी आलोचना ऊपर कीगई है। जो कुछ बातें रहगई हैं उनकी आलोचना कठिन नहीं है। इन आलोचनाओंके पढ़नेसे वे आलोचनाएँ अपने आप की जासकेंगी। फिर भी मैं यहाँ छोटी छोटी दो एक युक्तियोंकी आलोचना करदेना उचित समझता हूँ।

प्रश्न—भगवान सर्वज्ञ हैं क्योंकि निर्दोष हैं। भगवान निर्दोष हैं क्योंकि उनका उपदेश युक्तिशास्त्र से बाधित नहीं होता और न परस्परविरुद्ध साबित होता है।

उत्तर—आज जो शास्त्र हैं उनमें परस्परविरोध अच्छी तरह है और वे युक्तिशास्त्रके विरुद्ध भी हैं। अगर यह कहा जाय कि सच्चे शास्त्र आज उपलब्ध नहीं हैं तो वर्तमानके शास्त्र अविश्वसनीय हो जाँयगे। ऐसी हालतमें इन्हीं शास्त्रोंमें सर्वज्ञताका जो अर्थ लिखा है वह भी अविश्वसनीय हो गया। दूसरी बात यह है कि इस प्रकारका बहाना तो हर एक धर्मवाला बता सकेगा। वह भी कहेगा कि हमारे शास्त्र सच्चे हैं आदि। खैर, यहाँ पर असली वक्तव्य यह है कि परस्पर अविरोध आदिसे सत्यता सिद्ध होती है, न कि सर्वज्ञता। अल्पज्ञ भी परस्पर अविरुद्ध बोल सकता है। मिथ्यावादी ही परस्पर विरुद्ध बोलता है। सत्यवादी होनेसे ही कोई सर्वज्ञ नहीं कहा जासकता।

मीमांसक सम्प्रदायने इस प्रकारके सर्वज्ञका विरोध किया है जिसका विरोध जैन नैयायिकोंने खूब किया है। मीमांसक सम्प्रदायकी वैदिक मान्यताकी कमजोरीके कारण जैनियोंको भले ही थोड़ी बहुत सफलता मिली हो परन्तु उसका मूल्य निष्पक्ष विचारकके साम्हने नहीं के बराबर है। जैन नैयायिकोंके इन दूषणाभासोंके उदाहरण देखिये।

मीमांसक—जहाँ तरतमता है वहाँ मर्यादा है। कोई आदमी दस हाथ कूद सकता है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वह सैकड़ों योजन कूद सकता है।

जैन— क्यों? क्या हुआ? मुक्त होने पर जीव लोकान्त तक कूद जाता है।

आलोचना—लोकान्त तक कूद जाता है फिर भी मर्यादा तो है ही। इसलिये मीमांसककी मूल बातका खंडन कैसे हुआ? दृष्टान्त ऐसा ही दिया जाता है जो वादी और प्रतिवादी दोनो को सम्मत हो। यहाँ मुक्तात्माओंके लोकान्त तक कूदनेकी बात जैनियोंको दृष्टान्तका काम देसकती है न कि मीमांसकोंको। साथही, दृष्टान्त सिद्ध होना चाहिये। यहाँ पर मुक्तात्मा लोकान्त तक जाते है कि नहीं, यह बात भी सिद्ध करनेकी है। असिद्ध वस्तु उदाहरणके रूपमें पेश नहीं की जासकती। फिर कूदनेका उदाहरण देना चाहिये। कोई वस्तु स्वभावसे ऊँचे जाती हो, उसे कूदना नहीं कह सकते। कूदना वीर्यगुणका कार्य है जब कि स्वभावसे ऊर्ध्वगमन एक स्वतन्त्र-धर्म है; उसका वीर्य गुणसे कुछ सम्बन्ध नहीं।

मीमांसक—असम्बद्ध और भूतभविष्यका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता। अगर हो तो वह परोक्ष हो जाय।

जैन—इन्द्रिय प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता या अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे? इन्द्रिप्रत्यक्षसे नहीं हो सकता, यह तो हम भी मानते हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता, यह कैसे कहा जासकता है? अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही ये पदार्थ जाने जाते हैं। अतीन्द्रिय

प्रत्यक्ष तुम्हें भी मानना पड़ेगा नहीं तो वेदका ठीक ज्ञान कैसे होगा ?

आलोचना—मीमांसक को वेदकी चिन्ता हो सकती है परन्तु एक निःपक्ष विचारक को नहीं। उसके लिये तो बाह्य पदार्थोंका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी अतीन्द्रिय सर्वज्ञके समान असिद्ध है।

इस प्रकार और भी छोटी छोटी अकिंचित्कर युक्तियाँ हैं जिनकी आलोचना कठिन नहीं है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

एक प्रश्नावलि।

श्वेताम्बर समाजमें दीक्षाप्रकरणको लेकर जो तूफ़ान खड़ा हुआ है उसे शान्त करने लिये जैनजागृतिकार्यालय मुम्बईकी तरफ़से एक प्रश्नावलि निकाली गई है, जिसका उत्तर ख़ास ख़ास व्यक्तियोंसे मांगा गया है। मेरे पास भी वह प्रश्नावलि आई है, जिसका यहां संक्षेप में उत्तर दिया जाता है।

१ प्रश्न—दीक्षाके लिये जैनसमाजमें जो वैमनस्यका वातावरण फैल रहा है उसे दूर करनेकी आपको आवश्यकता मालूम होती है या नहीं ?

उत्तर—वैमनस्यका वातावरण तो जितनी जल्दी दूर हो उतना ही अच्छा है; भले ही थोड़ा बहुत मतभेद रहे। यद्यपि मतभेदको दूर करने की भी आवश्यकता है, फिर भी वैमनस्य दूर होना बहुत ज़रूरी है।

२ प्रश्न—इस वातावरणको दूर करनेका व्यवहारूमार्ग क्या आप बता सकेंगे ? अथवा आपके मतमें इस काममें क्या क्या कठिनाइयाँ हैं?

उत्तर (क)—सबसे पहिले दीक्षासम्बन्धी एक नियमावली बनाना चाहिये, और उसको अमलमें लानेके लिये गाँव गाँवके श्रीसंघोंको प्रेरणा करना चाहिये। फिर जो मुनि इस नियम का भंग करे उसे मुनि न माना जाय और उस अयोग्य दीक्षितको भी तब तक मुनि न माना जाय जबतक वह नियमावलिमें बताये हुए नियम के अनुसार मुनि न हो जाय।

(ख)—अयोग्य दीक्षाओंको रोकनेके लिये सरकारी क़ानूनकी सहायता लीजाय। जहाँ इस विषयमें क़ानून हो वहां तो ठीक ही है परन्तु जहां ऐसा क़ानून न हो वहाँ नाबालिग की रक्षासे सम्बन्ध रखने वाले क़ानूनोंका उपयोग किया जाय, तथा क़ानून बनवाने की कोशिश की जाय।

(ग) गृहस्थोंमें अगर कोई बालदीक्षाका पक्षपाती हो और उसके किसी भी पुत्रने बाल्यावस्थामें दीक्षा न ली हो तो उसके मतका मूल्य न समझा जाय।

(घ) ग्राम ग्राममें एक ऐसा युवक-दल बनाना चाहिये जो बालकोंको दीक्षाके शिकारसे बचाये रक्खे। इस विचारके मुनि अगर गांवमें आवें तो उनकी देख रेख रक्खे, उनके पास कोई बालक हो तो उसे लेकर उसके घर पहुँचावे और ऐसे लोगोंके विरोधमें खूब आन्दोलन करें।

(ङ) बालकोंको मूड़ने वाले तथा अन्य रीतिसे भी मुनित्वको लजाने वाले मुनिवेषियों के साथ मुनिके योग्य शिष्टाचार आदि न किया जाय।

इस मार्गमें सबसे बड़ी आपत्ति यही है कि ऐसे मुनिवेषियोंके भी भक्त थोड़ी बहुत संख्यामें मिलही जाते हैं जिससे उनकी गुज़र होती है। परन्तु इसका कोई अमोघ उपाय नहीं है। अब

तक संसारमें मूढ़ता है तब तक ऐसे विघ्न आवेंगे ही। अपनेको इनकी पर्वाह किये बिना अपना काम करना चाहिये। हां, युक्तितर्क से इन्हें समझानेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसके लिये लेख, ट्रेक्ट और व्याख्यानोंका प्रबन्ध करना चाहिये, तथा विरोधी भाइयोंसे द्वेष नहीं करना चाहिये। ऊपर बतलाये हुए कार्यों को अगर सच्ची लगनके साथ किया जायगा तो सफलता होगी तथा धीरे धीरे विरोध शान्त हो जायगा।

३ प्रश्न—क्या आप समझते हैं कि ऐसे घरू झगड़ोंसे अपने धर्मकी अवहेलना होती है?

उत्तर—अवहेलना अवश्य होती है: परन्तु चुपचाप ऐसे अनर्थों को देखते रहनेकी अपेक्षा कम होती है। अवहेलनाका कारण झगड़ा नहीं किन्तु जिन अनर्थों पर झगड़े होते हैं वे हैं। झगड़े अवश्य ही दूर होना चाहिये परन्तु अनर्थों को दूर करके होना चाहिये, न कि मृतशान्तिका परिचय देनेके लिये। जो अनर्थ करते हैं वे ही इस अशान्तिके ज़िम्मेदार हैं।

४ प्रश्न—इस प्रश्नका समाधान प्रेमपूर्वक आपसमें होजाय इसके लिये साधु—सम्मेलन होने की आवश्यकता आपको मालूम होती है?

उत्तर - सम्मेलन हो तो बहुतही अच्छा है परन्तु ऐसी मुझे आशा नहीं है। इसके लिये हृदय पलटकी ज़रूरत है। जबतक वह न मालूम हो तबतक सम्मेलनसे कुछ लाभ नहीं। फिरभी अगर सम्मेलनको अवकाश हो, तो सम्मेलन करनेमें कुछ हर्ज़ नहीं है।

५ प्रश्न—साधुसम्मेलनका प्रयत्न कौन करे जिससे सफलता हो?

उत्तर—दोनों पक्षके एक एक प्रभावशाली श्रावक की तरफ़से सम्मेलन बुलाया जाय।

६ प्रश्न—सदा के लिये यह झगड़ा दूर हो ऐसा प्रयत्न करनेमें आप क्या सहायता कर सकते हैं?

उत्तर—दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जो उपाय बताये गये हैं उनमें यथा शक्ति सहायता कर सकता हूं।

बाल—दीक्षाका प्रश्न यद्यपि इससमय श्वेताम्बर समाजमें ही भयंकर है किन्तु मुनिवेषियों की संख्या सभी सम्प्रदायोंमें बहुत है जिनका दृढ़ता से इलाज करना चाहिये।

बेटीका बाप।

'बेटीका बाप' यह एक गाली समझी जाती है। साधारण दृष्टिसे यह बात कम समझमें आती है कि इस गालीमें गालीपन क्या है? बेटा—बेटी तो सभीके पैदा होते हैं। किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह गाली ही है। बेटीके बापकी मुसीबतें बेटीका बाप ही जानता है। किसीको बेटीका बाप कहना मानों उसपर वे मुसीबतें ढा देनेकी इच्छा प्रकट करना है।

"जागरणके" सम्पादकजी ने १७ अप्रैलके अंकमें एक टिप्पणी लिखी है; उससे मालूम होगा कि समाजके अत्याचारोंने किसी किसी जातिमें 'बेटीके बाप' को कितना दुःखी या अभागी बना दिया है। वह टिप्पणी यहाँ शब्दशः उद्धृतकी जाती है।

"**एक दुखी बाप**—एक सज्जनने, जिनका नाम बताना हम मुनासिब नहीं समझते, हमारे पास एक पत्र लिखा है, जिसमे विदित होता है कि आजकल अपनी कन्याओंका विवाह करनेमें पिताओंको कितनी मुसीबतोंका सामना करना पड़ता है। उक्त सज्जनने हमसे इस मुसीबतका इलाज पूछा है। हम इस विषयमें उतने ही निस्सहाय हैं, जितने स्वयं वह है। हमें तो इसका एकही इलाज नज़र आता है और वह यह है कि लड़कियोंको अच्छी

शिक्षा दी जाय और उन्हें संसारमें अपना रास्ता आप बनानेके लिये छोड़ दिया जाय, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कोंको छोड़ देते हैं। उनको विवाहित देखनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिये और जैसे युवकोंके विषयमें हम उनके पथ-भ्रष्ट होजाने की परवाह नहीं करते, उसी भाँति हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिये। तब यदि वह गृहिणी जीवन बसर करना चाहेंगी, तो अपनी इच्छानुसार अपना विवाह करलेंगी, अन्यथा अविवाहित रहेंगी। और सच पूछो तो यही मुनासिब भी है। हमें कोई अधिकार नहीं है, कि लड़कियोंकी इच्छाके विरुद्ध केवल रूढ़ियोंके गुलाम बनकर, केवल इस भयसे कि खानदानकी नाक न कट जावे, लड़कियोंको किसी-न-किसीके गले मढ़ दें। हमें विश्वास रखना चाहिये, कि लड़के अपनी रक्षा कर सकते हैं, तो लड़कियाँ भी अपनी रक्षा करलेंगी।

उस पत्रका एक अंश हम देते हैं और यद्यपि हमें विश्वास नहीं, कि उसे पढ़कर किसी को कुछ असर होगी; लेकिन कमसे कम वह सन्तोष तो हो जायगा, जो अपना दुख दूसरोंको सुनाकर होता है—'मैं आजकल एक फिकरमें मुबतिला हूँ। मेरा खयाल है कि इलाज आपके द्वारा हो सकता है। मुझे अपनी सुयोग्य कन्याकी शादीकी फिक्र है। जहाँ कहीं भी बातचीत करता हूँ, वहींसे रुपयोंकी बड़ी तादादकी माँग होती है। आपके शहरमें ही एक प्रसिद्ध रईस बाबू—रिटायर्ड डिपटी कलेक्टर हैं, उन्होंने मुझसे ५०००) नक़द, अलावा सामान-दहेज़ के माँगे। आप विचार करें, कि नक़द ५०००) के ऊपर लगभग ४०००) का सामान और इतना ही ऊपर चाहिये। यानी क़रीब बीस हज़ार रुपये एक लड़कीकी शादीके लिये चाहिए। अब अगर किसी घरमें तीन लड़कियाँ हुई, तो आधे लाख रुपये उनके विवाहके लिये रखलेना जरूरी है। आप विचार कीजिये, कि कायस्थोंके पास जो नौकरी करके गुजर करते हैं, इतने रुपये कहाँ से आ सकते हैं; और फिर ईमानदारीके साथ काम करके कोई भी नौकरी करके इतने रुपये पैदा नहीं कर सकता। मैं करारदादके सख्त ख़िलाफ़ हूँ। मैंने अपने लड़के की शादीमें करारदाद मुतलक़ नहीं किया जिसे हर शख्स जानता है। अगर करारदाद करता तो मुझे भी काफी रुपये मिल सकते थे। लेकिन लड़कीकी शादीमें करारदाद करने को तैयार हूँ; क्योंकि मजबूरी है; इसलिये मेहरबानी करके कोई ऐसा लड़का जो तालीमयाफता तन्दुरुस्त हो और जिसके माँ बापके विचार अच्छे हों मुझे बताइये।'

यह लाला साहब रिटायर्ड डिपटी कलेक्टरके पास गए ही क्यों? इसलिये कि वह भी ओहदा और दौलत देखते हैं। ऐसोंके पास तो भूलकर भी न जाइए। ऐसे लड़कों को लीजिए जिनके माँ-बाप सिधार चुके हैं। उनको सहायता देकर आगे बढ़ाइए और दो चार हजार जो आप दे सकें कन्याके नाममें बैंकमें जमा करके लड़की को पास-बुक दे दीजिये। इन जायदादवालोंके दरवाजेपर थूकने भी न जाइए। छोड़ दीजिए, कन्याको सम्पन्न और सम्मानित कुलमें विवाहनेके मोह को। ऐसे कुलोंमें लड़कियाँ कभी सुखी नहीं रहतीं। विद्यालयोंमें बहुतसे ऐसे युवक मिलेंगे जो चरित्रवान हैं, विचारशील हैं, महत्वाकांक्षी हैं; पर कोई उनकी सहायता करनेवाला नहीं है। ऐसे युवकोंमेंसे छाँट लीजिए और उसके साथ कन्याका पाणिग्रहण कर दीजिए।"

जागरणके सम्पादकजीकी यह सलाह इतनी अच्छी है कि इस विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। बड़े बड़े श्रीमानों के यहाँ लड़की देनेके लिये खुद कंगाल होना और उन श्रीमानोंको और अधिक श्रीमान बनाना अनुचित है। ठीक तरहसे यह समस्या तभी हल होगी जब स्त्रियोंको इस विषयमें पूरे अधिकार देदिये जायँगे। आज कहीं कन्या विक्रय, कहीं वरविक्रय समाजको नष्टभ्रष्ट कर रहा

है। ये दोनों ही पाप हैं किन्तु कन्याविक्रय की अपेक्षा वरविक्रय और भी नीच है। कन्याविक्रयको तो हम वृद्धविवाह और अनमेलविवाहका कारण समझ कर पाप कहते हैं। परन्तु इससे माँ बाप पर अन्याय नहीं होता। किन्तु वरविक्रयसे सैकड़ों स्त्रियोंको आजीवन कुमारी रहना पड़ता है। सैकड़ों ग़रीब घरकी बेटी होने से बुड्ढों और अपात्रोंको विवाही जाती हैं। बीसों माँ-बाप की ग़रीबी देखकर जल मरतीं हैं। लड़कोंके माँ-बापको विवश होकर कंगाल होना पड़ता है। जैन समाजमें भी यह कुप्रथा है। अग्रवाल जैनोंको इसी मुसीबतका सामह-ना करना पड़ता है। दक्षिणमें भी यह रिवाज़ है। जागरण के सम्पादकजीने जो उपाय बताया है वह बहुत विशाल और दीर्घकालसाध्य है। परन्तु इस व्याधिका एक सरल उपायभी है।

ऐसी बहुतसी जातियाँ है जिनमें युवकोंको भी कन्याएँ नहीं मिलतीं। इसके लिये उन्हें बहुत पैसा देना पड़ताहै। किसी जातिमें कन्याविक्रय है तो किसी जातिमें वरवि-क्रय है। वरविक्रयवाली जातिके लोग अपनी पुत्रियोंको ऐसी जातिमें दें जहाँ युवकोंको कन्या नहीं मिलती तो इसमें सन्देह नहीं कि इसप्रकारके दस पाँच विवाह होने परही वरविक्रय करनेवालोंकी आँखें खुल जायँगी। कन्या वालोंको यह प्रतिज्ञा करलेना चाहिये कि वे किसी भी हालतमें वरपक्षको एक पैसाभी न देंगे, भलेही उनको विजाति और विधर्मियोंमें कन्याका विवाह करना पड़े। इतना ही नहीं किन्तु उनको विजाति विवाहकी ही कोशिश करना चाहिये। इससे थोड़े ही दिनमें यह समस्या आप ही हल होजायगी। अगर जाति भरमें पचीस पचास आदमी भी ऐसा कर सकें तो भी वरविक्रयकी प्रथा निर्मूल हो सकेगी।
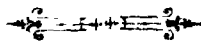
जैनजगत्का प्रचार करना
आपका परम कर्तव्य है।
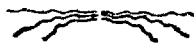
"जैनधर्मका मर्म" पर सम्मतियाँ।

(२५)

श्री० सेठ ताराचन्दजी नवलचन्दजी जवेरी की सम्मति।

पंडितजी!

जैनजगत्में जो 'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमाला आप लिख रहे हैं उसे मैं बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ता हूँ। वास्तवमें यह लेखमाला बहुतही विद्वत्तापूर्ण है और बहुत विचारपूर्वक लिखी जारही है। इस लेखमालाका विरोध ऐसे लोगोंकी तरफ़से होरहा है जो एक वक्त आपके पूर्ण भक्त थे। मैं बहुत समयसे आपके लेखोंको पढ़ता हूँ और आपके चलाये आन्दोलनोंको देखता हूँ। प्रारम्भमें जब आपने विजातीयविवाहका आन्दो-लन चलाया तभी पंडितदलने आपके ऊपर हरतरह से आक्रमण किया और आपको सदाके लिये कुचल देना चाहा। परन्तु आप न तो पीछे हटे, न घबराये, और सभी विरोधी पंडितोंको पीछे हटाया। आज विजातीयविवाहकी धार्मिकताके विषयमें अब किसी को सन्देह नहीं रह गया है। परन्तु मालूम होता है कि किसी महान् लक्ष्यपर पहुँचे बिना छोटे छोटे सु-धारोंपर रुक जाना आपके स्वभावमें नहीं है। इसलिये ज्योंही आपको विजातीयविवाहके आन्दोलनमें सफ-लता मिली त्योंही आप आगे बढ़े। फिर कई वर्षों तक आपने विधवाविवाह, पोपडमका विरोध, अ-छूतोद्धार आदि अनेक आन्दोलनोंको सफलतापूर्वक चलाया। विरोधी पंडितोंने अनेकबार आपके बहिष्कारके आन्दोलन उठाये, अनेक प्रकारकी आ-पको धमकियाँ दीं परन्तु आप रंचभर भी न घबरा कर डटे रहे। आखिर हर बातमें आपके विरोधियों को समाजके सामने नीचा देखना ही पड़ा। यह बात दूसरी है कि वे अपने मुँहसे अपनी भूल स्वीकार न करें। आज आपकी सभी बातें समाज मानने लगी है, यही आपकी बड़ी भारी विजय है।

परन्तु समाजसुधारके इन विशाल आन्दोलनों से भी आप सन्तुष्ट न हुए। इसलिये अब आपने जैनधर्मके भीतर पिछले ढाई हजार वर्षमें आये हुए विकारों को निकालनेके लिये कमर कसी है। वास्तवमें इस वैज्ञानिक जैनधर्ममें इतनी अवैज्ञानिक बातें घुसगई हैं जिनपर एक साधारण आदमी भी विश्वास नहीं कर सकता। परन्तु उन असत्य बातों को इसप्रकार सत्यका जामा पहिनाया गया है कि जिससे भोला आदमी धोखा खाजाता है, और विद्वान आदमी घृणासे मुँह फेर लेता है। इस वैज्ञानिक युगमें इसप्रकारका विकारी जैनधर्म कदापि जीवित नहीं रह सकता। ये विकार सैकड़ों वर्षोंसे जैन समाजको खोखला और अन्धश्रद्धालु बनारहे हैं। अगर आप सरीखे लोग इसपर विचार न करें तो सर्वनाशमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

इस कार्यमें आपने अद्भुत विद्वत्ता और असाधारण साहसका परिचय दिया है। किन्तु इसमें आपका खानगी लाभ कुछ भी नहीं है; सिर्फ आपका धर्मप्रेम और सत्यभक्ति ही आपसे जबर्दस्ती यह काम करारही है। फिर भी कुछ सुधारक मित्र सुधारककहला करके भी अपनी अन्धश्रद्धामें इतने अधिक लीन हैं कि आपके साथ उत्तर प्रत्युत्तर न करके आपके बहिष्कारके और समाजको भड़काने के प्रयत्नमें लगे हैं। कोई कोई महाशय तो यहाँ तक समाजको समझाना चाहते हैं कि उनको नापसन्द होनेसे समाजकी भी दृष्टिमें आपके पत्रका कुछ मूल्य नहीं रहा है। ये सब बातें अन्धश्रद्धालुओंके सिवाय और कोई नहीं लिख सकता। वास्तवमें इनके वक्तव्य और पोपडमके फर्मानोंमें कुछ अन्तर नहीं है। दोनों ही अन्धश्रद्धालु होते हैं और दोनों ही अपनी मान्यताके साम्हने किसीका उच्चारण भी पसन्द नहीं करते।

मैं इन महाशयोंसे पूछता हूँ कि आप जगत्के साथ चर्चा करनेकी बातें करते हो तो यहाँ चर्चा क्यों नहीं करते? क्या पंडितजीने चर्चा करनेके लिये मना किया है? क्या पण्डितजी जुल्म जोरसे अपने विचार मनवाना चाहते हैं? क्या तीनों सम्प्रदायोंके प्रेमके लिये तथा सर्वधर्मसमभावके लिये यह चर्चा उपयोगी नहीं है? क्या आजकलके जैनशास्त्रोंमें विकार नहीं आया है? क्या उनमें परस्पर विरोध नहीं है? क्या आज इनके जाँच करने की और निःपक्ष होकर सत्यको खोजनेकी जरूरत नहीं है? अथवा क्या लेखमालामें विचारणीय मसाला नहींहै? आखिर क्या है जिससे आप इतने उखड़ पड़े हैं? मेरे खयालसे तो आप सत्य की भक्ति नहीं रखते और अपने पक्षको बहुत कमजोर समझते हैं इसीसे विद्वानोंके योग्य मार्ग ग्रहण न करके आप साधारण लोगोंकी तरह बहिष्कार आदि के निष्फल प्रयत्न करते हैं।

मानलो पंडित दरबारीलालजी जैन नहीं हैं या कोई दूसरा जैनेतर विद्वान ऐसी आलोचना कररहा है। तब ऐसी अवस्थामें आपका क्या कर्तव्य है? क्या केवल धमकियोंसे या बहिष्कारसे वह विद्वान चुप रह जायगा? और क्या उससे आपका पक्ष सत्य साबित हो जायगा? मेरे खयालसे उससे आपके विचारोंकी ही अप्रभावना है। बहिष्कार आदिसे ऐसे विद्वान नहीं दबते और अगर दबें भी तो यह मार्ग सच्चे विद्वानोंके योग्य नहीं है। मेरे खयालसे सत्यकी प्राप्तिके लिये और धर्मकी प्रभावनाके लिये इसप्रकार की नीति ठीक नहीं है। आजतक सुधारक लोग इसी उदार नीतिकी दुहाई देते आरहे हैं और स्थितिपालकोंकी संकुचित नीतिकी निंदा करते आरहे हैं। परन्तु आश्चर्य और खेदकी बात है कि आज वेही सुधारक अपने अन्य सुधारकोंके लिये उसी उदार नीतिका त्याग करते हैं। इससे सुधारकोंकी वास्तविक अप्रभावना होती है। "हाथीके दाँत खानेके

और, दिखानेके और " यह कहावत पूरी करना सुधारकोंको शोभा नहीं देता।

मेरी समझमें तीनों सम्प्रदायोंकी प्रेमवृद्धिके लिये और धर्मोंके नामपर चलते हुए झगड़ोंको शांत करनेके लिये ऐसी लेखमालाओंकी खास जरूरत है। साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थ जो एक दूसरेको गाली देनेमें बहादुरी समझते हैं और बेकामकी बातोंको अनुचितमहत्त्व देते हैं—उनका संशोधन करना बहुत जरूरी है।

अपनी मान्यता और साम्प्रदायिक बातोंके समर्थनसे मूल जैनधर्म सिद्ध नहीं होता। आजका जमाना युक्ति-तर्कका जमाना है, फतवा निकालनेका जमाना नहीं है। खुद जैनधर्म परीक्षाप्रधानी बननेका उपदेश देता है। उसमें देशकालानुसार परिवर्तन, तुलनात्माक आलोचनाको पूरा स्थान है। खैर।

आपका मार्ग कठिन है। समाजकी क्रूरता भयंकर है और समाजके इस स्वभावसे लाभ उठानेवाले पण्डित आदि थोड़े नहीं हैं। इसलिये सच्चे सुधारकको तो हथेलीपर प्राण लेकर आगे बढ़ना पड़ता है। समाज, और उसके भोलेपनसे यश पूजा अर्थ आदिका लाभ उठानेवाले लोग सुधारकोंके साम्हने कितना भयंकर आक्रमण करते हैं और कितनी बदनामी करते हैं और दूसरी अनेक रीतियोंसे उन पर या उनसे सम्बद्ध संस्थाओं पर कितना अनुचित दबाव डालते हैं कि कोमलहृदय सुधारकको प्राण तक देदेना पड़ते हैं। परन्तु इससे सुधारका वास्तवमें कुछ नहीं बिगड़ता। थोड़ी देर बाद सब काम ज्योंका त्यों चलने लगता है और समाज भी अपनी भूलको समझती है। आपने अभी तक काफी धैर्य बताया है और उसका असर भी अच्छा हुआ है! मुझे पूर्ण आशा है कि भविष्यमें भी आप धैर्यके साथ काम करते रहेंगे और उसमें आपको सफलता भी मिलेगी। आपके विरोधी या तो आपके पास आजायँगे या निष्फल प्रयत्न करके चुप होजायँगे।

सच्चे सुधारकोंके साथी प्रारम्भमें थोड़े ही होते हैं इसलिये आप सुधारकाभासोंकी चिन्ता न करके आगे बढ़ते चलिये। मुझे विश्वास है कि आपकी यह लेखमाला जैनधर्म और जैन समाजको नया जीवन देगी। —ताराचन्द नवलचन्द जवेरी, मुम्बई।

वृद्धविवाह और क़ानून।

(ले०—श्री० रतनलालजी मालवीय बी.ए.एल्एल्.बी. सागर)

हमारे इस अभागे देशमें आज ऐसी लाखों विधवाएँ हैं जिनका यौवनमें प्रवेश करनेके पहिले ही सुहाग सिंदूर पुँछ जाता है और वे समाजके नृशंस अत्याचारोंके कारण जीवनभर रक्तके आँसू बहाती हैं। यदि इन अभागिनी विधवाओंके इतिहास पर तनिक दृष्टिपात कियाजावे तो यह स्पष्ट होजाता है कि इनमेंसे ९९ प्रतिशत पुरुष जातिकी पैशाचिक कामुकताके पापका प्रायश्चित्तकर रही हैं। नीच और अधम मातापिता वृद्ध पुरुषोंसे रुपया लेकर उन्हें अपनी कन्याएँ भेड़ और बकरीकी तरह बेचदेते हैं और जब उन बेचारियों पर असमय ही में वैधव्यके वज्रका प्रहार हो जाता है तब उनके फूटे भाग्य और समाज की रस्मोंकी दुहाई देकर चुप हो जाते हैं। इन नर-पिशाचोंके लोमहर्षण अत्याचारोंके कारण हिन्दु समाज घुन कर खोखला हो गया है और अपनी अन्तिम साँसे ले रहा है।

यदि एक ओर समाज अपनी कन्याओंका क्रय विक्रय करनेवाले खूँख्वार भेड़ियोंसे भरा पड़ा है तो दूसरी ओर उनमें कुछ ऐसे सुधारक और त्यागी युवकोंका जन्म हो गया है जिन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर ऐसी कन्याओंकी रक्षाकर समाजको सुरक्षित रखने पर कमर कसली है। परन्तु ऐसे युवकों के रास्तेमें क़ानूनी अड़ंगे आकर उनके मार्गमें पहाड़

खड़ा कर देते थे। इस लेखका उद्देश्य सुधारकोंको एक ऐसी ही नज़ीरसे परिचित कराना है जिसका उद्देश्य वृद्धविवाह रोकनेमें सहायता पहुँचाता है।

यह नज़ीर नागपुर हाईकोर्टकी है और २८ नागपुर लॉ रिपोर्टके पृष्ठ ३३२ में प्रकाशित हुई है। यह क़ानून सर हरीसिंह गौड़ और एम० बी० किनखिड़े जैसे क़ानूनके दिग्गज विद्वानोंकी गम्भीर बहसके अनन्तर हाईकोर्टके जज श्री० सूर्बेदारने निश्चित किया है और उसका सम्बन्ध ऐक्ट वलायत (गार्जियन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट) की दफ़ा १२ (१), ज़ाब्ता दीवानीकी दफ़ा १४१ और उसीके आर्डर ३९, रूल २ और ३ से है। नज़ीरका यथार्थ तत्व समझनेके पहिले मुक़द्दमेके वाकयातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, और नज़ीरमें उनका विवरण निम्न प्रकार है:—

मुक़द्दमेमें वादी आशाराम; विवाहित कन्या गोदावरी बाईका जो १४ वर्षकी थी दूरके रिश्तेमें चचेरा भाई होता था; और प्रतिवादी कन्याके मातापिता (१) देवकिशन और (२) मुसम्मात अमृतबाई (३) सुन्दरलाल (४) ताराचन्द और (५) रामगोपाल थे। ३० अप्रेल सन् १९३१ को वादी आशारामने अकोला (बरार) के डिस्ट्रिक्ट जजकी अदालतमें गोदावरी बाईका वली नियुक्त करनेकी दरख्वास्त दी थी और प्रतिवादियोंपर उन्होंने यह दोषारोपण किया था कि देवकिशन और मुसम्मात अमृतबाई, सुन्दरलाल और ताराचन्दकी साजिशसे १२०००) बारह हज़ार रुपये लेकर रामगोपालके साथ जिसकी आयु ५० वर्ष की थी, विवाह कर रहे थे, जो कन्याके बिलकुल अयोग्य है और जिससे कन्या को भयानक क्षति पहुँचनेकी सम्भावना है। यह विवाह दूसरे ही दिन याने १ मई सन् १९३१ के लिये निश्चित हुआ था, इसलिये वादीने विवाह-रोकनेकीभी अदालतसे प्रार्थनाकी। अदालतने यह प्रार्थना स्वीकार कर विवाह रोकनेका हुक्म निकाल दिया और प्रतिवादियोंको दूसरे दिन अदालतमें हाज़िर होनेका हुक्म दिया। परन्तु प्रतिवादियोंने अदालतके हुक्म का ऐलान लेनेसे इन्कार कर दिया और इस लिये ऐलान उनके मकान पर चस्पा कर दिया गया। ४ मई को देवकिशन ताराचन्द और सुन्दरलाल अदालतमें हाज़िर हुए और उन्होंने रामगोपालके साथ विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञाके कारण लड़की देवकिशनको सौंप दी गई।

इतने पर भी २० मई सन १९३१ को गोदावरी बाई का विवाह रामगोपालके साथ कर दिया गया। इस अवज्ञाके कारण अदालतने प्रतिवादियोंकी पाँच सौ रुपये तककी मनकूला जायदादकी कुर्की और अमृतबाई को छोड़कर अन्य चारोंको डेढ़ डेढ़ माह की सज़ाका हुक्म दिया।

डिस्ट्रिक्ट जजके इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ प्रतिवादियोंने नागपुर हाईकोर्टमें अपील की। अपील की बहसमें प्रतिवादियोंकी ओरसे सर हरी सिंह गौड़ने कहा कि चूँकि ऐक्ट वलायत (गार्जियन एण्ड वार्ड्स ऐक्ट) पूर्ण है और चूँकि उस ऐक्टकी दफ़ा १२ की अवज्ञापर उसमें कोई सज़ा निर्धारित नहीं की गई है इसलिये डिस्ट्रिक्ट जजका ज़ाब्ता दीवानीके आर्डर ३९ रूल ३२ के अनुसार दिया हुआ सज़ाका हुक्म ग़ैरक़ानूनी है और मंसूख़ होने के लायक है।

इस बहसके प्रत्युत्तर में रावबहादुर किनखिड़े ने कहा कि ऐक्ट वलायत अपूर्ण है और जिस जिस रूपमें वह अपूर्ण है उसकी पूर्ति ज़ाब्ता दीवानीकी दफ़ा १४१ के आधार पर की जासकती है। इसलिये अदालतका हुक्म इम्तनाई आर्डर ३९ रूल २ के अनुसार समझा जाना चाहिये और हुक्मको अवज्ञा की सज़ा आर्डर ३९ रूल ३ के अनुसार दी जासकती है। श्रीमान् किनखिड़ेकी यह बहस अदालत ने स्वीकार करली। उनकी बहसके आधार

आर्डर ३९ रूल २ के निम्नलिखित शब्द थे:—

"जो मुक़द्दमा प्रतिवादीके ख़िलाफ़ उसके कोई इकरार भंग करने या 'अन्य किसी प्रकारकी क्षति' पहुँचानेसे रोकनेके लिये दायर किया गया हो उस में वादी मुकद्दमा दायर होनेके बाद और फ़ैसलेके पहिले या बादमें, अदालतको इस आशयके हुक्म इम्तनाईकी दरख्वास्त दे सकता है कि प्रतिवादी मुकद्दमेंसे सम्बन्ध रखनेवाले इकरारको भंग न करे या तत्सम्बन्धी जायदाद या हक़को कोई क्षति न पहुँचावे।"

वादीके वकीलकी बहसके अनुसार उपर्युक्त धाराके "अन्य किसी प्रकारकी क्षति" शब्दोंमें वृद्ध-विवाहका समावेश हो जाता है। "क्षति" शब्दकी परिभाषा करते हुए वकीलने सिन्ध हाईकोर्टकी प्रेमजीकान्त बनाम जीवीबाईकी नज़ीरका हवाला दिया था जो १९२८ के ऑल इण्डिया रिपोर्टर सिन्ध पृष्ठ १२९ (१३१) में प्रकाशित हुई थी। वह निम्न प्रकार है:—

"यह निश्चत हो चुका है कि सम्राटकी ओरसे अदालतोंको बच्चोंकी रक्षाके जो अधिकार प्रदान किये गये हैं उनके अनुसार अदालत किसी भी बच्चे का चाहे वह अदालतकी देखरेखमें हो या नहीं, अनुचित विवाहसम्बन्ध रोक सकती है। इस क़ानूनमें जातिसम्बन्धी कोई भेदभाव नहीं है और हिन्दुओं और मुसलमानोंपर उसका एकसा ही प्रभाव पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि जो बच्चे अदालतकी देखरेखमें नहीं हैं उनके लिये अदालत को दरख्वास्त देनेकी आवश्यकता है। परन्तु जो बच्चे उसकी देखरेखमें हैं उनके वलायतोंको अदालत स्वयं अनुचित सम्बन्ध करनेसे रोक सकती है क्योंकि वे अदालत से नियुक्त किये हुए प्रतिनिधि हैं. वास्तवमें उनकी रक्षक अदालत ही है। एक बच्चे को इससे अधिक क्षति नहीं पहुँच सकती कि उसे जीवन भरके लिये अयोग्य वरके साथ बाँध दिया जाय; विशेषकर ऐसी परिस्थितिमें जब विवाह मृत्युके पहिले क़ानूनके द्वारा भंग न हो सकता हो यह क्षति किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती।"

हाईकोर्ट ने यह बहस स्वीकार कर डिस्ट्रिक्ट जजका फ़ैसला बहाल कर दिया।

लेखकको सागरके एक ऐसे मुकद्दमेका पता लगा है जहाँ डिस्ट्रिक्ट जजने ऐसे ही अनुचित सम्बन्धके रोके जानेका हुक्म तो निकाल दिया था परन्तु उस आज्ञाकी अवज्ञा होनेपर क़ानून खिलाफ़ बतलाकर उन्होंने प्रतिवादियोंको सज़ा देनेसे साफ़ इन्कार कर दिया था। एक नहीं ऐसे न जाने कितने मुकद्दमे हुए होंगे जिनमें समाजसुधारकों को मुँह की खानी पड़ी होगी और न जाने कितने सुधारक क़ानून को खिलाफ़ जानकर हतोत्साहित होकर बैठ गये होंगे। सुधारकोंके लिये इस नज़ीरने एक नया मार्ग खोल दिया है। लेखककी प्रार्थना है कि जब जब उन्हें अवसर मिले इसका उपयोग किये बिना न रहें।

नोट—इस लेखमें नज़ीरका केवल सार देदिया गया है। जो सज्जन विस्तृत रूपसे अध्ययन करना चाहें उन्हें उपर्युक्त क़ानूनी रिपोर्टोंका अध्ययन करना चाहिये।

मुनियोंके कृत्य।

(ले०—श्री० जी० ऐल० जैन)

'साधु' शब्दके सुनतेही हमारे हृदयमें भक्तिका संचार हो जाता है, दर्शनकी इच्छा हो उठती है। ये सब बातें वास्तवमें सत्य हैं, पर यदि साधु गुणवान और आचारवान् हों तो। लेकिन आज कल तो किसीने स्त्री के मरनेसे, किसीने विवाह न होने से, किसी के पास धन न होने से ही साधु भेष धारण करलिया है। उनकी सब क्रियाएँ दिखावटी एवं नामवरीके लिये होती हैं। वे अपनी आत्माका क्या उद्धार करते हैं यह तो वे ही जानें,

या उनकी भक्त अंध समाज जाने। लेखक तो इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता है कि साधु-मुनि होकर ये अपनी आत्माका उपकार कर रहे हैं। हाँ, वे अपनी आत्माका बिगाड़ ज़रूर कर रहे हैं।

अभी यहाँ पर शान्तिसागरजी (छाणी) का संघ आया था। उनके साथमें मल्लिसागरजी, वीरसागरजी, एवं ऐलक धर्मसागरजी थे। इनमें वीरसागरजी तो बड़े शान्त परिणामी एवं आत्मोद्धारक थे। शेष केवल प्रपंची थे। वे गृहस्थोंसे भी अधिक मायाग्रस्त और बंधनमें बँधे हैं। शान्तिसागरजीने तो अपने नामके विद्यालय एवं ग्रन्थालय खोल रखे हैं। उनकी सहायता के लिये प्रत्येक ग्राममें विहार कर चन्दा इकट्ठा किया करते हैं और उनकी प्रशंसा कर लोगों को ठगा करते हैं। मुझे अभीतक यह बात मालूम नहीं हुई कि सागवाड़ा और ईडरके ग्रन्थालयसे कौन कौन ग्रंथ निकले और उनसे समाजको यह लाभ हुआ। आचार्यपद धारण करने पर भी ज्ञानकी कमी है। प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकते हैं। लड़ाई झगड़ेकी तरफ़ विशेष ध्यान है। बीसपन्थी संप्रदायकी सदा बड़ाई और तेरापन्थियोंकी बुराई करना इनके बाँये हाथका खेल है। आप खुले तौरसे सावद्य पूजाका अधिकार देते हैं। क्या एक अहिंसामहाव्रती इस प्रकारके सावद्य कार्यकी आज्ञा दे सकता है? क्या इसमें वे प्राचीन आचार्योंके ग्रंथोंका भी प्रमाण दे सकते हैं? यह कुछ उन्होंने ग्रंथोंको तो ताक़में रख दिये हैं और अपने संग्रह किए हुए ग्रंथों की स्वाध्याय किया करते हैं, पर क्या......। आप, लोगों को ज़बरदस्ती प्रतिज्ञा कराते हैं। यदि वह प्रतिज्ञा नहीं करता है तो पीछी नहीं छोड़ते हैं, या पड़गाहने पर भी उसके घरमें नहीं जाते हैं। कुछभी ग़लती न होने परभी "मेरी मर्ज़ी थी इससे नहीं आया" ऐसा कहदेते हैं। इसमें भी रहस्य है। आचार्य हैं इससे ये आहार करनेके बाद २५) का टैक्स लेते हैं। वह ग्रंथालयके ख़ज़ानेमें भेजा जाता है। यहाँ पर कई जगहसे २५) रुपये वसूल किये गये जो कि ज़बरदस्ती एवं इनके नियमोंसे बाहर है। पर इनको तो नाम करनेसे ही प्रयोजन है। इसीसे शास्त्रविरुद्ध २५ दिन तक रह गये, नहीं ५ दिन ही ठहरते पर क्या......।

दूसरे मल्लिसागरजी भी विचित्र हैं। ये जिह्वालोलुपी अधिक हैं। यदि किसीके यहाँ पर सादा भोजन हुआ तो आप उपदेशरूपसे फ़रमाते हैं कि अरे भाई! जब तुम्हारे घर पर पाहुने आते हैं तो उनको खूब मिठाई वगैरह खिलाते हो और साधुके आने पर दाल, भात, रोटी खिलाते हो! ऐसा करना ठीक नहीं है। दूसरे एक दिन एक बाईके यहाँ पर आहार हुआ तो कुरछीके लगनेसे भगोनी बोल उठी। महाराजने समझा कि आहार कम है, इससे चल दिये, और अपने स्थान पर जाकर कहा—देख बाई, मैंने तुम्हारे यहाँ पर आज पानी पीकर ही पेट भरा है, आगेसे ४-६ आदमी खावें उतना भोजन बनालेना चाहिए। अस्तु, अब जाओ और मेरे नौकरोंको घी बूराके साथ भोजन कराओ।

एक दिन सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी के यहाँ पर आहार हुआ था। उस दिन भी आपने अपनी भाषासमितिपूर्वक (?) बड़ा अच्छा उपदेश दिया था कि "बड़े सेठ बन गये, कानोंमें कुण्डल पहर लिये, चाहे गोद रखे हुए सब खाजाँय पर साधु को नहीं खिलाया जाय। "कभी आप किसी की

जायदाद पूछते हैं तो कभी कुछ कहदेते हैं।

प्रिय पाठको ! ये वचन पंच महाव्रत पालने वालोंके हैं ! इनकी भाषासमितिका बल गज़ब है। क्या इस प्रकारकी भाषा एक साधारण गृहस्थ भी बोल सकता है ? नहीं, पर नग्नपनका बाना धारण करने वाले परमहंसकी दशाको प्राप्त साधु तो सहजमें ही बोल जाते हैं ! खेद है इस भेष पर !

ऐलक धर्मसागरजी जातिके ब्राह्मण हैं। इन्होंने जैनियोंमें पूजा प्रतिष्ठा देखकर ही यह बाना धारण किया है। ये अपनी प्रशंसाके बड़े भूखे हैं। कोई इनकी प्रशंसा करे तो फूल कर कुप्पा हो जाते हैं। अभी यहाँ पर इनकी दीक्षा हुई थी। उस समयका रंग ही निराला था— आगे हाथी चल रहा था, अंग्रेज़ी बाजे बज रहे थे, बीचमें महाराज को लिए हुए लोग चल रहे थे। बीच बाज़ारमें निकलनेसे लोग गाली दे रहे थे। चलते चलते दीक्षा स्थान पर पहुँचे। वहाँपर योंही दीक्षा दे दीगई, और "धर्मसागर ग्रन्थालय' के लिये चन्दा भी हुआ। इसके पाँच सभासद चुने गये हैं जो कि कुछ भी नहीं जानते हैं। चंदा भी करीब ५००) रुपये का हो चुका है। वह एक गोटूलालजीके पास जमा है। १०००) का चंदा और हुआ था उसको लोग जीमनमें ही साफ़ कर गये। विरोध करने पर भी एक न सुनी गई। हाय ! लोग चंदा करके ऐसे माल मलीदे उड़ाया करते हैं ! अफ़सोस इनके पेटूपन पर !

प्रिय महाशयो ! मैंने यह कुछ ही चन्द मुनियोंका दिग्दर्शन कराया है। इनकी आत्मायें कितना त्याग कर रहीं हैं या किया वह सारा इस लेखसे मालूम हो जायगा। क्या किसी की शादी थी या पुत्रोत्पत्ति हुई थी जिससे बाजे वगैरह बजे। नहीं, यह तो इनकी श्रद्धा थी। क्या साधु होकर दिन रात रुपया रुपया चिल्लाना चाहिये या ३०) का मनीऑर्डर यहाँ करा दो, कुछ वहां भिजवा दो, रसीद लाकर मुझे देना— यह शब्द कहना उचित था ? नहीं। मेरी तो राय में महात्मा गाँधीका ही उपदेश ठीक है कि सभ्यता, एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके लिहाज़से एक लँगोटी ज़रूर रखना चाहिए; इससे संयममें कुछ बाधा नहीं पहुँचेगी। या ऐलक पद ही धारण करें।

आशा है कि साधु अपने आचरणों को सुधार कर गृहस्थोंका भी उपकार करेंगे। नहीं फिर स्वामीजीकी उक्ति ही ठीक है कि—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

सम्पादकीय नोट—दिगम्बर जैनसमाज आज दलबन्दीमें फँसा हुआ है जिससे मौका पाकर ये मुनिवेषी लोग समाजको चौपट कर रहे हैं। ये और कुछ न जानते हों, परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि किसी एक दलके गीत गा देनेसे दूसरा दल हमारा कुछ नहीं कर सकता। इस कमज़ोरीसे दक्षिणका शान्तिसागर संघ अशान्तिसागर बन गया। दक्षिणी शान्तिसागर जो एक दिन शांत और भोले थे वे आज क्रूर और चालाक होगये। इसी नीतिसे मुनीन्द्रसागर भ्रष्ट हुआ और फिर भी समाजमें स्थान बनाये हुए है। अब इसी नीतिसे ये रहे सहे मुनिवेषी और भी नष्ट होते जारहे हैं और समाजको परेशान कर रहे हैं। विद्वान लोग अगर इस विषयमें भी दलबन्दी की नीतिसे काम लेंगे और विरोधी दलके लिये दो चार खोटे शब्द कहलानेके लिये इनका निर्वाह करते रहेंगे तो ये विरोधी दलका तो कुछ न कर पायेंगे, परन्तु समाज को चौपट अवश्य कर देंगे। ये लोग अपना अकल्याण करेंगे और समाजका भी। समाजको इन मुनिवेषियोंसे सावधान रहना चाहिये और समझना चाहिये कि मुनिवेष में और मुनित्वमें ज़मीन आसमानसे कम अन्तर नहीं है।

श्रीसोमदेवसूरिको दिया हुआ दानपत्र।

[लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई ।]

अबसे लगभग दश वर्ष पहले श्रीसोमदेवसूरिके विषयमें मैं एक विस्तृत लेख लिख चुका हूँ, जो जैनसाहित्य-संशोधक (भाग २ अंक १) में और नीतिवाक्यामृतकी* भूमिकामें प्रकाशित हो चुका है। उसमें उन सब बातोंको लिपिबद्ध कर दिया गया था, जो उस समय तकके उपलब्ध साधनोंसे ज्ञात हो सकी थीं। अभी हाल ही परभणीके श्री शं० ना० जोशीको एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जो भारत-इतिहास संशोधक मंडल पूनेके त्रैमासिक पत्र † (भाग १३, अंक ३) में प्रकाशित हुआ है। इससे कुछ नई बातें मालूम हुई हैं, जो यहाँ प्रकट की जाती हैं।

ताम्रपत्रकी प्रतिलिपि भी इस लेखके साथ प्रकाशित की जाती है। इसकी लिपि कनड़ी और भाषा संस्कृत है। पूरा लेख ५१ पंक्तियोंमें ताँबेके तीन पत्रोंपर खुदा हुआ है जो एक मोटे तारमें नथी है। इसका सारांश यह है—

पहले मंगलाचरणके पद्यमें कहा गया है कि संसारमें उस जैनशासनकी जय हो, जिसने धर्म-चक्रके आरोंसे पापोंको विदलित कर दिया है, जो त्रिजगत्के अधीश्वरों-द्वारा वन्दनीय है, मंगलोंका मन्दिर है और अत्यन्त मनोज्ञ पंचकल्याणरूपी लक्ष्मीको धारण करता है। आगे कहा है कि सूर्यवंशसे § उत्पन्न हुए प्रसिद्ध चालुक्य (सोलङ्की) वंशमें युद्धमल्ल नामका एक राजा हुआ, जो सपादलक्ष (सवालख) प्रदेशका स्वामी था, और जिसने तैलसे भरी हुई वापीमें मत्तहाथियोंको स्नान करानेका उत्सव किया। उसका पुत्र अरिकेसरी हुआ, जिसने कलिंगत्रय‡ सहित वेंगी* प्रदेशकी रक्षा की। (४) अरिकेसरीके चन्द्र-सूर्यके समान नरसिंह और भद्रदेव नामके दो पुत्र हुए। (५) इनमेंसे नरसिंहके युद्धमल्ल नामका पुत्र हुआ और उसके बन्दीजनों (भाटों) के लिए चिन्तामणि तुल्य बद्दिग हुआ। (६) इसने अत्यन्त पराक्रमशाली भीम नामक राजाको जलयुद्धमें अनायास ही पकड़ लिया। (७) बद्दिगके युद्धमल्ल हुआ, जो अत्यन्त उदार पराक्रमी, कीर्तिशाली और प्रतापी था। (८) इसके नरसिंहराज और नरसिंहराजके अरिकेसरी नामक पुत्र हुआ। (९-११) सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूट कुलकी कन्या लोकाम्बिका इसकी पत्नी हुई। (१२) इन दोनोंसे शिव पार्वतीसे कार्तिकेयके समान भद्रदेव नामक पुत्र हुआ। (१३) और उसके अरिकेसरी नामक तेजस्वी राजा हुआ। (१४)

श्रीगौडसंघमें यशोदेव नामके आचार्य हुए जो मुनिमान्य थे और जिनका उग्र तपके प्रभावसे शासन-देवतासे समागम हुआ था। (१५) उन महान् ऋद्धिके धारक महानुभावके शिष्य नेमिदेव हुए, जो स्याद्वाद समुद्रके उस पार तक देखनेवाले और परवादियोंके दर्परूपी वृक्षोंके छेदनेके लिए कुठार थे। (१६) जिस तरह खानमेंसे अनेक रत्न निकलते हैं, उसी तरह उन तपं लक्ष्मीपतिके बहुतसे शिष्य हुए। (१७) उनमें सैकड़ोंसे बड़े और सैकड़ोंसे छोटे श्री सोमदेव पंडित हुए, जो तप, शास्त्र और यशके स्थान थे।

ये भगवान् सोमदेव समस्त विद्याओंके दर्पण, यशोधर-चरित्र (यशस्तिलक चम्पू) के रचयिता, स्याद्वादोपनिषत्के कर्त्ता, और दूसरे भी सुभाषितोंके निर्माता हैं। तमाम महा-सामन्तोंके मस्तकोंकी पुष्पमालाओंसे जिनके चरण सुग-

* माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमालाका २२ वाँ ग्रन्थ।

† यह पत्र मराठीमें निकलता है।

§ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकरजी ओझाने अपने 'सोलंकियोंका इतिहास' में चौलुक्य नरेशोंको चन्द्रवंशी लिखा है और इसके लिए अनेक शिलालेखोंके प्रमाण दिये हैं। केवल इसी लेखमें सूर्यवंशी लिखा है।

‡ त्रिकलिंग अर्थात् तैलंगन या तिलंगाना।

* वेंगी राज्यकी सीमा उत्तरमें गोदावरी नदी, दक्षिणमें कृष्णा नदी, पूर्वमें समुद्रतट और पश्चिममें पश्चिमी घाट थी। इसकी राजधानी वेंगी नगर थी, जो इस समय पेडुवेगि (गोदावरी ज़िला) नामसे प्रसिद्ध है।

न्धित हैं; जिनका यशःकमल समस्त विद्वज्जनोंके कानोंका आभूषण है और तमाम राजाओंके मस्तक जिनके चरण-कमलोंसे शोभायमान् होते हैं।

स्वस्ति। श्रीपृथिवीवल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परम भट्टारक श्रीमत् अमोघवर्ष देवके † चरणोंका ध्यान करनेवाले अकालवर्ष श्रीकृष्णराजदेवके § सेवक (पाद-पद्मोपजीवी, महासामन्ताधिपति चालुक्यवंशोद्भव और गन्धवारण, गन्धेभ, विद्याधर, प्रियगल्ल, त्रिभुवनमल्ल, उदात्तनारायण, प्रत्यक्षवाद्दलि, विक्रमार्जुन, गुणनिधि, गुणार्णव, सामन्तचूडामणि आदि अनेक विरुदावलियोंसे शोभित उस अरिकेसरीने अपनी लेंबुलपाटक * नामक राजधानीके अपने पिता श्रीमत् बद्यगके 'शुभधामजिनालय' नामक मन्दिर (बसति) की मरम्मत (खण्डस्फुटित) चूनेकी कलई कराने (नवसुधाकर्म), और पूजोपहार चढ़ानेके लिए (बलिनिवेद्यार्थ) शकके ८८८ वर्ष बीत जाने और क्षय संवत्सरके शुरू होने पर वैशाख-पूर्णिमा, बुधवारके दिन × पूर्वोक्त श्री सोमदेवसूरिको सब्बिदेश-सहस्रान्तर्गत ‡ रेपाक द्वादशोंमेंका वनिकटुपुलु नामका गाँव त्रिभोगाभ्यन्तरसिद्धि और सर्वनमस्य सहित जलधारा छोड़कर दिया। उसके पूर्वमें दग्गियूरु, दक्षिणमें इलिम्दिकुंट, पश्चिममें वेल्लालपट्टु और उत्तरमें कट्टाकूरु, इसप्रकार चार सीमाओंसे युक्त उक्त गाँव है। आगे १९-२०-२१-२२ नंबरके श्लोक प्रायः सभी दानपत्रोंमें पाये जाते हैं, इसलिए उनका अर्थ लिखनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। २३ वें श्लोकमें लिखा है कि यह 'शुभधाम जिनालय'का शासन (दान) राजा अरिकेसरीने दिया, कवि पेद्दणभट्टने कहा (रचा) और रेव नामक शिल्पीने उत्कीर्ण किया (खोदा)।

इस दानपत्रसे नीचे लिखी हुई नई बातें मालूम हुई हैं—

१— राष्ट्रकूट नरेश श्रीकृष्णराजदेवके महासामन्त चालुक्यवंशी अरिकेसरीकी पूर्वपरम्परा जो कि महाकवि पंप के 'विक्रमार्जुनविजय' (पंप भारत) से मिलती है।

२—यशस्तिलकमें अरिकेसरीके प्रथम पुत्रका नाम 'वागराज' मुद्रित हुआ है। हमने अनुमान किया था कि उसकी जगह वद्दिग होना चाहिए, वह इस लेखसे ठीक सिद्ध हो गया।

३—यशस्तिलककी रचना शक संवत् ८८१ में हुई थी और उस समय अरिकेसरीका प्रथम पुत्र वद्दिग राज्य करता था। यह दानपत्र उससे ७ वर्ष बाद वद्दिग-के पुत्र अरिकेसरीके समयमें उत्कीर्ण हुआ है।

४—जिस वद्दिगके समयमें यशस्तिलककी रचना हुई है, वह जैनधर्मका उपासक होगा, क्योंकि उसके बनवाये हुए 'शुभधाम जिनालय,' नामक मन्दिरके लिए उसके पुत्र अरिकेसरीने यह दान दिया था।

५—श्रीसोमदेवसूरिके नीतिवाक्यामृत और यशस्तिलक चम्पू इन दो उपलब्ध ग्रन्थोंके सिवाय युक्तिचिंतामणि, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प और षण्णवति प्रकरण इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता था। परन्तु इस दान-पत्रसे स्याद्वादोपनिषत्का और भी पता चलता है जो कि नीतिवाक्यामृतके बादकी रचना होगी। इनके सिवाय अन्य भी उनके सुभाषित ग्रन्थ थे।

६—यशस्तिलककी प्रशस्तिके अनुसार ये देवसंघ तिलक—देवसंघके आचार्य थे, परन्तु इस दानपत्रसे स्पष्ट होता है कि गौडसंघके थे और यह संघ अभी तक बिलकुल ही अश्रुतपूर्व है। जिस तरह आदिपुराणके कर्ता जिनसेनका सेनसंघ या सेनान्वय पंचस्तूपान्वय भी कहलाता था, शायद उसी तरह सोमदेवका देवसंघ भी गौड-संघ कहलाता होगा। जान पड़ता है, यह नाम देशकेकारण

---

† राष्ट्रकूटनरेश जगत्तुंगके दूसरे पुत्र अमोघवर्ष तृतीय।

§ अमोघवर्ष तृतीयके पुत्र। इन्हींके समयमें यशस्तिलक चम्पूकी रचना हुई थी।

* निज़ाम स्टेटके करीम नगर ज़िलेका 'वेमुलवाड़ा' नामक गाँव।

× श्रीयुक्त जी० एच० खरे महाशयने गणना करके देखा तो मालूम हुआ वैशाख पूर्णिमाको बुधवार नहीं आता है। ८अप्रेल सन् ९६६ को यह दिन पड़ता है। ताम्रपटके लिखने वालेकी भूल जान पड़ती है।

‡ श्रीयुत खरे महाशयने हैदराबादके इंजीनियर श्रीयुत गाडगीलकी सहायतासे सब्बि और दग्गियूरुके सिवाय अन्य सब गाँवोंके वर्तमान नामोंका पता लगा लिया है, ये सब करीमनगर ज़िलेमें हैं। इनके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं— रेपाक, वोंदुडपुल्ल (वनिकटुपलु), इल्लन्दकुंट (इलिम्दिकुंट), वल्लम् पुट्ला (वेल्लालपट्टु), कुट्कुर (कट्टाकूरु)।

पड़ा होगा। जैसे द्रविड़ देशका द्राविड़संघ, पुन्नाट देशका पुन्नाटसंघ, मथुराका माथुरसंघ उसी प्रकार गौड देशका यह गौडसंघ होगा। गौड बंगालका पुराना नाम है, उस गौडसे तो शायद इस संघका कोई सम्बन्ध न होगा परन्तु दक्षिणमें ही कोई गोल, गोल्ल, या गौड देश रहा है जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक लेखोंमें मिलता है। गोल्लाचार्य नामके एक आचार्य ही हुए हैं जो वीरनन्दिके शिष्य थे और पहले गोल्ल देशके राजा थे। र ल ड में भेद नहीं होता है, इसलिए गोल और गौडको एक माननेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है।

७—यह दानपत्र शक संवत् ८८८ (विक्रम संवत् १०२३) का अर्थात् विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिके प्रथम पादका है; फिर भी उस समय दिगम्बर सम्प्रदायके मुनियोंमें चैत्यवासका प्रचार था, अर्थात् वे वनोंमें न रहकर मन्दिरोंमें रहते थे और मन्दिरोंके लिए स्वयं उनके नामसे गाँव दान किये जाते थे* यह संभव है कि वे नग्न रहते होंगे; परन्तु यशस्तिलकके शब्दोंमें वे पूर्व मुनियोंकी छायामात्र ही होंगे। पिछले समयके महन्तों या भट्टारकोंका उन्हें पूर्वज समझना चाहिए। मूलाचार या भगवती आराधनामें वर्णित मुनियोंके चरित्रसे उनकी तुलना नहीं हो सकती। स्वयं सोमदेवसूरि कहते हैं कि "एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम्" अर्थात् आगमोक्त मुनि तो एकाध भी शायद ही मिले। उनके समयमें "एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः" यही आश्चर्य था कि अब भी दिगम्बररूपके धारण करने वाले मनुष्य हैं।

८—राष्ट्रकूट-नरेशोंकी राजधानी उस समय मान्यखेट (मलखेड) थी, इसलिए हमने यशस्तिलकके 'मेलपाटी प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति' के मेलपाटीको मान्यखेटका ही दूसरा नाम अनुमान किया था या लिखा था कि कृष्णराजके समयमें शायद मान्यखेटसे राजधानी उठकर मेलपाटी नामक दूसरे स्थानमें चलीगई होगी। परन्तु अब दोनों ही अनुमान ग़लत साबित हुए हैं। इस समय 'मेल्पाडि' नामका जो गाँव उत्तर अर्काट ज़िलेके वाँदिवाश ताल्लुकेमें है, वही मेल्पाटी मालूम होता है। एपिग्राफिआ इंडिकाकी जिल्द ४ पृष्ठ २८१ में जो करहाड ताम्रपत्र प्रकाशित हुआ है, वह फागुन वदी १३ शक संवत् ८८० का है। उस समय राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज (तृतीय) का मुकाम मेल्पाटीमें था और उक्त मुकामपर ही उसने ताम्रपत्रोक्त दान किया था। यशस्तिलकमें सोमदेवसूरि चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ को भी कृष्णराजको मेल्पाटी मुकाममें बतलाते हैं और इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मेलपाटी राजधानीके अतिरिक्त दूसरा ही स्थान था, जहाँ राष्ट्रकूटनरेशका कुछ समय तक सेनासन्निवेश रहा होगा। वे विजययात्राके लिए निकले होंगे। इस भूलको बतलानेके लिए हम श्रीयुत खरे महाशयके कृतज्ञ हैं।

आगे दानपत्रकी प्रतिलिपि दी जाती है—

ओं

जयति जगति जैनं शासनं धर्मचक्र
क्रकचविदलितैनश्चक्रवालं नमस्यम्।
त्रिजगदधिपवंद्यं मन्दिरं मंगलानां
दधदधिकमनोज्ञं पंचकल्याण लक्ष्मीम् ॥ १ ॥
अस्त्यादित्यभवो वंशश्चालुक्य इति विश्रुतः।
तत्राभूयुद्धमल्लाख्यो नृपतिर्विक्रमार्णवः ॥ २ ॥
सपादलक्षभूभर्त्ता तैलवाल्यो सपादने।
अवगाहोत्सवं चक्रे शक्रश्रीम्मदद्न्तिनाम् ॥ ३ ॥
सकलिगत्रयां वेंगिं योवतिस्म पराक्रमात्।
पुत्रो जयश्रियपात्रं तस्यासीदरिकेसरी ॥ ४ ॥
नरसिंहो भद्रदेवस्तेजः कान्तिनिधी स्वयं।
तस्याभूतां सुतो (तौ) साक्षात्सूर्यचन्द्रमसाविव ॥५॥
तत्राभूत्नरसिंहस्य युद्धमल्लस्तनूभवः।
वन्दिचिन्तामणिस्तस्य बद्दिगोऽजनि नन्दनः ॥ ६ ॥

* महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकरजी ओझाने अपने 'सोलंकियोंका इतिहास' में नेरूर गाँवसे मिले हुए एक ताम्रपत्रका उल्लेख किया है, जो शक संवत् ६२२ (वि० सं० ७५७) का है और जिसके अनुसार महाराजाधिराज विजयादित्यने पूज्यपादके शिष्य उदयदेवको 'शंखजिनेन्द्र' नामक जैनमन्दिरके निमित्त कर्दम नामका गाँव दान किया था। अर्थात् सोमदेवसूरिसे लगभग ढाई सौ वर्ष पहले भी ऐसे दान किये जाते थे।

नानादुर्द्धरियुद्धलब्धविजयश्रीसंगमाकर्णनाद्
भीमः पाण्डव एष इत्यसुहृदो यस्मात्परः बिभ्यति ।
भीमं भीमपराक्रमैकनिलयन्न हेलयैवाग्रहीदु-
ग्रग्राहमिवान्तरंबुसमरे दोर्विक्रमाद् बद्दिगः ॥ ७ ॥
औदार्य्यनिर्जितसुरद्रुमकामधेनोः-
र्दोर्विक्रमक्रमतिरस्कृतकार्त्तवीर्य्यात् ।
तस्मादजायत सुतः कमनीयकीर्त्तिः
श्रीयुद्ध मल्लनृपतिः प्रथितः प्रतापः ॥ ८ ॥
कुर्व्वन्निवात्र निजनाम यथार्थमुच्चै-
राविर्भवद्भुजपराक्रमडंबरेण ।
शातासि तीव्रनखराग्रविदारितारि
वक्षस्थलोऽजनिततो नरसिंहराजः ॥ ९ ॥
माद्यद्दुर्द्धरवैरिवारणशिरः कुट्टाकदोः शालिनः
सिंहस्येव स केसरीह नरसिंहस्य स्फुरद्विक्रमः ।
तस्यासीदरिकेसरीति तनयो (यः) शून्यं कृतं शैशवं
येनोग्रक्षितिभृत्प्रधानकटकाक्रान्तिक्रमाक्रीडया ॥ १० ॥
आर्य्यच्छत्रयुगं हिमांशुविशदं है मारविन्दांकितं
मायूरातपवारणं च ककुदं यद्यौवराज्यश्रियः ।
अग्रे धावति यस्य सम्प्रति स किं वर्ण्येत वीराग्रणी-
र्दुर्वारोरुपराक्रमो गुणमणिः सामन्तचूडामणिः ॥ ११ ॥
राष्ट्रकूटकुले ख्याते जाता लोकांबिका सती ।
वीरश्रीरिव वीरस्य तस्यासीत्सुदती प्रिया ॥ १२ ॥
भद्रदेव इति नन्दनस्तयोः शक्तिमान्सविनयस्सदक्षिणः ।
शैलराजतनयात्रिनेत्रयोः कार्त्तिकेय इव कीर्तिमानभूत् ॥ १३ ॥
तस्मादजनि तेजस्वी राजा नाम्नारिकेसरी ।
आनन्द चन्द्रवच्चक्रे कान्त्या कुवलयस्य यः ॥ १४ ॥
श्रीगौडसंघे मुनिमान्य कीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इति प्रजज्ञे ।
बभूव यस्योग्रतपः प्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ॥ १५ ॥
शिष्यो भवत्तस्य महर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा ।
श्रीनेमिदेवः परवादिदर्प्पद्रुमावलीच्छेदकुठारनेमिः ॥ १६ ॥
तस्मात्तपःश्रियो भर्त्ता (र्त्तुः) लो (ऽ) कानां हृदयंगमाः
बभूवुर्बहवः शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ॥ १७ ॥
तेषां शतस्यावरजः शतस्य तथाभवत्पूर्वज एव धीमान् ।
श्रीसोमदेवस्तपमः श्रुतस्य स्थानं यशोधाम गुणोर्जितश्रीः १८
अपि च यो भगवानाशेषसमस्त-विद्यानां विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्त्ता स्याद्वादोपनिषदः कवि (च) [यि] ता चान्येषामपि सुभाषितानामखिलमहासाम [न्तसी] मन्तप्रान्तपर्य्यस्तोत्तंसस्रक्सुरभिचरणस्सकलविद्वज्जनकर्णावतंसीभवद्यशःपुण्डरीकः सूर्य इव सकलार्वानभृतां शिरःश्रेणिषु शिखण्डमण्डनाय मान पादपद्मोभूत् ।

स्वस्त्यकालवर्षदेवश्रीपृथिवीवल्लभमहाराजाधिराजपरमेश्वरपरमभट्टारकश्रीमदमोघवर्षदेवपादानुध्यानप्रवर्द्धमानविजयराज्यश्रीकृष्णराजदेवपादपद्मोपजीविना ॥ स्वस्ति समधिगतपंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतिसमस्तभुवनसंस्तूयमानचालुक्यवंशोद्भवपाम्बरांकुशाम्मनगन्धवारणगन्धेभविद्याधरप्रियगलत्रिभुवनमल्लोदासनारायणप्रत्यक्षवाद्वलविक्रमार्ज्जुनगुणनिधिगुणार्णवसामन्तचूडामणिप्रमुखानेकप्रशस्तिविजयांकमालिकालंकृतेन [लें] बुलपाटक नामधेयनिजराजधान्यां निजपितुः श्रीमद्भद्रगस्य शुभधामजिनालयाख्यवस [तेः] खण्डस्फुटितनवसुधाकर्मबलिनिवेद्यार्थं शकाब्देष्वष्टाशीत्यधिकेष्वष्टशतेषु गतेषु [प्रव] र्त्तमानक्षयसंवत्सरवैशाखपौ (पौ) र्णमास्या (स्यां) बुधवारे तेन श्रीमदरिकेसरिणा अनन्तरोक्ताय तस्मै श्रीमत्सोमदेवसूरये सव्विदेशसहस्रान्तर्गतरेपाकद्वादशग्रामी मध्ये कुत्तुंबृत्ति वनिकटुपुलुनामा ग्रामः त्रिभोगाभ्यन्तरसिद्धिसर्व्वनमस्यमोदकधारन्दत्तः ॥ तस्य पूर्व्वतः दरियूरु । दक्षिणतः इल्लिन्दिकुंट । पश्चिमतः वेल्लाल्पट्टु । उत्तरतः कट्टाकुरु । एवं चतुराघाटघटितभूमि खान सूर्य्योत्तरीयः ॥
सामान्यो यन्धर्म्म सेतुर्न्नृ पाणां काले काले पालनीयो भवद्भिः ।
सर्व्वानेतान्भावि [नः] पार्त्थिवेन्द्रान्भूयो भूयो याचते
रामचन्द्रः ॥ १९ ॥
बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरा [दिभिः] ।
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥ २० ॥
मद्वंशजाः परमहीपतिवंशजा वा
पापाद पेतमनसां [भु] वि भावि भूपाः ।
ये पालयन्ति मम धर्म्ममिमं समस्तं
तेषां मया विरचितोंजलिरेष मूर्न्द्धि ॥ २१ ॥
स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् ।
षष्टिर्व्वर्षसहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥ २२ ॥
अरि केसरिणा दत्तं कथितं कविपेद्दणेन भद्देन ।
शासनमिदमुत्कीर्ण्णं शुभधामजिनालयस्य रेवेण ॥ २३ ॥

जैन विद्वानोंकी नयचर्चा ।

(ले०—प्रो० जगदीशचन्द्रजी ऐम० ए०)

जैनधर्मको फिरसे उज्जीवन देनेवाले दीर्घ तपस्वी महावीरका मूल उपदेश अहिंसा और अनेकान्त रूप था। दूसरे प्राणियोंको ज़रा भी कष्ट न पहुँचा कर लोक और शास्त्र सम्बन्धी सब प्रकारके विरोधी भावोंका समन्वय करना ही उनके जीवनका प्रधान ध्येय था।

ईसाके पूर्व पाँचवीं शताब्दिमें महावीर और बुद्धका युग भारतीय दर्शनशास्त्रके इतिहासमें एक क्रान्तिकारी युग कहा जाता है। इस युगमें चारों ओर तामसिक तपस्याओंका, धर्मगुरुओंके अहंमन्य भावका, कर्मकाण्ड और यज्ञयागकी प्रचुरताका तथा स्त्री और शूद्रजातिकी अवहेलनाका प्राधान्य था। यदि एक ओर संजयवेलट्ठिपुत्तके अज्ञानवादका प्रचार था तो दूसरी ओर तत्वज्ञान सम्बन्धी प्रश्नोंके विषयमें भगवान बुद्धका 'तूष्णीभाव' उससमयकी जनतामें भ्रांतिपूर्ण नाना शंकाएँ उत्पन्न कर रहा था। विचारकोंके लिये यह बड़ा कठिन समय था। इसी समय तत्वज्ञान सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझानेके लिये अहिंसाको सर्वप्रथम क्रांतिका रूप देनेवाले, दया और क्षमाकी मूर्ति भगवान महावीरने सर्वधर्म—समन्वयात्मक नयवादके सिद्धान्तोंका प्रचार किया।

विवाद और विषमताको हटाकर ऐक्य और समताभावको स्थापित करते हुये सत्य और पूर्णता की ओर अग्रसर होनाही नयवादकी प्रतिष्ठा है। एक पदार्थमें नाना गुणोंकी अपेक्षासे अनेक धर्म विद्यमान हैं। एक ही वस्तु भिन्न भिन्न देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार नाना दृष्टिविन्दुओंसे देखी और जानी जाती है। इन समस्त दृष्टि-विन्दुओं (Angles of Vision) की अपेक्षा रखकर एक समयमें किसी एकदृष्टिको लेकर तात्विक चर्चा करने का नामही नय है। उदाहरणके लिये आत्मा, ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापी है, केवलज्ञानकी दशामें इन्द्रियजन्य ज्ञानका अभाव होनेके कारण जड़ है, मुक्त अवस्थामें अन्तिम शरीरके प्रमाण कुछ आकार रहनेसे देहप्रमाण है तथा आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित होनेकी अपेक्षासे शून्य है। इस प्रकार आत्मामें अनन्त गुण मौजूद होते हुए किसी एक गुणको लेकर आत्माका वर्णन करना यही संक्षेपमें जैनदर्शनका नयसिद्धांत है।

सर्वप्रथम नयवादकी चर्चा श्वेताम्बरीय स्थानांग, भगवती, प्रज्ञापना और अनयोगद्वार सूत्रोंमें मिलती है। यहाँ नयके नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये मात्र सातभेद गिनाये गये हैं। इसके अनन्तर आगमशैलीकी प्रधानता रखते हुए तर्कका आश्रय लेनेवाले उमास्वातिके तत्वार्थाधिगम भाष्यमें नयको नैगम, संग्रह आदि पाँच विभागोंमें विभक्त करके शब्दनयको समभिरूढ़ एवंभूत और साम्प्रतनयमें विभाजित किया गया है। भाष्यमें सामान्यरूपसे नयोंके लक्षण आदिकी चर्चा भी की गई है।

जैनदर्शनमें नयचर्चाको सर्वप्रथम दार्शनिक और तार्किक रूप देनेवाले समंतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर हुए हैं। ये दोनों अपूर्व प्रतिभाके धारक, विचारक विद्वान थे। सिद्धसेन तो एक नये वादके संस्थापक तार्किक विद्वान कहे जाते हैं। आपने सन्मतितर्कमें जो पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर नयकी विवेचना की है वह अपने ढङ्गकी अनोखी है। दार्शनिक क्षेत्रमें विचारस्वातन्त्र्यके पूर्ण पक्षपाती इन आचार्य महोदय ने श्वेताम्बरीयआगमद्वारा मान्य प्रसिद्ध सात नयों को स्वीकार न करके, नैगम और संग्रहनयको एक मानकर केवल छह नयोंको स्वीकार किया है।

इनके पश्चात् जैनसिद्धान्तके प्रतिष्ठाता विद्वान् जिनभद्रगणि विशेषावश्य भाष्यके नयद्वारप्रकरण

में नयचर्चाका प्रतिपादन करते हैं। उक्त आचार्य महोदय आगमपरम्पराके पूर्णतया संरक्षक और पोषक होते हुए भी सिद्धसेनके 'षडनयवाद' के लिये पर्याप्त सन्मान प्रदर्शित करते हुये उनके मतका उल्लेख करते हैं।

जिनभद्रके बाद जैनदर्शनमें नयविषयकचर्चाको सुनिश्चित और सुस्थिर स्थान देनेवाले विद्वानोंमें अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्दि, वादिदेव, देवसेन और यशोविजयका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। अकलङ्क और हरिभद्र अपने समयके अपूर्व पाण्डित्य के धारक तार्किक विद्वान् होगये हैं। इनके ग्रन्थोंमें अर्थगांभीर्य, भाषाका प्रासाद, तथा वैदिक और बौद्ध साहित्यके गम्भीर अध्ययनके साथ साथ प्रौढ़ और युक्तिपूर्ण विचारोंकी प्रांजलता मालूम देती है। विद्यानन्दि और वादिदेव बड़े भारी तार्किक और नैयायिक विद्वान थे। इन विद्वानोंने अनेक राजसभाओंमे प्रतिवादियोंसे शास्त्रार्थ करके जैनदर्शनके मुखको उज्ज्वल बनाया था। देवसेनने नयवादके ऊपर स्वतन्त्र नयचक्रसंग्रह नामक ग्रन्थकी रचना की है। यशोविजय एक प्रकारसे जैनधर्मके अन्तिम विद्वान् कहे जासकते हैं। यह महोदय जैनधर्मके मार्मिक और समर्थ, अद्भुत स्मरणशक्तिके धारक, प्रतिभाशाली विद्वान् थे। जैनेतर शास्त्रोंका गहन अध्ययन इनकी प्रत्येक रचनासे टपकता है। नव्य न्यायको सबसे पहले जैनदर्शनमें स्थान देनेका महत्व इन्हीं आचार्य महोदयको है।

नयसिद्धान्तकी चर्चामें द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयोंके विभाग करते समय हमें जैनविद्वानोंमें दो परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। पहली परम्परा प्राचीन आगम परम्परा जान पड़ती है। इस परम्परा के अनुसार द्रव्यास्तिक नयको नैगम आदि चार विभागोंमें विभक्त करके पर्यायास्तिक नयके शब्द आदि तीन भेद बतलाये गये हैं। इसके अनुयायी जिनभद्रगणि, विनयविजय, देवसेन आदि विद्वान् हैं। दूसरी परम्परा हम तार्किक अथवा सिद्धसेनीय परम्परा कह सकते हैं। इसके अनुसार द्रव्यास्तिकनय तीन प्रकारका तथा पर्यायास्तिक चार प्रकारका है। इस मतके पोषक सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, वादिदेवसूरि, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द, यशोविजय आदि विद्वान् हैं।

यहाँ शङ्का होसकती है कि यह जैन विद्वानोंका मतभेद कैसा? इसका उत्तर बहुत सहज है। ऊपर बतलाया जाचुका है कि एक दूसरेसे अपेक्षित नाना दृष्टिकोणोंका नाम ही नय है। सम्पूर्ण नय अपने अपने वक्तव्यमें सत्यताको लिये हुए हैं। एक ही विषय भिन्न भिन्न प्रकारसे वक्ता और श्रोताकी रुचि के अनुसार, विविधताको लिये हुये प्रतिपादित किया जासकता है। द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयकी सीमा बाँधते हुए भी जैन विद्वानोंका यही मन्तव्य था। विभिन्न अपेक्षाओंको लेकर नयके एकसे लगाकर असंख्य भेद प्रतिपादन करनेमें भी यह "अपेक्षा-दृष्टि" ही जैन आचार्योंके सामने थी। यही कारण है कि जैनदर्शनमें पंचनयवाद, षड्नयवाद, सप्तनयवाद आदि भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे नयोंका विवेचन किसी प्रकारके पूर्वापर विरोधको पैदा न करके जैनधर्मके प्राणरूप अनेकान्तवादका भूषण होकर जैनदर्शनके महत्वको ही बढ़ाता है।

जैनविद्वानोंने नयसिद्धान्तके स्थापन करनेमें कितनी सूक्ष्म और उदार बुद्धिसे काम लिया है यह जैनसाहित्यके अध्ययनसे भलीभाँति मालूम होसकता है। निरीहवृत्तिसे घूमनेवाले, पूर्ण अहिंसाके प्रतिपादक जैन श्रमणोंका मुख्य ध्येय सदा वैमनस्यको मिटाकर शान्ति स्थापित करनेका रहा है। यही कारण है कि जैनविद्वानोंने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रमें समय समय पर उद्भव होनेवाली विभिन्न धाराओंको औदार्यभाव से अपने दर्शनके साथ समन्वय करनेका भरसक

श्वे० स्था० जैन कान्फ़रेन्स अजमेरके नवमें अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष श्रीमान् "जैन समाज-भूषण" सेठ ज्वालाप्रसादजी जैन जौहरी महेन्द्रगढ़ का

भाषण

जो २२ अप्रेल को पढ़ा गया—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतम प्रभू।
मंगलं स्थूलभद्राद्य जैन धर्मोस्तु मंगलं॥

श्रेद्‌य बंधुओ और पूज्य माता बहिनो !

मैं सबसे प्रथम अपने पूज्य मुनिराजोंकी अपार कृपाका आभारी हूँ कि जिन्होंने दूर देशोंसे ५००—७०० मीलकी पैदल यात्रा करके और मार्गकी भूख प्यास शीत बाधा आदिकी अनेक परिषहोंको सहन करके साधुसम्मेलनके सफलतार्थ पधार कर श्रीसंघ को दर्शन दिये हैं। ऐसा अपूर्व ऐतिहासिक अवसर सैंकड़ों वर्ष पीछे इस भारतप्रसिद्ध अजमेर नगरमें श्रीसंघ को प्राप्त हुआ है। अब फिर ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा, यह नहीं कहा जा सकता। इस सुनहरे अवसरसे श्रीसंघ को कितना हर्ष, लाभ उत्साह और आनन्द प्राप्त हुआ है, वह आप सब भाई जानते हैं। अतः श्रीसंघ और तमाम जैन समाज पूज्य मुनिराजोंका जितना भी उपकार माने वह थोड़ा है। मेरे पास कोई ऐसे शब्द नहीं हैं कि जो धन्यवादस्वरूप पूज्य मुनिराजोंकी सेवामें अर्पण किये जायँ। इस उपकारके लिये तो समाजका रोम रोम ऋणी है।

श्रीमान लीम्बड़ीनरेश व अन्य राज्यवंशीय ठाकुर साहबानने यहाँ पधार कर जैनधर्मप्रति जो प्रेम दर्शाया है उनको इस महान कृपा पर धन्यवाद देते हुये मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है।

प्रयत्न किया। इतना ही नहीं बल्कि जैनविद्वान् बुद्ध, कपिल, पतञ्जलि, व्यास आदि जैनेतर ऋषियोंके लिये सर्वज्ञ महर्षि आदि सन्मानसूचक वाक्यों का प्रदर्शन करनेके साथ साथ उनके गुणोंपर मुग्ध होकर उनकी रचनाओंपर टीका टिप्पणी लिखनेमें भी प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिये मिथ्यादर्शनोंके समूहही को जैनदर्शन प्रतिपादन करना निश्चय ही जैन विद्वानोंके विशाल हृदयका सूचक है।

नयवाद, साम्यवाद, अपेक्षावाद, मध्यममार्ग ये सब एकही अर्थके द्योतक हैं। नयवाद हमें आपेक्षिक सत्यका मार्ग दिखलाकर हमारी निरपेक्ष सत्य-केवलज्ञानकी प्राप्तिमें पथप्रदर्शक होता है। उस दशा में हमारे चित्तको क्षणभरमें बेचैन बना देनेवाले राग द्वेषरूप विकारोंका शमन होजाता है। यही सच्ची शान्ति और यही निर्वाण है। इसीको जैनदर्शनमें स्वसमयके नामसे कहा गया है। संक्षेपमें यही जैन आचार्योंकी नयचर्चाका मुख्य उद्देश्य है।

सज्जनो ! आज बड़े ही हर्षका समय है कि अपनी जैनकान्फरेन्सके इस नवमें अधिवेशनके विशाल मण्डपमें हम सबको एकत्रित होकर बैठने का अवसर प्राप्त हुआ है और मुझे आप महानुभावों का मात्र स्वागत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः मैं आपका स्वागत करता हूँ—बाक़ी आपके ठहराने, खाने, पीने और रोशनी आदि आवश्यक वस्तुएँ पहुँचानेकी तमाम ज़िम्मेदारी प्रबन्धकारिणी कमेटी पर ही है। आपके आरामका श्रेय और तकलीफ़का उत्तरदायित्व सब प्रबन्धकारिणीको ही प्राप्त है—अतः आप प्रबन्धकी समस्त ज़िम्मेदारियोंसे मुझे पृथक् समझकर स्वागतकर्ताकी हैसियतसे मेरी दो बातें सुननेकी कृपा अवश्य ही कीजिये।

सज्जनो ! आप श्री जैनधर्मकी, जैनसंघकी, और स्वयं अपनी हितकामना और शुभ भावनाको लेकर पधारे हैं। आज आपको जैनधर्मके प्रचार, जैनसमाजके सुधार और श्रीसंघकी उन्नतिके उपायोंको

सोचना और उन्हें काममें लानेका प्रयत्न करना है। चूँकि यह उन्नति युग है, सब कोई अपनी उन्नति चाहते हैं, और ऊँचे उठनेकी अभिलाषा रखते हैं, फिर आप महानुभाव भी यदि इसी इच्छाको लेकर यहाँ पधारे हैं तो इसमें आश्चर्य ही कौनसा है !

सज्जनो ! इस समय मैं आपकी सेवामें दो-चार शब्द धार्मिक विषयमें अर्ज करूँगा। मेरे जो सामाजिक विचार हैं वे एक ट्रेक्ट द्वारा जुदा प्रकाशित करा दिये गये हैं जो आपके हाथों तक आज ही पहुँच जायगे। मुझे आशा है कि आप उनको पढ़कर भले प्रकार मनन करेंगे, और उन्हें काममें लानेका भी प्रयत्न करेंगे।

सज्जनो ! जैनधर्म आत्मकल्याणका बड़ा ही सुन्दर और सरल मार्ग है। इसमें प्राणीमात्र लाभ ले सकते हैं। जैनधर्मका उपदेश सभीके लिये है—वह चाहे मनुष्य हो या पशुपक्षी। बस, यही जैनधर्मकी श्रेष्ठता है। ऐसे आत्महितैषी धर्मका संसार भर मे प्रचार हो और प्राणीमात्रका हित हो, ऐसा उद्योग करनेकी श्रीसंघ से प्रार्थना है।

धर्मप्रचार कैसे हो सकता है, उसके लिये अपने विचार इस प्रकार हैं। सबसे प्रथम तो धर्मकी उन्नता के लिये समाजका असली जीवन अत्यंत ही पवित्र होना चाहिये। प्रत्येक धर्मका महत्व उसके माननेवालोंकी श्रद्धा, भक्ति, शुद्धाचरण और पवित्र जीवन पर ही अवलम्बित है। संसारकी दृष्टि असली जीवन पर ही पड़ती है और इसीसे वह प्रत्येक समाजकी बुरी भलीका अन्दाजा लगालेता है। यदि जनता यह देखती है कि अमुक समाजका आचरण ऊँचा है, उसमें श्रद्धाभाव है, परोपकार दृष्टि है, विश्वप्रेम है और पवित्र जीवन है, तब उसके हृदयपर उस समाजका अच्छा प्रभाव पड़ता है और उसके धर्म की छाप लगजाती है। इसीका नाम धर्मप्रभावना है। दूसरे, अपने सूत्रोंका सारांश अनेक भाषाओंमें अनुवाद कराकर पुस्तकों और ट्रेक्टों द्वारा जनताके सम्मुख रखना और प्रचारकों द्वारा जैनधर्मका उपदेश दिलाना है ताकि जनता पुस्तकों को पढ़कर और धर्मोपदेश को सुनकर जैनधर्मकी सचाई को मालूम करसके, और जैनधर्मको धारण करके अपना आत्मकल्याण करसके। इस प्रकारसे जैनधर्मका प्रचार हो सकता है। जैनधर्मके प्रचारसे अहिंसाद्वारा संसार भरमे सुख शान्ति और आत्मोन्नतिका विकाश हो सकता है, ऐसा अपना अटल विश्वास है। जैनधर्मके प्रचारका और ज्ञानप्राप्तिका कुछ कार्य अपनी धार्मिक संस्थाओं द्वारा भी सम्पादन हो रहा है, जिनमे श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला, जैन गुरुकुल ब्यावर, जैन गुरुकुल छोटी सादड़ी और महावीर जैन विद्यालय-देहली आदि संस्थाएँ उल्लेखनीय हैं।

हमारी संस्थाओंमें धार्मिक शिक्षाके साथ औद्योगिक शिक्षाका प्रबन्ध हो जाना भी जरूरी है जिससे शिक्षाप्राप्त नवयुवक धर्मकी जानकारीके साथ द्रव्य कमाते हुये अपने जीवन को निराकुलताके साथ व्यतीत करसकें, और जैनधर्मका झंडा संसारमें फहरा सकें।

स्त्रियोंमे धार्मिकशिक्षा न होनेसे वे मिथ्यात्व की दलदलमे फँसी हुई हैं, पीर फकीरोंके गंडे तावीज़ और सैकड़ों देवी देवताओंकी उपासक बनी हुई हैं, जिससे हमारे घरोंमें मिथ्यात्वका भूत घुस बैठा है। इसलिये जरूरत है कि जहां जहांपर जैनी भाई रहते हों वहाँ वहाँ पर स्त्रियोंके लिये धार्मिक शिक्षाका उचित प्रबन्ध होना चाहिये जिससे वे धर्म के स्वरूप को समझें, देव गुरु शास्त्रकी महिमा को जानें और सत्यमार्ग पर चलें, ताकि श्रीसंघका यह स्त्रीरूपी आधा अंग भी अपनी आत्माका कल्याण कर सके। इसी प्रकार कन्याओंकी उच्च शिक्षाका प्रबन्ध होना भी जरूरी है। जिस तरह बालकोंके लिये गुरुकुल विद्यालय आदि खोले जाते

हैं वैसे ही कन्याओंके लिये जैनमहाविद्यालयोंकी योजनाएँ होनी चाहिये। इन विद्यालयों द्वारा कन्याओंमें गृहस्थसम्बन्धी उच्च शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाकी प्राप्ति भले प्रकारहो सकेगी, जिससे हमारी स्त्रियें आदर्श देवियें बन सकेंगी और श्रीसंघ को हर तरह से लाभ पहुँचेगा।

सज्जनो, जब मेरी दृष्टि धार्मिक क्षेत्रमें साम्प्रदायिकता, मानापमान, गुरुवर्गसम्बन्धी तेरा मेरा धड़ाबन्दी आदि बातों पर पड़ती है तब बड़ा ही दुःख होता है। इससे श्रीसंघकी सम्मिलित शक्ति का विनाश होरहा है और संस्कार अपवित्र हो रहे हैं। हम भगवान महावीर स्वामीके शासनकी ओर ज़रा भी नहीं देखते कि इस साम्प्रदायिक कलहसे वीरशासनको कितना ज़बरदस्त धक्का लग रहा है और अन्यमतावलम्बी हमारी इस फूटसे कितना लाभ उठारहे हैं!

आज हमारे पवित्र धर्मपर झूठे आक्षेपोंकी भरमार है परन्तु हमारा ध्यान उस ओर न होकर अपनी तू तू मैं मैं की साधनामें लगा हुआ है। यह कितने दुःखकी बात है! जिस जैन धर्मका सत्योपदेश कषायोंको दमन करके आत्माको निर्मल बना कर सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त करता है, उस जैनधर्म के अनुयायियोंमें कषायकी महान प्रबलता देखकर बड़ा ही दुःख होता है और कहना पड़ता है कि—

जैनधर्मको पायकर, बरते मान कषाय।
यह अपूर्व अचरज सुन्यो जलमें लागी लाय॥

पानीमें आग लगना इसीको कहते हैं। अबतो इस आगको बुझाना ही श्रेष्ठ है अर्थात् साम्प्रदायिकताके पक्षको दिलोंसे निकालकर प्रत्येक श्रावक को भगवान महावीरके समकित रूपी झण्डेके नीचे खड़े होजाना चाहिये और सत्य, शील, संजय, तप आदि महानव्रतोंके धारी सभी मुनीश्वरोंको श्रद्धा सहित नमस्कार करना चाहिये। फिर तो आनन्द ही आनन्द है।

मेरी तो हार्दिक भावना ऐसी है कि जैनत्वके नातेसे प्रत्येक जैन—चाहे वह दिगम्बरहो, श्वेताम्बर हो या स्थानकवासी हो सभी धर्मबन्धु भगवान महावीरके झंडेनीचेआकर और प्रेमका मंत्र पढ़कर संसारभरमें अहिंसा धर्मका सिंहनाद बजाते हुये दिखाई दें।

सज्जनो, जैनधर्मकी तीनों सम्प्रदायोंका प्रेम केवल समाजोन्नतिका ही साधक नहीं है, बल्कि जैनधर्मके प्रचारकार्यो सबसे उत्तम मार्ग है। आज इस प्रेमके अभावसे हमारे बहुतसे धार्मिक कार्योंमें बाधा आरही है। यदि हमारी तीनों शक्तियोंका संगठन होजाय तब हमारे बहुतसे धार्मिक कार्योंकी अड़चनें दूर होकर सफलता प्राप्त होजाय।

जैनियोंके किसी भी धार्मिक त्यौहार को सरकारी छुट्टी न होना, इस आपसी भेदभावका ही नतीजा है। मेरी समझमें जहाँ भेदभाव नहीं है वहाँ तो प्रत्येक जैनको तन, मन, धनसे उद्योग करनेकी आवश्यकता है। जैसे भगवान महावीर स्वामीका जन्मदिन, महावीर जयन्तीका पवित्र त्यौहार सभी जैन मानते हैं और चैत्र सुदी त्रयोदशीको जैनमात्र में श्री वीरजयन्तीउत्सव मनाया जाता है। इस दिन के लिये सरकारी छुट्टीका होना आवश्यक है। जब कि राम जन्मकी रामनवमी, कृष्ण जन्मकी जन्माष्टमी आदि छुट्टियें सरकारसे मिली हुई हैं, तब जैनोंके अन्तिम तीर्थंकर अहिंसाधर्मके अवतार और भारतके ऐतिहासिक महान पुरुष श्री वीर भगवानके जन्मदिनकी छुट्टी भी अवश्य होनी चाहिये। इसके लिये इस समय उद्योग भी किया जारहा है। अतः आपनी कान्फरेन्सको भी इस ओर कदम बढ़ाना चाहिये, और अपने दिगम्बर श्वेताम्बर बन्धुओंसे सहयोग करके सम्मिलित उद्योग करना चाहिये और इस पवित्र दिनको धार्मिक तरीक़ेपर मनानेके लिये अपना कारोबार भी बन्द रखना चाहिये।

सज्जनो, ज्ञानवृद्धि, शास्त्रोद्धार, अहिंसा प्रचार आदि कार्यों को सुचारु रूपसे चलानेके लिये धनकी

बहुत जरूरत है। इधर हमारा धन पूजा प्रतिष्ठाओं की भाँति दीक्षामहोत्सवादि कार्योंमें बहुत ज्यादह खर्च होता है, जिससे आवश्यक कार्योंमें धनका अभाव रहता है और वे सफलीभूत नहीं होते। इसलिये व्यर्थके आडम्बरोंमें खर्च न करके ज्ञान वृद्धि आदि शुभ कार्योंमें पैसा लगाना चाहिये जिससे श्री संघ की उन्नति हो, वृद्धि हो और कल्याण हो।

सज्जनो ! लगे हाथों इस बात पर भी विचार करलेना जरूरी है कि श्री वीर प्रभूके शासन (जैन-धर्म) का झंडा कैसा हो। झंडा प्रत्येक धर्मका होता है। इस समय जैनधर्मके झंडेका प्रश्न उठा हुआ है। इसका निर्णय होजाना बहुत जरूरी है। मेरी सम्मति मे तो जैनधर्मका झंडा उज्ज्वल (सफेद) होना चाहिये और उसपर एक ओर ॐ और दूसरी तरफ 卐 स्वस्तिक चिन्ह होना चाहिये क्योंकि जैनधर्म आत्मा को सर्वथा उज्ज्वल करने वाला है और आत्माको सर्व विकारोंसे निर्मल करके परमात्मा बनानेवाला है।

अब अन्तमें मैं श्री संघके धनाढ्य पुरुषों और व्यापारी भाइयोंका ध्यान एक जरूरी बात पर दिलाता हूँ—अर्थात् वे वात्सल्य धर्मका पालन करते हुए अपने गरीब भाई बहनोंकी इसप्रकार सहायता करें कि अपनी आवश्यकतानुसार अपने तिजारती और गृहस्थ सम्बन्धी कारोबारमें सबसे पहले उनको जगह दें जिससे वे खानपानकी ओर से बेफिकर होकर धर्ममें दृढ़चित्त रहें, और भले प्रकार धर्मका पालन कर सकें !

सज्जनो ! मैंने आपका बहुत समय ले लिया है। अब अपने भाषणको समाप्त करनेसे पहले क्षमा-प्रार्थी हूँ, और निवेदन करता हूँ कि जो कुछ ठहराव श्री साधुसम्मेलनमें निश्चित हों उनपर आप भी अमल करें, और जो प्रस्ताव कान्फरेन्समें पास हों उनपर अमल करना भी अपना कर्तव्य समझें। सम्मेलन या कान्फरेन्सके प्रस्ताव केवल कागजों पर ही लिखे न रह जाँय बल्कि वे समाज को मान्य हों और श्री संघ उनसे लाभ उठावे।

मुझे हर्ष है कि मैं आज इस मण्डपमें आप श्रीमानोंके दर्शनोंका लाभ लेरहा हूँ। यह अवसर तो बड़े ही सौभाग्यसे प्राप्त हुआ है। इसमें कुछ कार्य करलेना हो उत्तम है। मैं तो पूज्य मुनिराजोंके और अन्य महानुभावोंके दर्शनोंको पाकर अपनेको बड़ा ही भाग्यशाली समझ रहा हूँ, और अपने जीवन को सफल मान रहा हूँ।

मैं श्रीसंघका दास हूँ। श्रीसंघ की हृदयसे भलाई चाहता हूँ, और श्री संघकी कृपादृष्टिका इच्छुक हूँ। आशा है कि श्री संघ सदैव धर्म भाव बनाये रक्खेगा।

बोलो श्री महावीर भगवान की जय।

—ज्वालाप्रसाद जैन।

(पृष्ठ २ का शेष)

कॉन्फ़रेन्सके ये खास-खास निर्णय हैं। जिन लोगों ने अधिवेशनमे उपस्थित होकर कार्रवाई देखी है, वे समय की माँग को भलीभाँति पहचान गए हैं। हमने तो वहाँ बहुत कुछ देखा। हमने देखा नौजवानोंके हृदयमें कैसी ज्वालाएँ धधक रही हैं ! परमात्मासे प्रार्थना है कि वे ज्वालाएँ फूसकी अग्निकी ज्वालाएँ न हों—वे निरन्तर दहकती रहें और उनमें समाजकी रूढ़ियाँ, श्रीमानोंके अत्याचार, साधुओंकी अभिमानपूर्ण उच्छृंखलता, स्त्रियों की दीनता, विधवाओंकी आह, सम्प्रदायोंकी अनेकान्त-विरोधिनी संकुचितता, आदि ईंधनका काम दें और विध्वंस होकर एक मौलिक सच्चे जैनसमाजकी सृष्टि हो और उसमें वीरधर्मका प्रचार हो।

दानके लिए अपील होने पर ७००००) सत्तर हजार रुपये श्रीमान् नथमलजी चोरड़ियाने कन्या-विद्यालय स्थापित करनेके लिए, १५०००) पन्द्रह हजार श्री हंस-राजजीने शास्त्रोद्धारके लिए प्रदान करनेकी घोषणा की। लगभग १५०००) रुपया फुटकर मिलाकर करीब एक लाखका चन्दा हुआ। स्थानकवासी भाइयोंकी यह दान-शीलता अन्य समाजोंके लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

— सम्पादक [illegible]

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१६ मई सन् १९३३

वर्ष ८ अङ्क १४

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

जैन जगत्

वार्षिक ३) रुपया मात्र। विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

श्वे० स्थानकवासी जैन मुनियोंका महत्वपूर्ण वक्तव्य।

श्री श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी साधु सम्मेलन के अवसर पर ता० ७-४-३३ को श्रीमान राय साहब कम्पलालजी बाफणा बी० ए० ने जैन मुनियों से कुछ प्रश्न पूछे थे उनके सम्बन्धमें श्रीमान सिरहमलजी सिंघी ने श्री गणिमहाराज उदयचन्द्रजी स्वामी प्रसिद्धवक्ता श्री चौथमलजी महाराज, शतावधानी रत्नचन्द्रजी स्वामी, युवाचार्य काशीरामजी महाराज व नानचन्द्रजी महाराज से निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्त कर प्रकाशित किया है। इसमें ज्योतिष शास्त्र विशारद पंडित श्री मणिलालजी स्वामी व तपस्वीजी श्रमजी स्वामी भी सहमत हैं :—

(१) विधवाविवाह करना या न करना यह जाति रिवाज से सम्बन्ध रखता है। जैन धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) जैन धर्म जाति रूप नहीं है।

(क) दस्से, पाँचे, ढईया सबही जैन होसकते हैं। धर्म की कोई बाधा नहीं है।

(ख) अन्य धर्मावलम्बी भी एक जाति में रह सकते हैं।

(ग) दूसरी जातियाँ भी जैन होने पर जैनधर्म में आ सकती हैं।

(घ) जैन धर्म अछूतों को जैनी होने पर जैन धर्मके पालनेका अधिकार देता है। बाकी जातीयता का भेद जाति जाने।

(ङ) साम्प्रदायिक मतभेद के कारण जाति से बहिष्कृत करना धर्म की आज्ञा नहीं है।

(३) न्यायसंगत फौज की नौकरी करनेवाला जैन धर्ममें बहिष्कृत नहीं हो सकता है।

(४) पशुपालन करनेवाले, खेती करनेवाला, इत्यादि न्यायसंगत हों तो जैनधर्मके श्रावकवृत्ति होसकते हैं।

(५) हाथी दाँत वापरना व रेशमी कपड़े वापरना आदि जिनमें कि त्रस जीवोंकी हिंसा होती है, अतः वे निषिद्ध हैं।

(६) मृतक भोजन, कुरूढि होने की वजह से व गरीबों को दुख पहुँचने से निषिद्ध है।

श्री० गैंदालालजी पाटणी के मामलेका फैसला।

बहुत अर्सेसे मदनगंज (किशनगढ़) की खंडेलवाल दिगम्बर जैन समाजमें गैंदालालजी पाटणी के मामले को लेकर दो धड़े चले आरहे हैं। इसका तस्फिया करनेके लिये दोनों धड़ोंकी ओरसे कुचामण निवासी श्रीमान सेठ गम्भीरमलजी पाँड्या व इन्दौरनिवासी श्रीमान सेठ हीरालालजी पाटणी

नियत किये गये थे। उन्होंने जो फ़ैसला दिया है वह संक्षेपमें इस प्रकार है:—

गैंदालालजी पाटणीके बयानोंसे साफ़ जाहिर होता है कि उनकी लड़की विधवा सुन्दर बाईके गर्भ रहा। उन्होंने उसको आगरा लेजाकर बच्चा होजाने की व्यवस्थाकी। उनके बयानोंसे यह भी जाहिर होता है कि गर्भ नसीराबाद या किशनगढ़में रहा। हमको खेदके साथ लिखना पड़ता है कि आपसमें दो धड़े हो जानेसे आजतक प्रमाण स्वरूपमें सुंदर बाई को जातिच्युत तक भी नहीं किया। यह सब आपसी की फूटका ही कारण है। दो पक्ष होने से लोग विशेष अन्याय को भी पक्षके सबबसे अन्याय नहीं मानते। गैंदालालजीने सुन्दर बाई को मदद करी परन्तु वह मदद अगर ऐसी होती कि गर्भपात कराकर भ्रूणहत्या करना पाया जाता तो इनको कठोर दण्ड दिया जाता। अतः गैंदालालजी पर ११) सवा रुपया पंचायती दण्ड किया जाना है तथा वे प्रायश्चित्तके लिये महावीरजी तीर्थक्षेत्रकी यात्रा करें। सुन्दरबाईने घोर पाप किया है, इसके लिये गैंदालालजी इसके साथ खानपान नहीं करें व आयन्दा धर्मसे भ्रष्ट होनेसे बचानेके लिये उसको किसी दिगम्बर जैन आश्रममें भेज दिया जावे। जब उसका आचरण सुधरनेका पक्का भरोसा समाजको हो जावेगा, तब वह समाजमें शामिल करली जावेगी। नयानगर पचायती सम्बन्धी झगड़ा निबटाने के लिये गैंदालालजी वहाँ जाकर पंचायतीसे प्रार्थना करें। तथा इस आपसी फूट के कारण अदालतमें जो दीवानी व फौजदारी मुकद्दमे चलरहे हैं, वे दोनों ओर से वापिस ले लिये जावें।

धूर्त से सावधान।

शान्तिसागरसंघके सूत्रधार क्षुल्लकवेषी ज्ञानसागरजी उर्फ पंडित नन्दनलालजीने ब्यावरमें उस दिन अपने व्याख्यान में चारित्रकी महत्ता बतलाते हुए " ज्ञान " की इतनी निन्दा करडाली कि उसको सब अनर्थों की जड़ बतला दिया। बादमें आपने तेरहपन्थियोंकी भी खूब निन्दा की। इसमें वेषपूजक अन्धभक्तोंकी आँखें खुलीं और उनके प्रतिवाद करनेपर ज्ञानसागरजी को अपना सुर बदलना पड़ा। ज्ञानका यह लक्षण नंदनलालजी पर बिलकुल ठीक लागू होता है—आप ज्ञान—अर्थात् अनर्थोंकी जड़ - के सागर हैं अर्थात् महान अनर्थकारी हैं। आप त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, सूर्यप्रकाश दानविचार आदि निकृष्ट ग्रन्थोंके, कि जिनमें श्री जिन भगवानकी प्रतिमाका गोबर व गोमूत्रसे पूजा व अभिषेक करना, योनिस्थ देवताओंकी पूजा करना पितरोंकी तृप्तिके लिये श्राद्ध तर्पण करना आदि बतलाया गया है, अनन्य भक्त व प्रमुख प्रचारक हैं। आप बीसपंथ आम्नायके नामसे समाजमे मनमाना शिथिलाचार चलाना चाहते हैं और व्यर्थ बीसपंथ आम्नायको बदनाम करते हैं कोई भी बीसपंथी भाई गोबरसे भगवानकी पूजा करना या गोमूत्रसे भगवान की प्रतिमाका अभिषेक करना धर्म सम्मत नहीं बताता। आप व्यर्थ तेरहपंथियोंके खिलाफ़ समाजको भड़काकर तेरहपंथ—बीसपंथके पुराने झगड़ेको ताजा करना चाहते हैं। समाजको ऐसे धूर्तोंसे, चाहे वे किसी वेषमें हों, सावधान रहना चाहिये।

अजमेर राजपूतानाका केन्द्र है तथा यहाँ जैन समुदाय भी काफ़ी है। अतः अगर यहाँ शान्तिसागरसंघका चातुर्मास हो तो समाजमें विशेष जागृति होने की आशा है। निकट सम्पर्कमें आनेसे ही इनका असली रूप प्रकट होगा, अज्ञान जनित वेष-मोह भंग होगा तथा या तो ये ठीक राह पर आवेंगे, और या फिर मुनीन्द्रसागर आदि की गतिको प्राप्त होंगे।

सराहनीय दान।

श्रीमान जैन समाजभूषण सेठ ज्वालाप्रसादजी जौहरीने गत माह २८९) रुपये अजमेर की विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं को निम्नप्रकार दान दिये थे:—

५१) जैनहाईस्कूल, ५१) सार्वजनिक वाचनालय, २५) ओसवाल जैनऔषधालय, २५) अछूत सेवक संघ, २५) जैनजगत्, २१) सावित्रीगर्ल्स हाईस्कूल, २१) संस्कृतपाठशाला, २१) जैनऔषधालय, २१) दिगम्बर जैनपाठशाला केसरगंज।

दान की मात्रा यद्यपि आपकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है तथापि इससे आपकी सुरुचि व साम्प्रदायिकताशून्य मनोवृत्ति का परिचय मिलता है, जो अवश्य ही सराहनीय है। —प्रकाशक।

जैनधर्म का मर्म ।

(२७)

"सर्वज्ञ" शब्दका अर्थ ।

सर्वज्ञताके विषयमें जो प्रचलित मान्यता है वह असम्भव है—इस बातके सिद्ध कर देनेपर यह प्रश्न उठता है कि आखिर सर्वज्ञता है क्या ? "सर्वज्ञ" शब्द बहुत पुराना है और यह माननेके भी कारण हैं कि भगवान महावीरके जमानेमें भी सर्वज्ञ शब्द का व्यवहार होता था। यदि सर्वज्ञका यह अर्थ नहीं है तो कोई दूसरा अर्थ होना चाहिये जो सम्भव और सत्य हो।

सर्वज्ञ शब्दका सीधा और सरल अर्थ यही है कि सबको जाननेवाला। परन्तु 'सर्व' शब्दका व्यवहार अनेक तरहसे होता है।

जब हम कहते हैं कि 'सब आगये; काम शुरू करो।' तब 'सब' का अर्थ निमन्त्रित व्यक्ति होता है न कि त्रिकाल त्रिलोकके प्राणी या पदार्थ।

इसीप्रकार—

'हमारे शहरके बाजारमें सब कुछ मिलता है।' इस वाक्यमें 'सब कुछका अर्थ' बाजारमें बिकने योग्य व्यवहारू चीजें हैं, जिनकी कि मनुष्य बाजारसे आशा कर सकता है; न कि सूर्य, चन्द्र, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, माँ-बाप आदि त्रिकाल त्रिलोकके सकल पदार्थ।

"मुझसे क्या पूछते हो ? आपतो सब जानते हो।"

यहाँ पर भी जाननेका विषय त्रिकाल त्रिलोक नहीं किन्तु उतना ही विषय है जितना पूछनेसे जाना जा सकता है।

"वह सब शास्त्रोंका विद्वान है"।

यहाँ भी 'सब' शास्त्रोंका अर्थ वर्तमानमें प्रचलित सब शास्त्र है, न कि त्रिकालत्रिलोकके सब शास्त्र।

"उसके पास जाओ; वह तुम्हें सब देगा"।

यहाँ 'सब' का अर्थ इच्छित आवश्यक और सम्भव वस्तु है न कि त्रिकालत्रिलोकके सकल पदार्थ।

"कोई भला दामाद श्वसुरसे कहे कि, आपने क्या नहीं दिया ? सब कुछ दिया।"

यहाँ पर भी 'सब' का अर्थ श्वसुरके देने योग्य वस्तुएँ हैं, न कि त्रिकालत्रिलोकके अनन्त पदार्थ।

और भी बीसों उदाहरण दिये जासकते हैं, जिससे मालूम होगा कि "सब" शब्दका अर्थ त्रिकालत्रिलोक नहीं, किन्तु इच्छित वस्तु है। हमें जितने जाननेकी या प्राप्त करनेकी आवश्यकता है उतनेको ही 'सब' कहते हैं। जिसने उतना जाना या दिया, उसको सर्वज्ञ या सर्वदाता कहने लगते हैं। ऊपर मैंने बोलचालके उदाहरण दिये हैं परन्तु शास्त्रोंमें भी इसप्रकारके उदाहरण पाये जाते हैं।

नीतिवाक्यामृतमें लिखा है—

'लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः'–लोक व्यवहारको जाननेवाला (अच्छी तरह जाननेवाला) सर्वज्ञ है।

चन्द्रप्रभ चरितमें पद्मनाभ राजाने एक अवधिज्ञानी श्रीधर मुनिके दर्शन किये हैं। उन मुनिके वर्णनमें कहा गया है:—

"जिनके वचनोंमें त्रिकालकी अनन्तपर्याय सहित सब पदार्थ इसीप्रकार दिखाई देते हैं जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई* देता है।"

फिर राजा मुनिसे कहता है—

"इस चराचर जगत्में मैं उसे खपुष्प (कुछ नहीं) मानता हूँ जो आपके दिव्यज्ञानमय चक्षुमें प्रतिबिम्बित नहीं हुआ।"''

श्रीषेण राजा जब वनक्रीड़ा कर रहा था तब उसने तपः श्री से शोभित अवधिज्ञानी अनन्तनामक चारण मुनिको उतरते देखा†, और मुनिसे पूछा—

"आप भूतभविष्यकी सब बात जानते हो। आपके ज्ञानके बाहर जगत्में कोई चीज नहीं है; फिर बताइये कि संसारकी सब दशाका ज्ञान होनेपर भी मुझे वैराग्य क्यों नहीं होता ‡ ?"

इन उदाहरणोंसे मालूम होता है कि कविवर वीरनन्दि एक अवधिज्ञानी मुनिको सब जाननेवाला कहते हैं। अवधिज्ञानी सब नहीं जानता इसलिये यहाँ पर 'सब' शब्दका अर्थ यही है कि जितनेमें राजाके प्रश्नका उत्तर होजाय। पिछले उद्धरणमें तो राजा भी अपने विषयमें कहता है कि मुझे संसारकी सब दशाका ज्ञान है। यहाँभी 'सब' का अर्थ संसारकी अनित्यता अशरणता आदि वैराग्योपयोगी बातें हैं न कि सब पदार्थोंकी सब अवस्थाओंका ज्ञान।

इसी प्रकार हरिवंशपुराण आदिके उदाहरण दिये जासकते हैं। उसमें भी अवधिज्ञानी मुनिको त्रैलोक्यदर्शी ¦ कहा है। एक बढ़िया उदाहरण और लीजिये।

जिस समय पवनञ्जयके हृदयमें अञ्जनाको देखनेकी लालसा हुई तब वह अपने मित्र प्रहस्तसे कहता है "मित्र! तीन लोककी सम्पूर्ण चेष्टाओंको जाननेवाले तुम सरीखे चतुर मित्रको छोड़कर मैं किससे अपना दुःख कहूँ ?" $

प्रहस्तकी त्रिलोकज्ञताका अर्थ इतना ही है कि वह पवनञ्जयके मनकी बात जानता है और उसका कुछ उपाय भी निकाल सकता है।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि 'सर्वज्ञ' शब्दका अर्थ इच्छित पदार्थका जानना है। और जो जिसका समाधान कर दे, उसके लिये वही सर्वज्ञ-त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ है।

प्रश्न—एक मनुष्य जिसे सर्वज्ञ कहे उस सर्वज्ञका अर्थ भले ही उपर्युक्त रीतिसे हो किन्तु जिसे सब लोग सर्वज्ञ कहते हैं वह सर्वज्ञ ऐसा नहीं हो सकता।

उत्तर—ऐसा मनुष्य आज तक नहीं हुआ जिसे सभी सर्वज्ञ कहते हों। उसके अनुयायी उसे भलेही

---

* त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे जगद्यद्वचसीक्ष्यते ॥ च० च० २-६

" खपुष्पं तदहंमन्ये भुवने सचराचरे।
दिव्यज्ञानमये यन्न स्फुरितं तव चक्षुषि ॥ २-४२

† अत्रान्तरे पृथु तपःश्रिय उन्नत श्री–
रुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्ध दृष्टिः।
तारापथादवतरन्तमनन्तमत्र—
मैक्षिष्टचारणमुनिं सहसा नरेन्द्रः। ३-४४

‡ यद्भाविभूतमथवामुनिनाथ तत्ते—
बाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसीद।
संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि,
नाद्यापि याति विरतिं किमु मानसं मे ॥ ३-५०॥

¦ हरिवंश-सर्ग १९ श्लोक ८७।

$ सखे कस्य वदान्यस्य दुःख मेतन्निवेद्यते।
मुक्त्वा त्वां विदिताशेष जगत्त्रय विचेष्टितं ॥
—पद्मपुराण १५—१२१।

सर्वज्ञ कहते रहे हों परन्तु दूसरे तो उसे न केवल अ-सर्वज्ञ, किन्तु मिथ्याज्ञानी तक कहते रहे हैं। कदाचित कोई ऐसा मनुष्य भी निकल आवे तो भी सर्वज्ञताका उपर्युक्त अर्थ उसमें भी लागू होगा। जो मनुष्य एक मनुष्यका समाधान कर सकता है वह एक मनुष्यके लिये सर्वज्ञ होजाता है; जो दस मनुष्योंका समाधान कर सकता है वह दस मनुष्योंके लिए सर्वज्ञ होजाता है। इसीप्रकार हजार लाख आदिकी बात है। जो एक समाजका समाधान करे वह उस समाजका, देशका या उस युगका सर्वज्ञ होता है। मतलब यह कि सर्वज्ञ होनेके लिए अनंत पदार्थोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है किन्तु किसी समाज, देश या युगकी मुख्य समस्याओंको इतना सुलझादेनेकी आवश्यकता है जितनेमें लोगों को संतोष हो जावे। ऐसा महापुरुष ही समष्टिके द्वारा सर्वज्ञ कहा जाने लगता है।

प्रश्न—यदि ऐसा हो तो केवल तीर्थङ्कर या धर्म-संस्थापक ही सर्वज्ञ क्यों कहलाते हैं? राजनीतिज्ञ, ज्योतिषी, वैद्य आदि भी सर्वज्ञ कहे जाने चाहिये, क्योंकि अपने अपने विषयमें लोगोंका समाधान वे भी कर सकते हैं।

उत्तर—इस प्रश्नके चार उत्तर हैं। पहला तो यह कि वे लोग भी सर्वज्ञ कहे जाते हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें धन्वन्तरिकी सर्वज्ञरूपमें वन्दना होती है। अपने अपने विषयकी सर्वज्ञताको महत्व देनेकी भावना भी उस विषयके विशेषज्ञोंमें पाई जाती है। इसीलिये नीतिवाक्यामृतकार सोमदेवसूरि लोकव्यवहारज्ञको ही सर्वज्ञ कहते हैं।

दूसरा उत्तर यह है—सर्वज्ञरूपमें किसी व्यक्ति को माननेके लिए जिस भक्ति और श्रद्धाकी आवश्यकता है वह धार्मिकक्षेत्रमें ही अधिक पाई जाती है। अन्य विद्याओंके क्षेत्रमें प्रत्यक्ष और तर्कको इतना अधिक स्थान रहता है कि उस जगह वैसी श्रद्धाकी गुजर नहीं होसकती, खासकर समष्टि तो उतनी श्रद्धा नहीं रख सकती। एकाध आदमीकी बात दूसरी है।

तीसरा उत्तर यह है कि अन्य सब विद्याओंकी अपेक्षा धर्मविद्याका स्थान ऊँचा रहा है। अन्य विद्याओंका सम्बन्ध सिर्फ ऐहिक माना गया है जबकि धार्मिक विद्याका सम्बन्ध पारलौकिक भी कहा गया है। और ऐहिक जीवनमें भी उसका स्थान व्यापक और सर्वोच्च रहा है। इसलिए धार्मिक क्षेत्रका सर्वज्ञ भी व्यापक और सर्वोच्च बन गया।

चौथा उत्तर यह है कि आजतक प्रायः सभी मनुष्योंके लिए किसी न किसी धर्मसे सम्बन्ध रखना पड़ा है, परन्तु अन्य विषयोंके बारेमें यह बात नहीं कही जासकती। इसलिये धर्मके सर्वज्ञका प्रचार अधिक हुआ और बाकी सर्वज्ञ प्रचलित न हो सके।

इन चारोंमें तीसरा उत्तर मुख्य है। धर्म केवल पोथियोंकी चीज नहीं है, किन्तु उसका प्रभाव जीवनके सभी अंशोंपर पड़ता है। सुखके साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करनेवाला भी धर्म ही है। अगर धर्म न हो तो जगत्की सब विद्याएँ मिलकर भी मनुष्यको उतना सुखी नहीं कर सकतीं जितना कि किसी भी विद्यासे रहित होकर केवल धर्म कर सकता है। प्रत्येक युगकी महान और जटिल समस्याएं धर्मसे ही हल होती हैं, भले ही उनका रूप राजनैतिक हो या आर्थिक हो परन्तु जबतक धर्म नहीं आता तबतक वे समस्याएँ ज्योंकी त्यों खड़ी रहती हैं, तथा धर्मही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें उन्हें हल करता है।

यही कारण है कि धार्मिकक्षेत्रके सर्वज्ञका स्थान सर्वोच्च सर्वव्यापक और दीर्घकालस्थायी होता है।

वास्तविक अर्थका समर्थन।

सर्वज्ञता वास्तवमें क्या है, यह बात पाठक समझ गये होंगे। उस अर्थके समर्थनमें शास्त्र, विशेषतः जैन शास्त्र कितनी साक्षी देते हैं यहाँ उसी बातका विचार करना है।

प्रायः मुक्तिवादी सभी भारतीय दर्शनों ने उस

ज्ञानको बहुत महत्त्व दिया है जिससे आत्मा संसारके बन्धनसे अलग केवल (बन्ध रहित-अकेला) होता है। उस अवस्थाके ज्ञानको केवलज्ञान और उस अवस्थाको कैवल्य कहते हैं। केवलज्ञान वास्तवमें जगत्का ज्ञान नहीं, किन्तु केवल आत्माका ज्ञान है। इसी ज्ञानको दूसरे दर्शनोंमें प्रकृति पुरुष विवेक, ब्रह्मसाक्षात्कार आदि नामोंसे कहा है। जैनियोंका केवलज्ञान भी यही परमपवित्र आत्मज्ञान है। इसके जान लेनेसे 'जगत् जान लिया' या 'सब जान लिया' कहा जाता है।

उस आत्मज्ञानके होनेपर जगत्के जाननेकी जरूरत नहीं रहती, इसलिए उसे सर्वज्ञ भी कहते हैं; क्योंकि जिसे कुछ जाननेकी जरूरत नहीं रही उसके विषयमें यह कहना कि उसने सब जान लिया कोई अनुचित नहीं है। जैसे करने योग्य (कृत्य) कर लेनेसे कोई कृतकृत्य कहलाता है (यह आवश्यक नहीं है कि उसने सब कुछ कर लिया हो) उसी प्रकार जानने योग्य जान लेनेसे सर्वज्ञ कहलाता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसने सब जान लिया हो। इसीलिये आचाराङ्गसूत्रमें कहा है—

'जो आत्माको जानता है वह सबको जानता है, या जो सबको जानता है वह आत्माको जानता है।'‡

'जो अध्यात्मको जानता है वह बाह्यको जानता है जो बाह्यको जानता है वह अध्यात्मको जानता है।'*

इनका योग्य अर्थ यही है कि जो आत्माको या अध्यात्मको जानता है वह सबको या बाह्यको जानता है; सर्वज्ञ या बाह्यज्ञ वास्तवमें आत्मज्ञ ही है। इस तरहके कथन अन्य जैनग्रंथोंमें भी मिलते हैं।

प्रश्न—आपने पहिले सर्वज्ञका अर्थ पूर्ण धार्मिक ज्ञानी किया है किन्तु यहाँ आप आत्मज्ञानीको सर्वज्ञ कहते हैं। इन दोनोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—उपर्युक्त आत्मज्ञान ही वास्तवमें केवलज्ञान है। परन्तु उस केवलज्ञानको प्राप्त करनेके लिये जो व्यावहारिक धर्म ज्ञान है वह भी केवलज्ञान कहा जाता है। आत्मोद्धारकी दृष्टिसे तो आत्मज्ञान ही केवलज्ञान है किन्तु जगदुद्धारके लिये केवलज्ञान वही है जो कि पहिले बताया गया है, जिससे जगत् की समस्याएँ हल होती हैं।

जैनशास्त्रोंमें दो तरहके केवली बतलाये गये हैं। एकको केवली कहते हैं दूसरेको श्रुतकेवली कहते हैं। दोनोंही पूर्ण धर्मज्ञानी माने जाते हैं। परन्तु जिसका धर्मज्ञान अनुभवरूप हो जाता है और जिसे उपर्युक्त आत्मज्ञान हो जाता है, उसे केवली कहते हैं; किन्तु जिसका ज्ञान अनुभवमूलक नहीं होता और जिसे उपर्युक्त आत्मज्ञान नहीं होता वह श्रुतकेवली कहलाता है। केवली प्रत्यक्षज्ञानी और श्रुतकेवली परोक्षज्ञानी कहा जाता है।

श्रुतकेवलीको ज्यों ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है त्यों ही वह केवली कहलाने लगता है। बाह्यदृष्टिसे दोनों ही समान ज्ञानी हैं किन्तु आभ्यंतर दृष्टिसे दोनोंमें बहुत अंतर है। इस प्रकारके भेद दूसरे दर्शनोंमें भी किये गये हैं मुंडकोपनिषद्में लिखा है—

"हे भगवन् ! किसके जान लेनेपर सारा जगत् जाना हुआ होजाता है? उसके लिए उनने(अंगिरसने) कहा—दो विद्या जानना चाहिये जिनको ब्रह्मज्ञानी परा और अपरा विद्या कहते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये अपरा विद्याएं हैं। और परा वह है जिसके द्वारा वह अक्षर (नित्य=मोक्षपद=ब्रह्म) जाना जाता है (प्राप्त होता है)।

‡ जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। ३ ४-१२२

* जे अज्झत्थं जाणइ से बाहिया जाणइ, जो बाहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ। १—७ ५६

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।१-१-३ तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो-

केवलीका ज्ञान पराविद्या है और श्रुतकेवलीका ज्ञान अपराविद्या है। श्रुतकेवलीके पास पराविद्या नहीं होती है किन्तु केवलीके पास परा और अपरा दोनों विद्याएं होती है, क्योंकि अपराविद्या (पूर्ण श्रुतज्ञान) को प्राप्त करकेही पराविद्या प्राप्त की जासकती है। हाँ, पराविद्याको प्राप्त करनेके लिए अपराविद्या पूर्ण होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि अपूर्ण अपरा विद्यासे भी पराविद्या प्राप्त की जा सकती है अर्थात् पूर्ण पाण्डित्यको प्राप्त किये बिनाभी केवलज्ञान प्राप्त किया जासकता है। फिरभी यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग यही है कि पहिले अपराविद्यामें पूर्णता प्राप्त की जाय। पीछे सरलतासे पराविद्या प्राप्तहोती है।

प्रश्न—पराविद्यावाले (केवली) को अपराविद्या की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—पराविद्या प्राप्त होनेके पहिले उसकी जरूरत रहने पर भी उसके बाद जरूरत नहीं रहती। परन्तु यह अनावश्यकता अपने लिए है, न कि जगत के लिये। जगतके उद्धारके लिये अपराविद्याकी आवश्यकता है, क्योंकि जगत्‌की समस्याएँ उसीसे पूरी की जाती हैं।

प्रश्न—केवलीकी अपराविद्या और श्रुतकेवलीकी अपराविद्यामें कुछ फर्क है कि नहीं ?

उत्तर—विशालताकी दृष्टिसे दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु गंभीरताकी दृष्टिसे दोनोंमें बहुत अन्तर है। केवलीका ज्ञान अनुभवात्मक होता है। वह ज्ञानके मर्मको अनुभवमें ले आता है, जबकि श्रुतकेवलीका ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है। उसका ज्ञान अनुभवात्मक नहीं, पुस्तकीय होता है। इसीलिये केवलीके ज्ञानको प्रत्यक्ष (अनुभवात्मक) और श्रुतकेवलीके ज्ञानको परोक्ष (गुरु आदिसे प्राप्त) कहा जाता है। जैन शास्त्रकारोंने इस विषयको अच्छी तरह लिखा है। गोम्मटसारमें लिखा है—

'श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनोंही ज्ञानकी दृष्टि से (पदार्थोंको जाननेकी दृष्टिसे) बराबर हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।'

आप्तमीमांसामें समंतभद्र कहते हैं—

स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान दोनों ही सब तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं। अन्तर इतना है कि स्याद्वाद असाक्षात (परोक्ष) है और केवलज्ञान साक्षात् (प्रत्यक्ष अनुभवमूलक) है।

विशेषावश्यक भाष्यमें भी केवलज्ञान और श्रुतज्ञानको बराबर कहा है। वहाँ कहा है कि श्रुतज्ञानकी स्वपर्याय और परपर्यायें, केवलज्ञानसे कम होनेपर भी दोनो मिलकर केवलज्ञानके बराबर हैं।

इससे यह बात अच्छी तरह समझमें आजाती है किकेवलज्ञान, विषयकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानसे अधिक नहीं है। प्राचीन मान्यता यही है और उस मान्यताके भग्नावशेष रूप ये उद्धरण हैं। पीछेसे केवलज्ञानका जब विचित्र और असंभव अर्थ किया गया तब इन या ऐसे वाक्योंके अर्थ करनेमें भी खींचातानी की गई। फिर भी ये उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि वास्तविक बात जाननेमें कठिनाई नहीं रह जाती।

वदन्ति परा चैवापरा च। १-१-४। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। १—१—५। मुंडकोपनिषत्।

सुद केवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुद णाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं।
—गो० जीवकांड ३६९।

स्याद्वाद केवल ज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।
—आप्तमीमांसा, देवागम, १०५।

सयपज्जाएहि उ केवलेण तुल्लं न होज्ज न परेहिं। स पर पज्जाए हि नु तुल्लं तं केवलेणेव। ४९३

त्रिकाल-त्रिलोककी समस्त द्रव्यपर्यायोंको न तो केवलज्ञान जान सकता है और श्रुतज्ञान जान सकता है। परन्तु जैनविद्वान् श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें यह बात स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं किन्तु केवलज्ञानके विषयमें स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं। परन्तु जब दोनों बराबर हैं तब दोनोंको एक सरीखा मानना चाहिये। जैनाचार्योंने दोनों ज्ञानोंको सर्वतत्त्व प्रकाशक और समस्त वस्तुद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानात्मक कहा है। अष्टसहस्रीमें विद्यानन्दी कहते हैं- "स्याद्वाद और केवलज्ञान जीवादि सात तत्त्वोंके एक सरीखे प्रतिपादक हैं इसलिये दोनों ही सर्वतत्त्व प्रकाशक कहे जाते × हैं।"

गोम्मटसार टीकामें कहागया है—श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समस्त वस्तुओंके द्रव्य गुण पर्यायोंको जाननेवाले हैं इसलिये समान हैं।

इन उद्धरणोंसे यह बात साफ़ मालूम होती है कि प्राचीन मान्यता तत्त्वज्ञको सर्वज्ञ कहनेकी है। जो तत्त्वज्ञ है वह समस्त द्रव्य गुणपर्यायोंका ज्ञाता है। इसीलिये श्रुतज्ञान भी समस्त द्रव्यगुणपर्यायज्ञानात्मक कहा गया है।

प्रश्न—यदि अपराविद्याके क्षेत्रमें केवली और श्रुतकेवली दोनों बराबर हैं तो धर्मप्रचारका कार्य दोनों एक सरीखा कर सकते होंगे या उनके इस कार्यमें कुछ अन्तर है ?

उत्तर—अनुभवसे निकलनेवाले वचनोंका प्रभाव और मूल्य बहुत अधिक होता है। इसलिये केवली अधिक जगदुद्धार कर सकते हैं। केवलीका ज्ञान, मर्म तक पहुँचा हुआ होता है। श्रुतकेवली शास्त्र के अनुसार बोलता है और केवलीके बोलनेके अनुसार शास्त्र बनते हैं। केवलीको यह देखनेकी आवश्यकता नहीं है कि शास्त्र क्या कहता है; जब कि श्रुतकेवली अपने वक्तव्यके समर्थनमें शास्त्रकी दुहाई देता है। दोनोंकी योग्यताके इस अन्तरसे समाजके ऊपर पड़नेवाले प्रभावमें भी अन्तर पड़ता है।

प्रश्न—कोई मनुष्य शास्त्रकी पर्वाह नहीं करता। क्या उसे आप केवली कहेंगे ? अथवा कोई शास्त्रज्ञानके साथ अनुभवसे भी काम लेता है तो क्या उसे आप केवली कहेंगे ?

उत्तर—एक परमयोगी कपड़ोंकी या वेषभूषाकी पर्वाह नहीं करता और एक पागल भी नहीं करता, तो दोनों एक सरीखे नहीं हो जाते। शास्त्रकी लापर्वाही अज्ञानसे भी होती है और उत्कृष्ट ज्ञानसे भी होती है। इसलिये शास्त्रकी लापर्वाहीसे ही कोई केवली नहीं हो जाता; वह लापर्वाही अगर ज्ञानमूलक हो तभी वह केवली कहा जा सकता है।

शास्त्रज्ञानके साथ थोड़ा बहुत अनुभव तो प्रायः सभीको होता है, परन्तु जबतक वह अनुभव पूर्ण और व्यापक नहीं हो जाता तब तक कोई केवली नहीं कहला सकता। केवलज्ञान अनन्त धार्मिक सत्यको प्राप्त करनेकी कुंजी है, जिसे कि श्रुतकेवली पा नहीं सका है। श्रुतकेवली सत्यका सिर्फ रक्षक है, जब कि केवली सर्जक (बनाने वाला) भी है।

प्रश्न शास्त्रमें लिखा है कि केवली जितना जानते हैं उससे अनंतवाँभाग कहते हैं और जितना कहते हैं उससे अनंतवाँभाग श्रुतबद्ध होता है। तब श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका विषय एक बराबर कैसे हो सकता है ?

× 'जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति' वचनात् तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्। अष्टसहस्री १०५।

श्रुतज्ञानं केवलज्ञानं चेति द्वेज्ञानं बोधात् समस्त वस्तु द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानात् सदृशे समाने भवत.। गोम्मटसार टीका ३६९

† पण्णवणिज्जाभावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥ —गो० जी० ३३४।

उत्तर—शास्त्रोंमें केवलज्ञान और श्रुतज्ञानको बराबर बताया है। फिर, दूसरी जगह अनंतवाँ भाग कहा। इस पारस्परिक विरोधसे मालूम होता है कि श्रुतके अनंतवें भागकी कल्पना तब की गई थी जब केवलज्ञानकी विकृत परिभाषाका प्रचार होगया था। दूसरा और दोनोंका समन्वय करनेवाला उत्तर यह है कि अनंतवें भागका कथन अनुभवकी गंभीरताकी अपेक्षासे है न कि विषयकी अधिकताकी अपेक्षासे। एक आदमी मिश्रीका स्वाद लेकर दूसरेको उसका परिचय शब्दोंमें देना चाहे तो घंटों व्याख्यान देकर भी अनुभवके आनन्दको शब्दोंमें नहीं उतार सकता। इसलिये ज्ञेय पदार्थोंकी अपेक्षा अभिलाप्य (बोलने योग्य) पदार्थ अनंतभाग कहे गये हैं। एक मनुष्य जीवनभरमें जितने व्याख्यान दे सकता है उतनेका श्रुतनिबद्ध होना भी अशक्य है, खासकर उस युगमें जब शास्त्र लिखे नहीं जाते थे और शीघ्रलिपिका जिन दिनों नाम भी न सुना गया था। इसलिये अभिलाप्यमें श्रुतनिबद्ध अंश अनंतवाँ भाग बताया गया है। यहाँ अनंतवाँ भागका अर्थ 'बहुत थोड़ा' करना चाहिये। क्योंकि कोई जीवनभर बोलता रहे, तो भी अनंत अक्षर नहीं बोल सकता; एक अक्षर भी अगर श्रुतनिबद्ध हो तो वह संख्यातवाँ भाग ही कहलायगा। शास्त्रोंमें जहाँ गुणोंकी या भावोंकी तरतमता बताई जाती है या उससे मतलब होता है, वहाँ अनंतभाग कह दिया जाता है।

प्रश्न—श्रुतनिबद्धभाग अनंतभाग भले ही न हो परन्तु केवलीकी वाणीसे कम तो अवश्य है। ऐसी हालतमें केवलज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बराबर कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—श्रुतनिबद्ध शब्दोंके समूहको श्रुतज्ञान नहीं कहते किन्तु उससे जो ज्ञान पैदा होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। तीव्र मतिवाला मनुष्य, थोड़े शब्दोंसे भी बहुत ज्ञान कर लेता है। इसलिये केवली जो कुछ कहना चाहते हैं किन्तु शब्दोंमें उतनी शक्ति न होनेसे वे कह नहीं पाते उसे श्रुतकेवली उनके थोड़े शब्दोंसे ही जान लेता है। इसप्रकार केवलीकी सब बातें श्रुतकेवलीभी जान लेता है। मतलब यह कि केवली और श्रुतकेवलीके बीच जो शब्द व्यवहार है वह थोड़ा होनेपर भी उसका कारणरूप केवलीका ज्ञान और कार्यरूप श्रुतकेवलीका ज्ञान एक बराबर होता है। द्वादशांगकी उत्पत्ति पर विचार करनेसे भी यही बात सिद्ध होती है।

जितना द्वादशांगका विस्तार है उतना तीर्थङ्कर नहीं कहते, वे तो बहुत संक्षेपमें कहते हैं किन्तु बीज बुद्धिधारी गणधर उसका विस्तार करके द्वादशांग बना डालते हैं*। इसीप्रकार केवलीके थोड़े शब्दोंसे भी श्रुतकेवली केवलीका पूरा मतलब समझ जाते हैं। इसीलिये दोनोंका ज्ञान बराबर है। हाँ, उनमें अनुभवकी तरतमता अवश्य रह जाती है।

प्रश्न—यह अनुभवकी तरतमता एक पहेली है। आप श्रुतकेवलीका ज्ञान केवलीके बराबर मानते हैं। श्रुतकेवली केवलीका पूरा आशय समझ जाते हैं, वे थोड़े शब्दोंका बहुत विस्तार भी कर सकते हैं यहभी मानते हैं; तब समझमें नहीं आता कि श्रुतकेवलीके अनुभवमें अब क्या कमी रह जाती है ? क्या केवली बननेके लिये सब पुण्य पाप आदिका भोग करना पड़ता है ? आखिर क्या बात है जिसे आप अनुभव कहते हैं।

उत्तर—आशयको समझना एक बात है; किन्तु वह आशय किस आधारपर खड़ा हुआ है आदि उसमें गहरा प्रवेश करना दूसरी बात है। केवलीमें जो आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होता है वही उस अनुभवका बीज है जो श्रुतकेवलीमें नहीं होता। तत्त्वका

---

* सो पुरिसावेक्खाए थोवं भणइ न उ बारसंगाइं।
अत्थो तदविक्खाए, सुत्तं चिय गणहराणं तं ॥११२२

—विशेषावश्यक।

ठीक ठीक निर्णय अपनेही द्वारा करनेके लिये जिस परम वीतरागताकी आवश्यकता होती है वहभी श्रुतकेवलीको प्राप्त नहीं होती इसलिये भी वह पूर्ण सत्य को प्राप्त कर नहीं पाता। ये ही सब विशेषताएँ केवली की हैं जो अनुभवरूप या अनुभवका कारण कही जाती हैं। अनुभवको शब्दोंसे कहना असम्भव है इसलिये वह यहाँभी शब्दोंसे नहीं कहा जासकता। फिरभी विषयको यथाशक्ति स्पष्ट करनेके लिये गुणस्थानचर्चाके आधारपर कुछ विचार किया जाता है।

श्रुतकेवली सामान्यत छट्ठे सातवें गुणस्थानमें रहता है और केवली तेरहवें गुणस्थानमें। श्रुतकेवली को केवली बननेके लिये आठवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। उस श्रेणी में जो कुछ काम होता हो वही श्रुतकेवलीसे केवली की विशेषता समझना चाहिये।

श्रेणीमें दो कार्य होते हैं,एक तो कषायोंका क्षय और दूसरा ध्यान, अर्थात् किसी वस्तुपर गम्भीर विचार। बस, कषायक्षयसे होनेवाली पूर्ण वीतरागता और ध्यानसे पैदा होनेवाली गम्भीरताही केवलीकी विशेषता है। जबतक किसी वस्तुमें थोड़ा भी राग या द्वेष होता है तबतक हम उसकी हेयोपादेयताका ठीक ठीक निर्णय नहीं,कर सकते। इसलिये पूर्ण सत्य की प्राप्तिके लिए पूर्ण वीतरागता चाहिये। पूर्णवीतरागताका अनुभव करनेके लिये ध्यानकी आवश्यकता होती है। किसी एक ध्येय वस्तुपर पूर्णवीतरागतासे उपयोग लगाना ही ध्यान है। इस ध्यानकी सिद्धि ही केवलज्ञानकी विशेषता है जो कि श्रुतकेवलीमें नहीं होती।

प्रश्न - ध्यानमें तो एकही वस्तुका विचार किया जाता है! उससे एकही वस्तुके सत्यकी प्राप्ति होगी। इतनेको पूर्ण सत्यकी प्राप्ति कैसे कह सकते हैं? अथवा क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्तिसे पूर्ण सत्यकी प्राप्ति होती है?

उत्तर— किसी महलमें प्रवेश करनेके अगर सौ द्वार हैं तो उसमें जानेके लिए कोई सौ द्वारोंमेंसे नहीं जाता किन्तु किसी एकही द्वारसे जाता है। इसीप्रकार सत्यरूपी महलमें भी एक ही द्वारसे प्रवेश किया जाता है। किसी वस्तुके विचारमें वीतरागता मुख्य है न कि वह वस्तु। प्रारम्भमें तो वह अनेक वस्तुओं पर विचार करता है परन्तु अन्तमें वह एकही वस्तु पर विचार करता* है। ध्यानके लिये किसी नियत वस्तुका चुनाव आवश्यक नहीं है, वह किसीभी वस्तु पर विचार करसकता है§। हाँ विचार करने की दृष्टि नियत है। वह है हेयोपादेयताका ठीक ठीक अनुभव। वस्तु तो अभ्यासका अवलम्बन मात्र है। किसी भी एक अवलम्बनसे सिद्धि हो सकती है।

प्रश्न—यदि किसी एक वस्तुपर विचार करनेसे केवली बनता है तो केवली बननेके पहिले श्रुतकेवली बननेकी आवश्यकता नहीं है।

उत्तर श्रुतकेवली बने बिना पूर्णवीतरागतासे ध्यान लगाकर केवली बनाजासकता है। परन्तु यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग यही है कि पहिले श्रुतकेवली बनाजाय। श्रुतकेवलीको आत्मोद्धारके मार्गका पूर्ण और विस्तृत ज्ञान होता है जिसे अनुभवात्मक बनाकर केवली बनाजाता है। ऐसाही केवली आत्मोद्धारके साथ जगदुद्धार कर सकता है। इसलिये केवलज्ञानका कारणभूत शुक्लध्यान श्रुतकेवलीके ही बताया है। मतलब यह कि सामान्य राजमार्ग यही है कि

* जिस ध्यानमें क्रमसे अनेक वस्तुओंपर विचार किया जाता है उसे पृथक्त्व वितर्क कहते हैं और जिसमें एक वस्तुपर दृढ़ता आजाती है वह एकत्व वितर्क कहलाता है। देखो तत्त्वार्थ० अध्याय नवमा, अविचारं द्वितीयम्, विचारोऽर्थ व्यञ्जनयोग संक्रान्तिः॥

§ जं किंचवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू। लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं। द्रव्यसंग्रह।

श्रुतकेवली बने बिना शुक्लध्यान नहीं होसकता† और शुक्लध्यानके बिना केवलज्ञान नहीं होसकता। परन्तु शास्त्रोंमें ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं जो श्रुतकेवली बने बिना केवली बन गये हैं। खास कर गृहस्थावस्था में रहते हुए ही जिनको केवलज्ञान हुआ, अथवा नवदीक्षित होते ही जो केवली होगये अर्थात् अंग-पूर्वोंका पूर्ण अभ्यास करनेका जिनको समय नहीं मिला अथवा जिनने जैनलिंग धारण नहीं किया और पूर्ण वीतरागता ‡ प्राप्त करके केवलज्ञान पैदा किया, वे श्रुतकेवली बने बिना ही केवली बन गये हैं।

तत्त्वार्थमें इस विषयमें सूत्र रूप प्रमाण मिलता है। मुनि पाँच तरहके होते हैं। चौथा भेद निर्ग्रंथ और पाँचवाँ स्नातक है। स्नातक अरहन्तको कहते हैं। अरहन्तके समान पूर्ण वीतराग अर्थात् यथाख्यात चारित्रधारी मुनि निर्ग्रंथ कहलाता है। यह निर्ग्रंथ बारहवें गुणस्थानमें ※ होता है। बारहवें गुणस्थानके लिये श्रेणी चढ़ना आवश्यक है और श्रेणीके लिये शुक्लध्यान आवश्यक है और शुक्लध्यानके लिये श्रुतकेवली होना आवश्यक है, इसलिये प्रत्येक निर्ग्रंथ मुनि श्रुतकेवली होगा। उपर्युक्त राजमार्गके अनुसार यही बात कहना चाहिये। परन्तु आगे चलकर लिखा गया है कि निर्ग्रन्थके ज्यादा से ज्यादा श्रुत चौदह पूर्व तक होता है और कमसे कम अष्ट प्रवचन मातरः (सिर्फ पाँच समिति तीन गुप्तिका ज्ञान)। यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब श्रुतकेवली बने बिना निर्ग्रन्थ नहीं बनता तब सिर्फ समिति-गुप्ति-ज्ञानी निर्ग्रन्थ मुनि कैसे होगा ? इससे मालूम होता है कि राजमार्गके अनुसार तो श्रुतकेवली ही निर्ग्रन्थ बनता है और पीछे वही केवली होजाता है और अपवादके अनुसार साधारण ज्ञानी भी श्रेणी चढ़कर केवली होते हैं। इसीलिये समिति गुप्तिज्ञानी भी निर्ग्रन्थ बनते हैं, और ध्यान की सिद्धि होनेपर केवली होजाते हैं।

प्रश्न—आपके कहनेसे मालूम होता है कि केवलज्ञानसे अनुभवमें वृद्धि होती है, न कि विषयके विस्तारमें। ऐसी हालतमें जब जघन्य या मध्यम ज्ञानी निर्ग्रंथ, केवली बनता होगा, तब उसका ज्ञान, श्रुतकेवली बनकर केवली बननेवालोंकी अपेक्षा कम रहता होगा। इतना ही नहीं किन्तु अन्य श्रुतकेवलियोंकी अपेक्षा भी उसका ज्ञान कम होता होगा। क्या केवलियोंके ज्ञानमें न्यूनाधिकता हो सकती है ? क्या किसी केवलीका ज्ञान श्रुतकेवलीसे भी कम हो सकता है ?

उत्तर—आत्मसाक्षात्कार और ज्ञानकी निर्मलताकी दृष्टिसे केवलियोंमें न्यूनाधिकता नहीं होती किन्तु बाह्यज्ञानकी अपेक्षा न्यूनाधिकता होती है। इस बातको मैं दर्पण आदिके उदाहरण देकर साबित कर आया हूँ। इसी दिशामें श्रुतकेवलीसे भी किसी किसी केवलीका बाह्यज्ञान कम हो सकता है।

शास्त्रोंमें जो मुंडकेवलियोंका वर्णन आता है उनकी उपपत्ति भी इसी अर्थमें बैठ सकती है। मुंडकेवली * उन्हें कहते हैं जो अपना उद्धार तो करलेते हैं किन्तु सिद्धान्तरचना नहीं करते, व्याख्यानादि नहीं देते। ये बाह्यातिशयशून्य होते हैं। इन केवलियोंके मूक होने का और कोई कारण

† 'शुक्लेचाद्येपूर्वविदः' तत्त्वार्थ ९-३७। 'पूर्वविदः श्रुतकेवलिनः इत्यर्थः' सर्वार्थसिद्धि। आद्येशुक्लेध्याने पृथक्त्ववितर्केकत्ववितर्केपूर्वविदोभवतः' त० भाष्य ९ ३९।

‡ इस बातका विवेचन पाँचवें अध्यायमें किया जायगा।

※ उदके दंड राजिवत्संनिरस्तकर्माणोंतर्मुहूर्त केवलज्ञान दर्शन प्रापिणो निर्ग्रंथाः। राजवार्तिक ९-४६-४। निर्ग्रंथस्नातकाः एकस्मिन्नेव यथाख्यात संयमे। त० वा० ९-४७-४। निर्ग्रंथस्नातकौ एकस्मिन् यथाख्यातसंयमे। ९-४९ त० भाष्य।

* आत्ममात्रतारक मूकान्तकृत्केवल्यादिरूप मुंडकेवलिनो......। स्याद्वादमंजरी।

नहीं है, सिवाय इस बातके कि उनने श्रुतकेवली हो कर केवलज्ञान नहीं पाया जिससे व्याख्यान आदि दे सकते। ये केवली बाह्यज्ञानमें श्रुतकेवलियोंसे बहुत कम रहते हैं इसलिये इन्हें चुप रहना पड़ता है। इसीलिये इन्हें अतिशय आदि प्राप्त नहीं होते। अगर इनके ज्ञानमें कमी न होती तो कोई कारण नहीं था कि इनका व्याख्यान आदि न होता।

इन शास्त्रीय विवेचनोंसे सर्वज्ञ और केवलज्ञान का अर्थ ठीक ठीक मालूम होने लगता है। और मुंड-केवली, जघन्यज्ञानी निर्ग्रंथ आदिकी समस्याएँ भी हल हो जाती हैं।

"जैनधर्मका मर्म" पर सम्मति।

(२६)

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री० लाला जैनेन्द्रकुमारजी जैन देहली की सम्मति

"श्री० दरबारीलालजीका 'जैनधर्मका मर्म' मैंने जितना पढ़ा है, मुझे बहुत रुचा है। धर्मग्रंथोंके शब्दोंके ऊपर खड़ेहोकर वितण्डा करनेसे नहीं, उनके भीतर पैठकर मनो-योगसे कुछ पाने की साधना करनेसे धर्मका मर्म प्राप्त होता है। दरबारीलालजीके शब्दोंमें वैसी साधनाका आभास है। इसीसे उन शब्दोंमें दृढ़ता है, प्रखरता है, और Conviction है। साथही, उनमें मन की स्वच्छता भी है। आगम ग्रंथोंके प्रमाणवचनोंसे प्रतिपादित और पुष्ट करके उन्होंने जैनधर्मका मर्म वह स्पष्टतासे बता दिखाया है जो सब धर्मों का मर्म है। अंतर है तो रूपका; और कदाचित यह कि जैनधर्म-मत अधिक तर्कस-म्मत है। रूढ़ियों, अहंकृत मान्यताओं, मूढ़ताओं और प्रचलित अविचारोंको मिटाकरके उन्होंने धर्म के खरे रूप को प्रकाश करने की चेष्टा की है। उनका यह यत्न सक्षम, समयोपयोगी और अभिवादनीय है।"

जैनशास्त्रोंमें बौद्धग्रन्थोंकी बातें।

(ले०—श्री० सत्यपालजी जैन)

भगवान बुद्ध और भगवान महावीरके जीवनचरित्रों की जो बातें बौद्ध और जैनग्रन्थोंमें पाई जाती हैं वे परस्पर इतनी अधिक मिलती हुई हैं कि उन्हें एक दूसरेकी नकल कहे बिना नहीं रहा जासकता। चूँकि बौद्धोंके ग्रन्थ जैन शास्त्रोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं इस-लिये स्वाभाविक बुद्धि इस बातकी प्रेरणा करती है कि जैनशास्त्रोंमें जो बातें महावीर स्वामीके सम्बन्धमें कही गई हैं वे अधिकांशमें बौद्ध कथाओंकी ही नकल हैं। परन्तु जैन पण्डित इस बातको नहीं मानते हैं। उनका तो यह कहना है कि बुद्धचरित्रमें जो बातें कही गई हैं वे महावीरके जीवनचरित्रसे ही उद्धृत की गई हैं। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सिवाय जैन मुनि कल्याणविजयजीके कोई जैन लेखक बुद्धनिर्वाणको महावीर स्वामीकी मृत्युसे पहले नहीं मानता, अपितु चालीस पचास वर्ष बाद ही सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। यद्यपि इतिहासकारोंने बुद्ध नि-र्वाणको ५४३ बी० सी० में और वीरनिर्वाणको ५२७ बी० सी० में ठहराया है तथापि जैन लेखक वीरनिर्वाण को ५२७ बी० सी० में और बुद्धनिर्वाणको ४९० से ४८० बी० सी के बीच रखते हैं। बाबू कामताप्रसादजी जैनने "भगवान महावीर" नामक पुस्तकमें बुद्धनिर्वाण को ४८२ बी० सी० में और बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरने "एन एपिटोम ऑफ़ जैनिज़्म" (An Epitome of JainiSm) नामक ग्रन्थमें ४८८ बी० सी० में लिखा है। परन्तु जैन मुनि कल्याणविजयजीने ५४३ बी० सी० में माना है जैसा कि इतिहासकारोंका मत है।

दो कथायें जैन सूत्रोंकी नीचे दी जाती हैं। पाठकों को निष्पक्ष भावसे उनका निर्णय करना चाहिये।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायमें "कल्प सूत्र" नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो प्रायः भाद्रव मासमें जैन मन्दिरोंमें बाँचा जाता है। इस सूत्रमें भगवान महावीरके जन्मका सम्बन्ध लेते हुये उनके पिता सिद्धार्थके विषयमें कहा गया है कि:—

"तब राजा सिद्धार्थ व्यायामशालामें गया। फिर स्नान करके, वस्त्र आभूषण पहनके, पुष्पोंकी मालायें धा-

रण करके, और सुगन्ध लगाके रनवास सहित दस दिन तक राज्यके उत्तराधिकारीके जन्मका उत्सव मनाता रहा।" गाथा १०२।

"भगवान महावीरके मातापिताने राज्यके उत्तराधिकारीके जन्मका उत्सव प्रथम दिन मनाया" गाथा १०४।

डाक्टर हरमन जैकोबी (Dr. Hermann Jacobi)ने कल्पसूत्रकी इन गाथाओंका अंग्रेज़ी अनुवाद इसप्रकार किया है।

The king Siddhartha then went to the hall for gymnastic exercises; (after havingba thed)the king accompanied by his whole seraglio, and adorned with flowers, scented robes, garlands and ornaments,held during ten days the festival in celebration of the birth of a **Heir** to his Kingdom 102.

'The parents of the venerable ascetic Mahavira celebrated the birth of their **Heir** on the first day." 104.

अब प्रश्न यह है कि क्या भगवान महावीर सिद्धार्थके राज्यके उत्तराधिकारी या वारिस थे ?

जैनशास्त्रोंसे पाया जाता है कि सिद्धार्थ राजाके दो पुत्र थे जिनमें बड़े नन्दीवर्द्धन और छोटे वर्द्धमान (महावीर) थे। इनमें बड़े नन्दीवर्द्धन ही गद्दीके वारिस थे और वही सिद्धार्थके बाद रियासतके मालिक बने थे। अभिप्राय यह कि महावीर न तो राज्यके उत्तराधिकारी थे और न सिद्धार्थके बाद गद्दीपर बैठे थे। फिर क्या कारण है कि महावीरको कल्पसूत्रमें सिद्धार्थके राज्यका उत्तराधिकारी लिखा गया।

जिन सज्जनोंने बौद्धधर्मका इतिहास पढ़ा है वे भली भाँति जानते हैं कि बुद्धका जन्म महाराज शुद्धोदनकी वृद्धावस्थामें हुआ था और उनसे पहले कोई सन्तान शुद्धोदनके महलमें पैदा नहीं हुई थी। इसलिये बौद्ध ग्रन्थों में बुद्धको शुद्धोदनके राज्यका उत्तराधिकारी लिखा गया है। क्या कल्पसूत्रका लेख इस बातका अनुमान उत्पन्न नहीं करता कि महावीरको सिद्धार्थके राज्यका उत्तराधिकारी लिखनेमें बुद्धजन्मकी बातें बौद्ध ग्रन्थोंसे नक़लकी गई हैं और नक़ल करते समय इसबातका ध्यान नहीं रखा गया कि महावीरको सिद्धार्थके राज्यका वारिस नहीं लिखना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि जैन पण्डित इस शंकाका समाधान करनेकी कृपा करेंगे।

जैनमुनि कल्याणविजयजी लिखते हैं कि "एकबार श्रेणिक उद्यानयात्रार्थ बाहर गया, जहाँ एक युवक जैन श्रमणका तप और त्याग देखकर वह जैन धर्मका श्रद्धालु हो गया। इसके बाद श्रेणिकको भगवान महावीरका उपदेश मिला और वह दृढ़ जैनधर्मी हो गया"।

जिस युवक जैनश्रमणका तप और त्याग देखकर श्रेणिकको जैनधर्मका श्रद्धालु होना मुनि कल्याण विजय जीने लिखा है उसके सम्बन्धमें "उत्तराध्ययन सूत्र" का बीसवाँ अध्ययन इसप्रकार वर्णन करता है कि—

"एक दिन मगधपति महाराज श्रेणिक सैरके लिये मण्डकुक्षकी बाग़में गये"। २।

"बाग़में राजाने एक जवान जितेन्द्रिय और संयमी साधु को एक वृक्षके नीचे बैठे देखा। साधुका अंग बड़ा कोमल और सुन्दर था और सुखशान्तिमें पला हुआ जान पड़ता था"। ४।

"साधु को देखकर राजा को भारी विस्मय हुआ और उसके आश्चर्यका पार नहीं रहा"। ५।

"राजा मनही मनमें कहने लगा—अहो कैसा तो इसका रंग रूप है, कैसा इसका शरीर है, कैसी इस श्रेष्ठ मनुष्यकी कोमलता है, कैसी इसकी शान्ति है, कैसा इसका संयम है और कैसी भोगोंकी तरफ़से इसकी उपेक्षा है"। ६।

"राजाने विनयपूर्वक साधुके पाँव छूकर शान्तिके साथ हाथ जोड़कर पूछा"—। ७।

"आप युवा अवस्थामें सन्यासी बनगये हैं, यह उमर तो भोग विलासकी है, और आप जितेन्द्रिय श्रमण का धर्म पालन कर रहे हैं। मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ"। ८।

साधुने उत्तर दिया—

"राजन्, मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई रक्षक और सहायक नहीं है"। ९।

राजाने हँस कर कहा—

"महाराज, यह कैसे सम्भव हो सकता है कि आप जैसे महात्माओंका कोई रक्षक न हो"। १०।

"महाराज, मैं साधु महात्माओंका सेवक हूँ, आप निर्भय होकर मित्रों और सम्बन्धियोंके साथ संसारका सुख भोगें क्योंकि मनुष्य शरीर बारबार नहीं मिलता है। ११।

साधुने उत्तर दिया—

"महाराज, आप स्वयम् अनाथ और अरक्षक हैं, आप मेरी रक्षा क्या कर सकते हैं?" १२।

इसके बाद साधुने अनाथ और अरक्षक शब्दकी व्याख्या करते हुये अपनी बीमारीका और त्यागी बनने का हाल कहा और फिर सन्यासाश्रम के नियमों को बताया, जिनको सुनकर राजा धर्मका श्रद्धालु बनगया। (Believer in the Law)

ऊपरके वर्णनमें इस बातका कुछ व्यौरा नहीं है कि राजा कौन से धर्मका श्रद्धालु बना। उपदेशमें साधु ने "जिन" और "निर्ग्रन्थ" दो शब्दोंका नाम लिया है जिनका अर्थ संयमी और विरक्त होना है। सनातन, वैदिक और बौद्ध धर्ममें ये दोनों शब्द उसी तरह काममें लाये गये हैं जिस तरह कि जैनधर्ममें। अमरकोशमें जिन शब्द विशेष करके भगवान बुद्धके लिये आया है।

जिन गाथाओंमे जैन भिक्षुओंकी समितियों और गुप्तियोंका उपदेश जवान साधुने राजा श्रेणिक को बाद्के भीतर दिया है उन्हें डाक्टर हरमन जैकोबी Dr. Herman Jacobi ने क्षेपक बताया है।

"The verses 38—53 are apparently a later addition because the subject treated in them is not connected with that of the foregoing part, and they are composed in a different metre" Page 104.

अश्वघोषमहाकविकृत "बुद्धचरित्र" मे पाया जाता है कि जब तीसवर्षकी उमरमें भगवान बुद्ध सन्यासी बनकर पहले पहल राजगृही गये और घर घर भिक्षा माँगने लगे तो नगरीके लोग उनका रूप रंग और तेज देखकर मारे आश्चर्यके एक दूसरेकी तरफ़ देखने लगे और फिर राजा श्रेणिकके पास जाकर कहने लगे कि "आज नगरीमें एक बड़े ही तेजस्वी महात्मा आये हैं"।

राजा श्रेणिक लोगोंकी बात सुनकर पांडव नामकी पहाड़ी पर, जहाँ महात्मा बैठे हुये थे, गया और देखते ही पहचान लिया कि यह महाराज शुद्धोदनके पुत्र कुमार सिद्धार्थ गौतम हैं। इसके बाद राजा श्रेणिकने कहा,—

"तुम्हारे वंशके साथ मेरी गहरी मित्रता है, इसलिये उस मित्रता और प्रेमके वश, हे पुत्र, मेरी इच्छा कुछ कहने की है। जो कुछ मैं कहूँ उसे ध्यान लगाकर सुनो"।

"जिस समय मैं तुम्हारे सूर्यवंशी कुलकी तरफ़ देखता हूँ और तुम्हारी जवानी पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे इस बातका बड़ा आश्चर्य होता है कि तुम राजपाट का सुख छोड़कर सन्यासी क्यों बनगये? तुम्हारे अंग तो इस योग्य हैं कि इनपर चन्दन और केसर लगाया जाय। तुम्हारा शरीर गेरुआ वस्त्र धारण करने के योग्य नहीं है। तुम्हारे हाथ प्रजाका पालन करने के लिये बनाये गये हैं, न कि दूसरोंसे भिक्षा माँगनेके लिये। पुत्र, यदि तुम किसी कारणवश अपने पैत्रिक राज्यका शासन करना नहीं चाहते तो मेरा आधाराज्य तुम्हारे लिये तय्यार है, इसपर राज्यकरो या मेरे सेनापति बनकर शत्रुओंका दमन करो। तुम्हारे शरीरपर कषायवस्त्र देखकर मेरी छाती फटी जाती है और नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगती है। धर्मशास्त्रोंके अनुसार सन्यासाश्रमका पालन तो वृद्धावस्थामें करना चाहिये; और यदि तुम्हारी इच्छा धार्मिक जीवन व्यतीतकरने की है तो यज्ञ करो क्योंकि यज्ञ करना क्षत्रियोंका परमधर्म है। स्वर्ण सिंहासन और रत्नजड़ित मुकटको धारण करते हुये भी राजा लोग यज्ञोंके द्वारा उसी परमपदको प्राप्त करलेते हैं जिसको कि साधु सन्यासी तप और संयमके द्वारा पाते हैं"।

"मगधपति महाराज श्रेणिककी प्रेमभरी बातें सुनकर शाक्यसिंह गौतम मुनि कैलाशपर्वत की तरह अचल रहे और मन में किसी प्रकारकी करुणा नहीं लाये।"

क्या उत्तराध्ययन और बुद्ध-चरित्रकी उपरोक्त कथाओं को सुनकर इसबातका अनुमान नहीं होता कि जिस

जवान साधुके साथ महाराज श्रेणिकने बागके भीतर बातें की थीं वह वास्तवमें भगवान बुद्धही थे।

महावीर स्वामीका जन्म ५९९ बी० सी० में, दीक्षाका लेना ५६९ बी० सी० में, केवलज्ञानका प्राप्त करना ५५७ बी०सी० में और निर्वाणका पाना ५२७ बी०सी०में माना जाता है। जैनमुनि कल्याणविजयजी लिखते है कि पहिले तो श्रेणिक राजा बागके अन्दर जैनसाधुका उपदेश सुन कर जैन धर्मके श्रद्धालु बने थे और जब ४२ वर्षकी उमरमें भगवान महावीर ५५७ बी० सी० में राजगृही गये थे तो महाराज श्रेणिक पक्के जैनी बन गये थे। परन्तु मुनिजीने इस बातपर कुछ प्रकाश नहीं डाला कि बागमें जिस जैन साधुको देखकर महाराज श्रेणिक जैनधर्मके श्रद्धालु बने थे वह कौन था और किससमय श्रेणिक महाराजने उससे मुलाकात की थी। बाबू कामताप्रसादजी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तकमें कहते हैं कि "महाराज श्रेणिक पहले तो बौद्ध थे परन्तु समवशरण सभाकी रचना (५५७ बी०सी०) से पहले अपनी रानी चेलनाके कहनेसे जैनी बनगये थे। श्रेणिकका शासनकाल ५४३ से ४९१ बी०सी० तक था। अजातशत्रु ४९१ में राजा बना था। यह भगवान महावीरका बड़ा पक्का भक्त था। जब भगवान उसकी राजधानी चम्पामें गये तो उसने बड़ी धूमधामके साथ स्वागत किया था। भगवान महावीरका निर्वाण ५२७ बी० सी०में और बुद्धका ४८२ बी० सी० में हुआ था। प्रश्न।

(१) जब बुद्धका निर्वाण ४८२ बी० सी० में हुआ था तो ५५७ बी० सी० से पहले श्रेणिक किसके पास जाकर बौद्ध बना था?

(२) जब वीरनिर्वाण ५२७ बी० सी० में हो चुका था तो ४९१ बी० सी० में राजा बननेवाले अजात शत्रु ने भगवानके राजधानी में पधारते समय स्वागत कैसे किया होगा।

सम्पादकीयनोट—बुद्धनिर्वाण संवत् और महावीरनिर्वाण संवत् एक ऐसी पहेली है जो अभी तक सुलझ नहीं सकी है। बौद्ध और जैन ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि महात्मा बुद्धके बुद्धत्व कालमें श्रेणिकराज्य करते थे और उसके बाद कुणिक भी राज्य करते थे। इसी प्रकार भगवान महावीरके राज्यकालमें भी दोनोंका राज्य काल आता है। यदि अजातशत्रुका राज्यकाल ४९१ बी० सी० से शुरू होता है और बुद्धनिर्वाण ५४३ बी० सी० में मानाजाय तो बौद्ध ग्रन्थोंके इस वर्णनसे विरोध आता है कि अजातशत्रु राजा होकर बुद्धके दर्शनोंको गया था। ४८२ बी० सी० में बुद्धनिर्वाण मानना भी ठीक नहीं मालूम होता। महावीरनिर्वाण ५२७ बी० सी० में माननेमें जैन लेखक और जैनेतर ऐतिहासिक विद्वान् एकमत हैं। बुद्धनिर्वाणका काल ज़रूर झमेलेमें पड़ा है। बौद्ध विद्वानोंमें भी इस विषयमें बड़ा भारी मतभेद है। राहुल सांकृत्यायनने तो ६० वर्ष कम कर दिये हैं। श्रेणिक पहिले बौद्ध था, फिर जैन बना—इस बातपर विशेष ज़ोर नहीं दिया जासकता है। ऐसी कथाएँ तो दूसरे धर्मोंको नीचा दिखानेके लियेभी कल्पितकी जासकती हैं। श्रेणिक का शासनकाल अगर ५४३ से ४९१बी० सी० तक माना जाय तो समस्या और भी जटिल होजाती है। अजातशत्रु का राजत्वकाल ५२७ बी० सी० से पहिले जाना चाहिये। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते है कि ५२७ बी० सी० में महावीरनिर्वाण माननेमें जो आपत्ति है वह ५४३ बी० सी० में बुद्धनिर्वाण माननेमें और भी बढ़ जाती है।

लेखकने जैनशास्त्रोंमें बौद्धग्रन्थोंकी बातें बतलाई है परन्तु जो दो उदाहरण दिये हैं वे पर्याप्त और स्पष्ट नहीं हैं। जैन और बौद्धग्रन्थोंका मिलान इससे भी ज्यादः है और कहीं कहीं तो इतना स्पष्ट है कि कहना ही पड़ता है कि अमुक बात बौद्ध ग्रंथोंकी ही है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैनियोंका साहित्य बौद्ध साहित्यके आधार पर बना है। बौद्धोंमें भी जैनियोंकी बहुतसी बातें गई हैं। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि दोनोंने ही किसी तीसरी जगहसे और उस समय के वातावरणसे ली हैं। महावीरको उत्तराधिकारी क्यों कहा, इसका कारण बिना गहरी जाँच किये नहीं बताया जासकता। फिर भी बौद्ध और जैनग्रन्थोंकी वर्णनशैली पर ध्यान देनेसे कुछ स्पष्टीकरण होसकेगा। इन दोनों धर्मोंके साहित्यमें राजा, रानी, राजकुमार आदिके वर्णन सर्वत्र एक सरीखे मिलते हैं। एक राजकुमारके वर्णन में जो बात लिखी जाती है वही दूसरेके साथ भी लगा दी जाती है। एक राजकुमारके वर्णनमें उत्तराधिकारित्व आवे और वह महावीरके वर्णनमें भी लगाया जावे, यह सम्भव है। लेखकके वक्तव्यमें यद्यपि पुष्ट प्रमाण नहीं है फिरभी यह बात निश्चित है कि जैन-बौद्ध साहित्यमें परस्पर बहुतसा आदान-प्रदान हुआ है।

वर्णव्यवस्थापर शास्त्रार्थ।

ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजीने वर्णव्यवस्थाके विषयमें मुझे चैलेञ्ज दिया था। मैंने उसे तत्काल ही स्वीकार कर लिया था। पाठक जगत्के १२वें अङ्कमें यह समाचार पढ़ चुके हैं। उसके बाद जो पत्रव्यवहार हुआ उसकी नक़ल यहाँ दी जारही है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एक माससे अधिक व्यतीत हो चुकने पर भी ब्रह्मचारीजीने मुझे जवाब तक नहीं दिया। तारीफ़ तो यह है कि ब्रह्मचारीजी ने अपने पहले पत्रमें और यहाँ तक कि लिफ़ाफ़े पर भी हिन्दी और अंग्रेज़ीमें Most Urgent और "परम आवश्यक" की दुहरी मोहरें मारी थीं, पर अब रिमाइण्डर पाकर भी आपकी आँखें नहीं खुली हैं। पाठक इस चुप्पीका अर्थ स्वयं समझ सकेंगे।

सच बात तो यह है कि ये रूढ़िपूजक लोग जनताके सामने आडम्बर बताकर उसे प्रभावित कर अपना मतलब गाँठते हैं। न तो इन्हें अपने पक्षकी सत्यतापर पूर्ण विश्वास होता है और न सुधारकोंका सामना करनेकी हिम्मत ही होती है। यही कारण है कि ये लोग बारम्बार शास्त्रार्थके लिए उछल-कूद मचाते हैं पर जब शास्त्रार्थका मौक़ा आ पहुँचता है तो किसी प्रकार उसे टाल देते हैं। विजातीय-विवाह आदि कई मामलोंमें ऐसा होचुका है। जिसमें थोड़ी सी भी सामान्य बुद्धि है, वह रूढ़िपूजकोंकी इस चालको भलीभाँति समझ सकेगा।

हम फिरभी ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजीको सूचित करते हैं कि यदि आपमें कुछ भी हिम्मत हो तो अब भी मैदानमें आइए और मेरे जिन व्याख्यानों एवं लेखों को आप धर्मविरुद्ध समझते हैं और जिनके आधार पर आपने चैलेञ्ज दिया है, उनका सप्रमाण खण्डन कीजिए। ता० १५-५-३३

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ।

पत्रों की प्रतिलिपि

[१]

(भ्रमण में) श्रीदिगम्बर जैन मन्दिरजी
केसरगंज (अजमेर-रा०स्था०)
११ आप्रिल १९३३ ईसवी

सेवा में—

श्रीयुत पण्डित शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ, योग्य,
सम्पादक "वीर"
वर्त्तमान, शहर अजमेर
(राजस्थान)

प्रिय पण्डितजी—जयजिनेश।

गत कल (१० आप्रिलकी) रात्रिको श्रीजैन-युवक मण्डल अजमेरकी ओरसे सेठ अमरचन्दजी तापड़ियाके नोहरे (खजांचियान गली) में 'वीर भगवानका संदेश" सुनानेके अर्थ जो व्याख्यान सभा हुई थी उसके (! में) अपने व्याख्यानमें जैनधर्मकी समता सिद्ध करते हुए आपने जो यह कहा था कि जैनधर्ममें उच्चता और नीचता का कोई भेद नहीं; भगवान् ऋषभदेवकी स्थापितकी हुई वर्णव्यवस्था केवल सामाजिक दृष्टिसे है, धार्मिक दृष्टिमें उसका कोई उपयोग नहीं; शूद्रों और यहाँ तक कि उसके अस्पृश्य समझे जानेवाले वर्गको भी धर्ममें सब अधिकार हैं और वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके, अनुसार ही भगवान्की पूजा प्रक्षालादि सर्व कृत्य कर सकते हैं, अस्पृश्यता जैनधर्ममें है ही नहीं, आदि आदि, वह केवल हमको ही नहीं वरन् अधिकांश जैनसमाजको जैनशास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत होता है।

आपने इसी प्रकारकी बातें यहाँ केसरगंजके अपने ७ आप्रिलके व्याख्यानमें भी कहीं थीं और आपके यहाँ इन दोनों व्याख्यानोंसे सभामें बड़ा क्षोभ व असन्तोष उत्पन्न होगया था जो कि कठिनाईसे शान्त किया जा सका।

इसके सिवाय आपके दो एक लेख भी समा-

चारपत्रोंमें ऐसेही देखनेमें आये जिनसे कि आपके ये विचार दृढ़ हुए प्रतीत होते हैं।

अपने इन निजू विचारोंको जब आप जैनशास्त्रों के या जैनशास्त्रोंके अनुसार सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं तब लोगोंका क्षोभ व असन्तोष बहुत ही बढ़ जाता है और आपके एक श्री दिगम्बरजैन धर्मानुयायी व विद्वान होनेके कारण लोगोंको उनके प्रतिवादकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

तदनुसार हमको बड़े दु:खके साथ कल रात्रिकी सभामें आपका प्रतिवाद करनेको विवश होना पड़ा था और उसी समय इन विचारों पर हमारा व आपका शास्त्रार्थ होना भी निश्चित होगया था।

हम व अधिकांश उपस्थित लोग यह चाहते थे कि इस शास्त्रार्थके नियमादि भी उसी समय निश्चित होजाते और यह शीघ्रसे शीघ्र होजाता।* पर आपके अनुरोधसे यह बात किसी दूसरे समयके अर्थ स्थगित कर दी गई थी।

हमको ज्ञात है कि आपके विचारोंके अनेक मनुष्य श्रीदिगम्बर जैन समाजमें भी हैं और यह शास्त्रार्थ किसी व्यक्ति विशेषकी जीत-हारके लिए नहीं वरन् सत्यासत्य निर्णयार्थ हो रहा है। अतः किसीको भी किसी बातकी शिकायत न रहे इस कारण इस शास्त्रार्थको हम व्यक्तियोंके मध्य न रखकर जिम्मेदार संस्थाओंके द्वारा होना उचित समझते हैं।

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैनशास्त्रार्थ संघके एक सेवक और उसके शास्त्रार्थ विभागके मंत्री होनेके कारण जो अधिकार हमको हैं, उनके आधार पर हम आपको सूचित करते हैं कि अब यह हमारा व आपका निश्चित शास्त्रार्थ श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ द्वारा होगा और यदि आप उचित समझें तो इसको आप अपने समान विचार रखनेवाली किसी संस्था द्वारा करें।

इस शास्त्रार्थ सम्बन्धी नियमादि तो जितने शीघ्र निश्चित होजावें उतनाही अच्छा है और यह शास्त्रार्थ सब बातोंका विचारकर ऐसी शान्तिपूर्ण परिस्थितिमें होवे जिससे कि वस्तुस्वरूपका निर्णय होसके।

हम समझते हैं कि इसमें आपको कोई आपत्ति कदापि न होगी और आवश्यक नियमोंके निर्णयार्थ आप हमको शीघ्र ही अपने पास बुलाने या हमारे पास आनेकी कृपा करेंगे।

हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि यद्यपि हम वस्तुस्वरूपनिर्णयार्थ वादी-प्रतिवादी रूपमें बँट गये हैं और कुछ समय तक रहेंगे, पर फिर भी हमारे व आपके जो सौहार्द व सहधर्मीपनका भाव है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा है और न पड़ेगा ही।

ऐसी ही आशा हम आपसे भी रखते हैं।

पत्र पाते ही आप हमको यह लिखने का कष्ट करिये कि इस शास्त्रार्थके सम्बन्धमें आप हमसे कब मिलते या हम को अपने पास कब वहाँ बुलाते हैं।

भवदीय प्रतिपक्षी—
(Sd.) Digvijaysinh
(ह०) दिग्विजयसिंह

[२]

ब्रह्मचारीजी के पत्र का उत्तर

श्री जैनगुरुकुल, ब्यावर
हाल-अजमेर
१४।४।३३

श्रीमान् ब्रह्मचारी कुँवर दिग्विजयसिंहजी साहब,
सादर वन्दन।

ता० ११ एप्रिलका पत्र स्वयं आपके द्वारा ता० १३ की सन्ध्याको प्राप्त हुआ। मैं बड़ी उत्सुकतासे आपके पत्रकी प्रतीक्षा कर रहा था और इस विलम्बको देख कर निराशप्राय: हो चुका था। ऐसी स्थितिमें पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

*बलिहारी है आपकी शीघ्रताकी कि एक महीनेसे अधिक व्यतीत होगया और पत्रका उत्तर अबतक नदारद है। —दौ० चं०।

आपने पत्र लेकर स्वयं पधारनेका कष्ट किया था पर खेद है कि दो-एक शिष्टाचारकी बातें होते ही आप मेरे यहाँ से वापिस चले गये, अन्यथा आपके और मेरे बीच जो शास्त्रार्थ होना तय हो चुका है, उसके सम्बन्धमें यहीं वार्तालाप होजाता और इस प्रकार सहज ही विलम्बसे बचा जा सकता था। मैं चाहता हूँ कि शास्त्रार्थ शीघ्रसे शीघ्र प्रारम्भ हो सके।

आपने शास्त्रार्थके नियमादि तय करनेको लिखा है, परन्तु शास्त्रार्थसंघ अम्बालाकी ओर से अन्य व्यक्तियोंको दिये गये कई चैलेञ्जोंका हाल मुझे ज्ञात है, जिनमें नियमादि-निर्णयके ही लिए लम्बी-चौड़ी लिखा पढ़ी करके असली चर्चास्पद विषयको दबा दिया गया है। इस आधारपर मैं आपसे निवेदन करूँगा कि इस समय भी ऐसा ही न हो और व्यर्थ की उलझनें न डालकर आवश्यक बातोंका निर्णय करके शीघ्र शास्त्रार्थ आरम्भ हो जाय, ऐसा करें।

शास्त्रार्थके सम्बन्धमें दो ही बातें तय करनी है और वे यह हैं:—

(१) प्रत्येक पक्ष कितने दिनोंके भीतर अपना लिखित वक्तव्य एक दूसरेके पास भेज दे ? और

(२) दोनों ओरके वक्तव्य सर्वसाधारणकी जानकारीके लिए प्रकाशित किये जाँय या नहीं ? किये जाँय तो किस प्रकार ?

पहले प्रश्नके उत्तरमें मेरे खयाल से १५ दिनका समय ठीक होगा। आप अपनी भी सुविधाको देख-कर लिख सकते हैं। कारणवश कोई पक्ष अपना वक्तव्य इस समयमें न भेजसके तो वह सूचना दे देगा। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें मैं आवश्यक समझता हूँ कि शास्त्रार्थ प्रकाशित अवश्य होना चाहिए। यदि आप अपने पक्षके अनुकूल नीति रखनेवाले किसी पत्रको तैयार कर सकें, जोकि दोनों ओरके वक्तव्योंको छाप दे, तो अच्छा है। अन्यथा "जैन-जगत्" के संचालक दोनों पक्षोंको प्रकाशित करनेके लिए तैयार हैं अतः उसमें छपाए जाँए। अस्तु! दोनों प्रश्नोंपर विचार कर शीघ्र ही उत्तर प्रदान करनेकी कृपा करें।

आपने यह पत्र लिखा तो है शास्त्रार्थके नियम आदि तय करनेके लिए, पर इसमें भी युक्ति-प्रमाण शून्य, निराधार विचार मेरे व्याख्यानों और लेखों के सम्बन्धमें प्रकट कर दिये हैं। यह कहाँ तक उचित है और इसका भीतरी आशय क्या है, सो पत्र प्रकाशित होने पर विद्वत्समाज भली भाँति समझ लेगा।

मैंने ता० ७ और १० एप्रिलके व्याख्यानोंमें शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह स्पष्ट रूपसे बतलाया है कि जैन दृष्टिसे वर्णव्यवस्था धार्मिक नहीं, किन्तु सामाजिक है, वह सामाजिक सुविधाके लिए स्थापित की गई है। निःसन्देह मैंने यह भी कहा है कि शूद्रोंको जिनपूजन करने का भी अधिकार है। ये बातें सिद्ध करने के लिए मैं सदा तत्पर हूँ। पर, वर्णव्यवस्था धार्मिक नहीं है—यह सिद्ध होने पर शेष बातें स्वतः सिद्ध हो जाएँगी, क्योंकि वर्णव्यवस्था ही उनकी जड़ है। अतः मुख्य विषय शास्त्रार्थका 'वर्णव्यवस्था धार्मिक है या नहीं"—यही रहना उचित है और यही मेरे व्याख्यानोंके उस भागका प्रधान वक्तव्य था।

आपने यह लिखकर कि मेरे व्याख्यानकी ये बातें अधिकांश जैन समाजको शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत हुई, कमाल किया है। मैं नहीं समझ सकता कि आपके इस भ्रमपूर्ण खयाल का क्या आधार है ? सचाई तो इससे बिलकुल विरुद्ध प्रतीत होती है। ता० १० के व्याख्यानके पश्चात् कितने ही परिचित और अपरिचित व्यक्तियोंने मुझे बधाई दी है। यह बात मैं आपके भ्रमको दूर करनेके ही लिए लिखने को विवश हुआ हूँ।

आप जवाबदार संस्थाओं द्वारा शास्त्रार्थ करना चाहते हैं और इसीलिए शास्त्रार्थसंघको यह सुपुर्द

कर रहे हैं, मगर शास्त्रार्थसंघका स्थान जनताकी दृष्टिमें क्या है और वस्तुतः वह कितना उत्तरदायित्व रखता है, इस पर स्पष्ट लिखनेसे एक जुदाही विषय हो जायगा; फिर भी इतना कहना आवश्यक समझता हूँ कि मेरी दृष्टिमें शास्त्रार्थसंघ आपसे अधिक जिम्मेवर नहीं है।

शास्त्रार्थमें प्रमाणोंकी प्रबलता और निर्बलतासे सत्यासत्यका निर्णय होगा, न कि संस्थाओं द्वारा शास्त्रार्थ होने से। अतः संस्थाओंको बीचमें डालने की कुछ भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। चैलेंज भी आपने व्यक्तिगत रूपसे दिया है। उस समय संस्थाओं द्वारा करानेका कोई जिक्र नहीं किया था। फिरभी यदि आप शास्त्रार्थसंघकी ओरसे ही शास्त्रार्थ करनेको विवश हों तो मुझे उसमें कोई आपत्ति भी नहीं है।

आप यह खातिर जमा रखें कि आपके व मेरे व्यक्तिगत सम्बन्धमें इस मतभेदके कारण कोई भेद न पड़ेगा।

मैं समझता हूँ कि पत्र द्वारा सब बातें तय हो जाएँगी। फिर भी यदि आपको मिलनेकी ही आवश्यकता प्रतीत हो तो लिखियेगा।

भवदीय,
शोभाचन्द्र भारिल्ल।

[३]

रिमाइण्डर।

जैन गुरुकुल, ब्यावर
२८-४-३३

श्रीमान् ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजी साहब,
सादर वन्दन

बहुत प्रतीक्षाके पश्चात् आपका पहला पत्र ता० १३-४-३३ को प्राप्त हुआ था। उसका उत्तर ता० १५-४-३३ को दिया जाचुका है। खेद है कि आज १४ दिन व्यतीत होनेपर भी आपकी ओरसे कुछभी उत्तर न मिला। ता० २६-४-३३ तक मैं अजमेरमें ही रहा, अब यहाँ आ गया हूँ।

आपने भरी सभामें वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें चैलेञ्ज देनेका साहस किया था। मैंने उसी समय उसे स्वीकार कर लिया था। अब इस प्रकार मौन-साधन करके शास्त्रार्थसे बचनेका प्रयास करना कहाँ तक उचित है, सो कहनेकी आवश्यकता नहीं। यदि आपको अपने पक्षकी सत्यतापर अबभी विश्वास हो तो एक सप्ताहके भीतर-भीतर मेरे ता० १४-४-३३ के पत्रमें उल्लिखित दोनों प्रश्नोंपर अपनी सुविधा देखकर प्रकाश डालिये। किमधिकम्।

भवदीय,
शोभाचन्द्र भारिल्ल

श्री शांतिसागरसंघमें फूट।

चन्द्रसागरजीका दुराग्रह।

लोहरसाजनोंके सम्बंधमें 'जैनजगत्' में पहिले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ये लोग जैनी खण्डेलवाल हैं और इनका सब प्रकारका लौकिक, सामाजिक व धार्मिक आचार-व्यवहार बड़साजन खण्डेलवालोंका सा ही है। दोनोंमें कच्ची पक्की रोटी का व्यवहार बराबर चालू है, पर आपसमें बेटी-व्यवहार नहीं है, हालाँकि दोनों समाजोंमें गोत्र सब यकसाँ हैं। लोहरसाजन खण्डेलवालोंके घर संख्या में कम होनेसे उन्हें वैवाहिक सम्बंध ढूंढनेमें काफ़ी दिक्कत पड़ती है। इसी खयालसे एक दफ़ा जयपुर की दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पंचायतमें लोहरसाजनों के साथ बेटीव्यवहार भी जारी करदेनेके बारेमें काफ़ी चर्चा उठी थी, पर फिर क्रियाशीलताके अभावमें वह कार्यरूपमें परिणत न हुई। अब लोहरसाजनोंने फिर इस चर्चाको उठाया है और इसी विषयको लेकर पहिले रैणवालके खण्डेलवाल महासभा (!) के

अधिवेशनमें काफ़ी झगड़ा हुआ और अब शांतिसागर संघमें फूट होकर टुकड़े हो गये हैं।

मुनि (!) चंद्रसागर, जब खुशालचंद नामधारी गृहस्थ थे, तभीसे न मालूम क्यों, लोहरसाजन खंडेलवाल जैनसमाजके विरुद्ध हैं। इन्होंने जगह जगह प्रापैगेंडा कर यह बात फैलाई कि लोहरसाजनोंका बड़साजनोंके साथ रोटीव्यवहार भी नहीं है और इसीलिए त्यागी लोग इनके यहाँ आहार नहीं लेसकते। रोटीव्यवहार न होनेकी बात सर्वथा मिथ्या है, पर ये तो एक नम्बरके दुराग्रही महात्मा ठहरे। इन्हींके कारण तथा अपनी कुलीनताकी छाप जमानेकी फिक्र में शांतिसागरसंघके साधु व त्यागियोंने लोहरसाजन खण्डेलवालोंके यहाँ आहार लेना बंदकर रखा था। इन बेचारोंको यह बात बहुत खटक रही थी और इन्हें यह चिंता थी कि बड़साजन खंडेलवालोंके साथ बेटीव्यवहार जारी होना तो दूर, यहाँ तो रोटीव्यवहार भी कि जो परम्परासे चला आ रहा है, बंद होनेकी तैयारी हो रही है। इस लिए रैणवाल अधिवेशनके बाद वे भी इस चिंतामें रहे कि किसी तरह हमारे यहाँ इन मुनियों (!) का आहार होने लग जाय और इसके लिए हर तरहकी कोशिश करते रहे। आखिर डिग्गीमें जाकर उन्हें इस काममें सफलता मिल ही गई।

संघ मिती बैसाख बुदि १० को सवेरे डिग्गी पहुँचा। वहाँ पर लोहरसाजनोंका थोक जियादा है। डिग्गीके जैनसमाजकी हालतके बारेमें पूछने पर शांतिसागरजीको मालूम हो गया कि यहाँ पर भी लोहरसाजनों और बड़साजनोंमें आपसमें बेटीव्यवहारके अलावा सब प्रकारका व्यवहार समान रूपसे है। दूसरे दिनसे वहाँके लोहरसाजनोंमें से भी एकने चौका लगाना शुरू कर दिया, पर तीन चार दिन तक उनके यहाँ आहार नहीं हुवा। इसी बीच में डिग्गीके जैनियोंने वहाँपर मेला करनेका विचार कर लिया और सेठ गोपीचन्दजी ठौलिया जयपुरवालोंकी सिफ़ारिश पर शान्तिसागरजी ने बैशाख सुदि ५ तक डिग्गीमें ठहरने की स्वीकारता दे दी। बैशाख बुदि १४ को लाला प्यारेलालजी सेठी (लोहरसाजन) ने श्री शान्तिसागरजी से लोहरसाजनोंके यहाँ किसी भी त्यागीका आहार न होने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि "हम तो खण्डेलवाल हैं नहीं; चन्द्रसागर व वीरसागर खण्डेलवाल हैं। अगर ये लोग तुम्हारे यहाँ आहार लेने लग जावें तो फिर हमें कोई आपत्ति नहीं।" दूसरे ही दिन यानी अमावस्याको वीरसागरजीका आहार नाथूलालजी सेठी लोहरसाजन डिग्गीवाले के यहाँ हो गया। यह खबर सुनते ही चन्द्रसागरजी आगबबूला हो गये और उन्होंने लोगोंको भड़काना शुरू कर दिया।

दूसरे दिन यानी बैसाख सुदि १ को शांतिसागरजी दर्शन करने का नाम लेकर चाँदसेण नामक ग्राम को चले गये और यह कह गये कि हम शाम को वापिस लौट आयेंगे। श्रुतसागरजी भी उनके पीछे पीछे चाँदसेण जा पहुँचे। चाँदसेणकी जैन जनता ने आहार बनाने की इजाजत चाही, पर जब शांतिसागरजी ने उन्हें शूद्रजलत्याग वाली शर्त सुनाई तो सब लोग इनकार होगये। आखिर शान्तिसागरजी वहाँ से मालपुरा को रवाना होगए और श्रुतसागरजीको उन्होंने यह कह कर डिग्गी वापिस भेज दिया कि हम कल तक लौट कर डिग्गी आते हैं, तुम सब वहींपर रहना। इस प्रकार श्रुतसागर उसी दिन शाम को डिग्गी जा पहुँचे और शांतिसागरजी मालपुरा पहुँचे। उधर डिग्गी में तीसरे पहर चंद्रसागर और वीरसागर दोनों में लोहरसाजनों के यहाँ आहार लेने के विषयमें खूब झगड़ा हुआ। ग़नीमत इतनी ही हुई कि मारपीट तक की नौबत नहीं पहुँची; बाक़ी और सब कुछ हुआ। आखिर सामायिक का

समय आने पर दूसरे मुनियों के बीच बचाव करने पर ये लोग सामायिक करने के लिए हट गये। रात को बोल नहीं सकते थे, पर अब चंद्रसागरजी को श्रुतसागरजीके आजानेका हाल मालूम हुआ तो उन्होंने स्लेट पर लिखकर श्रुतसागरजीसे पूछा कि आचार्य (!) क्यों नहीं आये। उत्तरमें श्रुतसागरजी ने लिख दिया कि वे मालपुरा गये हैं और कल आयेंगे और यह कहा है कि तुम सब वहीं ठहरना। इसे पढ़कर चन्द्रसागरजीने श्रुतसागरजी को लिखा कि शायद वे अब न आयें इसलिए मैं भी प्रातःकाल मालपुरा जाऊँगा। तुम्हें चलना हो तो तुम भी चले चलना। इसके बाद रातको विश्राम हुआ।

दूसरे दिन सबेरे ६ बजे ही क्षुल्लक ज्ञानसागर जी व यशोधरजी मालपुराके लिए रवाना होगये। शायद ये इसलिए जल्दी गये हों कि चन्द्रसागरजी मालपुरा पहुँचकर शांतिसागरजीको उलटा सीधा भरें उसके पहिले ही मिलकर हम लोग अपनी बात जमा दें। खैर, पीछे पीछे चन्द्रसागरभी जा पहुँचे। दोनों क्षुल्लक आचार्य महाराज (!) से बातचीत कर डिग्गी लौट आये। चन्द्रसागरजी ने भी काफी देर तक बातचीत की और कहा कि वीरसागरजीने लोहरसाजनोंके यहाँ भोजन लिया है अतः उन्हें प्रायश्चित देना चाहिये। शांतिसागर जीने लोहरसाजनोंका पक्ष लेते हुये इसके खिलाफ सब तरह की दलीलें दीं, पर चन्द्रसागर तो रँगे हुये थे। वे कब सुनते थे ?

उधर डिग्गीके पंचोंको आचार्य महाराज (!) के न लौटनेसे थोड़ी चिन्ता हुई और कुछ लोग उन्हें लाने मालपुरा पहुँचे। शांतिसागरजीने कहा कि मैं तो इधर सिर्फ दर्शनके लिए आया था और लोहरसाजनोंके यहाँ वीरसागरजीका आहार हो जानेसे मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं परसों डिग्गी आऊँगा और तुम चन्द्रसागरसे भी डिग्गी चलने के लिए कहो। लोग वहाँ से उठकर चन्द्रसागरजी के पास पहुँचे और उनसे डिग्गी चलनेको कहा, पर उन्होंने कहा कि तुम लोहरसाजनोंसे रोटीव्यवहार बन्दकर देनेका वादा करो तो मैं डिग्गी चल सकता हूँ, वरना नहीं। यह सुनकर लोग ऐसा करनेसे इन्कार कर लौट आये। उधर डिग्गीमें ज्ञानसागरजीने भी लोहरसाजनोंके चौकेमें आहार ले लिया।

बैसाख सुदि ४ को मालपुरामें चन्द्रसागरजीने शान्तिसागरजीसे फिर झगड़ा शुरू किया कि लोहरसाजनोंके यहाँ संघके लोगोंका आहार रोको और उनका पक्ष मत लो, वरना यह मुझे बर्दाश्त नहीं है और मैं संघसे अलग हो जाऊँगा। शान्तिसागरजी ने पहिले तो उन्हें समझाया, पर आखिर उन्हें चन्द्रसागरजीको यही कहना पड़ा कि हमको तो कहना था सो कह चुके, अब तुम्हारी मर्जी हो सो करो। इसके बाद दोनों सामायिकके लिए चले गये। सामायिकके बाद चन्द्रसागरजी तो उपदेश देने चले गये और उधर शान्तिसागरजी एक आदमीको साथ लेकर पँवालिया नामक ग्रामको चल दिये और डिग्गीमें नहीं आये, हालाँकि वे दो दफा इसके लिए वचन दे चुके थे।

दूसरे दिन डिग्गीके लोगोंको जो यह मालूम हुआ कि महाराज डिग्गी न आकर पँवालियाकी ओर चल दिये हैं तो २-४ आदमी उन्हें लाने पँवालिया की ओर चले, पर महाराज रास्तेमें ही टोरड़ी नामक ग्रामके पास ही मिल गये। लोगोंने महाराजसे डिग्गी चलनेके लिए कहा, पर वे इन्कार होगये। लोगोंने हठ पकड़ी और रास्ता रोक लिया और डिग्गी जानेके लिए अर्ज करने लगे, पर महाराज भी कब सुनते थे ? उन्होंने भी सत्याग्रह किया और वहीं रास्तेमें ही बैठ गये और बोले कि तुम भी बैठे रहो और मैं भी बैठगया हूँ। आखिर उनका हठ देख कर लोगोंने धीरे धीरे अपना रास्ता लिया। इसके

पत्रके निकालनेकी आवश्यकता हुई है। यह पत्र क्या करेगा, क्या न करेगा, यह तो भविष्यके गर्भमें है; परन्तु इससे यह बात अवश्य ही सिद्ध हुई है कि वर्तमानके पत्र जैनजगत् के विरोध करनेमें असमर्थ रहे हैं। इससे भी जैनजगत् के गौरवका पता लगता है। जैनजगत्के गौरवकी घोषणा करनेके लिये विरोधी बन्धुओंको बधाई !

एक बालाका मनोबल।

बंगालमें कामिनी कुमार सान्यालपर इसलिये मुकद्दमा चलाया गया कि उसने एक विवाहिता बालाको भगाया था। वह नवयुवति उसके साथ ही थी। उसने अदालतमें निर्भयतासे कहा—

"सान्यालका इसमें कोई दोष नहीं है। जब मेरे माता पिता बाहिर गये तब मैं स्वयं सान्यालकी दूकानपर पहुँची और उसके साथ जानेका प्रस्ताव किया। मैं स्वयंही उसके साथ गई थी, क्योंकि हम पति-पत्नीके रूपमें रहना चाहते थे। इसीप्रकार हम गत आठ माससे रह रहे हैं।"

इस लड़कीकी उमर १४ सालकी है। इसका विवाह तीन सालकी उमरमें करदिया गया था जोकि अनमेल था। जब उसने होश सम्हाला तब उसने अनमेल पुरुष के बन्धनमें अपनेको बँधा पाया। समाज उसकी आवाज़ सुननेको तैयार न थी, इसलिये उसने अपना रास्ता आप निकाला। हम यह नहीं चाहते कि कोई विवाहित स्त्री इसप्रकार स्वच्छंदतासे भाग निकले; परन्तु प्रश्न यह है कि तीन वर्षकी उमरमें क्या किसी बालिकाका विवाह होसकता है? माँ-बापको बालाकी इच्छा जाने बिना क्या चाहे जिसके साथ बाँधदेनेका हक़ है? विवाह अगर ज़िम्मेदारीकी क्रिया नहीं है तो उसे तोड़नेमें बाधा नहीं होनी चाहिये और अगर उसमें उत्तरदायित्व है तो बालिका की इच्छा जाने बिना उसके ऊपर कोई ज़बर्दस्तीसे कैसे लादसकता है? विवाहकी परिभाषा इन बालविवाहोंमें आतीही नहीं, इसलिये उसे वास्तवमें विवाहित नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्थामें उसे मनचाहे युवकके साथ जानेका और गांधर्वविवाह करनेका हक़ है। इसे पुनर्विवाह नहीं कह सकते। इसीप्रकार उन बालिकाओंका विवाह, वास्तविक विवाह नहीं कहा जासकता जो कि उनके कसाई माँ बापों ने पैसा लेकर बुड्ढोंके साथ किया है। उनको भी इसीप्रकार उन वृद्धपिशाचोंके बन्धनसे छूटकर यथेच्छ विवाह करने का हक़ है। इसविषयमें उनको समाजकी आपत्तियों को सहन करना चाहिये। स्त्रीसमाज जबतक इसप्रकार की निर्भयता का परिचय न देगी, तबतक कोईभी शक्ति उनके ऊपर होनेवाले इन अत्याचारोंको नहीं रोकसकती। निर्दय समाजको जगानेके लिये और उसे अत्याचारसे विरत करनेके लिये गाँव गाँवमें उपर्युक्त बालाके समान मनोबल वाली बालिकाओंकी और कामिनीकुमार सान्याल सरीखे युवकोंकी आवश्यकता है।

जैनधर्म भी अछूतोद्धार का पूर्णतया हामी है।

(लेखक—श्री० पं० पातीरामजी जैन शास्त्री मुरादाबाद)

विश्वपूज्य तपस्वी महात्मा गाँधीकी अविचल तपस्या अटल आत्मविश्वास और अनवरत परिश्रम से जो अछूतोद्धारकी लहर भारतवर्षमें प्रवाहित हुई है उससे समूचे भारतवर्षकी ही नहीं बल्कि अन्य देशोंकी भी कायापलट सी हुई है। उसके लिये भारतहृदय महात्मा गाँधी तो साधुवादके पात्र हैं ही, मगर तद्देशीय वे महानुभाव भी धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने कि उसको अपनाकर अपनी सहानुभूति का अमिट परिचय दिया है। मानो भारतवर्ष का सुनहला अतीत फिर भविष्य की अङ्कमें खिलखिलाता हुआ उसके गलेमें गौरव की वरमाला डालने के लिये अनन्त आकाश की साक्षीपूर्वक मनही मन में गुनगुनाता हुआ न जाने किस अजेय मन्त्रका जाप कर रहा है। शायद वह जप रहा हो—"कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो, होगी सफलता क्यों नहीं" का मनोरम जाप।

इस कारण निश्चित समय पर सभा विसर्जित करदी गई। यदि पहिलेसे इस सम्बन्धमें कोई सूचना होती तो बहुत सम्भव था कि हम बहुत थोड़ा ही बोलते और दूसरों को भी अपने विचार प्रकट करनेका अवसर देते। सभा विसर्जित हो जानेपर और लोगों के उठजाने पर बाबू फतहचन्दजी साहबने व पंडित शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थने कुछ कहनेके अर्थ हमसे समय माँगा। उस समय हमने कहाकि अब तो सभा विसर्जित हो गई है और सभापतिके भाषणके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता।" पाठक देखें कि ब्रह्मचारीजीके इन शब्दोंमें कितना परस्पर विरोध है। ब्रह्मचारीजीका मुख्य बचाव यही है कि सभापतिके भाषणके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मचारीजी उस समय पं० शोभाचन्द्रजीके पिछले दिनके व्याख्यानके विषयमें "जैसवाल सभाके कार्यकर्ताओं व अन्य अनेक भाइयोंके अनुरोध से शास्त्र की बात प्रकट करनेका" प्रयत्न कर रहे थे। पं० शोभाचन्द्रजी उस समय उनके सामने बैठे हुए थे। अतः यह सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि पं० शोभाचन्द्रजी अवश्य ही इस विषयमें कुछ कहना चाहेंगे। ब्रह्मचारीजी ने इसीलिये अपने भाषणके पश्चात् उत्सवके संयोजकों तक को भी बोलनेका मौका दिये बिना ही अपने भाषण की समाप्तिके साथ जानबूझकर सभा भी विसर्जित करदी। अगर ब्रह्मचारीजी को पहिलेसे इत्तिला दे दी जाती तब भी उनका यह बहाना कि सभापतिके भाषणके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता—मौजूद ही था। बात यह है कि ता० ७ अप्रेल को श्रीमान पं० शोभाचन्द्रजीने वर्णव्यवस्था पर शास्त्रों के आधार से निर्भीतापूर्वक जो विवेचन किया था उससे स्थितिपालक विचलित हो गये थे और अपना पक्ष निर्बल समझकर उन्होंने ता० ८ व ९ अप्रेलके लिये वक्ताओंके नाम पहिलेसे निर्दिष्ट कर दिये थे जिससे किसी और को बोलनेका मौका न दिया जा सके। इसीलिये ब्रह्मचारीजीने मुझसे स्पष्ट कहा था कि—"आप और किसी जगहसे चाहे जो कहें, यहाँ आपको बोलनेका अवसर नहीं दिया जा सकता।" आगे चलकर आप लिखते हैं कि—

"गत वर्ष देहलीमें जैनमित्र मण्डलके प्लेटफार्मसे जीवदया प्रचारिणी सभाके सभापतिकी हैसियतसे अप्रासंगिक रीति पर सेठ ज्वालाप्रसादजीने जीवदया प्रचारणी सभा और जैनमित्रमण्डलके उद्देश्यके विरुद्ध विधवाविवाह प्रचार आदिकी जो बातें कहीं थीं, उसप्रकारकी परिस्थिति यहाँ नहीं थी और हम जिस प्लेटफॉर्म पर जिस सभाकी ओरसे बोल रहे थे उसके उद्देश्यविरुद्ध हमने कोई बात नहीं कही थी जिसका कि आप विरोध करते।.........हमारी सहिष्णुता ऐसी नहीं है कि हम जैनधर्मकी निन्दा व उसका घात बैठे बैठे सुनते व देखते रहें और अपनी शक्तिके अनुसार उसका प्रतिकार न करें।"

इस सम्बन्धमें हमारा निवेदन यह है कि दोनों परिस्थितियोंमें नाम मात्र भी भेद नहीं है। देहलीमें श्रीमान समाजभूषण सेठ ज्वालाप्रसादजीने जीवदया प्रचारिणी सभाके सभापतिकी हैसियतसे भाषण दिया था जिसको धर्मविरुद्ध मानकर उसके विरोधमें आपने बीचमें ही बिना आज्ञा प्राप्त किये ही वितण्डावाद मचाया था। आपने अपने भाषणमें वर्णव्यवस्थाके विषयमें जो उद्गार प्रकट किये थे वे हमारे खयालसे धर्मविरुद्ध थे। आपकी नीतिके अनुसार हमेंभी अधिकार था कि हम आपके हाथों इसप्रकार "जैनधर्मकी निंदा और उसका घात बैठे बैठे सुनते व देखते रहने के बजाय अपनी शक्तिके अनुसार उसका प्रतिकार करते।" परन्तु हमने सभ्यता व शिष्टाचारके अनुसार आपसे बोलनेके लिये समय माँगा और जब आपने अपने अधिकारमें मदमत्त होकर अपना मुँह छिपानेके लिये हमारी प्रार्थनाको ठुकरा दिया तोभी हमने आपकी तरह वितण्डावाद करनेकी बजाय शान्तिपूर्वक सभासे चले जाना ही उचित समझा।

मुझे लक्ष्य करके आप लिखते हैं—"कदाचित आप अपने को दिगम्बरजैनधर्मानुयायी कहलाने का हक़दार मानते होंगे, पर क्षमा करिये कि हम अपने समान अनेक मनुष्यों को ऐसा पाते हैं जो कि आपको दिगम्बर जैनधर्मावलम्बी तो क्या एक सामान्य जैन भी नहीं समझते, वरन जैनधर्म की जड़ खोदने वाला मानते हैं।"

लिये पूर्णतया स्थान रिजर्व है और उसमें विश्व-प्रेम कूट कूट कर भरा हुआ है।

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवादेवं विदुर्भस्म गूढांगान्तरौजसम् ॥२८॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थात्-तीर्थङ्कर, गणधर आदि देव सम्यग्दर्शन (सात तत्वोंमें श्रद्धा करना) सहित चाण्डालको भस्म (राख) से ढके हुये अंगारके समान प्रकाशमान मानते हैं अर्थात् वह चाण्डाल भी योग्य पुरुषों की पंक्तिमें बैठकर जैनधर्मको धारण कर सकता है।

तथा पण्डितप्रवर पं० आशाधरजीने भी कहा है कि—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुध्याऽस्तु तादृशः
जात्याहीनोऽपि कालादि लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्
॥ २२ ॥
सागारधर्मामृत (अ० २)

अर्थात्—आसन, और बर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हों, मांस मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो ऐसा शूद्र भी, ब्राह्मणादिकके समान श्रावकके व्रतोंको पाल सकता है क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैनधर्मका अधिकारी है।

जैन मतानुसार जब तीर्थङ्कर भगवानको केवलज्ञान होजाता है तब देवनिर्मित समवशरणमें बारह कोठे बनाये जाते हैं। उसमें एक कोठा मनुष्योंके लिये बैठनेको बनाया जाताहै जिसमें कि हर प्रकार के आर्य, अनार्य तथा शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णके मनुष्य बैठकरके भगवानकी दिव्य ध्वनिको सुनते हैं और धर्मामृतका पान करते हैं। जैनधर्मको धारण करके यमपाल चाण्डालने जिस अहिंसा व्रतको ग्रहण कर चतुर्दशीको किसी भी जीवको नहीं मारनेकी जो अटल प्रतिज्ञाकी थी फिर चतुर्दशीके दिन ही राजाज्ञानुसार राजकुमार को हिंसा करनेके अपराधमें प्राणदण्डकी आज्ञा मिली थी तब उसके मारनेको उस समय उस यमपाल चाण्डालने साफ़ इन्कार कर दिया था जिससे उसको क्या आपत्तियाँ प्राप्त हुई थीं; फिर उसकी देवोंने किस प्रकार पूजाकी और इसीप्रकार चण्ड चाण्डालने चतुर्दशीको अहिंसा व्रत पालनेसे देव गतिको पाया था तथा अर्जुन चाण्डालने जैनमतानुसार सन्यासपूर्वक मरण करके देव गतिको पाया था; इसीप्रकार जन्मांध, चाण्डालकी पुत्री देवदत्ता वेश्या, चाण्डाल और कुत्ती, वत्सिनी धोबिन, मृगसेन धीवर, कमन्द प्रभू कुरुमत्र इत्यादि मनुष्योंके कथानकोंसे जैनधर्मकी उदारताका परिचय और अछूतोद्धारकी जैनधर्म विषयक परख स्वतः ही हो जाती है। तथा वर्तमान जयपुर राज्यान्तर्गत चाँदनपुर के चमारके वंशजोंकी महावीर भक्ति और श्रद्धासे यह साफ़ जाहिर होजाता है कि जैनधर्म वास्तवमें ही पतितोंका हमदर्द है तथा पशु पक्षियोंके जैनधर्म धारण करनेवाले कथानकोंसे उसकी सार्वभौमता का पूर्णतया ज्ञान होजाता तथा सिद्ध होजाता है कि जैनधर्म मनुष्य मात्रका ही हितैषी नहीं है, बल्कि विश्वके जीव मात्रके उद्धारका सर्वांगरूपेण पक्षपाती है।

जैनधर्मके हरएक शास्त्रमें इस अछूतोद्धारका काफ़ी तौरसे वर्णन किया गया है, और वहां पर खुले शब्दोंमें लिखागया है कि किसी भी देश जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मको धारण करनेकी मनाही नहीं है। इसको प्रत्येक जीव कभी भी सहर्ष धारण कर अपना आत्मकल्याण कर सकता है।

जैनधर्ममें माने गये नयद्वयकी अपेक्षासे भी यही बात सिद्ध होती है कि द्रव्य दृष्टिसे सभी जीव एकसे हैं। वहाँ पर नीच, ऊँच, छूत-अछूत, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, आदि की कल्पना ही नहीं है। वहाँ तो सिर्फ़ आत्माकी वास्तविक दशा है। तथा परिवर्तनकी अपेक्षासे यह कल्पना होती है सो

गतजन्म सम्बन्धिनी ही है। दूसरे जन्ममें वह पर्याय, पशु,पक्षी,शूद्र,ब्राह्मण, आदि किसी न किसी रूपको धारण कर लेती है। अतः जैनधर्मकी मान्य द्रव्य-दृष्टिकी अपेक्षासे अछूतोद्धार विषयक उसकी वास्तविकता और उग्ररूपसे प्रकट हो जाती है। अतः जैनधर्म पूर्णतया अछूतोंको प्यार करता है।

जैनधर्ममें अस्पृश्यताके लिये कोई स्थान नहीं है। यदि कोई मनुष्य अस्पृश्यताको अपने हृदयमें स्थान देता है तो वह सम्यग्दृष्टि कहलानेका अधिकारीही नहीं है। अतः पाठको, उपरोक्त कथनसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि जैनधर्म एक सार्वजनिक धर्म है, वह संसारके हर एक प्राणीका हितैषी है, वह पतितोंका हमदर्द है और विश्वकुशलका सबसे बड़ा साधन है, जिसका कि उद्देश्य प्रेम और अहिंसा है। इत्यलम्।

गोबरपंथियोंका प्रलाप।

(ले०—श्रीमान बाबू कपूरचन्द्रजी पाटणी, जयपुर।)

अभी हालमें हिंदी जैनगज़टके पिछले अंकों में 'जयपुर दिगम्बर जैन खण्डेलवाल बिरादरी के झगड़े की जड़ और उसका कच्चा चिट्ठा' नामक एक लम्बा लेख 'फूलचन्द छाबड़ा, जयपुर' के नाम से निकला है और इसी लेख को पुस्तकाकार छपवा कर जयपुरमें भी बाँटा गया है। न तो जैनगज़ट के लेख में ही और न इस पुस्तकमें ही इन महाशय ने अपना पता देने की हिम्मत की है और जयपुर में फूलचंदजी छाबड़ा नाम के कई व्यक्ति हैं, इसलिए यह बात मालूम नहीं कि यह फूलचंदजी छाबड़ा कौन हैं। इस प्रकार अपना पता न बताने के दो कारण हो सकते हैं एक तो यह कि इस लेख में कुछ ऐसी भी बातें हैं कि जो कुछ लोगोंकी मानहानिकी हद तक पहुँच जाती हैं, अतः यह डर होगा कि कहीं कोई मुक़द्दमा न चला दे; दूसरे यह कि इस नाम के धारी, गोबरपंथियों में अग्रणी बने हुए एक सज्जन की खुद की प्राइवेट हिस्टरी ऐसी है कि जिसके कारण वे समाज के सामने आने तक की हिम्मत नहीं करते थे। उनके पिताजी का नाम जयपुर के जैन समाजमें आदि-शराबियों (सबसे पहिले शराब पीने वालों) में था, और कई दफ़ा तो लोगों ने उन्हें शराब के नशे की हालत में रास्ते में पड़ा हुआ पाकर घर पर पहुँचाया है। उस कुल की चारित्रसम्बन्धी और भी अनेक घटनायें हैं कि शायद जिनके कारण भी पता देने की हिम्मत न कीगई हो। खैर, कुछ भी हो, इतना होने पर भी यह बात तो निश्चित है कि यह लेख लिखा हुआ किसी दूसरे ही शख़्शका है कि जो कभी मदनचंद जैनके नामसे लिखता है, कभी फूलचंद छाबड़ाके नामसे और कभी जिनधर्मीके नामसे; और अपने खुदके नामसे मैदान में आनेकी हिम्मत नहीं रखता। हम इन लेखक महाशय से कह देना चाहते हैं कि इनके जो जीमें आवे सो बेधड़क अपने नामसे लिखा करें; और कमसे कम हमारी ओरसे किसी दावे वग़ैरहका डर न रखें क्योंकि हम तो समाजके सेवक हैं, हम तो गालियोंका स्वागत करते हैं और यही भावना रखते हैं कि हमारे विरोधियोंको भी सद्बुद्धि प्राप्त हो। हम तो, जहाँतक होसके, सामाजिक मामलोंमें मुक़द्दमेबाज़ीके खिलाफ़ हैं।

लेखकने जयपुर जैनसमाजके पुराने इतिहास पर दृष्टि डालते हुए लिखा है कि लोगों ने ऐसे ऐसे काम कर लिये कि जिनका ज़िक्र करते कलम थर्राती है और यही ख़याल होता है कि इन बातों का जिक्र करने से जाति की बदनामी होगी। हम लेखक से पूछते हैं कि ऐसे काम किस ने किये? लेखक ज़रा अपनी छाती पर हाथ रख कर विचारें कि आजकल जो जयपुर दि० जैन समाज में दो थोक होरहे हैं उनमें ऐसे काम करने वाले लोग उनके खुद के थोक में कितने हैं और सुधारकोंके पक्षवाले थोक में कितने। हम किसीकी कलई खोलना नहीं चाहते, परंतु यह बात आम लोगोंको स्पष्ट रूपसे मालूम है कि आज सुधारकों का विरोध करने वाले दल में अग्रणी लोगों में बहुत से ऐसे हैं कि जो अपने दुराचरणों के कारण दो दो साल की जेल तक की हवा खा आये हैं, जिनके अपनी मातातुल्य भावज के साथ व्यभिचार करने तक के रेकार्ड कोतवाली में दर्ज होचुके हैं, जिनके घरों में

जवान विधवाओं ने पति की मृत्यु के आठ आठ दस दस वर्ष के बाद संतानें जनी हैं तथा जिनके लड़के आदि रातदिन मुसलमान गुण्डों की सोहबत में रहकर सब प्रकार से भ्रष्ट होचुके हैं। हम नहीं समझते कि ऐसे लोग भी किस मुँह से ऊँचा नाक लेकर सामने आने की हिम्मत करते हैं।

लेखक सुधारकोंके सम्बन्ध में लिखते हैं कि "अगर यह लोग ऐसे धर्मविरुद्ध कामों की तरफ़ दृष्टि न डाल कर निराक्षेप समाज और जाति के उद्धारार्थ कोई काम परस्पर के सहयोग से करते तो उससे समाज का कितना हित होता।' हम नहीं समझे कि इस 'परस्पर के सहयोग' से क्या मतलब है! सुधारकों ने हमेशा सहयोग के लिये हाथ बढ़ाया और आज भी बढ़ाये हुये हैं, पर जो लोग आज भी चारसौ वर्ष पिछड़े पड़े हुये हैं, जो देश काल की परिस्थिति की ओर से आंखें मींचे हुये हैं और जिन्हें सुधारकों के नाम से भी चिढ़ है, उनसे सहयोग क्या और कैसे हो? पाँच वर्ष पहिले जब विधवाविवाह और उसमें सहयोग देने वाले लोगों के बारे में विचार करने के लिए पंचायत आम बड़े मंदिर में हुई थी तो उस पंचायत में मैंने स्पष्ट तौर पर कहा था कि "मैं विधवाविवाह को जैनधर्म के सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं समझता और इसे विधुर-विवाह की कोटि का ही समझता हूँ। जब समाज में बालविवाह, वृद्धविवाह तथा अनमेल विवाह इतने ज़ोर शोर से चल रहे हैं तो विधवा विवाह का जारी होना मेरी समझ से निहायत ज़रूरी है।" इस वक्तव्य पर पंचायत में यह चर्चा उठी कि अगर इन बातों के रोकने का पूरा इंतिज़ाम होजाय और ऐसा करने वालों को पंचायत उचित दण्ड देने की व्यवस्था करले तो विधवाविवाह के प्रचार के कार्य को स्थगित रखना चाहिये। मैं जानता था कि पंचायत यह सब इंतिज़ाम कुछ भी नहीं करने वाली है, पर केवल इस ख़याल से कि एक दफ़ा इन्हें इन कुरीतियों को रोकने का इंतिज़ाम करने के लिए फिर मौक़ा देना चाहिये, मैंने पंचायत से कहा कि—अगर आप लोग सच्चे दिल से इन कुरीतियों को रोकने का इरादा करते हैं तो मैं आपको अपना सहयोग देने के लिए तैयार हूँ, यानी जबतक आप लोग इन कुरीतियों को रोकने का उचित प्रयत्न करते रहेंगे तथा अपराधियोंको समुचित दण्ड देते रहेंगे तबतक मैं विधवाविवाह के प्रचार में कोई सक्रिय भाग नहीं लूँगा और इस काम के लिए मैं छह मास तक आप लोगों की राह देखूँगा। चुनाँचे पंचायत ने यह बात मंजूर करली और यह तय हुआ कि १२ वर्षसे कम उम्र की कन्याका तथा १६ वर्षसे कम उम्रके लड़केका तथा ४० वर्षसे अधिक उम्र वाले पुरुषका विवाह सम्बन्ध न हो तथा रुपया ले देकर कोई शादी न करे। मैंने सोचा था कि कमसे कम कुछ दिन तक तो सब लोग इस ओर प्रयत्न करेंगे, पर दूसरे ही दिन रंगत बदल गई। पंचायतकी कार्रवाईका जो रोबकार लिखा गया, उसमें यह शब्द लिखे गये कि "चूँकि कपूरचंदजी पाटणीने मय अपने साथियोंके विधवाविवाहमें शरीक होनेका इक़रार कर लिया है, इसलिए अब इसकी बाबत और किसी कार्रवाई की ज़रूरत नहीं है और अब ऐसा मुनासिब है कि विधवा-विवाह जो समाज और धर्मके विरुद्ध है, क़तई बंद रहे"। बस इसी बात पर फिरसे झगड़ा चल पड़ा।

हमने कहा कि हमारा विधवाविवाहके प्रचारमें सक्रिय भाग न लेने के बारेमें कहना एक शर्त के साथ था यानी यह इक़रार उस वक्त तक के लिये था कि जब तक पंचायत बालविवाह, वृद्धविवाह व कन्याविक्रय के बंद रखने का पूर्ण प्रबन्ध रखे। इसके अलावा पंचायत में विधवाविवाह को धर्मविरुद्ध क़रार दिये जाने जैसी कोई बात ही तय नहीं हुई; ऐसी हालत में पंचायत की कार्रवाई के रोबकार में केवल वही बातें होनी चाहिये कि जो पंचायत में तय हुई हों। बहुत से समझदार लोगों ने भी इसी बात पर ज़ोर दिया कि जितनी बात पंचायत में तय हुई हैं, उनके अलावा झूँठी बातें बढ़ाकर नहीं लिखना चाहिये। लेकिन जो लोग पंचायती रोबकारों पर दस्तख़त करने में अपनी शान समझते हैं और जिन्हें यह फ़िक्र बनी रहती है कि कहीं अपना यह दस्तख़तों का रोज़गार न चला जाय, वे सच झूठ की परवाह कब करते हैं। इस रोबकार पर भी तीन पंचायत वालोंके दस्तख़त होगये, पर बड़े मन्दिरकी पंचायती की ओर से आम तौर पर दस्तख़त करने वाले मुंशी नेमीचंदजी छाबड़ा ने ऐसे

झूठे रोबकार पर दस्तखत करने से इन्कार करदिया। आखिर दौड़ धूप होकर रतनलालजी बज नामक एक भोले सज्जन से इसपर दस्तखत करालिये गये। मगर दूसरे ही दिन ज्योंही रतनलालजी को मालूम हुआ कि उक्त रोबकार में असली घटना के खिलाफ़ गलत बातें लिखी गई हैं तो उन्होंने एक ज़ाहिर विज्ञप्ति छपवाकर निकाल दी कि यह रोबकार झूठा है और मेरे दस्तखत मुझे धोखा देकर करालिये गये हैं। इस प्रकार इन पंच नामधारियों का यह जाल पबलिक को मालूम होगया। इस वक्त तक श्रीजमनालालजी साह की कुछ धाक पंचायत में थी, और कुछ पंचनामधारी उनके कहने से चाहे जैसे रोबकारों पर दस्तखत करदिया करते थे, पर इस मामले के पीछे उनकी भी सारी पंचायती प्रतिष्ठा बराबर होगई। जयपुर में पंचायत की सत्ता के तहस नहस हो जाने के कारण दर असल सुधारक लोग इतने नहीं हैं कि जितने यह स्वयंभू पंचनामधारी लोग हैं, कि जिन्होंने पंचायती सत्ता का दुरुपयोग कर लोगों के जी में उसके प्रति घृणा के भाव पैदा करदिये।

हमारा लिखने का मतलब यह है कि सुधारकों ने उक्त पंचायत में भी सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया था, पर सब व्यर्थ। इसी प्रकार दि० जैन महापाठशाला के सुधार के लिए सुधारकों ने बराबर कोशिश की और अपना सहयोग दिया, पर बिगाड़कों की नीति हमेशा यही रही कि पाठशाला जैसी की तैसी ही बनी रहे और दूसरे लोग इसके प्रबन्ध में कोई दिलचस्पी न लें। आखिर वैसा ही हुआ और उसका नतीजा आज यह है कि पाठशाला का चंदा लोगों ने बंद करदिया और ध्रुवफण्ड में से खर्च होनेके कारण केवल दस ग्यारह हज़ार रुपये बाक़ी रहगये हैं। शादी व मृत्यु के अवसरों पर खर्च में कमीके आन्दोलनोंके सम्बन्ध में भी यही हुआ। सुधारकों से सहयोग करने की बजाय उलटा असहयोग किया गया और अच्छी से अच्छी स्कीमों को तोड़ने में बहादुरी दिखलाई गई।

(शेष अगले अंक में)
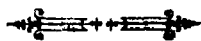
वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ।

[वर्णव्यवस्था संबंधी शास्त्रार्थके विषयमें गतांकमें ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजीका पत्र और हमारा उत्तर तथा रिमाइण्डर छप चुका है। रिमाइण्डरमें दी हुई अवधिके बाद जब कि वह पत्रव्यवहार हम 'जगत्'में भेज चुके थे, ब्रह्मचारीजी का एक पत्र मिला। वह एक विचित्र पत्र है। उसका एक अंश १५ अप्रेल का लिखा हुआ ब्रह्मचारीजी कहते हैं और दूसरा अंश १५ मई का। जो कुछ भी हो, सन्तोष इस बातसे है कि १७ मई को उनका उत्तर आगया। मैंने शीघ्र ही उसका उत्तर दे दिया था। २० मईको उन्हें मेरा पत्र मिल गया, पर ब्रह्मचारीजी महाराज ने पहुँचकी रसीद पर २१ तारीख लगा दी! ब्रह्मचारीजी के यत्किंचित् सन्तोषके लिए यदि २१ तारीख को ही पत्रका पहुँचना मान लिया जाय तो भी आज १५ दिन व्यतीत हो चुके हैं। अब तक उत्तर गायब है।

हम जानते हैं कि पाठक शीघ्र शास्त्रार्थ आरंभ होना देखना चाहते होंगे, पर क्या किया जाय? ब्रह्मचारीजी एक एक पत्र एक एक मास में करीब लिखते हैं और उनमें भी कुछ ऐसी बातें घुसेड़ देते हैं कि कुछ निर्णय नहीं हो पाता। ऐसी दशामें हम लाचार हैं और उत्सुक पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं। नीचे दिये हुए पत्रोंसे विवरण ज्ञात होगा।

ता० ४-६-३३ —शोभाचन्द्र भारिल्ल।]

ब्रह्मचारीजीका अधूरा पत्र।

(भ्रमणमें) श्रीदिगम्बर जैन मन्दिरजी,
केसरगंज
अजमेर (राजस्थान)
१५ अप्रैल १९३३ ईस्वी।

सेवामें—

श्रीयुत पंडित शोभाचन्दजी भारिल्ल, न्ययतीर्थ,
सम्पादक "वीर"
वर्त्तमान शहर अजमेर (राजस्थान)

प्रिय पंडितजी—जयजिनेश।

हमारे ११ अप्रैलके पत्रके उत्तरमें हमको आपका १८ अप्रैलका कृपापत्र आज मध्यान्हको समुपलब्ध हुआ। पठनकर वृत्तसे अवगत हुए।

उत्तरमें निवेदन है कि अन्य अनेक दोषोंके साथ हममें एक दोष यह भी है कि यदि हम किसी की बातसे सहमत न हों और उससे कोई भ्रम या अनर्थ हो जाने की सम्भावना हो तो हमको उसका विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। तदनुसार हम आपके पत्र में उल्लिखित कई बातोंके सम्बन्धमें लिखने को बाध्य हैं।

गत १० अप्रैल की रात्रिको शहरमें हमारे व आपके व्याख्यान हुए थे और उसी समय शास्त्रार्थ होना निश्चित हो गया था। उसके नियमादि निश्चित होने के अर्थ हमने आपको ११ अप्रैल को एकपत्र लिखा था और उसकी कॉपी भी उसी दिन करली थी। आपका पता लगानेमें दो तीन दिन बीत गये और बड़ी कठिनाईसे हम गत १३ अप्रैल की संध्या को स्वयम् आपको पत्र दे सके। इन सब बातोंको आपको जतला देने पर भी जो आप यह लिख रहे हैं कि "मैं बड़ी उत्सुकतासे आपके पत्रकी प्रतीक्षा कर रहा था और इस विलम्बको देखकर निराशप्राय: हो चुका था," सो बात ठीक समझमें नहीं आती। कारण कि जब हमारे व आपके बीच शास्त्रार्थ गत १० अप्रैलकी रात्रिको ही निश्चित हो गया था और आपके इच्छानुसार ही उस समय नियमादि निश्चित न किये जाकर किसी दूसरे समयके अर्थ स्थगित कर दिये गये थे। ऐसी स्थितिमें आपको हम ही पत्र लिखें यह आवश्यक न था और आपको हमारे पत्रकी प्रतीक्षाका कोई कारण न था क्योंकि हम और आप एकसी परिस्थितिमें थे और आपका निराशप्राय होजाना कोई समुचित नहीं प्रतीत होता।

आपका पता लग जाने पर आपको हमारा पत्र पहुँचनेमें अब विशेष विलम्ब न हो इस कारण हम स्वयम् ही आपको पत्र देने गये थे और वह समय संध्या छः बजेका था। उस समय हम और आप दोनोंको ही कुछ नित्य कृत्य करने थे। इसके सिवाय उस समय हमारी स्थिति एक वाहक की थी और और आपको हमारा पत्र पढ़कर उस पर अपना विचार बनाना था, अतः उस समय हमने सिवाय आपको पत्र देनेके कामको छोड़कर दूसरी गम्भीर बात करनी उचित न समझी।

इसमें सन्देह नहीं कि "शुभस्य शीघ्रम्" वाली नीति बहुत अच्छी होती है पर सब कामोंमें वह लागू नहीं की जासकती और जो लोग समाजमें काम करते हैं या उसके सेवक हैं उनको अनेक बातोंका विचार करना पड़ता है और समाजको साथ लेकर या उसके अनुसार काम करना होता है।

प्रारंभसे ही शास्त्रार्थ संघका एक सेवक और कार्यकर्त्ता होने के कारण हमको शास्त्रार्थ संघकी खास खास कार्यवाहियोंका पता है और बहुत विचार करने पर भी हमको आपके इस लेखमें कोई सत्यता नहीं प्रतीत होती कि शास्त्रार्थसंघ अम्बालाकी ओर से अन्य व्यक्तियों को दिये गये कई चैलेन्जों ··· में नियमादि निर्णयके ही लिए लम्बी चौड़ी लिखा पढ़ी करके असली चर्चास्पद विषयको दबा दिया गया हो। निःसन्देह शास्त्रार्थ संघका कार्य नियमानुकूल होता है और बहुत सम्भव है कि नियमोंकी अवहेलनासे किसी कार्यमें कुछ विलम्ब हो गया हो या हो जावे।

आपसे इस विषयमें हम बिलकुल सहमत हैं कि इस समय भी इस शास्त्रार्थके सम्बन्धमें हम

लोगोंको व्यर्थकी उलझनें न डालकर आवश्यक बातोंका निर्णय करके शीघ्र शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो जाना चाहिए। ऐसा ही हम प्रयत्न भी करेंगे।

यह पत्र अपूर्ण रहा। इससे आगेकी बातोंके उत्तर हमारे १५ मे के पत्र में पृष्ठ ४ से ७ तक पढ़िए।

(Sd.) Digvijaysingh.
ह० दिग्विजयसिंह।
15 May 1933.

ब्रह्मचारीजीका पूरक पत्र।

(भ्रमणमें) श्रीदिगम्बर जैन मन्दिरजी
केसरगंज,
अजमेर (राजस्थान)
१५ मयी १९३३ ईस्वी।

सेवा में—
श्रीयुत पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ
सम्पादक "वीर"
श्री जैन गुरुकुल,
ब्यावर
जिला अजमेर (राजस्थान)

प्रिय पंडितजी जयजिनेश।

खतौली, जिला मुज़फ्फ़रनगर (यू. पी.) के शास्त्रार्थों से लौटने पर हमको आपका २८ अप्रैलका कृपापत्र प्राप्त हुआ। पठन कर वृत्तसे अवगत हुए।

उत्तरमें निवेदन है कि हमारे ११ अप्रैलके पत्र के उत्तरमें हमको १४ अप्रैलका कृपापत्र गत १५ अप्रैलके मध्याह्नको प्राप्त हुआ था और उसी समय हमने उसका उत्तर भी आपको लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इस साथ भेजे हुए अढ़ायी तीन पेज तक ही हम लिखसके थे कि गाड़ी अटक गयी और आज वह बड़ी कठिनाईसे निकल सकी है।

'गाड़ी अटक' जाने और बहुत समय तक उसके अटके रहने का खास कारण यह था कि जिन आपकी बातों का हम अपने १५ अप्रैल के पत्र में आपको उत्तर लिख चुके थे उसके बादमें हमको आपके चाहे हुए अपने इस शास्त्रार्थ को लिखितरूप से करनेकी आपकी बात का उत्तर देना था। उस समय भी हमारा यह खयाल था, और वह अब भी ज्यों का त्यों है कि यह लिखित शास्त्रार्थ उतना उपयोगी नहीं होगा जितना कि मौखिक; और इसमें बहुत लम्बा समय लगजानेके सिवाय समाज में कोई जागृति व उत्साह न पैदा होसकेगा। इस शास्त्रार्थ में जो समय व शक्ति लगे उसके फलको विस्तीर्ण व चिरस्थायी बनानेके अर्थ हमारा यह भी विचार था कि यह शास्त्रार्थ मौखिक होनेके सिवाय लिखितभी हो और या तो उसी मौखिकके समयमें पहले लिखकर बादको वही मौखिक सुनाया जाय या मौखिक शास्त्रार्थ समाप्त होनेके पश्चात् उसको लिखितरूप से किया जाय।

अपने इन विचारोंको हम लिखनेही वाले थे कि हमारे कई परिचित व हमसे बड़ा स्नेह रखने वाले सज्जन हमसे मिलने आये और उन्होंने यह शास्त्रार्थ कैसे हो और मौखिक शास्त्रार्थकी आयोजना कब, कहां, किसके द्वारा और कैसे कीजाय आदि बातोंका विचार करनेके अर्थ हमसे थोड़ा ठहर जानेका अनुरोध किया।

दुर्भाग्यसे या सौभाग्यसे हमभी उनकी बातों में आगये और इससे मिल व उससे मिल, आज होता है, कल होता है! यह हुआ वह हुआ; आदि आदि उनकी बातोंमें अभीतक मूर्ख बने रहे।

यद्यपि आप अपने लेखानुसार २६ अप्रैल तक अजमेर मेंही रहे और इस बीचमें दो एक बार हम को मार्ग में मिलेभी, पर उस समय आप कान्फरेन्स व अपने गुरुकुलके कार्यमें व्यग्र थे और उनकी सफलताके अर्थ आपके समय शक्ति और ध्यानको हमने दूसरी ओर खींचना उचित न समझा।

इस बीचमें हमारा शरीरभी जैसा चाहिए वैसा काम लायक़ न था और हमको खतौली आर्यसमाज के शास्त्रार्थोंके अर्थ बाहरभी जाना पड़ा।

इन्हीं कारणों से अतीव दुःख व लज्जा है कि हम आपके १४ अप्रैलके पत्रका उत्तर प्रायः एक मास पश्चाद् देरहे हैं और उसके अर्थ आपसे बड़ी विनयके साथ क्षमाप्रार्थी हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अपने पक्षकी सत्यता व उसके जैनशास्त्रानुकूल होनेके विश्वाससे ही हम जैसे साधारण ज्ञान रखने वाले व्यक्तिके आप जैसे विद्वान् सज्जनको "भरी सभामें वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें शास्त्रार्थका चैलेंज देनेका साहस किया था" और आपने दयाकर केवल उसी समय उसे स्वीकारही नहीं करलिया था वरन पलटेमें हमको भी अपना दूसरा चैलेंज दिया था।

इस बीचमें हमने अपनेको इस शास्त्रार्थके अर्थ विशेष रीतिसे तैयार करनेको जो अधिक अध्ययन किया उससे हमको अपने पक्षपर पहिलेसे अधिक श्रद्धान व दृढ़ता है और हम अधिक शक्ति व युक्ति के साथ इस विषयपर विचार करनेको उपस्थित हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारा यह सकारण एक मासका मौनसाधन······शास्त्रार्थ से बचने का प्रयास समझा जासकता है। पर इसमें कोई सचाई नहीं है और जो साहबान ऐसा समझें उनको हम अपना चित्त प्रसन्न करलेने का साधन जान रोकते भी नहीं हैं और न्यायानुसार कमसे कम हमको इस असावधानी व भूलका इतना दण्ड अवश्य मिलना चाहिए।

हमको अपने पक्षकी सत्यतापर अब पूर्वसे भी अधिक विश्वास है और उसके प्रचारार्थ हम पहले भी शास्त्रार्थ करने को तैयार थे; अब भी हैं और आगे भी रहेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे कुछ लोगों की बातोंमें आजाने और पत्रोत्तर में ढिलायी कर जाने से प्रायः एक मासका समय यों ही होगया। पर हम समझते हैं कि यह कोई ऐसी हानि नहीं है कि जिसकी पूर्त्ति हम लोग न करसकें।

हम समझते हैं कि इस एक मासके समय में हम लोगोंका ज्ञान परस्पर इस विषयमें पहलेसे अधिक होगया है और अब हमलोग इस विषय पर अच्छा विचार कर सकेंगे।

यद्यपि अबभी हमारा इस बातपर पहिले जैसा ही श्रद्धान है कि हमारे व आपके ये शास्त्रार्थ मौखिक रीतिसे ही या मौखिक या लिखित रीतिसे युगपत् या क्रमशः अच्छे रहते और हमारा संघ व हमारे साथी इसी बातके लिए जोर देते हैं; पर यह जान कर कि आप मौखिक शास्त्रार्थके लिए तैयार नहीं हैं और उसमें आपको अनेक अड़चलें हैं, हमने अपने ये शास्त्रार्थ आपकी इच्छानुसार लिखित रीतिसे ही करने निश्चित करलिये हैं।

इन लिखित शास्त्रार्थों के सम्बन्ध में दो नियम तो आपने हमको अपने १४ अप्रैलके कृपापत्र में लिखे थे और हम उनको संशोधन व परिवर्धन कर सर्व आवश्यक नियम इन शास्त्रार्थोंके आपके पास भेजते हैं। हमारी समझसे इनमें आपको कोई आपत्ति न होगी। यदि कोई होगी तो विचार कर ठीक करदी जावेगी।

इन नियमोंके निश्चित व पक्के होजाने पर एक पूर्वपक्ष श्री अखिलभारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थसंघकी ओरसे आपकी सेवामें भेजदिया जावेगा और आप अपना एक पूर्वपक्ष संघको भेज दीजिएगा। बस उन्हीं पर निश्चित नियमोंके अनुसार विचार चलता रहेगा।

हमने आपके व्याख्यानों व लेखोंके सम्बन्धमें जो विचार अपने पत्रमें प्रगट किये हैं वे बिलकुल ठीक और शास्त्रार्थके विषय हैं और उनका भीतरी

आशय सिवाय इसके और कुछ नहीं है कि मुख्य चर्चास्पद विषय पर प्रकाश पड़े और हम लोग वर्तमान आवश्यक बातों के सम्बन्धमें अपना मत बनासकें।

आप जो शास्त्रार्थका मुख्य विषय 'वर्णव्यवस्था धार्मिक है या नहीं' यही रखना उचित समझते हैं सो हमारी समझसे ठीक नहीं क्योंकि हमारे व आपके इस विषयमें कोई विवाद नहीं कि वर्णव्यवस्था का सामाजिकभी उपयोग है। पर हम समझते हैं कि वह धर्मके कई खास कामोंमें भी साधक या बाधक होती है। यथा श्री दिगम्बरजैन शास्त्रानुसार मोक्ष की प्राप्ति व मुनिव्रत का धारण केवल ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन उच्चवर्णवालोंको ही होता है। शूद्रवर्ण मोक्ष व मुनिव्रतको नहीं प्राप्त करसकता। शूद्रोंमें स्पृश्य शूद्र क्षुल्लक तकके व्रत धारण करसकते हैं पर अपनी पहचानके लिए लोहे का कमण्डल लेते व चौके के बाहर भोजन करते हैं। अस्पृश्य शूद्र दूसरी व्रत प्रतिमासे आगे व्रत धारण नहीं करसकते हैं और मन्दिरके बाहर रहकर यथायोग्य जिनपूजन करते हैं। उनको मन्दिरमें जाने का अधिकार नहीं और वह उच्च वर्ण की भाँति पूजा प्रक्षालादि कार्य नहीं करसकते व अस्पृश्य रहते हैं।

यदि आपभी हमारे समान ऐसेही विचार रखते हैं तबतो शास्त्रार्थकी कोई आवश्यकताही नहीं है। पर हम समझते हैं कि आप शूद्रोंको भी सब अधिकार धर्मानुसार मानते हैं जो कि द्विजाति या उच्च वर्ण को प्राप्त हैं।

जब कि हमारे व आपके बीच वर्णों के इन धार्मिक अधिकारोंके सम्बन्धमें मतभेद है तब शास्त्रार्थ का विषय ऐसा रखना चाहिए जिससे कि चर्चास्पद विषय पर प्रकाश पड़े और वह सिद्ध या असिद्ध करने से शेष न रह जावे।

इसीकारण हमने आपके व्याख्यानका यह सर्व मतभेदका भाग शास्त्रार्थका विषय बनाया था और हमारे उस विषयके जिस भागको हमारे लिखे अनुसार आप न मानते हों उसको हम चर्चास्पद विषय से बाहर निकाल देवेंगे।

यह बहुत सम्भव है कि आपके ता० १० के व्याख्यानके पश्चात् कितने ही परिचित और अपरिचित व्यक्तियोंने आपके व्याख्यान के कुछ अंशोंसे सहमत होकर आपको बधाई दी हो। पर क्षमा करिये, अधिकान्श दिगम्बर जैन समाज आपके वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचारोंसे सहमत नहीं है, और वह उनको शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत होते हैं। सचमुच हमारे विचारके अनुसार जैनसमाज का वह बड़ा दुर्दिन होगा जबकि हमको आपके लेखानुसार हमारी बात हमारा भ्रम सिद्ध होजावेगी।

शास्त्रार्थ संघका स्थान जनता की दृष्टिमें क्या है, यह बात वह लोग भलीभाँति जानते हैं जिनको कि स्थान स्थान की जनतासे मिलनेका सदैव अवसर प्राप्त हुआ करता है या जिन लोगोंने शास्त्रार्थ संघकी सेवाओंसे लाभ उठाया है। शास्त्रार्थ संघको उपयोगिता और उसका उत्तरदायित्व काम पड़ने पर ही प्रगट होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रार्थ में प्रमाणों की प्रबलता और निर्बलतासे सत्यासत्यका निर्णय होगा पर उसीके साथ साथ पुरुष प्रमाणसे वचन प्रमाण वाली बातभी अपना कुछ असर रखती है।

पहले पत्रमें लिखे हुए कारणोंसे हमने इन शास्त्रार्थों को श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ द्वारा करना निश्चित किया था और हमको इस बातसे बड़ी प्रसन्नता है कि आपको उसमें कोई आपत्ति भी नहीं है। रही आवश्यकता व विवशताकी बात सो उसका निर्णय समयानुसार अपने आप होजावेगा।

इसप्रकार आपके दोनों पत्रोंकी सब बातों का

उत्तर लिखकर हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि आपको भविष्यमें ऐसे सभ्य व मिष्ट शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए जोकि अहम्मन्यता व कषायके द्योतक न हों वरन् केवल वस्तुस्वरूप प्रदर्शक हों।

इसमें सन्देह नहीं कि आप एक विद्वान पंडित हैं और हमको अभी कई वर्षों पढ़ा सकते हैं। पर विद्या एक दूसरी बात है और वस्तु स्वरूपका समझना या समझाना यह एक दूसरी ही कला है। कहावत है कि "एक मन पढ़ने के लिये दस मन बुद्धि की आवश्यकता है।"

हमारे इस पत्रको पाते ही आप हमको इस पर अपना अभिमत लिखिये और शास्त्रार्थके नियमोंमें यदि कोई परिवर्तन या परिवर्धन करनाहो तो उसको भी सूचित करिये।

नियमोके निश्चित होजाने पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ की एक तिथि नियत की जावेगी और उसपर या उससे पहले एक दूसरे के पूर्वपक्ष एक दूसरे के पास भेजदिये जावेंगे और उनपर विचार चलता रहेगा।

अन्य सर्वप्रकार परमशुभ कुशल मंगल है। हमारे योग्य सेवा सदैव आज्ञा करते रहिए।

भवदीय—
(Sd.) Digvijaysinh
द० दिग्विजयसिंह
१५ मई १९३३

ब्रह्मचारीजी के पत्र का उत्तर।

श्री जैन गुरुकुल ब्यावर
१७—५—३३

श्रीमान ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजी सा०

सादर वन्दन

कृपापत्र ता० १५ मई का ता० १७ मई को मुझे प्राप्त हुआ। साथ ही एक अधूरा पत्रभी मिला जिस पर ता० १५ अप्रैल लिखी है और जिसे आपने एक मास पूर्व लिखा बताया है। अस्तु।

आपके पहले पत्र और लिफाफे पर Most-urgent और 'परम आवश्यक' की दुहरी मोहरें मारी हुई थीं और यह देखते हुए मुझे स्वप्नमें भी यह खयाल नहीं हुआ था कि आपकी ओरसे इतना अधिक विलम्ब किया जायगा। आपने अपनी गाड़ी अटकजाने के जो अनेक कारण बतलाए हैं वे ठीक हों तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं है कि आप इन कारणोंकी सूचना नहीं देसकते थे। आप अबतो लिखित शास्त्रार्थ करना स्वीकार करचुके हैं पर जब आप मौखिक शास्त्रार्थ करने का विचार कर रहे थे तब आपके कई परिचित व आपसे बड़ा स्नेह रखने वाले सज्जन आपसे मिलने आये और उन्होंने यह शास्त्रार्थ कब, किसके द्वारा और कैसे किया जाय, आदि बातों का विचार करने के लिए आपसे ठहर जानेका अनुरोध किया और आप ठहर गए। यह ठीक होसकता है पर आप यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि ऐसी बातोंके लिये तभी ठहरना समुचित कहलाता जबकि मौखिक शास्त्रार्थ होना तय होगया होता। पर आप ऐसी कोई सूचना देनेसे भी पहले ही क्यों इन बातोंपर विचार करने के लिये रुकगये, यह एक आश्चर्यकी बात है।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है आपका स्वास्थ्य चैलेञ्ज देते समय जैसा था वैसा ही उसके बाद भी रहा है, और रास्तेमें आपका मिलना एवं खतौली तक जाना भी यही सिद्ध करता है। खतौली आप ता० २७-२८ अप्रैल या इसके करीब ही कभी गये होंगे और मेरा पत्र आपको ता० १५ को ही मिल गया था। मतलब यह है कि आप यदि चाहते तो मेरे पत्रका शीघ्र उत्तर दे सकते थे या कमसे कम देरसे उत्तर दे सकने की सूचना तो अवश्य ही दे सकते थे। और। आप इस विलम्बको स्वयं ही बहुत अनुचित समझते हैं और यह भी आप स्वीकार करते हैं कि आपका यह मौनसाधन निःसन्देह शास्त्रार्थसे बचने

का प्रयास समझा जा सकता है। क्षमा कीजिए, ऐसा समझा ही नहीं जा सकता बल्कि समझा भी गया है और आपके द्वारा बतलाए हुए विलम्बके कारणोंके न रहने परभी मेरे रिमाइण्डर का नियत अवधिमें आपने उत्तर नहीं दिया तो वह समझ और भी मजबूत होगई। यही कारण है कि अन्त में लाचार होकर मुझे आपका पहला पत्र और मेरा उत्तर 'जैनजगत' में प्रकाशित होने के लिए भेजना पड़ा। आप स्वीकार करेंगे कि ऐसी स्थितिमें यह कुछ अनुचित नहीं हुआ है और इससे हमारे इस शास्त्रार्थमें कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होती।

आपके लिखित शास्त्रार्थ स्वीकार करलेने पर अब लिखित या मौखिक शास्त्रार्थका प्रश्न नहीं उठता तथापि आपने अपने पत्रमें मौखिक शास्त्रार्थके फल को जो चिरस्थायी और विस्तीर्ण बताया है वह मेरे विचारसे ठीक नहीं है। मौखिक शास्त्रार्थके शब्द शास्त्रार्थ स्थलमें उपस्थित जनताके कर्ण-कुहरों तक पहुंचकर ही विश्रान्त होजाते हैं तब, लिखित शास्त्रार्थके शब्द हजारों वर्षों तक क़ायम रह सकते हैं और उनसे जो भी चाहे लाभ उठा सकता है। मौखिक शास्त्रार्थमें "हमने यह शब्द नहीं कहा, हमारा यह आशय नहीं–यह है" इसप्रकार खेंचातानी हो सकती है, तब लिखित शास्त्रार्थमें ऐसी बातोंको अवकाश ही नहीं मिल सकता। लिखित शास्त्रार्थमें समय भले ही अधिक लगजाय, पर जो कुछ निर्णय होता है वह, यदि नियमानुसार शास्त्रार्थ हो तो, स्पष्ट होता है जब कि मौखिक शास्त्रार्थका निर्णय प्रायः अस्पष्ट ही रहा करता है। लिखित शास्त्रार्थ से समाजमें कोई जागृति या उत्साह पैदा नहीं हो सकता, यह भी आपका लिखना ठीक नहीं है। 'जागृति और उत्साह' का अर्थ यदि 'हुल्लड़बाजी' हो तब तो वह अवश्य पैदा नहीं होती। हाँ, यदि इसका अर्थ वस्तुतत्त्वके निर्णयमें उत्पन्न होनेवाला आनन्द हो तो वह होता ही है और मौखिक शास्त्रार्थकी अपेक्षा अधिक होता है। मौखिक शास्त्रार्थके श्रोता पक्ष-विपक्षकी युक्तियों और प्रमाणोंपर गहन विचार नहीं कर पाते जबकि लिखित शास्त्रार्थके पाठकोंको बारम्बार गम्भीरता पूर्वक विचार करनेका अवसर मिलता है।

इन्हीं और इनके अतिरिक्त और भी कई कारणों से मैं लिखित शास्त्रार्थ का ही पक्षपाती हूँ और इसीसे मैंने लिखित शास्त्रार्थ करनेका प्रस्ताव रखा था, जिसे आपने स्वीकार करनेकी कृपा की है।

मौखिक और लिखित, दोनों प्रकारके शास्त्रार्थ एक ही विषय पर, उन्हीं वादी–प्रतिवादियोंमें करना समयका दुरुपयोग करना है और जिसे शास्त्रार्थके अतिरिक्त अन्य भी आवश्यक और उपयोगी काम हों वह इसप्रकार समय गँवाना गवारा नहीं कर सकता। अस्तु। आपने इस पत्रमें कई विचित्र बातें लिखी हैं। आप लिखते हैं कि मैंने आपका चैलेञ्ज ही नहीं स्वीकार किया किन्तु दूसरा चैलेञ्जभी आपको दिया है। ब्रह्मचारीजी, सच कहनेकी आज्ञा दें तो मैं कह सकता हूँ कि आपका यह लिखना बच्चोंका खेलसा प्रतीत होता है। मुझे आश्चर्य है कि आप इस प्रकारकी बातें लिखकर नयी नयी बातें पैदा करते हैं और शास्त्रार्थ आरम्भ होनेमें रुकावटें खड़ी करते हैं। मौखिक चैलेञ्जके देने-लेने में ही जब आप यह विपर्यास कर रहे हैं तब मौखिक शास्त्रार्थमें क्या हाल होता? मौखिक शास्त्रार्थ के निकम्मेपनका यह एक बिलकुल ताजा प्रमाण है।

भला जब एक विषय पर, आप और मुझमें शास्त्रार्थ होना तय होचुका है, तब उसी विषय पर उसी समय और उन्हीं व्यक्तियोंका दूसरा शास्त्रार्थ भी हो, यह कल्पना आप ही कर सकते हैं। मैंने व्याख्यान दिया, आपने उसमें कही हुई बातोंको शास्त्रविरुद्ध बतलाते हुए शास्त्रानुसार सिद्ध करने

के लिये चैलेञ्ज दिया, पर चूँकि आपने उसके खंडनमें एक भी विरोधी प्रमाण उस समय नहीं दिया था अतः मैंने उसका खण्डन करनेकी चुनौती दी। इसे दूसरे शास्त्रार्थके लिए चुनौती देना आप कह रहे हैं, यही आश्चर्यकी बात है।

आपने किस उद्देश्यसे यह नई बात ढूँढ निकाली है ? कमसे कम जब आपने मुझे पहला पत्र लिखा था तब तक तो आपके दिमागमें भी यह बात पैदा नहीं हुई थी। पहले पत्रमें आपने लिखा है—**हमारा व आपका शास्त्रार्थ होना भी निश्चित होगया था**। इसके विपरीत अब आपने लिखा है—"शास्त्रार्थ होने निश्चित हुए हैं।"

इस एकवचन और बहुवचन पर ग़ौर करने से स्पष्ट है कि पहला पत्र लिखते समय तक आपके दिमागमें एक ही शास्त्रार्थकी बात थी, जो उचित भी है; पर बादमें आप किसी रहस्यमय कारणसे अपने ही शब्दोंके विरुद्ध एक नई बात सोचते हैं, जो न तो सत्यके अनुकूल है और न उपयोगिताके लिहाजसे ही कोई महत्व रखती है।

आपने अपने पहले पत्रमें लिखा था—"(मेरा कथन) अधिकांश **जैनसमाजको** जैन शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत होता है।" पर मैंने जब इस सम्बन्ध में आपत्तिकी तो आपने उस बातको परिवर्त्तित रूप देकर इस पत्रमें लिखा है—"अधिकांश दिगम्बर जैन समाज आपके वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं है।" यह यद्यपि मामूली बात है परन्तु इससे यह पता चल जाता है कि आप अपने वक्तव्यमें परिवर्त्तन कर देनेपर भी यही दर्शानेकी चेष्टा करते हैं कि मानो आप अपनी उसी बातका समर्थन कर रहे हैं। खैर, अधिकांश जैन जनता या दिगम्बर जैन जनता, की सहमति या असहमति की हमें चिन्ता नहीं है। इससे हमारे पक्षकी सत्यता पर कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता। हमें तो सत्यकी ही चिन्ता है और सत्यके लिए हम जनताका विरोध सह सकते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखना व्यर्थ है।

आपको अपने पक्षकी सचाई पर और अधिक विश्वास होगया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। मगर वह विश्वास सत्य पर आश्रित है या नहीं, यह तो शास्त्रार्थके पश्चात् अपने आप प्रकट हो जायगा।

शास्त्रार्थ संघके सम्बन्धमें मैं यहाँ कुछ कहना नहीं चाहता। वह समाजके लिए उपयोगी बने तो समाजका सौभाग्य होगा। मैंने संघकी ओर से आपको शास्त्रार्थ करनेकी जो स्वीकृति दी है, उसमें एक शर्त थी। मैंने लिखा था कि यदि आप संघ की ओरसे ही शास्त्रार्थ करनेको विवश हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि यदि आप यह शास्त्रार्थ अपनी ओरसे करने में स्वाधीन न हों तो संघकी ओरसे शास्त्रार्थ कर सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस पत्रमें करना उचित था। मगर आप लिखते हैं कि—उसका (विवशता का) निर्णय समयानुसार हो जाएगा। संघकी ओरसे शास्त्रार्थ होना तय होनेसे पहले ही उसके निर्णय करनेका उचित समय है। तभी वैसी स्वीकृति दी जा सकती है। अतः यदि आप संघकी ओरसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो इस सम्बन्धमें पहले स्पष्टीकरण करिएगा। आपने व्यक्तिगत रूपसे चैलेञ्ज दिया था; फिर इस परिवर्त्तनका जो कारण आपने बताया था उसका विरोध मैं कर चुका हूँ और हर्ष है कि कि आपने उसे मान भी लिया है। उसके अतिरिक्त परिवर्तनके लिए कोई समुचित कारण नहीं है।

आपने संघकी ओरसे शास्त्रार्थ करनेके पक्षमें जो नई दलील दी है वह भी एकदम हास्यास्पद है। "पुरुष प्रमाणसे वचन प्रमाण, वाली बात भी अपना कुछ असर रखती है"—आपकी इस दली-

लसे दो बातें प्रकट होती हैं—(१) पहली यह कि आप प्रामाणिक पुरुष नहीं हैं और (२) दूसरी यह कि शास्त्रार्थ संघ कोई प्रामाणिक पुरुष है !!

इसकी असलियतका विचार मैं आपके ऊपर ही छोड़ देता हूँ।

आपके पत्रकी, विस्तारभयसे, कई विचारणीय सामान्य बातोंकी अभी उपेक्षा कर मैं नियमोंके सम्बन्धमें ही कुछ कहना चाहता हूँ।

नियमोंका निर्माण करते समय, मालूम होता है, आपको यह स्मरण नहीं रहा कि यह शास्त्रार्थ अकस्मात् नहीं बल्कि मेरे व्याख्यानोंके आधार पर हो रहा है। व्याख्यानोंके आधारपर ही आपने चैलेञ्ज दिया है और वहीं से इसकी चर्चा आरंभ होती है। यही कारण मालूम होता है कि आपने अपने और मेरे पक्षकी नयी कल्पनाकी है। यह उचित नहीं है। संभव है आपके और मेरे सैंकड़ों विचारोंमें भेद हो, पर उनका निर्णय यथावसर हो सकता है। इस समय तो व्याख्यानके जिन विषयों पर आपने चैलेंज दिया है उन्हीं पर क़ायम रहना शोभास्पद एवं उचित है। वर्णव्यवस्था सामाजिक है, शूद्रको जिन पूजन करनेका अधिकार है, अस्पृश्यता धार्मिक नहीं बल्कि लौकिक है, ये मेरे व्याख्यानके विषय हैं। इन्हीं पर आपने चैलेञ्ज दिया है। यदि आप इन्हें स्वीकार करते हैं तब तो चैलेञ्ज देना और शास्त्रार्थ करना ही वृथा है; और यदि स्वीकार नहीं करते तो अपने चैलेञ्जके अनुसार इन विषयों पर शास्त्रार्थ करना स्वीकार कीजिए। शूद्र को जिनपूजनाधिकार है और अस्पृश्यता धार्मिक नहीं बल्कि लौकिक है, इन बातोंकी जड़ वर्णव्यवस्था ही है। उस पर शास्त्रार्थ होने से यह बातें स्वयं तय हो सकती हैं। पर यदि आपका आग्रह इन्हें पृथक् विषय बनानेका हो तो इन्हें पृथक् विषय बनानेमें भी मुझे आपत्ति नहीं है। अगर आप इस विषय पर शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं तो शेष नियमोंका उभयसम्मत निर्णयकर अपना पूर्वपक्ष भेज देवें। नियमों की चर्चा करते हुए आप लिखते हैं कि "वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें संघका पक्ष यह है कि वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध विशेषतः जन्मसे है।"

इस सम्बन्धमें आपने संघका और शायद अपना भी यह पक्ष बताकर ठीक ही किया है, पर इसमें 'विशेषतः' पद विशेषतः विचारणीय है। 'विशेषतः' से आपका अभिप्राय क्या है? क्या शूद्र या ब्राह्मण में सौ अंशोंमें से पचहत्तर अंश या ऐसी ही किसी मात्रामें जन्मगत शूद्रत्व या ब्राह्मणत्व है और शेष अंशोंमें आजीविकागत? या आपका और ही कुछ आशय है? कृपया स्पष्ट कीजिये। वर्णव्यवस्था का सामाजिक भी उपयोग है, इतना कहना भी पर्याप्त नहीं है। कृपया यह स्पष्ट लिखिये कि आप वर्णव्यवस्था का आधार सामाजिक मानते हैं या धार्मिक? प्रश्न उपयोगिता का नहीं बल्कि आधारका है और आधारकी बात ही व्याख्यानमें कही गई थी।

शास्त्रार्थमें आपने, ऋषिप्रणीत तथा तदविरुद्ध आगमोंको प्रमाणभूत माना जायगा, ऐसा लिखा है; पर गृहस्थ विद्वानोंके और भट्टारकों के बनाये हुए शास्त्रोंको आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं? यह स्पष्ट नहीं होता। कृपया स्पष्ट कीजिये। आपके स्पष्टीकरणके पश्चात् ही मैं इस विषय में अपना मन्तव्य रख सकूँगा।

दोनों ओरके शास्त्रार्थ सम्बन्धी लेख बिना टीका-टिप्पणी किये अविकल रूपसे 'जगत्' छापने को तैयार है। या तो आप उसमें छपाना स्वीकार करें अथवा अपनी ओरसे कोई पत्र बतावें। यह निर्णय पहले ही करना ठीक है ताकि बादमें अलग अलग अपने वक्तव्य छपानेका प्रसंग न आवे। यदि कोई पुस्तकाकार छपावे तोभी वह दोनों ओरके वक्तव्य साथ छपानेके लिए बाध्य होना चाहिए।

खेद है कि आपके भेजे हुए नियमोंको स्वीकार कर लेनेसे शास्त्रार्थका विषय ही और का और हो जाता है। अतः उनमेंसे जिनमें संशोधन करना उचित और आवश्यक था, उनपर प्रकाश डाल चुका हूँ। आपके पत्रमें कई बातें अस्पष्ट हैं और कई आपने नयी बातें ऐसी लिख डाली हैं जिनके कारण नियमोंके सम्बन्धमें इस समय अन्तिम निर्णय पर पहुँचना असम्भव होगया है। ऐसी हालत में यही उचित है कि आप इन संशोधनोंको यदि स्वीकार करते हों तो अपनी अस्पष्ट बातोंको स्पष्ट कर मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं इनके आधार पर नियम बनाकर आपको भेज दूँ। इसके बाद शीघ्र से शीघ्र अपना पूर्वपक्ष भेजनेको तैयार रहनेकी कृपा करें।

मेरी पूर्ण इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ प्रामाणिकता और सचाईके साथ कियाजावे। मैं आपसेभी यही अपील करता हूँ।

कृपापत्र शीघ्र दीजिए। सकुशल होंगे।

—भवदीय,

शोभाचन्द्र भारिल्ल
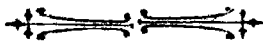
"जैनप्रकाश" का अनुचित कार्य।

श्री श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स की ओर से "जैनप्रकाश" नामका समाचारपत्र बम्बईसे प्रकाशित होता है उसके ७ मई सन् ३३ अंक २५के पत्रे ४८२से ४८४ तक मेरे नामसे अजमेर अधिवेशन पर दिये हुये स्वागताध्यक्ष भाषणका उपयोगी अंश लिखकर छापागया है।

कहने को तो वह उपयोगी अंश है, परंतु है वह लगभग साराही भाषण। सम्भव है कि जिस समय मैंने भाषण पढ़ा था, जैनप्रकाशके रिपोर्टरने उस समय लिख लिया हो।

परंतु यह समझमें नहीं आता कि मेरे भाषणको लिखने समय उसका आवश्यक और उपयोगी अंश रिपोर्टर महाशयही लिखना भूलगये हैं या किसी विशेष कारणवश सम्पादक महोदयने ही उस हिस्से को छापते समय निकाल बाहर करदिया है। बात चाहे जो कुछभी हो परंतु मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि मेरे भाषण में जो एक ज़रूरी बात थी वह सर्वथा छोड़दी गई है और फिरभी उपयोगी अंश लिखने का दुस्साहस किया है। यद्यपि जैनप्रकाशके छापे हुये लेखमें कहीं कहीं भूलेंभी रहगई हैं परंतु किसी बातको सुनते समय लिखने पर भूलको रहजाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है—हाँ किसी उपयोगी अंशको छोड़देना भूल नहीं होता बल्कि वह किसी गुप्त अभिप्राय या कारण विशेषको लेकर ही किया जाता है। ऐसाही अनुचित कार्य जैनप्रकाशके सम्पादक महोदय ने किया है, या किया है रिपोर्टर महाशय ने। भाषण ता० १ मई के जैनजगत् में छपा है। उसको पढ़कर अन्दाज़ा लगाया जासकता है कि जैनप्रकाशने मेरे भाषणके अत्यंत ज़रूरी और उपयोगी हिस्सेको न छापकर कितना भारी दोष और अनुचित कार्य किया है। मेरे भाषणका वह ज़रूरी हिस्सा जिसको मैं अबभी ज़रूरी समझ रहा हूं यह है—"और मुझे आप महानुभावोंका मात्र स्वागत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अतः मैं आपका स्वागत करता हूँ; बाक़ी आपके ठहराने खाने पीने और रोशनी आदि आवश्यक वस्तुयें पहुँचाने की तमाम ज़िम्मेदारी प्रबन्धकारिणी कमेटी परही है। आपके आरामका श्रेय और तकलीफ़का उत्तरदायित्व सब प्रबंधकारिणीको ही प्राप्त है। अतः आप प्रबन्ध की समस्त ज़िम्मेदारियों से मुझे पृथक् समझकर स्वागतकर्ता की हैसियतसे मेरी दो बातें सुनने की कृपा अवश्य ही कीजिये"। आशा है कि पाठक महोदय जैनप्रकाशके मनोभावका अन्दाज़ा लगाकर मेरे भाषणको जैनजगत्से या, जैनप्रकाशसे उपरोक्त सुधारके साथ, पढ़ेंगे—

(जैनसमाजभूषण सेठ) ज्वालाप्रसाद जैन, महेन्द्रगढ़

हाल निवास—गुरुकुल पंचकूला

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.
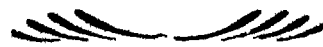
वर्ष ८ १६ जून सन् १९३३ अङ्क १६

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

卐 जैन जगत् 卐

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई.
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

हर्षसमाचार।

हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि श्रीमान डॉ० निहालकरणजी सेठी डी. एससी. की द्वितीय पुत्री सुभद्राकुमारीने इस वर्ष यू० पी० बोर्डकी इंटर० साइंसकी परीक्षा प्रथम श्रेणीमें पास की है तथा कैमिस्ट्री व बायोलॉजीमें विशिष्ट योग्यता प्रदर्शित की है। आपकी तीसरी पुत्री कमलाकुमारी ने इसी वर्ष यू० पी० बोर्डकी मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा द्वितीय श्रेणीमें पास की है। सुभद्राकुमारी आगे डॉक्टरी पढ़नेके लिये तैयारी कररही है। जहाँतक हमारा खयाल है खंडेलवालसमाजमें ही नहीं, किन्तु जैनसमाजमें भी, डॉक्टरीकी शिक्षा प्राप्त करनेवाली यह सर्वप्रथम बालिका होगी। श्रीमान डॉ० निहालकरणजी सेठी एक विचारशील व कर्मशील सुधारक हैं, व विद्वनमंडलीमें आपका खास स्थान है। आपसे जैनसमाजको बहुत आशाएँ हैं। हम आपको इस सत्साहस पर तथा बालिकाओंको सफलतापर बधाई देते हैं।

राजपूताना व मध्यभारत शिक्षाबोर्डकी मैट्रीक्यूलेशन परीक्षामें अजमेर गवर्नमेंट हाईस्कूलका एक जैन छात्र छीतरमल प्रथमश्रेणीमें प्रथम नम्बर आया है। इस सफलता पर हम इस होनहार युवकको बधाई देते हैं व उसके अभिभावकोंसे आशा करते हैं वे उसको उच्चशिक्षा दिलानेमें कोई कसर न रक्खेंगे।

स्थानीय चर्चा।

(१) मुनिवेषी ज्ञानसागरजी यहाँ से किशनगढ़ रैणवाल चले गये थे किन्तु चौमासा यहाँ करनेकी इच्छासे वापिस चले आये। यद्यपि इनके विषयमें पहिलेही बहुत कम लोगोंकी श्रद्धा भक्ति थी, किन्तु थोड़ेसे ही सम्पर्कसे रहे सहे भक्त भी सम्हल गये। सुना गया है कि कुछ भक्तोंने साफ कह दिया कि आप अमुक अमुक शर्तें स्वीकार करने पर ही यहाँ चौमासा करसकते हैं। आपने कुछ दिन पहिले एक गाँवमें अधूरा केशलोंच किया था, अर्थात् सिरके कुछ भागके केश गायब हैं तथा बाकी केश ज्योंके त्यों हैं। पूछने पर कि आपकी यह क्रिया किस शास्त्रके अनुसार है, आप कुछ उत्तर न देसके और खिसियाने लगे। यहाँ दाल गलती न देखकर आप ब्यावरकी तरफ चलेगये हैं। शायद ब्यावरकी अंधभक्त समाजमें आपका निभाव होजाय।

(२) इन दिनों यहाँ कई मोसर हुए। ज्यौनारों के कारण श्रीमान जातिभूषण (?) डॉ० गुलाबचंद-जी पाटनीका प्रश्न भी फिर ताजा होगया। पाठकों को मालूम होगा कि इनके विषयमें स्थानीय तेरह-पंथी धड़ेकी पंचायतमें दो दल हो रहे हैं तथा एक दलने, जिसमें धड़ेके अधिकांश प्रतिष्ठित व्यक्ति शा-मिल हैं, यह निश्चय कररखा है कि तेरहपंथी धड़ेकी किसी ज्यौनारमें डाक्टर साहिबको अपने भाईके न्यौतेसे शामिल न होने दिया जाय अर्थात् यदि डाक्टर साहिब अपने भाईके न्यौतेसे धड़ेकी ज्यौ-नारमें आवें तो उक्त दलका कोई व्यक्ति शरीक न हो। इसका परिणाम यह हुआ कि डॉक्टर साहिब के भाईका न्यौता भी टाला जाने लगा। अतः अब डॉक्टर साहिबके पक्षवालोंने तय किया है कि किसी भी धड़ेका कोई व्यक्ति अगर डाक्टर साहिबके भाई को न्यौता दे तो उसमें वे शरीक हों, अन्यथा नहीं। आजकल जब किसीके यहाँ ज्यौनार होती है तो डाक्टर साहिबके पक्षवाले डाक्टर साहिबके भाईके नामका न्यौता देनेके लिये उस पर हर तरहका द-बाव डालते हैं तथा न्यौता न देनेपर अपने दलवालों के नाम उस ज्यौनारमें शरीक न होनेका फ़र्मान नि-कालते हैं। इन फ़र्मानोंकी अवहेलना होरही है। दे-खना है कि इन हुकूम उदूली करने वालोंके खिलाफ़ अब क्या कार्यवाही की जाती है।

[पृष्ठ २८ का शेषांश]

इस जाँचका परिणाम मालूम होने तक फिलहाल आगे लिखना उचित न समझा तो आप फ़ौरन ही पलट कर कहते हैं—

"जब जैनजगत इस विषयमें आगे कुछ लिखेगा तभी हमको समुचित कार्यवाही करनी पड़ेगी"। क्या ब्रह्मचारी जी बतलावेंगे कि वे अपने वचनसे एकाएक क्यों फिर गये?

ब्रह्मचारीजी हमें दिगम्बर जैनधर्मावलम्बी तो क्या एक सामान्य जैन भी नहीं समझते वरन् जैनधर्मकी जड़ खोदने-वाला मानते हैं; तो माना करें, इसका हमें कुछ चिंता नहीं है। जिन कारणोंसे कतिपय स्थितिपालक बन्धु हमारे विषयमें ऐसा ख़याल करते हैं, वे कुछ मात्रामें ब्रह्मचारीजीमें भी विद्य-मान हैं। भेद सिर्फ़ इतनाही है कि जब ब्रह्मचारीजी, बाध्य किये जानेपर भी उसी विषयपर बोलते हैं कि जो आपके विचारानुकूल होनेके साथही सर्व या अधिकांश जैनसमाज को सहमत हो,' हम किसीके सहमत या असहमत होनेकी पर्वाह किये बिना सत्य बातको जनताके समक्ष रखते नहीं हिचकते। ब्रह्मचारीजी पहिले जब सेठ माणिकचन्द हीरा-चन्द जुबिलीबाग़ ट्रस्टफंडकी ओरसे उपदेशक नियुक्त थे तब विजातीयविवाहको शास्त्रसम्मत व समाजरक्षाके लिये अत्यंत आवश्यक प्रतिपादन करते थे, त्रिवर्णाचार आदि शा-स्त्रोंके विरोधी थे; लेकिनआज नौकरी पलटजानेपर इनविषयों पर बिलकुल मौन साध रखा है। सम्भव है कोई मौका प्रतिकूल पक्ष ग्रहण करनेका भी आ जावे। साथ ही एक बात और भी है। सामाजिक विषयोंपर जनताका रुख प्रायः सदा एकसा नहीं रहता। जो लोग कुछ समय पहिले विजातीयविवाहके नामसे चौंकते थे, वे आज खुलमखुल्ला उसे धर्मसम्मत सिद्ध कररहे हैं। जो लोग मुनीन्द्रसागर चर्चाके कारण जैनजगत्को मुनिनिन्दक कहकर उसका ब-हिष्कार करते थे, आज वे मुनीन्द्रसागरके नामसे घृणा क-रते हैं। जैनजगत्के आन्दोलनका ही यह परिणाम है कि आज जैनगज़ट व खण्डेलवालहितेच्छु तकको मुनीन्द्रसा-गरके समाचार छापते हुए लज्जा मालूम होती है। यही बात और विषयोंमें भी है। आप ज़रा सब्रके साथ आन्दो-लनकी प्रगतिका अध्ययन करें। बहुत शीघ्र आपको व आपके साथियोंको मालूम होजावेगा कि जैनधर्मकी वास्त-विक सेवा आप कर रहे हैं या वे जिन्हें आप जैनधर्मकी जड़ खोदनेवाला मानते हैं।

ब्रह्मचारीजीके वक्तव्यमें कई बातें आपत्तिजनक हैं, परन्तु उनपर विशेष लिखनेके लिये हमारे पास न पर्याप्त समय है, न स्थान। खैर, जिस कारण ब्रह्मचारीजीको इस प्रकार दमननीतिका सहारा लेना पड़ा, उसका सारा रहस्य उनके व शोभाचन्द्रजीके शास्त्रार्थसे प्रकट होही जावेगा।

—प्रकाशक।

वर्ष ८
जैनजगत्
अंक १६
आषाढ़ कृष्णा ९
वीर संवत २४५९
ता० १९ जून
सन् १९३२ ई०

गजपन्थके अनुभव ।

नासिक शहरसे करीब तीन मीलपर म्हसरूल नामका एक छोटासा गाँव है। यहीपर गजपन्थक्षेत्र की धर्मशाला है। यह स्थान समुद्रतटसे करीब १९०० फुट ऊँचा होनेसे गर्मीमें भी ठंडा रहता है। इसलिये गर्मीकी छुट्टियोंमें मैं यहाँ २६ दिन रहा। धर्मशालासे डेढ़ मीलपर एक पर्वत है जिसमें जैन गुफा हैं, जिसका जीर्णोद्धार अभी हुआ है। बौद्धों की प्राचीन गुफाओंकी अपेक्षा यह स्थान बहुत छोटा है, फिरभी अच्छा है। नीचेसे गुफातक पक्की सीढ़ियाँ बनी हैं। चढ़ाई बहुत ज्यादः नहीं है किंतु एकदम खड़ी होनेसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक परिश्रम लेती है। तलहटीमें भी एक मन्दिर है। यात्री धर्मशालामें ही ठहरते हैं। गर्मीके दिनोंमें यहाँ काफी चहल पहल रहती है। फिरभी मेरेलिये तो एकान्त ही था। यहाँ पर मुझे ऐसे बहुतसे अनुभव हुए हैं जो पाठकोंके लिये उपयोगी है।

धर्मकी विडम्बना।

हमारे देशमें धर्मकी जितनी विडम्बना होती है उतनी किसी देशमें नहीं होती। लोगोंसे हम जितनी घृणा प्रकट करते हैं, समझते हैं उतनाही धर्म करते हैं। और कभी कभी यह मूढ़ता इतनी सीमापर पहुँच जाती है कि हृदय अत्यन्त खिन्नसा होने लगता है!

जैनधर्मशाला में सब लोग जैनी ही उतरते हैं। एकदिन प्रातःकाल बहुतसे यात्री पर्वतपर जानेवाले थे, इसलिये जल्दी जल्दी स्नान कररहे थे। ठण्ड काफी थी, इसलिये गर्म पानीका उपयोग किया जा रहा था। एक बाईभी अपने लिये गर्मपानी तैयार कररही थी। दुर्भाग्यसे उसके स्नानका पानी किसी दूसरी बाईसे बदल गया। बस, पहिली बाईके धर्म डूबनेमें देर न लगी, यद्यपि उसके पतिने दूसरी बाई को अनुज्ञा देदी थी। पहिली बाईकी आपत्ति यह थी कि तुम्हारे हाथके पानीसे मैं स्नान कैसे करलूँ? पति ने अनुज्ञादी इसलिये पति पर, और उस दूसरी बाई पर उस पहिली बाईने खूब अग्निवर्षण किया और इस प्रकार उसने अपने धर्मको डूबनेसे बचाया, तथा क्रोधरूपी अग्निमें तपाकर उसे शुद्ध किया।

मैं एक नाटककी तरह यह तमाशा देख रहा था। मेरे लिये छूताछूत विचारकी इतनी तीव्र मात्रा का यह पहिला ही अनुभव था। भंगी चमारोंको न छूनेकी और जैनेतरोंके घरका पानी न पीने की बीमारी तो मेरे प्रान्तमें भी है, जिससे मैं चिरपरिचित था। इसके बाद इससे भी उग्ररूप मुझे दस वर्ष पहिले महेश्वरमें देखने मिला था। वहाँके पोरवाड़ भाई दूसरी जातिके लोगोंके हाथका भोजन नहीं करते, न साथ जिमाते हैं, भलेही वे शुद्ध दिगम्बर जैन ही क्यों न हों! कोई दिगम्बर जैनमुनि अगर उनके चौकेमें चलाजावे तो उनका चौका अपवित्र होजाता है। परन्तु ये सब भोजनकी बातें हैं। जलपानके मिथ्यात्वका उग्ररूपतो शान्तिसागर संघकी कृपासे देखने मिला, जब उनने घोषणा की कि श्वेताम्बरके हाथका भी पानी न पीना चाहिये। पछे खिसकन्त करते करते यहाँ तक आगये कि शूद्रके

हाथका पानी न पीना चाहिये। शान्तिसागर संघके इस दम्भ और मिथ्यात्वको मैं इस विषयके मिथ्यात्वकी चरमसीमा समझता था। परन्तु उसदिन उस बाईको देखकर मुझे कहना पड़ा कि "गुरुजी तो गुड़ही रहे, चेली चीनी होगई"। एक दिगम्बर जैनके पानीसे दूसरा दिगम्बर जैन स्नान करनेमें भी अधर्म समझे, इस समाचारसे स्पृश्यास्पृश्यविचारकोंके घर घीके दिये जलने चाहिये।

मैंने सोचा, आखिर इस बाईकी मनोवृत्ति क्या है, जिससे वह इसप्रकार धर्मकी विडम्बना करने पर उतारू होगई है? वह पुण्य पापका विचार किस कसौटी पर करती होगी? और वह किसीको छूलेनेमें पाँच पापोंमें से कौनसा पाप मानती होगी? पीछे मैंने निश्चय किया, आजकल मुनिवेषियोंद्वारा जो दिशा पकड़ाई जाती है उसीका यह विकास है। जब कोई मुनिवेषी या दम्भी पंडित कहता है कि शूद्र के हाथका पानी मत पियो, तबभी यह प्रश्न उठता है कि शूद्रके हाथका पानी पीनेमें कौनसा पाप है? ऐसा तो है नहीं कि ब्राह्मणके हाथके पानीमें कम कीड़े हों और शूद्रके में ज्यादः। इसलिये हिंसाका विचार तो है नहीं, और बाकी चार पापोंका तो यहाँ सम्बन्ध ही नहीं है, तब कौनसा पाप है? यह छठा पाप कहाँ से आगया, जो तीर्थकरोंको भी न सूझा? परन्तु साधारण लोग ऐसा विचार नहीं करते। वे तो सोचते हैं कि पाँच पापमें भलेही कोई कार्य शामिल न होताहो, फिरभी नग्न होकर अगर कोई उसे पाप कहदे तो पाप होजाता है! उस बाईने सोचा होगा कि पाँच पापमें शामिल न होनेपर भी अगर शूद्र जल पीना पाप है या जैनेतरका पानी पीना पाप है तब किसीभी दूसरी जातिका, चाहे वह दिगम्बर जैन ही क्यों न हो, पानी पीना क्यों न पाप होगा? और अगर पीना पाप है तो स्नान करना क्यों न पाप हो? जो पानी, पीने से पेटके भीतर जाकर मल मूत्र तक को अपवित्र करदेता है वह बाहरके स्वच्छ चमड़े को अपवित्र क्यों न करदेगा? अगर परहेज करना और दूसरोंसे घृणा करना धर्म है तो वह जितना ज्यादः कियाजाय उतनाही अच्छा है। मुझे मालूम नहीं कि वह बाई अपने पतिके हाथका पानी पीती है कि नहीं। अगर न पिये तो निःसन्देह इन्द्राणीको उसके लिये अपना स्थान खाली करना पड़ेगा! जबतक मनुष्य जातिके इतने टुकड़े न होजाँय जितने कि मनुष्य हैं और जबतक प्रत्येक मनुष्य अपनेको सबसे अधिक पवित्र और दूसरोंको पूर्ण अपवित्र समझ कर घृणा, द्वेष, कलह, अभिमानकी मूर्त्ति न बनजावे तबतक शान्तिसागर आदिको चैन न लेना चाहिये। जहाँ अक़लको दख़ल नहीं, वहाँ धर्म की विडम्बना का क्या डर?

अतिशय कैसे पैदा होते हैं?

बूढ़ोंके मुँहसे मैंने सुनाथा कि जो लोग पापी होते हैं, उन्हें तीर्थोंकी वंदना नहीं होती। कोई स्त्री रजस्वला हो तोभी उसे वंदना नहीं होती है। एकबार शिखरजी के पहाड़ पर एक आदमी को अँधेरा छागया था और उतरना पड़ा था। इसीप्रकार की कुछ अन्य घटनाओंके उल्लेख 'डुकरिया—पुराण' में सुने थे। इससे वे लोग तीर्थोंकी महिमा बताते थे। अगर उनसे पूछा जाय कि तीर्थोंपर दिगम्बर–श्वेताम्बरों के इतने झगड़े होते हैं, चोरियाँ होती हैं, कर्मचारियों की लूट होती है, खून खराबी होती है, व्यभिचार और भ्रूणहत्याएँ तक होती हैं; परन्तु इन सब पापियों की आँखोंके आगे अँधेरा क्यों नहीं छाजाता? इस प्रश्नावलीसे अन्धभक्तोंकी आँखे काफी लाल तो हो जायँगी परन्तु उत्तर न मिलेगा।

दुर्भाग्य या सौभाग्यसे मुझेभी इसअतिशयका अनुभव हुआ। मैं चलनेमें विशेष कमजोर नहीं हूँ। अभी मैं बोरीवलीकी बौद्ध गुफाएँ देखने गया और जंगल में भूल गया तो उतरते चढ़ते उसदिन बीस मीलका चक्कर लगाना पड़ा, फिरभी मुझे कुछ विशेष

कष्ट न हुआ। गजपन्थका पर्वत विशेष कठिन नहीं है। शिखरजी की पार्श्वनाथटोंक और पावागढ़ की चढ़ाईके आगे वह नहीं के बराबर है और इन स्थानों की वन्दना मैंने मजेसे की है। इसलिये गजपन्थ पर तो मैं दौड़कर चढ़ने लगा। परन्तु यह दौड़ना बुरा हुआ। ऊँची ऊँची सीढ़ियाँ होनेसे मुझे खूब पसीना आया और उसीसमय जोरकी हवा चली। दोनों अवस्थाओंका कुछ ऐसा अद्भुत संयोग हुआ कि मुझे चक्कर आगया और मैं धीरेसे बैठगया। उस समय आँखें खोलने पर भी मुझे अपना हाथ भी दिखाई न देता था इस अवस्थामें मैं चिंतितभी था, चकितभी था और 'ढुकरिया पुराण' की पुरानी बातोंका स्मरण भी करता था। थोड़ीदेर बाद मैं स्वस्थ हुआ और वन्दना करके वापिस आया। मैंने तो इस घटनापर बुद्धिपूर्वक विचार किया। अगर कोई साधारण आदमी होतातो अपनेको पापी समझ कर और तीर्थके अतिशयकी महिमा गाकर लौट आता। परन्तु मैं तो बराबर गया और इसके बाद फिर दो बार और गया, परन्तु फिर इस अतिशयने कृपा नहीं की। उसदिन मुझे एक अनुभव हुआ कि अतिशय कैसे पैदा होते हैं!

एकबार एक अतिशय और हुआ। एक दिन दस पन्द्रह मिनिट पानी बरसा और मेरी कोठरी में खूब पानी भरगया। पहिले दिन किसी तरह यह कष्ट सहा। परन्तु दूसरे दिन ज्याद: बादल छाये। मुझे बहुत चिन्ताहुई। चूँकि रात्रि होगई थी इसलिये आज सोनेकी चिंताथी। खैर, भाग्यभरोसे कमरेमें बैठा रहा और पानी बरसा। उसदिन कई घन्टे पानी बरसा किन्तु आश्चर्य कि मेरी कोठरीमें एक बूँद भी पानी नहीं आया। पन्द्रह मिनिट की वर्षा में कोठरी भरगई थी और कई घन्टेकी वर्षामें एक बूँद भी न गिरी! यह एक अतिशय तो था ही। दूसरे लोग कहने लगे कि आज तो पण्डितजीके यहाँ अतिशय हुआ। मैंने कहा, अतिशय तो है ही, क्योंकि लोगोंको जिस घटनाका कारण समझमें नहीं आता उसे वे अतिशय कहदेते हैं। परन्तु मेरी दृष्टि में यह अतिशय नहीं है। जब मैं तीर्थंकरोंके प्रचलित अतिशय नहीं मानता, तो अपने अतिशय कैसे मानूँगा? अतिशयके भूखे दूसरे हैं और बहुत हैं।

एकभाई बोला—क्या आप अरहन्तके अतिशय नहीं मानते?

मैं—मानता हूँ। वे आत्मज्ञानी थे, वीतराग थे, जगत्का असाधारण कल्याण करते थे। ये अतिशय उनमें मानता हूँ। परन्तु वे अतिशय नहीं मानता जो एक भूतपिशाचमें भी होसकते हैं, जिनसे आत्मा की शुद्धताका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे अतिशयोंसे भगवानका सौन्दर्य खिलता नहीं है, मुरझाता है।

ये सब बातें लोगोंको अद्भुत मालूम हुईं, अरुचिकर भी मालूम हुई होंगी, परन्तु इनका उत्तर न था। अगर मेरे स्थानपर कोई मुनिवेषी होता तो अवश्य ही उसके अतिशय के गीत गाये जाते।

हाँ, मेरे कमरेमें दूसरे दिन पानी क्यों नहीं आया, इसकी मैंने जाँच की। उससे मालूम हुआ कि कमरेके छप्परपर ढाल नहीं है और खपरे ठीक जमे हुए नहीं हैं किन्तु उठे हुए हैं। इसलिये जब पानीकी बौछार पश्चिमसे पूर्वकी तरफ पड़ती है तो खपरेके भीतर बौछारसे पानी घुस जाता है और कमरेके भीतर पहुँचता है, अन्यथा नहीं पहुँचता। अन्धश्रद्धालुओंके लिये जो अतिशय हैं, विवेकीको वे प्राकृतिक घटनाएँ हैं।

तीर्थ बनाना।

एक दिन शामको मेरे साथ एक भाई घूमने गये। वहाँ की ठंडी हवासे प्रसन्न होकर मैंने कहा कि तीर्थ इसीप्रकारकी ठंडी हवामें बनाना चाहिये। वह भाई चौंक कर बोले-क्या तीर्थ बनाये जाते हैं?

मैंने कहा—हाँ, साधारण आदमी तीर्थ नहीं बना सकता किन्तु कोई महात्मा, महापुरुष अथवा समाज तीर्थ बना सकता है।

यह बात उन्हें समझमें नहीं आई। विशेष जिज्ञासा न देखकर मैंनेभी समझानेकी कोशिश न की।

मुझे अनुभव हुआ कि मनुष्यमें पण्डिताई जल्दी आसकती है, परन्तु उसमें विचारकता और सत्यकी जिज्ञासा मुश्किलसे आती है। हमारी समाजके बड़े बड़े विद्वान भी यही समझते हैं कि तीर्थ बनाये नहीं गये हैं, वे तीर्थङ्करोंके समयसे ही चले आरहे हैं। हमें तीर्थ बनानेका अधिकार ही नहीं है। इस मिथ्यात्वसे अगणित अनर्थ हुए हैं। आज देवगढ़, कुण्डलपुर (दमोह) पवा आदि बहुतसे तीर्थ हैं जिनका प्राचीन शास्त्रोंमें उल्लेख ही नहीं है, मन्दिरोंकी विशालता और बहुसंख्यकताने ही जिन्हें तीर्थ बनादिया है। बाहुबलिकी असाधारण मूर्तिने श्रवणबेलगुलको तीर्थ बना दिया है। दक्षिणके और भी बहुतसे तीर्थ इसीप्रकार बने हैं। आबूका तीर्थ भी वस्तुपाल तेजपालकी रचना है। खण्डगिरि, उदयगिरि, केशरियानाथ आदि भी इसी श्रेणीके हैं। हम यह नहीं सोचते कि हमारे निकट पूर्वजोंने अगर ये तीर्थ बनाये हैं तो हमारे दूरभूत के पूर्वजोंने वे तीर्थ बनाये होंगे, जिनके लिये हम रुपयोंके पहाड़ लुटा रहे हैं और प्रेम, बन्धुभाव आदिकी भी हत्या कर रहे हैं।

हमारे खयालमें शिखरजीपरसे अजितनाथ आदि तीर्थंकर मोक्ष गये हैं और उनकी टोंकें वे ही हैं जिन्हें हम पूजते हैं। अजितनाथजीका शरीर ४५० धनुष अर्थात् २७०० फुट ऊंचा बताया जाता है, परन्तु शिखरजीकी वह टोंक इतनी ऊँची नहीं है, न उसपर इतनी जगह है कि उसपर इतना बड़ा मनुष्य बैठ सके। और मजा यह है कि पार्श्वनाथजी उस टोंकपरसे मोक्ष गये हैं जो सबसे ऊँची है, जब कि उनका शरीर वहाँ से मोक्ष जाने वाले तीर्थकरों में सबसे छोटा है। हम इतने कुज्ञानान्ध हो गये हैं कि मोटी मोटी बातोंको भी समझनेकी कोशिश नहीं करते। अगर करते होते तो तीर्थोंके नामपर ऐसे झगड़े न होते। हम यह सोचते कि जिसप्रकार मन्दिरमें रक्खी हुई पत्थरकी मूर्ति भक्तिका अवलम्बन मात्र है जोकि हमने ही बनाया है, वह भगवान का शरीर नहीं है; उसी प्रकार ये तीर्थक्षेत्रभी भक्ति के अवलम्बनमात्र हैं जोकि हमने बनाये हैं। हमारे द्वारा बने होने पर भी अगर मन्दिर और मूर्तियाँ हमें पूज्य हैं तो तीर्थभी पूज्य रहेंगे। कृत्रिमतासे पूज्यता नष्ट नहीं होती। इसप्रकार अगर हमने सत्य को पालिया होता तो तीर्थोंके नाम पर हम न तो इतने लड़ते और लड़ाई भी हुई होती तो हमने उन लड़ाकू तीर्थोंको छोड़कर शिमला, दार्जिलिंग, मंसूरी आदि पर नये तीर्थ (अर्थात् तीर्थमूर्त्तियाँ) बनाये होते। इससे प्रेम रहता, शान्ति रहती, आर्थिक हानि बचती और प्रभावना होती। परन्तु आज हममें इतना विवेक कहाँ है ?

उस दिन मैं पंचवटी पर सीता गुफा देखने गया। बड़ी मुश्किलसे झुक कर गुफाके भीतर पहुँचा। परन्तु गुफाके भीतर जो गुफा थी उसके द्वारको तो मोटासा छिद्र कहना चाहिये, जिसमें से मैं लेटकर खिसकते खिसकते निकल पाया। आजकल तो वहाँ बिजलीके ग्लोब चमक रहे हैं इसलिये भय नहीं मालूम हुआ, परन्तु यदि वहाँ अँधेरा कर दिया जाय तो भयको भी भय मालूम होने लगे। कहते हैं, सती सीताजीके इस स्मारकमें सैकड़ों स्त्रियोंने अपने सतीत्वके साथ सर्वस्व खोया है। यह भी कहा जाता है कि रावणने सीताजीको हरकर यहाँ रक्खा था। मजा यह है कि यह गुफा भी पंचवटीमें है। रावण भी बड़े मजेका आदमी था कि पंचवटीसे सीताको चुराकर पंचवटीमें ही रक्खा ! साहुकार का माल चुराकर साहुकारके घरमें रक्खा। रामके जमानेमें मनुष्योंका शरीर जितना बड़ा होता था और रावण जितना बड़ा था उसके अनुसार तो उसकी अङ्गुली भी गुफामें नहीं आसकती। परन्तु सीता भक्तोंको इससे क्या मतलब ? हमारे जैनी भाई

जरूर सीतागुफाकी इस असंगतता पर हँसेंगे; परन्तु इसी तर्क पर जब कोई उनके शिखरजीपर या गिरनारकी राजीमती गुफा पर हँसेगा तो आँखें बतायँगे । जब मिथ्यात्व, धर्मके वेषमें आता है तब मनुष्यको इसीप्रकार पागल बनादेता है मैं यह नहीं कहता कि यह बीमारी जैनियोंमें ही है । नहीं, भारतवर्ष भरमें है, और बाहर भी सब देशोंमें है । परन्तु वह व्यापक और पुरानी होने पर भी है बीमारी ही ! अगर हमारी यह बीमारी छूट जाय तो हम तीर्थोंको बनाना सीखजाँय, उनसे शान्ति लेना सीखजाँय और उनकी पूजा करना सीखजाँय ।

त्यागमूढ़ता ।

मैं प्रायः प्रतिदिन शामको सपत्नीक घूमने जाता जाता था । कभी कभी अन्य स्त्रीपुरुषोंका साथभी हो जाता था । एक दिन हम पाँच सात स्त्रीपुरुष घूमने गये । रास्तेमें स्त्रियोंने प्रस्ताव किया कि तुम आगे जाओ, हम यहीं बैठती है मैं यह कहकर आगे बढ़ा कि अगर हम लोगों को लौटनेमें देर हो जाय तो तुम लोग लौट जाना । स्त्रियाँ वहीं रहीं और हम लोग एक नालेके बाँध पर पहुँचे । स्त्रियाँ जहाँ बैठी थीं वह स्थान मुझे बाँध पर से दिखलाई देता था । जब अँधेरा होने लगा तब मैंने यह देखनेकी कोशिश की कि स्त्रियाँ गई कि नहीं ? अगर चली गई हों तब यहाँ जरा और बैठा जाय; अन्यथा अपनेको चलना चाहिये क्योंकि अँधेरेमें उन्हें अपने लिये रास्तेमें बैठना पड़े यह ठीक नहीं । इतनेमें एक भाईने कहा— 'आप बारबार अपनी पत्नी को क्यों देखते हैं ? आप तो चिरविवाहित हैं, फिर भी इतना मोह क्यों है ? मैं अपनी पत्नीकी पर्वाह नहीं करता, कहो तो मैं अभी छोड़दूँ ? '

जिस भाईने यह बात कही थी उसके लिये यह छोटे मुँह बड़ी बात थी । परन्तु हमारे भाइयोंकी विनय वेषधारियोंने चूसली है इसलिये औरोंके लिये इनसे विनयकी, आशा व्यर्थ है । मुझे खेद हुआ उसकी त्यागमूढ़ता पर । पहिले तो उस भाईका अहंकार ही मिथ्या था, क्योंकि उसमें वह शक्ति नहीं थी जिसका उसने अभिमान किया था; परन्तु यदि होती भी, तो यह त्यागमूढ़ता समाजका दुर्भाग्य है । हमारे यहाँ स्त्रियोंकी रक्षा करना और उनके सुख दुःखका खयाल रखना मोह समझा जाता है । पढ़ लिख करके भी लोग इतना नहीं समझ पाते हैं कि कर्तव्य और मोहमे क्या अन्तर है ? कोई स्त्री अगर पतिके सुखदुःखकी पर्वाह न करे और कहे कि—"मैं पतिकी कुछ पर्वाह नहीं करती, कहो तो पतिको अभी छोड़दूँ" तब ये निर्मोहताभिमानी उसे असती, दुराचारिणी, कृतघ्न आदि न जाने क्या क्या कहेंगे ! क्यों भाई यह मनोवृत्ति यदि तुम्हारे लिये धर्म है तो स्त्री के लिये धर्म क्यों नहीं ?

जो लोग अत्यन्त विषयातुर हैं, जिनका जीवन ही स्त्रीमय है, जो इतने अधिक स्त्रीमोही हैं कि दूसरे तीसरे और चौथे विवाहके लिये मुँह बाये बैठे रहते हैं वे भी इस प्रकार त्यागका दंभ करते हैं, और लापर्वाही दिखाकर त्यागी होने का अभिमान करते हैं । भगवान महावीरने स्त्री और पुरुषको जो समानता दी थी उससे ज्यादः समानता कोई दूसरा धर्म या सम्प्रदाय नहीं देसका । फिर भी आज पढ़े लिखे जैनियोंके मनमें भी स्त्री एक भोग्य परिग्रह है, उसके सुखदुःखका विचार करना मानों मोही हो जाना है । इस बुरी मनोवृत्तिने स्त्रियोंको कितना पददलित किया है और उन्हें पशुके समान मूक रहकर कितने दुःख सहने को विवश किया है, इसकी कहानी कसाइयोंकी कहानी है । अन्तर इतना ही है कि कसाइयोंकी क्रूरताको हम पाप कहते हैं जब कि इसे हम त्याग, निर्मोहता आदि शब्दोंकी ओटमें छुपाकर और भी अधिक भयंकर बना डालते हैं ।

वसन्त व्याख्यानमाला ।

नासिकमें कुर्तकोटी शङ्कराचार्यकी तरफसे भई

महीनेमें गच्छवटीपर एक व्याख्यानमाला चालू होती है। प्रतिदिन किसी चुने हुए विद्वानका एक भाषण होता है. और भाषणके पीछे श्रोता लोग वक्तासे प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर वक्ता देता है। ता० ६ मई को 'जैनधर्म' विषय पर मेरा भी व्याख्यान रक्खा गया सवा घंटे मैंने व्याख्यान दिया और एक घंटे तक प्रश्नोत्तर हुआ। इसमें मैंने जैनधर्मके अनेकान्त पर जोर देते हुए सर्वधर्मसमभावके रूपमें उसकी व्याख्याकी तथा अहिंसाका व्यवहार्य रूप बतलाया। (व्याख्यान तथा प्रश्नोत्तरों का सार लेखमालामें आही जायगा इसलिये यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती।)

अध्यक्षने कहा कि—हम समझते थे कि हिन्दू धर्म ही एक ऐसा व्यापक धर्म है जिसमें सब धर्म समा सकते हैं, परन्तु आजके व्याख्यानसे मालूम हुआ कि जैनधर्म भी व्यापक धर्म है। साथ ही यह भी मालूम हुआ कि हम सब धर्म वाले एक दूसरे के बहुत पास हैं। हमारा विरोध बनावटी है आदि।

गर्मीकी छुट्टियोंमें ऐसी व्याख्यानमालाएँ जगह जगह हों तो इसमें बहुत लाभ होसकता है जैनियों को भी इसप्रकार की व्याख्यानमालाएँ चालू कराना चाहिये। बड़े बड़े शहरोंमें जहाँ जैनियोंकी अच्छी बस्ती है तथा शिमला आदि ऐसे स्थानोंमें जहाँ गर्मी में जैनियोंकी काफी बस्ती होजाती है ऐसी व्याख्यानमालाएँ बहुत लाभप्रद होंगी। व्याख्यानमालामें उदार विचारके जैन तथा जैनेतरों को निमन्त्रण देना चाहिये। प्रभावनाके लिये हमारी समाज में जितना उटपटाँग खर्च होता है, उसके साम्हने व्याख्यानमालाकी योजनामें कुछ भी खर्च नहीं है।

गुणमें भाग, दोषमें गुण।

धर्मशालामें एक प्रसिद्ध विदुषी बहिनभी ठहरी हुई थीं। एकदिन उनने मुझसे कहा—मैंने सुना है कि आप तीर्थंकर, अर्हन, सर्वज्ञ आदि कुछ नहीं मानते; फिरभी देखती हूँ कि आप हर दिन मंदिर जाते हैं, स्तुति करते हैं। जब आप उन्हें मानतेही नहीं तो ऐसा क्यों करते हैं? इस विरोधका क्या आप परिहार करेंगे?

मैंने हँसकर कहा कि आपको मैं पागलतो नहीं मालूम होता? वे बोलीं—नहीं, तभीतो मेरे सामने विचारणीय समस्या है। इतना तो मैं जानती हूँ कि विरोधी लोग अपने विपक्षीके गुणोंमें भाग देकर उन्हें बहुत थोड़ा बताते हैं और दोषोंमें गुणा करके उसकी खूब निंदा करते हैं। आपके विरोधी कम नहीं हैं इसलिये मेरी इच्छा है कि आपसेही इस विषयका खुलासा माँगूँ।

मैंने कहा—इसके लिये कुछ स्वतन्त्र समयकी आवश्यकता है। बादमें दोतीन दिन इस विषयका अपना दृष्टिबिन्दु मैंने उन्हें समझाया और कहा कि मैं तीर्थंकर, सर्वज्ञ, अर्हन्त आदिको मानताहूँ किन्तु उनके स्वरूपको निरुपयोगी बाह्य अतिशयों और असम्भव कल्पनाओंके भीतर नहीं दबाना चाहता।

उनको मेरी बातें जँची या नहीं, यह मैंने नहीं पूछा, न पूछनेकी जरूरत थी; परन्तु उनने मेरा दृष्टिबिन्दु समझा अवश्य। साथही यहभी समझा कि इनके विचार ठीक हों या न हों किन्तु इनके भीतर अध्ययन, मनन और तर्कवितर्क गम्भीर है तथा उत्तरदायित्व भी है।

मुझे बदनाम करनेवालोंकी मनोवृत्तिको मैं अच्छी तरह जानता हूँ, क्योंकि उनके द्वारा होने वाली बदनामीही मेरी विजयध्वजा है। जबतक मनुष्य खंडन करनेकी शक्ति रखता है, तबतक वह विरोधीसे न तो चिढ़ता है, न उसके साथ असहयोग करनेका ढोंग करता है, न उसकी निंदा करता है। परन्तु जब वह अपनेको कमजोर पाता है, तब युक्ति तर्कसे सामना करनेका नैतिक विरोध छोड़कर निन्दा, बहिष्कार आदिका अनैतिक ढंग पकड़ता है। अभीअभी मेरे सुननेमें यह समाचार आया है कि एक पण्डितजीसे एक व्यक्तिने कहा कि आप 'जैन

धर्मका मर्म' का खण्डन क्यों नहीं करते, तो पंडित जीने कहा कि इसमें लेखमाला को महत्त्व मिलता है। जब लेखमालाके विरोधके लिये नयेनये पत्र निकालनेकी आवश्यकता होती है, और न्यायतीर्थों को जगानेके लिए घोर क्रन्दन होरहा है, उस समय ये बेचारे पंडितजी लेखमालाके महत्त्वके डरसे उस का खण्डन नहीं करनेका बहाना बताते हैं ! ये सब लोग विजातीयविवाह, विधवाविवाहके लेखोंका महत्त्व बढ़ाचुके हैं और कभीकभी तो छोटेछोटे समाचारों तकका महत्त्व बढ़ाते हैं परन्तु जैनधर्मके वर्तमान रूपको आमूल परिवर्त्तन करदेने वाली लेख-मालाके लिये बहाना ढूँढ़ते हैं। इसमें इनका दोष होने परभी मैं इसे स्वाभाविक अर्थात् साधारण घटना समझता हूं। जब मनुष्यमें सत्यको स्वीकार करने की हिम्मत नहीं होती और न उससे लड़नेकी हिम्मत होती है तब मनुष्य अपनी गुजरके लिये ऐसे बहाने ढूंढ़ता है। मेरी निंदा करनेवाले समझलें कि आजके जमानेमें आप लोग चेत्रको भी वशमें नहीं करसकते। आज वास्तविकता छिपकर नहीं रहसकती। अगर आप लोग चेत्रको भी वशमें करलें तो भी कालको वशमें नहीं कर सकते। मुझे और आपको एकदिन मरना तो अवश्य है। उसके बाद लोग देखेंगे कि मैंने क्या कहा और आपने क्या किया। आज आप गुणमें भाग दीजिये और दोषमें गुणा कीजिये, किन्तु उसदिन गुणमें गुणा किया जायगा और दोषमें भाग दिया जायगा।

एक मित्रकी शङ्काएं।

मेरे एक चिरपरचित मित्रको बहुत दिनोंसे कुछ शंकाएँ थीं। सौभाग्यसे वे एक दिनके लिये गजपंथ पर मिल गये। हम दोनों शामको साथ घूमने गये, तब उनने अपनी शंकाएँ मेरे सामने रक्खीं।

शंका—आजतक जो महात्मा जगत्की सेवा करगये हैं उनकी सफलताका एक कारण यह है कि उनके शिष्यों, अनुयायिओं और भक्तोंद्वारा उनका महत्त्व बढ़ाया गया था। व्यक्तित्वको प्रभावशाली बनानेके लिये इस प्रकारका आयोजन करनाही पड़ता है। इस प्रकार महात्माओंको प्रभावशाली बनानेमें जगत्की बहुत सेवा होती है, बहुतसे आदमी उनका अनुकरण करते हैं। आजभी इस नीतिका अवलम्बन होता है। ऐसी हालतमें यदि भगवान महावीरके अतिशय बनाये गये तो क्या बुराई है ? भगवानका महत्त्व बढ़नेसे उनके उपदेशोंका अधिक प्रभाव पड़ता है, उसकी तरफ लोगोंका आकर्षण अधिक होता है, तो इससे क्या हानि है ? इसलिये आप भगवानके अतिशयोंको मिथ्या सिद्ध करनेका प्रयत्न क्यों करते हैं ?

इसके समाधानमें मैंने कहा—

किसी मनुष्यके व्यक्तित्वको बढ़ानेका काम उसी ढंगसे करना चाहिये जिससे वह विश्वसनीय होसके। अविश्वसनीय वर्णन निन्दाका काम करता है। आज उन अलौकिक अतिशयों पर कोईभी समझदार आदमी विश्वास नहीं कर सकता। सौ वर्ष पहिले भूत पिशाचकी कथाओंपर लोग सरलतासे विश्वास करलेते थे, परन्तु आज हँसते हैं। महावीरके जीवन को अगर हम हँसी की चीज नहीं बनाना चाहते हैं तो हमें उनके अतिशय मिटा डालना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अतिशय ऐसे होना चाहिये जो जगत् का कल्याण करते हों। लाल खून होने से कोई जगत की हानि करने वाला होता हो और सफेद खून होनेसे कोई जगत् का कल्याण करने वाला होताहो ऐसा नहीं है, इसलिये इन अतिशयोंमें मुमुक्षुओंको कुछ आकर्षण नहीं रहजाता। तीसरी बात यह है कि इन अतिशयोंसे एक स्पर्धा ही खड़ी होती है, उससे मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ ही बनता है। आप जैन हैं, इसलिये आप महावीर के अतिशय बढाते हैं; दूसरा बौद्ध है इसलिये बुद्धके अतिशय बढ़ाता है। इसप्रकार राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद आदि

सभीके अतिशय उनके भक्तों द्वारा बढ़ाये जाते हैं। इसलिये अतिशयों की बात सुनकर कोई मनुष्य महावीरकी तरफ आकर्षित हो और दूसरोंकी तरफ आकर्षित न हो, यह नहीं होसकता। इसप्रकार जब ये अतिशय निरुपयोगी हैं, तब इनके लिये सत्यकी हत्या करना और अन्य सत्य बातोंको इनके साथ में असत्यकी कोटिमें डालना, जैनधर्मको बड़ी भारी हानि पहुँचाना है।

दूसरा प्रश्न उनका यह था कि श्वेताम्बर समाज में मूर्तिका शृंगार क्यों होता है? क्या यह ठीक है?

यह प्रश्न मुझसे क्यों पूछा, इसका ठीक ठीक कारण समझमें नहीं आया। परन्तु मेरे स्वतन्त्र विचारोंके कारण मुझे बहुतसे दिगम्बर भाई श्वेताम्बर तक समझने लगे हैं इसलिये मुझसे ऐसा प्रश्न पूछना असंगत नहीं था। फिर भी मेरे मित्रने यह सिर्फ जिज्ञासासे ही पूछा था। खैर, मैंने कहा-श्वेताम्बर समाजमें मूर्तिका शृंगार क़रीब आठ सौ वर्षसे अवश्य है, परन्तु यह वैष्णव सम्प्रदायका असर है। मूल जैनधर्मके यह बिलकुल विरुद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनेक विद्वान श्रीमान् इसका विरोध कर चुके हैं।

उनका तीसरा प्रश्न यह था कि—सुधारकोंमें चारित्र क्यों कम होता है? मैंने कहा—चाहे सुधारक हों या स्थितिपालक, चारित्रशून्यता सबमें है; परन्तु चन्द्रमें कलंक बताया जाता है, और राहुमें कलंक नहीं बताया जाता। सुधारक लोग आगे आते हैं इसलिये उनके गुण-दोष लोगोंके साम्हने शीघ्र आते हैं और मतभेद होनेसे उनके दोषोंपर ही लोग ज्यादः ध्यान देते हैं। दूसरी बात यह है कि सच्चे सुधारक बहुत थोड़े हैं। लेनिन कहा करते थे कि एक एक बोलशेविकके पीछे पचास पचास बदमाश बोलशेविकके वेषमें छुपे हुए हैं। असहयोग आन्दोलनमें भी हम इस बातका अनुभव करचुके हैं। साधुसंस्थामें तो यह अनुभव औरभी ज्यादः कडुवा है। दुनियाँ के सभी मामलोंमें गोमुखव्याघ्र घुस जाते हैं। तीसरी बात यह है कि हम चारित्र की परिभाषामें भूल करते हैं। एक आदमी सबके हाथका खाता है, इसे हम कुचारित्र समझने लगते हैं; और दूसरा आदमी बेइमानीसे धन पैदा करता है, परन्तु चौका चूल्हेका ढोंग करता है, उसे हम चारित्रवान् समझते हैं। इस विषयमें समाजकी नज़र ही खराब है। सुधारकोंका इसमें अपराध नहीं। चौथी बात यह है कि जिसप्रकार सभी सम्यग्दृष्टि संयमी नहीं होते, संसारमें संयमी सम्यग्दृष्टियोंसे असंयमी सम्यग्दृष्टि कई गुणे हैं, उसीप्रकार अविरत सम्यग्दृष्टिके समान असंयमी सुधारक अधिक हों, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है।

मेरे मित्रको इन उत्तरोंसे पर्याप्त सन्तोष हुआ।

चार श्रेणियाँ।

एक दिन मैं मंदिरमें बैठेबैठे समयप्राभृतका स्वाध्याय कररहा था, इतनेमें एक विदुषी बहिनने आकर कहा—बस, अब व्यवहार का कुशल नहीं है। मैंने उनके विनोदको समझा। मैंने कहा—आप लोग मुझे व्यवहारका विरोधी समझनेकी भूल करती हैं। निश्चय और व्यवहारकी मान्यताके विषयमें चार श्रेणियाँ हैं, (१) व्यवहारवादी (२) निश्चयवादी (३) निश्चयव्यवहार अपरिवर्तनवादी (४) निश्चयापरिवर्तन व्यवहारपरिवर्तनवादी।

साधारण जनता पहिली श्रेणीमें है। कुछ एकान्तवादी विचारक विद्वान दूसरी श्रेणीमें हैं। तीसरी श्रेणीमें आपका पंडितदल है जो निश्चयके समान व्यवहारको भी अनादि अनंत अपरिवर्तनशील मानता है। उसके अनुसार व्यवहारमें भी कभी परिवर्तन नहीं होसकता। हमारी चौथी श्रेणी है। हम निश्चयको अपरिवर्तनीय किन्तु व्यवहारको परिवर्तनीय मानते हैं। व्यवहारका न मानना हमारा मत नहीं है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, कालके परिवर्तनसे जो व्यवहार प्रतिकूल होगया है उसको हटाकर

अनुकूल व्यवहार लाना हमारा काम है। जो निश्चय के अनुकूल हो वही व्यवहार धर्म है। आज हम जिस व्यवहारको लाना चाहते हैं, उसके विषयमें हमारा यह कहना नहीं है कि वह सदा रहे। जब तक उसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है, तबतक वह रहे। इस प्रकार हमारी श्रेणी व्यवहार-विरोधियोंकी नहीं, व्यवहार-परिवर्तनवादियोंकी है।

मेरा समाधान सुनकर वे मुस्कराने लगीं।

परोपदेश पांडित्य।

एक श्रीमान भाई एकदिन शामको मुझसे बोले कि—"मैंने पं० मक्खनलालजीसे आज पूछा (पं० मक्खनलालजी वहाँ आये हुए थे) कि मैं जैन-मित्र मँगाऊँ तो कैसा? किन्तु उनने कहा कि—उस पत्रको पढ़ना पाप है इसलिये उसे भूल करभी न मँगाना। किन्तु जब आज जैनमित्र आया तो मक्खनलालजी उसे लेगये और अक्षरअक्षर पढ़ डाला। इस तरह वे खुद तो पढ़ते हैं किन्तु दूसरे को धोखा देते हैं।"

मैंने कहा—भाई, वे समझदार है, इसलिये उन्हें पढ़नेका हक़ है।

उस भाई ने कहा—तो क्या हम मूर्ख हैं? हम पंडित भलेही न हों किन्तु कोई समझावे तो भला बुरा जरूर समझ सकते हैं। इत्यादि।

मै हँसकर उनका मुँह देखने लगा, और मनही मन कहा कि अब 'परोपदेश पांडित्य' सभीको खटकने लगा है।

एक अनुदारता।

जिस समय मैं गजपन्थ पहुँचा उसके पहिले मेरी सूचना पाकर वहाँके कार्यकर्ताओंने मेरे विषय में एक उदार और एक अनुदार नीतिका व्यवहार करनेका निर्णय करलिया था। उदार नीति यह कि मैं वहाँ रहूँ तो किसी प्रकारकी बाधा न डाली जाय और अनुदार यह कि वहाँकी शास्त्रसभामें मैं सहयोग न करसकूँ। पहिलीके लिये वहाँके कार्यकर्ताओं के लिये, खासकर वहाँके अध्यक्ष सेठ जीवराजजी गौतमके लिये धन्यवाद है। दूसरी विचारणीय है।

पहिले दिन जब मैं शास्त्रमें गया तो सबको मौन रखना पड़ा जिससे मुझे मालूम हुआ कि मेरा आना सुखकर नहीं हुआ है। तबसे मैंने जाना छोड़ दिया। उनके मतलबको मैं समझगया परन्तु इसका मुझे कोई खेद नहीं हुआ।

कुछ दिन बाद एक श्रीमान वहाँ आये। उनने मुझसे कहा कि हम आपके मुखसे शास्त्र सुनना चाहते हैं, आप शास्त्र क्यों नहीं पढ़ते? मैंने कहा—जिसे प्यास होती है उसेही मैं पानी पिलाता हूँ, प्यासके बिना फालतू फेंकनेके लिये मेरे पास पानी नहीं है।

वे बोले – परन्तु हमतो आपके विचार सुनना चाहते हैं।

मैंने कहा – आप जब चाहें मेरे पास बैठिये। मैं आपको सब विचार सुनाऊँगा। शास्त्रसभामें तो सभी श्रेणीके लोग आते हैं इसलिये वहाँ प्रकरणके अनुसार सामान्य व्याख्यानही किया जासकता है। मेरे विचार आपको वहाँ जाननेके लिये न मिलेंगे। इस प्रकार जब मैंने शास्त्र पढ़नेके लिये उन्हें निराश करदिया तब उनने सेठ जीवराजजीसे कहा; परन्तु जीवराजजीने भी साफ मना करदिया। तब वे भाई भिन्न समयमें कई दिन मेरे पास बैठे और मेरे विचार सुने।

जीवराजजीके पहिले प्रबन्धसे मुझे कोई विचार नहीं आया किन्तु जब उनने पार्टीके फेरमें पड़कर यात्रियोंको भी निराश किया तब मुझे मालूम हुआ कि वे अधिकारसे बाहरका काम कररहे हैं। वे तीर्थ के मालिक बनगये हैं।

इससे यहभी समझमें आसकता है कि अगर तीर्थक्षेत्र कमेटी पंडितोंकी सभाके हाथमें होती तो उस की कैसी दुर्दशा होगई होती। गजपन्थ तीर्थकमेटी

में सभी दलके सदस्य हैं, सिर्फ अध्यक्ष स्थितिपालक दलके हैं, तबतो यह दशा है। अगर तीर्थक्षेत्र कमेटी महासभाके अन्तर्गत होती तब सुधारकोंको तीर्थोंपर खड़े होने लायकभी स्थान न मिलता। इन लोगोंसे निःपक्षताकी आशा करना वृथा है।

मेरे साथ जो व्यवहार किया गया उससे मुझे एक प्रश्नका उत्तर जरूर मिला। जुदेजुदे सम्प्रदायों को देखकर यह प्रश्न खड़ा होता है कि इनके संस्थापक लोकोपकारी थे, फिर उनने क्या समझकर ये जुदेजुदे सम्प्रदाय खड़े किये ? इसका एक उत्तर यह है कि सम्प्रदायको बनानेवाले सम्प्रदाय खड़ा नहीं करते किन्तु उनके अनुयायी उनके नामपर सम्प्रदाय खड़े करते हैं। परन्तु यह उत्तरभी सब जगह लागू नहीं होता। इसका दूसरा कारण यह है कि किसी विचारशील व्यक्तिको सब समाजके भीतर इतना स्थान नहीं दिया जाता जितनाकि उसे न्यायसे मिलना चाहिये, तब उसे नयी सृष्टिकी आवश्यकता होती है। जब नये विचारोंका विरोध युक्ति, तर्कके अतिरिक्त अन्य उपायोंसे होने लगता है और नये विचारवालोंकी सामाजिक आदि सुविधाओंका विरोध किया जाता है तब नया समाज खड़ा होता है और सदाके लिये एक भेदकी दीवाल खड़ी होजाती है। इस प्रकार असहिष्णुता ने—जोकि नये विचारवालोंके साथ व्यवहारमें लायी जाती है—मनुष्य समाजको ज्ञान और धर्मके नाम पर टुकड़ेटुकड़े करके नष्ट करदिया है।

ओसवाल सभा।

ता० २०-२१-२२ मई को नासिक जिला ओसवाल सभाका अधिवेशन बड़े समारोहके साथ हुआ। बाहिरके निमंत्रित लोगोंमें एक मैं भी था। विवाह शादीके दस्तूरोंका नियंत्रण करनेके और फिजूल खर्ची कम करनेके प्रस्ताव हुए। एक प्रस्ताव मृत्युभोजके सम्बन्धमें था। सभाका बहुमत स्पष्ट ही मृत्युभोजके विरोधमें था, किन्तु कुछ श्रीमानोंको इसलिये राजी रखना पड़ा कि वे विद्यालयकी स्थापनामें चन्दा देनेवाले थे। इसलिये प्रस्ताव कुछ विकृत हुआ। फिर भी प्रस्तावमें मृत्युभोजको निंदनीय बतलाया है और ४७ वर्ष तकके व्यक्तिका मृत्युभोज बिल्कुल निषिद्ध है बादमें ऐच्छिक है। इस सभाका काम देखकर यह बात अच्छी तरह समझमें आगई कि दिगम्बरसमाजमें और श्वेताम्बर समाजमें कुछ अन्तर नहीं है। दोनोंमें बराबर मूढ़ता है, रूढ़िप्रियता है। फिरभी श्वेताम्बर समाजका एक सौभाग्य है। उसमें श्रीमानोंकी रूढ़िप्रियताको तृप्त करनेवाले 'हाँ हुजूर' पण्डित नहीं हैं। यदि दिगम्बरसमाजके पीछे यह बाधा न होती तो दिगम्बरसमाज श्वेताम्बरसमाजसे सुधार के क्षेत्रमें बहुत आगे होता। हमारे पण्डितोंने अगर चापलूसीकी प्रतियोगिता न की होती, एक पण्डितने दूसरे पण्डितको गिरानेके लिये श्रीमानोंकी मदद न ली होती तो उन्हें आज श्रीमानोंके इशारों पर न नाचना पड़ता, विद्वानोंकी इज्जत और मानमें इतना धक्का न लगा होता, उनके वचनोंका मूल्य इतना न गिरा होता। परन्तु उनने थोड़ेसे स्वार्थकी उतावलीमें समाजको डुबाया, श्रीमानोंको डुबाया और खुद भी डूबे। ऐहिक दृष्टिसे भी डूबे और पारलौकिक दृष्टिसे भी डूबे।

खैर, इसी मौक़े पर यहाँ महाराष्ट्र जैन युवकसंघकी स्थापना हुई; परन्तु युवकोंमें जितना उत्साह है उतनी विचारकता नहीं है। इन लोगोंको अभी विचारके विकास की योजना करना चाहिये। श्रीमान राजमलजी ललवानी की अध्यक्षतामें इसे अपनी पर्याप्त उन्नति करना चाहिये।

पांडव गुफा।

नासिकसे करीब चार मील पांडव गुफाएँ हैं। वास्तवमें ये सबकी सब बौद्ध गुफाएँ हैं; व्यर्थही इन्हें पांडव गुफा कहा जाता है। एलोराके सामने तो इनका महत्व कुछभी नहीं है परन्तु कारीवलीकी गुफाओंसे भी कम महत्वकी हैं। नम्बर १६ की गुफाकी मूर्त्तियोंको पांडव मूर्त्तियाँ कहा जाता है, परन्तु उसमें बुद्धकी ही तीन मूर्त्तियाँ हैं; प्रत्येक मूर्त्तिके दोनों तरफ एक एक इन्द्र है। इस तरह छः इन्द्र हैं। परन्तु इनको पांडवोंका दर्बार कहाजाता है। इसी प्रकार नं० २० की गुफामें तीन बुद्ध मूर्त्तियाँ हैं जिनमें

वहाँ की एक लड़की कहती थी कि ये धर्मराज और नकुल, सहदेव हैं। मैंने पूछा-अर्जुन और भीम कहाँ गये? बोली-बाहिर बैठे हैं। मैंने कहा—क्यों? क्या वे दर्बारसे निकाल दिये गये? बेचारी चुप हो गई। किसी भले आदमीने बुद्धकी मूर्त्तिमें कजलसे मूछें बना दी हैं। नम्बर १७ की गुफा में अभी अभी एक महादेवकी पिंडी स्थापित कर दीगई है। एक जगह एक बुद्ध मूर्ति को काले रंगसे रंग दिया गया है और उसे कालभैरव कहाजाता है। इस तरह जो गुफाएँ सोलह आने बौद्ध गुफाएँ हैं, उन्हें हिन्दू गुफा बनानेकी सर्वथा असफल चेष्टा कीगई है।

मुझे यहाँ एक विशेष बात और मालूम हुई। अभी तक मैं समझता था कि पद्मासन मूर्त्ति जैनमूर्त्ति ही होती है। परन्तु बोरीवलीकी एक गुफामें एक पद्मासन बुद्ध मूर्त्ति देखकर चौंका था। यहाँ मैंने बुद्धकी अनेक पद्मासन मूर्त्तियाँ देखीं। छोटी और बड़ी सब तरह की थीं। खास कर नं० २३ की गुफामें ये मूर्त्तियाँ हैं। बीचमें बुद्धकी अन्य आसन वाली मूर्त्ति है। बगलमें दो पद्मासन मूर्त्तियाँ हैं। नं० ११ की गुफामें पद्मासन मूर्तिके नीचे शेर बने हैं और एक तरफ़ शेर पर एक देवी और दूसरी तरफ़ हाथी पर देव है जो उनकी पूजाके लिये हैं। ये मूर्त्तियाँ बिलकुल जैन मूर्त्तियों सरीखी हैं परन्तु सब विचार कर यही कहना पड़ता है कि ये बुद्ध मूर्त्तियाँ हैं।

हमारा 'धरम'।

बहुत दिनकी बात है। इन्दौरमें स्व० सेठ कल्याणमलजी ने मुझसे पूछा था कि-'पंडितजी। यहतो बताइये कि हमारा धर्म परलोकके लिए क्यों रिज़र्व होता जाता है? हमारे देशवासी इतना धर्म करते हैं फिरभी दुःखी हैं, और अमेरिका यूरोपके लोग धर्म कुछ नहीं करते, फिर भी चैनमें हैं! इसका क्या कारण है?

मैंने कहा—'यहाँ धर्मके समझनेमें ही भूल होरही है। हम पूजाका ढोंग करते हैं और ईश्वरका नाम चिल्लाया करते हैं। क्या इसीसे हम धर्मात्मा होगये? खानपानमें दूसरोंसे घृणा करने लगे, क्या इसीलिये हम धर्मात्मा होगये? हम इन ढोंगोंके सिवाय धर्मके नामपर और करतेही क्या हैं? बोलचालमें हम कितने असभ्य हैं! ईमानदारी है ही नहीं! रेलवेमें या किसी सार्वजनिक स्थानपर जाइये, आपको मालूम होगा कि हम दूसरोंके अधिकारोंकी और सुविधाकी कितनी हत्या करते हैं जितना यूरोपका कोई देश नहीं करता होगा, ऐसी अवस्था में हम दुःखी हों, इसमें क्या आश्चर्य है?"

इस उत्तरको सुनकर कल्याणमलजी गंभीर होगये और विचारमें पड़गये। परन्तु ये तो थोड़ेसे शब्द हैं। अगर इनका भाष्य किया जाय तो मालूम होगा कि हमारे जीवनमें धर्मका नामभी नहीं रहा है। सतीत्वके गीत गाकर हमने नारी जातिको कुचलना और हत्याएँ करना सीखा है। धर्मरक्षाके लिये हमने गर्जगर्ज कर गालियाँ देना और बहिष्कार करना सीखा है। सदाचारके नाम पर हम छूताछूतका भूत सिरपर चढ़ाकर नंगे नाचते हैं और जगत्के सब मनुष्योंको तुच्छ कहते हैं और उनके अपमान करनेमें ही अपनी सारी विद्या, बुद्धि और शक्ति बर्बाद करते हैं। विश्वासघातको हम चतुरता समझते हैं। हमारे शास्त्र कुछ कहते हों और हम मुंहसे भी जो चाहे बकते हों परन्तु हमारा जीवनके साथ बिल्कुल मेल नहीं बैठता।

मैं नहीं कहता कि पश्चिममें ये दुर्गुण नहीं हैं परन्तु हम जितनी छोटीछोटी बातोंमें और जितना अधिक परिचय देते हैं वह हमारे लिये लज्जाकी बात है।

अमेरिकाकी सड़कोंपर जगहजगह ऐसी मशीनें रक्खी गई हैं जिनमें से ग्राहक इच्छानुसार माल खरीद सकते हैं। पहिले तो पैसा डालनेपर माल मिलता था परन्तु अब माल पहिलेही मिलजाता है; पसन्द आवे तो पैसा डालदो नहीं तो माल वापिस करदो। अगर हमारे यहाँ ऐसी मशीनें रक्खी जाँय तो हमारे ग्राहक माल पसन्द आवे चाहे न आवे, वे जरूर माल लेलेंगे; परन्तु सौमें निन्यानवे ग्राहक फूटी कौड़ीभी न डालेंगे। यह है हमारा 'धरम'।

वहाँके पुस्तक विक्रेता ग्राहकोंके पास बिना वी.पी. के पुस्तकें भेजदेते हैं और पसन्द आनेपर वे लेली जाती हैं, अन्यथा वापिस करदी जाती हैं। हमारे यहाँ पुस्तकें ही हज़म होजाँय अथवा ईमानदार [?] हुए तो पुस्तकें पढ़कर पसन्द आनेपर भी नापसन्द कहकर वापिस करदेंगे।

यहाँतो हमारे विद्यालयके विद्यार्थी जितना पुस्तकें उड़ाते बनें उड़ादेंगे। और तो और, हमारे देशमें लाइब्रेरियोंकी पुस्तकोंके चित्र उड़ादेना, पन्ने फाड़लेना साधारण बात है। हमारी इस बेईमानीके निशान विदेशोंमें

अच्छी तरह उड़रहे हैं। जापानके सबसे बड़े पुस्तकालयके द्वारपर बड़ेबड़े अक्षरोंमें यह लिखा है "All except Indians are welcome in the library" अर्थात् इस लाइब्रेरीमें भारतीयोंको छोड़कर बाकी सबका स्वागत है। यह है हमारे धरम का निशान।

जिस दिन भारत धर्मात्मा होगा, उस दिन वह अवश्यही सुखी और स्वतन्त्र होगा। परन्तु आज यहाँ धर्म है कहाँ ?

जैनगज़ट का 'संसार'।

"संसारमें आज ऐसी परमपवित्र प्रतिमा दूसरी कोई नहीं है।" ये वे शब्द हैं जिन्हें जैनगज़ट ने शांतिसागरजीके विषयमें लिखा है। भिलनी भीलको राजा कहे तो उसे ऐसा कहनेका हक़ है क्योंकि वह उसकी रक्षा करता है, पोषण करता है। पंडित दल जब सुधारक दलसे हर तरह परास्त होगया तब इन नग्नभट्टारकोंकी ओटमेंही उसकी कुछ दिनों तक गुज़र हुई। पंडितोंके सब शस्त्र निकम्मे होगये इसलिये पंडितोंने इस शस्त्रसे काम लिया। परन्तु आज तो वह शस्त्र भी निकम्मा होगया है। न तो अब उसमें धार है न पानी है, बल्कि अभीअभी उसके दो टुकड़े होगये हैं। पर क्या करें ? अब दूसरा कौन है जिसका भरोसा ये पंडित करें ? आखिर उसीकी मरम्मत की जारही है, उसका महोत्सव मनाया जारहा है, उसे जगद्गुरु आदि कहा जारहा है अर्थात मूर्ख कालिदासकी कथा दुहराई जारही है। ख़ैर, ये सब बच्चोंके खेल हुआ करें इसकी अब कुछ चिन्ता नहीं है। मैंने जो गज़टका वाक्य ऊपर उद्धृत किया है उसका कारण दूसरा है।

लोग समझते हैं कि पंडित लोग बड़े श्रद्धालु हैं। इसीलिये अन्धश्रद्धालु जनता, अन्धश्रद्धालुताका ढोंग करनेवाले पंडितोंका निर्वाह करती है। जब कोई सुधारक भूगोलके प्रश्न पर ननुनच करता है तब ये पंडित इस तरह बिगड़ते हैं मानों ये जैनभूगोलपर पूर्ण श्रद्धा रखते हों। परन्तु इनकी मनोवृत्ति भूगोलके विषयमें ठीक उसी तरह काम करती है जिस तरह जैनभूगोलपर विश्वास न रखनेवाले विचारकोंकी करती है।

शान्तिसागरजी को इन लोगोंने संसार भरमें असाधारण माना। इसके दोही अर्थ किये जासकते हैं:—

१—शान्तिसागरजी विदेहक्षेत्रके सीमन्धर आदि तीर्थङ्करों तथा अन्य केवली श्रुतकेवलियोंसे भी महान हैं।

२—विदेह क्षेत्र आदिकी बातें सब कल्पित हैं; संसार तो सिर्फ़ उतनाही बड़ा है जितना आज वैज्ञानिक लोग मानते हैं और उसमें शान्तिसागर बराबर कोई नहीं है।

अगर पहिला अर्थ लिया जाय तबतो कहना चाहिये कि जैनतीर्थङ्कर आदि बहुत साधारण लोग हैं, क्योंकि उनका ज्ञान, चारित्र शान्ति सागरसे अधिक नहीं है। इसलिये पहिला अर्थ तो पंडित लोग भी स्वीकार नहीं करेंगे। अब सिर्फ़ दूसरा अर्थही रहजाता है जिससे मालूम होता है कि पंडित लोग भी विदेहक्षेत्र आदि को नहीं मानते। समाजको खुशरखकर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये ये कुछभी कहतेहों परन्तु इनके हृदयों पर सुधारक विचारों ज्ञात या अज्ञात रूपमें अमिट छाप लगगई है। इनका संसार ३४३ राजू का नहीं किन्तु सिर्फ़ पच्चीस हजार मील का है।

आवश्यक स्पष्टीकरण।

जैनजगत्के गतांकमें जैनसमाजभूषण दानवीर ला० ज्वालाप्रसादजी साहबकी ओर से 'ऐसा प्रबंध क्यों' शीर्षक एक नोट प्रकाशित हुआ है। उस सम्बन्धमें निवेदन है कि लालाजी कॉन्फ्रेन्स और साधु सम्मेलनके कार्यवश गुरुकुल ब्यावर भी पधारे थे किन्तु उ प्रवासके कारण आप थोड़ी देर ठहरकर ही वापिस चले गये और ब्रह्मचारियों को भोजन नहीं करा सके। अतः अजमेर में ही आपने २५) ब्रह्मचारियोंके विशेष भोजनके लिए भेट कर दिये। अजमेर में आई हुई और और रकमोंके साथ वह २५) की रकम भी 'प्रकाश' में छपगई, जैसा कि गुरुकुल समय समय प्राप्ति स्वीकार छपाता है।

लालाजी समाजमें एक सुविख्यात दानवीर हैं। ब्यावर गुरुकुलभवनके निमित्त भी आपने ही सर्वप्रथम २५००) रुपये प्रदान किये हैं। ऐसी दशामें उन्हें बदनाम करनेका ख्याल भी नहीं किया जा सकता। लाला जी को एक मामूली बातसे इतना अधिक अनुभव हुआ, इसके लिए हमें खेद है।

पाठकों को यह स्पष्टीकरण ध्यानमें रखना चाहिए।

— मन्त्री, जैनगुरुकुल, ब्यावर।

जैनधर्मके मर्मकी उपयोगिता।

(लेखक—श्रीमान् सेठ ताराचंदजी नवलचंदजी जवेरी बम्बई)।

पंडित दरबारीलालजी 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक जो लेखमाला जैनजगत् में लिख रहे हैं, उसने विचारकों के हृदयों को हिलादिया है। कुछ लोग लेखमाला को दिगम्बर संप्रदाय के लिये आपत्तिजनक समझते हैं, इसलिये उसका विरोध और बहिष्कार करने के लिये भी उतारू होगये हैं। आगे भी पंडितजी ने अनेक सुधार आन्दोलन चलाये हैं और उनके बहिष्कार का प्रयत्न भी किया गया है, परन्तु उसका फल क्या हुआ यह समाज को अच्छी तरह मालूम है।

मेरे ख्याल से अधिकांश विचारक विद्वान तीनों सम्प्रदाय की एकता चाहते हैं, और सम्प्रदायों में फैले हुए द्वेषके द्वेषको नष्ट करना चाहते हैं। इस विषय में विद्वानोंने प्रयत्न भी किये हैं। मेरे ख्यालसे यह लेखमाला इस विषय का असाधारण प्रयत्न है, क्योंकि लेखमाला में मूल—जैनधर्मकी खोजका प्रयत्न किया गया है। अगर लोगों को मूल जैनधर्म की प्राप्ति होजाय तब हम नहीं समझते कि फिर किसीको साम्प्रदायिक भावना की क्या ज़रूरत रहेगी?

भगवान महावीर ने जैनधर्म तीन तरह का नहीं, एक ही तरह का कहा था। उनके पीछे ये सम्प्रदाय हुए। इन सम्प्रदायों ने अपने अपने पक्ष का पोषण और दूसरे पक्ष का खण्डन किया। आज कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जो इन सम्प्रदायों के पहिले का हो और जिसपर से यह समझा जासके कि मूल जैनधर्म क्या है। जितने शास्त्र आजकल उपलब्ध हैं उनकी रचना या उनका संग्रह भगवान के सेकड़ों वर्ष पीछे हुआ है, और जब ये शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध बोलते हैं, तब मानना ही पड़ता है कि इन सब शास्त्रों में कुछ न कुछ गड़बड़ी ज़रूर है। इसलिये मूल जैनधर्म की खोज के लिये तीनों सम्प्रदायों के शास्त्रों पर निष्पक्ष विचार करना चाहिये और जितना अंश सत्य सिद्ध हो उसेही जैनधर्म कहना चाहिये, क्योंकि जैनधर्म सत्यधर्म है अथवा सत्य ही जैनधर्म है।

पंडितजी ने तीनों सम्प्रदाय के ग्रंथों का अच्छी तरह अध्ययन किया है और यह बात भी आपके लेखों से साबित होती है कि आपके भाव बिलकुल शुद्ध और निष्पक्ष हैं तथा धर्म और समाज के प्रेम से ही आप यह प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी समाजके भाई आपकी लेखमाला से चिढ़ते हैं, उसके बहिष्कार का निष्फल प्रयत्न करते हैं इसके तीन कारण हैं—(१) पंडितजी से ईर्ष्या और द्वेष, (२) पंडितजी के वक्तव्य का विरोध न करसकना, (३) विद्वान होने पर भी अन्धश्रद्धाकी प्रबलता।

दिगम्बर समाज के भाई आपकी लेखमाला में तीन बातों को बहुत आपत्तिजनक बतलाते हैं।

(१)—पार्श्वनाथ के पहिले जैनधर्मके विषयमें प्रमाणों का न होना।

(२)—सर्वज्ञत्व का स्वरूप।

(३)—दिगम्बर ग्रन्थों के समान श्वेताम्बर ग्रन्थों को भी प्रमाण मानना।

पंडितजी ने अपनी लेखमाला में जैनधर्म को वर्तमान में प्रचलित सब धर्मों से प्राचीन सिद्ध किया है। इससे यह बात तो मालूम होती है कि पंडितजी जैनधर्म की प्राचीनता के विरोधी नहीं हैं। परन्तु वे जैनधर्म की प्राचीनता उतनी ही मानने को तैयार हैं जितनी कि प्रमाणों से सिद्ध होसके, और जैनेतर ऐतिहासिक विद्वान् भी जिसे मानने के लिये तैयार हों। पंडितजी ने जिस प्रकार वैज्ञानिक जैनधर्म लिखने की कोशिश की है उसे देखते हुए उनका यह रुख उचित ही नहीं, ज़रूरी भी है। फिर भी पंडितजी यह नहीं कहते कि भगवान पार्श्वनाथके पहिले जैनधर्म नहीं था। वे तो कहते हैं कि उसके लिये प्रमाण ढूँढ़ना चाहिये, अभी यह बात अँधेरेमें है। अब विद्वानों का कर्तव्य है कि वे भगवान पार्श्वनाथके पहिले जैनधर्म को सिद्ध करनेके लिये प्रबल प्रमाण उपस्थित करें। मेरा विश्वास है कि प्रबल प्रमाण मिलने पर पंडितजी उसे मानही न लेंगे किन्तु प्रसन्न होंगे। क्योंकि

जब उनने जैनधर्म को अन्य धर्मों से प्राचीन सिद्ध करने की कोशिश की है तब वह और भी प्राचीन सिद्ध हो इससे उन्हें प्रसन्नता ही होगी। हाँ, वे यह नहीं चाहते कि अन्धश्रद्धा के आधारपर अपनी मान्यता की पुष्टि की जाय। अन्धश्रद्धा किसी भी धर्म का या लेख का कलंक है। अगर अन्धश्रद्धा के आधार पर एक बात भी लिखेंगे तो दूसरों को यह कहने का मौका मिलेगा कि इसी प्रकार और बातें भी अन्धश्रद्धापूर्ण होंगी। इस प्रकार से जैनधर्म की अन्य बातों पर विश्वास करने को भी दूसरा तैयार न होगा। पंडितजी यह नहीं चाहते कि बाल की रक्षा के लिये हृदय की हत्या की जाय।

साथ ही एक बात यह भी है कि पंडितजी ऐतिहासिक सचाई के लिये जैनधर्म को प्राचीन सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, किन्तु प्राचीनता से कोई धर्म कल्याणकारी है, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये प्राचीनता की पर्वाह किये बिना सत्य की पर्वाह करना चाहिये। इसीलिये पंडितजी कहते हैं कि जैनधर्म प्राचीन हो या नवीन, परन्तु वह सत्य है, यही उसकी महत्ता है। जो लोग सत्यता की पर्वाह किये बिना प्राचीनता के पीछे पड़जाते हैं, वे जैनधर्मकी वास्तविक सेवा नहीं कर सकते।

सर्वज्ञत्व के विषय में पंडितजी के ऊपर किये गये आक्षेप व्यर्थ हैं। मेरे ख्याल से पंडितजी भी सर्वज्ञ मानते हैं, किन्तु उसकी परिभाषाके विषय में विवाद है। सर्वज्ञ शब्द का क्या अर्थ है, इसका ठीक ठीक विवेचन पंडितजी ने खूब विस्तार से किया है जो कि युक्ति और शास्त्र के अनुकूल है और मनमें जँचता है। विरोधी भाई कहने को कुछ भी कहते हों परन्तु मालूम होता है कि वे लोग सर्वज्ञ का वही अर्थ करते हैं जो पंडितजी करते हैं। विरोधी भाई श्री शान्तिसागरजी को सर्वज्ञ कहते हैं। यदि त्रिकाल त्रिलोकके एक साथ प्रत्यक्ष करने वालेको सर्वज्ञ कहा जाता हो तब तो शान्तिसागरजी में सर्वज्ञता का एक अंश भी सिद्ध नहीं होसकता। विरोधी भाई श्रीशान्तिसागरजी को इस ज़माने का सबसे बड़ा ज्ञानी मानते हैं इसीलिये उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं; इससे मालूम होता है कि जो जिस ज़माने का सब से बड़ा ज्ञानी है वह उस ज़माने का सर्वज्ञ है। यही विरोधी भाइयों की मान्यता है। हम नहीं समझते कि पंडितजी की मान्यता से इस मान्यता में क्या अन्तर है?

अगर विरोधी पंडितों से पूछा जाय कि श्रीशान्तिसागरजी संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेज़ी, उर्दू आदि भाषाओंके ऐसे ज्ञाता नहीं हैं, न उनमें शास्त्रीय ज्ञान भी उतना अधिक है जैसा दूसरे विद्वानों में है, तब वे सर्वज्ञ कैसे? मेरे ख्याल से विरोधी पंडित इसका यही उत्तर देंगे कि शान्तिसागरजी का यह बाहिरी ज्ञान भले ही कम हो परन्तु उनको आत्मानुभव अधिक है, वे आत्मदर्शी हैं, इसलिये वे सर्वज्ञ हैं। पंडितजी भी आत्मदर्शी को सर्वज्ञ कहते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि वे श्री शान्तिसागर आदि को कदाचित् आत्मदर्शी नहीं मानते। भगवान महावीर को वे बहुत महान मानते हैं। श्रीशान्तिसागरजी को सर्वज्ञ कहने पर जो लोग नहीं भड़के उन्हें पंडितजी की सर्वज्ञता की परिभाषा से कदापि नहीं भड़कना चाहिये क्योंकि पंडितजीकी सर्वज्ञता की परिभाषा, शान्तिसागरजी की सर्वज्ञता से बहुत विशाल है।

सर्वज्ञ आज मिलता तो है नहीं, इसलिये यह बात आगम और तर्कसे ही साबित हो सकती है। पंडितजी की मान्यता तर्क और आगमके अनुकूल है। इसीलिये विरोधी पंडित भी चुप हैं। जो लोग शान्तिसागरजी को सर्वज्ञ मानते हैं वे भी पंडितजीका सामना नहीं करते। सम्भव है, इसका कारण यह हो कि वे मन ही मन पंडितजीकी मान्यतासे सहमत हों और भविष्यमें पंडितजी की मान्यताको स्वीकार कर श्री शान्तिसागरजी आ दको सर्वज्ञ सिद्ध करने की बाट देख रहे हों।

जो कुछ हो। परन्तु इतनी बात तो निश्चित है कि पंडितजीका वक्तव्य बड़े से बड़े पंडितको भी कसौटी पर कसता है। पंडितजी किसी पर ज़बर्दस्ती नहीं कसते किन्तु विचारके लिये निमन्त्रण देते हैं। इतने पर भी अगर पंडित लोग सामना न करें और बहिष्कार आदि का ही प्रयत्न करें या उपेक्षा रक्खें तो इसे पंडितजीकी विजयही समझना चाहिये। समाज को तो इस चर्चासे

हर तरह लाभ है, क्योंकि समाजको तो इससे अद्भुत ज्ञानकी प्राप्ति होती है, और सत्य तथा मिथ्याकी परीक्षा होती है।

फिरभी समाजसे और विद्वानोंसे हम कहदेना चाहते हैं कि अपने को सत्यका ही पक्ष लेना चाहिये। साधारण घटनाओं को दैवी रूप देने और झूठी घटनाओं को कल्पित करनेसे तात्कालिक प्रभावना भले ही होती हो, परन्तु उससे भयंकर स्थायी हानि होती है। जैसे मूर्तियों को पसीना आना, मन्दिरोंमें भँवरोंके उपद्रवको दैवी मानना, तीर्थों पर तूफानको दैवी मानना, अधर मूर्तियाँ, किसी को सर्वज्ञ कहना, सिर पर सर्पके छत्रकी कल्पना करना, आदि बातें लोगों को थोड़ी देरके लिये चकित करदेंगी परन्तु भंडाफोड़ होने पर इससे कई गुणी हानि होगी। दूसरे सभी धर्मवाले भी इस तरहकी कल्पनाएँ करते हैं, इसलिये इन कल्पनाओंका कुछ महत्त्व नहीं है। इन्हीं अटपटी कल्पनाओंके कारण ही धर्मपरसे घृणा होने लगती है और वह मूर्खोंकी चीज मानी जाने लगती है।

जब हमारे पण्डितोंने आचार्योंको सर्वज्ञ कहना शुरू किया तब श्रावकोंने सर्वज्ञताका लाभ उठाना चाहा और सट्टेके अङ्क आदि पूछे जाने लगे, और जब उनकी आशा पूरी न हुई या धोखा खाया तब इसका बहुत बुरा फल हुआ। इसीसे हम कहते है कि धर्ममे किसी भी असत्य को जगह न देना चाहिये, क्योंकि इससे सैकड़ो सत्योंका मूल्य नष्ट होता है। इसीलिये पण्डितजी इस लेखमाला द्वारा असत्य अंशोंको निर्दयतासे काट रहे हैं। इससे जगत् की भलाई ही है। इसमें भड़कनेकी कोई बात नहीं है।

तीसरी बात श्वेताम्बर शास्त्रोंकी है। परन्तु पण्डितजी यह तो कहते नहीं हैं कि श्वेताम्बर शास्त्र पूर्ण प्रमाण हैं और दिगम्बर शास्त्र पूर्ण अप्रमाण। वे तो दोनोंको अपूर्ण और विकृत मानते हैं, साथ ही दोनोंमे जैनधर्मको खोजनेकी सामग्री है, ऐसा कहते हैं। जब भगवान महावीर से पाँच सौ वर्ष पीछे तकका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, तब किसी सम्प्रदायके ग्रन्थोंको पूरा प्रमाण कैसे माना जासकता है? एक सत्यशोधक विद्वान अगर अन्धश्रद्धासे काम ले तो वह क्या शोध करेगा? दूसरी बात यह है कि हमें बात बातमें शास्त्रोंकी दुहाई क्यों देना चाहिये? हमारा धर्म वैज्ञानिक धर्म है इसलिये दिगम्बर सम्प्रदाय भी वैज्ञानिक होना चाहिये। ऐसी हालतमें कोई दिगम्बर शास्त्रोंको भले ही न माने परन्तु हम अपने शास्त्रोंकी बातोंको विज्ञानसे सिद्ध कर देंगे। जब हमें विज्ञान और तर्कके आधारपर चलना है तब शास्त्रोंकी प्रमाणता अप्रमाणताका प्रश्न कुछ महत्त्व नहीं रखता। पंडितजीने कौनसी बात श्वेताम्बर शास्त्रोंके आधार पर लिखी है और कौनसी दिगम्बरशास्त्रोंके आधार पर, इसकी चिन्ता करनेकी अपेक्षा यह अच्छा है कि हम देखें कि कोई बात युक्तिविरुद्ध तो नही है।

अब वह ज़माना नहीं है कि हम आपसमें लड़ते ही रहें, जैनधर्मके नामपर एक दूसरेको नीचा दिखानेकी कोशिश करते रहे, दूसरोंको कुपात्र या अपात्र सिद्ध करने की कोशिश करते रहें। आज तो मिलकर काम करने की ज़रूरत है। अगर किसीको अपने सम्प्रदायका अभिमान हो तो उसे उसके गीत बापदादोंके नामपर नहीं, किन्तु युक्तियुक्त विचारके सहारे गाना चाहिये, तथा अभिमानकी वृत्तिको प्रकट करनेके लिये बहुत संयमसे काम लेना चाहिये।

पण्डितजीकी लेखमाला इस साम्प्रदायिकताको दूर करती है, जैनधर्मकी महत्ता प्रकट करती है, विचारके लिये विशाल सामग्री तथा नयी दृष्टि देती है। कोई उसकी सब बातोंसे सहमत हो या न हो परन्तु उसकी उपयोगितामे सन्देहको गुंजाइश नहीं है।

पाठकोंको सूचना।

"वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ" के सम्बन्धमे श्रीमान ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजी तथा पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थके पत्र प्रकाशनार्थ हमारे पास आये हुए हैं। गतांक मे प्रकाशित "गोबरपंथियोंका प्रलाप" शीर्षक लेखका शेषांश भी प्राप्त होगया है। किन्तु, खेद है कि स्थानाभाव के कारण इन्हें इस अङ्कमें स्थान नहीं दिया जा सका। लेखक महोदय व पाठकगण इसके लिये क्षमा करें व इनके लिये आगामी अङ्ककी प्रतीक्षा करें। —प्रकाशक।

जैन युवक संघ, इटावा की अपील
जैनियो ! सच्चे जैनी बनो ।

वर्तमान जैन समाज रूढ़िधर्म और दलबन्दी के कारण क्षीण होता हुआ मृत्यु की तरफ अग्रसर होरहा है। इसका कारण जैन-धर्म के वास्तविक रूप की अज्ञानता है। इसका एक मात्र उपाय हमारा सच्चा जैन बनना है। सच्चे जैनत्व को प्राप्त करके हम केवल जैन समाजमें ही नहीं किन्तु समस्त संसारमें प्रेममय सुख, शान्ति का राज्य स्थापित कर सकते हैं।

(१) आत्म स्वतन्त्रता जैन धर्मका प्रधान लक्ष्य है। वह ईश्वरकी भी गुलामी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि आत्मासे ही परमात्मा होजाना उसका मुख्य सिद्धान्त है। यह समानाधिकार का निर्मल और उन्नतम रूप है।

(२) विचार या व्यवहार संकीर्णता केलिये जैन धर्ममें कोई स्थान नहीं है। परस्पर विरोधी विचारों को निर्विरोध करना ही स्याद्वाद है। मैं जो मानता हूँ, वही ठीक है, इसप्रकार के हठको जैन धर्ममें एकान्तवाद, या मिथ्यात्व [झूठ] के नामसे कहा गया है। नीचातिनीच दुःखमय परिस्थिति से जीव मात्र का उद्धार करना जैन धर्मका मुख्य ध्येय है। इसलिये प्रत्येक जैन को सहनशील और उदार होना आवश्यक है।

(३) जैन-धर्मके ध्येय और सिद्धान्तमें इतना दृढ़ निश्चय होना आवश्यक है, कि जिससे बदनामी का डर, [लोक भय] स्वर्ग नरक का भय [परलोक भय] तकलीफों का डर, मृत्यु भय, छिपी बातों के खुलने का डर, [गुप्त भय] अकेलेपन का डर [अनरक्षा भय] और आकस्मिक आदि किसी भी प्रकार के भयसे अपने मार्गसे विचलित न हो।

(४) प्रत्येक जैनको लालच और स्वार्थ छोड़कर अनासक्त होकर जीवमात्रका उपकार करना चाहिये।

(५) प्रत्येक जैनकी अन्तर्दृष्टि होनी चाहिये। किसीके बाह्यरूपको देखकर घृणाकरना उचित नहीं है।

(६) प्रत्येक जैन को विचारवान-विवेकी और परीक्षाप्रधानी होना चाहिये। प्रचलित कुरीतियों और रूढ़ियोंका अनुगामी न होना चाहिये। अहितकर शास्त्रों और भेषियोंके बाह्यरूपको देखकर लुभाना नहीं चाहिये। उनके अन्तरङ्गकोदेखकर परख करो।

(७) किसीभी अज्ञान या निर्बल व्यक्तिद्वाराकिये हुये अयोग्याचरणको गुप्तरीतिसे सुधारकरना उचित है, परन्तु उद्दंडी ढोंगियों और समाजकी कमजोरीसे लाभउठाने वालोंके असली रूपको प्रकट करके धर्म मार्ग को निर्मल रखते हुये वृद्धि करना उचित है।

(८) कोईभी व्यक्ति यदि धर्माचरणसे च्युत हो जाय तो उसे जैसे बने तैसे स्थिर करना उचित है। बहिष्कार करना उचित नहीं।

(९) सहधर्मियोंसे माँ बच्चे जैसा शुद्ध निष्कपट प्रेम रखना चाहिये।

(१०) प्रत्येक जैनका यह पवित्र कर्तव्य है, कि वह जिसप्रकारसे होसके उसप्रकार संसारका अज्ञानान्धकार दूर करके घर-घर और कोने कोनेमें वीर भगवानके दिव्य सन्देश को पहुँचा कर जैन-धर्मके महत्वको जगद् व्यापी करदें।

समाजके सभी विचारवानों और विशेषतः उत्साही नवयुवकों से हमारी अपील है कि वे इस पवित्र कार्यमें सहयोग दें। जैन समाजके सच्चे कर्मवीर सेवकोंके लिये यह एक बड़ा उपयुक्त क्षेत्र है।

चौधरी चमन्तलाल जैन
सञ्चालक-जैन युवक संघ इटावा।

श्रीमान् सेठ पद्मराजजी रानीवालों का सागर (सी. पी.) में व्याख्यान।

महाकौशल हिन्दूसभाके वार्षिक अधिवेशनमें श्रीमान् बाबू पद्मराजजी जैन सागर पधारे थे। जैन बंधुओंके विशेष आग्रहसे ता० १८ मईके दोपहरको जैन पुरुषों और जैन देवियोंकी एक बहुत बड़ी उपस्थितिमें आपने एक ओजस्वी भाषण दिया था जिसका सार नीचे दिया जाता है:—

जिस बीसवीं सदीमें सारी जातियाँ प्रखर वेगसे उन्नतिकी ओर अग्रसर होरही हैं उसीमें जैनजाति कुंभकर्णी नींदमे सोरही है। यह वह समय है जब या तो अपनेको समर्थ बनाकर आगे बढ़ना होगा, या अन्य जातियों द्वारा अपने अस्तित्वका नाश कराना होगा। इस समय जैनियोंकी वही अवस्था है जो उस हरिणकी थी जो अपने पीछे व्याधेको पड़ा देख रेतमें सिर छिपाकर पड़ रहा था और समझरहा था कि व्याधरूपी विपत्ति चूंकि अब मुझे नहीं दीखती, अतः मैं पूर्ण सुरक्षित हूं। यहाँ यह कहना व्यर्थही है कि व्याधके बाणसे उस मूर्ख हरिण के प्राण जाना अनिवार्यसा बनगया था।

अभागे जैनी अपने छोटेसे गंदे कुएँको ही विश्व समझ बैठे हैं और हंसके निवासस्थल मानसरोवरको एक कपोलकल्पित कथा मान बैठे हैं। ऐसे महानुभावोंसे यदि यह कहाजाय कि अछूतोंका प्रश्न धार्मिक है, तो वे उत्पात मचाए बिना न रहेंगे; जबकि भगवानके समवशरणकी उपस्थिति अछूतोंके भेदभावको नहीं मानती। वह तो केवल देवजाति, मनुष्यजाति, पशुजाति आदिमें ही प्राणियोंको विभक्त करती है।

भगवानका नाम पतितपावन है, वे दीनबन्धु हैं; अतः हम पवित्र और श्रीमन्तोंकी अपेक्षा पतितों और दीनोंका ही उनसे अत्यधिक सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसलिये आप लोगोंको ग़रीब हरिजन भाइयोंके लिए अपने देव मन्दिरोंका द्वार खोलदेना चाहिए। यदि आपका यह ख़याल हो कि हरिजनोंके मन्दिरप्रवेशसे भगवानकी मूर्तियाँ अपवित्र होजायेंगी तो ऐसे कमज़ोर भगवान और उनकी मूर्तियोंकी जैनियोंको ज़रूरत नहीं। उन्हें उठाके कहीं फेंक दीजिए। स्वामी समन्तभद्र और भगवान महावीरके समयका साहित्य यह सिद्ध करता है कि जिस परमात्मामें पतितोंका उद्धार करनेका माद्दा नहीं है, वह हमारे किसी मर्ज़की दवा नहीं है। गुणही पूज्य होता है, वैभव नहीं। हमें उसी परमात्माकी ज़रूरत है, जिसकी छायासे, जिसके गंधोदकसे पतितसे पतितभी पवित्र होजाए।

अछूतोंके बादही मुझे हतभागिनी नारी जातिका स्मरण होता है जिसके प्रति बचपनसे ही अन्याय शुरू होता है। अच्छे और नए खिलौनोंसे लड़काही खेलेगा, लड़की नहीं। खानेकी बढ़िया चीज़े लड़कोंको ही खिलाई जावेगी। बच रहीं तो लड़की खालेगी। सच पूछिए तो प्रत्येक जैन कन्या बचपनसे ही कठोर और अपूर्व आत्मत्यागकी भट्टीमें डालदी जाती है, और बचपन या किशोरावस्थामें माँ बापने जैसे बुरे-भले पतिके सुपुर्द करदिया उसीके चरणोंमें अपना सर्वस्व उँडेल देती है। आप भूखी रहती, पति और अन्य कुटुम्बियोंको खिलाती हैं, बच्चे को सूखेमें सुलाकर आप गीलेमें सोती है। उसके दुर्भाग्य का नग्न नृत्य तो तब देखनेमें आता है जब वह न जाने अरमानोंसे भरीहुई षोडशी सुन्दरी विधवा होजाती है। अभी कुछ सालों पहिले तो उस परमत्यागकी जीवित प्रतिमाको पतिके शवके साथही जलादेते थे; पर आज जीवित रखते हुए पलपल पर नरककी भीषण आगमें जलाते हैं। विधवा होनेके साथही साज शृंगार, धन सम्पत्ति आदि किसी वस्तु पर उसका कोई अधिकार नही रहजाता। रूखेसूखे टुकड़ोंपर अधपेट रहके अपनी शेष आयु झिड़कियों और गालियाँ सहतेहुए बितानी पड़ती है। जब गत्रिको ६० वर्षकी आयुका ससुर अपने चौथे ब्याह की द्वादशवर्षीया दुलहिनसे सुहागरात्रि मनाता है, तब समाजत्रस्ता इस षोडशी विधवाकी अनन्त आहें अपनी अनक्षरी भाषामें न जाने क्या क्या कहती हैं! जिन मुनियोंका शास्त्रके १०८ दोषोंसे सदैव बचाया गया है और जिन्हें एकान्तमें एक आर्यिका को धर्मोपदेश देने तकसे बचाया गया है, वे मुनि जब भ्रष्ट होते हैं, तब रातदिन कामवासनामय वायुमंडलमें रहने वाली युवती विधवाओंसे ब्रह्मचर्यकी आशा रखना कितनी बड़ी हिमाकत है! इसीका तो यह नतीजा है कि जब

हम लोग बड़े उच्चस्वरसे 'जयभगवान' और "अहिंसा परमो धर्मः" के नारोंसे आकाश गुंजादेते हैं तब हमारी शीला और मनोरमा विधर्मियोंके घर आबाद कररही हैं। हजार बार लानत है हमारे इस अहिंसाधर्मको! इतने परभी, मूर्ख पंडितों! तुम शास्त्रोंके पन्ने पलट पलटकर कबतक विधवाविवाहके विरुद्ध प्रमाण ढूंढते रहोगे और कहोगे कि विधवाविवाह जैनधर्मके विरुद्ध है? माघनंदि आचार्य, जिन्होंने अपने शरीरको तपकी ज्वालासे झुलसा डाला था, जब वेभी एक कुम्हारकी कन्यासे फंसजाते हैं, तब इस कामवासनामय वायुमंडलमें रहनेवाली युवती विधवाओंकी शीलरक्षा कैसे होसकती है?

जैन विधवाओंका विवाह भी एक धार्मिक प्रश्न है। मैंने सैंकड़ों विधवाओंके विवाह कराये हैं, और यदि आज भी मुझे किसी विधवा बहिनकी ऐसीही सेवा करनेका प्रसंग आवे तो मैं अपनेको धन्य समझूं। स्मरण रखिये, जैनधर्म, स्त्रीपुरुष, ऊँचनीच सबको समान अधिकार देता है। गोम्मटसारकी मूल प्रतिमें स्त्रीको मोक्षका अधिकारी भी बतलाया गया है।

आप भाव और द्रव्यहिंसा करते हुएभी अहिंसाका झंडा उड़ाये फिरते हैं! इस तरह आप समाजको भलेही धोखेमें रखें पर सर्वज्ञको धोखादेना कठिन है। कार्माण वर्गणासे बचजाना आपके वशकी बात नहीं।

आजका जैन धर्मके नामसे पुकारा जानेवाला पाखंड और जैन समाज दोनों मुर्दा हैं। आलू न खाना, और मंदिरमें दर्शनकर चाँवल चढ़ादेना या "उदक चंदन तंदुल पुष्पकै:" कहकर अर्घ या पूजा चढ़ादेनाही आजका धर्म है। पर स्मरण रखिये कि अनेकान्तको समझे बगैर जैन धर्मका पालन नहीं किया जासकता। बताइये तो, आपमेंसे कितने अनेकान्तको जानते हैं? कूपमंडूकतामें समाजको सड़ा डालनेवाले समाजके ये पोप और मूर्ख पंडित जबतक समाज और जैनधर्मके पीछे शनिकी तरह पड़े रहेंगे, तबतक समाज आगे नहीं पग्ग सकती और न तबतक जैनधर्म की वास्तविकताकी ओर समाजका ध्यान जासकता है।

पारस देशका नामकरण भगवान पारसनाथके नाम पर हुआ था, आज पर्शियामें ऐसे शिलालेख मिलते हैं। यह इस बातका प्रमाण है कि तब जैनधर्म कितने विशाल भूमिभाग का राष्ट्रधर्म रहा होगा, और तब जैनी समुद्रयात्रा भी करते रहे होंगे। पर, आज हम अपनी अनुदारतासे जैन धर्मको संकुचित सेभी संकुचित क्षेत्रव्यापी बनारहे हैं। मुझे भय है कि यदि आपकी ये मूर्खताएँ ऐसीही अडिग बनी रही तो जैनधर्म और जैनसमाज कुछही सालोंमें नामशेष होकर केवल इतिहासकी सामग्री रह जायगा। केवल भगवान पार्श्वनाथके समयमें ही नये जैन बनाये गये हों सो बात नहीं; प्रत्येक तीर्थंकर और मर्मज्ञ आचार्यके समयमें ज़ोरोंसे शुद्धियाँ हुई हैं और जैनियोंकी तादाद बढ़ाई गई है। पर आज तो हम उल्टे जारहे हैं। हममें से नित्यही सैंकड़ों निकाल फेंकेजाते हैं पर आनेको एकभी नहीं है।

जो लोग भ्रूणहत्या करते नहीं डरते वही आत्मरक्षा के लिए हिंसा नहीं कर सकते! अपने दुर्लभ प्राणोंको बचानेके लिए विधर्मियोंके हाथोंमें अपनी बहू बेटियोंको मज़ेमें जानेदेते हैं। यह कायरता है, नपुंसकता है; अहिंसा नहीं। जैनधर्मकी बातें सर्वसाधारण जनताके सामने उसी तरह मान पावेंगी जिस प्रकार पक्के हीरे या चोखा सिक्का। पर यदि आप पाखण्डरूपी खोटे सिक्के या नकली हीरेको जन समाजके सामने रखकर पूरा मूल्य चाहेंगे तो हास्यास्पद बनेंगे।

वह धर्म जो उन्नतिके बदले अवनति करता है, त्याज्य है, अधर्म है। वास्तवमें धर्म तो वह है जिससे ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति हो। और कितनी प्रसन्नताकी बात है कि केवल मेरा नहीं वरन संसारके विज्ञानियोंका ऐसा विश्वास है कि जैनधर्म ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति करनेमें सर्वोत्तम साधन है। जैनधर्म पराधीनता या गुलामीके खिलाफ एक ज़बरदस्त घोषणा करता है। जैन धर्मका परमेश्वरभी किसीसे अपनी गुलामी या पूजा पाठ नहीं कराना चाहता। पर इतना स्मरण रखिये कि व्यष्टिरको प्रोत्साहन देकर कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। अतः व्यष्टिमें अपने को मिला दीजिए। हिन्दू जातिके अन्तर्गतही जैन जाति है। हिन्दू जातिके हिताहितसे जैन जातिके हिताहित इस तरह चिपटे हैं जैसे दूधके साथ पानी। दोनोंमें से किसीका अहित होनेसे सम्पूर्ण हिन्दू जातिका अहित है अतः जैन युवकोंको

हिन्दू जातिकी बागडोर हाथमें लेकर उसे आगे बढ़ाना चाहिए। ऐसे समय जबकि हिन्दूजाति और हिन्दुस्थान घोर संकटमें हैं, भामाशाकी सन्तानो! सामने आओ और अपना सर्वस्व, यहाँतक कि प्राणभी, देकर इनकी रक्षा करो।

जैन समाजमें, जो कि एक व्यापारी समाज है, जब तक व्यापारके सम्बन्धमें दो बातें न कहलूँ तब तक वक्ता की दृष्टिसे मेरा कर्तव्य पूरा नहीं होता। इसीलिये कहता हूँ कि भाइयो! सागरके बाज़ारमें अब तुम्हारी तरक्की न होगी। टेलीफ़ोन, तार और रेलवे आदिके कारण भारतीय व्यापारमें वह बात नहीं रहगई है जो आपको शीघ्र ही धनीमानी बनादे। अतः इटली और इजिप्टमें जाकर व्यापार कीजिए। अङ्गरेज़ जातिके दुर्गुण तो बीसियों सीखे, यह एक गुण भी तो सीख लीजिए। जब मैं यूरोप यात्राको गया था तब वहाँ एक भारतीय भाई लीलाराम खत्री मेवेका व्यापार करता मिला, जो खूब खुशहाल था। हमारे अनेक भारतीय जैनी आज विदेशोंमें व्यापार करते हैं। स्वर्गीय मगन बहिनके दामाद श्रीयुक्त चन्दू भाई पेरिस और लंदनमें जवाहिरातका धन्धा करते हैं। आप भी अपने देशको समर्थ बनानेके लिए विदेशोंमें व्यापार कर पैसा बटोर लाइये।

चूँकि आपके सांध्यभोजनका समय होरहा है, अतः मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि मेरी इन क्वीनाइन जैसी कड़वी खुराकोंके लिए जो मैंने आपको पिलानेकी चेष्टा की है, क्षमा करेंगे और देशकाल भावको देखकर अपनी रफ्तार शीघ्र ही बदलेंगे। ॐ शांति। प्रेषक—भगवन्त गणपति गोयलीय।

युवकों से।

पड़े हो कबसे पैर पसार?
आज तुम्हारी आवश्यकता,
बता रहे हैं लेखक, वक्ता,
उठो उठो आलस को छोड़ो—
भर उत्साह अपार॥ पड़े हो कबसे०॥
जोश हृदय में भरके आना,
निर्भय हो जौहर दिखलाना,
योग्य संगठन करके पीना—
प्रेम-सुधा की धार॥ पड़े हो कबसे०॥
कुप्रथाओंको कुचल डालना
कलह काण्ड को शीघ्र टालना,
बिछुड़े हुए मिलाकर, भरना—
अक्षय पुण्य-भण्डार॥ पड़े हो०॥
ज्ञान-चन्द्र को खूब खिलाना,
यह अज्ञान अन्धेर हटाना,
कर्मवीर बनकरके डूबी नाव—
लगाना पार॥ पड़े हो कबसे०॥
विघ्नोंका भय ज़रा न खाना,
कर्म-वीर बनकर ठुकराना,
सेवा का सिद्धान्त समझ के,
करना "प्रेम" सुधार॥ पड़े हो०॥

—ब्रह्मचारी प्रेम पञ्चरत्न, रैपुरा।

नवयुवकों से—

छोड़ो सारे कुपथ, सुपथ पै चलना सीखो।
मूँग पञ्चोंकी छाती पर दलना सीखो॥
करो समाज सुधार, परस्पर मिलना सीखो।
पंचायत में प्रेमपूर्वक अड़ना सीखो॥

+ + +

सीखो युवको सादगी, सत्य सदा मुखसे कहो।
विजय तुम्हारी अवशि है, निर्भय हो जगमें रहो॥

—गौरीलाल गुप्त।

अजमेरमें श्री महावीर जयन्ती उत्सव।

श्री० ब्र० दिग्विजयसिंहजीका वक्तव्य।

केवल जन्मसे ही नहीं, वरन न जाने कितनी पीढ़ियोंसे (कमसे कम हमारी जाँचके अनुसार बीस पचीस पीढ़ियोंसे) हमारे अजैन कुलमें पैदा होनेके कारण और उधर निमित्त न मिलनेसे हमको बड़ी कठिनाईसे हमारी चौबीस वर्षकी अवस्थामें जैनधर्म धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और प्रायः तभीसे (इन चौबीस वर्षोंसे) हम अपनी अल्प शक्तिके अनुसार जैनधर्म व जैनसमाज की सेवा कर रहे हैं।

यह स्वीकार करनेमें हमको कोई आपत्ति नहीं कि इस बीचमें हमारी अयोग्यता व असावधानीके कारण हमसे जैनधर्म व जैनसमाजको कई हानियाँ भी पहुँच गयी हैं। पर यदि सामूहिक दृष्टिसे हमारी सेवाओंपर विचार किया जाय तो हम उनको हानि पहुँचानेवाले कुपूत न समझे जावेंगे, वरन् भावी जैनसमाज हमको अच्छे शब्दोंमें स्मरण करेगा ऐसा हमको आत्मसन्तोष है।

हम सामाजिक झगड़ोंसे अलग रहकर उस लाइनसे जैनधर्म व जैनसमाजकी सेवा करना चाहते हैं जिसकी कि उपयोगितामें किसी जैनको विरोध न हो, और प्राय हमारा काम जैन व अजैन समाजमें उस जैनधर्म प्रचार का होता है जिसके कि विषयमें हमारे श्री दिगम्बर जैन धर्मानुयायियोंको या तो बिलकुल ही विरोध न हो, या अधिकांश समाज उससे सहमत हो।

हमारे बहुतसे मित्रों, सहयोगी कार्यकर्ताओं, और साधारण जनसमाजको हमसे यह शिकायत रही है, व है कि हम अपने विचार वर्तमान विवादस्थ विषयोंपर प्रकट नहीं करते और न समाचारपत्रोंमें ही कुछ लिखते छपाते हैं।

यद्यपि हम विधवाविवाह और छुआछूतलोपके सदैवसे ही विरुद्ध रहे हैं और अपनी स्थिति स्पष्ट करनेको हमने अपने ये विचार अनेकों बार स्वतन्त्र हैण्डबिलों व समाचारपत्रों द्वारा समाजपर प्रकट करदिये थे पर आजतक हमने अपनी यह पॉलिसी रक्खी कि हम विषयोंके पक्ष या विपक्षमें हम तब तक न बोलें या लिखें जब तक कि हम उसके लिये विवश न हो जावें।

हमारा कार्यक्षेत्र विशेषतः जैनधर्मप्रचार है और समाजसुधारकी बातें हमारे कार्यक्रममें गौणरूपसे रहा करती हैं। इस गौणरूपमें भी हम बाध्य होनेपर तभी बोलते हैं जब कि वह हमारे विचारानुकूल होनेके साथही सर्व या अधिकांश जैनसमाजको सहमत हो।

गत ७ अप्रेलकी रात्रिको अजमेर केसरगञ्जकी श्री दिगम्बर जैन जैसवाल सभाद्वारा मनायी हुई श्री महावीर जयन्ती उत्सवके सम्बन्धमें पहिली व्याख्यानसभा हुई थी। उसमें श्री पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थने वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें जो अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किये थे, उससे उपस्थित मण्डलीमें बड़ा असन्तोष होगया था, और अनेकों भाई अप्रसन्न होकर सभासे उठ गये थे। दूसरे दिन ८ अप्रेलकी सभामें हमको सभापति बनाकर यह चाहा गया था कि हम वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें शास्त्रीय विचार प्रकट करें, और उसको हमने अपनी योग्यता व विचारोंके अनुसार उस विषयमें प्रकट किया था।

उस सभा तथा उसके बाद होनेवाली दो सभाओं का विवरण जो अजमेरसे प्रकाशित "जैनजगत" पाक्षिक पत्रके वर्ष ८ अङ्क १२ तारीख १६ अप्रेल १९३३ ई० के पहिले दूसरे और चौथे मुख पृष्ठ पर "अजमेरमें महावीर जयन्ती उत्सव" शीर्षकसे निकला, उसमें हमारी समझसे अनेक असत्य, अर्द्धसत्य व क्रमविरुद्ध बातें थीं।

उनका प्रतीकार आवश्यक समझ कर हमने उपर्युक्त १६ अप्रेलका "जैनजगत्" पानेके दूसरे दिन २७ अप्रेलको "जैनजगत्" में प्रकाशित उपर्युक्त लेखका प्रतिवाद लिखा और जो बातें हमारे समझसे जैसी थी वैसा प्रकट किया।

यद्यपि इस लेखमें हमने वही सब बातें लिखी थी जो कि हमको वस्तुस्थिति प्रकट करनेके अर्थ लिखना आवश्यक थी, पर फिर भी वह लेख कुछ लम्बा होगया था। अतः यह भय कर कि कदाचित इतना लम्बा लेख समाचार पत्रवाले न छापें, हम उसको अपने व्ययसे हैण्डबिल रूपमें प्रकाशित करना चाहते थे और उसकी एक एक प्रति जैन समाचारपत्रोंको भी छापनेके अर्थ भेजना चाहते थे।

इधर बहुत दिनोंसे हमारा शरीर अस्वस्थ व सुस्त रहता है। अतः हमारे अर्थ उस लम्बे लेखकी कई कॉपियाँ करना बड़ा कष्टसाध्य था। कोई उस समय लेखक भी न था। अतः कुछ पैसे अधिक लगाकर उसको छपवादेना ही उचित समझा था।

बादमें ज्ञात हुआ कि उसको अलग छपवानेमें जो द्रव्य लगेगा वह अभी हम नहीं दे सकते। अतः उसको अलग छपवानेका प्रस्ताव स्थगित रहा। कुछ दिनों बाद एक क्लर्क ऐसा मिलगया जो कि कॉपी करसके। पर वह नवसिखिया था। कॉपियोंको मिलाने व ठीक करनेमें समय लग गया। इसके बाद हमको शास्त्रार्थोंके लिये खतौली जिला मुजफ्फरनगर जाना पड़ा। वहाँसे देरमें लौटे। वर्णव्यवस्था शास्त्रार्थसम्बन्धी पत्रव्यवहारमें कुछ समय लगगया। पीछे उस प्रतिवादके भेजनेका नम्बर आया। इस कारण वह कॉपी "जैनजगत्" को १५ मई से पहिले न भेजी जासकी। प्रकाशकजीके एक अभिन्न कुटुम्बी व मित्रके हाथ इस अनुरोधके साथ वह कॉपी भेजी गयी कि वह उसको अविकल रूपसे 'जैनजगत' के इसी अङ्कमें निकलवा दें। पत्रवाहक महोदयने बड़ी सिफारिश की, जिसपर कि उसका एक थोड़ा अंश बड़ी लम्बी टीका टिप्पणीके साथ 'जैनजगत्के' इसी १६ मई के अङ्कमें निकला है जो कि हमको कल सन्ध्या समय प्राप्त हुआ है।

हमारी इच्छा थी और न्याय भी यही कहता है कि प्रकाशक 'जैनजगत' हमारे उस वक्तव्यको अविकल रूपसे 'जैनजगत' में प्रकाशित कर देते बादमें जो उचित समझते उसपर टीका टिप्पणी करते। पर प्रकाशक महोदयने वह कृपा नहीं की और हमारे वक्तव्यके जहाँ तहाँ के कुछ अंश उद्धृत कर अपनी टीका टिप्पणी की है, जिससे कि 'जैनजगत्' के पाठकोंको वस्तुस्वरूप प्रकट नहीं होसका।

हमने जो अभी अपना वह प्रतिवाद लिखा था व जैन समाचारपत्रोंमें छपनेको भेजा था उसमें हमने 'जैनजगत' का अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पूरा वक्तव्य उद्धृत कर दिया था। उसके बाद उस पर अपना वक्तव्य लिखा था। हमारी समझमें जैनजगतको भी ऐसाही करना उचित था। पर किसी विशेष प्रयोजनसे वह ऐसा नहीं कर सका।

हमारे वक्तव्यको पूरा अविकल रूपसे न छापनेमें 'जैनजगत' ने जो यह लिखा है कि "इतनी देरीसे आनेके कारण तथा साथ ही इस कारणसे भी कि उक्त वक्तव्यमें बहुतसी बातें प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध नहीं रखती हैं, हम ब्रह्मचारीजीकी आज्ञापालन करनेमें असमर्थ हैं।" सो ठीक नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि कारण विशेषसे हमको अपना वह प्रतिवाद भेजनेमें कुछ विलम्ब होगया था। पर वह थोड़ासा विलम्ब उसको अविकल रूपसे छापनेमें कुछ बाधक नहीं होसकता। कारण कि वह कोई समाचार नहीं था जिसकी कि उपयोगिता कुछ देरसे उसको भेजनेमें नष्ट होजाती। वरन वहतो "जैनजगत" के आक्षेपोंका जवाब था, और आक्षेपोंका उत्तर आक्षेप प्रकाशित होते ही तत्क्षण आना चाहिये नहीं तो वह न छापा जावेगा, ऐसा कोई नियम नहीं।

प्रकाशक महोदयजीने जो यह निर्णय दिया है कि 'उक्तवक्तव्यमें बहुतसी बातें प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध नहीं रखती हैं', यह आपका निर्णय उस समय मान्य होसकता है जब कि आप हमारे वक्तव्यको अविकल रूपसे छापकर यह दिखलावें कि अमुक बात प्रकरणविरुद्ध है। यों तो जो भी बात अपने अनुकूल न हो वही प्रकरणविरुद्ध समझी जासकती है।

"जैनजगत" से यह आशा नहीं है कि वह हमारे उस वक्तव्यको प्रकाशित करेगा। इससे पाठकोंको उसे दूसरे जैनपत्रोंमें पढ़ना चाहिये।

'मौनं सम्मति लक्षणम्' के अनुसार यह मानकर कि "जैनजगत" ने हमारे जिस वक्तव्यके विरोधमें कुछ नहीं लिखा है उससे वह सहमत है, हम अब उन बातों का उत्तर लिखते हैं जिससे कि "जैनजगत्" सहमत नहीं है, या जिसके विरोधमें उसने कुछ लिखा है।

जैनधर्मकी वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें हमने जो अपने विचार प्रकट किये व लिखे हैं उनकी पुष्टि जैनशास्त्र बराबर कररहे हैं और उनके विषयमें एक लिखित शास्त्रार्थ पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थसे चलरहा है। अतः उस सम्बन्धके प्रमाण आदि उसी शास्त्रार्थमें देखिये जोकि आपके "जैनजगत्" में भी छपता है व छपेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे व्याख्यानके समय पंडित

शोभाचन्द्रजी उससमय हमारे सामने बैठे हुये थे, पर बिना उनके बतलाये व कहे हुये हम यह कैसे जान सकते थे कि वेभी हमारे बाद बोलेंगे। इसके सिवाय, सभापतिके भाषण के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जासकता जबतक कि वह उस सभाके उद्देश्यविरुद्ध कुछ न कह रहा हो।

वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें किसका पक्ष प्रबल है और किसका निर्बल, यह बाततो शास्त्रार्थ से स्वतः सिद्ध होजावेगी। पर यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि पंडित शोभाचन्द्रजीके वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचारोंसे अधिकांश जैन समाज असहमत है और तभीतो 'जैनजगत्'' के लेखानुसार उससे स्थितिपालक विचलित और हमारे अनुसार क्षोभित व असन्तुष्ट होगये थे।

प्रायः अधिकांश समाजें व सभाएँ अपनेसे विरुद्ध विचार रखनेवालेको अपने प्लेटफार्मसे बोलने नहीं देती; पर उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं लिया जासकता कि वे अपना पक्ष निर्बल समझकर ही ऐसा कररही हैं।

प्रत्येक सभा सोसाइटीको अपने व्याख्याताओंके चुनाव व नियत करनेका अधिकार प्राप्त है और किसी विशेष पुरुषका व्याख्यान उसको करवानाही होगा उसके अर्थ उसको बाध्य नहीं किया जासकता।

बाबू साहबका यह लिखना कि ब्रह्मचारीजीने मुझसे रूबरू कहा था कि "आप और किसी जगहसे चाहे जो कहें, यहाँ आपको बोलनेका अवसर नहीं दिया जासकता", सरीहन सत्यका अपलाप है। बात असलमें यह है जैसी कि पहिले लिखी जाचुकी है कि सभाविसर्जन होजाने के बाद और लोगोंके उठजाने पर बाबू फ़तहचन्दजी सेठी व पंडित शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थने कुछ कहनेके अर्थ हमसे समय माँगा। उससमय हमने कहा कि अबतो सभा विसर्जन होगई और सभापतिके भाषणके विरुद्ध कुछ नहीं कहा जासकता। इसपर आपने पूछा कि क्या कल हमको समय मिलसकता है? हमने कहा, यह बात सभाके संचालकोंसे पूछिए। इसके सिवाय हमारी व आपकी तो इन दिनों विचारों की लड़ाई है और हम लोग चाहे जब और चाहे जहाँ निपट सकते हैं।

गतवर्ष दिल्ली और इसवर्ष अजमेरकी परिस्थितिको जो बाबू साहब एकसी मिलारहे हैं वह इसलिये एकसी नहीं होसकती कि दिल्लीमें सेठ ज्वालाप्रसादजी का विधवाविवाह समर्थन, सभाके संयोजक जैन मित्रमण्डल की नीतिके विरुद्ध था और यहाँ हमारे वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचार सभाके संयोजकोंकी नीतिके अनुकूल थे।

यदि कोई सभापति उस सभाकी नीतिके विरुद्ध बोलता है जिसका कि वह सभापति है तो उसके भाषण के विरुद्ध प्रतिवाद किया जासकता है, पर यदि वह अपनी उस सभाकी नीतिका समर्थन करता है तो श्रोताओं को उस सभापतिका प्रतिवाद करनेका कोई हक़ नहीं है। यदि वे चाहें तो उस सभाके भंग होजाने पर उसी स्थानपर दूसरी सभा करके या दूसरे स्थान पर उसीसमय या किसी समय सभाकरके उसका प्रतिकार कर सकते हैं।

यदि ऐसा न माना जायतो बड़ी कठिनाई होजावेगी क्योंकि प्रत्येकही सभामें कोई न कोई विरोधी श्रोता होते ही हैं और यदि उनकोभी उसी सभामें सभापतिके विरुद्ध कहनेका अवसर दिया जाय तबतो किसीभी सभापतिका वक्तव्य बिना प्रतिवाद किये शेष न रह सकेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि हमने अपने भाषणमें वर्णव्यवस्थाके विषयमें जो उद्गार प्रगट कियेथे वे केवल आपके ख्यालमें ही नहीं वरन आपके समान विचार रखने वाले दस बीस मनुष्योंके भी विरुद्ध होसकते हैं। पर इसकारण कि वे हमारे उद्गार सभाके संयोजकों व अधिकांश श्रोताओंके अनुकूल थे अत आपको उनके विरुद्ध उसी सभामें कहनेका कोई हक़ नहीं रहता।

सभाकी समाप्तिपर आपने जो हमसे सभापति के भाषणके विरुद्ध बोलनेके लिये समय माँगा था उसको हमने अपने अधिकार में मदमस्त होकर अपना मुँह छिपाने केलिये आपकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया था वरन् उसका स्वीकार न करना सभाकी शान्ति व नियमपालनार्थ अत्यावश्यक था।

सन् १९१४से १९१७ ईस्वी तक तीन वर्षके लगभग श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर ज़िला मेरठ (यू० पी०) में और १९२२ से १९३० के अगस्त मास तक साढ़े सात वर्षके लगभग सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जुबिलीबाग़ ट्रस्टफण्ड मुम्बईमें वैतनिक रूपसे कार्य करनेका हमको अव-

सर मिला था । पर वहाँ जो हमको वेतन मिला उसमें हम कुछ बचा नहीं सके, वरन् ऋणी होगये ।

सन् १९३० ईस्वी की ४ जूनको हमारा साथी सेवक माणिकलाल जैनब्राह्मण बाँसवाड़ा (बागड़) निवासी अचानक मृत्युको प्राप्त होगया और उसी मास के अन्तमें ट्रस्टफण्डवालोंने अपना उपदेशक विभाग ३१ अगस्त १९३० ई० को बन्द करदेने का हमको नोटिस दिया ।

हमारे साथी की बीमारी व मृत्यु संस्कारमें हमारा बहुतसा पैसा खर्च होगया था और ट्रस्टफण्डसे उसी समय हम पृथक् किये जाचुके थे इस कारण हम बड़े आर्थिक संकट में आगये और हमारे पास वहां बाहर परदेश (नागपुर) में सिवाय इसके कोई उपाय न था कि हम अपने कुछ खास मित्रों व सहायकोंसे कुछ सहायता उधार के रूपमें प्राप्त करें ।

तदनुसार हमने अपने कुछ खास मित्रों व सहायकों को सहायताके अर्थ पत्र लिखे थे और उनमेंसे अनेकोंने कृपा कर वह दी भी ।

उससमय हम समझते थे कि ट्रस्टफण्डमें ही या किसी दूसरे स्थानमें हम पुनः वैतनिक रूपसे शीघ्रही कार्य करने लगजावेंगे और अधिक किफ़ायतशारीसे चलकर अपना यह ऋण ब्याजसहित चुकता कर देवेंगे । इसीकारण हमने अपने उस सहायता ऋण प्राप्त करनेके पत्रमें उन रुपयोंको ब्याजसहित चुकता करदेने की बात लिखी थी ।

भविष्यकी बात किसे मालूम ? इसकारण यहभी उस पत्रमें हमने लिखदिया था कि हम अपनी स्थिति सम्हलने पर आपके रुपये ब्याज सहित लौटा देवेंगे और यदि कदाचित किसी विशेष कारणसे वैसा न होसके तो इनको धर्मार्थ ही समझ लीजियेगा ।

हमारे जिन प्रेमी मित्रों व सहायकोंको हमारी उस शर्तपर हमको ऋणके रूपमें सहायतादेनी स्वीकार हुई उन्होंने हमको अपनी वह सहायता भेजदी और जो हमको किसीभी कारणसे सहायता नहीं भेजसके उनसे हमको कोई शिकायत व नाराज़ी नहीं है ।

"जैनजगत्" के प्रकाशक बाबू फ़तहचन्दजी सेठी को भी हमने अपना वह पत्र भेजाथा । पर उनको हमारा विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने न तो स्वयम् कोई सहायता हमको दी और न अपने मित्रोंको ही देनेदी । इससे हमको उनसे कोई शिकायत नहीं है और न इसीसे हमारी उनकी मित्रतामें ही कुछ अन्तर पड़ा है ।

इसबातको लेकर अब जो बाबू साहब यह लिखते हैं कि "अफ़सोस है कि हम ब्रह्मचारीजीके इस मर्ज़की दवा न होसके तथा साथही हमने अपने कुछ मित्रोंको भी इससे वञ्चित रक्खा, अतः अगर ब्रह्मचारीजी हमें अब सामान्य जैन भी न समझें वरन् जैनधर्म की जड़ खोदने वाला समझें तो कोई आश्चर्य नहीं है ।"

हम जो बाबूसाहबको दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी तो क्या, एक सामान्य जैनभी नहीं समझते वरन जैनधर्म की जड़ खोदने वाला मानते हैं उसका कारण यह कदापि नहीं है कि बाबू साहबने हमारी प्रार्थनापर हमको सहायता नहीं भेजी थी वरन् यह है कि बाबूसाहब जो "जैनजगत्" के सहायक सम्पादक व प्रकाशक होकर जैनधर्म के मान्य देव, गुरु और शास्त्रके विरुद्ध लेख छाप व लिख रहे हैं, वह हमारे विश्वास के अनुसार जैनधर्म की जड़ खोदना ही है ।

बाबू साहब जो एक सड़ासा बहाना लेकर अपना बचाव करना चाहते हैं वह उससे कदापि नहीं होता । क्योंकि क्या वह यह नहीं जानते कि जैन समाज में सब मनुष्य हमारी इच्छानुसार नहीं चलते और उनमेंसे कई हमारी बुराई भी करते हैं । पर उनमें से किस किसको हम धर्मकी जड़ खोदने वाला कहते व मानते हैं ।

इसके सिवाय हमारे समान जो अन्य अनेक सज्जन बाबू साहबको जैनधर्म की जड़ खोदने वाला मानते हैं क्या उनके लियेभी बाबू साहबके पास ऐसा कोई बहाना है?

अब रही हमारे ऋणकी बात सो जिन साहबों का हमपर जो भी पैसा चाहिए वह हमको देना बराबर स्वीकार है । कुछका हमने देदिया है और जिन साहबान का नहीं देपाये उनके देनेकी हमको फ़िक्र है और हम उपाय कररहे हैं ।

जबतक हमारा यह ऋण चुकता या साफ़ न होजावेगा तबतक हम बहुत इच्छा रखते हुए भी आगे विरक्ति के मार्गमें नहीं बढ़ेंगे और जो पैसा हमारे पास बचेगा

वह ऋण चुकता करनेके काममें आवेगा। यदि हम ऋणी मरगये तो हम अपने लड़कों को अपने ऋण की सूची देजावेंगे और वे हमारे इस पापको भोगते रहेंगे।

हम पहिले कईबार स्वीकार कर चुके हैं और अब पुनः भी करते हैं कि हममें अनेकों दोष हैं और उनकी एक लम्बी लिस्ट बनायी जासकती है। बहुतसे तो हममें ऐसे भी दोष हैं कि उनकी कल्पना भी बाबू साहब या कोई दूसरा नहीं कर सकता। पर, हम दोषोंको दोष समझते हैं, उन्हें स्वीकार करते हैं, और भविष्यमें उनसे बचनेका शक्ति अनुसार प्रयत्न भी करते हैं।

यदि बाबूजी चाहें तो हम अपने दोषोंकी एक लम्बी सूची उनको भेज सकते हैं। पर उससे उनको कोई लाभ न होगा और जब तक वह जैन धर्मके मान्य अर्हन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय शास्त्रके विरुद्ध लिखते व छापते रहेंगे तब तक वह जैन धर्मकी जड़ खोदनेवाले ही समझे जावेंगे और इस विषयमें दो मत हो ही नहीं सकते।

जो बात हमको सच्ची, अच्छी और लाभदायक मालूम होती है, उसको हम सदैव ग्रहण करनेके अर्थ तैयार रहते हैं और उसके अनुसार अपने को बदलते रहते हैं। हमारा अब तकका जीवन इस बातका ज्वलन्त उदाहरण है और यही बात आगे भी बराबर बनी रहेगी। इसके सिवाय श्री दिगम्बर जैन शास्त्रोंपर हमारी अनन्य श्रद्धा है; अतः यदि हम कभी उनके विरुद्ध न जाकर आपके लेखानुसार स्थितिपालक ही हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसका हमको आत्मगौरव है, और हम सदैव सत्य व उपयोगिताके अनुयायी रहेंगे।

हम सदैव अपने को जैनधर्म व जैन समाजकी सफरमैना फ़ौजका एक छोटेसे छोटा सिपाही समझते हैं और इसी अनुसार अपना व्यवहार भी रखते हैं। यदि कभी क्षत्रियवर्ण व हुकूमत करने वाले ख़ान्दानमें पैदा होने के कारण कुछ Dictatorship (निर्णय देने की बात) हममें कभी कभी आजाती हो तो उसका हमको दुःख है और हम भविष्यमें अधिक सावधान रहेंगे। पर हमारा विश्वास है कि हममें मायाचारी बहुत कम है और जैसा हम समझते हैं, वैसा ही कहते भी हैं।

किसीके भी जैन होनेके सम्बन्धमें यह परम आवश्यक है कि वह देव गुरु और शास्त्रका स्वरूप वैसाही माने जैसा कि जैनशास्त्रोंमें वर्णन किया गया है। अर्थात् वह देवको सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक, गुरुको निर्ग्रन्थ और शास्त्रको दयामय उपदेश देने वाला मानता हो। इसके सिवाय जैनशास्त्रोंपर उसका विश्वास हो और उसमें प्ररूपित वस्तुस्वरूपको उसी रूपमें श्रद्धान करता हो।

कोई भाई चाहे वह जैन धर्मका कितना ही प्रगाढ़ विद्वान क्यों न हो और चाहे वह किसी भी विद्यालयमें धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन क्यों न कर रहा हो, जब तक उसका श्रद्धान जैन धर्ममें प्ररूपित वस्तुस्वरूप पर नहीं है वह बाबू अर्जुनलालजी सेठीकी भाँति ही जैन नहीं माना जा सकता।

हमने जिस व्यक्तिके लिये भूतपूर्व जैन लिखा है वह श्री महावीर स्वामी को अन्य सर्व जैनों की भाँति सर्वज्ञ नहीं मानते और उनके व्याख्यानकी मुख्य तान यही थी कि श्री महावीर स्वामी भी आजकलके लीडरों की भाँति अपने समयके एक लीडर थे।

चौधरी धर्मचन्द्रजी के विषयमें हमने जो पहिले कहा व लिखा था उसमें परिवर्तन करने की हमको कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती और श्रीमान् चौधरी धर्मचन्द्रजी का पत्र जो अभी इसी "जैनजगत्" के पृष्ठ २५ पर प्रकाशित हुआ है उसके सम्बन्धमें प्रकाशक "जैन जगत्" को इस विषयमें अभी विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जब "जैनजगत्" इस विषयमें आगे कुछ लिखेगा तभी हमको समुचित कार्यवाही करनी पड़ेगी।

इस सम्बन्धमें प्रकाशित सर्व लेखोंको ध्यानसे पढ़ कर पाठक यथार्थ वस्तु स्वरूपसमझ जावेंगे। यदि किसी बात पर पुनः प्रकाश डालने की आवश्यकता समझी व बतलायी जावेगी, उसपर हम पुनः वस्तुस्वरूप प्रकट करेंगे।

श्रीयुत पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थसे "वर्णव्यवस्था" के सम्बन्धमें लिखित शास्त्रार्थ शीघ्रही चलेगा। अभी नियमादि निश्चित हो रहे हैं। पाठकगण धैर्य रक्खें और इकतर्फ़ी बातपर सहसा विश्वास न कर बैठें।

—जैन धर्मका अनन्यभक्त और सेवक,
(Sd) Digvijay Singh.

ता० २७ मे १९३३ ई० (ह०) दिग्विजयसिंह
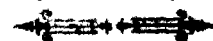
नोटः—"जैनजगत" अङ्क १२ ता० १६ अप्रैल ३३ में प्रकाशित "अजमेरमें महावीरजयन्ती उत्सव" शीर्षक नोटके सम्बन्धमें ब्रह्मचारीजीने ता० १५ मईको अपना एक वक्तव्य भिजवाया था, जिसपर अंक १४ में प्रकाश डाला जाचुका है। यह ब्रह्मचारीजीका इसी सम्बन्धमें दूसरा वक्तव्य है। यद्यपि यह भी प्रथम वक्तव्यके समान ही असम्बद्ध चर्चाओंसे भरा है, और इसलिये इसे अविकल रूपसे प्रकाशित करना आवश्यक न था, किन्तु यह ख्याल करके कि इससे ब्रह्मचारीजीको व्यर्थ अपनी डींगें मारने व जनतामें भ्रम फैलानेका मौक़ा मिलता है उनका पूरा वक्तव्य ज्यों का त्यों प्रकाशित किया गया है।

पहिले प्रकाशित किया जाचुका है कि अबकी बार स्थानीय श्रीजैसवाल दिगम्बर जैनसभाके संचालकोंकी इच्छा तीनों सम्प्रदायोंकी सम्मिलित वीरजयन्ती उत्सव मनानेकी थी और इसीलिये उन्होंने साधुसम्मेलनके अवसर पर आये हुए श्वेताम्बर विद्वानों को खुद जाकर निमन्त्रण दिया था। इसी नीतिके अनुसार ता० ७ अप्रैलकी सभामें सभी सम्प्रदाय वालोंको अपनी अपनी मान्यताके अनुसार महावीर प्रभुकी स्तुति करनेका मौक़ा दिया गया था। लेकिन बादमें श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीके दबाव देने पर कि तीनों सम्प्रदायोंका सम्मिलित उत्सव करोगे तो रथयात्राके लिये सामान नहीं दिया जावेगा, संचालकगण नैतिक साहसके अभावके कारण झुक गये और यहाँ तक झुके कि अपने लिखित व मौखिक निमन्त्रणको रद्द कर रथयात्रामें केवल दिगम्बरोंको शरीक किया गया तथा ता० ८ व ९ अप्रैलकी सभाओंके लिये वक्ताओंकी नियुक्तिका क्षेत्र और भी संकुचित कर दिगम्बर समाजकी भी केवल एक मण्डलीमेंही सीमित करलिया। ब्रह्मचारी दिग्विजयसिंहजी सम्मिलित वीरजयन्ती उत्सव मनानेके पक्षमें हैं, अतः उनका कर्तव्य यह था कि वे जैसवाल सभाके पथविचलित संचालकोंको उत्साह प्रदानकर धनसत्ताके अनुचित दमनका मुकाबिला करनेका उपदेश देते परन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने भी दमनकारियोंका साथ दिया; यही नहीं किन्तु आगे होकर वे स्वयं दमन करने पर उतारू होगये। ता० ८ की सभामें वे एक वक्ताकी हैसियतसे भाषण देनेको थे किन्तु सभामें प्रतिपक्षियोंकी उपस्थिति देख कर आप स्वयं ही सभापति बन बैठे और सभापतिकी हैसियतसे आपने प्रतिपक्षियों पर आक्रमण किये लेकिन यह कह कर कि सभापतिके भाषणका विरोध नहीं किया जासकता, विरोधियोंको वार करनेका मौक़ा नहीं दिया। ख़ैर।

ब्रह्मचारीजी अपनी इस निरङ्कुश प्रवृत्तिका इसप्रकार बचाव करते हैं:—

१—अधिकांश समाजें व सभाएँ अपनेसे विरुद्ध विचार रखने वाले को अपने प्लेटफॉर्मसे बोलने नहीं देतीं।

२—प्रत्येक सभा सोसाइटी को अपने व्याख्याताओं के चुनाव व नियत करनेका अधिकार प्राप्त है। और किसी विशेष पुरुषका व्याख्यान उसको करवाना ही होगा उसके अर्थ उसको बाध्य नहीं किया जा सकता।

३—सभापतिके भाषणका विरोध नहीं किया जा सकता।

हम ब्रह्मचारीजीसे पूछना चाहते हैं कि यदि सम्मिलित वीरजयन्ती उत्सवके प्लेटफॉर्मसे किसी एक व्यक्ति या समाज की मान्यताके विरुद्ध विचारवालों को बोलने नहीं दिया जा सकता तो फिर सम्मिलित वीर जयन्ती उत्सव मनानेका क्या प्रयोजन है? दूसरी बात यह है कि श्रीमान पंडित शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ ब्यावरसे ख़ासतौर पर इस उत्सवके लिए आमंत्रित किये गये थे तथा उत्सवके छपे प्रोग्राममें भी शुरूसे प्रकाशित किया गया था, उनका नाम व्याख्याताओंमें सबसे ऊपर लिखा गया था। अतः उनको व्याख्यानके लिये अवसर देना, ख़ासकर जब कि उनपर एक दूसरे आमंत्रित व्यक्ति द्वारा आक्षेप किये जा रहे हों, संचालकोंके लिये एक ज़रूरी फ़र्ज़ था। तीसरी बात, जिस पर कि पहिले भी उनका ध्यान दिलाया जा चुका है, यह है कि जब ब्रह्मचारीजीने सभापतिके अधिकारों की ओटमें अपना मुँह छिपानेके लिये अथवा खुद अपने ही शब्दोंमें सभाकी शान्ति व नियमपालनार्थ पंडित शोभाचन्द्रजी को अपने भाषणका विरोध करनेका अवसर नहीं दिया था तो ता० २४ अप्रैलके वक्तव्यमें आपने ये शब्द किस अभिप्रायसे लिखे थे—"पहिलेसे हमको न तो किसीने यह बात बतलाई थी कि हम आपके बाद बोलेंगे और न हमको ही यह बात मालूम थी। इस कारण निश्चित समय पर सभा विसर्जित करदी गई। यदि पहिले

से इस सम्बन्धमें कोई बात होती तो बहुत सम्भव था कि हम बहुत थोड़ा ही बोलते और दूसरों को भी अपने विचार प्रकट करनेका अवसर देते।" यदि आपको पहिले सूचना देदीगई होती तो क्या आपके इन उपरोक्त मनोनीत नियमोंमें तथा सभाकी शांतिमें बाधा नहीं पहुँचती ?

ब्रह्मचारीजी स्वीकार करते है कि सन् १९३० में उनके एक साथी की मृत्यु होजाने व उनको नौकरी से प्रायः पृथक् करदिये जानेके कारण उन्होंने अपने मित्रोंमें से प्रत्येक को २५) रु० कर्ज़ के तौर पर तार-मनीआर्डर द्वारा भिजवानेको लिखाथा और उनमेंसे अभीतक 'कुछ' का ही रुपया वापिस लौटाया गया है। जैसाकि हम पहिले प्रकट करचुके है ब्रह्मचारीजीने सन् १९३० से पूर्व सन् १९२९ में भी जबकि, वे वेतन पारहे थे इसी ढंगसे अपने मित्रोंसे पच्चीस पच्चीस रुपये मँगवाये थे। एकबार जब उन्हें इसमें सफलता मिल गई तो उन्होंने दूसरीबार फिर वही तरकीब चलाई। क्या ब्रह्मचारीजी बतालावेंगे कि-

(१) सन १९२९ में नौकरी करते हुए आपने अपने मित्रोंसे पच्चीस पच्चीस रुपये क्यों मँगवाये थे ?

(२) इसतरह आपने अबतक अपने मित्रोंसे कुल कितना रुपया लिया और उसमेंसे कितना वापिस चुका दिया गया है ?

(३) यदि आपको कर्ज लेनाथा तो किसी एक व्यक्तिसे तमस्सुक लिखकर कर्ज लेनेके बजाय अपने मित्रोंसे अलग अलग पच्चीस पच्चीस रुपया क्यों लिये ?

(४) यदि आपका वास्तविक अभिप्राय कर्ज़के तौर पर रुपया लेनेका और ब्याज सहित सब रकम लौटानेका था तो आपके पत्रके इन शब्दों का कि—" हम अपनी स्थिति सम्हलनेपर आपके रुपये ब्याज सहित लौटा देवेंगे और यदि कदाचित् किसी विशेष कारणसे वैसा न होसके तो इसको धर्मार्थही समझ लीजियेगा" क्या अभिप्राय था ?

(५) आपके खिलाफ यह शिकायत है कि आप रुपया चुकानेके सम्बन्धमें लिखे गये पत्रोंका उत्तर तक नहीं देते, सो इसकी क्या वजह है ?

ब्रह्मचारीजी लिखते हैं कि "हम दोषोंको दोष समझते हैं, उन्हें स्वीकार करते है और भविष्यमें उनसे बचनेका शक्ति अनुसार प्रयत्न भी करते हैं"। हमें खेद है कि हम उनकी इस बातको निर्विवाद माननेके लिये तैयार नहीं हैं। हमें मालूम है कि कुछ अर्से पहिले उनके एक सहयोगीने इनके ट्रंकमें से कुछ कागजात बरामद किये थे जिनके कारण आपसमें बहुत झगड़ा हुवा था और बहुत हुज्जत के बादही वे इनसे सहीबात कबूल करा सके थे, और आपत्तिजनक कारणों को दूर हटा सके थे। प्रायः तबही से आप अजमेर आकर बस गये हैं। करीब तीन बरस पहिले अपनी कर्ज़दारीकी वजह बताते हुए आपने लिखा था कि—" अपने अनेक दुर्गुणोंके कारण हम सदैव नौ स्वाय तेरहकी भुग्तमें हैं", परन्तु आज भी आपका प्रायः यही हाल है। शास्त्रार्थ संघके आप वेतनभोगी कार्यकर्ता है, किन्तु शास्त्रार्थसंघके लिये आप प्रतिदिन कितने मिनिट व्यय करते है, यह आपके सम्पर्कमें रहनेवालों को बखूबी मालूम है। आप महीनो से केसरगंज दिगम्बर जैन जैसवाल समाजके जबर्दस्ती महमान बने हुए हैं। लेकिन आपसे इतना भी नहीं होता कि आप अपने इन आश्रयदाताओंके उपकारके बदलेमें उन्हें कुछ धर्मोपदेश दिया करें अथवा उनके बालकोंको ही कुछ शिक्षा दें। प्रतिदिन दिनका प्रायः अधिकांश समय मालिश करानेमें व्यतीत होता है तथा सायंकाल व रात्रिका प्रथम भाग घूमने घामनेमें या सिनेमा देखनेमें जाता है। खैर, इस विषयमें हम ये पंक्तियाँ लिखने को केवल इसलिये विवश हुए है कि दिगम्बरजैनसिद्धांत त्यागीवेषी है, तथा एक सार्वजनिक संस्थाके वेतनभोगी कार्यकर्ता हैं।

चौधरी धर्मचन्दजीके विषयमें आपने ता० २४ अप्रैल के वक्तव्यमें लिखा था—" हम लोग उनके सम्बन्धमें गहरी जाँच करेंगे और वस्तुस्थिति समाज को प्रकट करेंगे। अभी तो हम लोग यह समझते हैं कि हम लोगों ने कोई भूल नहीं की है, पर यदि दूसरी गहरी जाँचसे हम लोगों को ऐसा मालूम हो जावेगा कि सचमुच हम लोगोंसे अनजानपनमें कोई काम शास्त्रविरुद्ध या अनर्थका हो गया है तो हम लोग इसका प्रायश्चित व दण्ड लेंगे।" परन्तु जब हमने इस आश्वासन पर इस संबंधमें उनकी

[शेष पृष्ठ दो पर]

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.
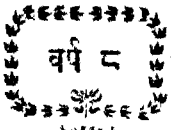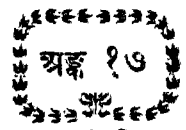
वर्ष ८ १ जुलाई सन १९३३ अङ्क १७

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—बा० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई.
प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर।

ब्र० दिग्विजयसिंहजीसे प्रश्न

पत्राङ्कमें ब्रह्मचारी कुंवर दिग्विजयसिंहजीके विषय में उनका वक्तव्य प्रकाशित करते हुए हमने जो नोट लिखा था उसमें हमने उनके सामने कुछ निश्चित प्रश्न रख दिये थे और उनका उनसे उत्तर मांगा था। खेद है कि उनका सिलसिलेवार उत्तर देनेके बजाय उन्होंने फिर अपना एक लम्बा चौड़ा वक्तव्य भिजवाया है जिसमें असली बातको [illegible] मसलेको वितण्डावादके दलदल में दबादेनेकी यत्न की है। ब्रह्मचारीजी पर एक आक्षेप हमने यह किया था कि वे अपने आर्थिक संकटको धर्म पर संकट बताकर तथा धर्मकी हँसी होनेका भय दिखाकर धर्मभीरु व समाजसेवी पुरुषोंसे रुपये लेते रहे हैं। यद्यपि रुपये मांगते समय उनको यह आश्वासन देते रहे हैं कि रुपया नियत ब्याजकी दरपर उधार मांगा जा रहा है और वह ब्याजसहित लौटा दिया जावेगा लेकिन बादमें असल रुपया व ब्याज वापिस चुकाना तो दूर तकाज़ेके पत्रोंका उत्तर तक देनेकी परवाह नहीं की गई। इस तरह आपने कई मर्तबा कई व्यक्तियोंसे भिन्न भिन्न अवसरों पर रुपये लिये हैं। लेकिन दो अवसर हमें ऐसे मालूम हैं कि जब रुपया इकट्ठा करनेके लिये एक खास तरकीब की गई—एक साथ कई लोगोंको लिखागया कि रुपयेकी अत्यन्त शीघ्र आवश्यकता है अतः पचास रुपया तारके मनीओर्डर द्वारा भेजें। रुपया भेजनेवालोंकी सहूलियतके लिये तार मनी ऑर्डर फोर्म भी खानापूरी किया हुवा पत्रके साथ भेजा गया। रुपया, एक रुपया सैकड़ा मासिक ब्याजकी दरपर उधार मांगा गया और यह वायदा कियागया कि कुल रकम, असल व ब्याज, अधिकसे अधिक एक वर्षके भीतर भीतर लौटादी जावेगी। यह तरकीब अक्टूबर सन् १९२६ में की गई। इसमें सफलता मिलने पर अक्टूबर सन् १९[illegible] में फिर इसी तरहसे रुपया इकट्ठा किया गया। दिग्विजयसिंहजी स्वीकार करते हैं कि सन् १९३० में उनके एक साथीकी बीमारी व अन्त्येष्टिक्रियामें काफ़ी खर्च होने तथा बादमें नौकरीसे अलहदा कर दिये जानेके कारण उन्हें अपने मित्रोंसे रुपया उधार लेना पड़ा था। लेकिन अक्टूबर सन् १९२६ की कार्यवाहीको वे अस्वीकार करते हैं और उसे "निरी कपोल कल्पना" बताते हैं। ब्रह्मचारी जी "[illegible] समान कठोर, न्याय सम पक्ष विहीन" होनेका दम भरते हैं और साथही यह भी दावा रखते हैं कि "हम जो भी कहते व लिखते हैं वह हमारे विश्वासके अनुसार बावन तोला पाव रत्ती ही हुवा करता है।" अतः हम उन्हें इस मामले पर पूर्णतयाविचार कर निम्नलिखित प्रश्नोंका समुचित व स्पष्ट उत्तर देनेके लिये एकबार फिर अवसर देते हैं.—

(१) अक्टूबर सन् १९२६ में जब कि आप सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जुबिली बाग ट्रस्टफण्डकी ओरसे वेतन पारहे थे, आपने अपने मित्रोंसे पच्चीस पच्चीस रुपये तारके मनीऑर्डर से क्यों मँगवाये थे ?

(२) आपने अबतक अपने खुदके लिये समाज से कुल कितना रुपया लिया है और उसमेंसे कितना रुपया वापिस चुका दिया है ?

(३) यदि आपको अपने निजी कार्यके लिये कर्ज़ लेना था तो किसी एक व्यक्तिसे तमस्सुक लिखकर कर्ज़ लेनेके बजाय आपने भिन्न भिन्न व्यक्तियोंसे अलग अलग पच्चीस पच्चीस रुपये क्यों लिये ?

(४) यदि आपका वास्तविक अभिप्राय कर्ज़के तौर पर रुपया लेनेका और व्याजसहित सब रकम लौटानेका था तो आपके इन शब्दोंका कि—"हम अपनीस्थिति सम्हालनेपर आपके रुपये व्याजसहित वापिस लौटा देवेंगे और यदि कदाचित किसी विशेष कारणसे वैसा न हो सके तो इनको धर्मार्थही समझ लीजियेगा"। क्या अभिप्राय था ?

(५) आपके खिलाफ़ यह शिकायत है कि आप रुपया चुकानेके सम्बन्धमें लिखे गये पत्रोंका उत्तर तक नहीं देते; सो इसको क्या वजह है ?

(६) ऋण चुकानेके सम्बन्धमें आपने लिखा था कि—"जबतक हमारा यह ऋण चुकता या साफ़ न हो जावेगा तब तक हम बहुत इच्छा रखते हुए भी आगे विरक्तिके मार्गमें नहीं बढ़ेंगे, और जो पैसा हमारे पास बचेगा वह ऋण चुकता करनेके काममें आवेगा। यदि हम कदा मरगये तो हम अपने लड़कोंको अपने ऋणकी सूची दे जावेंगे और वे हमारे इस पापको भोगते रहेंगे।" आपने यहभी सूचित किया है कि आप शास्त्रार्थसंघके वेतनभोगी कार्यकर्त्ता नहीं हैं तथा आपने अपना जीवन शास्त्रार्थसंघको देरखा है। शास्त्रार्थसंघको अपना शेष जीवन देते समय आपने अपने ऊपरसे बोझा उतारनेके लिये एक हज़ार रुपया इकमुश्त तथा अपनी डाक वगैरह के खर्चके लिये दस रुपया माहवार लेना तय किया था। इस एक हज़ार रुपयेकी रकममें से चारसौ रुपये आप पहिले ही ले चुके हैं; अतः बाकी ६००) की रकम क्या आपका कुल कर्ज़ चुकता करदेनेके लिये काफ़ी है ? तथा उपरोक्त परिस्थितिमें आपके ये शब्द कि "जो पैसा हमारे पास बचेगा, वह ऋण चुकता करनेके काममें आवेगा।" क्या अर्थ रखते हैं ?

(७) अक्टोबर १९३० में आपने जब दूसरी बार अपने मित्रोंसे पच्चीस पच्चीस रुपया तार मनीऑर्डरसे मँगवाया था तो ऋणकी आवश्यकता बतलाते हुए अपने लिखा था कि—"गत जून १९२६ ई० से हमने अपनी पैतृक सम्पत्तिसे त्यागपत्र दे अपना ममत्व उससे हटादिया है।" जब पैतृकसम्पत्तिसे त्यागपत्र देदेनेके कारण आपको मुसीबतके वक्तमें भी उससे कुछ सहायता नहीं मिल सकती और आपको अपने मित्रोंसे रुपया माँगना पड़ता है तब आपका कर्ज़ चुकानेके लिये आपकी पैतृक संपत्ति जिसे आप त्याग चुके हैं और अपना ममत्व हटा चुके हैं, किस तरह उपयोगमें ली जा सकती है और आपके लड़के किस तरह आपके ऋणको चुकाने लिये बाध्य किये जा सकते हैं ?

आशा है ब्रह्मचारीजी शीघ्र उपरोक्त प्रश्नोंका खुलासा उत्तर देने की कृपा करेंगे। वितण्डावाद न हो इस आशय से हमने अभी केवल इसी विषय पर प्रश्न किये हैं। बाद में और आक्षेपों पर विचार किया जावेगा। —प्रकाशक।

शास्त्रार्थ सम्बन्धी सूचना—श्रीमान् पं० शोभाचन्द्रजी से ज्ञात हुवा है कि ब्र० दिग्विजयसिंहजीने उनके ६ जून के पत्र का उत्तर अभी तक नहीं भिजवाया है। (६-७-३३) —प्र०।

अन्तर्जातीय विवाह—ता० ६ जूनको शोलापुरमें श्रीमान छगनलालजी पोपटलालजी महता ब० शाहूमड दिगम्बर जैनका विवाह श्रीमान् सेठ जेठालाल जी पानाचन्दरामजी शाह श्वेताम्बर जैनकी पुत्री कुमारी सुन्दर बाईसे अत्यन्त समारोहपूर्वक हुवा, जिसमें २०० प्रतिष्ठित जैन व अजैन महानुभावोंने सहयोग देकर इसमें अपनी सम्मति प्रदर्शित की। शोलापुरके स्थितिपालक दलमें इससे काफ़ी खलबली मचगई है। इसप्रान्तमें इस नमूनेका यह दूसरा विवाह है।

वरकी आवश्यकता—एक अच्छे घरानेकी सुन्दर सुशील व गृहकार्यमें कुशल मित्तलगोत्रीय दिगम्बर जैन कन्याके लिये, जिसकी अवस्था १७ वर्षकी है और जो बी०ए० फाइनलमें बनारस हिंदू यूनिवर्सिटीमें अध्ययन कर रही है, सुयोग्य वरकीआवश्यकता है। पत्रव्यवहार इस पते पर किया जाय। —राजेन्द्रकुमार जैन, बिजनौर यू०पी०

जैनधर्म का मर्म ।

(२९)

पाँचवाँ अध्याय ।

ज्ञानके भेद ।

चतुर्थ अध्यायमें मैंने ज्ञानके शुद्ध और सर्वोत्तम रूप (सर्वज्ञत्व) की आलोचना की है। इस अध्यायमें ज्ञानके सब भेदप्रभेदोंकी आलोचना करना है *। ज्ञानके भेदप्रभेदोंकी मैं शास्त्रचिकित्सा करूँ, इसके पहिले यह अच्छा होगा कि मैं इस विषय में वर्तमान मान्यताओंका उल्लेख करदूं। वे इस प्रकार हैं।

(क) ज्ञान के दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान। सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, सकल और विकल। सकल का कोई भेद नहीं वह केवलज्ञान है। विकल के दो भेद हैं, अवधि और मनःपर्यय। परोक्षके दो भेद हैं मति और श्रुत। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं। ये प्रमाण कहलाते हैं।

(ख) मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान अगर मिथ्यादृष्टि के होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद हैं।

(ग) केवलज्ञान का वर्णन चौथे अध्यायमें होगया। जो इन्द्रियमनकी सहायताके विना रूपी पदार्थोंको स्पष्ट जाने वह अवधिज्ञान है। और जो इन्द्रियमन की सहायता के बिना दूसरेके मनकी बात स्पष्ट जाने वह मनःपर्यय ज्ञान है। ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष हैं।

(घ) अवधिज्ञानका विषय तीन लोक तक है और मनः पर्यय का सिर्फ नर लोक।

(ङ) मनःपर्यय ज्ञान सिर्फ मुनियोंके ही हो सकता है।

(च) इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान होता है उसे मति ज्ञान कहते हैं। उसके ३३६ भेद हैं। तथा और भी भेद हैं।

(छ) एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे श्रुत * कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अङ्गबाह्य और अङ्ग प्रविष्ट।

---

* पहिले चतुर्थ अध्यायमें ही ज्ञानकी चर्चा पूर्ण कर देनेका विचार था, और सर्वज्ञत्वकी चर्चा उसी अध्यायके अंतमें करना थी। परन्तु विरोधी मित्रोंकी उतावली के कारण वह चर्चा मैंने शुरू में ही की और लम्बी होजाने से उसका स्वतंत्र अध्याय बनादिया। अब चतुर्थ अध्याय का शीर्षक सम्यग्ज्ञान न करके "सम्यग्ज्ञान की सीमा" करना चाहिये।

* अत्थादो अत्थंतर उवलंभं तं भणंति सुदणाणं। गोम्मटसार जीवकांड।

(ज) सब ज्ञानोंके पहिले दर्शन होता है।

(झ) सामान्य प्रतिभास अर्थात् सत्ता मात्रके प्रतिभासको दर्शन कहते हैं।

(ञ) दर्शन प्रमाण नहीं माना जाता [1]।

(ट) दर्शनके चार भेद है। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। चक्षु से होने वाला दर्शन चक्षुदर्शन है। बाक़ी इन्द्रियोंसे होनेवाला दर्शन अचक्षुदर्शन [2] है। अवधिज्ञानके पहिले होने वाला दर्शन अवधि दर्शन है। केवलज्ञानके साथ होनेवाला दर्शन केवल-दर्शन है।

(ठ) मतिज्ञानके पहिले चक्षु अथवा अचक्षु दर्शन होता है।

(ड) श्रुत और मनःपर्यय के पहिले दर्शन नहीं होता: ये ज्ञान, ज्ञानपूर्वक होते हैं।

(ढ) विभङ्गावधिके पहिले भी अवधिदर्शन नहीं होता है §। मिथ्यादृष्टियोंको जो अवधिज्ञान होता है उसे विभङ्गावधि कहते हैं।

(ण) इन्द्रिय प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं और वह मतिज्ञान का भेद माना जाता है। अवधि आदि पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

(त) प्रत्येकज्ञान—चाहे वह मिथ्या भी हो—स्वपर प्रकाशक अर्थात् अपने और पर को जानने वाला* होता है।

(थ) प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं। यह द्रव्य (सामान्य) अथवा पर्याय (विशेष) दृष्टिसे वस्तु को जानता है।

(द) नय के सात भेद हैं। और विस्तारसे असंख्य भेद हैं।

(ध) मिथ्यादृष्टियोंको पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता।

दिवाकरजीका मतभेद।

ये सब मान्यताएँ बहुप्रचलित और निर्विवाद मानी जाती हैं। इनके विषयमें विद्वानोंका भी यही विचार है कि ये भगवान महावीरके समयमे चली आरही हैं। परन्तु विचार करनेसे मालूम होगा कि इनमें बहुत गड़बड़ाध्याय हुआ है। इतनाही नहीं, किन्तु बहुतसे प्राचीन आचार्योंने इन मान्यताओंके विरुद्ध लिखा है। मालूम होता है कि उनका विचार यही था कि "जो युक्तिसंगत हो और सत्य सिद्ध हो वही जैनधर्म है। परम्पराके छिन्नभिन्न तथा विकृत हो जानेसे भगवान महावीरके शासनमें भी विकार आगया है। तर्क ही उस विकार को दूर कर सकता है।"

श्री सिद्धसेन दिवाकरने केवलज्ञान और केवल-दर्शनके विषयका जो नयामत निकाला था उसकी चर्चा सर्वज्ञत्वके प्रकरणमें होचुकी है। परन्तु उनने दर्शन और ज्ञानका स्वरूप भी बदला है और चक्षु-दर्शन अचक्षुदर्शनके लक्षणभी बदले हैं। इसप्रकार बिलकुल परिवर्तन कर दिया है। उनका वक्तव्य यह है।

सामान्य ग्रहण दर्शन है, और विशेष ग्रहण ज्ञान है। इसप्रकार दोनों द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का अर्थ ज्ञान [१] है। ये दोनो उपयोग एक दूसरेको

[1] एतच्च (स्वपरव्यवसायि) विशेषणं अज्ञानरूपस्य व्यवहार प्रुगावौरपतामसगदधानस्य मत मात्रगोचरस्य च समय प्रसिद्धस्य पामाण्य परिहरणार्थं। रत्नाकरावतारिका।

[2] अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रिय विषयम्। तत्त्वार्थ सि. टी. २-९।

§ अवधिदर्शनं तु सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टेः। तत्त्वार्थ सि. टी. २-९।

* भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभास निह्नवः। बहिः प्रमेयापेक्षाया प्रमाणं तन्निभं च ते। आप्तमीमांसा। ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये अपि बहिरर्थापेक्षयैव न स्वरूपापेक्षया, न्यायकुमुदचन्द्रटीका।

[१] — जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं। दोण्हवि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ। सम्मति-तर्क २-१।

गौण करके जानते हैं। अर्थात दर्शनमें गौण रूपसे ज्ञान रहता है और ज्ञानमें गौण रूपसे दर्शन रहता है। इसलिये दोनों प्रमाण हैं। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। अगर दर्शन सामान्य विशेषको न जानेगा और ज्ञान सामान्य विशेषको न जानेगा तो अवस्तुको विषय करनेसे दोनों अप्रमाण हो जावेंगे । । ज्ञान और दर्शनका भेद मनःपर्यय ज्ञान तक (छद्मस्थके) है। केवलीके ज्ञानदर्शनका भेद नहीं है ‡। सच्ची यह है कि दर्शनभी एक प्रकारका ज्ञान है। दूर रहकर जाने गये (अस्पृष्ट) पदार्थोंके अनुमान भिन्न ज्ञान को दर्शन कहते हैं ¶। अनुमानको दर्शन नहीं कहते। चक्षुरिन्द्रियको छोड़कर बाकी इन्द्रियोंसे दर्शन नहीं होता, क्योंकि वे प्राप्यकारी हैं। मनसे होने वाले दर्शन को अचक्षु दर्शन कहते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन भी एक प्रकारका ज्ञान ही है।

। —दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ। उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं २-२। दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्त नापि ज्ञाने सामान्यांश। टीका। निराकारसाकारोपयोगौ तृणमर्जनीकृत तदितराकारौ स्वविषयव्यवस्थापकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं न तु निरस्तेतराकारौ, तथा भूत वस्तु रूपाविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशविकलैकांशरूपोपयोग सत्तानुपपत्तेश्च।

‡—मणपज्जव णाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो। केवलं णाणं पुणदंसण ति णाणं ति य समाणं। सं० २-३।

¶—णाणं अपुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ। मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईय विसएसु। सं०प्र० २ २५

§—अस्पृष्टेऽर्थरूपे चक्षुषा य उदेतिप्रत्ययः स चक्षुर्दर्शनं ज्ञानमेव सन इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादौ अर्थे मनसा ज्ञानमेव सद् अचक्षुर्दर्शनम्। स० प्र० टीका २-२५।

*—एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओभावे। पुरिसस्साभिणिबोहे दंसण सद्दो हवइ जुत्तो। स० प्र० २-३२।

दिवाकरजीके इस वक्तव्यसे कहना चाहिये कि उनने पुरानी मान्यताओंमें खूब परिवर्तन किया है।

(१) ज्ञान, दर्शन और सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को उनने एकही बनादिया है जबकि ये जुदे जुदे माने जाते हैं।

(२) दर्शन और ज्ञान दोनोंको उनने सामान्य विशेष विषयी माना है तथा दर्शनका द्रव्यार्थिक नयसे और ज्ञानका पर्यायार्थिक नयसे सम्बन्ध जोड़ दिया है।

(३) स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उनने दर्शन नहीं माना।

अर्थज्ञानके पहिले निर्विकल्पक प्रतिभास बौद्ध वैशेषिक † आदि अनेक दर्शनोंने माना है; परन्तु सभी लोग उसे ज्ञानरूपही मानते हैं। ज्ञानसे भिन्न सत्ता सामान्यका प्रतिभास समझमें भी नहीं आता। केवल सामान्य या केवल विशेषको जैनलोग विषय रूप नहीं मानते इसलिये ज्ञान दर्शनको जुदा जुदा समझना ठीक नहीं मालूम होता। इसके अतिरिक्त ज्ञानसे भिन्न अगर दर्शनको स्वीकार करलिया जाय तो सभी दर्शन एक सरीखे होजाँयगे, उनमें विषय-भेद बिलकुल न होगा; क्योंकि सभीमें सत्ता सामान्यका प्रतिभास है।

ये सब ऐसी समस्याएँ थीं जिनका प्रचलित-मान्यतासे ठीक ठीक समाधान नहीं होता था। इस लिये दिवाकरजीने इन परिभाषाओंको बदलदिया। जब दर्शन भी ज्ञानरूप सिद्ध होगया तब ज्ञानके

†—चक्षु संयोगाधनन्तर घट इत्याकारकं घटत्वादि-विशिष्ट ज्ञानं न सम्भवति। पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात। विशिष्ट बुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात। तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्या नवगाह्येव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पकम्। सि० मुक्तावली ५८।

भेदरूप नयोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें भी कुछ विशेष आपत्ति न रही। बल्कि उससे कुछ स्पष्टता मालूम होने लगी।

अचक्षुदर्शनसे मनका दर्शनही क्यों लिया, बाकी इन्द्रियोंका दर्शन क्यों नहीं लिया, इसका ठीक कारण बतलाना कठिन है, परन्तु सम्भवतः ये कारण हो सकते हैं:—

(१) यदि सब इन्द्रियोंसे दर्शन माना जाय तो जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रियके दर्शनको चक्षुर्दर्शन कहते हैं उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रियके दर्शनको स्पर्शन दर्शन कहना चाहिए। इसी प्रकार रसनदर्शन, घ्राणदर्शन श्रोत्रदर्शन भी होना चाहिए।

(२) दूरसे किसी पदार्थको विषय करने पर उसका दर्शन माना जाता है। चक्षु और मन इन दोनो से दूरसे वस्तुका ग्रहण होता है इसलिए इन दोनों से ही दर्शन होसकता है। स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ तो वस्तुको छूकरके जानती हैं इसलिए उनका दर्शन नहीं कहा जासकता।

दिवाकरजीके इन परिवर्तनोंसे इतना तो मालूम होता है कि डेढ़ हजार वर्षके पहिलेके उपलब्ध वाङ्मयको दिवाकरजी तीर्थंकरोक्त नहीं मानते थे अर्थात उसको इतना विकृत मानते थे कि सत्यान्वेषीको उसकी जराभी पर्वाह न करना चाहिए। इसलिए दिवाकरजीने निर्द्वंद होकर परिवर्तन किया है। दिवाकरजीके इस प्रयत्नसे जैनवाङ्मय की त्रुटियाँ भी मालूम होती हैं। इसमें सर्वज्ञकी परिभाषाके ऊपरभी अव्यक्तरूप में कुछ प्रकाश पड़ता है।

दिवाकरजीका यह विचारस्वातन्त्र्य आदरकी वस्तु है। फिरभी उनके प्रयत्नसे समस्या पूर्ण नहीं हुई। निम्नलिखित समस्याएँ खड़ी रहीं या खड़ी होगईं।

१—द्रव्यार्थिक नय तो वस्तुके सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाला विकल्प है। उसका सम्बन्ध निर्विकल्पक दर्शनके साथ कैसे होसकता है?

२—यदि दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन, ज्ञान के अन्तर्गत हैं तो इनके घातके लिए दर्शनावरण और दर्शनमोह ये जुदे कर्म क्यो हैं?

३—छद्मस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। यदि स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे दर्शन न माना जायगा तो स्पर्शन, रसन आदि प्रत्यक्ष, दर्शनपूर्वक न होंगे। इस प्रकार छद्मस्थोंके भी दर्शनपूर्वक ज्ञान न होगा।

४—अप्राप्यकारी इन्द्रियों (चक्षु और मन) से होनेवाले अर्थावग्रह के पहिले व्यञ्जनावग्रह नहीं माना जाता। इससे मालूम होता है कि वे एकदम व्यक्त ज्ञान करादेती हैं, तब उन्हे दर्शनकी क्या जरूरत है? और जहाँ व्यञ्जनावग्रह की आवश्यकता है वहाँ दर्शनभी क्यो न मानना चाहिए?

५—यदि अचक्षुर्दर्शनका अर्थ मनोदर्शन होता तो उसे अचक्षुर्दर्शन इस शब्द से क्यों कहा गया? मनोदर्शन क्यो न कहा? अचक्षु शब्दसे चक्षुसे भिन्न इन्द्रियोंका ज्ञान होता है न कि अकेले मन का।

दिवाकरजीके सामने इस प्रकार समस्याएँ खड़ी होनेका यह मतलब नहीं हैं कि उनने जो पुरानी परम्परा में दोष निकाले थे उनका परिहार होगया। इससे सिर्फ इतनाही सिद्ध हुआ कि पुरानी मान्यताभी सदोष है और दिवाकरजीकी मान्यता भी सदोष है।

अन्य मतभेद।

दर्शन ज्ञानकी समस्या सुलझानेका प्रयत्न सिर्फ दिवाकरजीने ही नहीं किया किन्तु अन्य लोगोंने भी किया है। सिद्धसेन गणीने अपनी तत्त्वार्थ टीकामें इन मतोंका उल्लेख किया है और उनके खण्डनकी भी चेष्टा की है।

प्रथम मतभेद—निराकारका अर्थ निर्विकल्प और साकारका अर्थ सविकल्प करना ठीक

नहीं, क्योंकि इससे केवलदर्शन शक्तिहीन होजायगा और मनःपर्ययमें भी दर्शन होगा। उनमें घटादि सामान्यका ग्रहण होनेपर भी ज्ञान ही हुआ न कि दर्शन। इसलिए आकारका अर्थ लिंग करना चाहिए। स्निग्ध, मधुर आदि शंख शब्दादिकमें जहाँ ग्राह्य पदार्थसे भिन्न किसी लिंगसे अथवा ग्राह्यसे अभिन्न किसी साधकसे जो उपयोग हो वह साकार उपयोग है। जो लिंगसे भिन्न साक्षात् उपयोग हो वह अनाकार है। इससे पूर्वोक्त दोनों दोषों का परिहार होजायगा*।

सि० गणीका उत्तर*—तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। तुमने केवल दर्शनमें जो शक्तिका अभाव बतलाया है वहाँ शक्ति शब्दका क्या मतलब है? यदि विशेष विषयके परिच्छेदको शक्ति कहते हो तो केवलदर्शनमें उसका अभाव हमें मंजूर है। यदि शक्तिका अर्थ सामान्यअर्थका ग्रहण है तो उसे दर्शन ही न कहसकेंगे क्योंकि उस से फिर क्या देखा जायगा? मनःपर्यय दर्शनकी बात तुमने आगमके अज्ञानसे कही है। आगममें चारही दर्शन बतलाये हैं। यहाँ हमें आगमानुसार ज्ञान करना है। अपनी अक्लके नमूने नहीं बतलाना है। भगवतीमें मनःपर्याय ज्ञानीके दो या तीन दर्शन ही बतलाये गये हैं, अवधिज्ञानवालेके तीन और अवधिज्ञानरहितके दो। इसलिए मनःपर्यायमें दर्शन नहीं होसकता।

यहाँ गणीजीने आगमकी दुहाई और बुद्धिकी निन्दा करके अपनी अन्धश्रद्धाका परिचय दिया है और विरोधी को दबाना चाहा है; परन्तु इसमे विरोधीका खण्डन नहीं हुआ, उसका मतभेद खड़ा ही रहा है।

बौद्धदर्शनमें प्रत्यक्षको निर्विकल्पक कहा है। विरोधीका मत भी उसी तरहका मालूम होता है।

दूसरा मतभेद—ज्ञान दर्शनसे भिन्न बिलकुल निर्विकल्पक उपयोग अलग होता है। विग्रह गतिमें जबकि ज्ञान दर्शन सम्भव नहीं है उस समय वह उपयोग रहता है। भगवतीमें भी द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चरण, वीर्य, इसप्रकार के आत्माष्टकमें उपयोग को ज्ञान दर्शनसे जुदा बतलाया ‡ है।

---

* साकारानाकारयोर्थे केवलदर्शने शक्त्यभावः प्रसज्यते मनः पर्यये च दर्शनप्रसङ्गः तर्हि घटादि सामान्यग्रहणेऽपि ज्ञानमेव तत्र दर्शनमिति। तस्मादाकारो लिङ्गम्, स्निग्धमधुरादिशब्दादिषु यत्र लिङ्गेन ग्राह्यार्थान्तरभूतेन ग्राह्याऽदेशेन वा साधकेनोपयोगः स साकारः यः पुनर्विना लिङ्गेन साक्षात् सोऽनाकारः। एवंसति पूर्वके दोषद्वयं परिहृतं भवति। त. टी. २—९

* तदेतदयुक्तम् यत्तावदुच्यते-केवलदर्शने शक्त्यभावः प्रसज्यतीति का पुनरियं शक्तिः? यदि तावद्विशेषविषयः परिच्छेदः शक्तिशब्दवाच्यः तस्याभावश्चेदुच्यते ततोऽभिलषितमेव सद्गृहीतं स्यात्। अथ सामान्यार्थ ग्रहण शक्त्यभावश्चोद्यते ततस्तस्य दर्शनार्थनैवानुपपन्नं स्यात्। किं हि तेन दृश्यते? यदप्युक्तं मनःपर्याये दर्शनप्रसङ्गः इति तदागमानवबोधादयुक्तम्। नह्यागमे मनःपर्यायदर्शनमस्ति; चतुर्विधदर्शनश्रवणात्। आगम प्रसिद्धं चेहो पनिबध्यते न स्वमनीषिका प्रतन्यते इति। मनः पर्याय ज्ञानिनो हि भगवत्यामाशीविषोद्देशके (श. ८, उ. २ सू. ३२१) द्वे त्रीणि वा दर्शनान्युक्तानि अतोऽगम्यते यो मनः पर्याय विदवधि मांस्तस्य त्रयमन्यस्य द्वयम् अन्यथा त्रयमेवाभविष्यत्। तत्रागमप्रसिद्धस्यव्याख्या क्रियते। निर्विकल्पोऽर्थोऽनाकारार्थं यद्दर्शनं तन्निर्विकल्पकम्। अतो न मनः पर्यायदर्शनप्रसङ्ग। त. टी. २—९

‡ ननु च ज्ञानदर्शनाभ्यामर्थान्तरभूत उपयोगोऽस्त्येकान्तनिर्विकल्पः। एवं च विग्रह गतिप्राप्तानां ज्ञानदर्शनोपयोग सम्भवेऽपि जीवलक्षणव्याप्तिरन्यथा ह्यव्यापकं लक्षणं स्यात्। आगम एवोपयोगात्मा ज्ञानदर्शनव्यतिरिक्त उक्त। भगवत्यां द्वादश शते द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचरण वीर्यात्मानोऽष्टौभवन्ति।

सि० गणीका उत्तर—विग्रहगतिमें लब्धि रूप ज्ञान दर्शन रहता है, और भगवतीमें यह साफ लिखा है कि उपयोगात्मा ज्ञानरूप या दर्शनरूप होता है। इस प्रकार स्पष्ट सूत्र होने पर भी हम नहीं समझते कि मोहसे मलिन बुद्धिवालों को ये बातें कहाँसे सूझती हैं।

तीसरा मतभेद—आत्माके मध्यमें आठ प्रदेश ऐसे हैं जो कर्मसे नहीं ढँकते, उनका चैतन्य भी अविकृत रहता है। उसे उपयोगका एक स्वतन्त्र-भेद मानना चाहिये।

सि० गणीका उत्तर—इसका उत्तर दूसरे मतभेदके उत्तरसे हो जाता है।

चौथा मतभेद—वर्तमान कालको विषय करनेवाला और सत्पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला दर्शन है और त्रिकालको विषय करनेवाला ज्ञान है।

सि० गणीका उत्तर—यह ठीक नहीं है वर्तमानकाल सिर्फ एक समय रूप होने से इतना छोटा है कि उसका विवेचन हो नहीं हो सकता।

ये चारों मतभेद ठीक है, या नहीं यह मैं नहीं कहना चाहता और गणीजी के उत्तर कितने प्रबल हैं यह बतानेकी भी जरूरत नहीं है। हमें तो सिर्फ इतना समझना चाहिये कि ज्ञान दर्शनकी समस्या अधूरी रही है। उसकी प्रचलित मान्यता को सदोष समझ कर उसको ठीक करने के लिये अनेक जैनाचार्योंने अपनी अपनी कल्पनासे कसरत कराई है।

अभी तकके मतभेद श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित हैं परन्तु यह विषय सम्प्रदायातीत है इसलिये इन्हें जैनशास्त्रोंका ही मतभेद कहना चाहिये। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दिगम्बर शास्त्रोंमें मतभेद हैं ही नहीं। यहाँ एक मतभेद उपस्थित किया जाता है।

आलापपद्धतिमें ‡ प्रमाणके दो भेद कहेगये हैं। सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प मानसिक है। उसके चार भेद है, मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। निर्विकल्प मनरहित है, वह केवलज्ञान है। इसीप्रकार नयके भी दो भेद हैं—सविकल्प और निर्विकल्प।

देवसेन सूरिके इस वक्तव्यसे निम्नलिखित बातें सिद्ध होती है।

१—अवधि और मनःपर्यय ज्ञान, इन्द्रिय और मनरहित माने जाते हैं परन्तु यह प्रचलित मान्यता ठीक नहीं है। अवधि और मनःपर्ययभी मति श्रुतके समान मानसिक हैं। (यह मैं कहचुका हूँ कि नन्दीसूत्रमें केवलज्ञान भी मानसिक प्रत्यक्ष कहा है)

२—केवलज्ञान निर्विकल्प है इससे मालूम होता कि केवलज्ञान, केवलदर्शनसे पृथक नहीं है। अर्थात् वह त्रिकालत्रिलोकके पदार्थोंको भेद रूपसे विषय नहीं कर सकता।

३—नयके भेद निर्विकल्प सविकल्प हैं। इससे मालूम होता है कि सिद्धसेन दिवाकरने जिसप्रकार दर्शन ज्ञानका सम्बन्ध द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके साथ लगाया गया है उसीप्रकार देवसेन भी लगाना चाहते हैं।

---

† 'जस्स उवओगाता तस्स णाणाया वा दंसणायावा णियमा अत्थि' एवंसूत्रेऽतिस्पष्टेऽपि विभक्ते न विद्मः कुत इदं तेषाम्मोहमलीमस धियामागतम्।

* एतेन कर्मानावृतप्रदेशाष्टकाविकृत चैतन्य साधारणावस्थोपयोगभेदः प्रत्यस्तोऽवगन्तव्यः।

† अपरेवर्णयन्ति-वर्तमानकाल विषयं सदर्थग्रहणं दर्शनम्; त्रिकालविषयं साकारं ज्ञानमिति, एतदपिवार्तम् वर्तमानस्य परम विरुद्ध समयरूपत्वाद्विवेचनाभावः।

‡ तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात्। सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम् मतिश्रुतावधिमनः पर्ययरूपम्। निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानं। इति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः स द्वेधा सविकल्प निर्विकल्पभेदात् इति नयस्य व्युत्पत्तिः।

यदि विकल्प शब्दका अर्थ 'भेद' कियाजाय तो समस्या और जटिल होजाती है। उस समय निर्विकल्पका अर्थ होगा अभेदरूप ज्ञान। तब तो केवलज्ञान, वेदान्तियोंकी या उपनिषदोंकी अद्वैतभावना रूप होजायगा। वह त्रिलोकत्रिकालको जाननेवाला न रहेगा। इसके अतिरिक्त नयोंका 'निर्विकल्प' नामक भेद न बन सकेगा।

यदि विकल्प शब्दका अर्थ संकल्प विकल्प किया जाय तो बारहवें गुणस्थानमें—जब कि एकत्व वितर्क शुक्लध्यान होता है—निर्विकल्प ज्ञान मानना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ न तो कोई कषाय रहती है, न ज्ञानमें चंचलता रहती है। वह निर्विकल्प समाधिकी अवस्था है। परन्तु वहाँ केवलज्ञान नहीं होता, इसलिये केवलज्ञानसे भिन्न ज्ञानोंको भी निर्विकल्प मानना पड़ेगा।

श्रीधवलका मत।

दिगम्बर सम्प्रदायमें सबसे महान और पूज्य ग्रन्थ श्रीधवल माना जाता है। श्रीधवलके मतको पिछले अनेक ग्रन्थकारोंने सिद्धान्तमत कहा है। लघीयस्त्रयके टीकाकार अभयचंद्र सूरि और द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवने इस मतका उल्लेख किया है। जैनशास्त्रोंकी दर्शनज्ञानकी चर्चाका यह मत बहुत विचारपूर्ण कहा जासकता है। प्रश्नोत्तरके रूप में वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

प्रश्न—१ जिसके द्वारा जानते हैं देखते हैं वह दर्शन है, ऐसा कहने पर दोनोंमें क्या भेद रहेगा?

उत्तर—२ दर्शन अन्तर्मुख है अर्थात् आत्माको जानता है। उसको चैतन्य कहते हैं. ज्ञान बहिर्मुख है। वह पर पदार्थको जानता है उसको प्रकाश कहते हैं। उनमें एकता नहीं हो सकती।

प्रश्न—३ 'आत्माको और बाह्यार्थको जो जाने उसे ज्ञान कहते हैं"—यह बात जब सिद्ध है तब 'त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायात्मक जीवस्वरूपका अपने क्षयोपशमसे संवेदन करना चैतन्य और अपनेसे भिन्न बाह्यपदार्थोंको जानना प्रकाश' यह बात कैसे बन सकती है? इसलिये ज्ञानदर्शनमें भेद नहीं रहता।

उत्तर—४ ज्ञानमें जिसप्रकार जुदी जुदी कर्मव्यवस्था है। अर्थात जैसे उसके जुदे जुदे विषय हैं वैसे दर्शनमें नहीं है।

प्रश्न—५ आत्माका और पर पदार्थका सामान्य ग्रहण दर्शन और विशेष ग्रहण ज्ञान, ऐसा क्यों नहीं मानते?

उत्तर—६ किसीभी वस्तुका प्रतिभास हो किन्तु उसके सामान्य और विशेष ये दोनों अंश एक साथही प्रतिभासित होंगे। पहिले अकेले सामान्यका और पीछे अकेले विशेषका प्रतिभास नहीं होसकता।

१— दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनं इत्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यात्।

२— इतिचेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात्।

३— त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यं स्वतो व्यतिरिक्त बाह्यार्थावगतिः प्रकाशः इति अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमितिसिद्धत्वादेकत्वं ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेदः।

४— इतिचेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्म व्यवस्थाभावात्।

५— तर्हि अस्तु अन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनं विशेषग्रहणं ज्ञानम्।

६— इतिचेन्न, सामान्य विशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात्।

प्रश्न—* एकही समयमें वस्तु सामान्यविशेष रूप प्रतिभासित भलेही हो, कौन मना करता है ?

उत्तर—× तबतो एकही समयमें दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोग मानना पड़ेंगे। परन्तु 'एक समयमें दो उपयोग नहीं होसकते' इस वाक्यसे विरोध होगा। दूसरी बात यह है, ज्ञान और दर्शन दोनों अप्रमाण होजावेंगे। क्योंकि सामान्यरहित विशेष कुछ काम नहीं करसकता, इसलिए वह अवस्तु है। अवस्तुको ग्रहण करनेसे वह अप्रमाण है। इतनाही नहीं, किन्तु अवस्तुका ग्रहण भी नहीं होसकता क्योंकि अवस्तुमें कर्तृकर्मरूपका अभाव है। इसी प्रकार दर्शनभी अप्रमाण होजायगा, क्योंकि विशेष रहित सामान्यभी अवस्तु है।

प्रश्न—‡ प्रमाण न माने तो ?

उत्तर—‡ यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाणके अभावमें सारे जगतका अभाव होजायगा।

प्रश्न—* होजाय !

उत्तर—* यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जगत अभावरूप उपलब्ध नहीं होता। इसलिए सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ ग्रहण ज्ञान और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ग्रहण दर्शन सिद्ध हुआ।

प्रश्न—‡ यदि ऐसा मानोगे तो 'सामान्यग्रहण दर्शन' है इस प्रकारके शास्त्रवचनसे विरोध होगा।

उत्तर—‡ न होगा, क्योंकि वहाँ यहभी कहा है कि 'भावोंका आकार न करके'। भाव अर्थात् बाह्य पदार्थ उनका आकार अर्थात् जुदी जुदी कर्म (विषय) व्यवस्था न करके जो ग्रहण है वह दर्शन है। इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं 'अर्थोंकी विशेषता न करके' ग्रहण करना दर्शन है इसलिए 'बाह्यार्थ गत सामान्यग्रहण दर्शन है' ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि केवल सामान्य अवस्तु है इसलिए वह किसीका कर्म (विषय) नहीं होसकता। और न सामान्यके बिना केवल विशेष का किसीसे ग्रहण होसकता है।

प्रश्न—* यदि ऐसा माना जायगा तो दर्शन अनध्यवसाय होजायगा। इसीलिए वह प्रमाण न होगा।

उत्तर—† नहीं; दर्शनसे बाह्यार्थका अध्यव-

* सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोधः।

× इतिचेन्न 'हंदि दुवेणत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्त विशेषस्य अर्थ क्रिया कर्तृत्वं प्रति असमर्थत्वतः अवस्तुनो ग्रहणात्। नतस्य ग्रहणमपि सामान्य व्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात। तत एव न दर्शनमपि प्रमाणं।

‡ अस्तु प्रमाणाभावः।

‡ इतिचेन्न प्रमाणाभावे सर्वस्याभाव प्रसङ्गात।

* अस्तु।

* इतिचेन्न तथानुपलम्भात। ततः सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मक स्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धं।

‡ तथाच 'जं सामण्णं गहणं तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यात।

‡ इतिचेन्न 'तदा भावाणं णेव कट्टुमायारं' इति वचनात। तद्यथा भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्म व्यवस्थामकृत्वा यद्ग्रहणं तद्दर्शनं। अस्यैवार्थस्य पुनरपि दृढीकरणार्थमाह 'अविसेसदूण अट्ठे' इति। अर्थान अविशेष्य यद्ग्रहणं तद्दर्शनं इति न बाह्यार्थगत सामान्यग्रहणं दर्शनं इति आशङ्कनीयं, तस्य अवस्तुनः कर्मत्वाभावात। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दति इत्यतिप्रसङ्गात्।

* सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यात्।

† इतिचेन्न, स्वाध्यवसायस्य अनध्यवसित बाह्यार्थस्य दर्शनत्वाद्दर्शनं प्रमाणमेव

साय न होने पर भी आत्माका अध्यवसाय होता है इसलिए वह प्रमाण है।

प्रश्न—||||आत्मोपयोग को यदि आप दर्शन कहोगे तो आत्मा तो एकही तरहका है इसलिए दर्शनभी एकही तरहका होगा। फिर दर्शनके चार भेद क्यों किये ?

उत्तर—[| जो स्वरूपसंवेदन जिस ज्ञानका उत्पादक है वह उसी नामसे कहा जाता है। इसलिए चार भेद होनेमें बाधा नहीं है।

दर्शन और ज्ञानकी यह परिभाषा श्रीधवलकार की अपनी है या पुरानी, यह कहना ज़रा कठिन है। परन्तु श्रीधवलके पहिले, किसी जैन ग्रंथमें यह परिभाषा मेरी समझमें नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त श्रीधवलसे पहिलेके अनेक आचार्योंने दर्शन ज्ञानके विषयमें जो अनेक तरहकी चित्र विचित्र कल्पनाएँ की हैं उनसे मालूम होता है कि धवलकारके पहिले हज़ार वर्षमें होनेवाले जैनाचार्य दर्शन ज्ञानकी परिभाषाको अँधेरेमें टटोलते थे और वास्तविक परिभाषाको ढूँढ़नेमें असफल रहे थे। अगर धवलकार यह सोचते कि "भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे उन्हींका उपदेश जैन ग्रंथोंमें लिखा है, उसका विरोध करके मैं मिथ्यादृष्टि क्यों बनूं ?" तो वे इस सत्यकी खोज न कर पाते। परन्तु उनने मनमें यही विचार किया होगा कि "भगवान सर्वज्ञ अर्थात् आत्मज्ञ थे इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उनका कोईभी निर्णय पुनर्विचारणीय न हो। अथवा भगवानका निर्णय आज उपलब्ध कहाँ है ? भगवान्का उपदेश तो लोग भूल गये हैं, इसलिए तर्कसे जो सत्य सिद्ध हो उसेही भगवान्की वाणी मानना चाहिए—भलेही वह पूर्वाचार्योंके विरुद्ध हो, क्योंकि सत्यही जैन धर्म है।"

अगर धवलकारके मनमें ये विचार न आये होते तो उनने प्राचीन मान्यताका खण्डन करनेका और उसे बदलनेका साहस न किया होता। धवलकारकी यह नीति आजकलके विचारकोंके लिएभी आदर्श है। पहिलेभी सिद्धसेन दिवाकर आदि अनेक जैनाचार्य—जिनके मतोंका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है—इसी नीतिपर चले थे।

शंका—धवलकारका मतही वास्तवमें सिद्धान्त मत है। उनके आगे पीछेके आचार्योंने जो सामान्यावलोकनको दर्शन कहा उसका अभिप्राय दूसरा है। दूसरे दर्शनोंकी विरुद्ध बातोंके खण्डन के लिए न्यायशास्त्र है। इसलिए दूसरोंके मानेहुए निर्विकल्पक दर्शनकी प्रमाणताको दूर करनेके लिए स्याद्वादियोंने सामान्यग्रहण को दर्शन कहा। स्वरूपग्रहण की अवस्थामें छद्मस्थोंको बाह्य अर्थका ग्रहण नहीं होता। प्रमाणताका विचार बाह्य अर्थकी अपेक्षासे ही किया जाता है क्योंकि वही व्यवहारोपयोगी है। दीपकको देखनेके लिएही दीपककी खोज नहीं कीजाती। इसीलिए न्यायशास्त्री ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह व्यवहारोपयोगी है, दर्शनको प्रमाण नहीं मानते क्योंकि वह व्यवहारोपयोगी नहीं है। वास्तवमें तो स्वरूप ग्रहणही दर्शन है अन्यथा ज्ञान, सामान्य विशेषात्मक वस्तु को विषय कैसे करेगा * ?

|||| आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावात् चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषःस्यात्

[| इतिचेन्नैष दोषः यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात् न दर्शन चातुर्विध्यानियमः।

* ननु स्वरूपग्रहणं दर्शनमितिराद्धान्तेन कथं न विरोधः इतिचेन्न, अभिप्राय भेदात्। परविप्रतिपत्तिनि-

उत्तर—यह लीपापोती इस बातका प्रमाण है कि जब कोई समर्थ विद्वान् अपनेसे पूर्वाचार्योंका विरोध करके भी किसी बातको प्रबल प्रमाणोंसे साबित करदेता है तब उसके पीछेके विद्वान उसीके नये मतको भगवान्‌की वाणी कहने लगते हैं और पुरानी मान्यताओंकी भूलको छुपानेके लिये विचित्र ढंगसे लीपापोती करते हैं। इसी प्रकारकी यह लीपापोती अमृतचंद्रसूरिने की है। न्यायशास्त्रियों ने दर्शन ज्ञानके विषयमें जो विरुद्ध कथन किया था उसका कारण जो अमृतचंद्रसूरिने बतलाया है वह बिलकुल पोचा है। दूसरोंका खण्डन करनेके लिए अपनी परिभाषाको अशुद्ध बनालेना कौनसी बुद्धिमानी है? दूसरोंको अपशकुन करनेके लिए अपनी नाक कटानेके समान यह आत्मघातक है। दूसरे लोग अगर निर्विकल्पकको प्रमाण मानते हैं और जैनभी प्रमाण मानते हैं तब दूसरोंकी इस सत्य और अपनेसे मिलती हुई मान्यताका खण्डन क्यों करना चाहिए? यदि कहा जाय कि 'वे सविकल्पक को प्रमाण नहीं मानते इसलिए उनके निर्विकल्पक का खण्डन किया जाता है' परन्तु इसके लिए तो सविकल्पकको प्रमाण सिद्ध करना चाहिए। निर्विकल्पकी प्रमाणताके खण्डनसे सविकल्पक तो प्रमाण सिद्ध हुआ नहीं, किन्तु अपनाभी खण्डन होगया। यदि कहा जाय कि 'अपने निर्विकल्पककी परिभाषासे दूसरोंके निर्विकल्पककी परिभाषा जुदी है' तब तो यह और भी बुरा हुआ क्योंकि इससे हमने अपने निर्विकल्पक दर्शनको तो अप्रमाण बनाडाला और दूसरे फिरभी बचेरहे क्योंकि उनको यह कहने का मौका मिला कि "भलेही तुम्हारा निर्विकल्पक दर्शन अप्रमाण रहे परन्तु हमारा निर्विकल्पक अप्रमाण नहीं होसकता क्योंकि वह तुम्हारे निर्विकल्पकसे भिन्न है।"

'दर्शन व्यवहारमें उपयोगी नहीं है,' इसलिए प्रमाण नहीं कहा—यह कहनाभी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारमें उपयोगी तो व्यञ्जनावग्रहभी नहीं है, फिर उसे प्रमाण क्यों कहा? यदि कहा जाय कि व्यञ्जनावग्रह अप्रमाण होगा तो अर्थावग्रह भी अप्रमाण होजायगा तो यह बात दर्शनके लिएभी कही जासकती है। जब दर्शनही अप्रमाण है तब उससे पैदा होनेवाला ज्ञान प्रमाण कैसे होगा? दर्शनको अप्रमाण मानकर तो जैन नैयायिकोंने दूसरोंको अपने ऊपर आक्रमण करनेका मौका दिया है। उससे हानिके सिवाय लाभ कुछ नहीं हुआ।

इससे पाठक समझगये होंगे कि जैन नैयायिकों ने दर्शनकी परिभाषा जानबूझकर असत्य नहीं की है किन्तु उन्हें वास्तविक परिभाषा मालूम नहीं थी। सच्ची परिभाषाके लिये शताब्दियों तक जैनाचार्यों ने परिश्रम किया परन्तु उन्हें न मिली। अन्तमें धवलकारने उसे खोजा। आजभी हमें जैनशास्त्रों पर अन्धश्रद्धा रख के सत्यकी खोज बन्द न करना चाहिये। 'जो तर्कयुक्त है, वही जैनधर्म है'—यह विचार पुराने आचार्योंका भी था और आजभी इसी की जरूरत है।

रासार्थं हि न्यायशास्त्रं ततस्तदभ्युपगतस्य निर्विकल्पकदर्शनस्य प्रामाण्यविधानार्थं स्याद्वादिभि: सामान्यग्रहणमित्याख्यायते। स्वरूपग्रहणावस्थायां छद्मस्थानां बहिरर्थ विशेषग्रहणाभावात् प्रामाण्यंच बहिरर्थापेक्षयैव विचार्यते व्यवहारोपयोगात्। न खलु प्रदीप: स्वरूप प्रकाशनाय व्यवहारिभिरन्विष्यते। ततो बहिरर्थ विशेषव्यवहारानुपयोगाद्दर्शनस्य ज्ञानमेव प्रमाणं तदुपयोगात्। विकल्पात्मकत्वात्तस्य। तत्त्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलिनां तयोर्युगपत्प्रवृत्तेः अन्यथा ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मक वस्तु विषयत्वाभाव प्रसङ्गात्।

—लघीयस्त्रय टीका १-६

+==+ +==+

गोबरपंथियोंका प्रलाप ।

[अङ्क १५ से आगे]

(ले०—श्रीमान् बाबू कपूरचन्द्रजी पाटणी जयपुर ।)

अस्पृश्यतानिवारक आन्दोलनके संबन्धमेंभी ख्वामख्वाहका वावेला कियागया है । पाँच वर्ष पहिले विधवा विवाहविषयक मामलेमें करारी हार खा चुकने पर इन्द्रलालजी शास्त्री वगैरहको बड़ा बुरा लग रहा था और वे चाहते थे कि किसी न किसी बहानेसे जयपुरके कुछ सुधारकों के लिए एक दफ़ा जातिबाहिर निकलनेकी आवाज़ लग जाय तो बाहिरके जैनसमाजके सामने जो मैं अपनी पोज़ीशन बनानेकी फिक्र करता हूँ, वह पार पड़ जाय; पर मसल मशहूर है कि खुदा गंजेको नाखून नहीं देता । सुधारकोंको जातिबाहिर निकलवानेकी फ़िराकमें इन्होंने बेचारी पंचायती सत्ताका सर्वनाश करवा डाला । मौका देखते देखते इन्हें हालमें अपने अनुकूल एक मौका नज़र आया । शान्तिसागरजीने संघसहित जयपुरमें चातुर्मास किया । सुधारकोंने उनके जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध मंतव्योंके विरोधमें आन्दोलन किया । फलतः कुछ पुराने दकियानूसी ख्यालातके आदमी सुधारकोंसे भड़क उठे । उधर मुनियोंमें भी कषायभाव प्रज्वलित हो उठा । यह मौका गनीमत समझा गया । लोगोंकी अन्धभक्तिका फ़ायदा उठाकर सुधारकों पर नीचतापूर्ण आक्रमणका मौका देखा गया । इन्हीं दिनों सारे भारतवर्षभरमें अस्पृश्यता निवारक आन्दोलन ज़ोर शोरके साथ चल पड़ा । जैनियोंमेंसे भी कुछ लोगोंने हरिजन मोहल्लोंमें जाकर उन्हें मांस व मदिरा आदिका इस्तेमाल छोड़नेके लिए तथा सफ़ाईसे रहने, नित्य स्नान करने आदिके लिए उपदेश किया । बस इसीका तूमार बाँध दिया गया । मुनियोंको भी षड्यन्त्रमें शामिल किया गया और उनसे यह कहलवाया गया कि या तो अस्पृश्यतानिवारकआन्दोलनमें भाग लेनेवाले सुधारकोंको जाति बाहिर करो वरना हम जयपुर वालोंके यहाँ आहार नहीं लेंगे । लोगोंको जोश दिलानेके लिए कुछ बदमाशोंने एक क़िस्सा गढ़ा और यह मशहूर किया कि सरावगियोंमेंसे ११ आदमी भंगियोंके साथ सहभोजमें शामिल हो आये । दो आवारा आदमी इस बातकी गवाही देनेके लिए तैयार कर लिए गये । पर इन छोकरोंने भी सर्वसाधारणके सामने यानी पंचायतमें बयान देनेसे इन्कार ही किया, क्योंकि हालाँकि वह दोनों ही लड़के आवारा हैं पर जेलखानेका डर तो लगता ही है । किसी जाँच पड़ताल या दलील की तो ज़रूरतही नहीं थी । किसी प्रकार छाया छोड़ा कर मुनिनामधारियोंसे पंचनामधारियोंको दबाया गया कि अस्पृश्यताविरोधी आन्दोलनमें भाग लेनेवाले सुधारकोंको जाति बहिष्कृत करो तो हम जयपुरके जैनियोंके यहाँ आहार लेंगे । पञ्च लोगोंकी सुधारकोंसे अड़नेकी हिम्मत नहीं होती थी और यहाँ तो मुद्दा भी एक ऐसा था कि जो बिलकुल निराधार था । पर पाटोदीके मन्दिरसे सम्बन्धित कुछ लोगोंने, कुछ तो अपने निजी कषायभावसे और कुछ मुनियोंके दबावसे, मिती आसोज सुदि ३ सं० १९८९ की रात्रिको पाटोदीके मन्दिरमें समस्त बिरादरीकी आम पञ्चायत होनेका ऐलान उसी दिन शामको ४ बजे करा दिया । आम पञ्चायतके लिए जयपुरमें यह क़ायदा है कि चारों बड़ी पञ्चायतोंमें पहिले सलाह और मशविरा होकर और लिखित रुक्कों द्वारा तै पाकर ही आम पंचायतकी जासकती है, किसी एक पंचायतको कोई हक़ नहीं है कि वह अपने जीसे ही आम पंचायतके बुलावे करवा दे । इस पंचायतके बुलानेके लिए दूसरी तीन पंचायतोंकी कोई सलाह नहीं ली गई थी, अतः यह पंचायत नियमित रूपसे नहीं हुई थी । इसलिए जब इसकी कार्रवाई के रोबकार पर दस्तखत करानेके लिए कागज़ पाटोदीके मन्दिरकी तरफ़से बाक़ी तीन पंचायतियोंको भेजागया तो उन्होंने उस पर दस्तखत करने यानी मंजूर करनेसे इन्कार कर दिया । चाकसूके मन्दिरकी पंचायतसे जो लिखित जवाब भेजागया सो तो फूलचन्दजी छाबड़ाके कच्चे चिट्ठेमें मौजूद ही है । पाठक उसे एक बार फिर पढ़ें और देखें कि पाटोदीके मन्दिरकी पंचायतकी कार्रवाई पर कितना ऐतराज कियागया है । चार पंचायतियोंमें से तीन पंचायतियोंकी राय शामिल न होने पर मूर्खों को पता लग जाना चाहिये था कि हवा किस ओर बह रही है और सुधारकोंके विरुद्ध झूठे आन्दोलन करनेमें अब कोई सार नहीं है, पर जो आँखें होते हुये भी अन्धे बने हुये हैं उनका क्या किया जाय ?

जब उत्पाती लोगोंकी इसप्रकार भी दाल न गली तो उन्होंने मुनियोंको फिर भड़काया और मुनियोंने धमकी दी कि अगर सुधारकोंको कुछ दण्ड न दिया गया तो हमलोग आसोज सुदि ८ को जयपुरसे चले जायेंगे। इस बातसे कुछ स्वयम्भू पंच लोग घबराये, क्योंकि यह लोग जयपुरसे मुनिसंघ के चले जानेसे डरते थे। अव्वल तो यह भयथा कि इससे जयपुरके सरावगियोंकी बदनामी होगी, दूसरे चातुर्मास में ही विहार कर जानाभी बड़ी खराब बात होती। खैर, मुनियोंको राज़ी करने और जयपुरमें बनाये रखनेके लिए अनेक तरकीबें कीगईं, पर वे हज़रत कब मानने वाले थे? और माननेके लिए तैयार भी होतेतो उत्पाती लोग कब मानने देतेथे? वेतो मुनियों (?) को बराबर चक्कर पर चढ़ा रहे ते। 'कचा चिट्ठा" शीर्षक लेखमें आसोज सुदि ८के जिस रोबकार का वर्णन किया गया है, वह मुनि संघको खुश करनेके लिए. उसके कुछ भक्तोंने योंही जैन जनताके नामसे ज़ाहिर कर दिया था। उसको किसीभी प्रकारसे पंचायती या आम समाजसे सम्बन्ध रखने वाला नहीं कहा जासकता।

'कच्चे चिट्ठे' के लेखकने लिखा है कि मिती आसोज सुदि ८ के रोबकारके अनुसार तमाम मन्दिरोंमें यह आवाज़ दिलवा दीगई कि छुताछूत भेद न मानने वालों से कोई सम्बन्ध न रखे और ताहुक्मसानी ११ आदमियों से सम्बन्ध न रखा जाय। यह सब सफ़ेद झूठ है। वैसे तो समाजसुधारकोंको जातिच्युत होनेका कोई डर नहीं होता, सच्चे सुधारकके लिए तो यह एक गौरवकी बात होती है और यदि किसी समाज-सुधारके कामके कारण हमारे या हमारे मित्रोंके लिए पुराने दकियानूसी विचारोंके लोग सामाजिक बहिष्कारका निश्चयभी करलेंतो हमें इसका तनिकभी भय या दुःख नहीं हो, परन्तु कच्चे चिट्ठे के लेखकने सरासर झूठ लिखनेका दुस्साहस किया है। जिन ११ आदमियोंके नाम दियेगये हैं उनमेंसे बेचारे कुछ लोग तो अछूतोद्धारसे सम्बन्धित किसी काममें कभी शामिल तक नहीं हुये हैं, पर केवल ज़ाती (व्यक्तिगत) द्वेषके कारण उन लोगोंके नाम लिख दियेगये हैं। लाला ज्ञानप्रकाशजी पाटणीने मुनियोंसे जाकर नम्रतापूर्वक कहा कि महाराज, मैं अछूतोंकी मीटिंग आदि किसीभी काममें कभी नहीं गया, न मेरा सुधारकोंसे अभीतक ऐसी बातों में कभी कोई सम्बन्ध रहा है, फिर मुझे क्यों शामिल किया जारहा है? पर मुनि महाराज किसकी सुनते थे? वे तो समझदारीकी बातोंके खिलाफ आँखके आगे परदा और कानमें अँगुली लगाने वाली मूर्तियाँ थीं। सुना है कि यह भाई अपने मामा फ़तहलालजी कटारियाको लेकर लाला जमनालालजी साहके पासभी गये थे और उनसे भी यही कहाथा, पर वहाँ भी क्या सुनाई होती थी? वे भी समझतेथे कि बस अबकीदफ़ा सुधारकोंको दबालिया। अब किसीभी वाजिब बातको सुनकर ग़ल्ती दुरुस्त कर लेनेकी क्या ज़रूरत है? दर असल यह बात सच है कि जब अनिष्ट होने वाला होता है तो अच्छी बात नहीं सुहाती और आदमीको औंधीही औंधी सूझती है।

मुनियोंकी ओरसे स्वयंभू पंचोंपर बराबर दबाव पड़ता रहा कि तुम अछूतोद्धार में भाग लेने वाले सुधारकोंको कुछ न कुछ दण्ड ज़रूर दो। यह बिना आम पंचायतके हो नहीं सकता था और पंचोंको अपने पक्षकी निर्बलता का पूरा ध्यान था, और उन्हें खयालथा कि यदि आम पञ्चायत हुई तो उसके नतीजेको देखकर मुनिसंघ शायद जयपुरमें ठहरही न सकेगा। अतः उनकी आम पंचायत करनेकी हिम्मतही नहीं होती थी। आखिर समझौते का रास्ता ढूँढा जाने लगा।

हमारे पास इसबात के पैग़ाम आने लगे कि इस मामलेको किसीप्रकार निपटा दिया जाना चाहिये। हमने कहा कि इसमें निपटने योग्य कोई बात है ही नहीं, आप लोग जो तूफ़ान उठा रहे हो वह बन्दकर दो, बस सारी बात निपट गई। इसपर यह कहा गया कि हमारी ओर से तो हम इसप्रकार भी निपटा देनेको तैयार हैं, पर मुनियोंको भी थोड़ा ठंडा कर देना है, इसलिए किसी एक जगह बैठ कर यह तै कर दिया जाय कि इस मामले में किसी कार्रवाई की ज़रूरत नहीं है, तो फिर मुनि लोग भी कुछ न कह सकेंगे। हमारे यह पूछने पर कि यदि मुनियोंने फिर भी न माना तो क्या करोगे, हमें यह कहा गया कि फिर पञ्च लोग मुनियों की कोई

परवाह न करेंगे। इस बारेमें हमें विश्वस्त रूपसे कहा गया कि लाला जमनालालजी साह ने खुदने यह बात कही है कि यदि मुनि लोग अब भी न मानेंगे, तो वे उनकी जानें; रास्ता खुला पड़ा है, उनकी मर्जी आये जहाँ जायें, जयपुर पंचायतको तो उनके खातिर हमेशाके लिए अपने घरमें झगड़ा खड़ा कर लेना योग्य नहीं। इसपर यह तै हुआ कि दारोगाजी के मकान पर समाजके प्रतिष्ठित प्रतिष्ठित पुरुष एकत्रित हों और वहाँ पर सब विचार करलिया जाय। चुनाँचे आसोज सुदि ११ को रातको दारोगाजीके मकानपर कमेटी होकर यह तै कर दिया गया कि चूँकि कोई मुखबिर सामने नहीं आता और अभीतक किसी जैनी भाईका अछूतोंके शामिल खान-पान करना ज़ाहिर नहीं होता, अतः इस सम्बन्धमें किसी कारवाई की ज़रूरत नहीं है। इस कमेटी में समाजके प्रायः सभी प्रतिष्ठित पुरुष उपस्थित थे। पर उत्पाती लोगोंको समाजमें शान्तिस्थापन कब पसन्द आता था? उन्होंने दूसरे दिन बहुत सवेरे जाकर मुनियोंको फिर भड़काया और मुनियोंने कमेटीके फैसलेसे सन्तुष्ट होनेसे इनकार कर दिया। पुराने पंच लोग यद्यपि पहिले यह तै कर चुकेथे कि मुनि न मानेंगे तो अब आगे उनकी कोई परवाह नहीं करेंगे, मगर फिर दब गये। अब फिर इस मामलेमें आम पंचायत किया जाना तै हुआ। ता० २० अक्टोबर सन् १९३२ को पाटोदीके मन्दिर में आम पंचायत हुई। जिन दो शख्सोंने ११ आदमियोंके नाम अछूतसहभोजमें शामिल होने वाले बतलाये थे, वे तो पबलिक में ज़ाहिर होनेसे इनकार हो ही चुके थे। अब मुखबिर कौन बने कि जिसके आधार पर पंचायत में कोईभी बात छेड़ी जासके? पंचायतके पहिले दिन यानी ता० १९ अक्टोबरको रातको लाला जमनालालजी साहके मकान पर कमेटी हुई और इसी मसले पर विचार हुआ। आखिर यह तै हुआ कि किसीको कुछ ले देकर मुखबिर बनाना चाहिये। चुनाँचे एक आदमी को ५) देना तै किया गया और उसके नामसे एक दर्ख्वास्त लिखाई गई। इसी दर्ख्वास्तके हवालेसे पंचायतमें सुधारकोंके खिलाफ़ मामला पेश किया गया; पर जब दर्ख्वास्त देने वाले का नाम और जिस दिन वह दर्ख्वास्त पंचायतके पास आई वह तारीख पूछी गई तो लाला झूमरलालजी गोदीका, जो मामला पेश करने को खड़े हुये थे, हक्के बक्के होगये। इन महाशयसे यह उम्मीद नहीं थी कि वह इस उम्रमें भी, जानते बूझते हुये भी, खास जिन मन्दिरमें इस क़दर जाली दर्ख्वास्त हाथमें लेकर खड़े होंगे, पर बुरी संगत आदमीकी सारी बुद्धिका लोप कर देती है।

जब लाला झूमरलालजी गोदीका कोई जबाब न दे सके, और इधर उधर अपने मित्रोंकी ओर देखने लगे तो लोगोंका शक बढ़ गया। कोई १५ मिनिट तक लोग जवाब पूछते रहे पर लाला झूमरलालजी चुप थे। आज की पंचायतमें झगड़ेकी आशंकासे सिटी कोतवाल मय २० पुलिस कांस्टेबिलों व २ थानेदारोंके, पंचायतके शुरूसे ही मौजूद थे। जब कोतवाल साहिबने होहल्ला होता देखा तो उन्होंने लाला झूमरलालजीसे कहा कि आप दर्ख्वास्त देनेवालेका नाम और तारीख क्यों नहीं बता देते कि जिससे जनता शान्त होजाय, पर वहाँ तो सब कारवाई ही फ़र्ज़ी थी; बताते क्या? आखिर सारा जाल ज़ाहिर होजानेके डरसे उत्पत्तियोंने पंचायत उठजाय, ऐसा चाहा और दूसरा कोई उपाय न दीखा तो झगड़ा शुरू कर दिया। तीन चार मिनिट तक पंचायतमें काफ़ी धौलधप्प रही और पुलिस बड़ी मुश्किलसे शान्तिस्थापन करसकी। आखिर पुलिसको आज्ञा देकर पंचायत बर्ख़ास्त कर देने का हुक्म देदेना पड़ा। इस प्रकार इस पंचायतमें भी कोई मसला तै ही नहीं होने पाया। पर उत्पाती यह मशहूर करने लगे कि जनताने ११ आदमियोंसे जातीय सम्बन्ध बन्द कर दिया। इस सबकी भी सच झूठ आम लोगोंपर प्रकट है। पर हमें तो इससे कोई बहस नहीं। जयपुरकी बहुसंख्यक जैनजनताने सुधारकोंसे सम्बन्ध ज्यों का त्यों जारी कर रखा है।

जो कुछ लोग प्रारम्भमें शान्तिसागर संघके चक्करके कारण भ्रममें आ गये थे, वे भी अपनी ग़लतीको धीरे धीरे महसूस करते चले जारहे हैं और सुधारकविरोधी मण्डलीका साथ छोड़ते जारहे हैं। 'कच्चे चिट्ठे' के लेखक को इसीबातका रंज है और उनके प्रलापका यही कारण है। इसीलिए वे बेचारे पंचोंको गालियाँ देरहे हैं और

इसीलिए हाथ पैर पीट रहे हैं; पर अब उनके पैरके नीचे से ज़मीन निकल गई है। जनता अब असलियत समझ गई है और धर्मठगोंका दौरदौरा, अब अधिक दिन नहीं चल सकता। जिस अछूतोंके उत्थानके लिए आज महात्मा गाँधीजी सरीखा महापुरुष अपने प्राणोंकी बाज़ी तक लगाता है, उस अछूतोद्धारका विरोध करना इनके अहमकपनका एक खास नमूना है।

यह 'कच्चा चिट्ठा' नामक लेख क्यों लिखा गया, और इससे लेखकने क्या मतलब निकाला सो हमारी समझमें नहीं आया। इससे पाठक यही सार निकालेंगे कि जयपुरमें जैनियोंमें पंचायती संगठन नहीं है, वहाँके कुछ पंचोंमें अब सद्बुद्धि आगई है, वहाँ पर सुधारकोंका काफ़ी ज़ोर है, उन के कार्योंसे सहानुभूति रखनेवाले काफ़ी लोग हैं तथा अब वहाँ धर्मके नामसे चाहे जैसा पोल खाता नहीं चल सकता। भलेही इसके लिए शान्तिसागरजी सरीखे आचार्य (!) अथवा पुरानी पंचाईका ठस्सा जमानेवाले कोई महाशय कितनी ही कोशिश करें। इस सारके निकालनेके लिए, हम समझते हैं कि इतने बड़े लेखकी आवश्यकता न थी। पर बेचारे लेखकके दिलमें वर्तमान परिस्थितिसे चोट है। हमें भी उसके साथ सहानुभूति है।

साहित्य परिचय।

राजपूताने के जैनवीर—लेखक अयोध्या प्रसाद गोयलीय 'दास'; प्रकाशक हिन्दी विद्यामन्दिर पहाड़ीधीरज देहली। मूल्य २)। इसका विषय नाम से प्रगट है ३५० पृष्ठोंकी सचित्र पुस्तकका मूल्यभी ठीक है। घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। परन्तु इस पुस्तक का लक्ष्य सिर्फ इतिहास नहीं है परन्तु उसके साथ ही इतिहाससे मिलनेवाली वीरतापूर्ण शिक्षा है। कुछ ऐतिहासिक गल्तियाँ होनेपर भी लेखक अपने उद्देशमें सफल हुए हैं। इतिहास होनेपर भी कहानी का मज़ा आता है। पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

दान विचार समीक्षा—लेखक-पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ सूरत। प्रकाशक—जौहरीमल सर्राफ दरीबा कलाँ देहली, मूल्य ।)

दुर्भाग्यसे दि० जैनसमाजमें कुछ ऐसे लोगोंका अवतार हुआ है जो त्यागीका वेषधारण करके अपनी पूज्यता बढ़ानेके लिये ढोंगोंका प्रचार कररहे हैं। दानविचार भी एक ऐसी पुस्तक है, जिसमें अपने दलके इनेगिने व्यक्तियोंको छोड़कर बाक़ी सब लोगोंको अपात्र कहकर उनकी भरपेट निन्दा कीगई है। प्रस्तुत पुस्तकमें उस दानविचारकी पोल खोलीगई है और उसकी युक्ति शास्त्राधारसे अच्छी समीक्षा कीगई है। लेखकका परिश्रम सफल हुआ है।

भगवान् महावीर की अहिंसा—और भारत के राज्योंपर उसका प्रभाव। लेखक कामताप्रसाद जैन एम० आर० ए० एस० प्रकाशक, जैनमित्रमंडल धर्मपुरा देहली। मूल्य =) विषय नामसे प्रकट है। मूल्य सस्ता है। इसमें अहिंसाकी व्यापक व्याख्या कीगई है और जैन अहिंसाके विषयमें जो लोगोंको भ्रम है उसे दूर करनेकी चेष्टा कीगई है।

पंचरत्न—लेखक कामताप्रसाद जैन। प्रकाशक, मूलचंद किशनदास कापड़िया। कापड़िया भवन सूरत। मूल्य छः आने।

इसमें ऐतिहासिक जैन पुरुषोंकी पाँच कहानियाँ हैं। कहानीकी दृष्टिसे सौन्दर्य तो नहीं है, परन्तु जैनजीवनके परिचयकी दृष्टिसे इसकी उपयोगिता बहुत कुछ है। इससे जैनधर्मकी व्यापकता और व्यावहारिकताका अच्छा परिचय मिलता है।

भारतीय दर्शनोमां जैन दर्शननुं स्थान—लेखक श्री हरिसत्यभट्टाचार्य एम० ए० बी० एल० प्रकाशक पोपटलाल साकरचंद शाह, श्रीजैन विद्याशाला भावनगर। भट्टाचार्यजीके एक विवेचनात्मक लेखका गुजराती अनुवाद है जो श्रीयुत सुशीलने किया है। निबन्ध पठनीय है। तुलनात्मक दृष्टिसे जैन दर्शनपर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

वर्णव्यवस्था पर शास्त्रार्थ।

ब्रह्मचारीजी का पत्र।

(भ्रमण में)-श्री दिगम्बर जैन मंदिरजी,
केसरगञ्ज, अजमेर (राजस्थान)
२० मे १९३३ ईस्वी।

सेवामें—
श्रीयुत् पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल,
न्यायतीर्थ, आदि, योग्य, सम्पादक " वीर "
श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

प्रिय पंडितजी, जयजिनेश!

हमारे १५ मेके पत्रके उत्तरमें हमको आपका १८ मेका कृपापत्र २० मेके अपरान्हको प्राप्त हुआ था। पठन कर वृत्तसे अवगत हुए।

आपके पत्रकी रसीदमें हम भूलसे २१ मे लिख गये हैं। पीछेसे खयाल आया। उसको २० मे समझिएगा।

दुर्भाग्यसे इसबार पुनः भी आपके पत्रका उत्तर देनेमें हमसे कई दिनोंका विलम्ब होगया है। कृपया क्षमा करियेगा।

अपने पूर्वोपार्जित पापकर्मों व इस जन्मकी कई भूलोंके कारण हमारा स्वास्थ्य सदैवसे ही खराब रहा करता है और हम बड़े लापरवाह व सुस्त मनुष्योंमें हैं। यदि हम तत्क्षण किसी कामको न करदेवें तो फिर उसका होना बड़ा कठिन होजाता है और बहुत आवश्यक होने परभी उसमें विलम्ब होजाया करता है।

इसके सिवाय गत जानुअरी मासके उत्तरार्ध में हमको यहाँ दसदिन तक ज्वर आया था। उसकी कमज़ोरी व सुस्ती अभीतक हमसे नहीं गयी। इधर ऋतु विपर्ययके कारण हमारा शरीर बिलकुल शिथिल (बेजान सरीखा) होगया है। उठने बैठनेमें भी कष्ट मालूम होता है, और सुस्ती व मुर्दनी छायी रहती है। बहुत खैंच खाँचकर हम अपने नित्य:कृत्य बड़ी कठिनाई से करपाते हैं और प्रायः हमारा अधिकान्श समय आराम व शरीरकी गुलामीमें ही इनदिनों लगता है।

अनेक औषधियों, उपचारों और प्राकृतिक उपायोंसे हम आज अपनेको इसयोग्य करपाये हैं कि आपके पत्रका उत्तर लिखें और अपनेपर बड़ा ज़ोर देकर हम वैसा कर रहे हैं।

इस विलम्बसे हमारा अभिप्राय शास्त्रार्थ को टालने व उसमें देर करनेका कदापि नहीं था और न है, और हम समझते हैं कि आपको हमारी बातपर बड़ी कठिनतासे विश्वास होगा। जो हो हमने वस्तुस्थिति प्रगट करदी है और आप इसका कोईभी अर्थ लेसकते हैं।

गत १० आप्रिलकी रात्रिको जबकि हमारा व आपका शास्त्रार्थ निश्चित हुआ था उस समय हमने आपसे उसके नियमादि निश्चित करनेकी प्रार्थना की थी। पर उस समय आपने उस विषयको आगेके अर्थ टालदिया। उसके बादमें उस सम्बन्धमें जो ढीलहुई वह कारणों सहित इससे पहिले पत्रमें लिखी जाचुकी है। उस विलम्बकी सूचना आपको इस कारणसे न दी जासकी कि यह मामला अब सुलझा, अब सुलझा, ऐसा मालूम होता रहा, और उसमें हम मूर्ख बने रहे। फिरभी उस विषयमें हम पहिले अपनी भूल स्वीकार करचुके हैं और अब फिरभी करते हैं।

गत १० आप्रिलकी रात्रिको हमारा व आपका शास्त्रार्थ होना निश्चित होगया था, पर वह लिखित होगा या मौखिक या दोनों ही तरहका, यह कुछभी निश्चित नहीं हुआ था। यह बात तो नियमोंमें निश्चित होनी थी।

यद्यपि आपने हमारे ११ आप्रिलके पत्रके उत्तरमें अपने १४ आप्रिलके पत्रमेंलिखित शास्त्रार्थ की बात अपनी ओरसे लिखीथी, पर वह कुछ निश्चित नहीं होगई थी। अतः यह शास्त्रार्थ कब, किसके द्वारा, और कैसे कियाजाय, इनबातों पर विचार करनेके लिये हम रुकगये और इसमें कोईभी 'आश्चर्य्य' की बात नहीं है।

शास्त्रार्थकी बात चलते समयभी हमारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं था और न उसके बादही वह अच्छा रहा। स्वास्थ्य अच्छा न रहनेके अर्थ यह नहीं हैं कि हम ज्वर आदिसे पीड़ित होकर बिस्तरेपर पडे हुएथे। वरन यह कि हमारा शरीर शिथिल, सुस्त और पूरा काम कर सकनेके अयोग्य था।

खतौली हम १ मेकी रात्रिको गये थे और वहभी अनिवार्य्य व परम आवश्यक होनेके कारण बडी प्रेरणासे।

समझा जाना और होनेमें बड़ा अन्तर हुआ करता है और कभी कभी जो समझा जाता है वही हुआ ही करता है, ऐसा नियम नहीं।

आपने जो उससमय तकके शास्त्रार्थ सम्बन्धी पत्र "जैन जगत्" में छपनेको भेजदिये उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं। पर उसके पहिले व हमारे पत्रकी एक बातपर जो आपने टिप्पणी की है वह आवश्यकतासे अधिक बढ़ी है, और आपके प्रतिपक्षीवर्गमात्रको बदनाम करने वाली है।

हमारी समझके अनुसार आपको कुछ अधिक सभ्य व नम्र होना चाहिये और तभी आप अपनी बातें अपने प्रतिपक्षियोंको भली भाँति समझा सकेंगे। इसविषयकी ओर हम आपका ध्यान पहिलेभी आकर्षित करचुके हैं और अब पुनः करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मौखिक शास्त्रार्थमें जो दो दोष आपने बतलाये हैं, वे उसमें अवश्य हैं। पर फिरभी लिखित व मौखिक शास्त्रार्थमें वही अन्तर है जो कि एक नाटककी पुस्तक पढ़ने व स्वयम् उस नाटकके देखनेमें होता है। या जैसे कि किसी समाचारपत्र या रिपोर्टमें किसी व्याख्यान व सभाके विवरण पढ़ने व स्वयम् उससभामें उपस्थित होकर उस व्याख्यान व कार्य्यवाहीको अपने कानसे सुनने व आँखोंसे देखनेमें होता है।

इस विषयमें कोई मतभेद नहीं होसकता कि स्वयम् अपने आंखोंसे देखना व अपने कानों से सुनना जितना प्रभावशाली होता है उतना प्रभाव केवल किसी समाचारपत्र या पुस्तकमें उसकी रिपोर्टके पढ़नेसे नहीं हुआ करता।

मौखिक शास्त्रार्थमें जो आपके बतलाये हुए दो दोष थे उनके निवारणार्थ हम उसी सभामें या उसके बाद उसी शास्त्रार्थ को लिखित रूपसे भी करके दूर करना चाहते थे।

जैनसमाजमें अभी समाचार पत्रों व पुस्तकों को पढ़नेका विशेष प्रचार नहीं है और जो लोग उनको मँगवाते भी हैं उनमेंसे बहुत थोडेही उन को उस रीतिसे पढ़ते हैं जैसाकि पढ़ना चाहिये। इसकारण इसलिखित शास्त्रार्थसे कोई जागृति व उत्साह पैदा होगा, ऐसा हमारा विचार अब भी नहीं है।

जो हो। आप मौखिक शास्त्रार्थको तैयार नहीं हैं और हमभी अभी यहाँ उसका योग्य प्रबन्ध करनेमें असमर्थ हैं अतः हमको असमर्थताके कारण इस विषयमें केवल लिखित शास्त्रार्थ के अर्थ तैय्यार होना पड़ा है।

हमको बडी प्रसन्नता होगी यदि आपके लेखानुसार इस लिखित शास्त्रार्थके पाठकोंको

पक्ष विपक्षकी युक्तियों और प्रमाणोंपर बारम्बार गम्भीरतापूर्वक ········ विचार करने का अवसर मिले ।

जिससे कि विशेष लाभ हो वह तो समय का सदुपयोग कहलाता है, और जिससे कोई लाभ न हो या बहुत थोड़ा लाभ हो वह समय का दुरुपयोग कहलाता है । इस व्याख्या के अनुसार मौखिक और लिखित दोनों प्रकारके शास्त्रार्थ एकही विषयपर उन्हीं वादी प्रतिवादियोंमें करना समयका दुरुपयोग करना हमारे खयालसे नहीं है । इसके अलावा हम या और कोईभी व्यक्ति ऐसा नहीं 'जिसे शास्त्रार्थके अतिरिक्त अन्यभी आवश्यक और उपयोगी काम न हों।'

स्वयम् बच्चे रहने और बहुत समय तक बच्चोंके पढ़ानेका कामकरनेके कारण यदि हमारे कामोंमेंसे बहुतसे कामोंमें 'बच्चोंका खेलसा प्रतीत होता' हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर सचमुच, पंडितजी, हमको दुःख है कि अब वह बच्चोंकीसी स्फूर्ति व उनके खेलके माफ़िक कार्य्य सम्पादनकी शक्ति अवस्था बढ़ते जाने के कारण हममेंसे जाती रही है और अब हमको उसे खैंच खाँचकर लाना व करना पड़ता है। हम चाहते हैं कि उस प्रकारकी बात हममें होती और हम अपने सब कामोंको उसी स्फूर्ति व उत्साहसे करसकते, जैसाकि 'बच्चोंका खेल' हुआ करता है ।

जब किसीको किसीके सम्बन्धमें कुछ शक हो जाता है तो उसको उसके अच्छी नियतसे किये हुए काम भी 'विपर्यास' मालूम होते हैं और यही बात आपको हमारे सम्बन्धमें भी हुई दीखती है ।

आपने पहिलेभी शास्त्रार्थ किये होंगे और यदि न भी किये हों तो अब तो करही रहे हैं । अतः आपको यह ज्ञात होगा कि शास्त्रार्थमें पूर्वपक्ष करना जितना आसान है उतना उत्तरपक्ष करना कठिन है । शास्त्रार्थमें विचार उसी पूर्व पक्षपर चलता है और उसीका खण्डन किया जाता है यदि किसीके पूर्व पक्षका खण्डन भी हो जाय तो उससे अपनी बात सिद्ध ही हो गयी ऐसा नहीं माना जा सकता जब तक कि अपने स्वतन्त्र पूर्व पक्षके द्वारा उसका मण्डन न कर दिया जाय । ऐसी अवस्थामें यदि हम एक ही विषयमें आपको भी एक पूर्व पक्ष स्थापित कर अपना पक्ष विशेष रीतिसे सिद्ध करनेका अवसर देते थे तो इसमें क्या 'विपर्यास' व 'रुकावटें' थीं यह आपही समझ सकते हैं ।

इस साथ भेजे हुए विज्ञापनसे आपको प्रगट होगा कि अभी मे १ से ४ तक खतौलीमें आर्य्यसमाजसे शास्त्रार्थ था उसमें विषय दो थे—एक तो "क्या ईश्वर जगत्कर्ता है ?" और दूसरा "क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?" इन दोनों विषयों पर यथाक्रम प्रथम व तृतीय दिवस पूर्व पक्ष आर्य्यसमाजका था और द्वितीय व चतुर्थ दिवस पूर्व पक्ष जैनसमाजका । इन शास्त्रार्थोंका विवरण जैन समाचारपत्रोंमें निकल चुका है और वहाँ से देखा जा सकता है ।

ये चारों शास्त्रार्थ मौखिक थे इसकारण आप इनको धान्धलबाज़ी व बच्चोंका खेल कहसकते हैं पर हम आपको उसलिखित शास्त्रार्थका उदाहरण देते हैं जोकि सन् १९११ ईस्वीमें श्रीजैन तत्व प्रकाशिनी सभा इटावह और आर्य्यसमाज अजमेरमें हुआथा । इस शास्त्रार्थका विषय "क्या ईश्वर जगत्कर्ता है" था और इसीपर एक पूर्व पक्ष जैनतत्व प्रकाशिनी सभाका और दूसरा पक्ष आर्य्यसमाजका था । यह शास्त्रार्थ छपा

हुआ है और इसमें "क" और "ख" दोनों पूर्व पक्षोंका विवेचन भलीभाँति देखा जासकता है। इसकी प्रशंसा उससमयके "सरस्वती" सम्पादक पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदीने भी की थी।

इसमें सन्देह नहीं कि "चैलेञ्ज" शब्द अंग्रेज़ीका है और "चुनौती" शब्द हिन्दीका। पर इन दोनोंके अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं। शास्त्रार्थका चैलेंज व चुनौती एकही अर्थ रखता है।

पर फिरभी यदि आप अपना पूर्व पक्ष स्थापित कर दूसरा शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते तो इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं और हमारा काम हल्काही होजाता है।

हमारा व आपका "जैनधर्म्म की वर्ण व्यवस्था" पर शास्त्रार्थ होना है। उसमें हमारे विचारके अनुसार एक पूर्वपक्ष हमारा व एक आपका होना चाहिये। जब उस शास्त्रार्थ को विषयकी अपेक्षा देखते हैं तबतो यह शास्त्रार्थ एक है और उसमें एकवचनका प्रयोग होता है। पर जब उसी एक विषयके शास्त्रार्थको दो पूर्वपक्षोंकी अपेक्षा देखते हैं तब वही एक शास्त्रार्थ दो शास्त्रार्थ होजाते हैं और उनमें बहुवचनका प्रयोग होने लगता है। बस इसी बातसे कहीं हमने शास्त्रार्थ होना और कहीं शास्त्रार्थ होने लिखे हैं और उसमें "रहस्यमय कारण" कदापि नहीं है। पर इसकारण कि आप अपना पूर्वपक्ष नहीं रखना चाहते अतः भविष्यमें हम उस शास्त्रार्थके संबंधमें अब केवल एकवचनका ही प्रयोग करेंगे।

गत ११ अप्रिलको जो हमने आपको लिखा था उसके पहिले पैरेग्राफ़में हमने लिखा था कि 'गत कल—(१० आप्रिलकी) रात्रिको श्री जैन युवक मंडल अजमेरकी ओरसे सेठ अमरचन्दजी तापड़ियाके नोहरे (खज़ाञ्चियान गली) में "वीर भगवान्‌का सन्देश" सुनानेके अर्थ जो व्याख्यान सभा हुई थी उसमें अपने व्याख्यानमें जैन धर्म्मकी समता सिद्ध करते हुए आपने जो यह कहाथा कि--जैन धर्म्ममें उच्चता और नीचता का कोई भेद नहीं, भगवान ऋषभदेवकी स्थापित की हुई वर्णव्यवस्था केवल सामाजिक दृष्टिसे है, धार्मिक दृष्टिमें उसका कोई उपयोग नहीं, शूद्रों और यहाँतक उसके अस्पृश्य समझे जाने वाले वर्गको भी धर्म्ममें सर्व अधिकार हैं और वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके अनुसार ही भगवानकी पूजा प्रक्षालादि सब कृत्य कर सकते हैं, अस्पृश्यता जैन धर्म्ममें है ही नहीं। आदि आदि। वह केवल हमकोही नहीं वरन अधिकान्श जैन समाजको जैन शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरमें आपने अपने १४ आप्रिलके पत्रमें यह लिखाथा कि 'आपने यह लिखकर कि मेरे व्याख्यानोंकी यह बातें अधिकान्श जैन समाजको शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत हुई, कमाल किया है। मैं नहीं समझ सकताकि आपके इस भ्रमपूर्ण खयालका क्या आधार है। सचाई तो इससे बिलकुल विरुद्ध प्रतीत होती है। तारीख १० के व्याख्यानके पश्चात कितनेही परिचित और अपरिचित व्यक्तिओंने मुझे बधाई दी है। यह बात मैं आपके भ्रमको दूर करनेके लियेही लिखनेको विवश हुआ हूँ।'

इसका उत्तर हमने १५ मेके पत्रमें इसप्रकार लिखा था कि यह बहुत सम्भव है कि आपके तारीख १० के व्याख्यानके पश्चाद् कितने ही परिचित और अपरिचित व्यक्तिओंने आपके व्याख्यानके कुछ अन्शोंसे सहमत होकर आपको बधाई दी हो। पर क्षमा करिये, अधिकांश दिगम्बर जैन समाज आपके वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचारोंसे सहमत नहीं है और वह

उनको शास्त्रोंके विरुद्ध प्रतीत होते हैं। सचमुच हमारे विचारके अनुसार जैनसमाजका वह बड़ा दुर्दिन होगा जबकि हमको आपके लेखानुसार हमारी बात हमारा भ्रम सिद्ध हो जावेगी।

हमारी इसबातमें कोई परिवर्तन कदापि नहीं है और हमने इसको अपनी उसी बातके समर्थनमें लिखा है।

हम और आप दोनों ही श्री दिगम्बर जैन धर्मानुयायी हैं अतः हम लोगोंके लिये शब्द 'जैन' केवल श्री दिगम्बर जैन धर्मानुयायियोंके ही अर्थ में प्रयोग होता है। अन्य जैन कहलाने वाले इसमें गर्भित नहीं समझे जाते।

इसमें सन्देह नहीं कि 'सत्यके लिये' मनुष्य को 'जनताका विरोध सहने' के लिये तैयार रहना चाहिये और आपको आपके इस निश्चय पर हम बधाई भी देते हैं। पर सत्यताके अनुरोध से यह तो अवश्य लिखना ही होगा कि जिन वर्णव्यवस्था सम्बन्धी अपने विचारोंको आप सत्य समझते हैं वह अभी अधिकान्श जैन समाज या दिगम्बर जैन समाजके विरुद्ध है।

भवितव्य दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता अतः शास्त्रार्थके पश्चाद् हमारे विश्वासका क्या होगा यह बात तो भविष्यके गर्भमें हैं। पर अभी हमको अपने पक्षकी सचाई पर पहिलेसे अधिक विश्वास है और उसको हम सत्य पर आश्रित समझते हैं।

शास्त्रार्थ संघ समाजके लिये उपयोगी है, ऐसी उसकी अभी तककी कार्यवाहियोंसे बराबर प्रगट है। भविष्यमें वह समाजके लिये अधिक उपयोगी बने तो निःसन्देह समाजका सौभाग्य होगा।

हमने अपना जीवन श्री अखिलभारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघको दे रक्खा है और हम जो संघकी नीतिके अनुकूल जो भी धर्म-प्रचार व शास्त्रार्थ आदिका कार्य करते हैं वह सब संघका ही समझा जाता है। इसके सिवाय हम लोग [शास्त्रार्थ संघके कार्यकर्त्ता] अपना निजू महत्त्व नहीं चाहते वरन् संघकी शक्ति व प्रभाव बढ़ानेके अर्थ हैं। अतः अपनी इस कार्य-पद्धतिसे विवश होकर हमको यह शास्त्रार्थ भी संघकी ओरसे ही करना होता है और अब आपकी समझसे जब उसके निर्णय करनेका उचित समय है तभी उसका निर्णय हम किये देते हैं। रही स्वीकृतिकी बात, सो यह पहिलेसे मिली हुई है ही।

निःसन्देह हम यह स्वीकार करचुके हैं कि शास्त्रार्थमें प्रमाणोंकी प्रबलता और निर्बलतासे सत्यासत्यका निर्णय होगा और इसमें अबभी हमको कोई आपत्ति नहीं है।

समाजके सामने व्यक्तिका कोई मूल्य नहीं, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। इस नीतिके अनुसार श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ हमसे अधिक प्रमाणिक माना जाना चाहिए।

शास्त्रार्थके नियमोंमें हमने जिस जिसका जो जो पक्ष लिखा है उसमेंसे एक भी बात हटायी नहीं जासकती। कारण कि इस सारे शास्त्रार्थकी जड़ वर्तमान समयका अछूतोद्धार आन्दोलन है: इसको हम और अधिकान्श दिगम्बर जैनसमाज तो जैन शास्त्रोंके विरुद्ध समझते हैं और आपके विचारसे वह जैनशास्त्रानुकूल है। बस यही खास विवादकी जड़ है जो कि किसी प्रकार छोड़ी नहीं जासकती।

इस शास्त्रार्थकी जड़ अभी अजमेर केसरगंजके श्री महावीर जयन्ती अवसर पर तारीख ७ आप्रिलकी रात्रिको हुए, कई व्याख्यानोंसे

प्रारम्भ होती है जिसमें कि "जैनजगत्" के १६ आप्रिलके अङ्क १२ में पहिले पृष्ठ पर प्रकाशित समाचारोंके अनुसार भी श्रीमान् पंडित बनारसीदासजीने महावीर स्वामीकी स्तुति करते हुए अछूतोद्धार आन्दोलनके सम्बन्धमें भीअपने उद्‌गार प्रकट किये और उसको जैनधर्मके विरुद्ध बतलाया, किन्तु श्रीमान् पंडित शोभाचन्द्र जी न्यायतीर्थने अनेक शास्त्रप्रमाण व उदाहरण देकर अछूतोद्धार आन्दोलनको जैन धर्मानुकूल प्रतिपादन किया। कुछ असहिष्णु लोगों में इससे उत्तेजना फैली और वे बीचमें ही उठकर चले गये, आदि।

दूसरे व तीसरे दिन हमने सभापति व प्रधान वक्ता बनकर पंडित बनारसीदासजीका समर्थन और आपका खंडन किया और १० आप्रिलको शहरकी सभामें आपने मौका व सहायता पाकर अपना पक्ष सिद्ध किया। इसकारण कि सभाकी समाप्तिपर हमको केवल पाँच मिनिट ही बोलनेका अवसर दिया गया था, जिसमें कि आपके सब व्याख्यानका ब्यौरेवार खण्डन नहीं किया जासकता अतः हमको यह शास्त्रार्थ करना पड़ा।

इस शास्त्रार्थके नियमोंका निर्णय करते समय हमको यह सब परिस्थिति मालूम थी और हमको यह स्मरण था कि यह शास्त्रार्थ अकस्मात् नहीं और न केवल आपके व्याख्यान के आधार पर होरहा है, वरन इसका कारण वर्तमान समयका अछूतोद्धार आन्दोलन है जिसका कि खंडन श्रीमान् पंडित बनारसीदास जीने किया था।

जिस विषय पर वादविवाद खड़ा हुआ और जिसका कि निर्णय इस समय हम लोगों के लिये परम आवश्यक है अतः उसी विषय पर शास्त्रार्थ होना चाहिए और जो पूर्व पक्ष हमने लिख दिये हैं उन्हींमें इन सब बातोंका समावेश भलीभाँति होजाता है। अतः उन्हींके अनुसार यह शास्त्रार्थ चलेगा और वैसा ही पूर्व पक्ष आपको श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघकी ओरसे अबकीबार आपकी स्वीकृति आने पर भेज दिया जावेगा और उसी पर निश्चित नियमोंके अनुसार वाद विवाद चलेगा।

आपकी इच्छा व आज्ञानुसार नियमोंमें यथोचित सन्शोधन कर हम उनको पुनः आप की सेवामें प्रेषित करते हैं। यदि इनमें अबभी कोई आपत्ति हो तो लिखिए। फिर ठीक कर दिये जावेंगे।

वर्णव्यवस्थाका सम्बन्ध विशेषतः जन्मसे है। इसमें विशेषतः शब्दसे हमारा प्रयोजन यह है कि वर्णका निर्णय माता पिताके सन्तान क्रम से हुआ करता है अर्थात् जिस वर्णके माता पिता होते हैं, सन्तान भी उसी वर्णकी होती है। पर यदि किसी वर्णकी सन्तान अपने वर्णकी आजीविका न करे और दूसरे वर्णकी आजीविका करने लगे और उस वर्णवालोंसे अपना विशेष सम्पर्क रक्खे तो कुछ पुश्तोंमें उसका वर्ण उस आजीविकाके अनुसार बदल जाता है और इस प्रकार—एकही पुश्तमें नहीं वरन कई पुश्तों में उच्च वर्णका हीन वर्ण और हीन वर्णका उच्च वर्ण हो जाता है।

वर्णव्यवस्थाका आधार विशेषतः धार्मिक है, क्योंकि वर्णव्यवस्था आठकर्मोंमें से एक गोत्रकर्मके आधार पर हुआ करती है। पर आचरणसे भी उसका सम्बन्ध है और उसके अनुसार कुछ पुश्तोंमें वह गोत्र कर्म भी उच्चसे नीच और नीचसे उच्च हो जाता है।

गृहस्थ और भट्टारकोंके जो भी ग्रन्थ ऋषिप्रणीत आगमके अनुसार हैं, वे सब प्रमाणभूत

और जो उनके विरुद्ध हैं वे हमको अप्रमाण-भूत हैं।

यदि दोनों ओरके शास्त्रार्थसम्बन्धी लेख बिना टीकाटिप्पणी अविकल रूपसे "जगत्" छापने को तैयार है तो उसमें उनके छपनेमें हमको कोई आपत्ति नहीं है। अभी हमने किसी और पत्रसे इस सम्बन्धमें बातचीत नहीं की है। बादमें देखा जायगा। इसके सिवाय हमारे संघका ही पत्र शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। उसमें भी यह शास्त्रार्थ छपेगा।

यह बात आपकी मान्य है कि शास्त्रार्थ अविकल रूपसे छापा जावे और उसमें दोनों ओर के वक्तव्य साथ छपें।

आपके पत्रकी सबही बातोंका हमने यथा-योग्य उत्तर दिया है और जो बातें हमको मान्य थीं व हुई वे अब हमने लिखदी हैं। यदि आप चाहें तो शास्त्रार्थके नियम अपनी ओरसे भी बनाकर भेज देवें। पर वे ऐसे बनने चाहिये जो कि हमको भी मान्य हो सकें।

यह शास्त्रार्थ प्रमाणिकता और सचाईके साथ किया जावे. यह पहिलेसे ही हमको मान्य है और हमने वैसाही प्रयत्न भी किया है। निःसन्देह कई विशेष कारणोंसे (जो कि प्रगट किये जा चुके हैं) हमसे इसमें कुछ विलम्ब हो गया है। इसका हमको दुःख है और हम बार बार क्षमा चाहते हैं।

अब हम अपने शरीर को अनेक उपायों द्वारा 'काम चलाऊ' बना लाये हैं और रक्खेंगे। इससे भविष्यमें अनावश्यक कोई विलम्ब न होने पावेगी, ऐसा पक्का समझिये।

आपके 'सकुशल होंगे' वाक्यने हमारे ऊपर बड़ा प्रभाव डाला है और उसके अर्थ हम आप के बड़े कृतज्ञ हैं। इससे आत्मीयता टपकती है और ऐसा ही व्यवहार वाञ्छनीय है।

हम चाहते हैं कि शास्त्रार्थके मध्य और उसके अन्तमें भी हम लोग ऐसे ही भावों को रखसकें और इसके अर्थ हम अपनी ओरसे कोई बात उठा न रक्खेंगे।

आपका—

(Sd.) Digvijay Singh.

ह० दिग्विजयसिंह।

ब्रह्मचारीजीके पत्रका उत्तर।

श्रीजैन गुरुकुल
ब्यावर
६।६।३३

श्रीमान् ब्र० दिग्विजयसिंहजी साहब,

कृपापत्र ता० ३० मईका लिखा हुआ ५ जून को लगभग ६ बजे सन्ध्या-समय प्राप्त हुआ।

आपके स्वास्थ्यका विवरण जानकर खेद हुआ किन्तु मुझे इस बातसे कुछ संतोष है कि ऐसी स्थिति में, जबकि आप विश्रामकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं, मैंने अपनी ओरसे आपको कष्ट नहीं दिया है। फिरभी मेरे निमित्तसे यदि आपको किसी क़िस्मका कोई कष्ट पहुँचरहा हो तो मैं क्षमा-प्रार्थना करनेके अतिरिक्त और कुछभी कर सकनेमें असमर्थ हूँ। आप स्वयं समझ सकते हैं कि मैंने जिन बातोंको जैनधर्मानुकूल समझकर समाजके समक्ष रखा है, और जिनकी सत्यताके सम्बन्धमें अबभी मुझे सन्देह नहीं, उनपर अन्ततक क़ायम रहना मेरा पवित्र कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य-प्रेरणाके कारण आपको कष्ट पहुँचानेकी इच्छा ज़राभी न रखते हुएभी मैं शास्त्रार्थके लिए तैयार हूँ; यद्यपि आपके साथ मेरी सहानुभूति है।

ता० १० अप्रैलको ही शास्त्रार्थके नियम आदि तै होगये होते तो अच्छा रहता। मगर आप स्वयं

जानते हैं कि प्रथमतो उसदिन समय अधिक (१०॥ और ११ के बीच) हो गया था और सभा में उपस्थित कुछ व्यक्तियों ने ऐसा होहल्ला मचा दिया था कि नियमादि निर्णय के लिए जिस शान्ति की आवश्यकता है, उसका उस समय सर्वथा अभाव था। इतना सब होने पर भी यदि मुझे आपकी इस वर्त्तमान परिस्थिति का पता होता, जो कि अब आपके पत्र से ज्ञात हुई है कि आप "बड़े लापरवाह व सुस्त मनुष्यों में हैं; यदि आप तत्क्षण किसी काम को न कर देवें तो फिर उसका होना बड़ा कठिन होजाता है, और बहुत आवश्यक होनेपर भी उसमें विलम्ब हो जाया करता है" तो उसी समय नियमादि का निर्णय कर लेने के लिए पूर्ण प्रयत्न करता। जो भी हो, इतने विलम्ब का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं है, यह तो निश्चित है।

खैर। अब इस बात को छोड़िए। आपके भूल स्वीकार कर चुकने पर मैं भी इसे छोड़ता हूँ।

यद्यपि यह ठीक है कि 'समझा जाना और होने में बड़ा अन्तर है और कभी-कभी जो समझा जाता है वही हुआ ही करता है ऐसा नियम नहीं' पर साथ ही यह भी ठीक है कि समझे जाने और होने में परस्पर सर्वथा विरोध नहीं और कभी-कभी जो समझा जाता है वह हुआ ही नहीं करता, ऐसा नियम नहीं।

'जैन जगत्' में पत्रों के साथ-साथ मैंने अपना जो वक्तव्य और टिप्पणी लिखी है, उसमें असत्य का लवलेश भी नहीं है।

आपने सभ्य और नम्र बनने का जो परामर्श दिया है, उसके लिए धन्यवाद। पर आपको जानना चाहिए कि सभ्यता और नम्रता की अपेक्षा सचाई और प्रामाणिकता कहीं अधिक महत्वपूर्ण बातें हैं और जिसमें ये दोनों बातें नहीं उसकी सभ्यता आडम्बर, तथा नम्रता मायाचार होती है। मुझे इस बात का गौरव है कि मैं सचाई और प्रामणिकता से काम ले रहा हूँ और साथ ही मैंने आपके साथ न किसी प्रकार का असभ्यता का बर्त्ताव किया है न उद्धतता का ही। हाँ, कभी-कभी सत्य कठोर जरूर हो जाता है पर उससे किसी को घबड़ाने की जरूरत नहीं; क्योंकि सत्य अहितकर नहीं होता।

नाटक और शास्त्रार्थ में बहुत अन्तर है। नाटक प्रधानतः मनोरंजन का साधन है, जब कि शास्त्रार्थ वस्तुतत्त्वके निर्णयका साधन। वस्तुतत्त्वका निर्णय भी केवल वादी-प्रतिवादियों तक सीमित रखना अभीष्ट नहीं—सर्वसाधारण तक उसे पहुँचानेकी आवश्यकता है। वह निर्णय गंभीर विचार किये बिना नहीं होता और गंभीर विचारका अवसर लिखित शास्त्रार्थसे ही मिल सकता है, मौखिक शास्त्रार्थसे नहीं रही व्याख्यानकी बात सो शास्त्रार्थ और व्याख्यानमें समानता है। मौखिक और लिखित व्याख्यानमें कौन अधिक स्थायी और विस्तीर्ण होता है, यहभी तो विवादग्रस्त बात है, जिसे आपने उदाहरणरूप में पेश किया है। अब इस विषयमें अधिक लिखापढ़ी करना असामयिक और अनावश्यक है क्योंकि आप और हम दोनोंही लिखित शास्त्रार्थ करना स्वीकार करचुके हैं। फिरभी आपका यह लिखना कि जैनसमाजमें अभी समाचारपत्रों व पुस्तकोंको पढ़नेका विशेष प्रचार नहीं है; ठीक नहीं। अन्य भारतीय समाजोंकी अपेक्षा जैनोंमें शिक्षाका कम प्रचार नहीं है। इसके अतिरिक्त जो लोग लिखित शास्त्रार्थको पढ़नेकी रुचि नहीं रखते, उन्हें उस विषय में गंभीर जिज्ञासा नहीं है, यह कहा जासकता है। ऐसी स्थितिमें वे लोग मौखिक शास्त्रार्थ सुनने क्यों आने लगे? यदि मन बहलाव करने, पडितोंकी कुश्ती देखने चलेभी आये तो उनसे लाभ तो कुछ भी नहीं, उल्टी हानि यह होगी कि उनकी समझके

खिलाफ़ कुछ कहतेही वे होहल्ला मचाने बैठ जावेंगे और शान्ति खतरेमें पड़ जायगी। अस्तु। आपने मेरे द्वारा मौखिक शास्त्रार्थमें बतलाए हुए दोषोंको स्वीकार करलिया है, और वे दोष ऐसे जबर्दस्त हैं कि उनसे कभी-कभी शास्त्रार्थ और उसका उद्देश्य दोनोंही धूलमें मिलजाते हैं।

लिखित शास्त्रार्थमें उभयपक्ष अपनीअपनी ओर से युक्तियाँ और प्रमाण उपस्थित करेंगे। उससे जो कुछ निर्णय होना होगा, होही जायगा। ऐसी हालतमें मौखिक शास्त्रार्थमें फिर उन्हीं बातोंको दुहरानेसे कोई विशेष लाभ नहीं है, अतः दोनों प्रकारके शास्त्रार्थ एकही विषयपर उन्हीं वादी प्रतिवादियोंमें करना समयका दुरुपयोगही है।

एक कार्य एकके लिए मुख्य होता है, और वही दूसरेके लिए मुख्य नहीं होता। जैसे अध्यापन करना मेरे लिए आवश्यक और उपयोगी कार्य है, क्योंकि शिक्षण-संस्थाके द्वारा मेरा काम चलता है— शास्त्रार्थ करना गौण कार्य है। तथा शास्त्रार्थ करना आपका आवश्यक और उपयोगी कार्य है, क्योंकि उससे आपका काम चलता है। अतएव एकही शास्त्रार्थको यदि सौ-पचास दफा दोहराया जाय तो भी आपके समयका दुरुपयोग नहीं होगा, पर मेरे समयका तो दुरुपयोग होगाही, क्योंकि न तो शास्त्रार्थकी पुनरावृत्तिसे वस्तुतत्त्वनिर्णय सम्बन्धी लाभ मुझे होसकता है, और न आवश्यक एवं उपयोगी कार्योंके करनेसे होनेवाला लाभही होसकता है।

बच्चोंकी सी स्फूर्ति होना तो ठीक है, पर बच्चों कीसी विवेकहीनता होना ठीक नहीं।

पूर्वपक्ष करना कठिन है, या उत्तरपक्ष करना कठिन है, मेरे सामने ऐसा कोई प्रश्न नहीं है और न मैं इस दृष्टिसे कोई बातही रखता हूँ। मैंने जो बातें व्याख्यानमें वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें कही हैं, उन पर आपने चैलेंज दिया है। उनके खण्डनमें अपना पक्ष आपको पहले भेजना चाहिए और उसका मैं खण्डन करके अपने पक्षकी स्थापना करूँगा। अतः आपके दिए हुए पूर्वपक्ष करनेके स्वर्णावसरको यदि मैं योंही खोदेना चाहता हूँ, तो मुझपर दया न कीजिए।

'चैलेंज और 'चुनौती' शब्दकी पर्यायवाचकता का पता मुझे पहलेसे ही है। मेरे पूर्व पत्रमें लिखा हुआ वाक्यभी यही सिद्ध करता है। मालूम होता है आपने वह अंश सावधानीसे नहीं पढ़ा, या आप की समझमें नहीं आया, अथवा कुछ न कुछ लिखना चाहिए ऐसा सोचकर आपने यह बताया है कि "इन दोनोंके अर्थोंमें कोई अन्तर नहीं।"

चाहे एक पूर्वपक्ष हो, चाहे दो हों, जबतक विषयमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ और वादी प्रतिवादीभी वही हैं और सामयिक व्यवधानभी नहीं, तबतक शास्त्रार्थ दो नहीं होसकते। क्योंकि एक विषयक दो पूर्व पक्षोंका भी एकही शास्त्रीय अर्थ सिद्ध करना उद्देश्य है। इसलिए 'शास्त्रार्थ होने निश्चित हुए' और 'निश्चित हुआ, इस प्रकारके वचनविरुद्ध आपके प्रयोगोंका समन्वय नहीं होसकता और लीपापोती करना वृथा है।

आप लगभग वृद्ध होचुके हैं, इसलिए जैनसमाज के दुर्दिनकी कल्पना करें तो एकदम अस्वाभाविक नहीं, परन्तु मैं अभी युवक हूँ और युवकोचित महत्वाकांक्षाओंसे मेरा हृदय परिपूर्ण है। मैं जैनसमाजके दुर्दिनका नहीं वरन् 'सुदिनों' का सुन्दर स्वप्न देखा करता हूँ। वह स्वप्न जब पूर्ण फलित होगा तब मैं अपनेको विशेष भाग्यशाली समझूँगा। हाँ, समाजके सुदिन होनेसे ही यदि किन्हीं व्यक्तियों के दुर्दिन होजाएँ तो मजबूरी है।

निस्सन्देह हम और आप दोनोंही श्रीदिगम्बर जैनधर्मानुयायी हैं; पर क्षमा कीजिए, मैं अथवा दूसरा कोईभी विवेकशील दि० जैन यह माननेको

तैयार न होगा कि अन्य सम्प्रदायके जैन 'जैन' शब्दके वाच्य नहीं हैं। अन्य सम्प्रदायके जैनोंको 'जैनत्व'से खारिज करना अनुचित, अन्याय्य, सत्य के विपरीत और दुरभिनिवेशपूर्ण है। जिन भगवान् को देव माननेवाला, प्रत्येक व्यक्ति जैन है और शब्द शास्त्रभी यही बतलाता है।

इसी प्रकार 'जैन' और 'दिगम्बर जैन' शब्दों को एकार्थक बतलाना मिथ्या है। विशेषण किसी अन्य सम्बन्धका व्यवच्छेदक होता है। 'दिगम्बर जैन' में का 'दिगम्बर' विशेषण यदि किसीका व्यवच्छेद नहीं करता तो वह व्यर्थ है। क्या आप यह समझते हैं कि यह विशेषण सचमुच कोई अर्थही नहीं रखता? यदि ऐसा है तो शास्त्रार्थ संघके पूरे नाममें 'दिगम्बर' पदको क्यों स्थान दिया गया है? और आप उसे व्यर्थ समझकर हटानेका प्रयत्न करेंगे?

एक असत्यको सत्य सिद्ध करनेके लिए अनेक असत्योंकी सृष्टि करनी पड़ती है। आप एक भूल को दबानेके लिए अनेक गंभीर भूलें कररहे हैं।

आप अपने पक्षको सत्यपर आश्रित समझते होंगे, पर समझने और होनेमें अन्तर हुआ करता है, यह बात आप स्वयं लिखचुके हैं।

मैं तो आपको शास्त्रार्थ संघसे कम प्रामाणिक नहीं समझता था। पर आप मेरी इस बातका प्रतिवाद करते हैं और आपके विषयमें आपकी ही इस बातको सच मान लेनेमें कोई हानिभी मुझे प्रतीत नहीं होती। अतएव यदि आपको संघकी अपेक्षा कम प्रामाणिक न मानकर मैंने भूल की है तो क्षमा कीजिए। और जब आप अपनेको संघकी अपेक्षा भी कम प्रामाणिक मानते हैं तथा अपनी ओरसे शास्त्रार्थ करनेको तैयार नहीं होते, तब शास्त्रार्थ न रुके, इसलिए संघकी तरफसे शास्त्रार्थ होना मैं स्वीकार करता हूँ।

शास्त्रार्थके नियमोंमें आपने दोनों ओरके पक्षों की कल्पना करके जो जो बातें लिखी हैं, उनमेंसे बहुतसी अप्रस्तुत हैं। सच बात तो यह है कि पक्षों की कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। मैंने वर्णव्यवस्थाका ज़िक्र करते हुए जो बातें व्याख्यान में कही हैं उन्हें शास्त्रविरुद्ध कहकर आपने चैलेंज दिया है। अतएव उन्हें शास्त्रविरुद्ध सिद्ध करना आपका कर्त्तव्य होगया है। इस कर्त्तव्यसे मैं आप को एक इञ्च भरभी इधर-उधर नहीं हटने दूँगा। आपने मेरे व्याख्यानकी जिन बातोंको धर्मविरुद्ध कहा है उनपर आपको शास्त्रार्थ करनाही चाहिए और उनके अतिरिक्त और कोईभी विषय बीचमें घुसेड़ा नहीं जा सकता।

वर्त्तमानमें प्रचलित अछूतोद्धार आन्दोलन काफी समयसे चलरहा है। उसके संचालक महात्मा गाँधी हैं। उस विषयमें आपकी शास्त्रार्थ करनेकी सोई हुई इच्छा अब जाग उठी हो तो महात्माजीसे प्रार्थना कीजिए। संभव है वे आपकी इच्छाकी तृप्ति करदें। अलबत्ता इस सम्बन्धमें मैंने अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे वर्णव्यवस्थाका उल्लेख कर के किये गये हैं और अपने पहले पत्रमें मैं उनका निर्देश करचुका हूँ। वे मैंने अपने उत्तरदायित्व पर प्रकट किये हैं और मैं उनका समर्थन करनेके लिए सदैव तत्पर हूँ।

मैंने व्याख्यानमें कहा था कि—शूद्रको जिनपूजन करनेका अधिकार है, अस्पृश्यता धार्मिक नहीं बल्कि लौकिक है और वर्णव्यवस्था सामाजिक है। इसे आपने शास्त्रविरुद्ध समझकर मुझे चैलेञ्ज दिया है। अतः स्वभावतः मेरे इस पक्षसे विपरीत आपका यह पक्ष होजाता है कि "शूद्रको जिनपूजन करने का अधिकार नहीं है, अस्पृश्यता लौकिक नहीं बल्कि धार्मिक है, और वर्णव्यवस्था सामाजिक नहीं, धार्मिक है।"

यह शास्त्रार्थ सचाई और प्रामाणिकतामें किया जावे, यह बात यदि आपको मान्य हो तो शास्त्रार्थ का यही असली विषय क़ायम रखकर शास्त्रार्थ कीजिए।

पं० बनारसीदासजी शास्त्रीके व्याख्यानसे चैलेञ्जका सम्बन्ध आप जोड़रहे हैं लेकिन उससेभी तो यही सिद्ध होता है कि शास्त्रीजीके खण्डनमें मैंने जो बातें कही हैं, उन्हींके सम्बन्धमें आपने चैलेञ्ज दिया है। उन बातोंको मैं अभी लिखचुका हूँ और उन्हींपर शास्त्रार्थ करनेके लिए आपसे अनुरोध कररहा हूँ। इधर-उधर की बातें लिखकर अन्तमें आपने स्वयं स्वीकार किया है कि पाँच मिनिटमें 'आपके सब व्याख्यानका ब्योरेवार खण्डन नहीं किया जासकता (थ) अतः हमको यह शास्त्रार्थ करना पड़ा।" बस; फिर झगड़ा किस बात का? आप मेरे व्याख्यानका, जिसमें उक्त तीन बातें शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ उपस्थित कीगई थीं, खण्डन कीजिए। इधर-उधर की बातों को बीचमें घुसेड़नेकी क्या आवश्यकता है?

आपने मेरे व्याख्यानोंके आधारपर ही चैलेञ्ज दिया है, यह बात स्वयं आपके इन शब्दोंसे भी स्पष्ट है। व्याख्यानोंके अतिरिक्त वर्त्तमान अछूतोद्धार आन्दोलनके सम्बन्धमें न मैंने कहीं कुछ कहा है, न लिखाही है। फिर किस आधारपर आपने मुझे चैलेञ्ज दिया? इससेभी वही बात सिद्ध होती है जो आपके शब्दोंसे ही सिद्ध की जाचुकी है। अतः आप ता० १० अप्रैलकी रात्रिको दिये हुए चैलेञ्जके अनुसार शास्त्रार्थ करनेको तैयार हैं तो उक्त विषयोंपर शास्त्रार्थ करके मेरे व्याख्यानोंका खण्डन कीजिए।

आपने जो स्पष्टीकरण किये हैं, वे ज्ञात किये और यथासमय उनका उपयोग किया जावेगा।

हमारे यहाँ शास्त्र इतने अधिक हैं कि सबका विशेष नाम लेख करके नहीं बताया जासकता कि अमुक अमुक शास्त्र प्रामाणिक हैं और सामान्य रूपसे भी यह नहीं कहा जासकता कि शास्त्र कही जानेवाली प्रत्येक पोथी प्रामाणिक ही है; क्योंकि शास्त्रोंकी शक़लमें अनेक शास्त्राभास मौजूद हैं। मुझे प्रसन्नता है कि 'तद्विरुद्ध' पद देकर आपनेभी कुछ शास्त्राभासोंको प्रमाण मानना अस्वीकार करदिया है। ऐसी हालतमें पंडितप्रवर श्रीमान् टोडरमलजी साहबके शब्दोंमें मैं अपनी मान्यता प्रकट करदेना चाहता हूँ। पंडितजीके शब्द यह हैं—

"कोई पापी पुरुषाँ अपना कल्पित कथन किया है। अर तिनकौं जिन वचन ठहरावें हैं। तिनकौं जैन मतका शास्त्र जानि प्रमाण न करना। तहांभी प्रमाणादिकतैं परीक्षा करि विरुद्ध अर्थकों मिथ्या जानना। बिना परीक्षा किये केवल आज्ञाहीं करि जैनी हैं तेभी मिथ्यादृष्टि जानने।" अस्तु।

आप 'जैनजगत्' में शास्त्रार्थ छपाना स्वीकार करचुके हैं सो ठीक है। वह अविकल और बिना टीका-टिप्पणी किये छापनेको तैयार है।

नियमोंमें आपने लिखा है कि "युक्ति वही प्रमाण कोटिमें लीजावेगी जिसका कि समर्थक आगम हो"। पर श्रीमान् पं० टोडरमलजी साहबके कथनानुसार युक्ति आगमाश्रित नहीं है बल्कि आगम युक्त्याश्रित है। एक उद्धरण और लीजिए—"बहुरि कोई आज्ञा अनुसारी जैनी हैं। जैसे शास्त्र विषैं आज्ञा है तैसे मानै हैं। परन्तु आज्ञाकी परीक्षा करैं नाहीं। सो आज्ञाही मानना धर्म होय तौ सर्व मतवारे अपनेअपने शास्त्र की आज्ञा मानि धर्मात्मा होंइ। तातैं परीक्षा करि जिनवचनकौं सत्यपनौं पहिचानि जिनआज्ञा माननी योग्य है। बिना परीक्षा किये सत्य असत्यका निर्णय कैसे होय।"

इसके अतिरिक्त मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि शास्त्रों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको

लक्ष्य में रखकर भी बहुत सी ऐसी बातें लिखी गई हैं जो दूसरे जैन प्रमाणों से जैनधर्मबाह्य सिद्ध की जा सकती हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही प्रमाणोंको स्वीकार या अस्वीकार किया जायगा।

आपका यह लेख कि युक्ति वही प्रमाण मानी जायगी जिसका समर्थक आगम हो, सिर्फ आपको ही लागू होगा, मुझे नहीं। आपभी अपने पर लागू न करना चाहें तो उसे हटा भी सकते हैं।

आपके भेजे हुए नियमों में जो पुनरुक्तियाँ थीं, उन्हें निकाल दिया है। विषयान्तर वाला नियम स्वयंसिद्ध दोष है, इसलिए नहीं रखा, अन्यथा नियमों की संख्या अत्यधिक बढ़ जायगी। कुछ नियमों में संशोधन कर दिया है। आप उसे स्वीकार करें तो एक मास में मेरे व्याख्यान के खण्डन में अपना पक्ष मेरे पास भेजदेवें और इतने ही समयमें मैं अपना पक्ष आपके पास भेजदूँगा।

शास्त्रार्थ से साक्षात् सम्बन्ध न रखने वाली कतिपय बातों को निरुपयोगी समझकर मैंने छोड़ दिया है या बहुत संक्षेप में लिखा है। नियमावली पत्र के साथ भेज रहा हूँ।

उत्तर शीघ्र देवें। शेष कृपा है।

भवदीय,

—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ।

श्री दिगम्बर जैन महा पाठशाला, जयपुर का वार्षिकोत्सव

नई प्रबन्धकारिणी कमेटी का चुनाव।

जयपुरकी दिगम्बर जैन महापाठशाला, राजपूतानेके जैनियोंकी सबसे प्राचीन शिक्षण-संस्था है। यहाँ पर शास्त्री व आचार्य तक की पढ़ाई होती है, और प्रारम्भ से ही इस संस्थाको जयपुर राज्यकी ओरसे भी ५०) रु० मासिक सहायता मिलती रही है। पर पिछले कई वर्षोंसे इस पाठशालाकी हालत काफ़ी ख़राब चली आ रही है। कई दफ़ा इसके प्रबन्ध व पठनक्रम आदिमें सुधारका प्रयत्न किया गया, पर पं० नानूलालजी शास्त्री, इन्द्रलालजी शास्त्री व इनके कुछ मित्रोंने इसे अपनी बपौती सी समझ रखी है और वे पाठशालाके प्रबन्धको अपने हाथमें से नहीं निकलने देना चाहते। इसके कुछ गहरे कारण भी हैं। इस मित्रमण्डलीके कुछ सदस्योंमें पाठशालाका हज़ारों रुपयाभी अनेक वर्षों से बाक़ी निकलता चला आ रहा है और दूसरे अच्छे लोगोंके हाथमें प्रबन्ध चले जाने पर उस रुपयेकी वसूली की सूरत होने लगेगी, इस बात का भय है। उच्च कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियोंको बराबर यह शिकायत रही है कि उन की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। शायद यह इसलिए हो कि कहीं नये शास्त्री अधिक संख्यामें हो जायें, तो पुराने शास्त्रियोंकी मामूली पूछ भी जाती रहे। स्थानीय लोगोंमें प्रायः सभी समझदारोंने इसमें चन्दा देना बन्द सा कर रखा था और पिछले दिनों तो हालत यहाँ तक नाजुक हो चली थी, कि ध्रुवफण्डमेंसे पाँच छह हज़ार रुपया ख़र्च होगया।

क़रीब पन्द्रह दिन हुये, इस पाठशालाके मुख्य संस्थापक स्वर्गीय पण्डित भोलीलालजी सेठी के सुपुत्र पण्डित निर्मलचन्दजी सेठी (पाठशालाके चालू कोषके कोषाध्यक्ष) ने एक नोटिस निकाल कर समाजको वहाँ की आर्थिक व अन्य हालतोंका दिग्दर्शन कराते हुये अपील की कि यदि समाज इस संस्थाको मौजूदा प्रबन्धकोंके हाथसे निकाल कर इसकी व्यवस्थामें उचित सुधार नहीं करेगी तो पाठशाला व इसके ध्रुवफण्डके शीघ्र समाप्त होजाने में अधिक देर नहीं है। इस चेतावनीने अच्छा असर किया और समाजने समय रहते इस संस्था को डूबनेसे बचा लिया।

गत रविवार मिती आषाढ़ कृष्णा ४ सं० १९९० को पाठशालाका वार्षिकोत्सव मनाना निश्चित हुआ था,

तदनुसार उसके लिए सब तैयारियें होकर सब लोगोंको इत्तिला देदी गई, पर पण्डित मानूलालजी शास्त्री भूतपूर्व मन्त्री पाठशालाने सोचा कि यदि रविवारको उत्सव हुआ तो उस दिन कचहरियोंकी छुट्टी रहनेके कारण जनता बहुसंख्या में आ जायगी और सम्भव है कि नये चुनावमें मेरा व मेरी पार्टीके लोगोंका कोई नम्बर न आने पाये। अतः उन्होंने यह कोशिशकी कि वार्षिकोत्सव रविवारको न मनाया जाकर सोमवारको मनाया जाय। जब सीधे रास्ते यह कोशिश पार न पड़ी तो उन्होंने नोटिस छपवा कर वितीर्ण किया कि वार्षिकोत्सव सोमवारको मनाया जायगा, पर इससे समाज पर क्या असर होसकता था? बावजूद लोगोंको भ्रममें डालनेवाले इस नोटिसके वितीर्ण होनेके, जनता रविवारको काफ़ी संख्यामें आई। उपस्थिति अनुमान ५०० के लगभग होगी और जयपुर जैन समाजके प्रायः सभी गण्यमान्य सज्जन मौजूद थे। पाठशालाकी प्रबन्धकारिणी कमेटीके सभापति दारोगा मोतीलालजी, मुंशी प्यारेलालजी साहिब कासलीवाल, सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया, सेठ बधीचन्दजी गङ्गवाल, लाला जमनालालजी साह, लाला इन्द्रलालजी लुहाड़िया इमारतवाले, सेठ केसरीचन्दजी बिंदायक्या, लाला मूलचन्दजी काला, सेठ रामचन्द्रजी खिन्दूका, मुंशी गणेशलालजी अजमेरा, मुंशी फूलचन्दजी सोनी, मुंशी गुलाबचन्दजी छाबड़ा वकील, पण्डित कस्तूरचन्दजी साह, पण्डित तिलकचन्दजी सेठी, मुंशी नेमीचन्दजी मथुरावाले व मुन्शी सूर्यनारायणजी सेठी, आदि सभी प्रतिष्ठित सज्जन उपस्थित थे। पूजन व मङ्गलाचरणके बाद पण्डित जवाहिरलालजी शास्त्रीने गत वर्ष की रिपोर्ट पढ़कर सुनाई, व मुन्शी सूर्यनारायणजी सेठीने बड़े मार्मिक शब्दों में पाठशालाके प्रबन्धकी त्रुटियोंकी ओर लोगोंका ध्यान खींचा। इसपर मुन्शी मूलचन्दजी काला बी० ए० भूतपूर्व नाज़िम जयपुर स्टेटके प्रस्ताव पर, अगले वर्ष पाठशालाके प्रबन्ध आदिके लिए १०५ सज्जनोंकी एक जनरल कमेटी और ३१ सज्जनोंकी एक प्रबन्धकारिणी कमेटी चुनी गई तथा अध्यक्ष मुंशी प्यारेलालजी कासलीवाल चुनेगये। इस जलसेमें पं० मानूलालजी व इन्द्रलालजी के अलावा उनकी पार्टीके भी क़रीब क़रीब सभी लोग उपस्थित थे, पर पाठशालाकी बेहतरीके ध्यानके कारण, दस पन्द्रह आदमियोंको छोड़कर बाक़ी सभी पुराने विचारोंके आदमी भी आज उनके विरुद्ध थे। लाला जमनालालजी साह, सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया, लाला सर्वसुखदासजी ख़ज़ानची, मुन्शी फूलचन्दजी कासलीवाल वाक़ानवीस, लाला झूमरलालजी गोदीका, दारोगा मोतीलालजी आदि स्थितिपालक लोग भी पूर्णरूपसे इस विचारके थे कि पाठशालाका इन्तिज़ाम उन लोगोंके हाथमें से लेकर नया प्रबन्ध अच्छे ढंगका किया जाय। सभामें पं० मानूलालजी के समर्थक (जिनकी संख्या ऊपर लिखे अनुसार १०-१५ से अधिक न थी) बीच बीच में अड़ंगा लगानेका प्रयत्न करते थे और चाहते थे कि आजका जलसा किसी प्रकार यों ही खतम हो जाय और नये प्रबन्धकी कोई बात तै न हो। पर, वे लोग कुछ न कर सके और सब काम पूरा होकर लड़कों को मिठाई आदि वितरण होकर जलसा बड़ी शान्तिसे विसर्जित हो गया।

पर, जलसा समाप्त होने के कुछ ही मिनट बाद एक दुःखप्रद घटना हो गई। एक भाई, जो जलसेमें भी बराबर बीच बीचमें बोलते थे, सब काम शान्तिपूर्वक निमट जानेसे मन ही मन बहुत कुढ़ रहे थे। इसी उत्तेजित अवस्थामें उन्होंने किसी भाई को गाली दे डाली। बस, इस पर मामला बढ़ गया और आपसमें मारपीट और धौलधप्प तक की नौबत आगई। नई प्रबन्धकारिणी कमेटीके पक्षके बहुतसे लोग जलसा समाप्त हो जाने पर अपने घरों को चल दिये थे और पाठशाला भवनमें सौ पचास लोग ही बाक़ी रह गये थे। वरना, सम्भव है कि उत्तेजना मिलनेके कारण मामला कुछ गम्भीर रूप धारण कर लेता। शीघ्र ही घटनास्थल पर पुलिस भी आ पहुँची और शान्तिस्थापन हो गया।

दूसरे ही दिन सोमवार को रात को पाठशालाभवन में नई प्रबन्धकारिणी कमेटीका अधिवेशन भी हो गया और कार्यकर्ताओंका चुनाव कर लिया गया। पं० कस्तूरचन्दजी साह, नई प्रबन्धकारिणी कमेटीके मन्त्री तथा पं० जवाहरलालजी शास्त्री, महापाठशालाके मन्त्री और मुंशी सूर्यनारायणजी सेठी वकील व बाबू दुलीचन्दजी साह बी० ए० उपमन्त्री चुने गये। इस प्रकार समाजके प्रायः

सभी प्रतिष्ठित लोगोंके समर्थनके साथ इस नवीन प्रबन्ध-कारिणी कमेटीका चुनाव हुआ है और आशा है कि इसके काम को सफलता मिलेगी। सुना है कि पं० नानूलालजी व इन्द्रलालजी शास्त्री अबभी इस नये चुनावके विरुद्ध प्रोपेगेंडा कररहे हैं और अपनी एक अलग प्रबन्ध-कारिणी कमेटी बनानेका विचार कर रहे हैं। पर नवीन कमेटीने पाठशालाका सब काम अपने हाथमें ले लिया है और काम भी शुरू कर दिया है। इस समय पाठशालाके मुख्याध्यापक पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ हैं तथा संस्कृत अध्यापक पं० दामोदरजी साहित्याचार्य हैं। दोनों ही अच्छे विद्वान् हैं। आशा है कि पाठशाला अब अच्छा काम कर समाज को काफ़ी लाभ पहुँचायेगी।

—सम्वाददाता।

नोट:—उपरिलिखित समाचार गत अंकमें प्रकाशनार्थ प्रेसमें देदिये गये थे किन्तु स्थानाभावसे प्रकाशित न हो सके। प्र०
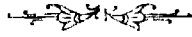
सनातन जैन समाज का पाँचवाँ वार्षिकोत्सव।

भिण्ड (ग्वालियर) में ता० १७, १८, जूनको खण्डवा निवासी श्रीमान् बाबू अमोलकचन्दजी जैन म्यूनिसिपल कमिश्नरके सभापतित्वमें अत्यन्त समारोह व सफलतापूर्वक होगया। सभापतिका स्वागत ता० १६ जूनकी शामको बड़ी धूमधामसे कियागया व जुलूस सारे शहरमें घूमा। चार बैठकें हुई जिनमें उपस्थिति १५००-२००० के करीब रहती थी। इटावा जैन युवक मण्डल की भजनमण्डलीसे उत्सवकी शोभा और भी बढ़गई थी। इनदिनों नगरभरमें विधवाविवाह आदि विषयों की आवश्यकतापर चर्चा होती थी। बाहिरसे कई गणमान्य सज्जन उत्सवमें शरीक हुए थे। निम्नलिखित प्रस्ताव पूर्ण विवेचनके पश्चात् सर्व सम्मतिसे पास हुए:—

(१) महात्मा गांधीने परोपकारार्थ २१ दिनका उपवास करके जो मैत्रीभावनाका परिचय दियाहै उसका यह सनातन जैनसमाज अभिनन्दन करता है और प्रस्ताव करता है कि उनको एक अभिनन्दन-पत्र भेजा जावे।

(२) नवयुवकोंसे प्रेरणाकी जाय कि वे शारदाऐक्ट (बाल-विवाह प्रतिबन्धन क़ानून) का प्रचार करें तथा इस ऐक्टको भङ्गकर १६ वर्षसे कम आयुके बालक व १४ वर्ष से कम आयुकी बालिका का विवाह करने वाले व्यक्तियोंको सरकारसे दण्ड दिलानेका प्रयत्न करें।

(३) मुलतान निवासी श्रीमान पं० अजितकुमारजी शास्त्री न्यायतीर्थ (भूतपूर्व सम्पादक "जैनगजट" व वर्तमान सहसम्पादक "जैनदर्शन") पद्मावती परवारने अपने कुटुम्बी रतनकुमारका विवाह एक ओसवाल जाति की कन्यासे कराकर विजातीय विवाहकी धार्मिकता प्रमाणित करते हुए सत्साहसका परिचय दिया है इसके लिये अभिनन्दन।

(४) खरौआ, गोलालारे, गोलसिंघारे, लमेचू, बुढेले आदि अल्पसंख्यक जैनजातियोंमें परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये प्रेरणा।

(५) भिण्डके सामाजिक वैमनस्य को दूर कर अलग अलग मेले करनेके बजाय सम्मिलित मेला करनेके लिये प्रेरणा।

(६) किसीके मरणके अवसर पर बिरादरीका जीमन करना असभ्य तथा घृणित है तथा यह साधारण भाई बहिनोंके लिये आपत्तिकारी होजाता है अतः कोई जैनीभाई ऐसा बिरादरीका जीमन न करें तथा जहाँ कहीं होता है उसको रोकनेका प्रबन्ध करें और स्वयम् ऐसे भोजका लाभ कभी न लेवें।

(७) संसार यात्रामें चलते हुए स्त्री व पुरुषोंसे दोष होजाना सम्भव है। ऐसी दशामें जैन समाजका कर्तव्य है कि दोषी व्यक्तियोंको प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करले। सनातन जैनसमाजकी सम्मतिमें बहिष्कार की नीति सर्वथा समाजका नाश करने वाली है।

(८) वर व कन्याके विक्रयका विरोध।

(९) यह सनातन जैन समाज हरएक गृहस्थ से अनुरोध करता है कि वे अपने आधीन बाल और युवती विधवाओंके जीवनको सफल और उपयोगी बनाने में पूर्ण प्रयत्न करके अहिंसा धर्मका पालन करें। यदि उनके परिणाम वैराग्यपूर्ण हों तो उनको श्राविकाश्रमों व विद्यालयों

में भेजें और यदि वे ब्रह्मचर्यको पूर्णतया पालनेमें असमर्थ दीखें तो उनका पुनर्विवाह करके गृहस्थ जीवनमें रख देना किसीभी तरह जैनधर्मके चारित्रसे विरुद्ध नहीं है।

(१०) फिजूलखर्चीका विरोध, (११) स्वदेशीवस्तुओंके व्यवहारके लिये प्रेरणा।

(१२) जैनधर्म जीवमात्रको सुख व शांतिका साधन तथा अहिंसाका पाठ पढ़ानेवाला है, इसका प्रचार जगत् मात्रमें करना उचित है। अतएव यह समाज प्रस्ताव करता है कि सर्वजैनी मिलकर एक विशाल फण्ड स्थापित करें, जिससे भिन्न भिन्न भाषाओंमें जैनशास्त्र प्रकाश कराये जावें, व विद्वानोंको देश परदेश भेजा जावे। जैन धर्ममें हरकोई दीक्षित किया जासकता है और वह अपनी योग्यतानुसार मोक्षमार्गमें उन्नति करसकता है।

(१३) जो जातियाँ समाजकी सेवा करके स्वास्थ्यसाधनमें उपकारी हैं उन जातियोंसे घृणा करना महान पाप है। सनातन जैनसमाज प्रस्ताव करता है कि ऐसी अछूत माने जानेवाली जातियोंको स्वच्छता सिखानी चाहिये, उनके बालकोंको शिक्षा दिलाना चाहिये, व उनको उनकी सेवाके बदलेमें अधिक मजूरी देनी चाहिये, जिससे वे स्वच्छ कपड़ोंको पहिन सकें, और अपनी श्रद्धानुकूल धर्मका साधन कर सकें।

(१४) युवकोंके पारस्परिक संगठनके लिये प्रेरणा,

(१५) "सनातन जैन" के प्रचार व उसकी सहायताके लिये प्रेरणा।

(१६) सनातनजैन समितिका निर्वाचन।

—संवाददाता।

लोहरसाजनोंके सम्बन्धमें नसीराबादके पंचोंकी सम्मति।

हम नीचे सही करनेवाले जैन गजट अङ्क ३२ ता० ७ जून १९३३ में प्रकाशित लोहरसाजनोंके विरुद्ध सम्मतियोंका जोरदार विरोध करते हैं। जैन गजट अङ्क ३२ में लोहर साजनोंको दस्सा बतलाया है तथा उनके साथ कच्ची रोटी व्यवहार नहीं है, ऐसी सम्मति भँवरलालजी बाकलीवाल देराठू वालेने प्रकाशित कराई है। यह बिलकुल गलत है। देराठू गाँव हमारे पास है और लोहरसाजनोंके घर हमारे शहर नसीराबादमें ७-८ हैं। उनके साथ बड़साजनोंका कच्चा रोटी व मन्दिरव्यवहार एक सरीखा है, एक समान है—किसी तरहका भेदभाव नहीं है। वे दस्सा नहीं हैं। लोहरे व बड़े ऐसी दो पार्टीका बँक जमानेसे पड़ा हुवा है। ये सम्मतियें इस वास्ते प्रकाशित कराई जाती हैं, जिससे किसी प्रकारका भ्रम न फैल सके।

मिती आषाढ़ वदि १२ सं० १९९० ता० १९ जून १९३३ (१) लिखमीचन्द सेठी (२) राजमल सेठी (३) ताराचन्द सेठी (४) मदनलाल सेठी (५) राजमल चाँदमल छाबड़ा (६) छीतरमल सोनी (७) मूलचन्द चाँदमल बड़जात्या (८) माँगीलाल लुहाड़िया (९) जेठमल सेठी भट्टानी (१०) धारूलाल (११) छीतरमल कासलीवाल (१२) ताराचन्द दोसी (१३) चौथमल चाँदमल (१४) रिधकरण अजमेरा।

नसीराबादमें लोहरसाजन और बड़साजन पक्की और कच्ची रसोईमें शामिल हैं। कोई तरहका हमारे साथमें फर्क नहीं है। बेटी व्यवहार नहीं है। यह मामला खण्डेलवाल महासभामें भी पास हो गया है। अब नाहक (झगड़ा) करना लाजिम नहीं है। द० लखमीचन्द सेठी नसीराबाद

प्रेषक—गुलाबचन्द बैद नसीराबाद।

नोटः—लोहरसाजनोंके सम्बन्धमें जाँच करने के लिये खण्डेलवाल महासभाने श्रीमान् रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी, सेठ चैनसुखजी पाँड्या, पंडित श्रीलालजी पाटणी, रायसाहब घेवरचन्दजी गोधा, सेठ जमनालालजी साह, पण्डित इन्द्रलालजी शास्त्री प्रभृति ९ महानुभावोंकी एक सबकमेटी बनाई थी जिसने पूर्णतया विचार कर सम्मति दी है कि—'लोहरसाजन दस्सा नहीं हैं, इनके साथ बीसोंका (बड़साजनका) रोटी व्यवहार (कच्ची पक्की दोनों का) शामिल है, पूजन प्रक्षाल, मुनि आहारदानादि में भी कुछ रुकावट नहीं है; परन्तु बेटी व्यवहार

शामिल नहीं है। अतः लोहरसाजनोंके साथ बेटी व्यवहारके सिवाय बाकी कामोंमें किसी प्रकार रुकावट नहीं होनी चाहिये। लोहरसाजन किस तरह अलग रहे, इसका पूरा निर्णय होना चाहिये। जब तक पूरा निर्णय न हो तब तक बेटी व्यवहार चालू नहीं किया जाये।"

सीकर निवासी श्रीमान् पण्डित कन्हैयालालजी इस सम्बन्धमें भारतवर्षकी विभिन्न पंचायतियों व प्रमुख पुरुषों की सम्मतियाँ संग्रह कर रहे हैं; उनके पास आई हुई सम्मतियोंमें साफ़ मालूम होता है कि लोहरसाजन दस्सा नहीं हैं तथा बीसा खण्डेलवालोंका उनके साथ रोटी व्यवहार बिना रोक टोक होता रहा है। मुरादाबाद, बहजोई, हरियाना रामपुर, अमरोहा, आदिसे तो यहाँ तक सूचना मिली है कि वहाँ लोहरसाजनोंका बड़साजनोंके साथ रोटी व बेटीव्यवहार दोनों सदा से जारी हैं।

आज कल लोहरसाजनोंके सम्बन्धमें मुनिवेषी चन्द्रसागरजीने अकारण झगड़ा खड़ा कर रखा है। शान्तिसागर संघ जब रेवाड़ी गया था तो वहाँ लोहरसाजन भाइयोंने भी आहारदान दिया था। किसी ने इसपर एतराज़ किया तो शान्तिसागरजीने खंडेलवाल महासभासे इस प्रश्नको तय करानेकी सलाह दी। तदनुसार यह प्रश्न खण्डेलवाल महासभाके सम्मुख पेश हुवा और उसकी सबकमेटीने अपनी जो सम्मति दी वह ऊपर उद्धृत की जाचुकी है। उसके बाद उसी संघके वीरसागरजी आदिने डिग्गी में लोहरसाजनोंके यहाँ आहार लिया। चन्द्रसागरजी (उर्फ़ खुशालचन्द्रजी पहाड़्या) जन्मसे बड़साजन खण्डेलवाल हैं। मुनिवेष धारण करलेने परभी आप लोहरसाजन भाइयोंके प्रति विद्वेषभावको नहीं त्याग सके है। आप शायद लोहरसाजनोंको दस्सा समझते हैं और इसलिये आप यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि वे भी बड़साजनोंकी भाँति आहारदानका पुण्य (?) लूट सकें। आप यह चाहते थे कि शांतिसागरजी लोहरसाजनके यहाँ आहार लेने वाले व्यक्तियोंको दण्ड दें तथा यह आज्ञा जारी करदें कि आयन्दा कोई लोहरसाजनोंके यहाँ आहार न लें। इस विषय पर चन्द्रसागरजीने शान्तिसागरजीसे बहुत झगड़ा किया और उनपर हर तरहका दबाव डाला; किन्तु हर्ष है कि इस मौक़ेपर शान्तिसागरजीने नैतिक साहस प्रदर्शित किया और इनकी धमकियों की किंचित मात्र भी परवाह न कर सत्य पर अड़े रहे। इसपर चन्द्रसागरजी खिसियाकर संघके कुछ सदस्यों व सदस्याओंको साथ लेकर संघसे अलग होगये। आज कल आपका मुख्य कार्यक्रम यही है कि लोगोंको उलटा सीधा बहका कर उनसे, लोहरसाजनोंके साथ जो रोटीव्यवहार बरसोंसे चालू है उसे बन्द कराना। संक्षेपमें, अपने गुरु व आचार्य की आज्ञाका उल्लंघन करनेके कारण वे गुरुद्रोही हैं, तथा एक महाव्रती साधुका वेष धारण करते हुए भी समाजमें परस्पर विद्वेष फैलाते हैं, अतः धर्मद्रोही हैं। खण्डेलवाल महासभाके विरोधमें प्रचार करनेके कारण उसके अनुयायियोंके दृष्टिमें वे समाजद्रोही भी हैं। दुर्भाग्यसे ऐसे गुरुद्रोही समाजद्रोही व धर्मद्रोही व्यक्तिकी पीठ ठोकनेवाले व्यक्ति भी समाजमें मौजूद हैं जो जबर्दस्ती शास्त्रोंका पुछल्ला लगाकर समाजको भुलावेमें डाल रहे हैं और व्यर्थ उच्छृंखलता फैला रहे हैं। साधारण जनता वेषपूजाके मोहसे ग्रसित है और यह जानते हुए भी कि चन्द्रसागरजी अपने गुरु शान्तिसागरजीके प्रति द्रोहकर रहे हैं, वह बिना विचारे चन्द्रसागरजी व उनके साथीबारियोंके पाँवोंमें नाक रगड़नेको तैयार है। हर्ष है कि प्रकाशक जैनगजटने भी मुनिवेषी चन्द्रसागरजी के इस गुरुद्रोहकी निन्दा करते हुए लिखा है कि—गुरुकी बिना परवानगी स्वतन्त्र विचरने वाले कभी जैनसाधु नहीं कहा सकते। —प्र०।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१६ जुलाई सन् १९३३

वर्ष ८

अङ्क १८

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

जैन जगत्

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीख़को प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

स्थानीय चर्चा।

अपने गुरु शांतिसागरजीसे बगावत कर तथा कूट नीतिसे उनके संघके श्रुतसागरजी तथा दो क्षुल्लिकाओं को अपने साथ मिलाकर चंद्रसागरजी यहाँ आये हैं और चार महीनेके लिये यहीं पर पड़ाव डाला है! आपके खयालमें जनेऊ स्वर्गकी सीढ़ी है और आजन्म शूद्रजल-त्याग मोक्षकी कुंजी है। आप आजन्म शूद्रजलत्याग करनेवालेके हाथका ही आहार लेते हैं। आपके उपदेश का मुख्य विषय यही रहता है, किन्तु अफ़सोस है कि आप शूद्रकी परिभाषा तक नहीं बतला सकते—शूद्रजल-त्यागकी आवश्यकता, उपयोगिता व उसकी धार्मिकता बतलाना तो बहुत दूरकी बात है! केकड़ीमें श्रीदिगम्बर जैन सरस्वती भवनके मंत्री श्रीमान् पं० मिलापचंद्रजी कटारिया तथा पं० पन्नालालजी पाटणीने इस विषयपर चर्चाकी तो आप बगलें झाँकने लगे और आपके अंधभक्त गुलगपाड़ा मचानेलगे और हाथापाई करने तकपर आमादा होगये। हमारे स्थितिपालक बंधु कहा करते हैं कि शूद्र क्षुल्लक दीक्षाका अधिकारी है। आश्चर्य है कि जो शूद्र क्षुल्लक होकर श्रावकों द्वारा पूज्य होता है, उसके हाथका छुआ हुवा पानी इतना निकृष्ट बताया जाता है कि उसका आजन्मत्याग करने पर ही मुनिको आहारदान करनेकी योग्यता प्राप्त हो सकती है! पं० मिलापचंद्रजीने शूद्रजल-त्यागके सम्बन्ध में मात प्रश्न जैनमित्रमें प्रकाशित कराये हैं। हमें आशा नहीं कि चंद्रसागरजी या उनके भक्त उनका उत्तर देनेका प्रयास करेंगे। मुँह छिपानेके लिये पेटेंट बहाना मौजूद ही है कि जैनमित्र बहिष्कृत पत्र है तथा उसका पढ़ना पाप है।

शूद्रजलत्याग करनेवाले भक्तोंकी सुविधाके लिये आपने कुछ रियायतें निकाली हैं। शूद्रजलत्यागी टोंटी (नल) का पानी पीसकता है, बाज़ारका दूध पीसकता है, मावेके पेड़े वगैरह खा सकता है, चने सेव आदि खा सकता है। चमड़ेका प्रयोग होने, तथा जिवाणी वापिस उसी जलाशयमें न पहुँचा सकने आदि कई कारणोंसे टोंटीका जल आमतौर पर पीने व रसोईके काममें नहीं लिया जाता परन्तु चंद्रसागरजीके फतवेके अनुसार टोंटी का जल शुद्ध व पवित्र है! बाज़ारका दूध, जिसमें आम तौरपर पानी मिला हुवा होता है, प्रायः मुसलमान घोसियों व मेर चीते आदि जातियों द्वारा बिकनेके लिये आता है। परन्तु शूद्रजलत्यागीके लिये वह भी ग्राह्य है! धर्म में तर्क या अकल का दख़ल नहीं होसकता!

आपके मंतव्य बड़े विचित्र हैं। आप स्वराज्य तथा स्वराज्यवादियोंका मखौल उड़ाते रहते हैं। कहते हैं—स्वराज्य लेना है तो ईसाई होजाओ, वहाँ तुम्हें पूरी स्व-

न्त्रता मिलेगी—मानो जैनधर्म गुलाम धर्म है और गुलामी सिखाता है! नुकता (मोसर) प्रथाके आप कट्टर हिमायती हैं। आपके खयालसे "जिसके यहाँ उसकी बिरादरी नुकता जीमकर चुल्लू न भरे, उसका सर्व पुण्य क्षय होजाता है तथा जो नुकता करदेता है, उसके यहाँ सर्व पुण्य आ घिरते हैं।" जैनधर्मको अपने कर्मसिद्धान्त का गौरव है लेकिन आपके हाथों उसका श्राद्ध किया जा रहा है। आपके मतसे मंदिर भंडारका द्रव्य विद्यालयोंमें नहीं लगाना चाहिये क्योंकि वह निर्माल्य है! जब मंदिर की जाजम, दरी, चौकी, दुपट्टे, थाल वगैरह श्रावक शास्त्र सभा, स्वाध्याय व पूजाके लिये उपयोगमें लेसकते हैं तब मंदिरका द्रव्य धार्मिक शिक्षाके लिये उपयोगमें क्यों नहीं लिया जासकता? आप चर्चासागर, त्रिवर्णाचार, सूर्यप्रकाश आदि ग्रंथोंको पूर्णतया आगमानुकूल बताते हैं।

अभी आपके भक्तोंकी संख्या मामूली है। बहुत कुछ प्रयत्न करने परभी अभीतक केवल २०-२२ व्यक्तियोंने ही शूद्रजलत्याग किये हैं। ये त्याग जन्मपर्यन्तके लिये हैं या केवल चार मासके लिये, यह चौमासे बाद मालूम होगा। बहुत दबाव देनेपर भी अभी तक श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीने शूद्रजलत्याग नहीं किया है।

चंद्रसागरजी गोबरपंथके प्रमुख प्रचारक हैं परन्तु भक्त मंडलीमें साधारण श्रेणीके लोग होनेके कारण अभी आप अपनी इच्छाओंको मनमेंही दबायेहुए हैं। एक बार आपने तेरहपंथ-बीसपंथके प्रश्नको छेड़कर पारस्परिक विद्वेष फैलाना चाहा था किन्तु उनके भक्तोंने ही उन्हें डाँटदिया।

इन लोगोंकी कई क्रियाएँ बड़ी हास्यास्पद हैं। शास्त्राज्ञाके विरुद्ध स्त्रियाँ इनके शरीरको स्पर्श करती हैं। आहारके लिये पड़गाहते समय श्रावकको दरवाज़ेके बाहिर ही इनकी तीन प्रदक्षिणा लगानी पड़ती है, जनेऊ दिखानी पड़ती है तथा आजन्म शूद्रजलत्यागका ज़िकर भी करना पड़ता है। तब कहीं आप घरमें प्रवेश करते हैं। इसमें कहीं ज़राभी त्रुटि हुई कि आप अपना अपमान समझ कर लौट पड़ते हैं। वैसे तो ये लोग चौके तक जा कर तथा भोजनका सामान देखकर भी वापिस लौटआते हैं और फिर दूसरेके यहाँ जाते हैं, तथा एकएक श्रावक के मकानके आगे कई बार चक्कर लगाते हैं। यहाँ श्रावकों के क़रीब ६०० घर हैं किन्तु इन लोगोंके लिये केवल सात आठ घर रसोई बनाई जाती है।

यहाँ अक्टूबरमें आर्यसमाजकी ओरसे श्रीदयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दि उत्सव होगा। उसी अवसरपर स्वदेशी प्रदर्शिनी, हिन्दूमहासभाका वार्षिक अधिवेशन आदि कई उत्सव होंगे। स्वदेशीप्रदर्शिनीके प्रबन्धके लिये जो प्रबंधकारिणी कमेटी बनाई गई है, उसमें केवल आर्यसमाजी ही नहीं किन्तु शहरके प्रायः सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति हिंदू व मुसलमान सम्मिलित हैं। श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी उसके उपसभापति हैं तथा उसमें पूर्ण योग देरहे हैं। चंद्रसागरजीकी उलटी समझमें सेठ साहबका स्वदेशी प्रदर्शिनीमें भाग लेनाभी धर्मविरुद्ध है। सेठ साहबपर बहुत दबाव दिया जारहा है कि वे उपसभापति पद त्यागदें तथा स्वदेशी प्रदर्शिनीमें किसी प्रकारकी सहायता न दें। आशा है सेठ साहिब विवेक व दृढ़तासे काम लेंगे और जैनधर्मके नामपर कालिमा न लगने देंगे। —प्रकाशक।

ब्यावर समाचार।

ब्यावरमें कोई खास उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। शांतिसागर संघने गतवर्ष जयपुरमें जो गोबरपंथका प्रचार शुरू किया था, उस विषयमें वह अभीतक मौन है। संघविच्छेदके कारण गोबरपंथप्रचारक चंद्रसागरजी व क्षु० ज्ञानसागरजी अलग अलग होगये हैं और अकेले रहजानेके कारण दोनोंही मनमसोसे बैठे हैं। इसके अतिरिक्त यह क्षेत्र भी गोबरपंथ प्रचारके उपयुक्त नहीं है।

कुछ दिन पहिले एक रोज़ शान्तिसागरजी ध्यानारूढ़ होनाही चाहते थे कि उस कमरेकी मोरीमेंसे एक साँप निकला। वह तत्काल पकड़लिया गया, और जङ्गलमें छुड़वा दिया गया। लेकिन इस मामूलीसी घटनाके विषयमें अन्धभक्तोंने प्रकट किया कि एक अत्यन्त ज़हरीला साँप आचार्य महाराजके शरीरपर लिपट गया, दो घण्टे तक लिपटा रहने के बाद, महाराजकी तीन प्रदक्षिणा लगाकर तथा उनको नमस्कार कर लौट गया। कुछ प्रत्यक्षदर्शियोंके नाम भी गढ़ लिये गये। अतिशय ऐसेही कल्पित हुआ करते हैं।

मुनिवेषी ज्ञानसागरजीने कुछ अर्से पहिले एक गाँव में अधूरा केशलौंच किया था, वह ब्यावरमें पूरा कराया गया। सुना है कि वे अपने हाथसे बाल न उखाड़ सके अतः दूसरे मुनिवेषीने उखाड़े। परीषह सहन न करसकने के कारण इनको छः उपवासका दण्ड दिया गया। ये हज़रत कई वर्ष पहलेके मुनि बताये जाते हैं। समझमें नहीं आता कि इन्होंने अब तक केशलौंच कैसे किये होंगे। —प्र०।

वर्ष ८
श्रावण कृष्णा ९
वीर संवत् २४५९
जैनजगत्
अंक १८
ता० १६ जुलाई
सन् १९३३ ई०

जैनधर्म का मर्म ।

(३०)

प्रचलित मान्यताओंमें शंकाएँ ।

इस अध्यायके प्रारम्भमें जो मैंने प्रचलित मान्यताओंकी संक्षिप्त सूची दी है, उसमें से दर्शन ज्ञानकी चर्चा कीगई है। परन्तु उस सूचीका बहुभाग विचारणीय है। इससे मालूम होगा कि भगवान महावीरके समयमें इन विषयोंकी मान्यता कुछ दूसरीही थी। वह विकृत होगई है; उनका मर्म अज्ञात होगया है। इसलिए जबतक उनकी शुद्धि न कीजाय तबतक सब शंकाओंका ठीकठीक उत्तर नहीं होसकता। यहाँ मैं शंकाओंकी सूची रखता हूँ।

(१) अवधि और मनःपर्ययमें मनकी सहायता नहीं मानी जाती, परन्तु आलापपद्धतिमें इन दोनोंको और नन्दीसूत्रमें केवलज्ञानको भी मानसिक कहा. इसका क्या कारण है ?

(२) मनःपर्यय ज्ञान अगर प्रत्यक्ष ज्ञान है तो उसके पहिले मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं होता ? अगर उसके पहिले ईहा आदि किसी ज्ञानकी जरूरत होती है, तो उसे प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं ? क्योंकि जो ज्ञान दूसरे ज्ञानको अन्तरित करके होता है उसे प्रत्यक्ष नहीं कहते।

(३) मनःपर्यय ज्ञान अवधिज्ञानसे उच्च श्रेणी का है, फिर उसका क्षेत्र क्यों कम है ? अथवा मनःपर्यय अवधिसे उच्च श्रेणीका क्यों है ? अगर मनःपर्ययमें विशुद्धि ज्यादः बतलाई जाय तो विशुद्धिकी अधिकता क्या है ? गोम्मटसार आदि ग्रंथोंके अनुसार अवधिज्ञान परमाणु तक जान सकता है। मनःपर्यय इससे ज्यादः सूक्ष्म क्या होगा ? अवधिज्ञानी सभी भौतिक पदार्थोंका प्रत्यक्ष करसकता है, परन्तु मन पर्यय ज्ञानी मनके सिवाय अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं करसकता। द्रव्य मनका प्रत्यक्ष अवधिज्ञानीभी करसकता है, फिर मनःपर्यय ज्ञानीकी विशेषता क्या है ? मनकी अपेक्षा कर्म बहुत सूक्ष्म है। अवधिज्ञानी जब कर्मोंका प्रत्यक्ष करलेता है, तब वह मनका भी प्रत्यक्ष करसकेगा।

(४) मनःपर्यय ज्ञान सिर्फ मुनियोंके ही क्यों होता है ? भौतिक पदार्थोंके ज्ञानके लिये महाव्रत अनिवार्य क्यों है ? (वस्तुस्वभाव ऐसा है, दूसरोंमें योग्यता नहीं है, आदि अन्धश्रद्धागम्य उत्तरोंकी यहाँ जरूरत नहीं है)।

(५) मतिज्ञान के ३३६ भेदों में अनिःसृत और अनुक्तभेद भी आते हैं जिनमें एक पदार्थ से दूसरे पदार्थका ज्ञान किया जाता है। इसलिये श्रुत को मतिज्ञान के भीतर शामिल क्यों नहीं करलिया जाता ? संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध मतिज्ञान हैं परन्तु इसमें एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है, इसलिये उन्हें श्रुतज्ञान क्यों न कहाजाय ?

(६) अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको अगर श्रुत ज्ञान कहा जाय तो श्रुतज्ञानके भेदोंमें सिर्फ शास्त्रोंके ही भेद क्यों गिनाये गये ? शास्त्रज्ञानसे दूसरी जगह भी अर्थसे अर्थान्तर का ज्ञान होसकता है।

(७) जिसप्रकार मतिज्ञान में जाने हुए पदार्थों पर विचार करनेमें श्रुतज्ञान होता है उसीप्रकार अवधिज्ञान से जाने हुए पदार्थों पर विचार करने से भी श्रुतज्ञान होना चाहिये। तब श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक ही क्यों कहा ? अवधिपूर्वक या मनःपर्यय पूर्वक भी क्यों न कहा ?

(८) दर्शन को सामान्यविषयक और अप्रमाण मानने में जो पहिले शंकाएँ कीगई हैं उनका समाधान क्या है ?

(९) विभङ्गावधि के पहिले अवधिदर्शन क्यों नहीं होता ? अवधिज्ञान और विभङ्गावधिमें ज्ञान की दृष्टिसे क्या अन्तर है, जिससे एकके पहिले अवधिदर्शन है और दूसरे के पहिले नहीं है ?

(१०) मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंग नव पूर्वसे अधिक ज्ञान क्यों नहीं होसकता ? जो यहाँतक पढ़ गया उसे पाँच पूर्व पढ़नेमें क्या कठिनाई है ?

और भी शंकाएँ हैं जिनका ठीकठीक उत्तर नहीं मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि आगमकी परम्परा छिन्नभिन्न होजानेसे मूल आगम इस समय उपलब्ध नहीं है। खासकर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन पाँचों ज्ञानोंका वास्तविक स्वरूप इस समय जैन शास्त्रोंमें स्पष्ट रूपमें नहीं मिलता। कुछ संकेत मिलते हैं, जिनकी तरफ लोगोंका ध्यान आकर्षित नहीं होता। यह भूल कभी की सुधर गई होती परन्तु जैनियोंको इस बातकी बहुत चिन्ता रही है कि हमारे शास्त्रोंमें पूर्वापर-विरोध न आजावे। इसलिये जहाँ एक आचार्यसे भूल हुई कि सदाके लिये उस भूलकी परम्परा चली। उनको यह भ्रम होगया था कि अगर हमारे वचन पूर्वापरविरुद्ध न होंगे तो सत्य सिद्ध होजावेंगे। वे इस बातको भूलगये कि सत्य वचन पूर्वापर अविरुद्ध होते हैं, किन्तु पूर्वापर अविरुद्ध वचन सत्यभी होते हैं और असत्य भी होते हैं। अग्निमें से धूम निकलता है परन्तु अगर धूम न भी निकले तो अग्निका अभाव नहीं होजाता। इसी प्रकार असत्य से पूर्वापरविरुद्धतारूपी धूम निकलता है परन्तु यदि यह धूम न भी निकले तो असत्यतारूप अग्नि नष्ट नहीं होजाती। जैनियोंने असत्यरूप अग्निको बुझानेकी अपेक्षा उसके धूम को रोकनेकी कोशिश अधिक की है। फल यह हुआ कि एकबार जो असत्य आया, वह फिर निकल न सका। उधर पूर्वापरविरुद्धताके रोकनेका प्रयत्नभी असफल गया। जैनशास्त्र पूर्वापर विरोधसे वैसेही भरे हुए हैं जैसे कि अन्य दर्शनोंके शास्त्र। किसी सम्प्रदायमें पूर्वापरविरुद्ध वचन हों तो इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि उस सम्प्रदायमें स्वतन्त्र विचारक जरूर हुए हैं—उसमें सभी लकीरके फ़क़ीर नहीं थे।

खैर, इस चर्चाको मैं यहीं बन्द करता हूँ। श्रुतज्ञानका जब प्रकरण आयगा तब देखा जायगा। यहाँ जो मैंने शङ्काएँ उपस्थित की हैं वे इसलिये कि जिससे लोगोंको सत्यके खोजनेकी आवश्यकता मालूम हो।

उपयोगोंका वास्तविक वर्णन।

उपयोगके दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन और ज्ञान आत्माके दो गुण नहीं हैं, किन्तु एकही गुणकी जुदी जुदी जातिकी दो अवस्थाएँ हैं। चैतन्य, दर्शन अवस्थाको छोड़कर ज्ञानरूप परिणत होजाता* है।

* दर्शनमेव ज्ञानावरण वीर्यान्तरायक्षयोपशम विजृम्भितमर्थ विशेषग्रहण लक्षणावग्रह, रूपतया परिणमते। लघीयस्त्रयवृत्ति ५।

स्वरूपग्रहण अर्थात् आत्मग्रहणको दर्शन कहते हैं। और परवस्तुके ग्रहणको ज्ञान कहते हैं। दर्शन अनुभवरूप है इसलिये इसको चैतन्यभी कहते हैं। यह निर्विकल्पक होता है। ज्ञान कल्पनारूप है इसलिये यह सविकल्पक है।

प्रश्न—दर्शनोपयोग तो सभी प्राणियोंको होता है परन्तु आत्मग्रहण सभीको नहीं होता। आत्मज्ञान तो सम्यग्दृष्टि, कर्मयोगी, केवली आदिको होता है। इसलिए आत्मग्रहण दर्शन कैसे हो-सकता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि आदिको जो आत्मग्रहण होता है वह शुद्धात्मग्रहण है, जोकि विवेकरूप है, हेयोपादेय या कर्तव्याकर्तव्य का भान कराता है। यह शुद्धता या अशुद्धतासे कुछ मतलब नहीं है। यह तो दर्शन शब्दका अर्थ बाह्य पदार्थोंके ज्ञानके लिये उपयोगी आत्मग्रहण है।

प्रश्न—बाह्य पदार्थोंके ज्ञानके लिये उपयोगी आत्मग्रहण कैसा ?

उत्तर—हम किसीभी बाह्य पदार्थको तभी ग्रहण करसकते हैं जब उसका कुछ न कुछ प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है। जैसे—हम किसी पदार्थको तभी देखते हैं जब उसमेंसे किरणें अपनी आँख पर पड़ती हैं। जबतक उसकी किरणें आँखोंपर नहीं पड़तीं तबतक वह दिखलाई नहीं देता। अँधेरेमें हमे दिखाई नहीं पड़ता उसका कारण यही है। चक्षु अपने शरीरका एक अवयव है, जिसके साथ कि आत्मा बँधा हुआ है। इसलिये आत्मा चक्षुके ऊपर पड़े हुए प्रभावोंका अनुभव करता है। यही दर्शन है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों और मनके ऊपर पड़े हुए प्रभावोंका अनुभव करना भी दर्शन है। इस दर्शनके बाद जो हमें पर पदार्थकी कल्पना होती है, उसे ज्ञान कहते हैं। घड़ेने जो हमारे ऊपर प्रभाव डाला उसका जो हमें अनुभव हुआ वह दर्शन है, और उस अनुभवसे जो हमें घड़ेके अस्तित्व आदि की कल्पना हुई वह ज्ञान है।

प्रश्न—यदि ज्ञान कल्पनारूप है तबतो मिथ्या कहलाया।

उत्तर—कल्पना होनेसे ही कोई असत्य नहीं होजाता। जो कल्पना निराधार अथवा असत्याधार होती है वह असत्य कहलाती है। जिसको सत्य आधार है वह असत्य नहीं कहलाती। ज्ञानका आधाररूप, दर्शन सत्य है इसलिये ज्ञानरूप कल्पना सिर्फ कल्पना होनेसे असत्य नहीं होसकती। अनुमान उपमान आदि कल्पनारूप होनेपर भी असत्य नहीं कहलाते।

प्रश्न—कल्पना होनेसे असत्य होना भलेही अनिवार्य न हो, परन्तु कल्पनाको प्रत्यक्ष कभी नहीं कहसकते। इसलिये सभी ज्ञान परोक्ष होंगे। सिर्फ दर्शन ही प्रत्यक्ष कहलायगा।

उत्तर—वास्तवमें प्रत्यक्ष तो दर्शनही है, फिर भी दर्शनमें प्रत्यक्ष शब्दका व्यवहार नहीं होता इसका कारण यह है कि कोई दर्शन परोक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष और परोक्ष ये परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। जहाँ परोक्षका व्यवहार नहीं, वहाँ प्रत्यक्षका व्यवहार निरुपयोगी है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद परपदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा से है। आत्मग्रहणकी दृष्टिसे न तो कोई अप्रमाण * होता है न परोक्ष †। इसलिये पर पदार्थ

* भाव प्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते। आप्तमीमांसा।

† ज्ञानस्य बाह्यार्थापेक्षयैव वैशद्यावैशद्ये देवैः प्रणीते। स्वरूपापेक्षया सकलमपि ज्ञानं विशदमेव। लघीयस्त्रय-टीका।

के ग्रहणकी स्पष्टता अस्पष्टतासे प्रत्यक्ष परोक्षका व्यवहार करना चाहिये।

प्रश्न—दर्शनकी अपेक्षा तो सभी ज्ञान परोक्ष हुए तब किसी ज्ञानको प्रत्यक्ष और किसीको परोक्ष कैसे कहा जाय?

उत्तर—जिस ज्ञानमें किसी दूसरे ज्ञानकी जरूरत न हो अथवा अनुमानादिसे स्पष्ट हो वह प्रत्यक्ष और इससे विपरीत परोक्ष। स्पष्टता अस्पष्टताका विचार हमें दर्शनकी अपेक्षा नहीं, किन्तु एक ज्ञान से दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करना है। आँखोंसे जो हमें कोई पदार्थ दिखाई देता है उसका ज्ञान, दर्शन के समान स्पष्ट भलेही न हो परन्तु अनुमान आदि से स्पष्ट है इसलिये प्रत्यक्ष है।

प्रश्न—यदि स्वात्मग्रहण दर्शन है और पर ग्रहण ज्ञान, तो जितने तरहका ज्ञान होना है उतनेही तरहका दर्शन होना चाहिये।

उत्तर—ज्ञान विशेष ग्रहणरूप है और उसका क्षेत्र विस्तृत है इसलिये उसके बहुत भेद हैं। दर्शन के बाद प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसके बाद परोक्ष ज्ञानोंकी परम्परा चालू होजाती है। इसलिये ज्ञान के भेद बहुत होजाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानके मूलमें दर्शन होता है, परोक्ष ज्ञानके मूलमें दर्शन नहीं होता है। इसलिये दर्शनके सिर्फ उतनेही भेद होसकते है जितने प्रत्यक्षके होते हैं। परोक्ष सम्बन्धी भेद नहीं होसकते। दूसरी बात यह है कि ज्ञानका भेद तो ज्ञेयके भेदसे होजाता है परन्तु आत्माके ऊपर पड़ने वाले प्रभावमें इतना शीघ्र भेद नहीं होता। मतलब यह कि ज्ञानमें जितनी जल्दी वर्गभेद होसकता है उतना दर्शनमें नहीं, क्योंकि दर्शनका विषयक्षेत्र सिर्फ आत्मा है।

प्रश्न—दर्शन और ज्ञानकी इस परिभाषाके अनुसार पदार्थभी ज्ञानमें कारण सिद्ध हुआ। परंतु जैन लोग तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें पदार्थको कारण नहीं मानते।

उत्तर—पदार्थको ज्ञानोत्पत्तिमें कारण नहीं माननेका मतलब यह है कि ज्ञानकी उत्पत्ति में पदार्थका विशेष व्यापार नहीं होता। जिस प्रकार देखनेके लिये आँखको कुछ खास प्रयत्न करना पड़ता है उस प्रकार पदार्थको देखनेके लिये कुछ खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता*। पीछेके कुछ जैन नैयायिकोंने इस रहस्यको भुलादिया और पदार्थकी ज्ञानकारणता को असिद्ध करनेके लिये निष्फल प्रयत्न किया। जैन शास्त्रोंमें जहाँभी अवग्रह आदि की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है वहाँ अर्थ आवश्यक बतलाया है। 'इन्द्रिय और पदार्थके सन्निपात (योग्य स्थान पर आना) होने पर अवग्रह होता है'† इस भावका कथन सर्वार्थसिद्धि, लघीयस्त्रय, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। मतलब यह कि प्रत्यक्षके लिये अर्थ आवश्यक तो है परन्तु इन्द्रियोंके समान उसका विशेष व्यापार न होनेसे उसका उल्लेख नहीं किया जाता।

* अर्थो विषयस्तयोर्योगः सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं। तस्मिन् सति उत्पद्यते इत्यर्थः। ननुअक्षवदर्थोऽपितत्कारणं प्रत्यक्षमितिचेन्न तद्व्यापारानुपलब्धेः। नहि नयनादिव्यापारवदर्थव्यापारो ज्ञानोत्पत्तौ कारणमुपलभ्यते तस्यौदासीन्यात्। लघीयस्त्रय टीका। अर्थ उदासीन है परन्तु है तो।

† अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकार विकल्पधीः। अवग्रहे विशेषाकांक्षेहावायो विनिश्चयः। लघीयस्त्रय ५। विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। सर्वार्थसिद्धि १ १५। विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। त. राजवार्तिक १-१५-१। अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः। १-१५-२ श्लोकवार्तिक।

प्रश्न—आप स्वरूपग्रहणको दर्शन कहते हो और वह युक्त्यागम संगतभी मालूम होता है परन्तु 'सामान्यग्रहण दर्शन है' इस प्रकार की मान्यता क्यों होगई ? इस भ्रमका कारण क्या है ?

उत्तर—स्वरूपग्रहण वास्तवमें सामान्यग्रहण ही है। ज्ञानमें ज्ञेयभेदसे भेद होता है इसलिये हम उसे विशेषग्रहण कहते हैं, परन्तु दर्शनमें ज्ञानके समान भेद नहीं होता इसलिये वह सामान्यग्रहण है। उदाहरणार्थ जब हमें चाक्षुष ज्ञान होता है तब टेबुल, कुर्सी, पलँग आदिका जुदा जुदा ग्रहण होता है। परन्तु इन सबके चक्षुदर्शनमें तो हमें सिर्फ चक्षुका ही ग्रहण होता है। यही कारण है कि दर्शन सामान्य कहागया है। मतलब यह कि कल्पनाजन्य विशेषताएँ न होनेसे दर्शनको सामान्य कहा है। 'सामान्य' और 'विशेष' वास्तवमें 'ग्रहण' के विशेषण हैं न कि पदार्थके। 'सामान्यरूप ग्रहण' दर्शन है 'विशेषरूपग्रहण' ज्ञान है, न कि 'सामान्यका ग्रहण दर्शन' और 'विशेषका ग्रहण ज्ञान'। मालूम होता है 'सामान्यग्रहण' इस शब्दके अर्थमें गड़बड़ी हुई है। 'सामण्णग्गहण' इस पदके 'सामान्यरूप ग्रहण' और 'सामान्यका ग्रहण' ऐसे दो अर्थ होसकते हैं। पहिला अर्थ ठीक है किन्तु कोई आचार्य पहिला अर्थ भूलगये और दूसरा अर्थ समझे। पीछे इस भूलकी परम्परा चली। 'सामण्णं गहणं' इस पाठ से पहिले अर्थका ही अधिक समर्थन होता है, जिस पाठको धवलकारने भी उद्धृत किया है। 'सामण्णग्गहण'। पाठ सिद्धसेन दिवाकरका है। इससे दोनों ही अर्थ निकलते हैं किन्तु उनने दूसरा ही अर्थ लिया है इससे यह भ्रमपरम्परा बहुत पुरानी मालूम होती है।

दर्शन के भेद।

दर्शन के चार भेद हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन, और केवल दर्शन। चक्षुरिन्द्रिय के ऊपर पड़नेवाले प्रभावों से युक्त स्वात्मग्रहण चक्षुर्दर्शन है, और अन्यइन्द्रियों के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों से युक्त स्वात्मग्रहण अचक्षुर्दर्शन है। अवधिदर्शन और केवल दर्शन का स्वरूप ज्ञान के साथ बताया जायगा।

प्रश्न—अन्य इन्द्रियोंका अचक्षुर्दर्शन नामक एकही भेद क्यों बनाया ? जिस प्रकार चक्षुर्दर्शनका एक स्वतन्त्र भेद है उसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके भी स्वतन्त्रभेद होना चाहिये, जैसे कि ज्ञानमें होते हैं।

उत्तर—ज्ञेयभेदसे ज्ञानमें भेद होता है। क्योंकि उसमें स्पर्श रस गन्ध शब्दका ज्ञान जुदा मालूम होता है। लेकिन दर्शनके लिये चारों एक सरीखे हैं। दर्शनमें जुदे जुदे गुणोंका ग्रहण नहीं होता किन्तु उन गुणवाली वस्तुओंका इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका ग्रहण होता है।

प्रश्न—चक्षुके ऊपर पड़नेवाले प्रभावमें और अन्य इन्द्रियों पर पड़नेवाले प्रभावमें क्या विषमता है जिससे चक्षु-अचक्षु अलग अलग दर्शन कहेगये और स्पर्शन रसन आदिमें परस्पर क्या समता है जिससे वे सब एकही अचक्षु शब्दसे कहेगये ?

उत्तर—चक्षु इन्द्रियसे हम जिस पदार्थको देखते हैं वह पदार्थ चक्षुके साथ संयुक्त नहीं होता किन्तु उसकी किरणें संयुक्त होती हैं। लेकिन अन्य इन्द्रियोंके विषय उनसे स्वयं भिड़ते हैं। इसलिये अन्य इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी जाती हैं और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी मानी जाती है। अप्राप्यकारी

। 'जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं' सं. प्र. २-१। इसमें 'विसेसियं' पद 'ग्रहण' का विशेषण है इसलिये 'सामण्ण' पदभी ग्रहणका विशेषण ठहरा। इसलिये यहाँभी 'सामण्णग्गहण' में षष्ठीतत्पुरुष करना ठीक नहीं।

होनेसे चक्षु इन्द्रिय अन्य इन्द्रियोंसे विषम है और प्राप्यकारी होनेसे चारों इन्द्रियाँ समान हैं * ।

प्रश्न—मनसे होनेवाले दर्शनको चक्षुदर्शनमें शामिल करना चाहिये या अचक्षु दर्शनमें ? चक्षुमें मन शामिल नहीं है इसलिये उसे अचक्षुमे लेना चाहिये । परन्तु अचक्षुमें शामिल करनाभी ठीक नहीं, क्योंकि स्पर्शनादि इन्द्रियोंके समान मन प्राप्यकारी नहीं है ।

उत्तर—मनके द्वारा दर्शन नहीं होता । पारमार्थिक विषयोंका जो मनोदर्शन होता है उसे अवधिदर्शन या केवलदर्शन कहते हैं ।

प्रश्न—जैनशास्त्रोंमें मनसे भी दर्शन माना है और उसको अचक्षुर्दर्शनमें शामिल किया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) की टीकामें इस प्रकार स्पष्ट विधान है ।

उत्तर—'मनोदर्शन मानना और उसे अचक्षुर्दर्शनमें शामिल रखना' इस प्रकारकी मान्यता जैनाचार्योंमें रही अवश्य है परन्तु वह युक्ति. शास्त्र के विरुद्ध होनेसे उचित नहीं है । चक्षु और अचक्षु दर्शनका भेद अप्राप्यकारी और प्राप्यकारीका भेद है । तब अप्राप्यकारी मनोदर्शन प्राप्यकारीके भीतर शामिल कैसे होगा ? अभयदेवजीने मनको अचक्षु के भीतर शामिल तो किया परन्तु शंकाका समाधान नहीं करसके । वे कहते हैं कि "मनः यद्यपि अप्राप्यकारी है, परन्तु वह प्राप्यकारी इन्द्रियोंका अनुसरण करता है इसलिये उसे प्राप्यकारी इन्द्रियोके साथ अचक्षुमें शामिल करलिया"। इस समाधानमें कुछभी दम नहीं है क्योंकि जिस प्रकार मन, प्राप्यकारी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका अनुसरण करता है उसी प्रकार अप्राप्यकारी चक्षुका भी अनुसरण करता है । इसके अतिरिक्त वह अप्राप्यकारी भी माना जाता है । तब वह प्राप्यकारियोंमें शामिल क्यों किया जाय ? अन्य बहुतसे आचार्योंने 'चक्षुर्भिन्न इन्द्रिय दर्शन, को अचक्षु कहा है । उसमें मनको नहीं गिनाया । उनके स्पष्ट न लिखनेसे यह मालूम होता है कि या तो वे मनोदर्शनको मानतेही न थे या उन्हें भी संदेह था जिससे वे स्पष्ट न लिखसके ।

प्रश्न—मनसे दर्शन क्यों न मानना चाहिये ?

उत्तर—मै पहिले कहचुका हूँ कि प्रत्यक्षके पहिले दर्शन होता है, परोक्षके पहिले नहीं । मनसे बाह्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता इसलिये मनसे दर्शन नहीं माना जाता । नन्दी सूत्रमें प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष । इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके भेदसे पाँच भेद हैं । नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे तीन भेद हैं ‡। मतलब यह कि मनसे कोई ऐसा प्रत्यक्ष नहीं बतलाया गया जो मतिज्ञानके भीतर शामिल होता हो । अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद किये गये हैं परन्तु वे मतिज्ञानके बाहर हैं । इसलिये मतिज्ञानको पैदा करनेवाला कोई मनोदर्शन नहीं होसकता जिसे अचक्षुर्दर्शन के भीतर शामिल किया जाय ।

---

* यद्य प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं चेत्युक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्व प्राप्तकारित्वविभागात् । भगवती टीका श. १, सूत्र ३७ ।

‡ मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात् तद्दर्शनस्य अचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति । भ. १. सूत्र ३७ । टीका ।

‡ पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं इंदिय पच्चक्खं नोइंदिय पच्चक्खं च ।३। से किं तं इंदिय पच्चक्खं ? इंदिय पच्चक्खं पंचविधं पण्णत्तं तंजहा-सो इंदिअय पच्चक्खं, चक्खिंदिअ पच्चक्खं, घाणिंदिअ पच्चक्खं, जिब्भिंदिअ पच्चक्खं, फासिंदिअ पच्चक्खं सेतं इंदियपच्चक्खं ।४। सेकिंतं नो इंदिय पच्चक्खं ? नो इंदिअ पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं तं जहा ओहिनाण पच्चक्खं मणपज्जवनाण पच्चक्खं केवलनाण पच्चक्खं ।५।

प्रश्न—यदि आप मन से प्रत्यक्ष न मानेंगे तो मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे होंगे ?

उत्तर—३३६ भेद मतिज्ञानके हैं न कि प्रत्यक्ष ज्ञान के। मैं यह नहीं कहता कि मनसे मतिज्ञान नहीं होता। मैं तो यह कहता हूँ कि मनसे प्रत्यक्ष मति ज्ञान नहीं होता। ३३६ भेद सभी प्रत्यक्ष नहीं हैं।

साहित्य परिचय।

दीक्षानु शास्त्र—प्रकाशक जैनयुवक संघ बड़ौदा। दीक्षाके विषयमें श्वेताम्बर जैन समाजमें बड़ा कोलाहल मचाहुआ है। साधुओंकी पुत्रैषणा वहाँ अनेक अनर्थ कररही है। प्रस्तुत पुस्तकमें दीक्षाके विषयमें अच्छी आलोचना कीगई है। विरोधी लोग अयोग्य दीक्षाके जितने ऐतिहासिक उदाहरण पेश करते हैं उनका ठीक समाधान किया गया है। परिशिष्टमें शास्त्रके सब प्रमाण उद्धृत करके दिये गये हैं। पुस्तक गुजरातीमें है।

प्रमाणनयतत्त्वालोक प्रस्तावना—लेखक अनेकान्ती। प्रकाशक विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला उज्जैन। मूल्य ≈) प्रमाणनय तत्त्वालोक जैन न्यायका सूत्र ग्रंथ है। लेखकने इसकी संस्कृतमें एक छोटी वृत्ति तैयार की थी। उसीकी यह संस्कृत प्रस्तावना अलग छपाई गई है। इसमें वादिदेव का जीवनचरित्र और प्रमाण नय तत्त्वालोकका संक्षिप्त परिचय है।

शारदास्तवन—लेखक कल्याण कुमार 'शशि', प्रकाशक जौहरीमल सर्राफ बड़ा दरीबा देहली। मूल्य)। यह हिन्दीकी एक सरल कविता है।

वीर (कला अंक)—प्रकाशक मंगलकिरन जैन मल्हीपुर सहारनपुर मूल्य १) । अनेक ऐतिहासिक स्थानोंके चित्रोंसे सुशोभित यह विशेषांक दर्शनीय है। लेखभी तदनुसार अच्छे हैं।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

जड़ावबाईकी कहानी।

वैधव्यकी ओटमें और साधु-संसार रूपी नरक में कैसे कैसे भीषणकांड होते हैं, इसका कुछ परिचय जड़ावबाई की कहानीमें मिलता है। इस बाई की मुलाकात 'प्रबुद्ध जैन' के प्रतिनिधिने ली थी। वहीं से यह वर्णन लिया गया है। उस बाईकी कथा उसीके मुँहसे सुनिये !

"दक्षिण महाराष्ट्र में पूनासे पचास मील पर जुन्नेर ग्राम है जहाँ शिवाजीका जन्म हुआ था वहाँ से दश मील पर 'धुल्लिडु होमरू' ग्राम है। वहाँ एक जैन बीसा ओसवालके घर मेरा जन्म हुआ। मेरा नाम रक्खा 'जड़ाव'। लोग कहते हैं कि बचपनमें मेरा विवाह होगया, परन्तु मुझे मालूम नहीं कब हुआ। मैं ससुराल कभी नहीं गई। तेरह वर्ष की उमरमें एक दिन मुझे मालूम कराया गया कि मैं विधवा होगई हूँ विधवा होने पर मेरा घर बाहर वही स्थान होगया जैसा और विधवाओंका होता है। इतनेमें हीराश्री नामक एक साध्वीका नजर मेरे ऊपर पड़ी। उसने मुझे मूँडकर साध्वी बना लिया। विधवा होने से मैं अपशकुन की मूर्त्ति थी, नकामी थी इसलिये कुटुम्बियोंने मुझसे छुट्टी दे दी इस तरह मैं एक भट्टीमें से निकली ...."

"इसके बाद छः मास बीते। मुझे मालूम हुआ कि मेरी गुरुणी और धनरूपविजयके साथ पत्रव्यवहार चलरहा है। दो तीन वर्षतक महाराष्ट्रमें घूमकर हमलोग पालनपुर पहुँचे, वहाँ धनरूपविजय मिला। वह जबतब मिलाकरता, परन्तु मेरे मनमें कोई शंका न आई क्योंकि बाल्यावस्थासे ही मेरे ऊपर यह छाप पड़ी थी कि अपने साधुसाध्वी बहुत पवित्र होते हैं।"

"एकदिन मैंने और मेरी गुरुणी ने पालनपुर से बिदाली। दूसरी जगहसे धनरूप विजय साथ हो-गया। खरेड़ी पहुँचने तक मुझे विश्वास होगया कि मेरी गुरुणीका धनरूप विजयके साथ अनुचित सम्बन्ध है। इसका पता लगतेही धनरूपने मेरे ऊपर कुदृष्टि की। मैं समझतीथी कि विधवाओंके लिये धर्मस्थान, धर्मक्रियाएँ और साध्वियोंका सहवास अधिक उत्तम है, क्योंकि ये लोग नीतिके पुजारी हैं, नीतिके स्थापक हैं, नीतिके पिता हैं। इसीलिये मैंने दीक्षाका मार्ग लिया। परन्तु, यह तो व्यभिचार का अखाड़ा निकला। कदाचित् तुम्हें इसस्थिति का पता न लगे परन्तु मुझ सरीखी दुखिया विधवाओंको इसका पूरा अनुभव है। साधुवेषके भीतर धनविजय सरीखे हवसखोरने एक दिवस मौक़ा पाकर मुझे भ्रष्ट किया। आत्मरक्षाके लिये मैंने बहुत कोशिशकी परन्तु वह असफल हुई और उस पापीका बलात्कार सफल हुआ।"

"मुझे कोई शरण नहीं था कि मैं किसी तरह छूटती। अन्तमें हम तीनोंने साधुवेष छोड़कर गृहस्थवेष धारण किया। धनरूप विजय काठियावाड़ी लिबास पहिन कर भावनगर निवासीके रूपमें अमृत लाल जगजीवन नाम रखकर मेरा बाप बना और हीराश्री मेरी माँ बनी और मेरा नाम 'मणि' रक्खा। मुझे कुमारी बता कर सादड़ीवाले ऋषभदास सरदारमल नामक एक चालीस वर्षके पुरुषके साथ पाँच हज़ार रुपये लेकर मेरा विवाह कियागया। महीकाँठा एजन्सीके 'पोसीना' ग्राममें ऋषभदासके साथ मेरा विवाह हुआ। ५०००) रु० धनविजय और हीराश्रीको मिला। उसमेंसे १५००) रु० मेरे नामपर पोसीनामें रहनेवाले और सादड़ीमें व्यापार करने वाले एक जैनगृहस्थके यहाँ जमा किया गया।"

"डेढ़ वर्ष बाद ऋषभदासकी मौत हुई। सासके अत्याचार शुरू हुए। मुझसे १५००) रु० माँगे जाने लगे, जिन्हें लेनेके लिए मैं उस व्यापारीके पास गई परन्तु उसने दुतकार दिया। अन्तमें एक दिन मेरी सासने मुझे मार पीटकर निकाल दिया।"

अब यह बाई 'खरेड़ी' गाँवके एक मुसलमानी मुहल्लेमें रहती है, मजूरी करती है। एक मुसलमान ने उसकी अनेक प्रकारसे सहायता की है, इसलिये सम्भवतः यह शीघ्र मुसलमान होजायगी। परन्तु अभीतक हुई नहीं है। अभी वह धर्मशालामें बासन माँजना पानी भरना आदिकी मजूरी करती है और किसी तरह पेट भरती है।

इस सत्य घटनापर टीका करना व्यर्थ है। यह स्वयं अपनी टीका है। जो लोग साधुभेषको देखकरही अपना सिर ज़मीनपर ठोकते हैं वे इन नरपिशाचोंके उदाहरणसे आँखें खोलें। और जो लोग विधवाविवाहका विरोध करके विधवाओंको लावारिस मालकी तरह जहाँ चाहे लुटाते रहना चाहते हैं वे जड़ावबाईकी दुर्दशा देखकर कुछ दयालुताका परिचय देकर मनुष्य बनने की कोशिश करें।

अन्ध विश्वासका राज्य।

धर्म सरीखे पवित्र और कल्याणकारक तत्वके नामपर मनुष्य जातिने कितने अन्याय और अत्याचार किये हैं तथा कितना कष्ट उठाया है इसकी कहानी पशुता और पैशाचिकताकी कहानी है। इतिहासके पन्ने पलटिये। इन कहानियोंको पढ़कर आप के रोंगटे खड़े होजायँगे। धर्मके नामपर जीते मनुष्यों को जलाना, जीते ही उनको गर्म तैलके कड़ाहोमें पकाना, हज़ारों आदमियोंका एक एक दिनमें बध-कर डालना, देवताओंके नाम पर पत्थरोंके सामने उनकी बलि देना, स्त्रियोंको डायन ठहराकर मार डालना, यज्ञमें जलाना आदि बातें इतिहास और शास्त्रोंमें लिखीं हैं। पशुबधकी तो बातही न पूछिये। यह सब धर्मके नामपर हुआ है, उस ज़मानेके बड़े

बड़े सर्वज्ञम्मन्य विद्वानोंके हाथसे हुआ है और जब जब इन पापोंका विरोध कियागया है तब तब स्वार्थी पंडितोंने 'धर्म डूबा,धर्म डूबा' का कुहराम मचाया है।

महावीर बुद्ध आदि सैकड़ों सुधारकोंके अनन्त परिश्रमसे यद्यपि इस विषयमें बहुत कुछ सुधार हुआ है तथापि आज भी अन्धविश्वासका राज्य सत्ताहीन नहीं हुआ है। आज भी धर्मके नामपर सब तरहके अन्याय अत्याचार होते हैं। आज भी मनुष्य अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी पटक रहा है।

अभी नासिक जिलेके एक गाँवमें 'मंगलिया' नामक एक आदमीका लड़का बीमार हुआ। उसको ऐसा वहम हुआ कि किसीने डाँकन विद्या अजमाई है। डाँकन निकालनेके लिये उसने 'देवु' नामक एक पंडितको बुलवाया। उसने गाँवके स्त्री पुरुषोंको बुलाया और पानीमें मटरके दाने डालनेको कहा। सबके दाने तो पानीमें डूब गये, किन्तु दुर्भाग्यवश तीन स्त्रियोंके दाने पानीमें न डूबे। बस, पंडितजी ने उन तीनोंको डाँकिन घोषित कर दिया। बस, घोषित होते ही लोगोंने उन बेचारी अबलाओंको मारना शुरू किया। दो को तो जानसे मार डाला और एकको मौतके किनारे भेज दिया। इतना ही नहीं किन्तु उन स्त्रियोंके पतियों पर जुर्माना किया गया जिसमें एक बकरा खरीदकर देवीको चढ़ाया गया। अन्तमें पुलिसने मुक़द्दमा चलाया, जिसमें दो को सात सात वर्षकी, दोको पाँच पाँच वर्षकी और एकको तीन वर्षको सख्त सज़ा हुई।

अभी काँगड़ीमें एक स्त्रीने एक मकानमें आग लगादी। रात्रिका समय था, सब सो रहे थे, हवा तेज़ थी। बस ज्वालाएँ भभक उठीं। आध घंटेमें गाँव स्वाहा होगया। एक मंदिर, एक पाठशाला भी जली; खलिहानोंका अनाज भी जल गया। उस स्त्रीके आग लगानेका कारण यह था कि एक मांत्रिक पंडितने उससे कहा था कि यदि तू चार बच्चों वाली किसी स्त्रीके मकानमें आग लगा आयेगी तो तेरे बच्चोंको काल भी न खायगा। बस, उस श्रद्धालु बाईने श्रद्धाका परिचय दिया। दोनों गिरफ्तार किये गये थे। फिर मालूम नहीं क्या हुआ।

जब धर्मके भीतर अन्धश्रद्धाका राज्य हो जाता है तब ऐसे ऐसे सैकड़ों अनर्थ हुआ करते हैं। खेद है कि इन भीषण पापोंके भीतर उस वर्गका हाथ रहता है जिसे लोग पंडित कहते हैं। जब ऐसी घटनाएँ होने लगती हैं तब ये लोग कहने लगते हैं कि हम इस प्रकारके अत्याचारोंके लिये कब कहते हैं? परन्तु जिस मनोवृत्तिका ये लोग पोषण करते हैं उसी मनोवृत्तिके ये अनिवार्य फल हैं। जो लोग अन्धविश्वासके सामने बुद्धिका स्थान नीचा करते हैं, वे प्रकट या अप्रकट रूपमें इन पापोंका अनुमोदन करते हैं।

देवी देवताओंके अतिशयों पर विश्वास करना, उनके अलौकिक माहात्म्यके गीत गाना, तीर्थंकरों, महात्माओं आदिके जीवनमें इस प्रकारकी विचित्र घटनाओंको ठूँसना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे मनुष्य अन्धविश्वासी बन जाता है और सब तरहके अनर्थ करने पर उतारू हो जाता है।

जैनसमाजमें भी कुछ भट्टारकी साहित्यकी कृपा से इस प्रकार अन्धविश्वासकी सृष्टि हुई है। हमारे नग्न भट्टारक भी एक न एक बुद्धि अगम्य और अनर्थकारी कुतर्कका प्रचार करते रहते हैं। हमारे यहाँ भी होमधूम आगया है, अग्निकुंडके न जले हुए चाँवलोंके गीत गाये जाते हैं, अब भी जैनमंत्रोंकी दुहाई दी जाती है. रोग शान्ति आदिके लिये अभी भी हमारे यहाँ मंत्र तन्त्रों और देवी देवताओंकी पूजाका प्रचार है। मेरे ही प्रान्तमें एक आदमी पागल होगया था जिसकी चिकित्सा न करके देवी देवताओंके नाम पर उसका प्रताड़न किया गया था और गिनतीके दिनोंमें ही उसका जीवन समाप्त कर दिया था। ऐसे ऐसे सैकड़ों अनर्थ हैं जिनका प्रचार

जैनसमाजमें है। अन्धविश्वासका इस प्रकार राज्य और उसके अनर्थमूलक परिणामको देखकरके भी जब पंडितगण तर्कके विरोधमें रूढ़ियों की, शास्त्रों की और विश्वासकी दुहाई देते हैं तब लज्जासे सिर झुक जाता है और हृदयसे एक आह निकलती है।

कुछ मित्रों के आक्षेप।

लेखमालाके विरोधकी जिसप्रकार मैंने आशा की थी वह अभी तक निराशामें परिणत रही है। मेरी निन्दा करनेका कुछ प्रयत्न होता रहता है परन्तु ऐसी निन्दाको तो मैं अपना विजयध्वज समझता हूँ। पंडित अजित कुमारजी ने जैनमित्रमें इसी तरहका एक लेख छपवाया है; और चाँदमलजी काला किशनगढ़ने एक लेख मेरे पास छपने भेजा है जिसमें लेखमालाके किसी विषयका खण्डन नहीं है परन्तु मेरे प्रयत्नको निन्दनीय ठहराया है। महत्त्वपूर्ण न होनेसे तथा स्थानाभावसे यह लेख छापा नहीं जाता। इन दोनों सज्जनोंके आक्षेप निम्न-लिखित हैं:—

१—जैन हितैषी, सत्योदय, जातिप्रबोधक पत्र सो गये। अब वे उठकर मैदानमें नहीं आसकते। उनकी स्थान पूर्ति के लिये जैनजगत मैदानमें आया है, जो कि अपने नित्य नये रूप दिखलाता हुआ आगे बढ़ता हुआ जा रहा है।

२—दिगम्बर सम्प्रदायको गिराने और श्वेताम्बर सम्प्रदायको अग्रेसर करनेका जैनजगतने उद्योग किया है।

३—दरबारीलालजी जैनाभास पंथकी नींव डालना चाहते हैं।

४—जिन आचार्योंने प्रतिवादियोंका गर्व खर्व किया, तारादेवीके छक्के छुड़ाये, जिनके ग्रन्थ पढ़कर दरबारीलाल जीने न्यायतीर्थ पास किया, उनको असत्य ठहराकर कृत-घ्नताकी अञ्जलि दे रहे हैं।

५—मानो पंडित दरबारीलालजीके सिवाय अभीतक कोई ऐसा विद्वान ही नहीं हुआ जो जैनधर्मके रहस्यको समझ पाया हो।

६—दरबारीलालजीने शास्त्रार्थका चैलेञ्ज स्वीकार नहीं किया। कागज़ी घुड़दौड़की इच्छा भी पूर्ण कर दी जायगी।

ये आक्षेप पं० अजितकुमारजी के हैं। चाँदमलजी के आक्षेप निम्नलिखित हैं —

७— जो दिगम्बर जैनोंके पैसेसे अध्ययन कर मनुष्य कोटिमें पहुँचा उसके लिये जैनमान्यता का खण्डन करना और भी निन्दनीय है।

८—मालूम होता है कि पण्डितजी की इच्छा पापाचार फैलानेकी हुई है। प्रत्येक आस्तिक्य (?) सर्वज्ञको मानता है और दुनियाँमें पापोंसे डरता है। पण्डितजीने सोचा कि जब तक लोग सर्वज्ञको मानेंगे तब तक पापोंसे भी डरते रहेंगे, इसलिये सर्वज्ञ की सत्ताको ही दुनियाँसे हटादेना चाहिये, जिससे समग्र दुनियाँ पापाचार करने लग जावेगी और मेरे इस जीवनका उद्देश भी सिद्ध हो जावेगा। क्यों पण्डितजी, यही है न?

९—क्या प्राचीन ऋषि महर्षि मिथ्यावादी थे? स्वार्थी थे? क्या इन्हें महात्मा न समझें? या इनके रचित शास्त्रों का यज्ञ करदें?

१०—अपने अनन्य अनुयायी पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, सेठ ताराचन्द्रजी जवेरीसे कहिये कि अपनी सारी शक्ति इसी सुधारमें लगादें। इससमय आपको सब साधन उपलब्ध हैं। समाजके सभी विद्वान कुम्भकर्णी निद्रा लेरहे हैं। क्या जैन समाज सचमुच गौरव खोचुकी है? छिः! जैनसमाज तेरी इस अकर्तव्यता पर!

११—यदि पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का संरक्षण करना है तो पं० दरबारीलालजी का खंडन होना चाहिये, परन्तु अशान्ति और शान्तिभंग न हो।

उत्तर १—मरना कोई पाप नहीं है। बड़े बड़े महात्माओं को मरना पड़ता है। कल्याणकारी वस्तुओं को भी नष्ट होना पड़ता है। जैनहितैषी आदि अस्त हुए तो क्या हुआ? क्या सत्यवादी, जैन सिद्धान्त, स्याद्वादकेसरी आदि अस्त नहीं हुए? नाटकका अन्तिम अंक देखे बिना नाटकके विषयमें निर्णय करना ठीक नहीं।

उत्तर २— किसी सम्प्रदायको अग्रेसर करनेके लिये जैनजगतका उद्योग नहीं है किन्तु साम्प्रदायिकताका नाश

करनेके लिये है। मुझे किसी सम्प्रदाय को खुश नहीं करना है कि मैं तौल तौलकर विरोध या समर्थन करूँ। जिसमें जितना अंश विरोधके योग्य मिलता है उसका उतना विरोध किया जाता है। लेखमालाकी जिन बातों पर खास विरोध खड़ा हुआ है, वे दोनों सम्प्रदायोंके लिये एकसी हैं। अनेक जगह श्वेताम्बर सम्प्रदायकी बात न मानकर दिगम्बर सम्प्रदायकी मानी है। परन्तु वह सत्यके अनुरोधसे, न कि दिगम्बर सम्प्रदायके अनुरोधसे।

उत्तर ३—दिगम्बर, श्वेताम्बरोंको जैनाभास शब्द हैं; श्वेताम्बर, दिगम्बरों को। इसलिये जैनाभास शब्द कुछ निन्दनीय नहीं रहा है। यदि सत्य और युक्तिसंगतता जैनाभास है तो इससे जैनाभास गौरव की चीज़ होजाती है और "जैन" निन्दनीय हो जाता है।

उत्तर ४—प्रत्येक सम्प्रदायके आचार्य दिग्विजय और प्रतिवादियोंका गर्व खर्व करते रहे हैं। प्रायः समग्र भारत और बर्मा, लंका, तिब्बत, चीन, जापान आदि को बौद्धधर्ममय बनादेने वाले बौद्ध विद्वानोंने प्रतिवादियों का गर्व खर्व, कुछ कम नहीं किया, और इसप्रकारके व्यापक बौद्धधर्म को भारतसे उखाड़ देनेवाले वैदिक विद्वानों ने भी कम दिग्विजय नहीं की। और दक्षिण प्रान्तके जैन राजाओं और प्रजाको जैनधर्मसे अलग करनेवाले वैदिक विद्वानोंनेभी कुछ कम गर्व खर्व नहीं किया। गर्व खर्व का नाम सुनकर अगर हम अपनी बुद्धिको बेंचनेके लिये उतारू होजायेंगे तो हमारी दशा वैनयिक मिथ्यात्वी सरीखी हो जायगी। तारादेवीकी कल्पित और बेहूदी कथामें कुछ तथ्य नहीं है। हो, तो उससे महत्त्व क्या है? अकलंक देवने एक देवीको हरादिया तो क्या बहादुरी की? यहाँ किसी देवी को नहीं, देवको हराना है। ख़ैर, इन निःसार बातोंसे सत्य असत्यका निर्णय नहीं होता। अकलंक आदिके ग्रन्थों को मैंने पढ़ा है। आचार्योंके इस उपकारको मैं अस्वीकार नहीं करता। किन्तु कृतज्ञताका यह अर्थ नहीं है कि हम सत्यान्वेषी न रहें। स्वयं अकलंकने बौद्ध विद्यालयमें शिक्षा पाई थी और ज़िन्दगी भर उनने सत्यके अनुरोध से बौद्धोंका खण्डन किया था। वर्तमानके प्रायः सभी दिगम्बर जैन विद्वान् ब्राह्मणोंके शिष्य हैं, किन्तु क्या इसी लिये वे ब्राह्मणधर्मके गीत गाने लगेंगे? जो सत्यके अनुरोधसे जैनधर्मको स्वीकार करलेते हैं और उनका धर्म छोड़ देते हैं जिनकी गोदमें बैठकर उनने बोलना सीखा है, तो वे क्या कृतघ्न होजाते हैं? इस मूर्खतापूर्ण नीतिको अगर माना जाय तो मनुष्य समाजमें तीर्थङ्कर न होंगे, धर्म न होगा। मनुष्य पशु होजायगा।

अकलंक आदि आचार्य हमारे लिये पिताकी तरह पूज्य, अध्यापक की तरह माननीय और एक प्राचीन वीर नेताकी तरह भक्तिपात्र हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम उनका आदर करें, न कि अन्ध अनुकरण। हमें अज्ञानीकी तरह उनका नाम न रटना चाहिये, उनके गुणोंका, उनके जीवनका अनुकरण करना चाहिये। मान लो हमारा पिता व्यापारी था, उसने लाखोंका व्यापार किया; कभी कभी हज़ारोंका लाभ उठाया, कभी कभी सैकड़ोंका नुकसान भी। मरते समय उसने एक लाख रुपये की पूँजी हमारे हाथमें दी। हमारे पिताने तो एक हज़ार की पूँजीसे व्यापार किया और एक लाखकी पूँजी बनाई। अबहम सोचें कि एक लाखसे ज्यादः पूँजी बढ़ानेसे पिताका अपमान होजायगा तो हम सपूत नहीं, कपूत हैं। हज़ारों पैदा करके भी हमारे पिताने जिन भूलोंसे सैकड़ोंका नुकसान उठाया था, उन भूलोंको हम इसलिये न छोड़ें कि इससे पिताका अपमान होगा तो हम सपूत नहीं, कपूत हैं।

समन्तभद्र और पूज्यपादने जो अकलंक को पूँजी दी उससे अकलंक आगे बढ़े; परन्तु हमें तो उस पूँजी के अतिरिक्त इन बारहसौ वर्षोंमें होने वाले दर्जनों आचार्यों की पूँजी और मिली है। इसके अतिरिक्त भौतिक विज्ञानने तथा अन्य विज्ञानोंने भी पूँजीका ढेर दिया है। इस विशाल पूँजी को पाकरके भी हम दमड़ी छदामका ही व्यापार करते रहें तो हम सरीखा 'कपूत' कौन होगा? पिता और गुरुसे आगे बढ़ना ही सपूतपन है। इसीमें कृतज्ञता है। पूर्वजोंकी भूल सुधार करके ही मनुष्य समाजने विकास किया है और पूर्वजोंका नाम अमर बनाया है।

उत्तर ५—प्राचीन विद्वानोंने अपने अपने समय और वातावरण के अनुसार रहस्यको समझा है। अब

ज्ञानकी पूँजी बढ़ी है, वातावरण अधिक स्वच्छ हुआ है, इसलिये रहस्योद्घाटन भी अधिक होरहा है।

उत्तर ६—शास्त्रार्थ संघके साथ शास्त्रार्थ करनेके लिये जो चर्चा चली थी उसमें संघ किस तरह पीछे हटा, यह जगत्के पाठकों को मालूम है। मैंने लिखित और मौखिक दोनों प्रकारके शास्त्रार्थोंकी स्वीकारता दी थी, परन्तु न तो शास्त्रार्थ संघने चैलेञ्ज देकर भी पूर्वपक्ष भेजा और मुझसे स्थान पूछ करके भी न स्थानपर आनेकी हिम्मत दिखाई। शास्त्रार्थसंघ जैन विद्वानोंसे अन्य किसी विषयपर शास्त्रार्थ नहीं करता, सिर्फ 'शास्त्रार्थ कैसे करना' इसी विषय पर शास्त्रार्थ करता है। दोनों तरफ़का पत्र-व्यवहार आजभी देखा जा सकता है। उसपर से संघकी पीछे हट स्पष्ट होने पर भी जब संघ इस विषयमें इतना झूठ बोल सकता है, तब अगर शास्त्रार्थ हुआ होता तो उसके निर्णयके विषयमें यह कितना झूठ न बोलता? और मौखिक शास्त्रार्थ में तो यह अपने पक्षको ही दिनमें छः बार बदलता। वास्तवमें जो व्यक्ति कमज़ोर हैं जो अपनी बात पर स्थिर नहीं रह सकते, वे मौखिक शास्त्रार्थकी दुहाई देते हैं क्योंकि मौखिक शास्त्रार्थमें मनमाना झूठ बोला जासकता है; और शास्त्रार्थके बाद दूसरोंको विचार करने का मसाला नहीं मिलता इसलिये निरङ्कुशताके साथ अपने मनमाने गीत गाये जासकते हैं। लिखित शास्त्रार्थ करना निर्भय और विद्वानोंका काम है। 'जलंबद सा लिख,' यह कहावत भी इसी बातको बतलाती है कि सौ बातें बकने की अपेक्षा एक बात लिखना कितना कठिन है। मौखिक शास्त्रार्थ तो बाज़ार की कुँजड़ियाँ भी करती हैं, अशिक्षितसे अशिक्षित व्यक्ति भी करता है; परन्तु लिखित चर्चा करनेकी शक्ति रखने वाले हज़ारोंमें भी दुर्लभ हैं। संघ जिसे काग़ज़ी घुड़दौड़ कहता है उसीके द्वारा आचार्यों ने जिनवाणीकी रक्षा की है और अपना नाम अमर बनाया है; इसीमें वीरता है। मौखिक शास्त्रार्थ किस श्रेणी का है और कितना उपयोगी है, इसका प्रमाणपत्र वर्णी दीपचन्दजीने खतौलीके शास्त्रार्थ देखकर दिया है, जो शास्त्रार्थ, शास्त्रार्थसंघकी तरफ़से हुआ था। इससे शास्त्रार्थ संघके शास्त्रार्थोंका मूल्य मालूम होजायगा। समन्तभद्र कॉलेजकी योजना प्रकट करनेवाले ट्रेक्टके प्रारम्भमें वर्णी जी लिखते हैं:—

"ता० १ मई से ४ मई ३३ तक खतौलीमें दिगम्बर जैनसमाजका आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थ था, जिसका हाल आप लोगोंको जैन समाचारपत्रोंके द्वारा विदित हो ही चुका है। उस समय वहाँ पर जैन समाजके अनेक गण्यमान्य धीमान् श्रीमान् पधारे थे। शास्त्रार्थ तो आज कल जैसा होता है वैसा ही हुआ, और फल भी वैसा ही हुआ। इस सबको देख सुनकर बहुतसे विवेकी सज्जनों को तो यही विचार हुआ कि, ऐसे शास्त्रार्थोंसे न तो पदार्थका निर्णय ही होता है और न समाज तथा देशको लाभ ही पहुँच सकता है। इससे तो लिखित शास्त्रार्थ होना ही सर्वोत्तम है, ताकि विद्वत्समाज उभय ओरके विवेचनोंको पढ़ कर किसी निर्णय पर पहुँच सके और किसी प्रकारके वैमनस्य या हुल्लड़बाज़ीका अवसर न आवे।"

ये शब्द पं० गणेशप्रसादजी वर्णीकी तरफ़से सब जगह भेजे गये हैं जो कि शास्त्रार्थसंघके मुख पत्रके सम्पादक हैं। शास्त्रार्थसंघ और मौखिक शास्त्रार्थोंकी यह निष्फलता आज उसीके आदमियोंके मुखसे सुनकर शास्त्रार्थसंघ के शास्त्रार्थोंका और उसके चैलेंजोंका कितना मूल्य है यह पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं।

यों तो जैनसमाजके सभी विरोधी विद्वानोंको मैंने लेखमालाके विरोधके लिये निमन्त्रण देरक्खा है, फिर भी पं० अजितकुमारजीको ख़ास कर निमन्त्रण देता हूँ क्यों कि आप पहिले एक बार मुझसे भिड़ चुके हैं। साथ ही इतनी सूचना भी करता हूँ कि विजातीय विवाहके विरोध में आपने कमसे कम जितनी निःपक्षता रक्खी थी उतनी अब भी रखना। विजातीय विवाह के विरोधके लिये जैन समाजके दर्जनों विद्वान मेरे सामने आये थे, परन्तु एक चोटसे अधिक चोट कोई न सहसका था। सिर्फ़ अजितकुमारजीने तीन चोटें सहीं थीं और अन्तमें जब वे निरुत्तर हुए तब वे विजातीय विवाहके समर्थक बन गये— इतना ही नहीं बल्कि अपने सालेका उनने विजातीय विवाह कराया और इस बातको लेकर अपनी जातिवालों से लड़े। अगर वही निष्पक्षता इनमें अब भी रहेगी तो

मेरी लेखमालाके बड़ेसे बड़े समर्थकोंमें इनका नाम होगा।

उत्तर ७—प्रत्येक मनुष्य अपने माता-पिता और समाजकी सहायतासे मनुष्य बनता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे कृतज्ञताके नाम पर अन्धअनुकरण करके मनुष्यसे फिर पशु बन जाना चाहिये। मैं जो काम कर रहा हूँ वह समाज या धर्मका खण्डन नहीं है किन्तु उसकी बीमारियोंका निराकरण है। रोगी बापके बेटेकी सुपुत्रता इसीमें है कि वह बापकी सेवा करे, न कि उसके रोगकी। बापकी पूजाके साथ उसके रोगकी पूजा करना, उसे निकलने न देना, उसे निकालनेका प्रयत्न न करना मूढ़तापूर्ण कृतघ्नता है। इसका उत्तर चौथे आक्षेपके उत्तर में भी आजाता है।

उत्तर ८—यह आक्षेप ऐसा ऊटपटाँग है कि इस पर हँसी ही आसकती है। जैनी लोग सर्वज्ञको इसलिये नहीं मानते कि वह हमारे पाप पुण्यको जानकर हमें दण्ड देगा। 'अगर सर्वज्ञ न होगा तो पाप पुण्य कौन जानेगा? दण्डानुग्रह कौन करेगा?' इस प्रकारकी मान्यता जैनशास्त्रमें मिथ्यात्व कही गई है। आश्चर्य है कि जैनधर्मकी रक्षाका दम भरने वाले लोग जैनत्वसे इतने अपरिचित हैं। जैनधर्मके अनुसार पुण्य पापका फल देनेका काम उन कर्मस्कन्धोंका है जो सर्वज्ञता क्या, 'ज्ञ' (चेतन) भी नहीं है, बिलकुल जड़ हैं। इसलिये सर्वज्ञके मिटजाने पर भी कर्मफलके दाता बने ही रहेंगे, जो कि पापाचारसे उसी तरह डराते रहेंगे जिस प्रकार अभी डराते हैं।

उत्तर ९—प्रचीन ऋषिमहर्षि मिथ्यावादी, स्वार्थी नहीं थे। वे दुनियाँकी मौज शौकके लिये झूठ नहीं बोलते थे, न स्वार्थिताका परिचय देते थे। परन्तु न तो वे पूर्ण ज्ञानी थे, न पूर्ण वीतराग। सम्प्रदायका पक्षपात या मोह उनमें था, थोड़ी बहुत परम्पराकी गुलामी भी थी। इसका कारण उससमय का वातावरण भी था। ज्ञानके क्षेत्रमें इस प्रकार व्रतोंकी दुहाईका कुछ मूल्य नहीं है। रहे उनके शास्त्र, सो उनका यश उन्हें जलाकर न कीजिये! किन्तु उन्हें निष्पक्षता से पढ़कर उन्हें सत्यकी खोजकी सामग्री बनाकर कीजिये।

उत्तर १०—अभी मेरा अनुगन्ता कोई नहीं है। पण्डित शोभाचन्द्रजीने तो लेखमाला पर सम्मति भी नहीं दी है। इस काममें जो जितनी शक्ति लगायगा, वह मेरे लिये नहीं, सत्यके लिये। मैं तो निकटतम मित्रोंसे भी यही कहता हूँ कि मेरे में जहाँ कहीं असत्य दिखे वहीं प्रहार करो! मैं सत्यके सिवाय मित्रताकी, अग्रजताकी या गुरुताकी दुहाई नहीं देता। जैन समाजके विद्वान कुम्भकर्णी निद्रामें नहीं सोरहे हैं, किन्तु उनमें कई विचार के हैं। एकदल ऐसे विचारकों का है जो मेरी बातोंका समर्थन करता है, परन्तु भयके मारे कह नहीं सकता। दूसरा दल ऐसा है जिनके हृदय और बुद्धिमें झगड़ा हो रहा है—उनका हृदय मेरा विरोध करता है किन्तु बुद्धि मेरा समर्थन करती है। तीसरा दल ऐसा है जो पुरानी सिद्धान्तोंका तथा वर्तमान प्रहारोंका विचार करके सामहने आनेसे डरता है। चौथा दल ऐसा है जो अभी कुछ समझता नहीं। पाँचवा दल ऐसा है जो किसी पक्षका नहीं है, टकाधर्मी है। उसे जितने और जब तक पैसे मिलेंगे तब तक उतना नाच करेगा। यह पाँचवां दल ही आपकी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करेगा। कुछ पैसोंका इन्तज़ाम कीजिये।

उत्तर ११—मान्यताओंके संरक्षणकी अपेक्षा सत्य के संरक्षणके लिये उत्तेजना दी होती तो इसमें आपने जैनत्वका परिचय दिया होता और उसका गौरव भी बढ़ाया होता।

अधिकार हेय या उपादेय?

बहुत दिन हुए हिंदी "जैन गज़ट" में एक भाईने एक छोटासा लेख लिखा था, जिसमें प्राचीन कालके आध्यात्मिक प्रेमकी प्रशंसा थी और आजकलके लोगोंकी निन्दा थी, क्योंकि वे भौतिकवादी हैं। इस वक्तव्यमें कुछ कहना नहीं है। परन्तु लेखकने यहाँतक लिखा था कि आजकल सब जगह यही शिक्षा मिलरही है कि धन प्राप्त करो, अधिकार प्राप्त करो, सत्ता लाभ करो, अधिकारही जीवनका लक्ष्य है ... आज चारों ओर अधिकारकी लड़ाई शुरू हो रही है। भगवानके लिये व्याकुल होनेवाले रैदास

चमार और सजन कसाई शायद कोई नहीं, परन्तु मन्दिर-प्रवेश सभी चाहते हैं।

जैन गजटके ये शब्द 'उल्टा चोर कोतवालको डाँटे' इस कहावतको कुछ अधिक मात्रामें चरितार्थ करनेवाले हैं। अधिकार जब दूसरेके अधिकारोंका बाधक होता है, अथवा विषय सेवनके लिये होता है तब वह निन्दनीय होजाता है। परन्तु, भगवानकी भक्तिसे न तो दूसरेके नैतिक अधिकारोंको धक्का लगता है, न विषयसेवनके लिये है: तब ऐसे अधिकारोंकी निन्दा नहीं की जासकती। हाँ, जो दूसरों को अछूत मानते हैं और उन्हें मन्दिर आदिमें नहीं जाने देना चाहते, वे जरूर पापपंथी हैं। वे अपने अधिकारोंके लिये दूसरोंके अधिकारोंको हड़पना चाहते हैं, मदोन्मत्तताके शिखर पर नाचना चाहते हैं। मंदिरमें चूहे और बिल्ली जाँय तो उनके अधिकारको धक्का नहीं लगता, परन्तु मनुष्यके जाने से लगजाता है! यह है उनका विश्वप्रेम! यह है उनकी समता! यह है उनकी आध्यात्मिकता! ये लोग अपने भाइयोंको कुचलकर, मनुष्यकी छातीपर चढ़ कर धर्म करना चाहते हैं, स्वर्गकी सीढ़ियोंपर चढ़ना चाहते हैं, मानो परलोकका राज्य मुगल सिंहासन है जिसपर औरंगजेब बनकरही बैठा जासकता है। अगर अधिकारलोलुपता बुरी चीज़ है तो तुम क्यों नहीं अछूत बनजाते? तुम मंदिरमें जानेका अधिकार छोड़दो, अछूतों को देदो। अछूतोंका जो होगा सो होगा पर तुम्हारा तो उद्धार होजायगा! दूसरे लोग धर्मके लिये—न कि भोगके लिये—अपने मनुष्योचित नैतिक अधिकार माँगें, यहतो उनकी अधिकार लोलुपता; और स्वयं कुलाभिमानके घमंडको रक्षित रखनेके लिये उस अधिकारको रक्खें और दूसरों को वे अधिकार प्राप्त न होनेदें—यह कहलायी आध्यात्मिकता! वाह! कैसी आध्यात्मिकता है!

यदि आज रैदास और सजन अछूतोंमें नहीं हैं तो छूतोंमें कितने हैं? रैदास और सजनको मंदिर में जानेकी जरूरत नहीं होती। उनके तो स्वयं मंदिर बनते हैं। जरूरत है उन्हें जो रैदास और सजन नहीं बनसके। वर्तमानमें भगवद्भक्ति, और ईश्वरप्रेम जितना अछूतोंमें है, उतना उच्च कहलाने वालोंमें नहीं है। इसलिये पूजा करनेका अधिकार सबसे पहिले उन्हींको है। अछूतोंको धर्म न करने देना और उनके धार्मिक अधिकारोंकी माँगको भौतिक बताकर पुरानी आध्यात्मिकताके गीत गाना ऐसेही है जैसे कोई दुराचारी, किसी सतीपर आक्रमण करे और जब वह स्त्री सतीत्वरक्षाके लिये प्रयत्न करे तो कहे—"आजकल स्त्रियाँ स्वार्थकी मूर्त्ति होगई हैं। इनमें करुणा और परोपकारवृत्ति तो है ही नहीं। इनमें सती सीता तो कोई है नहीं, परन्तु सीताकी नक़ल सब करना चाहती हैं। ये लोग माँसके टुकड़ेके लिये मरी जाती हैं। वह दूसरेके काममें आवे, यह चाहतीही नहीं: धर्म क्या है, यह समझतीही नहीं। बस, शरीरके लियेही मरी जाती हैं। इनका जीवन बिलकुल बाह्य होगया है।"

एक सतीके सामने किसी दुराचारीके इन उद्गारोंका जो मूल्य है, इनमें जितनी धृष्टता है, बस वैसीही धृष्टता उच्चत्वाभिमानी लोग अछूतोंके सामने दिखलारहे हैं; दूसरोंके उपादेय अधिकारोंको हेय और अपने हेय अधिकारोंको उपादेय बतारहे हैं।

जैनजगत् की आर्थिक अवस्था।

जैनजगत् सरीखे निर्भीक और क्रान्तिकारी पत्र की आर्थिक दशा चिन्तनीय हो, इसमें जराभी आश्चर्यकी बात नहीं है। ऐसे क्रान्तिकारी पत्रोंका और मनुष्योंका जीवन संकटापन्न ही रहता है। जो लोग आज ईश्वरकी तरह पुजरहे हैं उनका जीवन कठिनाइयोंका अजायबघर है। किन्तु आज वे अजर अमर हैं। इतनाही नहीं, किन्तु उस संकट समयमें

जिन लोगोंने उन्हें सहायता पहुँचाई है, वेभी अजर अमर होगये हैं। संकट समयकी कौड़ीभर सहायता पीछेकी मुहरोंकी सहायतासे हजारों गुणी है। राजा श्रेणिकने भगवान् महावीरके धर्म प्रचारमें जो सहायता की, उससे वे भविष्य तीर्थंकरके रूपमें पुजने लगे। परन्तु आज श्रेणिकसे सैकड़ों गुणात्याग करनेवाला भी भविष्यतीर्थंकरके रूपमें नहीं पुज सकता है। श्रेणिककी सहायता जिस मौक़ेकी थी वह मौका पीछे न आया। श्रेयांस राजाके थोड़ेसे दानने उन्हें जितना महान् बनाया, उतनी महत्ता करोड़ों दानवीरोंको नहीं मिल सकती। अवसरका बड़ा मूल्य है।

जैनजगत् प्रारम्भसे ही ऋणग्रस्त है। गतवर्ष उसका ऋण कुछ कम हुआ था कि उसने कलेवर बदला। इससे इस वर्ष कुछ अधिक घाटा पड़नेकी सम्भावना है। अभी जैनजगतके ऊपर ४५०) रु०का ऋण है और छः अङ्क निकालना अभी बाक़ी हैं। इधर अभीतक इस वर्ष सहायताभी कम मिली है। ऐसी अवस्थामें जैनजगत्की सहायताका क्या मूल्य है यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। श्रीमान् लोग एक मुश्त सहायता दें वह तो देंही, परन्तु प्रत्येक पाठक को इस वेदीपर कुछ न कुछ चढ़ाना चाहिये। जो जैनजगत् के विचारोंको ही नहीं, किन्तु उनके प्रकाशनको ही बुरा समझते हैं, वे आर्थिक क्षति पहुँचावें यह स्वाभाविक है। परन्तु जो उसकी उपयोगिता को समझते हैं, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को कमसे कम वर्षमें दो चार रुपये जैनजगत् की वेदीपर अवश्य चढ़ाना चाहिये। सम्भव है कि किसी दिन जैनजगत्के संदेशको लोग मानें और उस सत्यकी पूजा के लिये हजारों लाखों रुपये खर्च किये जावें, परंतु उस दिनके लाखोंका मूल्य आजके सैकड़ोंसे कमही होगा। आशा है पाठक इस उपयोगी सूचना पर ध्यान देंगे।

गतवर्ष श्रीमान् दानवीर सेठ नथमलजी चोरड़िया नीमचने २००) का इसलिये वचन दिया था कि उनसे जैनजगत् संस्थाओंको और विद्वानोंको भेंटमें दिया जाय। चोरड़ियाजीने दो बारमें १५०) भेजभी दिये थे। तदनुसार ८० जगह जैनजगत् भेजागया। उसका वर्ष समाप्त होनेपर उन ८० स्थानोंपर जैनजगत भेजना बन्द करना पड़ेगा। इस एक वर्षमें उन सज्जनोंने इसकी उपयोगिता समझली होगी। इसलिये ऐसे सज्जनोंको स्वयं ग्राहक बनजाना चाहिये, और मनीऑर्डरसे रुपया भेजदेना चाहिये जिससे भेंटका वर्ष समाप्त होनेपर उनका नाम ग्राहक श्रेणीमें लिख लिया जाय। जैनसमाजके विद्वानोंको सरस्वतीके उपासक के नाते उसके लिये कुछ भेंट अवश्य करना चाहिये।

जैनजगत् बिलकुल निःस्वार्थ बुद्धिसे और बहुत कठोर परिश्रमसे निकाला जाता है। प्रकाशक और सम्पादकके ऊपर अपने घरू कामोंके सिवाय उसके कार्यका बोझ इतना अधिक है कि वे अर्थप्राप्तिके लिये विशेष पत्रव्यवहार आदि नहीं कर पाते। इसीलिये सामूहिकरूपमें यह विज्ञप्ति कीजाती है जिसे कि प्रत्येक पाठकको इसीतरह समझना चाहिये जैसे कि उनके पास हस्तलिखित पत्र भेजा गया हो। हमें जितनी आर्थिक निश्चिन्तता रहेगी, जैनजगत्की सेवा के लिये हम उतनी शक्ति अधिक बचा सकेंगे।

बधाई।

मेरे परममित्र बा० जमनाप्रसादजी कलरैया ऐम० ए०, ऐल ऐल० बी० सबजज जबलपुर ता. ६-७-३३ को विलायतसे बैरिस्टरी पास करके आगये हैं। आप परवार जातिमें और बुंदेलखण्ड प्रान्तके जैनियोंमें पहिले ही बैरिस्टर हैं। इस सफलता के लिये बधाई।

मैंने इनसे विलायतके अनुभव लिखनेको कहा था। हो सका तो वे अनुभव जैनजगत्के पाठकोंके भेंट किये जावेंगे। —सम्पादक।

व्यभिचार और ब्रह्मचर्य ।

नग्न सत्य ।

(लेखक—श्रीयुत हेमचन्दजी मोदी बम्बई)

एक पुरुष एक सुन्दरीको व्याहकर लाता है। फूलसी बाला है, मानो स्वर्गकी देवी ही है। परंतु पुरुष राक्षससे भी बदतर है। उसने उस अमृतको ऐसे खाया जैसे पशु घास खाता है। वर्षभी नहीं बीता और दो-दो बार गर्भपात और तीसरी बार गर्भ। फूल मुरझा गया। सूखकर पीला पड़गया। डाक्टर, वैद्य, हकीम बुलाये गये। हवा बदलने पहाड़ों पर भेजी गई। पर, सब व्यर्थ स्वर्गकी देवी स्वर्ग सिधार गई। पुरुषने कोई दूसरा शिकार खोजा।

इस प्रकारकी घटनाएँ नित्य होती हैं, परन्तु इन की गिनती व्यभिचारमें, पापमें नहीं की जाती। ऐसे राक्षस, आदर्श ब्रह्मचर्याणुव्रती कहलाया करते हैं। समाज उन्हें धर्मवीर, धर्मधीर, तीर्थभक्तशिरोमणि आदि उपाधियोंसे भूषित करती है, चूँकि वे पैसेवाले हैं, पूँजीपति हैं। सरकार उन्हें रायबहादुर, सर बनादेती है। लड़कीवाले ऐसोंको लड़की देकर अपनेको धन्य समझते हैं। लड़की यदि कुछ साहसी होती है तो आगमें जल मरती है, कुएमें गिर आत्महत्या करती है। उसकी आह किसीके कानोंतक नहीं पहुँचती। परन्तु जिन्हें आँख है, वे देखते हैं कि उसमें समाज जलकर भस्म हुआ जाता है।

यह क्या है? यह है घोर व्यभिचार! अभी तक समाज भलेही इसे व्यभिचार न मानती हो परंतु उसे यदि अपना त्राण चाहिए है तो शीघ्र इसे व्यभिचार क़रार देना पड़ेगा। व्यभिचारकी उसे नई परिभाषा बनानी पड़ेगी, उसका नये अर्थमें प्रयोग करना पड़ेगा। **ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ भी इसी तरह बदलना होगा।**

एक जमाना था जब कि यज्ञका अर्थ होता था—पशुओंके रक्तकी नदिएँ बहाना, अक्षरम्लेच्छ ब्राह्मणोंका घर सोनेसे भरदेना; और बलिदानका अर्थ होता था—मिमियाते हुए बकरोंका देवोंके बुतके आगे खून करदेना। परन्तु अब जमानेके साथ इन सब शब्दोंके अर्थ बदलगये हैं। यज्ञका अर्थ अब होता है—मानव समाजके लिए, अपने देशके लिए, अपनी जातिके लिए और सत्यके लिए अपना तन, मन, धन सब समर्पित करदेना। बलिदानका अर्थ होता है मानव समाजके कल्याणके लिए, अपने देशके कल्याणके लिए, अपनी जातिके भलेके लिए, और सत्यके लिए हसते हसते मरजाना—फाँसी पर लटकजाना—तोपमें उड़ादिये जाना। एक ज़माना था जब कि धर्मका, मजहबका अर्थ होता था—शास्त्रार्थोंकी धूम, भाई भाईका खून, लाखों मनुष्योंका तलवारके घाटपर उतारा जाना, दूसरे देशों, दूसरी जातियोंको पैरोंतले रौंदना, ग़रीबोंको लूटना, गुलाम बनाना, किन्हीं लोगोंको अछूत क़रार देना और उनपर पाशविक अत्याचार करना। परंतु अब जमाना वह आरहा है जब कि धर्मका, मजहब का अर्थ होगा—विश्वप्रेम, देश देशका प्रेम, भाई भाईका प्रेम, जाति जातिका प्रेम; जीवोंको जीने देना, पददलितोंको स्वतंत्र करना, ग़रीबोंको बराबर करना और सबसे बराबरीका व्यवहार करना।

यज्ञका अर्थ बदला, बलिदानका अर्थ बदला, धर्मका अर्थ बदला तो व्यभिचारका भी अर्थ बदलेगा। **ब्रह्मचर्यका अर्थ भी बदलेगा; बदल रहा है, बदला था।**

हाँ, तो सुनिये। ब्रह्मचर्य और व्यभिचारका अर्थ किस प्रकार बदला था सो सुनिये।

महाभारतमें ऐसा कथन है* कि प्राचीनकालमें स्त्रियाँ अनावृत, कामाचारविहारिणी स्वतन्त्र होती थीं, जैसे तिर्यग्योनिकी, तथा जैसे उत्तर कुरुदेशमें अबतक होती हैं। वह अधर्म नहीं था क्योंकि वह उस कालमें धर्म माना जाता था। एकपतिव्रत विवाह की मर्यादा, बहुत दिन नहीं हुए, उद्दालक ऋषिके पुत्र श्वेतकेतुने डाली। (जबकि उन्होंने देखा कि उनकी माताको एक दूसरे ऋषि, अपने लिए पुत्र उत्पादनके अर्थ, ले उड़े)

मानव समाजमें जब विवाहबंधन नहीं था या ज्यादा सख्त नहीं था तब वह आजकलकी अपेक्षा अधिक ब्रह्मचारी, अधिक वीर्यवान, अधिक शीलवान था। जैसे जैसे मानव समाजमें कामवासना तथा तज्जनित ईर्षा बढ़ती गई वैसे वैसे विवाहका बंधन अधिकाधिक कठोर होता गया। हमारा यह कथन प्रमाणरहित गप्प नहीं है। इस धरातल पर अबभी अनेक ऐसी जंगली जातियाँ हैं जो कि उस प्राथमिक अवस्थामें हैं। वैषयिक मनोविज्ञान (Studies into the Psychology of Sex) के सुप्रसिद्ध कर्त्ता श्री हेवेलाक एलिस महोदय अपने उपर्युक्त स्मारकग्रंथके तृतीय खंडके परिशिष्टमें लिखते हैं "जंगली लोगोंमें कामका आवेग स्वभावसे बहुत ही मंद और किसी शक्तिशाली उपचारसे उत्तेजित करने पर होता है और प्रायः वहभी विशेष ऋतु समयों पर होता है। इसका एक कारण उनमें जननेन्द्रियोंकी अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था है। कैरोलीन द्वीपोंकी स्त्रियोंको कामका आवेग तबतक नहीं होता जबतक कि उनकी योनिको दाँतसे न काटा जाय या उस स्थान पर बड़े चींटेसे न कटाया जाय*। कामवासना की इस कमीके कारण जंगली औरतोंको सौतिया डाह नहीं होती। यहाँतक कि पहली स्त्री अपने पतिकी दूसरी तीसरी शादी कराने के लिए रुपये उधार लेआती है और सब स्त्रियें बड़े मेल मुहब्बतसे एक साथ रहती हैं‡। इसी कारण वहाँ स्त्रियोंको ऋतुस्राव भी बहुत कम होता है। एस्किमो ग्रीनलेंड, वाल्पो, लैपलेंड, फार्वे द्वीपसमूह आदि देशोंमें स्त्रियाँ वर्षमें ३-४ दफेही दूर बैठती हैं। सामोयेद और मेंटागेज जातियोंमे स्त्रियाँ शायद ही कभी दूर बैठती हैं। पैरागुएके गौरियनोंमें, उत्तर अमेरिकाके रक्तवर्ण जातियोंमें तथा टारडेल फ्यूगो जातियोंमें ऋतुस्राव बहुत कम और सालमें एक दो दफे ही होता है। कामके आवेगकी कमीके कारण

* अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचारविहारिण्यः स्वतंत्राश्चारुहासिनि॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगं पतीन्।
नाऽधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत्॥
तमद्यापि विधीयन्ते तिर्यग्योनिगताः प्रजाः।
उत्तरेषु च रंभोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते॥
अस्मिंस्तु लोके न चिरान्मर्यादेयं शुचिस्मिते।
उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतकेतुना॥
—महाभारत आदिपर्व अ० १२८

* Among savages the sexual impulse is habitually weak and only aroused to strength under the impetus of powerful stimuli often acting periodically. (Appendix A Pp. 265) The undeveloped state of the sexual impulse among savages may be found in the comparatively undeveloped state of their sexual organs which is a condition frequently noted (Appendix Pp. 264) In savages sexual erethism is very difficult. The women of the Caroline Islands, for instance require the tongue or even the teeth to be applied to the clitoris or a great ant to be applied to bite the parts in order to stimulate orgasm. Pp 683

‡ Savage women do not know what jealousy is, and the first wife will even borrow money to buy second wife. Women in a household live happily. (Psychology of sex Vol III Pp. 266)

† देखो "Menstruation in Women of defferent naticnality" Pp. 89. [Psychology of sex Vol I.]

जंगली जातियोंके पुरुष घण्टों मैथुन करने पर भी स्खलित नहीं होते*।

हम देखते हैं कि जिन जातियोंमें विवाहबंधन जितनाभी शिथिल है, वे जातियाँ उतनी ही अधिक तेजस्वी और शक्तिशाली हैं; तथा हिन्दू लोग जिनमें कि विवाहबंधन सबसे अधिक कठोर है, सबसे अधिक निर्माल्य निर्वीर्य और निस्तेज है। ब्रह्मचर्य का मतलब यदि तेजस्विता, शौर्य और वीर्य है तो कहना पड़ेगा कि विवाहबंधन जितना भी अधिक कठोर होगा वह व्यभिचारका उतनाही बड़ा समर्थक होगा। जिसके कारण हम दिनोंदिन क्षीण, नपुंसक होते जारहे हैं, वह कैसा ब्रह्मचर्य है? ऐसे ब्रह्मचर्याणुव्रतसे जापानी और यूरोपियन लोगोंका व्यभिचार अच्छा।

वास्तवमें देखा जाय तो व्यभिचार और ब्रह्मचर्य ये केवल लौकिक शब्द हैं। कामशास्त्रके आचार्य वात्सायनमुनि विधवा तथा पतिता स्त्रीके साथ संभोग करनेको बुरा नहीं समझते।। "प्रोन्नत यौवना स्त्री यदि अभिलषित पुरुषको प्राप्त नहीं करसकती तो उसे उन्माद, हिस्टीरिया होजाता है, या वह मरजाती है। इस बातको ठीक तौरसे बूझकर मैथुनके लिये स्वेच्छासे आई हुई दूसरेकी स्त्रीसे संभोग करे परन्तु हमेशा नहीं, ऐसा सुमतिमान वात्सायन मुनिने कहा है।। यदि कोई दरिद्र मनुष्य अपने कुटुम्बके भरणपोषणार्थ किसी धनवान् स्त्रीको फँसाकर उससे व्यभिचार करता है तो उसे वात्सायनमुनि धर्म समझते हैं*। महाभारतकार व्यासमुनि तो और भी आगे बढ़कर कहते हैं कि "स्वेच्छासे आई हुई कामार्त स्त्रीसे जो पुरुष भोग नहीं करता वह उसकी हाय साँसोंसे आहत हो अवश्य ही नरक जाता है ×।"

वास्तवमें देखा जाय तो व्यवहारमें धर्म वही है जो कि समाजके पूँजीपतियों, राजाओं और मुखियोंको रुचता है, उनके स्वार्थ की पुष्टि के हित निर्मित होता है। राजा लोग जब व्यभिचारी होते हैं, अपनी प्रजा की खूबसूरत बहूबेटियोंपर बुरी नजर करते हैं, उन्हें अपने दूतों और कुटनियों के द्वारा फँसा कर अपनी भोगलिप्सा पूरी करते हैं।। तब उस समय धर्म भी ऐसे कामोंकी खुली आज्ञा देने लगता है। धर्माध्यक्ष और मन्दिरों के महन्त और पुजारी स्त्री-संग्राहक एजेण्ट होजाते हैं। लोकाचार भी ऐसाही होजाता है। वात्सायनके समयमें राजाओंकी तरफ से पुराने जमानेसे कुछ प्रथाएँ चली आती थीं जिनका कि उन्होंने अपने ग्रंथमें पूरा वर्णन इस प्रकार किया है—आन्ध्रदेशमें नवविवाहिता वधू दसवें दिन वस्त्रादि भेंट लेकर राजाके अन्तःपुरमें जाती थी और वहांसे संभोग कराकर पतिके पास लौटती थी। वत्स और गुल्मक देशोंके राजाओंके मन्त्री अपनी स्त्रियोंको राजाके अन्तःपुरमें भेज देते थे जिनमेंसे राजा संभोगके लिये अपनी रुचिके अनु-

* Sexual Selection in Man Pp 250 Vol II.

। अवरवर्णास्वनिरवासितासु वेश्यासु पुनर्भूषु च शिष्टो न प्रतिषिद्धः सुखार्थत्वात्। वात्सायन कामसूत्र १।५।३

। नारी प्रोन्नतयौवनाऽभिलषितं कान्तं न चेत्प्राप्नुयादुन्मादं मरणं च विन्दति तथा कन्दर्पसम्मोहिता। संचिन्त्येति समागतां परवधूं स्वार्थिनीं स्वेच्छया गच्छेत् क्वापि न सर्वदा सुमतिमानित्याह।

—अनंगरंगः वात्सायनः।

* निरत्ययं वाहुल्या गमनमर्थानुबन्धमहं च निःसारत्वान्मेऽप्युपायः सोऽहमनेनोपायेन तद्धनमतिमहदकृच्छ्रादधिगमिष्यामि। १।५।१२।

× कामार्तां स्वयमायातां यो न भुंक्ते नितम्बिनीम्।
सोऽवश्यं नरकं याति तन्निश्वासहतो नरः॥

—महाभारत

। देखो वात्सायन कामसूत्र पंचम अधिकरण, पंचम परिच्छेद सूत्र ४ से २८ तक।

सार किसीको छाँट लेता था। विदर्भ देशमें नगरकी सुन्दर स्त्रियोंको निमंत्रित कियाजाता था और उन्हें मैथुनके लिये महीनों रक्खा जाता था। अपरान्तक देशकी प्रजा अपनी सुंदर दर्शनीय भार्याओंको राजा और उसके मंत्रियोंको भेंट करती थीं। सौराष्ट्र (काठियावाड़-गुजरात) नगर और देहातकी स्त्रियाँ अकेली वा सामूहिक रूपमें राजाके अन्तःपुरमें जा राजासे संभोग करती थीं। इस प्रकार राजा महाराजाओंने अपनी कामलालसाकी तृप्तिके लिये बहुतसी प्रथाएँ प्रचलित की थीं *। उस समय इन सब कामोंकी गिनती न व्यभिचारमें कीजाती थी न ऐसी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी समझी जाती थीं और न उनके पतियोंकी कोई बदनामी होती थी। जैनियोंको यह न समझना चाहिये कि उनकी स्त्रियाँ इससे बची थीं। जैसे देशमें वे रहते थे उसके अनुसार उन्हें चलना ही पड़ता था। यही उस समय का—महावीर स्वामीके समयका—व्यवहार धर्म था, लोक-प्रचलित रिवाज था। वात्स्यायन कामसूत्र उसी समयका लिखा हुआ है।

जिस समय प्राचीन कालमें राजा और धनिक लोग नित्य नवीन सुन्दरियोंका भोग उपभोग करते थे, उस समय उनकी राजमहिषियाँ भी कुछ सती बनी चुपचाप नहीं बैठी रहा करती थीं। मकान, जमीन, गाय, बैल आदिके समान उस समय स्त्रियाँ भी संपत्तिमें गिनी जाती थीं। एकएक राजाके सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें पत्नियाँ, उपपत्नियाँ हुआ करती थीं। उन सबको तृप्त करना राजाके लिये असम्भव था इसलिये उन स्त्रियोंने भी तरह तरहके उपाय निकाले थे। अप्राकृतिक मैथुन (धातुके कृत्रिम लिंग, कन्द, मूली, केला, कद्दूके द्वारा तथा पुरुषकी कृत्रिम मूर्तिके साथ तथा पुरुष वेशमें स्त्रीके साथ) का खूब प्रचार था * तथा वे अन्तःपुरकी विश्वस्त दासियोंके द्वारा नागरिकोंको स्त्रीके वेशमें लोभ दिला कर बुलवाती थीं और उनसे मैथुन करती थीं †। प्रकट तौरसे भी अन्तःपुरोंमें व्यभिचार होता था। वात्सायनमुनि उसका विवरण इस प्रकार देते हैं:—

अपरान्तिक देशमें राजमहिषियाँ राजकार्यकर्ताओंको सरलतासे बुलालिया करती हैं। आभीर राज्यमें अन्तःपुरके रक्षकोंसे ही रानियें मैथुन करती हैं। वत्स और गुल्मक देशमें दासियोंके वेशमें विलासी युवकोंको बुलाती हैं। विदर्भ देशमें राजमहिषियाँ अपनी सौतके जाये पुत्रों तकसे सहगमन करती हैं। आसाम देशकी राजमहिषियाँ अपने सम्बन्धी पुरुषोंसे सहगमन करती हैं। गौड़ देशकी रानियाँ ब्राह्मणों, मित्रों, भृत्यों, दासों और चाकरों से अपनी परितृप्ति करती हैं। सिन्धु देशके राजभवनोंकी स्त्रियाँ अपने प्रतीहारों, शैया बिछानेवाले तथा चमरादि दुलानेवाले सेवकोंसे, जिनका जाना

* प्रकाशकान्यतानि तु देशप्रवृत्तियोगात् ॥ प्रदत्ता जनपदकन्या दशमेऽहनि किंचिदौपायनिकमुपगृह्य प्रविशन्ति अन्तःपुरमुपभुक्ता एव विसृज्यन्त इत्यान्ध्राणाम् ॥ महामात्रेश्वराणामन्तःपुराणि निशिसेवार्थं राजानमुपगच्छन्ति वात्सगुल्मकानाम् ॥ रूपवतीर्जनपदयोषितः प्रीत्यपदेशेन मासं मासार्धं वा वासयन्त्यान्तःपुरिका वैदर्भाणाम्। दर्शनीयाः स्वभार्याः प्रीतिदायमेव महामात्रराजभ्यां ददत्यपरान्तकानाम् ॥ राजक्रीडार्थं नगरस्त्रियो जनपदस्त्रियश्च सङ्घश एकशश्च राजकुलं प्रविशन्ति सौराष्ट्रकाणामिति। सूत्र ३१ से ३६ ५। ५।

एते चान्ये च बहवः प्रयोगाः पारदारिकाः।
देशे देशे प्रवर्तन्ते राजभिः संप्रवर्तिताः ।३७।५।५

* धात्रेयिकां सखीं दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपद्रव्यैर्वाऽऽत्माभिप्रायं निर्वर्तयेयुः ॥ पुरुषप्रतिमा अव्यक्तलिंगाश्चाधिशयीरन् ॥

सूत्र २—३ । ५ । ६ ।

† योषावेषांश्च नागरकान्प्रायेणान्तःपुरिका परिचारिकाभिः सह प्रवेशयन्ति । सूत्र ६ । ५ । ६ ।

अन्तःपुरमें अभिविष्ट है, रतिसुख लेती हैं, नैपाल और भूटानकी राजमहिषियों (अभी भी जो सैकड़ों की संख्यामें होती हैं) पहिरेदारोंसे विषय सुखका उपभोग करती हैं। वङ्ग, अङ्ग और कलिङ्ग देशके राजभवनोंमें ब्राह्मण लोग देवीप्रसाद लेकर राजाके जानते हुए जाते हैं और परदेकी आड़से बातचीत करनेका लाभ उठाकर राजमहिषयाँ उनसे संभोग करती हैं। ऐसे समय नौ नौ दस दस रानियाँ इकट्ठी होकर एकएक युवाको पकड़ लेती हैं। ऐसा पूर्वीय प्रान्तोंमें रिवाज है*।

सभी धर्मोंके प्राचीन पुराण ग्रंथोंमें बड़ेबड़े सम्राट चक्रवर्तियोंका वर्णन है जिनकी हजारों राजमहिषियाँ हुआ करती थीं। उनके आचरण कैसे होते थे, इसका अनुमान ऊपरके उद्धरणोंसे ठीकठीक लगाया जासकता है। महाभारतमें लिखा है कि (भगवान) श्रीकृष्णके पुत्र साम्बने अपनी विमाताओंके साथ संभोग किया जिस पापके कारण उसे कुष्ठरोग होगया। इससे मालूम होता है कि श्रीकृष्ण की हजारों पत्नियाँ कितनी पतिव्रता और सती होंगी जो कि अपने पुत्र तकसे व्यभिचार करनेमें न शर्माती थीं। महाभारतके अधिकांश प्रसिद्ध व्यक्ति ऋषि महर्षि, इंग्लैण्डके विचक्षण कूटनीतिज्ञ भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मि० लायड जार्जके समान व्यभिचार से पैदा हुए थे। जैनियोंके पुराणग्रंथोंमें भी ऐसे चरित्र कुछ कम नहीं हैं। पुरातनप्रेमी दकियानूस लोग जरा आँख खोलकर अपने पूर्वजोंकी इन कीर्तिगाथाओंको पढ़ें और सोचें कि दर असलमें हमारे पूर्वज हमसे कितने बेहतर थे और उनकी चलाई हुई रूढ़ियाँ कहाँतक मान्य होसकती हैं। हमारे बापदादे क्या बेवकूफ थे, ऐसा कहकर जनता की पूज्यबुद्धिके साथ व्यभिचार करनेवाले सड़ातनी पण्डितोंसे सावधान रहनेकी कितनी आवश्यकता है इसे पाठक स्वयंही समझ सकते हैं।

हजारों वर्षोंसे समाजकी बागडोर पूँजीपतियों और पैसेवालों के हाथमें रही है। गरीबोंका खून चूसना, उन्हें जराजरा सी बातोंपर तंग करना उन्हें समाजसे बहिष्कृत करना और गुप्तपाप करना इन पंचोंके काम रहे हैं। पंडितों, मुनियों और आचार्यों का दल अपनी रोटियों के लिए इनपर आश्रित रहा है। राजसत्ता भी अपने स्वार्थ के लिए इन्हीं की सहायक रही है। भूखी और मूर्ख जनता भी लोभके मारे इन्हींके साथ हो जाती है। सभ्य यूरोपीय देशोंमें भी हम देखते हैं कि जनता के वोट पैसेवाली पार्टी पैसे के बलपर खींचलिया करती है।

जो कुछ इन पूँजीपतियों का समुदाय अपने स्वार्थ के लिए अच्छा समझता था उसे ही अपने आश्रित पंडितों और विद्वानों के नामसे धर्माधर्मके फतवे के रूपमें निकलवा देता था। ये पंडित लोग बुद्धिसे व्यभिचार करके यहाँ वहाँके धार्मिक प्रमाणोंको काँट छाँट कर उपस्थित करके नये शास्त्र बनाकर प्रचलित कर देते थे।

* तत्र राजकुलचारिण्य एव लक्षण्यान्पुरुषानन्तःपुरं प्रवेशयन्ति नातिसुरक्षत्वादापरान्तिकानाम् ॥ ३३ ॥ क्षत्रियसंज्ञकैरन्तःपुररक्षिभिरेवार्थं साधयन्त्याभीरकाणाम् ॥ ३४ ॥ प्रेष्याभिःसह तद्वेषानागरकपुत्रान्प्रवेशयन्ति वात्सगुल्मकानाम् ॥ ३५ ॥ स्वैरेव पुत्रैरन्तःपुराणि कामाचारैर्जननीवर्जमुपयुज्यन्ते वैदर्भकाणाम् ॥ ३६ ॥ तथा प्रवेशिभिरेव ज्ञातिसम्बन्धिभिर्नान्यैरुपयुज्यन्ते स्त्रीराज्यकानाम् ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणैर्मित्रैर्भृत्यैर्दासचेटैश्च गौडानाम् ॥ ३८ ॥ परिस्पन्दाः कर्मकराश्चान्तःपुरेष्वनिषिद्धा अन्येऽपि तद्रूपाश्च सैन्धवानाम् ॥ ३९ ॥ अर्थेन रक्षिणमुपगृह्य साहसिकाः संहताः प्रविशन्ति हैमवतानाम् ॥ ४० ॥ पुष्पदाननियोगान्नगरब्राह्मणा राजविदितमन्तःपुराणि गच्छन्ति पटान्तरितश्चैषामालापः, तेन प्रसंगेन व्यतिकरो भवति वङ्गाङ्गकलिङ्गकानाम् ॥ ४१ ॥ संहत्य नवदशेत्येकैकं युवानं प्रच्छादयन्ति प्राच्यानामित्येवं परस्त्रियः प्रकुर्वीत ॥ ४२ ॥ — वात्सायन कामसूत्र पंचम मंजरी षष्ठ पराग।

पैसेवाले लोग विलासिताके कारण बहुधा न्यूनाधिक मात्रामें नपुंसक हुआ करते हैं। वे अपनी स्त्रियोंको किसी तरह संतुष्ट नहीं रखसकते, इसकारण वे अपनी भूख यहाँ वहाँके पुरुषोंसे बुझाया करती हैं। सेठ लोग यह देखकर जलभुनकर खाक हुआ करते हैं। यही हाल पुराने जमानेमें भी था। इसको रोकनेके लिए उन्हें एक नया मार्ग सूझा। वह जमाना ऐसा था कि धर्मके नामसे कुछ भी किया जा सकता था। बस, उन पूँजीपतियों ने अपनी नपुंसकतापर धर्मका पर्दा डालना सबसे अच्छा समझा। इन पूँजीपति राजा महाराजाओं की ओरसे यज्ञों और दक्षिणाओं के रूपमें पंडितोंको खूब रिश्वत मिलती थी। बस, इन पंडितोंके द्वारा उन्होंने सावित्री सत्यवान सरीखी ऊटपटांग असंभवकथाएँ एक कल्पित सती धर्मके महत्वको बढ़ानेके लिए लिखवा डालीं। इन कथाओंको वे अपनी स्त्रियोंमें खूब प्रचार करते थे।

सती धर्मका महत्त्व जब बढ़ा दिया गया तो एक नये प्रकारका लोभ उत्पन्न हुआ। यह लोभ था जनता में अपने को पुरुषोत्तम और अपनी स्त्रियोंको सती सिद्ध करनेका लोभ। रामचन्द्र ने ब्राह्मणोंको प्रसन्न करनेके लिए राजा शूद्रकका शिरच्छेद किया और उन्हें यज्ञादिकोंमें खूब दान देकर प्रसन्न किया जिससे कि उन्होंने उनकी इतनी तारीफ की कि धीरे धीरे वे भगवान बनगये। वास्तवमें देखा जाय तो वाल्मीकि और वसिष्ठ ऋषि रामचन्द्रके भाट थे। रावण यदि वास्तवमें धर्महीन नीच जन्तु था तो ऐसा कौन बेवकूफ होगा जो कि इस बातपर विश्वास करे कि सीता उसके यहाँ इतने दिन रहकर अछूती बची होगी? नित्य प्रतिकी घटनाओंसे यह सिद्ध होता है कि कैसी भी सती स्त्री हो, बदमाशोंके हाथमें वह कभी भी अछूती नहीं बच सकती। जनतामें सीता के सतीत्वके सम्बन्धमें जो प्रवाद फैला था वह वास्तवमें झूठा नहीं मालूम होता। वाल्मीकि का उसे झूठा बताना ठीक वैसा ही है जैसा कि रूटरका मास्को षडयंत्र केसमें ब्रिटिश अभियुक्तों को निर्दोष बताना। रामायणकर्ता ने सीताहरणके पापकी गठरी जो रावणके ऊपर फोड़ी है वह भी अनुचित है। दूसरोंकी स्त्रियोंको ले भागना तो उस समय आम रिवाज था और उसमें कोई अधर्म नहीं समझा जाता था। जो बात हम रामायणमें देखते हैं वही महाभारतमें भी मिलती है। व्यास ऋषि पाण्डवोंके भाट थे। कौरवोंके सरीखे न्याय्य और धर्मपक्ष को उन्होंने अधार्मिक सिद्ध करने की कोशिशकी है। कुमारावस्था और विवाहितावस्था दोनों अवस्थाओंमें अन्य पुरुषसे प्रसंग करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री कुन्ती को उन्होंने सती सिद्ध किया है। पाँच पतियोंवाली द्रौपदी भी सती होगई है। युधिष्ठिर सरीखे जुआरी को धर्मराज बना दिया। जुआरी आदमी सत्य बोलेगा, इसपर कौन विश्वास कर सकता है? परन्तु फिर भी युधिष्ठिर को सत्यवादी सिद्ध करनेके लिए महाभारतमें एड़ी चोटी एक कर दीगई है। श्रीकृष्ण सरीखा कायर और दुःशील परंतु कूटनीतिज्ञ राजा, भगवान् बन बैठा।

ये सब पैसे की लीलाएँ थीं। उस समय व्यास और वाल्मीकि सरीखे चारणों और भाटोंको खिलाकर हम प्रसिद्ध धर्मात्मा हो सकते थे। आजकल हम अखबारवालों को और पण्डितों को पैसा खिलाकर प्रसिद्ध हो सकते हैं। आजकल भी पंडितों, विद्वानों, और अखबारों की कृपासे अत्यन्त नीच, व्यभिचारी राजा और जमींदार राजर्षि और हिंदूधर्म रक्षक कहलाते हैं। जैनसमाजमें भी सीपोंसे मोती निकालकर बेचनेका अत्यन्त हिंसापूर्ण धंधा करनेवाले, मीलोंमें चर्बी और पट्टेके लिए हजारों जानवरोंकी हत्या करानेवाले, स्त्री का गर्भाशय निकलवा फैंकनेवाले, कसाईखानों के ठेकेदार, शराब के ठेकेदार सेठ लोग संघपति, धर्मधीर, धर्मवीर, सिंघई बने डोलते

हैं। यह सब पैसे की लीला है जिसके द्वारा वे मन्दिर बनाकर, रथ चलाकर, विद्यालय स्थापित कराकर, उदासीनाश्रम बनवाकर, कांग्रेसमें पैसे देकर, समाजको रिश्वत देते हैं, भगवानको रिश्वत देते हैं।

वह कैसा ब्रह्मचर्य है, वह कैसा धर्म है जो फूलसी बालिकाओंको नपुंसकोंके पल्ले बाँधकर—वैषयिक राक्षसोंके पल्ले बाँधकर—उन्हें जिन्दगीभर कलपा कलपाकर मारता है। वह कैसा ब्रह्मचर्य है जो हमें नित्य मैथुनके लिये लालायित कर हमें निस्तेज और निर्वीर्य किये डालता है। इन पैसे वालोंने प्रेम को दूषित कर दिया, ब्रह्मचर्यके नामपर हजारों स्त्री पुरुषों को कलपा कलपा कर मार डाला। पवित्र प्रेमको विवाहके क्रियाकांडमें बाँधकर उसे व्यभिचार का लाइसेन्स बना दिया। हजारों शीरीफ़रहादों को कलपा कलपा कर जला डाला।

इन पूँजीपतियों या केपिटलिस्टोंका दूसरा कर्म हुआ है पुनर्विवाहको धर्मविरुद्ध क़रार करवा देना और बेचारी विधवा स्त्रियोंको पतिके साथमें जला कर मार डालना। प्राचीन ग्रंथोंमें कहीं भी पुनर्विवाह को धर्म विरुद्ध नहीं बताया गया। मनुस्मृति आज्ञा देती है, वेद आज्ञा देते हैं, पराशर संहिता आज्ञा देती है। परन्तु इन स्वार्थियोंने ब्राह्मणोंको रिश्वत दे कर प्राचीन ग्रन्थोंमें नये श्लोक घुसेड़ दिये और पुनर्विवाहको कलिकालमें वर्जित करार दिया, मानो कलिकालमें आदमियोंके सींगें और पूँछें निकलने लगी हैं, जो पहिले नहीं थी, जिसके कारण पुनर्विवाह जायज़ नहीं होसकता।

हम लिख ही चुके हैं कि ये पूँजीपति अधिकांश नपुंसक हुआ करते हैं। इस कारण इन्हें हमेशा डर लगा रहता है कि कहीं हमारी सुन्दरी स्त्री—पैसेके बल पर सारा सौन्दर्य इन्हींके यहाँ छटकर आ पहुँचता है—दूसरेसे न फँस जाय और विष दे हमें न मार डाले और अपने यारसे शादी न करले। इस भयसे किसी अंशमें मुक्त होने के लिए उन्होंने विधवाविवाह नाजायज़ कर दिया जिससे कि उनके मरनेके बाद उनकी स्त्री दूसरा विवाह न कर सके। नृशंस सतीप्रथा की नींव भी इन्हीं पूँजीपतियोंने इसीलिये डलवाई। पतिके मरनेके बाद उसीके शवके साथ उन्हें भी जल मरना पड़ेगा, इस भयसे वे स्त्रियाँ किसी यारसे फँसकर अपने नपुंसक पतिको विष दे मार न डालें, इसी उद्देश्यसे सती प्रथा चलाई गई थी जो कि लॉर्ड बेंटिंककी कृपासे अब निःशेष होगई है।

इतना पढ़कर पाठक अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं कि व्यभिचार और ब्रह्मचर्यकी समीचीन व्याख्या क्या होनी चाहिये। ब्रह्मचर्य और व्यभिचार वह वस्तु है जिसका कि हम, पूँजीपतियोंके प्रभावसे दूषित, इस संसारमें अनुमान भी नहीं कर सकते। संभव है कि हम इसके असली स्वरूपको साम्यवादी रूसमें देख सकें। हम एकबार फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य या शील धर्म समीचीन वही हो सकता है जो शीरी फ़रहाद सरीखे प्रेमियोंको कलपा कलपा कर, वियोगाग्निमें जलाकर, भस्म न कर डाले तथा जो फूलसी बालाओंको नपुंसकों और राक्षसोंके पंजोंसे छुड़ा सके तथा जो निर्वीर्य और निर्माल्य हुई, जातिको और देशको फिरसे वीर्यवान्, शौर्यवान् पुरुषार्थी बना सके।

धर्मका हृदय प्रेम है। दया, करुणा, अहिंसा सब प्रेमके ही नामान्तर हैं। बिना प्रेमकी अहिंसा, अहिंसा नहीं है। हम किसी जानवरको बचाते हैं तो यह नहीं सोचते कि बचानेसे यह इतने दिन जीवेगा और इतना पाप करेगा, जिसके एक कारण हम भी होंगे। हम तो प्रेमके—करुणाके—कारण ही उसे बचाते हैं। जीवका मरना या जीना हिंसा, अहिंसा नहीं है परन्तु हमारे अन्दरका प्रेमका—करुणाका—दयाका भाव होना न होना हिंसा, अहिंसा है। प्रेम

आत्मा—आत्माका आकर्षण है। प्रेम आत्मदर्शन है, आत्माको पहिचानना है। प्रेम ही सम्यग्दर्शन है। बिना प्रेमकी अहिंसा जिसप्रकार अहिंसा नहीं कही जासकती, उसी प्रकार बिना प्रेमका धर्म, धर्म नहीं है। बिना प्रेमका व्याह, व्याह नहीं है—व्यभिचार है। जहाँ प्रेम है, वहीं ब्रह्मचर्य है, शील है धर्म है। प्रेमही सतीत्व है। जहाँ यह प्रेम है, वहाँ भले ही शरीर पर कोई अत्याचार करे, वह व्यभिचार, नहीं होसकता। पर जहाँ प्रेम ही नहीं है वहाँ गृहस्थ धर्मका पालन भी व्यभिचार है।

ब्रह्मचर्य और व्यभिचारके विषयमें एक शारीरिक दृष्टि भी है। जिस कर्मसे हमारे शरीरका, हमारे वीर्यका, हमारे तेजका, हमारी नस्लका नाश होता है, वह व्यभिचार है भले ही हमने उसके लिए विवाह का लाइसंन्स लेलिया हो। शरीरशास्त्रियोंका मत है कि एक महीनेमें एक बारसे अधिक स्त्रीगमन शरीरके लिए, शौर्यके लिए, पुरुषार्थ लिए, हानिकारक है, इसलिए वह व्यभिचार है। गर्भवतीसे समागम व्यभिचार है।

व्यभिचारसे दूर रहना और ब्रह्मचर्यका पालन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। यही धर्म है. यही मोक्ष है।

नोट:—जैनजगत् इसबातका खयाल रखता है कि पाठकोंके साम्हने नयी नयी सामग्री और नये नये विचार रक्खे जावें, जिस पर पाठक स्वतन्त्रता से विचार करें। यह आवश्यक नहीं है कि उनसे या उनके प्रत्येक वाक्यसे सम्पादक सहमत हो।

लेखक नवयुवक हैं, उनकी कलममें जोश है। ऐसे लेख प्रमाणरूप नहीं, किन्तु नयरूप होते हैं जो कि किसी समस्या की एक बाजू बतलाते हैं। पाठकोंको भी उसी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। इस लेखमें पाठकोंको बहुत सी बातें विचारणीय हैं।

जो लोग पूर्वजोंके नामपर बहुविवाहका समर्थन करते हैं, उन्हें मालूम होगा कि बहुविवाह कितना व्यभिचारवर्धक है। जो लोग पूर्वजोंकी रीतियोंको तोड़नेमें अधर्म समझते हैं, उन्हें व्यभिचारका बन्द करना तथा विवाहकी रीतिमें अधर्म मानना पड़ेगा।

राम कृष्ण आदि, भाटोंसे बढ़ाये गये हैं, या बनाये गये हैं या वे स्वयं भी महान् थे, ये तीनों कोटियाँ संशयात्मक हैं। परन्तु इतनी बात सत्य है कि लक्ष्मीके बलपर लोगोंने स्वार्थपूर्ण पापोंको धर्मका रूप दिया है। महावीर सरीखी विभूतियाँ भी लक्ष्मीकी अनन्त शक्तिके दुरुपयोगको नष्ट नहीं करसकीं हैं, यद्यपि कुछ न कुछ अंकुश लगाया है। आजकलके पंडितों और साधुओंका श्रीमानोंको खुश करनेके लिये कितना अधःपतन हुआ है, इसपर से भी इस बात का अनुमान लगाया जासकता है।

पाठकोंको कहीं कहीं ऐसा मालूम होगा कि इस लेखमें विवाहसंस्थाको नष्ट करदेनेको उत्तेजन दिया गया है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। विवाह संस्था ने समाजमें जो शान्ति स्थापित की है, उसका मूल्य कम नहीं है। आजभी उसकी उपयोगिता कम नहीं हुई है। फिर भी आज इस संस्थामें जो विकार आ गये हैं वे उपेक्षणीय नहीं हैं। वृद्ध विवाह, अनमेल विवाहोंसे जिस प्रकार स्त्रीसमाजके ऊपर अत्याचार होता है, और विधवाविवाहके विरोधसे जिस प्रकार गुप्तव्यभिचार, मानसिक व्यभिचार, भ्रूणहत्याएँ होती हैं, ये वर्तमान विवाह संस्थाके अक्षन्तव्य कलंक हैं। वैवाहिक जीवनमें मात्राधिक संभोग नामका व्यभिचार जिस प्रकार होता है, उससे शारीरिक शक्तिका दिवाला निकल गया है। जिस प्रकार फाँसी दिये जानेवाले मनुष्यका गला तो जकड़ दिया जाता है और पैर खुले छोड़ दिये जाते हैं, उसी प्रकार समाज ने एक तरफ अनुचित बन्धनोंकी फाँसी लगाई है और दूसरी तरफ स्वेच्छाचारको फैलनेका क्षेत्र

खुला छोड़दिया है। ऐसी हालतमें मौत न हो तो क्या हो? लेखकने जैनेतर शास्त्रोंकी ही अधिक साची दी है परन्तु राजा मधु, कालसंवरकी पत्नी, आदि दर्जनों उदाहरण जैन शास्त्रोंमें भरेपड़े हैं जिससे उस समयके नैतिक माध्यमकी कल्पना की जा सकती है। इन उदाहरणोंका यह मतलब नहीं है कि आज हम आँख बन्द करके पूर्वजोंका अनुकरण करें, किन्तु नये पुरानेका भेद छोड़कर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के उपासक बनें। विवाह संस्थाकी आवश्यकता पूरी है, परन्तु वह जितने अंशमें प्रेम, विश्वास, निस्वार्थता, और त्याग पर अवलम्बित हो तथा उसमें एक दूसरेको भोगनेकी नहीं किन्तु पारस्परिक सहयोगकी भावना प्रबल हो, उतना ही अच्छा है। इस दृष्टिसे आज विवाहसंस्थामें सुधारकी ही नहीं, क्रान्ति की आवश्यकता है, और वह संभव है। आज कविकी तरह विवाहसंस्थाके नखशिख वर्णनकी जरूरत नहीं है, किन्तु एक चतुर वैद्यकी तरह उसकी चिकित्सा करनेकी जरूरत है।

—सम्पादक।
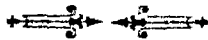
विविध विषय।

हाड़ोती प्रान्तिक दिगम्बर जैनसभा कोटाके महामन्त्री ला० सुन्दरलालजी बाकलीवालकी धाँधलबाजी—

करीब १०-११ वर्ष पहिले कोटामें उक्त सभाकी स्थापना हुई थी। शुरू शुरू में इसके एक दो अधिवेशन हुए किन्तु बादमें इसकी कोई नियमित कार्यवाही नहीं हुई। प्रारम्भिक अधिवेशनके समय सभा को झालरापाटन निवासी श्रीमान रायबहादुर सेठ माणिकचन्दजी सेठीने १५००) प्रदान किये थे। बादमें महामन्त्री महाशय चिट्ठियाँ लिख लिखकर तथा उपदेशक भिजवाकर हाड़ोती प्रान्तसे रुपया इकट्ठा करते रहे। श्री महावीर जैन चैत्यालय के नामसे भी काफी रुपया इकट्ठा किया गया। लेकिन गत ८-९ वर्षों में न सभाका कोई अधिवेशन किया गया और न कभी कोई हिसाब ही प्रकट किया गया। करीब दो माह पहिले हाड़ोती प्रान्तके कई प्रतिष्ठित महानुभावोंने महामन्त्री तथा सभापति (श्रीमान सेठ कुँवरलालजी) के नाम एक खुली चिट्ठी प्रकाशित की जिसमें यह लिखा गया कि दो माहकी अवधि में वे प्रबन्धकारिणी समिति द्वारा नियुक्त ऑडीटर से हिसाब जाँच करवावें तथा शीघ्रही सभाका जनरल अधिवेशन कर उसमें सभाकी कुल कार्यवाही की रिपोर्ट व हिसाब पेश करें। इस खुली चिट्ठीके उत्तरमें सभापति व महामन्त्री दोनों की ओर से अलग अलग वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं। सभापति महोदय खुली चिट्ठीमें लिखे गये आक्षेपोंको स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि सभाका काम शिथिल देख कर तथा यह देखकर कि सभाका नाम ही नाम रह गया है, अतः नाम मात्रका सभापति बना रहना उचित न समझकर मैंने ७-८ वर्ष पहिले सभापति पदसे स्तीफा दे दिया था। इसके बाद महामन्त्रीजी या सभाके किसी सदस्यकी ओरसे मुझे कोई जबानी या लिखित सूचना नहीं मिली, न सभाके सम्बन्धमें मुझसे कोई सलाह मशविरा लिया गया और न कभी सभाके किसी कार्यमें मुझे बुलाया गया, अतः मैंने यही खयाल किया कि सभाका काम बन्द है या प्रबन्ध कारिणी समितिने मेरी जगह दूसरा कोई प्रबन्ध कर लिया है। सभापतिजीने साफ शब्दोंमें यह घोषणा की है कि—"मेरे पास न तो कोई कागज या रुपया इस सभाका है और न मेरी सलाहसे कोई रकम वसूल होती है, न मुझे खर्चका हाल मालूम है। मेरा इस कामसे ७-८ वर्षसे कोई ताल्लुक नहीं है।" महामन्त्री सुन्दरलालजी बाकलीवाल फर-

माते हैं कि—सभापति महोदय अपनी जिम्मेवरीसे बरी नहीं हो सकते कारण उनका स्तीफा मंजूर नहीं हुवा, किसी जगहसे निमन्त्रण न आनेके कारण सभाका अधिवेशन नहीं किया गया; जिस किसीको हिसाब देखना हो वह ता० १ जुलाई से १० जुलाई तक नियत समय पर सभाके दफ्तरमें आकर देखलें; आजसे मैं सभाका कोई काम नहीं करूँगा, और इस कारण सभाको जो हानि होगी उसके जिम्मेवर खुली चिट्ठीके लेखक होंगे, आदि। बड़े आश्चर्यकी बात है कि महामन्त्रीजी ७-८ वर्ष तक सभापतिसे बिना किसी प्रकारकी सलाह व आज्ञा लिये अपने मनमाने ढंगसे सभाके नामसे रुपया इकट्ठा करते रहे, प्रबन्धकारिणी समितिको बुलाकर उसके समक्ष सभापतिका अस्तीफा विचारार्थ पेश करना तो दूर, प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्योंको उनके निर्वाचन होनेकी सूचना तक नहीं दी। लेकिन जब किसीने हिसाब माँगा तो फौरन काम छोड़नेकी धौंस बताने लगे व सभाके कल्पित नुकसानको हिसाब पूछनेवालोंके सिर मढ़ने लगे! अगर अधिवेशनके लिये कहींसे निमन्त्रण नहीं आया था तो महामन्त्रीजीका फर्ज था कि नियम नं० २२ के अनुसार खुद सभाकी तरफसे कहीं अधिवेशन करानेकी कोशिश करते। नियम नं० ५९ के अनुसार महामन्त्रीको अपने पास ५०) रुपया तक रखनेका अधिकार है तथा उनका कर्तव्य है कि वह प्रति मास आमद खर्चका ब्यौरा सभापतिके सामने पेश करें। जब महामन्त्रीजी श्री० सेठ कुँवरलालजी को सभापति मानते हैं तो क्या कारण है कि उन्होंने पिछले ७-८ वर्षोंमें उनके सामने कोई हिसाब पेश नहीं किया और अपने मनमाने ढंगसे रुपया इकट्ठा करते रहे व खर्च करते रहे? क्या उनकी यह सब कार्यवाही अनियमित नहीं है? साधारण समाज इस विश्वास पर कि श्री० सेठ कुँवरलालजी साहब सभापति हैं, सभाको रुपये भेंट करता रहा परन्तु अब इनके वक्तव्योंसे मालूम हुआ कि सुन्दरलालजी स्वयं ही सभापति, मन्त्री, कोषाध्यक्ष, प्रबन्धकारिणी समिति आदि सब कुछ बने हुए हैं।

खुलीचिट्ठीके लेखकोंने सुन्दरलालजीकी धाँधलबाजीका भंडाफोड़ कर हाड़ोती प्रान्तीय दिगम्बर जैनसमाजका बड़ा उपकार किया है। आशा है वे इस मामलेको योंहीं न छोड़ देंगे और यदि आवश्यकता हो तो महकमा आलिया खासमें मुनासिब अर्जकर कार्रवाई जाब्ता अमलमें लानेसे न चूकेंगे।

—एक कोटा निवासी।

सूर्यसागर संघ (?) समाचार।

कुछ समय पहिले सौ (भिण्ड) में सूर्यसागरजी से उनके मुनिवेषी शिष्य धर्मसागरजी व अजितसागरजीकी तकरार होगई थी, जिसपर धर्मसागरजी अजितसागरजी व एक क्षुल्लक इन तीनों ने मिलकर अपने गुरु सूर्यसागरजीकी कमण्डलुओंके प्रहार द्वारा पूजा की थी। आजकल ये सब लोग भिण्ड में ही विराजमान हैं। सूर्यसागरजी इन अहिंसा महाव्रती (?) शिष्योंसे अलग दूसरे स्थान पर ठहरे हैं। जब श्रावकों ने लोकलाजके खयालसे इन सबको एकही स्थान पर ठहरनेके लिये जोर दिया तो सूर्यसागरजी बोले—"सौमें इन लोगोंने, यदि वहाँ श्रावक मौजूद न होते, तो मुझे मार ही डाला था। चाहे विदेहोंसे सीमंधर स्वामी आकर यह कहें कि तुम सब एक संघमें पूर्व जैसाही रहो, तुम्हें इसी भवसे मोक्ष होगी, तोभी हमें अब साथ रहना नहीं है। मैं इस की प्रतिज्ञा करचुका हूँ।" खेद है कि हमारे कुछ भोले भाई बदनामीके खयालसे व्यर्थ सत्य पर पर्दा डालनेकी कोशिश किया करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दोषी व्यक्तियोंको उचित दंड नहीं दिया जाता वे बराबर उसी तरह पुजते रहते हैं और उनकी उच्छृंखलता बढ़ती जाती है।

सूर्यसागरजी अपने लायक(?) शिष्य मुनिवेषी धर्मसागरजी व अजितसागरजी आदिसे अत्यधिक डरे हुए हैं। एक रोज आप औरतोंसे बोले—"आज रात को मुझे स्वप्नमें महावीर स्वामीने दर्शन देकर कहा कि यदि तुम अलग न रहकर फिरसे इन मुनियोंका संघ बनाकर रहोगे तो सातवें नर्कमें जाओगे।" इस पर विशेष लिखना व्यर्थ है। मुनिवेषियों और उनके अंधभक्तोंकी लीला अपरम्पार है! —संवाददाता।

जैनगज़टके प्रकाशक पं० वंशीधरजी का पश्चात्ताप।

शांतिसागरजीके विद्रोही शिष्य चंद्रसागरजी श्रुतसागरजी आदिकी उच्छृंखलासे खिन्न होकर प्रकाशक जैनगजटने अंक ३५ में मुख्य स्थान पर "त्यागी व साधु" शीर्षक एक लेख प्रकट किया है जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं:—

"सारे संसारमें जैसे नास्तिकता और स्वेच्छाचार बढ़रहा है वैसे जैन तपस्वियोंमें भी बढ़ने लगा है। प्रथम तो त्यागी कम थे, परन्तु जैसे त्यागी बढ़े, वैसेही साथमें यह दुर्गुण भी बढ़ने लगा है। इतर मुनियों व त्यागियोंकी अव्यवस्था पर लोग पश्चात्ताप करही रहे थे कि श्री१०८आचार्य शांतिसागरके कुछ शिष्योंमें भी यह दोष नजर आने लगा है। अपने को जो पसंद है वही यदि चालू रखना है तो गुरु करनेकी क्या जरूरत है? बिना परवानगी जो स्वतंत्र विहार कररहे हैं, और स्वयं प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध न होकर भी अपने अपने जमाव इकट्ठे करने लगे हैं, यह स्वैराचारकी परमावधि है। हमारी तुच्छ बुद्धिमें स्वतंत्र विचरनेवाले कभी जैनसाधु नहीं कहा सकते। आजतक अनेकोंने संघभेद कर पाप कमाये हैं परन्तु वर्तमानके त्यागियोंको इससे बचना जरूरी है। इस हमारी प्रार्थना पर यदि ध्यान न गया तो हमें आगामी विशेष लिखनेको बाध्य होना पड़ेगा।"

मुनिवेषियोंका इतना गहरा पतन हुआ है कि एक समय जो जैनगजट,जैनजगत्को मुनिनिन्दक बताकर समाजको उसका बहिष्कार करनेके लिये भड़काया करता था, आज स्वयं उसको मजबूर होकर "मुनि निन्दा" करने पर प्रवृत्त होना पड़ा है। प्रकाशक जैनगजटके उपरोक्त लेखसे साफ प्रकट होता है कि वे इन मुनि कहे जानेवाले व्यक्तियोंके स्वच्छंदाचारसे भली प्रकार परिचित हैं, वे इनकी दिन बदिन बढ़ती हुई संख्याको सशंकित दृष्टिसे देखते हैं तथा पूर्णतया अनुभव करते हैं कि अमुक अमुक व्यक्ति जैन साधु कहे जानेके सर्वथा अयोग्य हैं। पंडित दलकी एक नीति यह है कि सुधारकोंकी प्रत्येक बातका—चाहे वह धर्मसहमत व समाजके लिये लाभदायक ही हो - विरोध करना, और समाजकी अज्ञानता व रूढ़िप्रियतासे लाभ उठाकर सदा उसको सुधारकोंके खिलाफ भड़काते रहना। इस नीतिके कारण प्रकाशक महाशयको जान बूझकर भ्रष्टाचारियोंकी पीठ ठोंकनी पड़ी है, जिसके कारण अनेक श्रद्धालु भाइयोंने इनके भुलावेमें आकर अपना श्रद्धान मलिन किया। मुनीन्द्रसागर आदिके खिलाफ भीषण आरोप लगाये गये, उनकी व्यभिचार लीलाएँ प्रकट कीगई, उनके परस्परके इकरारनामे, हिसाब बही आदि प्रकट किये गये लेकिन उपरोक्त नीतिका पालन करनेके लिये हमेशा जैनजगतको ही कोसा गया, उसे खामखाह बदनाम किया गया। फल यह हुआ कि इससे उन भ्रष्टाचारियोंके तो हौंसले बढ़गए किंतु साथही इस 'पोलखाते' को देखकर और कई गुंडे आकर्षित हुए और वे भी नंगे होकर समाजमें मुनिधर्मकी छातीपर मूंग दलने लगे। लेकिन अब परिस्थिति स्थितिपालकोंके लिये भी असह्य होउठी है। अगर उन्होंने प्रारम्भसे ही न्यायबुद्धि व विवेकसे काम लिया होता तो आज उन्हें यह दिन न देखना पड़ता और मुनिधर्मकी

हँसी न होती। खैर जो होना था सो होगया। जैन गजट के प्रकाशक महाशयको अब साहसपूर्वक मैदानमें आना चाहिये और स्वेच्छाचारियोंकी स्वच्छंद प्रवृत्तिको रोकनेके पूर्ण उद्योग करना चाहिये जिससे निर्मल मुनिमार्गकी रक्षा हो। —प्र०

मुनि चन्द्रसागरजी और लोहड़ साजन समाज।

(लेखक—श्रीमान् पं० कन्हैयालालजी जैन, सीकर)

पाठकोंको ज्ञात होगा कि खण्डेलवाल दिगम्बर जैन समाजमें बड़साजन और लोहड़साजन इस प्रकार दो फिरके हैं। लोहड़ साजन फिरका भी जाति और कुलकी अपेक्षा उसही प्रकार शुद्ध है जिस प्रकार कि बड़साजन। लोहड़साजन भाइयोंका बड़साजनोंके साथ कच्चे पक्के भोजनका व्यवहार तो सर्वत्र है ही, इसके अतिरिक्त कई प्रांतोंमें बेटीव्यवहार भी पाया जाता है। बड़साजन खण्डेलवालोंके कई प्रसिद्ध व्यक्तियोंका लोहड़साजनोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी हुआ है। इनके सम्बन्धमें अनेक प्रमाणोंका संग्रह किया है। आवश्यकतानुसार हम उन्हें प्रकाशित करावेंगे। लोहड़साजनोंकी उत्पत्तिका इतिहास देखतेहुए हम दृढ़तापूर्वक कहसकते हैं कि ये दस्से नहीं हैं, और ये पूजन, प्रक्षाल, अभिषेक, प्रतिष्ठा आदि उसही प्रकार करते कराते आये हैं, जिस प्रकार कि बड़साजन। खण्डेलवाल महासभाकी कमेटी ने जो इनके सम्बन्धमें फैसला दिया है उसको देखतेहुए भी यह स्पष्टतया कहा जासकता है कि ये शुद्ध दिगम्बर जैन खण्डेलवाल जैसी हैं। लोहड़साजन भाइयोंके सम्बन्धमें आजतक हमने जो सैकड़ो सम्मतियोंका संग्रह किया है उनसे, बड़साजनोंका इनके साथ समानताका व्यवहार है, यह स्पष्ट होजाता है। हमारी समाजके धर्मात्मा, विद्वान् और त्यागियोंके द्वारा इस संबन्धमें जो निष्पक्ष सम्मतियाँ हमें प्राप्त हुई हैं उनसे इस बातमें कोई संदेह नहीं रहजाता है कि बड़साजन और लोहड़साजनोंमें किसी प्रकारका कोई भेदभाव नहीं है। कहनेका आशय यह है कि लोहड़साजन भाइयोंकी शुद्धताके सम्बन्धमें पर्याप्त प्रमाण हैं। फिरभी मुनि चन्द्रसागरजीने अपनी पुरानी कषायवासनावश लोहड़साजन भाइयोंके विरुद्ध आन्दोलन उठाया है और उन्हें दस्सा सिद्ध करनेकी भरसक चेष्टायें कररहे हैं। पर यह निश्चित है कि यह सब प्रयत्न व्यर्थ होगा। हमें लिखतेहुए रंज होता है कि दिगम्बर जैन मुनिके पवित्र भेषको धारण करके भी इस प्रकार कषायके वशीभूत होकर मनुष्य जघन्यसे जघन्य कृत्य करनेपर उतारू होजाता है। अपने ध्यानाध्ययनके समय को छोड़कर इस प्रकार जनतामें विरोध फैलानेवाले आन्दोलनको खड़ा करना क्या मुनि पदके धारण करने वाले व्यक्तिको शोभा देसकता है? श्रीआचार्य शांतिसागरजीके संघके कई मुनिराजोंने व क्षुल्लक ज्ञानसागरजी व यशोधरजीने डिग्गी आदि ग्रामोंमें लोहड़साजनोंके निःसंदेह आहार लिया है। इन आहार लेनेवाले मुनिराजोंने अच्छी तरहसे निर्णय करलिया कि लोहड़साजन और बड़साजनोंमें कोई भेद भाव नहीं है, अन्यथा वे कभी आहार न लेते। पर प्रबल कषायके फंदेमें पड़कर चन्द्रसागरजी यह बरदाश्त न करसके।

उन्होने अपने मुनिभेषके परदेमें लोहड़साजनोंके साथ जो उनका पुराना बैर था, उसको निकालनेका अच्छा अवसर समझा, और जो भक्त दर्शनार्थ आये उनसे दबाकर इस प्रकारकी झूठी सम्मतियाँ लिखाना प्रारम्भ करदिया कि लोहड़साजनोंके साथ बड़साजनोंका कच्चे पक्के किसी प्रकारके भोजनव्यवहारका संबन्ध नहीं है, और वे दस्सा हैं। अंधभक्तोंने उनके प्रभावमें आकर जैसीभी उन्होंने सम्मतियाँ लिखाई, लिखदी। इस प्रकार दबा करके लिखाई गई सम्मतियोंमें से कुछ सम्मतियें जैनगजटमें प्रकाशित होचुकी हैं। इन सम्मति लिखने वालोंसे जब हम मिले और हमने पूछा कि लोहड़साजनों के सम्बन्धमें आपके नामसे जो सम्मतियें प्रकाशित हुई हैं कृपया बतलाइये कि वे किस आधार पर लिखी? क्या इस प्रकार सरासर सत्यका अपलाप करना आपका कर्तव्य है? तब उन्होंने कहा कि हम क्या करें? चंद्रसागरजी मुनि महाराज ने हमें दबाया तब हमें इच्छा न होते हुये भी लिखना पड़ा, आदि। किन्तु जब हमने उन व्यक्तियों को लोहड़साजन समाजकी तरफसे फौजदारी केस दायर

करनेकी बात कही तो वे घबराकर कहने लगे कि जो सम्मतियाँ हमने चन्द्रसागरजीको लिखी हैं, उनके विरुद्ध आपको लिखदेंगे, हम सही बात लिखनेको तैयार हैं। हमारी गलती हुई, हमें माफ़ करो। वास्तवमें लोहड़साजन भाई बिलकुल शुद्ध हैं, और उनके साथ हमारा सब प्रकारके भोजनव्यवहारका सम्बन्ध है।

इस प्रकार चंद्रसागरजी द्वारा दबाये जानेपर जो सम्मतियाँ जैनगज़टमें प्रकाशित कराई गई थीं, उनके खण्डनमें उन्हीं व्यक्तियोंने हमें अपनी सम्मतियाँ दी हैं जो आवश्यकता होनेपर हम पाठकोंके अवलोकनार्थ अवश्यही पत्रोंमें प्रकाशित करावेंगे, जिससे जनताको यह अच्छी तरह मालूम होजावेगा कि मुनि चन्द्रसागरजी कषायवश किस तरह अपने पदके विरुद्ध कार्य कररहे हैं।

हम मुनि चन्द्रसागरजीको नम्रभावसे लिखना चाहते हैं कि आप इस प्रकारके जघन्य कृत्यसे बाज़ आवें और गृहस्थावस्थाकी प्रज्वलित कषायाग्निको शान्तिके पवित्र जलसे बुझाकर अपना आत्मकल्याण करनेके लिये तत्पर हों। उन्होंने लोहड़साजनोंको दस्सा साबित करनेकी चेष्टामें मुनिसंघके तो दो टुकड़े करही डाले। क्या समस्त दिगम्बर जैन खण्डेलवाल समाजमें भी विरोधाग्नि भड़का कर दो टुकड़े करना चाहते हैं? क्या इन कामोंसे मुनि भेष लज्जित नहीं होता? परमात्मा मुनि चन्द्रसागरजीको सद्बुद्धि दे जिससे कि पवित्र और महान मुनिपद लज्जित न होवे।

उनको और उन्हींके समान कषाय रखने वाले या भ्रममें पड़े हुये लोगोंको यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि लोहड़साजन, बड़साजनोंके समान एक शुद्ध फिरका है, उनका बड़साजनोंमें केवल रोटीव्यवहारही नहीं, किन्तु कई प्रान्तोंमें बेटीव्यवहार भी है।

इस सत्य पक्षको सिद्ध करनेके लिये हमारे पास सैकड़ों प्रमाण हैं जो समय समय पर प्रकाशित कराये जावेंगे।

"बीती ताहि बिसारदे आगेकी सुध लेहु" की कहावत याद करके चन्द्रसागरजी शीघ्र ही श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके चरणोंमें आकर अपने किये हुये कृत्यों का प्रायश्चित्त लेकर, जो लोहड़साजनोंके विरुद्ध कषायने हृदयमें स्थान पालिया है, शीघ्र ही उसे निकालकर, आत्मकल्याण करें, ऐसी हमारी भावना है।

बधाई—शिमला निवासी श्रीमान ला० बनारसीदासजी जैन की सुपुत्री कुमारी राजमती इस वर्ष पंजाब यूनिवर्सिटीकी "हिन्दीभूषण" परीक्षामें सफल हुई है। गत वर्ष आप मेट्रिक परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुई थी। वास्तवमें विद्या ही सच्चा भूषण है और बालक-बालिकाओंको इसीकी प्राप्तिके लिये उद्योगशील होना चाहिये।

भूलसुधार।

जैनगजट अङ्क ३२ में नर्सारावादके लोहड़साजनोंके विषयमें जो मेरी सम्मति प्रकाशित हुई है, वह मेरी नासमझीसे होगई है। नर्सारावादके लोहड़साजन दस्सा नहीं कहलाते हैं। उनके साथ हमारा कच्चा रोटी व्यवहार व बेटीव्यवहार नहीं है। मिती सावन बदी ८ सं० १९९०

द० भँवरलाल बाकलीवाल देराठू (अजमेर)

नोट:—भँवरलालजी चन्द्रसागरजीके दर्शनके लिये टोड़ा गये थे, वहाँ उन्हें दबाकर लोहड़साजनोंके विरुद्ध सम्मति लिखवा ली गई थी, और उन्हींके द्वारा जैनगजटको भिजवादी गई थी। चूँकि आप नर्सारावादके रहनेवाले नहीं हैं अतः कच्ची रोटीव्यवहारके सम्बन्धमें खास नर्सारावादके पंचोंकी सम्मति, जो गताङ्कमें प्रकाशित हुई थी, विशेष माननीय है। —प्रकाशक।

हृदय थाम कर पढ़ें।

क़रीब ढाई महिनेसे सागरकी एक नवयुवती सुन्दरी जैन विधवा ग़ायब है! सुना है कि उसे एक जैनीका गर्भ रह गया था। घरवालोंने प्रतारना की, जिससे वह किसी मुसल्मानके यहाँ जा बैठी।

क़रीब एक साल पहिले एक जवान जैन विधवा एक मुसल्मान फ़कीरके साथ भाग गई थी। आज कल वह भिश्तीका काम करती है।

सागर ज़िलेके एक गाँवके जैन वैद्यराजजीने एक जैन विधवासे व्यभिचार किया। गर्भ रह जानेपर गर्भ गिराने को अनेकों दवाइयाँ दीं परन्तु गर्भ न गिरा और विधवाने एक बालिका प्रसव की। वैद्यराजजी बहुत अर्से तक अपने ज़िम्मेवारीसे इन्कार करते रहे परन्तु आखिर १५०) रु० विधवाको तथा पंचोंको जीमनवार देकर पवित्र होगये। आजकल आप अन्यत्र बैठक कर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, जबकि उस तिरस्कृता अनाथ विधवा और उसकी अभागिनी बालिका, दोनोंने जैनधर्म और जैन जातिकी भूरि भूरि सराहना करते हुए अपने प्राण देदिये। —संवाददाता।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ — १ अगस्त — सन् १९३३ — अङ्क १६

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र ।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र ।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

गतांकमें प्रकाशित अपीलको पढ़कर श्री० डॉ० निहालकरण जी सेठी डी०एस०सी० आगराने २५) रुपये तथा श्री० बाबू कपूरचन्दजी पाटनी इन्दौरने ५) रुपये जैनजगत्की सहायतार्थ भिजवाये हैं जिसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। आशा है जैनजगतके अन्य पाठक भी उसके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेमें देरी न करेंगे।

—प्रकाशक।

स्थानीय चर्चा।

चूँकि चन्द्रसागर मण्डली जनेऊ धारण करनेवाले तथा आजन्म शूद्रजलत्याग करनेवाले व्यक्तिके हाथका ही आहार लेती है अतः उनका ध्येय सदा यही रहता है कि किसी तरह लोग जनेऊ लें तथा शूद्रजलत्याग करें जिससे उनको आहार देनेवालोंकी संख्या बढ़े। जनेऊ धारण करनेसे या शूद्रजल त्याग करनेसे श्रावकोंका क्या हित होगा, इसके विचारनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। यदि कभी उनसे कोई व्यक्ति प्रश्न करता है तो फ़ौरन कह दिया जाता है कि पहिले जनेऊ लेकर तथा शूद्रजल त्याग कर श्रावक बनो, पीछे प्रश्न करना! उनके ख़यालसे जो व्यक्ति जनेऊ धारण नहीं करता, वह शूद्र है। आजके जनेऊधारी, जनेऊविहीनों या चन्द्रसागरजीके शब्दोंमें "शूद्रों" की सन्तान हैं। पाठक कहीं यह न समझलें कि चूँकि चन्द्रसागरजी उक्त "शूद्रसन्तानों" को जनेऊ देकर उन्हें श्रावक बना रहे हैं, वे शुद्धिके हामी हैं। मुनिवेष धारण करलेनेपर भी अभी तक आपके हृदयमें से जाति-अहंकारका विष दूर नहीं हुवा है। पाठकोंको मालूम होगा कि आपने लोहड़साजन खण्डेलवालोंको, जो शुद्ध खासा खण्डेलवाल हैं उनसा प्रमाणित करनेके लिये एक ज़बर्दस्त आन्दोलन उठा रक्खा है और आप उसके अगुवा बने हुए हैं। जनेऊ धारण न करनेवालोंको आप शूद्र होने व पूजा प्रक्षालके अधिकारी न होनेका जो फ़तवा देते हैं उसका कारण भी जातिमद ही है।

आपके भक्तोंने 'यज्ञोपवीत धारण विधि और आचार' शीर्षक एक पर्चा छपा रक्खा है, जिसमें लिखा है कि 'जनेऊ पहनकर महाव्रत धारण करनेसे पहिले उतार देनेमें मिथ्यात्व और प्रतिज्ञाभंगदोषसे पापका बन्ध होता है।" इसका अर्थ यह हुवा कि इनकी व्यवस्थानुसार ऐलक और क्षुल्लकको भी जनेऊ धारण करना आवश्यक है! अन्यथा वे मिथ्यात्वी व पापी समझे जायेंगे!

जनेऊ लेनेके लिये लोगोंको यह कहकर फुसलाया जाता है कि—तुम मन्दिरमें रोज़ जाते हो हो, पानीभी छान कर पीते हो, उदम्बर, कठुम्बर आदि फलभी नहीं

खाते तथा मद्य मांस मधुका भी सेवन नहीं करते, तो फिर जनेऊ लेकर स्वर्गकी सीढ़ीपर क्यों नहीं अधिकार करते हो ? यद्यपि "यज्ञोपवीतधारण विधि" में "कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुको नमस्कार नहीं करना" तथा "रात्रिमें भोजन नहीं करना"—ये आचारभी निर्दिष्ट हैं परन्तु इनपर कुछभी तवज्जोह नहीं दी जाती है, बल्कि भुलावा देनेके लिये यहाँ तक कह दिया जाता है कि—रात्रिमें भोजन करने की मनाई है, किन्तु तुम रात्रिमें कलाकंद, पेड़े आदि खा सकते हो, दूध पी सकते हो, सिंघाड़े आदि की चीज़ें खा सकते हो, फल वगैरह खा सकते हो; यह भोजन करना नहीं कहलाता !

श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीसे शूद्रजलका त्याग करानेके लिये चन्द्रसागरजीने बड़ी पोलिसी खेली। जब सेठजी सीधी तरह काबूमें नहीं आये तो उन्होंने यह तरकीब की कि आहारके लिये बाहर पड़गाहनेवाला खड़ा होने परभी उसकी उपेक्षा कर वे सेठजीके चौकतक गये और फिर वापिस लौट आये और उस रोज़ निराहार रहे। लगातार तीन चार रोज़ तक यही क्रम रहा। इधर सेठानीजी साहिबा जो पहिले ही शूद्रजलत्याग कर चुकी थीं, तथा चन्द्रसागरजीके एजेण्ट सेठ साहिबके कान भरतेही रहते थे। आखिर इस 'संथारेसे' डर कर सेठ साहिबको शूद्रजलत्याग की प्रतिज्ञा लेनी पड़ी। लोगोंको धोखा देनेके लिये इसके बाद एक रोज़ और चन्द्रसागरजीको निराहार रहे। यह सेठ साहिब पर चन्द्रसागरजीका पहिला वार हुआ है। उन्हें अभी सेठजीसे कई मोरचे लेने हैं। लोहड़साजनोंके पक्षमें सेठ साहिबने पहिले जो सम्मति दी थी उसपर इन्हींके हाथों हरताल फिरानी है। सेठ साहिब अपने आपको कट्टर शुद्धाम्नायी बताते हैं, अत: इनके गढ़में बैठकर इन्हीं की आँखोंके सामने शुद्धाम्नायके खिलाफ आन्दोलन करना है। सेठ साहिबकी नसियोंपर कलशारोहणके बहाने उत्सव का आयोजन कराकर अपने आश्रित पंडित मण्डलीकी सभाओंके अधिवेशन कराने हैं।

जब सेठ साहिबने आजन्म शूद्रजलत्यागकी प्रतिज्ञा लेली तो श्री० पं० बनारसीदासजी शास्त्रीको भी प्रतिज्ञा लेनी पड़ी। उनके लिये यह सिद्धान्तका नहीं, किन्तु आजीविकाका प्रश्न था। जो लोग शास्त्रीजीके आचारविचारसे परिचित हैं उन्हें शास्त्रीजीके इस त्याग पर ज़रा आश्चर्य हुआ। पूछने पर शास्त्रीजीने कहा—मैंने केवल शूद्रस्पर्शित जलके त्याग किये हैं, जलके अतिरिक्त और सब वस्तुएँ दूध, मावा, मिठाई वगैरह सेवन कर सकता हूँ। चन्द्रसागरजीने फतवा दे रक्खा है कि शूद्रजलत्यागी जलके अतिरिक्त और सब वस्तुओंका, जिनमें भले ही जलका सम्मिश्रण हो, शूद्रस्पर्शित होनेपर भी सेवन कर सकता है, कारण उनमें जलकी पर्याय बदल जाती है ! श्री० सेठ टीकमचन्दजी साहब भी दरोगेके हाथका केवल जलही नहीं पीते—वे दरोगेके हाथका दूध, अनारका रस, नारङ्गीका रस आदि नि:सकोच पीते हैं।

स्थितिपालक बन्धु कहा करते हैं कि इन मुनियोंके विहारसे उत्तर भारतमें जैनधर्मकी प्रभावना हो रही है तथा जनेऊधारण व शूद्रजलत्यागके उपदेशसे जैनजनता शुद्धाचरणी होगई है आदि। उपरोक्त विवरणसे पाठकों को मालूम होगा कि यह इनकी केवल व्यर्थकी डींगें मारना है, तथा ढोंग्रहीपन है। वास्तवमें इनकी हरकतों से न धर्मकी प्रभावना होती है और न जनताका आचरण ही सुधरता है।

चन्द्रसागरजीके उपरोक्त फतवेने 'Jain Dharma Made Easy का काम किया है अर्थात् उनका शूद्रजलत्याग-व जनेऊधारण रूपी जैनधर्म बहुत सरल होगया है। जनेऊधारण करनेवाले व्यक्तिको केवल दो तोले सूत शरीर पर और लादना पड़ता है तथा टट्टी पेशाबके समय उसका कुछ भाग खींचकर कानरूपी खूंटीपर टांग देना होता है। इसीतरह शूद्रजलत्यागीको भी अपने आचार व्यवहार में कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता नहीं है—वह बाज़ारकी सब चीज़ें पूर्ववत् खा सकता है; केवल जलकी दिक्कत है सो वह टोंटीके जलसे दूर हो सकती है। यदि टोंटीका जल उपलब्ध न हो तो भी कोई हर्ज नहीं। इन जातिमद्मत्तोंकी कृपासे नाई, खाती, लुहार आदि जातियाँ जिन्हें ये कल तक शूद्र बताते थे, अपने आपको ब्राह्मण बताने लगी हैं तथा इनकी तरह जनेऊ भी धारण करने लगी हैं। धर्मकी इस विचित्र व्यवस्थाका यह परिणाम

[शेष पृष्ठ २८ कॉलम दो]

जैनधर्म का मर्म ।

(३१)

ज्ञान के भेद ।

ज्ञानके पाँच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि मनः-पर्यय और केवल। पाँच भेदोंकी यह मान्यता महावीर युगसे लेकर अभीतक चली आरही है, परन्तु इनके लक्षणोंमें बहुत अन्तर होगया है तथा अनेक नयी समस्याएँ भी इसके भीतर पैदा हुई हैं, जिनके समाधानके प्रयत्नने भी इनके स्वरूपको विकृत करनेमें सहायता पहुँचाई है।

भगवान महावीरने ज्ञानके पाँच भेद ही बताये थे। इसीलिये ज्ञानावरण कर्मके भी पाँच भेद माने गये हैं। प्रत्यक्षावरण, परोक्षावरण आदि भेदोंका शास्त्रोंमें उल्लेख नहीं है। ज्ञानके प्रत्यक्ष, परोक्ष भेद कुछ पीछे प्रचलित हुए हैं। यह दूसरे दर्शनोंकी विचारधाराका प्रभाव है।

दूसरे दर्शनोंमें ज्ञानोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम आदि भेदोंमें बाँटा गया है। ये भेद अनुभव-गम्य और तर्कसिद्ध हैं। आगमके मति आदि भेद इस प्रकार तर्कपूर्ण नहीं हैं इसलिये जैनाचार्योंने प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो भागोंमें ज्ञानको विभक्त किया। इसप्रकार जैनशास्त्रोंमें दोनों तरहके भेदोंकी परम्परा चली। नन्दीसूत्रके टीकाकार मलय-गिरि इस बातको स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'तीर्थं-करोंने और गणधरोंने अपनी प्रज्ञासे ज्ञानके पाँच भेद प्राप्त किये थे, न कि सिर्फ दो, जैसे कि आगे* कहे जाएँगे'। इससे साफ़ मालूम होता है कि ज्ञानोंके प्रत्यक्ष परोक्षकी कल्पना भगवान महावीर और गण-धरोंके पीछेकी है। वास्तवमें भगवानके समयमें ज्ञानों पर इस दृष्टिसे विचारही नहीं किया गया था।

जिस समय जैनियोंको दूसरे दर्शनोंका सामना करना पड़ा, उस समय उन्हें नये सिरेसे प्रमाणव्य-वस्था माननी पड़ी। मत्यादि पाँच भेद तार्किक चर्चाके लिये उपयोगी नहीं थे। इसलिये जैनियोंने अपनी प्रमाणव्यवस्था दो भागोंमें विभक्त की। एक धर्म-शास्त्रोपयोगी पाँच ज्ञान रूप, दूसरी तार्किक क्षेत्रोपयोगी द्विविध या चतुर्विध। तार्किक दृष्टिसे भी प्रमाणके भेद दो तरहसे किये गये हैं। एक तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इस प्रकार चार भेद; दूसरे प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो भेद। तार्किकपद्धतिके ये दोनों प्रकारके भेद भगवान महावीरके बहुत पीछेके हैं। उमास्वातिने तार्किक पद्धतिके इन दोनों प्रकारके भेदोंका उल्लेख किया है। वे कहते हैं--

* ज्ञानं तीर्थंकरैरपि सकलकालावलम्बिसमस्तवस्तु-स्तोमसाक्षात्कारिकेवलप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं गणधरै-रपि तीर्थकृद्भिरुपदिश्यमानं निजप्रज्ञया पञ्चविधमेव ननु व-क्ष्यमाणनीत्या द्विभेदमेव। नन्दीटीका ज्ञानपञ्चकोद्देश सूत्र १

"प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। कोई कोई अपेक्षा भेदसे चार प्रमाण मानते हैं"...."ये चार भेदभी प्रमाण हैं*।"

उस समय प्रमाणके और भी बहुतसे भेद प्रचलित थे। कोई पाँच छः सात आदि भेद मानते जिसमें अर्थापत्ति संभव अभावका समावेश होता था। उमास्वाति इन भेदोंको अपने भेदोंमें शामिल करकेभी इनका विरोध† करते है। इससे मालूम होता है कि उमास्वाति जिस प्रकार चार भेदोंके समर्थक थे, उस प्रकार पाँच, छः, सात आदिके नहीं। फिरभी मालूम होता है कि उनने चार भेदोंका समर्थन सिर्फ इसलिये किया था कि उनसे पहिलेके जैनाचार्योंने उन्हें स्वीकार करलिया था। वास्तवमें प्रमाणके चार भेद उन्हें पसन्द नहीं थे। अगर उन्हें ये भेद पसन्द होते तो जिस प्रकार उनने प्रत्यक्ष परोक्ष भेदोंमें पाँच ज्ञानोंका अन्तर्भाव किया है उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान आदि चार भेदोंमें भी पाँच ज्ञानोंका अन्तर्भाव करते। चार भेदोंवाली मान्यता में पाँच ज्ञानोंका अन्तर्भाव ठीकठीक न हो सकनेके कारणही उमास्वातिने इसपर एक प्रकारसे उपेक्षा की है। सूत्रमें प्रत्यक्ष परोक्षका ही उल्लेख किया है और उसीमें पाँच ज्ञानोंका अन्तर्भाव किया है।

चार भेदवाली मान्यता अवश्यही उमास्वातिके पहिले की थी, परन्तु दो भेदवाली मान्यता पहिले की थी या नहीं, यह कहना जरा कठिन है। फिरभी इतना तो कहा जासकता है कि जैन साहित्यमें चार भेदवाली मान्यतासे दो भेदवाली मान्यता पीछे की है। प्रमाणके दो भेदवाली मान्यता चार भेदवाली मान्यतासे अधिक पूर्ण है। इसलिये अगर प्रत्यक्ष परोक्षवाली मान्यता पहिले आगई होती तो चार भेदवाली मान्यताको ग्रहण करनेकी आवश्यकता ही न होती। इसलिये प्रारम्भमें काम चलानेके लिये नैयायिकोंकी चार भेदवाली मान्यता स्वीकार कर लीगई। पीछे जैन विद्वानोंने स्वयं वर्गीकरण किया और दो भेद माने।

इन दोनों मान्यताओंके प्रचलित होनेपर भी पाँच भेदोंके साथ समन्वय करना अभी बाकीही रहा। प्रमाणके दो या चार भेद माने जायँ, तो इन में मत्यादि पाँच भेद किस प्रकार अन्तर्गत किये जावें—यह प्रश्न बाकी रहा, जिसका समाधान पिछले आचार्योंने किया। उपलब्ध साहित्यपरसे यही कहा जासकता है कि इस प्रकारका पहिला प्रयत्न उमास्वातिने किया। उनने परोक्षमें मति, श्रुतको और प्रत्यक्षमें अवधि, मनःपर्यय, और केवलको शामिल किया। इसके पहिले अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञानके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षका नाम [illegible] था, न इन ज्ञानोंको या उसके [illegible] माना जाता था। यद्यपि कुंदकुंदने भी [illegible] प्रत्यक्ष परोक्षका समन्वय किया है परन्तु जबतक कुंदकुंदका समय उमास्वातिके पहिले निश्चित न होजाय तबतक उमास्वातिको ही इस समन्वयका श्रेय देना उचित है।

उमास्वातिके इस समाधानके बाद एक जटिल प्रश्न फिर खड़ा हुआ। वह यह कि जिस ज्ञानको दुनिया प्रत्यक्ष कहती है, और अनुभवसे भी जो प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, उसे परोक्ष क्यों कहा जाय? यदि इस प्रत्यक्षको परोक्ष कहा जायगा तो अनुमान वगैरहसे इसमें क्या भेद रहेगा?

---

* तत्र प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं च परोक्षं च वक्ष्यते। चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण। त० भा० १-६। यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैरेकोऽर्थः प्रमीयते। त० भा० १-३०। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। १-३५।

† अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदित्यत्रोच्यते—सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किञ्चान्यत् अप्रमाणान्येव वा कुतः मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च। त० भा० १-१२।

उमास्वातिसे पीछे होनेवाले आचार्योंने इस प्रश्नके समाधानकी चेष्टा की। नन्दीसूत्रमें प्रत्यक्षके दो भेद किये गये–इन्द्रिय प्रत्यक्ष, नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्षमें स्पर्शन आदि प्रत्यक्ष शामिल किये गये। नोइन्द्रिय प्रत्यक्षमें अवधि आदि। बादके आचार्यों ने सांव्यवहारिक, पारमार्थिक नामसे इन प्रत्यक्षोंका उल्लेख किया। नन्दीसूत्रमें मतिज्ञानको प्रत्यक्ष और परोक्ष* दोनोंमें शामिल किया है। उधर अनुयोग-द्वारसूत्रमें मति ज्ञानको सिर्फ प्रत्यक्ष कहा है। अन्त में अकलंक आदिने इन सब गुत्थियोंको सुलझाकर प्रमाणके व्यवस्थित भेद किये जिनमें पाँचों ज्ञानोंका भी अन्तर्भाव हुआ। सर्वार्थसिद्धिमें † प्रकरण आने परभी इन्द्रिय प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं कहा गया, सिर्फ इन्द्रियज्ञानकी प्रत्यक्षताका ही खण्डन किया गया है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादके समय तक प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और पारमार्थिक भेदोंकी कल्पना नहीं हुई थी। अथवा वह इतनी प्रचलित नहीं हुई थी कि पूज्यपादको उसका पता होता।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने कदाचित सबसे पहिले प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दो भेद कहे हैं ‡। जिनभद्रगणिकी इस नवीन कल्पना को भाष्यके टीकाकारने पूर्व शास्त्रानुकूल सिद्ध करने के लिये जो एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाया है वहभी इस बातका साक्षी है कि यह नवीन कल्पना है। यहाँ मैं टीकाकारके वक्तव्यको शंका समाधान के रूपमें उद्धृत करता हूँ। टीकाकारने जो उत्तर दिये हैं वे बहुत विचारणीय हैं।

प्रश्न—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक भेद शास्त्रमें तो मिलते नहीं हैं, फिर भाष्यकार (जिनभद्रगणी) को कहाँसे मालूम हुए?

उत्तर—शास्त्रमें नहीं हैं, परन्तु दूसरी जगह इस तरह हैं कि—परोक्षके दो भेद हैं; आभिनिबोधिक और श्रुत। इन दोनोंको छोड़कर और कोई इंद्रिय ज्ञान नहीं है जिसे प्रत्यक्ष कहा जाय।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो मतिज्ञानके भीतर जो साक्षात इन्द्रिय ज्ञान है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष मानो और जो लिंगादिसे उत्पन्न अनुमानादि मतिज्ञान है उसे परोक्ष मानो। इस प्रकार मतिज्ञान प्रत्यक्षमें भी शामिल रहेगा और परोक्षमें भी। जिनने इंद्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है उनका कहनाभी ठीक होगा और जिनने मतिज्ञानको परोक्ष कहा है, उनका कहनाभी ठीक होगा।

उत्तर—इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानने पर वह [illegible] ज्ञान होजायगा। इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञानको मतिज्ञानके भीतर ही मानना चाहिये। और मतिज्ञान परोक्ष है, इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञानभी परोक्ष कहलाया। इसी प्रकार मनोजन्य ज्ञानभी परोक्ष सिद्ध हुआ।

प्रश्न—आगममें मनसे पैदा होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहाँ कहा है?

उत्तर—मनोजन्य ज्ञानको परोक्ष भलेही न कहा हो परन्तु मतिश्रुतको तो परोक्ष कहा है और मनोजन्य ज्ञान मतिश्रुतके भीतर है इसलिये वहभी परोक्ष कहलाया।

---

* परोक्खणाणं दुविहं पण्णत्तं तंजहा आभिणिबोहि-अनाण परोक्खं च सुअनाण परोक्खं च। नन्दी २४।

† स्यान्मतमिन्द्रिय व्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षं इत्येतदविसंवादिलक्षणमभ्युपगन्तव्यं इति तदयुक्तम् १-१२।

‡ एगंतेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं। इंदिय मणोभवं जं तं संववहार पच्चक्खं। विशेषावश्यक भाष्य ९५।

प्रश्न—आगममें नोइन्द्रिय प्रत्यक्षका स्पष्ट उल्लेख है और नोइन्द्रियका अर्थ तो मन ही होता है इसलिये मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाया।

उत्तर—भले आदमी! आगमके सूत्रका अर्थ न जानकर तू ऐसा कहता है। आगममें नोइन्द्रिय शब्दका अर्थ मन नहीं है, किन्तु आत्मा है। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् सिर्फ आत्मा से होने वाला प्रत्यक्ष। अगर नोइन्द्रियका अर्थ आत्मा न किया जायगा तो निम्नलिखित आपत्तियाँ खड़ी होंगी।

(क) अवधिज्ञान अपर्याप्त अवस्थामें भी बतलाया गया है परन्तु अपर्याप्त अवस्थामें मन नहीं होता। अगर अवधिज्ञान मानसिक होगा तो अपर्याप्त अवस्थामें कैसे होगा?

(ख) सिद्धोंके मन नहीं होता, इसलिये उनके भी प्रत्यक्षज्ञानका अभाव मानना पड़ेगा।

(ग) मनोनिमित्तज्ञान मनोद्रव्य द्वारा ही होता है इसलिये परनिमित्त वाला होने से वह अनुमान की तरह परोक्ष ही कहलायगा न कि प्रत्यक्ष।

(घ) मनोजन्य ज्ञान अगर प्रत्यक्ष होगा तो वह मतिश्रुतमें शामिल न होगा क्योंकि मतिश्रुत परोक्ष हैं। तब मतिज्ञानके २८ भेद कैसे होंगे? (मनके चार भेद निकल जाने से चौबीस ही होंगे।)

यहाँ पर नो इन्द्रियका जो आत्मा अर्थ किया गया है वह जबर्दस्तीकी खींचातानी है। वास्तवमें नोइन्द्रियका अर्थ मन ही होता है। टीकाकार ने जो चार आपत्तियाँ बतलाई हैं वे बिल्कुल निःसार हैं। उनकी यहाँ संक्षेपमें आलोचनाकी जाती है।

(क) जिस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें अवधिज्ञान होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान भी तो होता है। श्रुतज्ञान तो मानसिक ही है। जब मानसिक होने पर भी श्रुतज्ञान अपर्याप्त अवस्थामें रहता है, तब अवधि क्यों नहीं रह सकता? बात यह है कि मन करण है। जब तक करण न हो तब तक ज्ञानका उपयोग नहीं हो सकता परन्तु लब्धिरूपमें ज्ञान रह सकता है। अपर्याप्त अवस्थामें लब्धि (शक्ति) रूपमें अवधिज्ञान होता है।

(ख) सिद्धोंके प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरहका परपदार्थोंका ज्ञान ही नहीं होता। प्रत्यक्ष परोक्षभेद परपदार्थोंकी अपेक्षासे हैं। जब उनके परपदार्थोंका ज्ञान ही नहीं तब प्रत्यक्ष परोक्ष की चिन्ता व्यर्थ है।

(ग) परनिमित्तके होनेसे प्रत्यक्ष परोक्ष नहीं होता किन्तु स्पष्टता और अस्पष्टतासे होता है। ज्ञान मात्र किसी न किसी रूपमें परनिमित्तक होता है। परन्तु इसीलिये उसकी प्रत्यक्षता नष्ट नहीं होती।

(घ) 'मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने से मतिश्रुत में शामिल न होगा' यह कहना ठीक नहीं क्योंकि मन से पैदा होने वाले सभी ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते। जो मानसिक प्रत्यक्ष होते हैं वे अवधि आदि मे शामिल होते हैं, और जो परोक्ष होते है वे मतिश्रुत ज्ञानमें शामिल किये जाते हैं। मतिज्ञानके जो २८ भेद हैं वे मतिज्ञानके हैं न कि प्रत्यक्ष मतिज्ञानके।

इसप्रकार 'नोइन्द्रिय' शब्दके वास्तविक 'मन' अर्थ करनेमें कोई बाधा नहीं है। नंदीसूत्रमें जो अवधि आदिको नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है वह मानसिक प्रत्यक्ष है जो कि सत्य और मौलिक है।

इस विवेचनसे यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जब से पाँच ज्ञानों को दो भागोंमें बाँटनेकी चेष्टा हुई तभी इन ज्ञानोंका स्वरूप भी विकृत हुआ है। तथा संगति बैठानेके लिये सांव्यवहारिक आदिभेदोंकी कल्पना हुई। इस भेदकल्पना ने अवधि आदिके स्वरूप को और भी विकृत कर दिया।

इसप्रकार दूसरे दर्शनोंके निमित्तसे या संघर्षण से जैनाचार्योंको नयी ज्ञानव्यवस्था करनी पड़ी किन्तु उनको जब पाँचज्ञानवाली मान्यतासे सम-

न्वय करना पड़ा तब उनको उसी कठिनाईका सामना करना पड़ा जिसका कि दो नौकाओं पर सवारी करने वालेको करना पड़ता है। इस खेंचातानीमें पाँचों ज्ञानों का स्वरूप इतना विकृत होगया कि समन्वयका मूल्य न रहा, साथ ही पाँच ज्ञानोंकी मान्यता अन्धश्रद्धामें विलीन होगई। खासकर अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान तो बिलकुल अश्रद्धेय होगये। जैनधर्मकी पाँच ज्ञानवाली मान्यता पर जो प्रत्यक्ष परोक्ष और उसके भेद प्रभेदोंका आवरण पड़गया है, उसको जब तक हम न हटायेंगे तब तक ज्ञानोंके वास्तविक रूपकी खोज न कर सकेंगे।

इसीलिये यह चर्चा मैंने यहाँ पर की है कि पाँच ज्ञानोंके स्वरूप पर स्वतन्त्रतासे विचार किया जासके। "अमुक ज्ञान तो प्रत्यक्ष है इसलिये उसका ऐसा लक्षण नहीं होसकता" इत्यादि आपत्तियोंका यहाँ इसलिये कुछ मूल्य नहीं है कि ज्ञानोंकी प्रत्यक्षता परोक्षताका यह विचार मौलिक नहीं है। न्यायशास्त्रमें आये हुए प्रमाणके लक्षणसे लेकर उसके भेदप्रभेदों तकका जितना विवेचन है वह सब जैनेतर दार्शनिकोंके साथ होनेवाले संघर्षणका फल है। आचार्योंकी इन खोजोंमें सभी सत्य है और वह भगवान महावीरके मौलिक विवेचनसे विरुद्ध नहीं गया है, यह नहीं कहा जासकता। बल्कि यहाँ तक कहा जासकता है कि पीछेके कुछ आचार्योंने तो दूसरोंका अन्ध अनुकरण तक कर डाला है। उदाहरणके लिये माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी एक बात लीजिये। इनने प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्व' विशेषण डाला है, जिसे कि मीमांसकोंके प्रभावका फल कहना चाहिये। पहिलेके जैनाचार्य पूर्वार्थग्राही को भी प्रमाण मानते हैं। बल्कि विद्यानन्दिने तो इसविषयको बिलकुल ही स्पष्ट लिखा है कि ज्ञान चाहे पूर्वार्थग्राही हो या अपूर्वार्थग्राही, उसके प्रमाण होनेमें बाधा नहीं है।

यह तो एक उदाहरण है। ऐसी बहुतसी बातें विचारणीय हैं। प्रमाणकी स्वपर व्यवसायात्मकता, उत्पत्तिमें परतस्त्व, प्रत्यक्ष परोक्षकी परिभाषा, अनुमान के अंगोंका विचार, हेतुके उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेद, प्रमाणका सामान्य विशेषात्मक विषय, आदि बातें सब पीछेकी हैं, और विचारणीय हैं। मूलजैनसाहित्यमें इन बातोंकी चर्चा ही नहीं थी। दार्शनिक संघर्षणके कारण ये सब बातें आईं। इसलिये अगर आज हमें इनके विरोध में कुछ कहना पड़े तो इससे प्राचीन जैन विद्वानों की मान्यताओंका विरोध होगा, न कि भगवान महावीरकी मान्यताओं का।
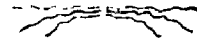
सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

काबुलमें क्या गधे नहीं होते?

एक यूरोपीय आदमीने हिन्दी बंगवासीमें एक लेख छपाया है, जिसमें उसने लिखा है कि "हिन्दू लोगोंकी जातिव्यवस्था बहुत अच्छी है, एक ही जातिमें शादी होनेसे पतिपत्नीमें मेल रहता है। खानेपीनेकी समानता रहती है। मानलो कि एक ब्राह्मण, चमारकी बेटीसे शादी करता है; ब्राह्मणको चिवरा दही अच्छा लगता है और चमारकी बेटी को मछलीभात। तो क्या मेल होगा? जब तक औरत जवान है, सुन्दर है, तबतक किसी तरह सलाह रहेगा लेकिन उसके बाद नहीं रहेगा।"

||||तस्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता। लक्षणेनगतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥ १-१०-७७

गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति तन्नलोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्। १-१०-७८।

हिन्दी बंगवासीके इस वक्तव्यको जैनगज़टने तथा खण्डेलवाल जैन हितेच्छुने उद्धृत किया है, इसलिये कि जिससे विजातीय विवाहका विरोध हो। मालूम होता है कि यह यूरोपियन हिन्दुस्थानके जातिपाँतिके पचड़ेसे अच्छी तरह परिचित नहीं है। वह बेचारा ब्राह्मण चमार आदिको ही जाति समझता है। वह शायद कल्पनाभी नहीं करसका है कि एकही धर्मको माननेवाले, एकही सरीखा आहार विहार करनेवाले, एकही सरीखा धन्धा करनेवाले, और कोई भी विशेषता न रखनेवाले मनुष्योंमें भी जातिभेद माना जाता है। ओसवाल और श्रीमाली, खंडेलवाल और पोरवाल, गोलापूर्व गोलालारे आदि नामोंसे प्रचलित टुकड़ियाँ भी यहाँ जातिशब्दसे कही जाती हैं जिनका आजीविका आदिसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह यूरोपियन जिन आपत्तियोंकी विभीषिका बतलाता है, वे खंडेलवाल अग्रवाल आदि टुकड़ियों में ज़रा भी लागू नहीं होतीं।

इस यूरोपियनकी दूसरी भूल यह है कि वह विजातीयविवाहका निषेध जातिको गुणधर्मके अनुसार मान कर करता है। उसकी दृष्टिमें जो चमड़े का धन्धा करे वह चमार है। ऐसे विजातीयविवाह का निषेध तो हम भी करते हैं। परन्तु कल्पना करो एक चमार प्रोफ़ेसर है या जज है, वह किसी अन्य जातिके प्रोफ़ेसर या जज की लड़कीसे शादी करता है और दोनों ही शाकाहारी या समानाहारी हैं। ऐसी हालतमें इस यूरोपियनके शब्द ऐसे विजातीय विवाहका निषेध नहीं कर सकते, जबकि हिन्दू इस उचित विवाह को अनुचित समझेंगे। गुणधर्म के अनुसार जातिव्यवस्था मानकर विजातीय विवाहका निषेध कियाजाय तबतो उसका कुछ अर्थभी है, परन्तु वर्तमानमें जिस तरहसे विजातीय विवाहका निषेध किया जाता है उसका कुछ अर्थ नहीं है। आज तो अगर कोई तेली या सुनार इन्सपेक्टर या जज है तो उसे अपनी लड़की उसी तेलीको देनी पड़ेगी जो तेलीका लड़का है, भले ही वह निरक्षर-भट्ट हो। भला इस सजातीय विवाहमें पति पत्नीमें क्या प्रेम रह सकता है? इसकी अपेक्षा तो वह किसी विजातीय शिक्षित कुटुम्बमें सम्बन्ध करे, उसीमें समानता है।

इसकी तीसरी भूल यह है कि वह आचारका और जातिका कुछ विशेष अविनाभाव समझता है। उसे मालूम नहीं है कि बंगाल, उड़ीसा, मैथुल आदि प्रान्तोंके बड़े बड़े वेदपाठी ब्राह्मण मछली, केंचुए, झिंगुर आदि सभी कुछ खाजाते हैं; काली देवीके पुजारी पशुओंका खून पानीकी तरह गटगटा जाते हैं। खाने पीनेकी म्लेच्छतामें वे चमारोंसे ज़रा भी कम नहीं हैं। दूसरे प्रान्तोंमें भी न्यूनाधिक संख्यामें ऐसे उच्चवर्णी मिलते हैं। वर्तमानकी जातिव्यवस्था में पतिपत्नीके समान चुनाव की ज़रा भी सुविधा नहीं है और उसके तोड़नेमें ज़रा भी बाधा नहीं है, बल्कि सजातीय विवाहके कारण क्षेत्र इतना संकुचित है कि वहाँ योग्य चुनाव घुणाक्षर न्यायकी तरह अत्यन्त कठिन है।

यह यूरोपियन इस बातको भूल जाता है कि आज वर्णजातिके अनुसार आजीविका आदिका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जैनसमाजके सैकड़ों पण्डित जन्मसे वैश्य और कर्मसे ब्राह्मण हैं। जब ये किसी कर्म वैश्यकी कन्या लाते हैं अथवा कर्म वैश्यको कन्या देते हैं तब ये बहुत भद्दे ढंगका विजातीय विवाह करते हैं; परन्तु जो विजातीय विवाह, सजातीय विवाह अर्थात् पतिपत्नीके योग्य चुनावका साधक है उसका निषेध करते हैं, फिरभी लज्जित नहीं होते!

किसी अर्धदग्ध यूरोपियनके विचारोंसे, और उसके असली भावको न समझकर, जब यह पोपदल अपनी बातोंका समर्थन कराना चाहता है तब हँसी आती है। एक तो किसी अपरिचितकी विचार-

धाराका विश्लेषण करना ये नहीं जानते; अगर कदाचित ऐसा कोई समर्थक मिलभी जाय तो इन्हें समझना चाहिये कि 'क्या काबुलमें गधे नहीं होते'।

अन्धों और बहिरोंसे ।

विधवाविवाहकी चर्चा करने पर स्थितिपालक लोग पुरुषत्वमदोन्मत्त होकर कहने लगते हैं कि—क्या तुम्हारे पास विधवाओंने अर्जी भेजी है ? क्या तुम्हारे पास सन्देश भेजा है ? पुरुषोंने स्त्रियोंको ऐसा गूँगा और पंगु बना दिया है कि आज कुमारी कन्याएँ भी विवाहकी अर्जी नहीं भेजतीं न सन्देश भेजती हैं। फिरभी हम उनका विवाह करते हैं। स्त्री समाज को जिस तरह कैद किया गया है उस अवस्थामें सादरोंके ढंगसे उनके पत्र या सन्देश आवें, यह कठिन है। फिर भी जो शिक्षित स्त्रीदल है उसने विधवाविवाहकी आवश्यकताकी घोषणा उच्चस्वरसे की है। स्त्रीसमाजके बड़े बड़े अधिवेशनोंमें ये घोषणाएँ हुई हैं। अशिक्षित, अर्धशिक्षित या लोकापवादसे डरनेवाली, या शिथिलेन्द्रिय होनेसे अपने को पुनर्विवाहकी आवश्यकता न समझकर दूसरों से घृणा करने वाली, स्त्रियाँ मुखसे स्पष्ट शब्दोंमें विधवाविवाहका प्रस्ताव नहीं रखतीं, फिर भी अधिकांश स्त्रियाँ अनेक तरहसे अर्जियाँ और सन्देश भेजती हैं परन्तु विधवाविवाहके विरोधी अन्धे न तो उन्हें बांच सकते हैं, न ये बहिरे सुन सकते हैं।

सैकड़ों स्त्रियाँ जो भ्रूणहत्याएँ करती हैं, भंगी और मुसलमानों तकके साथ भागजाती हैं, वे क्यों भागजाती हैं ? क्या ये लम्बी चौड़ी अर्जियाँ नहीं हैं ? क्या ये खुले सन्देश नहीं हैं ? परन्तु अन्धों और बहिरों पर इनका क्या असर ?

'अभी उस दिन देहलीमें एक हिन्दू विधवाने रेलकी लाइन पर लेटकर आत्महत्या करना चाही। भाग्यसे ड्राइवरने देख लिया और एंजिनको रोक लिया। जब उस बाईको लाइन परसे खींचकर निकाला गया तो उसने आँखोंमें आँसू भरकर करुणापूर्ण शब्दोंमें कहा—'मैं जिन्दगीसे तंग आचुकी हूँ। तुम लोग मुझे क्यों तंग करते हो ? मुझे मरजाने दो। मैं बालविधवा हूँ।'

'मैं बालविधवा हूँ, मुझे मरजाने दो'—इन शब्दों में क्या अनन्त अर्जियोंका अर्क खींचकर नहीं भरा हुआ है ? परन्तु इसे पढ़ें तो वे जिनके आँखें हों; सुनें तो वे, जिनके कान हों।

अब उस विधवापर आत्महत्याके अपराधमें अभियोग चलरहा है। परन्तु जिन लोगोंने उसके सिरपर बलाद्वैधव्यका टीका लगाकर उसे मरनेके लिये विवश किया है, उनके ऊपर क्या खूनका अभियोग न चलना चाहिये ?
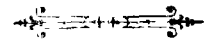
वर्तमान समयमें जैन धर्मावलम्बियोंने धर्मकी क्या मर्यादा बना रक्खी है और वास्तवमें धर्म सिद्धान्तानुसार क्या होनी चाहिये ?

(ले०—श्री०सेठ अचलसिंहजी ऐक्स-ऐम०ऐल०सी० आगरा)

वर्तमान समयमें जैनियोंने विशेषकर धर्मको एक बाह्य वस्तु मान रक्खा है। अर्थात् प्रभावना और क्रियाकांड अंगको ही मुख्य धर्मका साधन समझ रक्खा है। जैसे रथमहोत्सव, दीक्षामहोत्सव, केश-लोचन, स्वधर्मवात्सल्यता, बड़ेबड़े साधुओंका बड़ी धूमधामसे चतुर्मास

महोत्सव कराना इत्यादि । इसके अलावा मन्दिर, मूर्ति-पूजा, पूज्य आचार्य, गच्छ, टोले, सम्प्रदाय, स्थानक, उपासरा आदि आदि बातों पर श्वेताम्बर-दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी, स्थानकवासी-तेरहपंथी, दिगम्बर-दिगम्बर, श्वेताम्बर-श्वेताम्बर, स्थानकवासी-स्थानकवासी आदि आपसमें लड़ झगड़ रहे हैं और मुक़द्दमेबाज़ी कररहे हैं, इसी प्रकार जिस प्रकार रोमनकैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट, हिंदू और मुसलमान चन्द क्षुद्र बातों पर आपसमें सिरफुटौव्वल, कहासुनी और मुक़द्दमेबाज़ी आदि अनेक प्रकार की कलहका बातें कररहे हैं ।

अगर वर्तमान समयमें कोई मनुष्य भगवान् महावीर के निर्वाणके समय तथा वर्तमान समयकी जैन धर्मकी व्यवस्थाको देखे, तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि उसके हृदयके टुकड़े टुकड़े हो जायँगे और उसे ठीक ठीक पता न चलेगा कि वर्तमान जैनधर्म भगवान् महावीरका छोड़ा हुआ जैनधर्म है अथवा कोई अन्य धर्म है, उसी प्रकार जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वप्न देखनेके बाद उसका इतमीनान अथवा विश्वास नहीं करता । कहाँ तो वह अहिंसामय हमारा महान् धर्म जहाँ प्राणी मात्रके वास्ते स्वप्नमें भी द्वेष करना महान् पाप बताया जाता है, अर्थात् प्राणी मात्रको अपनी आत्माके समान अथवा मैत्रीभाव रखना बताया जाता है और कहाँ वर्तमान समयके हम क्षुद्र मनुष्य जो अपने आपको जैन धर्मके अनुयायी मानते हैं पर एक दूसरेका, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायका, एक गच्छ दूसरे गच्छका, एक आचार्य दूसरे आचार्यका जानी दुश्मन बन बैठा है । मूर्तिपूजक एक सम्प्रदायावलम्बी एकही भगवानकी अमुक प्रकारकी मूर्ति मानते हैं और पूजा करते हैं पर दूसरे सम्प्रदायावलम्बी उन्हीं भगवानकी दूसरे प्रकारकी मूर्ति मानते हैं और पूजा करते हैं । एक टोले या गच्छके साधु अमुक अमुक बातोंको मानते हैं पर दूसरे गच्छ और टोलेके साधु उन्हीं बातोंको दूसरे ढंग व तरीक़ेसे मानते हैं । लेकिन सिद्धान्त व रहस्य दोनों सम्प्रदायवालों व साधुओंका एक ही है । चूँकि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी थे, इसी विचारसे उन्होंने अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वादकी स्थापना की थी जिससे भविष्यमें साधुओं और श्रावकोंमें पूर्ण ज्ञान होजाय और वे धर्मसम्बन्धी छोटी छोटी बातों पर न लड़ें और न झगड़ें । इस प्रकार उन्होंने अनेक दृष्टि अर्थात् नयोंकी स्थापनाकी थी जिससे कहीं श्रावक और साधु एक एक पक्ष अथवा नयको लेकर न बैठ जाँय । पर दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि जिस बातको भगवान् नहीं चाहते थे उसी बातको वर्तमान समयमें हमारे श्रावक और साधुगण अज्ञानवश एक एक नयको पकड़कर बैठगये हैं और भगवान् के उस महान् धर्म और सिद्धान्तोंको कलंकित कररहे हैं ।

वास्तवमें देखा जाय तो जो धर्म वर्तमान समयमें हमलोग मानबैठे हैं, वह धर्म नहीं है । हमारा धर्म अथवा सिद्धान्त था आत्मशुद्धि, आत्मशान्ति, चारित्रकी निर्मलता, सचाई, प्राणी मात्रको अपनी आत्मा तुल्य समझना और किसीसे रागद्वेष नहीं करना और अहिंसामय सिद्धान्त को मानना, पर जब हम निगाह उठाकर देखते हैं तब हम इन बातों से अपनेको बिल्कुल विमुख और परे पाते हैं । अर्थात जहाँ आत्माकी शुद्धिकी बात है जहाँ हम आत्माको हर समय गंदा और भारी बना रहे हैं । जहाँ आत्मशान्ति की बात है वहां अशान्ति करते नज़र आते हैं । जहां सचाई की बात है वहाँ बात बातमें झूठ बोलते और धोखा देते नज़र आते हैं । जहां प्राणीमात्र को अपनी आत्मातुल्य समझना चाहिए वहाँ प्राणीमात्र द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन किया जाता है । इस प्रकार हम हर सिद्धान्त का बुरी तरह से दुरुपयोग कररहे हैं । अगर यथार्थ में हम भगवान महावीर की संतान हैं, अगर हमारी नसों में बुजर्गोंके रुधिरका संचार है और अगर हमको अपनी आत्माको इस भवरूपी संसारसे पार लगाना है तो हम को वर्तमान रूढ़िमय धर्मको छोड़कर उस महान सिद्धांतों पर आजाना चाहिये और आपसके लड़ाई, झगड़े, वैमनस्य आदिको सर्वथा भूलजाना चाहिये। तभी हम अपने को सच्चे और पक्के जैन धर्मावलम्बी और भगवान् महावीर के अनुपम भक्त कहलानेका दावा कर सकेंगे । आशा है है कि मेरे बन्धु, लेखकके इन तुच्छ विचारों पर अवश्य ध्यान देंगे और कार्यरूपमें उन्हें परिणत करेंगे ।

विरोधी मित्रोंसे ।

[११]

ब्र० शीतलप्रसादजीने लेखमालाके विरोधमें जो गर्जन तर्जन किया है उसका उत्तर मैं देता रहा हूँ। उनकी कुछ युक्तियोंकी आलोचना रहगई है, वह यहाँ कीजाती है।

आक्षेप (२६)—आत्माके असल स्वरूपपर विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि उसमें ज्ञान गुण है। ज्ञानका अर्थ जानना है। तब वह सब पदार्थोंको जानेगा। यदि आत्माका स्वभाव अल्पज्ञ माना जाय तो उसकी मर्यादा क्या होगी? जितना जो पुरुषार्थ करता है, ज्ञान उतना ही बढ़ता जाता है।

समाधान—आत्माका स्वभाव ज्ञान अवश्य है; परन्तु आत्माका स्वभाव आत्मामें ही रहता है, बाहिर नहीं। वह परपदार्थोंको नहीं, किन्तु आत्माको जानता है। परपदार्थको जाननेका व्यवहार उपचारसे है। उपचारका कारण यह है—आत्माके साथ अनेक सूक्ष्म और स्थूल शरीर बँधे हुए हैं। बन्ध अवस्थामें दो पदार्थ एक दूसरेके साथ इतने मिलजाते हैं कि वे एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालने लगते हैं। इसलिये आत्मा अपने जाननेके समय शरीरोंका और उनके ऊपर पड़े हुए प्रभावोंका भी संवेदन करता है। बाह्य पदार्थ जब इन शरीरों पर प्रभाव डालता है और आत्मा, अपनेसे बँधे हुए इन शरीरोंका जब अनुभव करता है, तब वह परसंवेदन कहलाता है। मतलब यह कि आत्माका ज्ञान गुण आत्माके भीतर ही काम करता है, बाहिर नहीं। इसलिये परपदार्थोंमें ज्ञानकी सीमा बाँधनेकी आवश्यकता ही नहीं है। हम लोगोंके ज्ञानमें जो वृद्धि बताई जाती है, वह परनिमित्तक है। शुद्ध अवस्थामें तो सिर्फ शुद्ध स्वानुभाव रह सकता है, जिसे केवलदर्शन कहते हैं। इस आक्षेपका विशेष समाधान सर्वज्ञत्वकी चर्चामें 'पंचम युक्त्याभास' इस शीर्षक के नीचे किया गया है। (देखो जैन जगत् वर्ष ८ अंक १३)

आक्षेप (२७)—जीवकी अनन्त राशि शास्त्रमें अक्षय अनन्त राशि कही है जिसका अर्थ यही है कि वह राशि कभी समाप्त न होगी। दशमलवमें १ की संख्या को ३ से भागदेते चलेजाँय—चाहे अनन्तकाल तक दिये जावें—तब भी एक समाप्त नहीं होता है।

समाधान—शास्त्रमें अक्षयानंत राशि कही, यह कौन पूछता है? प्रश्न तो यह है कि वह संगत या सिद्ध कैसे हो सकती है? एकमें जब हम तीनका भाग देते हैं तब $\frac{१}{३}$ रहजाता है, अर्थात् $\frac{२}{३}$ कम हो जाता है। फिर जब हम $\frac{१}{३}$ में तीनका भाग देते हैं तब $\frac{१}{९}$ आता है अर्थात् $\frac{२}{९}$ भाग अलग होता है। जब तीसरी बार भाग देते हैं तब $\frac{१}{२७}$ आता है अर्थात् $\frac{२}{२७}$ न्यून होता है। इस प्रकार पहिली बारमें $\frac{२}{३}$ की, दूसरी बारमें $\frac{२}{९}$ तीसरी बारमें $\frac{२}{२७}$ की, चौथी बारमें $\frac{२}{८१}$, की, पाँचवीं बार $\frac{२}{२४३}$ की हानि होती है। मतलब यह है कि १ में से जो हानि हो रही है वह एक के अमुक निश्चित भागकी हानि नहीं है जैसे एकबटे करोड़, या एकबटे अर्ब खर्ब आदि किन्तु अवशिष्टांशके अमुक भागकी हानि है। इसलिये पहिली बार जो भाग घटता है, दूसरी बार उससे बहुत कम घटता है, तीसरी बार उससे भी बहुत कम। इसलिये वह राशि खतम नहीं होती। परन्तु संसारमें से जो जीव मोक्ष जाते हैं वे इस क्रमसे नहीं, किन्तु एक समान राशिमें घटते हैं। अगर यह होता कि संसारमें जितने जीव बचते हैं उनके दसमलवें भाग जीव एक कल्पकालमें मोक्ष जाते हैं, तब उपर्युक्त दशमलवका दृष्टान्त यहाँ लगाया जा सकता था। परन्तु इसका फल यह होता कि वर्तमान कल्पकालमें जितने जीव मोक्ष जाते, इसके बादके कल्पकालमें उससे कुछ कम जाते, क्योंकि वर्तमान कल्पकालमें संसार राशि जितनी है उतनी आगामी कल्पमें न रहेगी। इसप्रकार भाज्य राशिके कम होजानेसे भजनफल राशि भी कम होगी। जब प्रत्येक कल्पमें मोक्ष जानेवालोंकी संख्या कम होती जायगी तब इसमें दो आपत्तियाँ खड़ी होंगी—

१—वर्तमान कल्पमें जितने जीव मोक्ष जाते हैं उससे पहिलेके कल्पमें कमसे कम एक जीव अधिक मोक्ष गया होगा। इस प्रकार अतीतकी ओर दूसरे कल्पमें दो जीव अधिक मोक्ष गये होंगे। इस हिसाबसे अनन्त कल्प पहिले एक कल्पमें मोक्ष जाने वाले जीवोंकी संख्या अनन्त मानना पड़ेगी। परन्तु अगर हम ऐसे कल्पकाल

की भी कल्पना करलें जिसके कि आदिसे अन्त तक प्रत्येक समयमें एक जीव मोक्ष जाता रहा है तब भी एक कल्पकालमें अनन्त जीव मोक्ष नहीं जा सकते क्योंकि एक कल्पकालके समय ज्यादः से ज्यादः असंख्य हो सकते हैं, न कि अनन्त। अगर कहा जाय कि एक एक समयमें बहुतसे जीवोंका मोक्ष जाना मानलेंगे तो प्रतिसमय अनन्त जीवोंका मोक्ष मानना पड़ेगा, परन्तु एक समयमें अनन्त मनुष्य ही नहीं हो सकते, जिनमेंसे जीव मोक्ष जाते हैं। पूरे कल्पकालमें भी अनन्त मनुष्य नहीं होसकते जिससे कि एक कल्पकालमें अनन्त जीव मोक्ष जावें।

२—इसीप्रकार भविष्यकालमें कोई ऐसाभी कल्पकाल मानना पड़ेगा जिसमें कि मोक्ष जानेवाले जीवोंकी संख्या घटते घटते एक रहजायगी। तब चौबीस तीर्थंकर या छः महीना आठ समयमें ६०८ जीवोंके मोक्षमें जानेका नियम तो टूट ही जायगा, साथ ही उससे आगेके कल्पकालोंमें आधे जीव, पाव जीव, $\frac{1}{2}$ जीव आदि जीवके टुकड़ोंके मोक्ष जानेकी नौबत आजायगी। इसप्रकार घटते घटते जब एक ही जीव मोक्ष जानेवाला रह जायगा तब दस संख आदि किसी संख्याका भाग जीवमें देना पड़ेगा और उसके कुछ भागोंको मोक्ष भेजना पड़ेगा। दशमलव में तो चाहे जितने टुकड़े करते जाओ, कोई चिन्ता नहीं परन्तु यहाँ तो जब मोक्षगामी एक ही जीव रह जाता है, तब टुकड़े करना असम्भव है, क्योंकि जीवके टुकड़े नहीं होसकते। इसलिये दशमलवका दृष्टान्त यहाँ ठीक नहीं बैठ सकता। अगर हम मोक्षगामियोंकी एक राशि निश्चित करलें तब उनकी संख्या अवश्य नष्ट होजायगी। हम ऐसी किसी राशिकी कल्पना नहीं कर सकते जिसको एकमें से घटाते जायँ और वह कभी खतम न हो।

मतलब यह कि प्रस्तुत प्रकरणमें दशमलवका दृष्टान्त दो कारणोंसे विषम है:—

(क) दशमलवमें उत्तरोत्तर क्रमसंख्या न्यून होती जाती है, परन्तु जीवोंमें यह बात नहीं बन सकती।

(ख) दशमलवमें जितने चाहे टुकड़े करते जाओ, चिन्ता नहीं है; परन्तु यहाँ एक जीव रह जाने पर उसके टुकड़े होना बन्द होजाते हैं।

करीब ढाई हज़ार वर्ष पहिले यूरोपमें 'जयनो' नामक एक तार्किक हुआ है, जो कहा करता था कि अगर खरगोशकी चाल कछुएसे दशगुनी हो और खरगोशको कछुए के दस गज पीछे छोड़कर दौड़ाया जाय तो वह कछुएको कभी न पा सकेगा। क्योंकि जब तक खरगोश दस गज चलेगा तब तक कछुआ एक गज बढ़ जावेगा। जब तक वह एक गज बढ़ेगा तब तक कछुआ $\frac{1}{10}$ गज और बढ़ जावेगा। इसप्रकार $\frac{1}{100}$, $\frac{1}{1000}$, $\frac{1}{10000}$ आदिका अन्तर बना ही रहेगा।

ऊपर जिसप्रकारकी विषमता दशमलवके दृष्टान्तमें बताई गई है वैसी यहाँ भी समझना चाहिये। खरगोश और कछुएको दौड़ा करके हम इस तर्ककी निःसारता—अनुभवविरुद्धता साबित कर सकते हैं। ये तर्क बच्चोंको बहलानेके कामके हैं, इनसे तत्त्वनिर्णय नहीं होता।

आक्षेप (२८)—अक्षय अनन्त राशि भी कभी समाप्त न होगी क्योंकि वह न समाप्त होने वाली अनन्तराशि है।

समाधान—यह अनुमान ऐसा ही है जैसा कोई कहे कि इस पर्वतमें अग्नि है क्योंकि यह अग्निवाला पर्वत है। 'अक्षय अनन्तराशि' और 'न समाप्त होने वाली अनन्तराशि' एकही बात है। इसलिये एक को साध्य और दूसरेको हेतु नहीं बना सकते, क्योंकि साध्य असिद्ध होता है और हेतु सिद्ध होता है।

आक्षेप (२९)—यदि कालराशि अक्षय अनन्त न होती तो निःसन्देह जीवराशि समाप्त हो जाती।

समाधान—यह बात बिलकुल उलटी है। कालराशि अक्षयानन्त है इसीलिये जीवराशि समाप्त हो जायगी। क्योंकि कालका अन्त आयगा नहीं, इसीलिये जीव घटते घटते खतम हो जायँगे। अगर कालराशि जीवराशि से छोटी होती तो कालराशि पहिले खतम होती और जीव राशि बचती। जब कालराशि अनन्तगुणी है और असंख्य समयमें एक जीव मोक्ष जाता है, तब बाकी काल मोक्षगामी जीवोंसे शून्य होना चाहिये। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि कालके बिना कोई भी द्रव्य नहीं रह सकता, जब कि किसी एक द्रव्यके बिना काल रह सकता है। इसलिये कालका अन्त माननेकी अपेक्षा जीवोंका अन्त मानना ही उचित होगा। दो जुदी जुदी राशियोंमें न्यूनाधिकता मानना और दोनोंको अक्षयानन्त कहना अ-

संगत है। एक राशि जब दूसरी राशिसे अधिक होती है तब उसका अर्थ यही है कि वह राशि दूसरी राशिको ख़तम करके आगे बढ़ी है। इसलिये क्षेत्र और कालको छोड़ कर जगतमें कोईभी राशि अक्षयानन्त नहीं कही जासकती और क्षेत्र तथा कालमें न्यूनाधिकता कही नहीं जासकती।

श्रावण सुदी २ वीर सम्वत् २४५८ के जैनमित्रमें ब्रह्मचारीजीने जो आक्षेप किये थे, उनका यह समाधान है। भव्याभव्यके विषयमें जो आपने कहा है उससे मेरा खण्डन नहीं होता; बल्कि जीवोंमें भव्याभव्यके भेदोंको निश्चयसे न मानकर किसी अंशमें आपने मेरा समर्थनही किया है। इसलिये उसकी चर्चा नहीं की जाती। जैनमित्र में एक भाईने भव्याभव्य पर लिखा है। उसका विचार आगे किया जायगा।

ब्रह्मचारीजीने ज्येष्ठ बदी ९ वीर संवत् २४५९ में भी कुछ उद्गार निकाले हैं, जिनका उत्तर जगत्के १५वें अंकमें दिया गया है। ज्येष्ठ बदी ९ और ज्येष्ठ शुक्ला १५ के जैनमित्रमें ब्रह्मचारीजीने केवलज्ञानकी प्रचलित परिभाषाके कुछ शास्त्रीय उद्धरणोंकी दुहाई दी है। परन्तु ब्रह्मचारीजी को जानना चाहिये कि शास्त्रोंको मैंने मजिस्ट्रेटके आसन से उठाकर गवाहोंके कठघरेमें खड़ा किया है और न्यायासन पर तर्कको बिठलाया है। इसलिये शास्त्रोंकी दुहाईका यहाँ कुछ मूल्य नहीं है। अगर शास्त्रोंके शब्दोंका अन्ध अनुकरण करना होता तो लेखमालाकी ज़रूरत न थी। किसी बातको कहनेके लिये जब तक आपके पास कोई तर्क न हो, तब तक आप तकलीफ़ न किया करें। तर्कके नामपर जो आपने इन लेखोंमें कुछ लाइनें लिखी हैं, उन का भी यहाँ उत्तर दिया जाता है।

आक्षेप (३०)—जिस व्यक्तिको जितना ज्ञान हो गया वह एक ही समयमें उसके ज्ञानमें उपस्थित रहता है। उसका प्रकाश अवश्य क्रमसे होता है, परन्तु प्रमाणरूप ज्ञानके होनेमें कोई बाधा नहीं दीखती है। तब जिसके पूर्ण ज्ञानका विकास हो जायगा, उसके सर्वज्ञपना ज्ञानमें अक्रमरूप रहे तो इसमें कोई बाधा नहीं दीखती है।

समाधान—सर्वज्ञत्वमें क्या बाधा है, इसकी मीमांसा तो लेखमालाके चतुर्थ अध्यायमें हुई है। यहाँ सिर्फ़ क्रम अक्रमकी चर्चा करना है। जब आप देखते हैं कि कोई छोटा ज्ञानी हो या बड़ा, वह क्रमसे ही प्रकाश करता है अर्थात् एक समयमें एकही वस्तुपर उपयोग लगा सकता है, तब केवली अनेक पर कैसे लगायगा? यदि छोटा ज्ञानी एक समयमें एक उपयोग, उससे बड़ा एक समय में दो उपयोग, उससे बड़ा तीन चार आदि इसप्रकारका क्रम होता तो यह कल्पना की जाती कि कोई अनन्त उपयोग भी लगा सकेगा। जब हम ज्ञानके बढ़नेपर भी उपयोगोंकी वृद्धि नहीं मानते, तब केवलीके युगपत् उपयोग कैसे सिद्ध होसकते हैं? जितना ज्ञान होजाय उतना रहे, इसका कोई विरोध नहीं है; परन्तु आपत्ति तो उसके होने में ही है। जब अनन्तज्ञान हो ही नहीं सकता तब उपस्थित कैसे रहेगा? कोई एक साथमें अनेक पदार्थोंको अलग अलग विशेषरूपमें नहीं जान सकता। इसका स्पष्टीकरण लेखमालाके लेखाङ्क २२ में 'केवलज्ञानोपयोगका रूप' इस शीर्षकके नीचे देखना चाहिये।

आक्षेप(३१)—आत्मज्ञानी अगर केवली कहाजाय तब तो चौथे गुणस्थानमें आत्मज्ञान न बनेगा। जितने श्रुतकेवली होते हैं वे सब सम्यक्त्वी आत्मज्ञानी होते हैं। बाहरी द्वादशांगका ज्ञान उनको व्यवहार श्रुतकेवली नाम देता है जब कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप या अनुभवरूप आत्म ज्ञान उनको निश्चय श्रुतकेवली नाम देता है।

समाधान—मालूम होता है कि ब्रह्मचारीजी लिखनेके लिये ही लिखते हैं। उनको यह ख़याल नहीं रहता कि हम अमुक पक्षका विरोध करते हैं या समर्थन। इसी लिये इसी लेखमें उनने आगे चलकर लिखा है—"हाँ, प्रत्यक्ष आत्माका जैसा ज्ञान केवलीको होता है, वैसा श्रुतकेवलीको नहीं होता।" बस, आपके ये शब्द ही आपके वक्तव्यके विरोधी और मेरे पक्षके समर्थक हैं। जैसा आत्मज्ञान श्रुतकेवलीको नहीं होता और केवली को होता है वही केवलज्ञान है। आप आत्मज्ञानीको निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं परन्तु आत्मज्ञानी तो अविरत सम्यक्त्वी नारकी भी है। क्या उसे आप निश्चय श्रुतकेवली कहेंगे? बात यह है कि आत्मज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होता है और बढ़ते बढ़ते तेरहवेंमें समाप्त होता है। केवलीके आत्मज्ञानकी समानता दूसरे नहीं कर सकते। इसीलिये मैं आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा को केवल ज्ञान कहता हूँ।
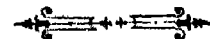
चर्चासागर पर दो शब्द।

(लेखक—श्रीमान पो० एल० बाकलीवाल, व्यवस्थापक "रेलवे समाचार")

चर्चासागर क्या और किस विषयका ग्रंथ है, यह लिखना जैनसमाजमें मची हुई वर्त्तमान सामाजिक एवं धार्मिक हलचलोंसे अपनी अनभिज्ञता सूचित करना है। कुछभी हो, आधुनिक प्रकाशित जैनग्रंथोंमें बिरलाही कोई ऐसा ग्रंथ हुआ होगा जिसकी जन्म-पत्रीमें इतना नाम पैदा करनेका जोग पड़ा हो।

चर्चासागर पर यथेष्ट चर्चायें होचुकी हैं, पर प्रायः यदि, इत्यादि वालों द्वारा और यदि इत्यादि ही की दृष्टिमें यद्यपि वर्त्तमान जैनसमाजमें ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या एक हाथकी उँगलियों परभी गिनी जाने लायक नहीं है, अतएव यह प्रयास उन महानुभावोंके लिये है जिन्होंकी समझमें चर्चासागर का मर्म अभीतक नहीं आया है। समाजके विद्वानों एवं पण्डितोंसे नम्र निवेदन है कि वे भी इसे ध्यान-पूर्वक पढ़नेकी कृपा करें और जहां कहीं उन्हें अपने स्थिर किये हुवे सिद्धान्त पर कोई प्रकारकी शंका दिखे उसका दयापूर्वक समाधान करदें।

चर्चासागरमें वर्णित कतिपय बातोंके विचार पर मतभेद है, जिनमें से कुछ ये हैं और इनपर धर्मवीर पं० श्रीलालजी पाटनी, अलीगढ़ निवासीने खंडेलवाल हितेच्छु आदि पत्रोंमें अपना अभिमत प्रकट किया है, अर्थात (१) गोबर, (२) पूजाकी दिशायें, (३) सिद्ध अवगाहना, (४) जापकी माला, (५) पूजा पाठादिके आसन, (६) मुनियों का निवास स्थान।

इस लेखको सुचारु रूपसे व्यक्त करनेके लिये वर्त्तमान दिगम्बर जैनसमाजमें दो दलकी उपस्थिति माननी आवश्यक है; अर्थात् एक पंडित, दूसरा शुद्धाम्नायी। पंडित दलके मुखिया पं० मक्खन-लालजी शास्त्री हैं। आप मोरेना जैन विद्यालयके प्रधानाध्यापक हैं और वादीभगजकेशरी आदि अनेक असाधारण उपाधियों द्वारा विभूषित हैं। शुद्धाम्नायी दलके मुखिया बननेका श्रेय पं० गजाधर-लालजी शास्त्री को है। आपने न्यायतीर्थकी उपाधि गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, कलकत्ताकी परीक्षा पास करके प्राप्तकी है और कलकत्तामें अपनी एक घी की दूकान द्वारा स्वतंत्ररूपेण अपना काम चलाते हैं।

गोबर:—चर्चासागरमें गोबर पवित्र एवं उत्तम वस्तु मानी गई है, यहांतक कि उससे तीन लोकके स्वामी श्री अरिहंत भगवानकी पूजा आरती हो सकती है। पंडित दलके मुखिया पं०मक्खनलालजी ने अपने एक ट्रेक्टमें इस पक्षका समर्थन किया है और प्रमाणस्वरूप अनेक जैन शास्त्रोंके नामोल्लेख किये हैं शुद्धाम्नायी दलके मुखिया पं० गजाधरलाल-जीने इस पक्षका विरोध किया है और जैन शास्त्रों हीके प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि गोबर जैसी गुदाद्वारनिश्रित मल वस्तु तीन लोकके स्वामी की आरती पूजामें काम नहीं आसकती, और अग्राह्य है। यद्यपि पंडित दलके अन्यान्य पक्षपातियोंने पंडित मक्खनलालजीके पक्षका समर्थन किया है तथापि उनमेंसे किसी किसीने गोबरको एकदम शुद्ध भी नहीं माना है तो उसे हेय करार देनेमें भी हिच-किचाये हैं। इनमें अलीगढ़ निवासी धर्मवीर पंडित श्रीलालजी पाटनी एक हैं।

आप खंडेलवाल हितेच्छु अङ्क ४ ता० २९ दिस-म्बर १९३२ के पृष्ठ संख्या ५ में "चर्चासागर आ-न्दोलन पर अभिमत' शीर्षक लेखमें फरमाते हैं—"गोबर नीराजना (आरती) में दृष्टि आदि दोष दूर करनेके लिये युक्तियुक्त है और प्रतिष्ठापाठोंमें भी जो पाषाण सम्बन्धी खनिज दोष दूर करनेको

गर्भ, जन्म अवस्था समयमें जो गोबर स्थापन है वहभी समुचित है।" कहना पड़ेगा पंडित गजाधरलालजीकी आपत्तिका यह कोई उत्तर नहीं है। यह तो "सवाल दीगर जवाब दीगर" वाली बात है। यदि पं० गजाधरलालजीने आपको यह अप्रिय सत्य कही कि गोबर जैसी गुदाद्वारनिश्रित, अशुद्ध एवं अपवित्र वस्तु तीन लोकके नाथकी आरती पूजनके काममें नहीं लाई जासकती तो धर्मवीरजी छाती पर हाथ रखकर अपनी अन्तरात्मासे पूछें कि क्या उक्त पंडितजीका यह कहना ठीक नहीं है? और यदि ठीक है और उन्होंके इस स्पष्ट सत्यभाषणसे समाज के कतिपय लोग चर्चासागरके हिमायती भड़क गये तो क्या बुरा हुवा? जूओंके भयसे घाघरा फेंकदेना, कौनसा बुद्धिमानीका काम है? दूसरी बात "कच्चा जगहके मृतमनुष्यस्थानकी शुद्धि एवं कच्चे स्थानमें बालकोंकी विष्ठा आदिकी शुद्धिके लिये गोबर ग्राह्य है।" आपकी इस मान्यता पर पं० गजाधरलालजीने कब और क्या आपत्तिकी थी, यद्यपि आपकी ये सब मान्यतायें आपत्तियोंसे सर्वथा वंचित नहीं हैं और उनमेंसे कुछ ये हैं:—

दृष्टि दोष मिटानेके लिये भगवानकी शिशु अवस्थामें गोबरसे आरती कीजानी युक्तियुक्त होनेमें अनेक शंकायें हैं:—(१) भगवान जैसे किसी पुण्यवान व्यक्तिके प्रति भक्तिही होसकती है; दृष्टि दोषकी संभावनाही क्या थी जो गोबरसे आरती करनेकी किसीको सूझती? (२) भगवान्‌की आरती करने का सौभाग्य इन्द्रानियोंको नसीब हुवा था; अतः इन्द्रानियोंको या भगवानकी माताको ऐसे पुत्रकी आरती उतारनेके लिये गोबर जैसी दुर्गन्धित एवं अपवित्र वस्तु उपयुक्त जँची, यह अटकल आपकी युक्तिके कौटेपर ठीक नहीं उतरती। (३) गोबरमें ऐसा कोई गुण विशेष मानभी लिया जाय कि उस से आरतीका टोना किया जानेपर बच्चोंको दृष्टि दोष नहीं होता अथवा किसी बच्चेके होजाय तो मिटजाता है! तोभी इस टोनेका उपयोग किन्हीं मूर्ख या गँवार श्रेणियोंके लोगोंमें भलेही कभी हुवा हो या होता होगा। समझदार भले घरोंमें तो गोबरसे किसीकी आरती उतरती हुई इस गये गुजरे समय में भी कभी देखने सुननेमें नहीं आई। (४) बच्चों को दृष्टिदोष न हो, इस भयके मारे मातायें अपने बच्चोंके गाल अथवा ललाटादि अङ्गों पर कालेके कुछ माँडणे माँडती अवश्य देखी जाती हैं। चर्चासागर या उसीके अनुरूप प्रतिष्ठापाठोंके रचयिता भगवानके चेहरे पर काले माँडणे माँडनेका विधान दर्ज करना कैसे भूलगये? जब भगवान्‌की माता या इन्द्रानियोंने गोबर जैसी घृणित वस्तुका व्यवहार किया तो यह हो नहीं सकता कि उन्होंसे इस काले माँडणे माँडनेका टोना न करनेकी भूल हुई होगी। (५) भगवान्‌के प्रति व्यवहारमें आनेवाली चीजें स्वर्गोंसे आती थीं, ऐसा शास्त्रज्ञोंके मुखोंसे सुना है। यदि यह बात सत्य है और यदि यहभी सत्य है कि देव अथवा विक्रिया द्वारा बने हुवे पशु कवलाहार नहीं करते तो फिर स्वर्गोंमें गोबरकी उत्पत्ति किस तरह कराई गई थी? इसका निर्णय किस आचार्य महाराजने किस मान्य जैन शास्त्रमें किया है, यह अभीतक किसीने नहीं बताया है। अतएव इस भेदका स्पष्टीकरणभी साथही साथ हो जाय तो अच्छा होगा। (६) यदि ऐसी मिथ्या और थोथी बातोंका मानना लोकमूढता एवं मिथ्यात्व नहीं है, अथवा ऐसी बातों पर विश्वास करनेवाले मूढ़ या मिथ्यात्वी नहीं हैं तो जैन धर्मानुसार वे कौनसी बातें हैं जो मिथ्यात्वकी श्रेणीमें आसकती हैं और जिन्हें मानने वालोंको निगोदका रास्ता लेना पड़ता है? कई लोग मुसलमानोंको देव मानकर बच्चोंपर फूँक दिलानेके लिये मसजिदोंमें लेजाते हैं। यहभी एक टोनाही समझा जाता

है। गोबरका टोना करनेमें दोष नहीं तो और और टोने के विरुद्ध क्यों आकाश पाताल एक किया जाता है? यदि किसी प्रदेश विशेषमें किसी जाति विशेष द्वारा सम्पादित कार्यमें मान्यता आजाती है तो संसारमें प्रचलित किसीभी क्रियाके विरुद्ध आपत्तिके लिये स्थान नहीं रहेगा।

"मृतमनुष्यस्थानकी शुद्धि एवं बालकोंकी भिष्टा आदि शुद्धिके लिये गोबर ग्राह्य है।" बहुत ठीक है। पं० गजाधरलालजीने इसे माननेसे कब इन्कार किया? इस युक्तिसे धर्मधीरजीका यहाँ क्या प्रयोजन निकलता है? इससे तो धर्मधीरजीके शस्त्र से धर्मधीरजीका ही घात होता है। हीन पदार्थ हीन ही काममें तो आया। हाँ, गोबरकी शुद्धताकी सिद्धि में कोई ऐसा प्रमाण देते कि प्रतिष्ठित प्रतिमायें उससे जल या केसरकी भाँति अर्ची जाती है तो आपकी खूबी रहती। अस्तु, जहरसे जहर मारा जाता है तो क्या जहरमें जहर मारनेका गुण होने से उसकी तारीफ़ के पुल बाँधनेमें उसका खानाभी युक्तियुक्त कहना चाहिये? गंधककी धुआँसे बिगड़ी हुई वायु शुद्ध होती है, पर श्रीमंदिरजीमें धूप खेयी जाती है। गोबर लीपने पोतनेके काममें आता है, इसलिये ग्राह्य है तो गोमूत्र अनेक शारीरिक व्याधियोंको मिटानेका गुण रखता है एवं पीया जाता है। एतदर्थ धर्मधीरजीके हिसाबसे गोमूत्रका पिया जानाभी युक्तियुक्त होना चाहिये। जैन दृष्टिकोणसे गोबर न कभी ग्राह्य था, न है और न होगा। जैन धर्मका आधार अहिंसा है। गोबरसे लीपना पोतना प्रत्यक्ष हिंसक काम है। गोबर स्वयंमें जीवोंकी विशेष उत्पत्ति है अतएव उससे लीपने पोतनेसे उसके आश्रित जीव तो मरते ही हैं, परन्तु परवर्त्ती यानी जिसे लीपा पोता जाय उसके आश्रित जो जीव होते हैं वेभी मारे जाते हैं। गोबरकी शुद्धिकरणका मर्म यदि कुछ है तो वह यही है।

पूजाकी दिशायें—"बहुतसे आगम प्रमाणोंसे यह बात निश्चित है कि पुजारी यज्ञोपवीत व तिलक लगाकर पूर्व या उत्तर मुख करके पूजा करे।" धर्मधीरजी साहबका यह कहना बिल्कुल यथार्थ है। यह विधि मार्ग है और मान्य है। पर यह पण्डित गजाधरलालजीकी आपत्तियोंका उत्तर कहाँ हुवा? चर्चासागरमें यह या ऐसी जो बातें लिखी हैं कि अमुक दिशामें खड़ा होकर पूजा करनेसे यह खराबी होती है और भगवानके सन्मुख खड़ा होकर पूजा करने वालेका पुत्र मरजाता है, इत्यादि ऐसी बातों का आगम प्रमाण क्या है, यह तो विदित नहीं होता। भादवा आदि पर्व तथा अन्यान्य उत्सवादिके मौक़ों पर स्थानाभावके कारण जिसे जहाँ स्थान मिलजाता है वह वहीं खड़ा हो पूजा कर पुण्यबंध करता है। पुण्यलाभके बदले केवल किसी दिशा मात्रमें खड़ा होकर पूजा करनेके कारण पुजारियोंके पुत्रों को मरना पड़े अथवा ऐसी ही और कोई आपत्ति उठाना पड़े, यह किन मान्य जैन शास्त्रोंमें लिखा है? और यह बात आगमानुकूल है तो जहाँ भगवान की चतुर्मुख प्रतिमायें हैं उनकी पूजन होना किस तरह बनेगा? किसी दिशा विशेषमें खड़ा होकर भगवान् की पूजा करनेसे किसी विशेष लाभका होना मान भी लिया जाय तो भी यह कैसे माना जाय कि उन दिशाओंकी तरफ़ मुख न करके अन्यान्य दिशाओं की तरफ मुख करके पूजन करनेसे उल्टा दुष्फलों की प्राप्ति होती है? फलकी प्राप्ति भावोंपर निर्भर है। लड्डू किधरसे ही क्यों न खाया जाय, मीठा ही लगेगा—यदि उसे खानेवाला कोई रोगग्रसित नहीं किन्तु स्वस्थ हो।

सिद्ध अवगाहनाः—सिद्धकी अवगाहना चरम देहसे किंचित ऊन कही है। वही ऊनता सिद्ध परमेष्ठी के है और यह कथन बिल्कुल युक्तिसंगत है। चर्चासागरमें कहीगई अवगाहना यानी चरम शरीर

का तीसरा भाग कम मानना और उसकी पुष्टिमें शरीरकी पोल निकल जानेकी कल्पना द्वारा उसका उतनाही रहजाना मानना हास्यास्पद है। चर्मशरीर की त्वचा यानी चाम जिससे शरीर ढका रहता है, और नख केशादि शरीरलिप्त चीजोंमें जहाँ जहाँ आत्मप्रदेशका सद्भाव नहीं होता है वही प्रदेशी तो ऊन यानी कम होजाता है। मुझे स्मरण है कि स्वर्गीय पं० धन्नालालजी काशलीवालने भी एक बार मुझे इसी तरह समझाया था। शरीरके भीतर आत्मप्रदेश अविच्छिन्न शरीराकार रहता है; ऐसा नहीं है कि जहाँ जहाँ पोल है वहाँ सर्वत्रही आत्म प्रदेशका अभाव होता है। ऊन अवगाहना अन्तिम शरीरमें आत्माद्वारा वास्तविक रोके हुवे प्रदेशका मापही तो है।

जाप करनेकी माला:—मूँगा, मोती, रत्नादिक की क़ीमती मालाओं पर भावोंका अवलम्बन यानी माला जितनी दामी हो उतनाही अधिक जापमें भाव लगता है यह मानना, मानो दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ करना है कि भावोंकी शुद्धाशुद्धिका दारमदार मालाकी क़ीमत या यों कहिये टकों पर है। पं० श्रीलालजी साहब पाटनी इस पक्षके समर्थनमें रत्न प्रतिमाका उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि रत्न प्रतिमामें जनताकी अभिलाषा अधिक रहती है। मालूम होता है, धर्मधीरजीकी दृष्टि इस ओर नहीं गई कि जनताकी यह अधिक अभिलाषा कौतूहल या आश्चर्यमयी होती है न कि उनकी रत्नोंके होनेके कारण किसी ऐसे विशेष पूज्य भावको लिये हुवे कि उनकी पूजा करनेसे फरवट मोक्ष पहुँच जाँयगे जो दूसरी कमदामी प्रतिमाओंकी पूजनसे असम्भव है। मेरी समझमें तो रत्न प्रतिमा पूजाके लिये मिल भी जाय तो पुजारीके मनमें यह भय अवश्य बना रहेगा कि कहीं ऐसा न हो कोई गैर आदमी आजाय और इस बहुमूल्य रत्न प्रतिमाको उठा मेराभी काम तमाम करजाय। यही बात मालाके विषयमें है। वह जितनी मूल्यवान होगी उतनीही अधिक चिन्ताजनक होगी और जहाँ भय और चिन्ता विद्यमान है वहाँ भावोंकी एकाग्रता होना नितान्त असम्भव है। मालाके विषयमें मतभेद किसी मंत्र या अनुष्ठानादिक जाप जप पर नहीं हुवा था। मालूम नहीं धर्मधीरजीने यह नई बात क्यों बीचमें ला घुसेड़ी है।

पूजा पाठादि के आसन:—पं० गजाधरलाल जी शास्त्रीने दर्भासनकी बुराई कहाँ की है? वे तो यह जानना चाहते हैं कि कहाँ और किस मान्य आचार्य द्वारा रचित ग्रंथमें ऐसी बातें लिखी हुई हैं कि पाषाणकी शिला पर बैठनेसे रोगकी पीड़ा और पृथिवी पर बैठकर जाप करनेसे दुःख और काठ पर बैठनेसे दुर्भाग्य होता है इत्यादि इत्यादि? मुनि महाराज प्रायः पाषाणकी शिला पर बैठकरही ध्यान लगाते हैं। कमंडल, पिच्छिकाके सिवाय और परिग्रह उनके लिये वर्जनीय है। फिर हल्दीसे रँगा हुवा एवं लालरंगका इत्यादि ऐसे आसनोंकी व्यवस्था उनके लिये कीजानी क्योंकर और कैसे बनसकेगी?

मुनियों का आवास:—धर्म के ठीकादार ऐसे पण्डितोंके मुखोंसे यह अनेकबार सुना गया और सुना जाता है कि धर्मका स्वरूप सदा एकसा अटल रहता है; वह कभी नहीं बदलता। यदि ऐसा है तो मुनियोंका रहन सहन देशकालानुसार क्यों बदलना चाहिये? और यदि मुनियोंके लिये उसका बदलता रहना युक्तियुक्त है तो फिर गृहस्थियोंके लिये क्यों नहीं? समझमें नहीं आता, मुनियोंका आवासस्थान शहरके बीचोंबीच होना चाहिये या हो सकता है—इस मतको सैद्धान्तिक रूप देनेमें इस समयके अद्भुत पण्डितोंने क्या लाभ सोचा है? बसतीके किनारे नशियाँजी जैसे किसी शान्त स्थानमें रहनेसे मुनियों का क्या हर्ज होता है? मुनि पद ध्यान करनेके लिये

एवं उपसर्ग परिषहादि सहनेकी क्षमता रखनेवाले धीरवीर पुरुषों द्वारा धारण करनेके लिये है, न कि कायरोंकी भाँति उपसर्गादिसे डरने वालोंके लिये। मुनिवृत्ति तो सिंहवृत्ति है। जैनधर्ममें साधुका क्या स्वरूप है, इसविषयमें अधिक न लिखकर केवल "ते साधु मेरे उर बसो" कविवर पण्डित भूधरदासजी कृत इस स्तुतिकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करदेना यथेष्ट होगा। किसी भी मान्य जैन शास्त्रमें हीन शक्ति या हीन आचरणवाले मुनि की कहीं कोई स्तुति की गई हो, ऐसा देखने सुनने में नहीं आया। हाँ, इसके विपरीत उनकी निन्दाके पाठ स्थान स्थानपर अवश्य देखनेमें आते रहते हैं।

आश्चर्य और खेद की बात है कि गृहस्थियोंको तो श्रेष्ठ मुनिधर्म धारण करने का उपदेश दिया जाता है; कारण, ऐसा न हो कि किसी व्यक्ति के भाव किसी समय बढ़े चढ़े हों और न्यून उपदेशमें संयोगवश कहीं उसके भाव उलटे गिर जावें परन्तु जो गृहस्थधर्म छोड़ मुनिदीक्षालेना चाहते हैं या जिन्होंने लेरखी है, उन्हें ऐसी अद्भुत युक्तियों एवं उक्तियों द्वारा आरामतलब या शिथिलाचारी बनानेकी निंद्य चेष्टायें की जा रही हैं।

पण्डितोंका यह कहना है कि जिस ग्रन्थमें एक बात भी पूर्वापर विरोधी एवं धर्मविरुद्ध हो तो वह सबका सब ग्रन्थ अमान्य होता है। ऐसा नहीं है कि उसमेंकी अनुचित बातोंको छोड़कर उचित बातें ग्राह्य करली जाँय। यह ठीकभी है, नहीं तो संसारके किसी धर्ममें ऐसा कोईभी ग्रन्थ न मिलेगा जिसमें लिखी हुई समस्त बातें सर्वतोभावेन अमान्य ठहराई जासकें। अतः इन सब बातोंको देखते हुवे जैनियोंके यहाँ इस विचित्रग्रंथ चर्चासागरका क्या स्थान होना चाहिये, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं अपने आप करलें।

नोट—जैनसमाजमें चर्चासागर सरीखे ग्रंथोंका अस्तित्व या प्रचार खेद और लज्जाकी बात अवश्य है, परन्तु आश्चर्यकी बात नहीं। इस तरह सैकड़ों ग्रंथ हैं जिनमें जैनधर्मके विरुद्ध कथन है। उनमेंसे मुख्योंमें चर्चासागर है। लेखकने जिन मुद्दोंकी चर्चाकी है उनमेंसे तीसरे 'सिद्ध अवगाहना' को शास्त्रीयचर्चा या तात्विक चर्चाका मतभेद कहकर क्षमा कर सकते हैं, परन्तु बाक़ी विषयोंमें चर्चासागरका कथन मिथ्यात्व और भ्रष्टाचार के आगे आत्म समर्पण करनेके समान है। इन भ्रष्ट ग्रन्थों को देखकर समाजको समझना चाहिये कि जितना पीला है वह सब सोना नहीं है। अपनी बुद्धि को ताक़ में रखकर शास्त्रों पर विश्वास करना भी मूढ़ताओंकी मूढ़ता है। जबतक यह शास्त्रमूढ़ता रहेगी तबतक सैकड़ों मूढ़ताएँ यहाँ अठखेलियाँ करेंगी और जैनत्व पासभी न फटकने पावेगा। —सम्पादक।

मोसर, उसके दुष्परिणाम और उसके बन्द करनेके उपाय।

(ले०-श्री०सेठ अचलसिहजी ऐक्स-ऐम०ऐल०सी० आगरा)

जो भोजन मृतव्यक्तिकी यादगारमें या उसके नामपर जातिभाइयोंको जिमानेमें दिया जाता है, उसे मोसर या नुकता कहते हैं। जैनधर्मग्रन्थों या शास्त्रोंमें मोसर अथवा मृत्युभोजके क़िस्मकी कोई प्रथा नज़र नहीं आती है। ऐसा मालूम होता है कि यह कुप्रथा जैनधर्मावलम्बियोंने वैष्णव संप्रदायावलम्बियोंसे ग्रहण की है। वैष्णव ग्रन्थ ऐसा कहते और मानते हैं कि मृत्यु होनेके बाद मनुष्योंकी आत्माएँ प्रेत होती हैं। अतः उनको प्रसन्न रखने अथवा शान्ति देनेके वास्ते ब्राह्मणोंको भोजन व वस्त्र देने चाहिये। इसी विचारसे वैष्णव सम्प्रदायावलम्बी श्राद्ध वग़ैरह किया करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि जब वैष्णवोंका भारतवर्षमें अच्छा दौरदौरा था, उस समय इस प्रथाने जैनियों पर भी असर डाला और जैनधर्मावलम्बी उनकी देखा देखी मोसर अथवा मृत्युभोज करने लगे। धीरे धीरे इस कुप्रथाने इस क़दर मज़बूती पकड़ी कि क्या ग़रीब क्या अमीर सबको मजबूरन इस कुप्रथाको करना ही पड़ता था और प्रायः अब भी करना ही पड़ता है।

इस कुप्रथाका यह परिणाम नज़र आता है कि आये वर्ष जैनसमाजका भाइयोंके एक दिनके भोजनमें लाखों रुपयोंका स्वाहा होता चला जाता है। और यदि कोई भाई ग़रीब होता है, या उसके पास छोटीसी जायदाद होती है और नक़द रुपया पास नहीं होता है, तो बिरादरीके पंच उसे मजबूर करते हैं कि वह रुपया क़र्ज़ ले या मकानको गिरवी रक्खे और मोसर करे, वरना उसकी बड़ी हिकारत करते और घृणाकी नज़रसे देखते हैं। परिणाम यह होता है कि ख़ुशीसे या दबावसे उसे अवश्य इस कुप्रथाका शिकार होना ही पड़ता है और उसे मृत पुरुषकी एवज़में जीवनपर्यन्त रोज़ाना मरना पड़ता है। क्योंकि जब वह एक समय ऋणी होजाता है तब रात दिन ब्याज उसपर चलता है और महाजन उसपर तक़ाज़ा करता है, यहाँ तक कि उसपर नालिश करके उसकी सारी जायदाद नीलाम कराता है, और अगर तब भी कुछ धन जीविकाके लिये रहता है तो उसे गिरफ़्तार कर जेल भिजवाता है।

इन तमाम भयङ्कर दुष्परिणामोंको देखकर वर्तमान समयमें कुछ विचारशील और शिक्षित लोगोंने इस कुप्रथाके भीषण परिणामोंका अनुभव किया और अब वे इस बातका प्रयत्न कर रहे हैं कि यह कुप्रथा सर्वथा रोकी जाय। धीरे धीरे इस कुप्रथाने इस क़दर ज़ोर पकड़ लिया है कि बावजूद कि पुराने विचारके लोगोंसे मना किया जाता है, प्रार्थना की जाती है कि वे मृत्युभोज न करें, पर वे इन सब बातोंका कोई ख़याल न करते हुए मोसर बड़े समारोहके साथ करते हैं। अमीर आदमी दस-पाँच, बीस, चालीस हज़ार तक एक दिनमें स्वाहा कर डालते हैं और इनकी देखादेखी बहुतसे ग़रीब भाई भी इस प्रकार अपनेको नाश कर लेते हैं जिस प्रकार चनेके साथ घुन पिस जाता है। पर ज़ोरदार आँधीमें छोटे मोटे पेड़ उखड़ कर जड़मूलसे गिर पड़ते हैं।

वर्तमान समय क्रान्तिका है। जो जाति या समाज समयानुसार नहीं चलेगी उसे उलटी मुँहकी खानी पड़ेगी और इसके फलस्वरूप उसे ऐसे अवनतिके गड्ढेमें गिरना पड़ेगा कि सदाके वास्ते उसे अपने व्यक्तित्वसे हाथ धोना पड़ेगा। अगर जैनसमाज अपनेको जीती जागती और हरी भरी रखना चाहती है तो उसे समयानुसार इस कुप्रथाको और साथही साथ अन्य कुप्रथाओंको सदाके वास्ते जड़मूलसे नष्ट कर देनी चाहिये। अगर यही चाल बेढंगी रही तो यह निश्चय है कि वह दिन दूर नहीं है जब कि इस समाजका इस क़दर पतन होगा कि इसका नाम लेने वाला इस संसारमें कोई नहीं रह जायगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे धर्मी बन्धु अपने ग़रीब भाइयोंका ख़याल करते हुये, सम्यग्दृष्टि भाई अपने धर्मका ख़याल रखते हुये और स्थानीय पंच अपने तुच्छ स्वार्थको ध्यानमें न रखते हुये तथा समाजके भविष्यके बड़े हितको सामने रखते हुये इस मोसररूपी कुप्रथाको एकदम बन्दकर देंगे और यह सिद्ध करके बतादेंगे कि यथार्थमें वे समयके स्वामी हैं।

अगर वास्तवमें मेरे धर्मी भाई मृतात्माको शान्ति देना अथवा उसके नामपर प्रभावना करना चाहते हैं तो उन्हें हज़ारों रुपयोंको एक दिनमें स्वाहा न करते हुए सदाके वास्ते ऐसी सार्वजनिक अथवा समाजके बच्चों और विधवाओं, बेरोज़गारों और अन्य प्राणियोंके वास्ते संस्थाएँ खोलकर उनमें लगा देना चाहिये जिससे एक दीर्घकाल तक ज़रूरत मंद प्राणी सहायता पाते रहें। इस प्रकारके कार्योंसे आपके रुपयोंका सदुपयोग होगा। सैकड़ों बालक बालिकाओंको विद्यादान, बेरोज़गारोंको रोज़गार, अनाथ निःसहाय विधवाओं और मनुष्योंको रोज़गार व धन्धा मिलता रहेगा।

अगर किसी स्थानमें कोई भाई न माने और लोगोंकी इच्छाके ख़िलाफ़ मोसर करे, तो निम्नलिखित उपाय काममें लाने चाहियेः—

(१) पहिले तो हर स्थानके भाइयोंको पंचायत द्वारा अथवा यदि वहाँ पर सभा मंडल हों तो उनके द्वारा प्रस्ताव पास कराना चाहिए कि यहाँ मोसररूपी कुप्रथाका सर्वथा बहिष्कार अथवा निषेध किया जाता है।

(२) अगर कोई भाई इस प्रस्तावके ख़िलाफ़ भी मोसर करता है तो उसे एक डेपूटेशनद्वारा प्रेमपूर्वक शान्तिसे प्रार्थना करनी चाहिये और समझा देना चाहिये कि समयानुसार उन्हें मोसर नहीं करना चाहिये। अगर इसपर भी वह नहीं मानता है तो उससे कह देना

चाहिये कि न सिर्फ़ उसके मोसरमें ही कोई शामिल होगा बल्कि उसकी जीवितावस्थामें भी कोई व्यक्ति किसी काम में सम्मिलित नहीं होगा। इस पर भी अगर वह मोसर करता है तो शान्तिमय सत्याग्रह कर उसे रोकना चाहिये।

इन उपायोंको सामने रखते हुये मुझे पूर्ण विश्वास है एवं भरोसा है कि मोसररूपी कुप्रथा सदाके वास्ते बंद हो जायगी।

इसके अलावा जहाँ जहाँ हमारे साधु मुनिराज व यतियाँजी विराजमान हों, वहाँ वहाँ उन्हें अपने अमृतमय उपदेश द्वारा जैनधर्मावलम्बी भाई और बहिनोंको मोसर करने और उसमें शामिल होनेकी सब प्रकारसे रोक करनी चाहिये क्योंकि यह धर्मविरुद्ध और समाजको घातक सिद्ध हो रही है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारतवर्षके हमारे जैन भाई जिनके यहाँ मोसर अथवा नुक़ता करनेका रिवाज़ है, वे इस लेखके पढ़नेके बाद अवश्य उसे बन्द कर देंगे। यह नहीं ख़याल करना चाहिये कि एक रस्म या रिवाज़ जो हमारे पुरखोंसे चली आती है उसे क्यों कर बन्द करें? हमारे बुजुर्गोंका समय उनके साथ गया। हम अब १९९० संवत्‌में रहते हैं। इस कारण इस समयके अनुसार हम को चलना चाहिये, वरना हम संसारके सामने अपनेको हास्यरूपवत् साबित करेंगे। इसके अलावा मैं समाजके हितैषियों और प्रेमियोंसे सविनय प्रार्थना करूँगा कि वे अपनी पूर्ण शक्ति इस ओर लगाकर इस कुप्रथाको सदैव के वास्ते बन्द करावें। इसके अलावा अगर किसी राज्य में नुक़ता अथवा मोसर रोकनेके सम्बन्धमें क़ानून नहीं है तो वे कृपाकर मुझे लिखें ताकि उन उन रियासतोंके पदाधिकारियोंसे पत्रव्यवहार करके इस कुप्रथाको रोकने के लिये क़ानून पास कराया जाय। जो कोई मेरे योग्य सेवा हो उसे लिखें।

जैन शास्त्रोंमें बौद्ध ग्रंथों की बातें।

समालोचना।

(लेखक—श्रीमान् पूर्णचन्द्जी शामसुखा, कलकत्ता)

प्रसिद्ध पाक्षिक पत्र "जैन जगत्" के ता० १६ मई १९३३ के अङ्कमें श्री मन्दप्रलजी जैनने "जैन शास्त्रोंमें बौद्ध ग्रन्थोंकी बातें" शीर्षक एक लेख लिखा है जिसमें आपने यह प्रमाण करनेकी चेष्टा की है कि जैन शास्त्रोंकी कई बातें बौद्ध शास्त्रोंसे नक़ल कीगई हैं। जैनीजी महाशयने विशेष अनुसन्धान व अभ्यास किये बिनाही अंग्रेज़ी नमूनाके आधारपर लेख लिखडाला है, यह बात प्रस्तुत लेख पढ़नेसे ही प्रतीत होती है। यही कारण है कि जैनजगतके सम्पादक महोदयको सम्पादकीय नोटमें लेखका प्रतिवाद करना पड़ा। यहाँ उक्त लेखका कुछ विस्तारित प्रतिवाद किया जाता है:—

जैनीजीके कहनेका आशय यह है कि बौद्ध ग्रंथोंकी बातें जैन ग्रंथोंमें नक़ल कीगई हैं, परन्तु जैन लेखक इसे स्वीकार नहीं करते, व मुनिश्री कल्याणविजयजीके सिवाय अन्यान्य जैन लेखक बुद्धके निर्वाणको महावीरके निर्वाण के पीछे मानते हैं, किन्तु इतिहासकार बुद्धनिर्वाणको पहले मानते हैं। परन्तु जैनीजीका यह कहना ठीक नहीं है। महावीर व बुद्धमें कौन पहले हुए, यह विषय लेकर अभीतक ऐतिहासिक पण्डितोंमें आलोचना चलरही है। वर्तमान समयके अधिकांश ऐतिहासिक विद्वान वीर निर्वाण को ५२७ बी०सी० में मानने लगगये हैं, परन्तु बुद्धनिर्वाण के विषयमें अभीतक उलझन मिटी नहीं है। बहुतसे यूरोपियन व भारतीय जैनेतर विद्वान भी बुद्ध निर्वाणको ४७८ से ४८२ बी० सी० के भीतर मानते हैं। Cambridge History of India Vol. I. पृष्ठ१५६ में लिखा है कि—"......for there is now a general agreement among scholars that Budha died within a few years of 480 B.C. (इसके फुट नोटमें लेखक महोदय लिखते हैं कि 478 (477) B.C. उनकी समझमें ज्यादे-तर संभव है) अर्थात् "इस बातमें पण्डितोंमें साधारण-

तथा ऐक्यमत है कि बुद्धकी मृत्यु ४८० बी०सी०के लगभग हुई।" 'बुद्धचर्या' के ग्रन्थकार श्रीयुत राहुल संकृत्यायन बुद्ध निर्वाणको विक्रम संवतसे ४२६ वर्ष पहले यानी ४८० बी० सी०में मानते हैं। श्रीयुत् नलिनीकान्त भट्टशाली बुद्धनिर्वाणको ४७८ बी० सी०में मानते हैं *।

बौद्ध शास्त्रोंमें ऐसा विवरण है कि जिससे साफ़साफ़ प्रमाणित होता है कि बुद्ध महावीरसे उमरमें व दीक्षापर्यायमें छोटे थे व महावीरका निर्वाण बुद्धनिर्वाणसे पहले हुआ था। संयुक्त निकाय जटिल सूत्रमें वर्णन है कि कोशल देशके राजा प्रसेनजितने बुद्धको जो प्रश्न किया था उसमें उन्होंने कहा है कि बुद्ध, निगण्ठनाथ पुत्त आदि छः तीर्थंकरोंसे जन्मसे अल्पवयस्क व प्रवज्यासे नवीन हैं। † इसके उत्तरमें बुद्धने और और विषयों का जबाब दिया परन्तु कम उम्र व नवीन दीक्षाका प्रतिवाद नहीं किया किन्तु स्वीकार करलिया। मज्झिम निकाय सामगामसूत्रमे स्पष्ट वर्णन है कि महावीरकी मृत्यु पावामें हुई व 'चुन्द समनुद्देश' भिक्षु पावासे विहार करके सामगाममें आकर बुद्धको संवाद प्रदान किया ‡।

इससे स्पष्ट प्रमाण होता है कि बौद्ध शास्त्रोंके उल्लेखसे महावीर, बुद्धसे उमरमें व दीक्षापर्यायमें बड़े थे व उनका निर्वाण बुद्धके जीवित कालमें ही हुआ। मुनिश्री कल्याणविजयजी सामगाम सूत्रका वर्णन विश्वास नहीं करते हुए लिखते हैं कि यह बात महावीरके निर्वाणके वर्णनकी नहीं है परन्तु उनकी बीमारीका वर्णन है जिसको बौद्ध भिक्षुने मृत्यु समझलिया होगा §। लेकिन मुनिश्री की यह बात समीचीन मालूम नहीं होती। बौद्धभिक्षु स्वयं पावामें वर्षाकालके चतुर्मासमें थे व महावीर जैसे प्रसिद्ध पुरुष व उस समयके एक प्रख्यात सम्प्रदायके नेताकी मृत्यु कुछ ऐसी बात नहीं है जिसमें भूल होसके। इस विषयमें लिखनेकी बहुतसी बातें हैं जो इस स्थानपर लिखनी संगत नहीं होंगी।

* भारतवर्ष—श्रावण व भाद्र-१३३९। † बुद्धचर्या पृ० ६१। ‡ बुद्धचर्या पृ० ४८१।

§ नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १०। अङ्क ४। पृ० ६११६२।

ऊपरकी बातोंसे यह सिद्ध होगा कि बुद्ध निर्वाणको ४७८-८० बी० सी० में माननेवाले बहुतसे जैनेतर इतिहासकारमी हैं व महावीर निर्वाण, बुद्ध निर्वाणसे पहिले हुआ इसके कई पुष्ट प्रमाण दिये जासकते हैं। अब श्री सत्यपालजी जिन विषयोंके आधार पर बौद्धशास्त्रसे नकल कीहुई मानते हैं उनका विश्लेषण किया जाता है।

कल्प सूत्रका १०२ व १०४ गाथेका जकोबी साहब कृत अनुवाद देखकर भगवान् महावीरके जन्म वर्णनको श्री सत्यपालजीने बौद्ध शास्त्रोक्त शुद्धोदन राजाके उत्तराधिकारीके जन्म वर्णनकी नकल मानली है। श्री सत्यपालजी अंग्रेज़ी तर्जुमाके ऊपर सम्पूर्ण निर्भर नहीं करके अगर मूल सूत्रको देखते तो उन्हें इतना लिखनेका अवसर ही नहीं मिलता। मूल सूत्रमें कहीं भी "राज्यके उत्तराधिकारी" शब्दका या इस आशयके शब्दका प्रयोग नहीं है। जिन दो सूत्रोंका अनुवाद जैनीजीने उद्धृत किया है उन दोनोंमें इस आशयके विषयमें इतना ही लिखा है कि "……दस दिवसं ठिइ वडियं करेइ" (१०२) व "पढमे दिवसे ठिइ वडियं करेन्ति" (१०४) इसका अर्थ इतनाही है कि "पुत्र जन्म संबन्धी दश दिनका उत्सव मनाया" (१०२) "व पुत्रजन्म संबंधी पहले दिनका उत्सव मनाया।" (१०४) "ठिइ वडियं" शब्दका अर्थ "पुत्रजन्मसम्बन्धी उत्सव विशेष" * मात्रही है। इसमें राज्यके उत्तराधिकारीका कोई भी भाव नहीं है। जकोबी साहबने "Heir" शब्दका प्रयोग किया है किन्तु यह प्रयोग अनुचित है। मूल सूत्र के भावानुयायी नहीं हैं। कल्पसूत्रका और एक दूसरा अनुवाद Rev. J. Stevenson D. D. का है जिसमें 'Heir' शब्दका प्रयोग नहीं है परन्तु 'Son' शब्दका प्रयोग है। जिस १०२ व १०४ सूत्रके अनुवाद में जकोबी साहबने 'Heir' शब्दका प्रयोग किया है उसी स्थानके अनुवादमें Stevenson साहबने "……joy & festivity for ten days" एवं "The first day there was performed the feast of special rejoicing for

* पाइय सद महण्णवो। स्वकाण्ड पृ० ४६१।

the BIRTH OF A SON" * लिखा है। कल्पसूत्रके जिस जिस स्थानपर भगवान् महावीरके जन्मकी बातें आई हैं सब जगह 'पुत्र' अर्थ सोतक शब्द का ही उल्लेख है, 'उत्तराधिकारी' अर्थवाची शब्दका प्रयोग नहीं है। जिस स्थान पर जन्म होनेका वर्णन है वहाँ लिखा है "दारयं पयाया" अर्थात् पुत्रका जन्म हुआ। क्या श्री सत्यपालजी अब इस बातको स्वीकार करेंगे कि महावीरका जन्म वर्णन बौद्ध ग्रन्थोंकी नकल नहीं है व अपने अनुचित आक्षेपोंके लिये अनुताप करेंगे ? उनके सम्पूर्ण तर्ककी भित्ति एक "उत्तराधिकारी" शब्दके ऊपर थी जो पूर्णतया निर्मूल है।

श्री सत्यपालजीका दूसरा आक्षेपभी इसी प्रकार बिना जड़ मूलका है। उत्तराध्यन सूत्रका 'महानियाएठज्जं' नामक बीसवें अध्ययनके विषयको लेकर उन्होंने जो तरुण महामुनिको शाक्यसिंह गौतम बनाया है सो भी सम्पूर्ण अनुचित है। प्रस्तुत मुनिश्री अपनी पूर्व अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कौशाम्बी नगरीमें उनके पिता रहते थे व वे बड़े धनवान थे। मुनिश्री के पिता माता; स्त्री, बड़े व छोटे भाई व बड़ी व छोटी बहनें थीं, व पहली उमरमें आपके समस्त शरीरमें तीव्र वेदना व दाह रही थी जो कि मुनिके व्रत धारण करनेकी प्रतिज्ञा से मिटगई। इस विवरणके साथ बुद्धदेवकी जीवनीका कोई अंशमें भी सादृश्य नहीं है। बुद्धकी माता पुत्रके जन्मके समयही देवलोक चलीगई थी व उनके बड़े छोटे भाई व बहिनभी नहीं थी। न उनके शरीरमें कोई वेदना व दाहही हुई थी। सूत्रमें तरुण मुनिका नामोल्लेख नहीं है और नामकी जरूरत भी मालूम नहीं होती, कारण सूत्र-रचयिताका अभिप्राय संसारकी असारता व असहायता दिखलानेका है; इतिहास लिखनेका नहीं। अब इस अध्ययनको बौद्ध शास्त्रकी नकल बतलानेके लिये जहाँजहाँ 'नियण्ठ' शब्द आता है उस स्थानको प्रक्षिप्त व "जिन" शब्दका अर्थ 'बुद्ध' करलेनेसे अलबत्ता नकल बतानेमें कुछ सुगमता तो मिलती है—'कौशाम्बी' को 'कपिलवस्तु' बनादिया जाय तो और भी कुछ सुभीता मिलसके !!

श्रेणिक पहले बौद्ध थे पीछे जैन होगए, यह बात किसी जैनसूत्रमें नहीं है। उक्त तरुणमुनिके संश्रवसे धर्मपर अनुरक्त होगए, इतनाही उल्लेख आता है। किसी आधुनिक जैन लेखकने बगैर पुष्ट प्रमाण दिए कोई बात लिखदी और वही सत्य मान लेनी होगी, ऐसा कोई कारण नहीं है।

महावीर व बुद्धका निर्वाणका समय जबतक निश्चित रूपसे स्थिर नहीं होसके तबतक श्रेणिक व अजातशत्रुका राज्यकालभी स्थिर नहीं होसकता। श्री सत्यपालजीके प्रबन्धके शेषांशमें समयघटित जो प्रश्न है उसका निश्चित रूपसे उत्तर देनेका समय अभीतक नहीं आया है। महावीरके निर्वाणसे चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्याभिषेकके बीचके समयमें कई वितण्डा चलरहा है।

जैन व बौद्ध दोनों धर्म प्रायः एकही समयमें एकही वातावरणमें उत्पन्न व विस्तारित थे इसलिए एकही आशयका व एक ही प्रकारका विवरण दोनोंमें मिले, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इससे यह मतलब नहीं निकल सकता कि एकने दूसरेकी नकल की है। एककी छाप दूसरे पर ज़रूरही पड़ी है।
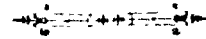
विधवाविवाहकी आवश्यकता।

(लेखिका—श्रीमती कुमारी इन्द्रावतीदेवी)

हमारे देशके आदमी चिरकालसे कुसंस्कारमें फँसे चले आरहे हैं। जो कुछ वे बहुत दिनसे करते चले आते हैं, उसे अनेक अनर्थोंका मूल समझकर भी वही काम करनेको उद्यत हैं; क्योंकि वैसा करना उनका स्वभाव सा होगया है। इन सब प्रथाओंमें विधवा विवाहकी आवश्यकता बहुत ही ज़रूरी है। यह बात पुरानी नहीं है, इसी से अब हमारे यहाँ नवयुवक ऐसा करनेमें हिचकिचाते हैं।

पुरुष कहते हैं कि अगर इसका होना इतना आवश्यक होता, तो हमारे पूर्वज इसका प्रयोग क्यों न करते? लेकिन ऐतिहासिक ज्ञान मुझे बतला रहा है कि विधवा-विवाह थोड़े दिन पहिले भारतमें था और अब भी कुछ जातियोंमें है—इसके पहले सती प्रथा थी—लेकिन कुछ जातियोंमें धीरे धीरे उठते उठते एक दम उठ गई है। इसका प्रधान कारण उस समय सहमरण, 'सती' की

*Kalpa Sutra by J. Stevenson. P. 78.

प्रथा थी। पति मरजानेके बाद उसके साथ चितामें बैठ कर या विदेशमें पतिके मरनेका समाचार पाकर अकेले ही चितामें बैठकर स्त्रियाँ सती हो जाती थीं। उस समय विधवाओंकी संख्या इतनी न थी; लेकिन आजकल क़ानून बनाकर सती होनेसे रोक दिया गया है। उस समयके लोग अपने घरके प्राणियोंको वैधव्य जीवन बिताना नहीं चाहते थे। अब एक यही उपाय है कि विधवा-विवाहके लिए कोई अनिवार्य नियम बनाया जाय।

बाल-विधवाओंकी दशा देखकर कौन ऐसा पुरुष होगा जिसका हृदय पसीजता न होगा? लेकिन हिन्दू-समाजका हृदय मानो पाषाणसे भी अधिक कठोर है। अभी तक हमारे यहाँ का जन-समाज सचेत भी नहीं हुआ। क्या समस्त समाजमें विधवाओंका पुनर्विवाह करना राहसे राहे अटकाना समझा जाता है? क्या तीस करोड़ भारतीयमेंसे सात करोड़ मुसलमान भी विधवाओं का विवाह करना पाप समझते हैं? उनने ही अछूत भी हैं। क्या वे अपनी पुत्रियोंका वैधव्य जीवन बिताना देखा करते हैं? हिन्दुओंमें भी हलवाई, तेली, कुरमी, लोहार, अहीर आ क्या अपनी गृहदेवियोंका करुण रोदन सुनते रहते हैं? कदापि नहीं! ये भी उनका पुनर्विवाह कर देते हैं। केवल पाँच सात करोड़ क्षत्रिय, ब्राह्मण, और कायस्थ, यही विधवाओंका विवाह करना पाप समझते हैं। इन्हींके यहाँ विधवा स्त्रियोंका विवाह नहीं होता।

भारतके कुलीन घरोंमें विधवाओंके पुनर्विवाहका प्रश्न उठाना हो मानो इनमें व्यभिचार फैलाना होता है। चाहे वे चोरोंद्वारा कितने ही अनर्थ कर डालें, कोई पूछनेवाला नहीं है। यदि यही कार्य समाजमें खुलमखुला हुआ तो बदनामी फैल गई। घरके सब लोग जानते हुए भी छिपाने का प्रयत्न करते हैं। यदि वह लड़की गृहसे निकल जाती है या निकल गई है तो समाजमें निन्दा होती है, या नहीं, इसका भी कोई विचार नहीं करता है।

अब आप ज़रा हमारे यहाँकी विधवाओंकी संख्यापर भी ध्यान दीजिए। सन् १९२१ ई०की मनुष्यगणनानुसार समस्त भारतकी विधवाओंकी संख्या इसप्रकार की थी—

१ वर्ष से कम आयु की	१,०१४
१ वर्ष से २ वर्ष तक	८५६
२ वर्ष से ३ वर्ष तक	१,८०७
३ वर्ष से ४ वर्ष तक	४,७५३
४ वर्ष से ५ वर्ष तक	९,२७३
५ वर्ष से १० वर्ष तक	९४,२७०
१० वर्ष से १५ वर्ष तक	२,२३,०४२
	कुल ३,३५,०४२

उपरोक्त संख्या पर विचार कीजिए, और फिर अपने हृदय पर हाथ रख कर सोचिए—क्या ये विधवायें ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर सकती हैं? इसका उत्तर आप 'नहीं' के सिवाय और कुछ दे ही नहीं सकते।

भारतवर्षमें दिनों-दिन वेश्या वृत्ति बढ़ती जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण वैधव्य जीवन है। यदि समाज को अपनी सन्तानको वेश्या-वृत्तिसे बचाना है, तो शीघ्रा-तिशीघ्र विधवाओंके पुनर्विवाहका प्रचार किया जाय। यदि इसमें किसी प्रकारकी रुकावट डाली गई तो घटने के सिवा यह बुराई बढ़ती ही जायगी।

भारतीयो! अब और कितने दिनों तक तुम आलस्य के पलंग पर मोह-निद्रामें अचेत पड़े रहोगे? एकबार ज्ञानकी आँखें खोलकर देखो, अपने पुण्य भूमि भारत-वर्षमें व्यभिचार और गर्भ-पात किस वेगसे बढ़रहा है। बस, अब इसका अन्त हो चुका। अब एकाग्र होकर शास्त्रके अर्थ और मर्मको समझनेमें मन लगाओ और उसके अनुसार काम करके दिखा दो। ऐसा करनेसे अपने देश का कलंक दूर कर सकोगे। किन्तु दुर्भाग्यवश तुम चिरसंचित कुसंस्कारसे ऐसे वशीभूत होरहे हो, देशाचार के दास हो रहे हो, लौकिक आचारके साथ ऐसे दृढ़ हो रहे हो, कि सहसा तुमसे ऐसी आशा नहीं की जासकती कि तुम कुसंस्कार सहित देशाचारका अनुसरण छोड़कर यथार्थ सन्मार्गके पथिक बन सकोगे। बार बारके अभ्यास के दोषसे तुम्हारी बुद्धि और धर्मप्रवृत्ति ऐसी कलुषित होगयी है कि अभागिनी विधवाओंकी दशा देखकर तुम्हारे चिरशुष्क हृदयमें करुणाका संचार होना ही कठिन है। देशमें व्यभिचार और भ्रूणहत्याका प्रबल प्रवाह

देखकर भी तुम्हारे हृदयमें उस पर घृणाका होना असम्भव-सा है।

क्या तुम अपनी प्यारी कन्याओंको वैधव्यकी आग में जलानेके लिये सहमत हो? वे अजेय इन्द्रियोंके वशीभूत होकर व्यभिचार-दोषसे दूषित हों, तो उसमें तुम्हें लज्जा नहीं आवेगी? धर्म-लोपके भयको तिलांजलि देकर केवल लोक-लाजके भयसे उनकी भ्रूण-हत्यामें सहायता करके स्वयं सपरिवार पापपंकमें मलीन होना तुमको पसन्द है?

हाय! कैसे आश्चर्यकी बात है, कि शास्त्र-विधिके अनुसार विधवा बालिकाका पुनर्विवाह करके उसे वैधव्य यंत्रणासे बचाना और आप भी स्वयं आपत्तियोंसे छुटकारा पाना तुमको पसन्द नहीं! तुम समझते हो कि पतिके मरतेही स्त्रियोंका शरीर पत्थरका सा हो जाता है, उनपर दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता! किन्तु तुम्हारा यह सिद्धान्त बिलकुल निर्मूल है। इस बातके पुष्ट प्रमाण तुमको पग पग पर प्राप्त होते हैं। सोच कर देखो, इसी पर ध्यान न देनेके कारण तुम कैसा विषमय फल भोग रहे हो!

कैसे खेद की बात है कि जिन पुरुषोंमें दया नहीं, धर्म नहीं, न्यायान्यायका विचार नहीं तथा हिताहित की समझ नहीं है और वे लोकाचारकी रक्षाको ही प्रधान कार्य और परम धर्म समझते हैं, उस देशमें हे ईश्वर! अबला स्त्रियोंको पैदा करना ही मेरी समझमें आपकेलिये भी घोर पाप तथा अन्याय है, गोकि यह बात भलीभाँति विदित है कि आपसे बुरे कार्योंका होना ही असम्भव है। हे अबलाओं! तुम किस पापसे भारतवर्षमें जन्म ग्रहण करती हो? हे करुणेश! क्या तुम अबलाओंकी इस दीन दशा पर अब भी करुणा न करोगे?

आप दीनों तथा अबलाओंके रक्षक हैं। आपका नाम लोग दीनरक्षक कहते हैं। पौराणिक कहानियों द्वारा हम लोगोंको भली भाँति विदित है कि आपने द्रौपदीके साथ क्या उपकार किया है। जब वेद शास्त्रादि मुझे इसप्रकार की शिक्षा दे रहे हैं, तो क्या मैं ऐसी आशा न करूँ कि आप इस देशके सुधारकों तथा वासियोंको उचित बल-बुद्धि देकर यहाँ के कुसंस्कारोंको निकालनेकी सुविधा देंगे, जिससे यह देश पहलेकी तरह सुचरित्र बने। मेरी समझमें विधवा-विवाहकी आवश्यकता देशोद्धारके निमित्त अनिवार्य है। देशके प्रेमीजनोंको चाहिये, कि वे अपना अधिक समय इसी पर व्यतीत करें। —"जागरण"।
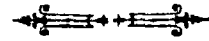
कैसा रक्षाबन्धन?

(रचियता—श्री० ब्र० प्रेमसागरजी पञ्चरत्न, भेलसा।)

जब हम करते हैं आपस में, भाई से भाई तकरार।
तब कैसे हम मना सकेंगे, रक्षाबन्धन का त्यौहार॥
नहीं तनिक भी वात्सल्य का होता है हममें व्यापार,
कलह-काण्ड, विद्वेष-भावमय, रहते हैं मनके उद्गार।१।

एक दूसरे के विरुद्ध रह, करते मनका अत्याचार,
किञ्चित नहीं सोचते, मनमें, कैसे पायेंगे उद्धार।
गऊ वत्ससा प्रेम कहाँ है, कहाँ रहा है हृदय उदार,
रक्षक भाव न होता उद्गम, कैसा रक्षा का त्यौहार।२

पशु-पक्षी मारे जाते हैं, करते जिनका मनुज शिकार,
अथवा धर्म नाम पर जिनका, होता है बलिदान अपार।
इत्यादिक तिर्यञ्चों ऊपर, होता नहीं हमारा प्यार,
तब कैसे हम मना सकेंगे, रक्षा बन्धन का त्यौहार।३।

दीन मनुष्यों की हालत को, नहीं देखते दृष्टि पसार,
उनका किसी भाँतिसे कुछ भी, करते नहीं आज उपकार
पूँजी रहित गरीब जातिके, जिनका बन्द पड़ा व्यापार,
उनकी रक्षा करें नहीं, फिर कैसा रक्षा का त्यौहार।४।

दीन अनाथ तथा विधवाएँ, जिनको रक्षाकी दरकार,
उनकी खबर न लेते हैं हम, बेड़ा कैसे होगा पार?
विधवा और अनाथ आश्रम, अब तक नहीं किए तैयार,
तब क्यों होगा सार्थ मनाना रक्षाबन्धन का त्यौहार।५

छोटे बच्चों के विवाह का, सिर पर होता भूत सवार,
विद्या से वञ्चित रख उनको, करते हैं जीवन बेकार।
वृद्ध-अवस्थामें भी जिनका, नहीं मरा है काम विकार,
तब फिर कैसे मनायेंगे वह, रक्षाबंधन का त्यौहार।६।

कन्याओंको नहीं पढ़ाते, करते उनपर जुल्म अपार,
बूढे बाबा की सियोगिनी, करते हैं, उनको धिक्कार !
रुपया लेते थैली भरते, करते उससे मौज बहार,
ऐसे नर, क्यों मना सकेंगे, रक्षाबन्धन का त्योंहार ।७

बूढ़े बाबा अल्प कालमें, होवें मृत्यु के तावेदार,
बाल-वधू-विधवा हो जाती, रोती, सहती कष्ट अपार !
करती सारा काम तथा, घरवालों की सहती फटकार.
फिर कैसे वह मना सकेगी, रक्षा बन्धन का त्योंहार ।८

जो ग़रीब हैं युवक हमारे, वे, विवाह को हैं लाचार,
धनी पुरुष उनके हक़ पर, करलेते हैं अपना अधिकार
काम रोगसे रोगी हो वे, करते हैं छिपकर व्यभिचार,
ऐसे युवक मनावें कैसे, रक्षा बन्धन का त्योंहार । ९ ।

नहीं जाति रक्षा की हमने, अपने दिलको किया उदार,
सुनते, करते नहीं, इसीसे, बेढंगी रहती रफ्तार ।
कुरीतियों का नहीं आजतक हमने कर पाया संहार,
तब कैसे हम मना सकेंगे, रक्षा बन्धन का त्योंहार १०

सभी तरह बर्बाद किया है, हमने मन्दिर का भण्डार,
हड़प लिया मुखियोंने उसको, जो हैं उसके ठेकेदार ।
जिसने लिया उसीने खाया, नहीं किसीने किया विचार
उनके हृदय समावेगा क्यों, रक्षाबंधन का त्योंहार ११

ताले बन्द पेटियों भीतर, रक्खा जिनवाणी भण्डार,
कभी नहीं खोलते उसको, दीमक चूहे करें शिकार ।
यह जिनवाणी भक्ति अजब है, नहीं ज्ञानका किया प्रचार,
तब कैसे हो सार्थ हमारा, रक्षा बन्धन का त्योंहार १२

अखिल विश्वका जैनधर्म है, किन्तु किया उसपर अधिकार
गिरफ्तार करके रक्खा है, कैसे उसका हो उद्धार
जीव-मात्रकी संपति के हम, बने हुए हैं ठेकेदार
तब कैसे हम मना सकेंगे, रक्षाबन्धन का त्योंहार ।१३।

अगर मनाना है सचमुच ही, रक्षा बन्धन का त्योंहार
तब तो आप बनावें अपना, भली भाँतिसे हृदय उदार ।
वात्सल्यकी सत्य भावना, भाओ करो विश्व से प्यार,
"प्रेम" पन्थ पर चलो चलाओ, जाति धर्मका हो उद्धार१४

लोहड़साजन जैनसमाज और चंद्रसागरजी ।

यह सर्वविदित है कि लोहड़साजन खंडेलवाल जैनी दस्सा नहीं हैं, उनका बीसोंके साथ कच्ची व पक्की रोटीव्यवहार सदा चालू रहा है, वे बिना किसी रुकावटके पूजा प्रक्षाल आदि धार्मिक कार्य करते रहे हैं तथा मुनियों व भट्टारकोंको आहारदान देते रहे हैं—यही नहीं बल्कि कई लोहड़साजन व्यक्ति भट्टारक गद्दी पर भी प्रतिष्ठित हुए हैं । तदनुसार रेवाड़ीमें लोहड़साजन भाइयोंने भी श्री १०८ श्री आचार्य शान्तिसागरजीके संघके साधुओंको आहार दिया था । किन्तु मुनि चन्द्रसागरजीने जो दुर्भाग्य-वश मुनिवेष धरते हुए भी तीव्र कषाय व द्वेषभावके वशीभूत हो रहे हैं, अकारण वहाँ लोगोंको भड़का कर इसपर झगड़ा खड़ा कर दिया । श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजने झगड़ा बढ़ाना उचित न समझ रेवाड़ी वालोंको यही सलाह दी कि चूँकि यह जातीय प्रश्न है अतः इसका निर्णय अपनी जातीय महासभामें कराया जाय । उस समय दुर्गमें खंडेलवाल महासभाका अधिवेशन होरहा था, अतः दुर्ग तार भेजा गया । तदनुसार दुर्ग अधिवेशनमें लोहड़साजनोंके सम्बन्धमें पूर्ण अनुसंधान करनेके लिये श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी अजमेर, सेठ चैनसुखजी पाँड्या कलकत्ता, पंडित श्रीलालजी पाटणी अलीगढ़, रायसाहब घेवरचन्दजी गोधा भरतपुर, सेठ जमनालालजी साह जयपुर, पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री सम्पादक खंडेलवाल जैन हितेच्छु जयपुर, गुलाबचन्दजी पहाड्या कन्नड़, कन्हैयालालजी गंगवाल लश्कर, बापूलालजी चौधरी इन्दौरकी सबकमेटी नियत की गई । उक्त सबकमेटीने इस विषयमें जो जाँच की उसका परिणाम इस प्रकार है:—

"विचार करने और प्रमाण देखने
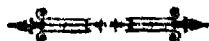
से पता लगता है कि लोहड़साजन दस्सा नहीं हैं। इनके साथ बीसोंका रोटीव्यवहार (कच्ची पक्की दोनोंका) शामिल है। पूजनप्रक्षाल मुनि आहार दानादिमें भी कुछ रुकावट नहीं है। परन्तु बेटीव्यवहार शामिल नहीं है।"

हमारा कहना यह है कि पहिले लोहड़साजन बड़साजनोंका परस्पर बेटीव्यवहार बन्द था किन्तु संवत् १८२६ में सवाई माधोपुरमें जयपुरके दीवान नन्दलालजीने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी उस समय बेटीव्यवहार चालू कर दिया गया था तथा जयपुर पंचायतकी तरफसे विभिन्न पंचायतोंको चिट्ठियाँ भेजी गई थीं जिनमें लिखा था कि—

"लोहड़साजना सूँ आगे सनमंदकी अँटको सो सवाई माधोपुरमें प्रतिस्टा के वखत सारा ही पंच आया सो सनमंद करवो ठहर्‌यो छै सो थाँ ने सवाई जयपुरमें सनमंद हुवो छै सो थे भी याँ सु सनमंद विहार आमासामा कीज्यो, कोई बातकी अँट राखो मतीना मिती श्रावण वद ९ संवत् १८२६। श्री भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजी जैन धर्मवृद्धि बंचजो अठै याँसु सगपण व्यवहार ठहरो छै सो थे भी पंचाका कागद माफिक सनमंद कीज्यो अँटकाव करो मती।" तदनुसार लोहड़साजन व बड़साजनोंके परस्पर कई विवाह सम्बन्ध हुए हैं। इसकी एक बृहत् सूची तैयारकी जारही है जो शीघ्रही प्रकाशित की जावेगी।

उपरोक्त निर्णयके अनुसार लोहड़साजन व बड़साजनोंके परस्पर विवाह सम्बन्ध हुए सही, व वर्तमानमें भी हो रहे हैं, परन्तु इसकी प्रगति सन्तोषजनक नहीं है। अभी तक कई स्थानोंमें बेटीव्यवहार की रुकावट बनी हुई है। इधर हम लोगोंकी तरफ से इस बातका प्रयत्न किया जा रहा था कि संवत् १८२६ के निर्णयके अनुसार सब जगह बिना रोक टोक परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगें। परन्तु उपरोक्त ९ महानुभावोंकी सबकमेटीने इस सम्बन्धमें अपनी सम्मति यह दी थी कि—"लोहड़साजन किस तरह अलग रहे, इसका पूरा निर्णय होना चाहिये। जब तक पूरा निर्णय न हो तब तक बेटीव्यवहार चालू न किया जावे।" इसलिये हम लोग तत्सम्बन्धी प्रमाण संग्रह करनेका प्रयत्न करने लगे।

खंडेलवाल महासभाका गत अधिवेशन रैणवालमें हुआ था। उस समय चन्द्रसागरजी वहाँ मौजूद थे। सभामें सबकमेटीकी रिपोर्ट भी विचार के लिये पेश हुई थी। लोहड़साजनोंके पक्षमें इतने जबर्दस्त प्रमाण होते हुए भी चन्द्रसागरजी अभी तक उनको दस्सा समझे हुये है। उन्होंने वहाँ लोहड़साजनोंके खिलाफ लोगोंको बहुत भड़काया और अपने कुछ भक्तोंके द्वारा यह प्रस्ताव पेश कराया कि सबकमेटी अपनी रिपोर्ट पर पुनः विचार करे। इस पर सभामें बहुत क्षोभ फैला, और उस प्रस्तावका बहुत विरोध हुआ जिसके कारण प्रस्तावक महोदय को अपना वह प्रस्ताव वापिस ले लेना पड़ा। ऐसी स्थितिमें जब कि सबकमेटीकी रिपोर्टका विरोधी प्रस्ताव पास नहीं हो सका तो, यही समझा जाना चाहिये कि सबकमेटीकी रिपोर्ट पास होगई। इसके पश्चात् श्री आचार्य शान्तिसागरजीके संघके मुनि वीरसागरजी, मुनि कुंथसागरजी, क्षुल्लक ज्ञानसागरजी, क्षुल्लक यशोधरजी आदिने लोहड़साजनोंके यहाँ आहार लिया। संघके साथ और और चौकोंके साथ एक चौका लोहड़साजनोंका भी रहा है।

जैनजगत्‌के गतांकमें प्रकाशित श्री० पं० कन्हैयालालजीके लेखका प्रतिवाद प्रकाशित करते हुये श्री० माणिकचन्दजी बैनाड़ाने लिखा है कि सबकमेटीकी रिपोर्ट अभी महासभा द्वारा पास नहीं हुई है। यदि यह सत्य मान लिया जाय तो भी इसका अर्थ केवल इतना ही होसकता है कि सबकमेटीने बेटीव्यवहार के सम्बन्धमें जो अपनी सम्मति दी थी वह स्वीकृत नहीं समझी जाय। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि भारतभरमें लोहड़साजनोंके साथ जो रोटीव्यवहार (कच्ची व पक्की दोनों) सदियों से चला आ रहा है, वह भी बन्दकर दिया जाय। जब बैनाड़ाजीके लेखानुसार महासभाने लोहड़साजनोंके विषयमें अभी कोई निर्णय नहीं दिया है तो फिर किस नियम से लोहड़साजनोंके साथ कच्ची पक्कीका रोटीव्यवहार, जो वर्तमानमें चालू है तथा जिसे महासभाकी सब-कमेटीभी स्वीकार करती है, बन्द कराया जारहा है? "अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हुवा"—यह कहकर चालू व्यवहारको बन्द करानेका प्रयत्न करना, भ्रम निराकरण नहीं किन्तु सरासर अन्धेर है जो महामन्त्रीपद पर आसीन व्यक्तिके लिये लज्जाजनक है।

हम श्री १०८ श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके अत्यन्त आभारी हैं कि वे चन्द्रसागरजी के अनुचित दबाव आदि की कुछ पर्वाह न करते हुए सत्य पर दृढ़ रहे और समस्त लोहड़साजन समाज को वृथा लांछित व अपमानित होनेसे बचाया।

चन्द्रसागरजीका लोहड़साजनोंके प्रति कितना द्वेष व कषाय है, यह इसीसे स्पष्ट है कि केवल इसी कारण उन्होंने अपने गुरु आचार्य शान्तिसागरजी के प्रति द्रोह किया व संघमें फूटडाल कर अपना एक अलग संघ बना लिया तथा अब भी वे जहां जाते हैं वहां अपने भक्तोंपर अनुचित दबाव देकर उनसे लोहड़साजनोंके सम्बन्धमें मनमानी सम्मतियाँ लिखवा कर जैनगजटमें प्रकाशित कराते हैं तथा इस सारे प्रपञ्चके अगुवा बने हुए हैं।

बैनाड़ाजी लिखते हैं कि—"चन्द्रसागरजीका यह वक्तव्य था कि जबतक खंडेलवाल महासभाके जनरल अधिवेशनसे निर्णय न होजावे तबतक संदेहावस्थामें मुनिराजोंको इस प्रपंचमें न पड़ना चाहिये।" बहुत ठीक! जब विरोधका प्रस्ताव वापिस ले लिया गया था तथा फिर भी आपके मन्तव्यानुसार उक्त विषय अनिर्णीत ही रहा तो फिर आपने महासभासे उसका निर्णय क्यों नहीं कराया? सीधीसादी बात तो यह है कि विरोधके अभावमें सम्मति ही समझी जाती है। साथ ही यह कितनी मजेदार बात है कि इधर चन्द्रसागरजी खुद तो उसका सदिग्ध बताकर प्रचलित व्यवहार बन्द करादें तथा अन्य मुनिराजोंको प्रपंचमें न पड़नेकी सलाह देते हुए स्वयं प्रपंचके अगुआ बनकर जनताको भड़काते रहें! कितनी अच्छी वीतरागता है! कैसी निष्कषायता है!

लोहड़साजन और बड़साजन, यह नामभेद कैसे हुवा, इसमें रहस्यकी बात कुछ भी नहीं मालूम होती। किसी विषयमें परस्पर मतभेद होनेके कारण दो दल होगये; जिस दलमें ज्यादा समुदाय रहा वह बड़साजन कहलाया, तथा थोड़े समुदायवाला लोहड़साजन। आजकल भी एक थोकके दो धड़े होकर "छोटा धड़ा" व "बड़ा धड़ा" कहलाया करते हैं। वास्तवमें साजन (सज्जन) दोनों ही हैं; इनमें दुर्जन कोई भी नहीं है। आजकल भी दोनोंमें खानपान, आचार विचार, रस्मोरिवाज तथा गोत्र आदि सब एकसे हैं। अस्तु, लोहड़साजनोंको बड़साजनोंकी अपेक्षा हीन बताना या उन्हें दस्सा समझना वस्तुस्थितिके बिलकुल विपरीत है।

श्री० माणिकचन्दजी बैनाड़ाने चन्द्रसागरजीके पक्ष समर्थनमें खण्डेलवाल जैन हितेच्छुमें जो लेख प्रकाशित कराया है, तथा उसमें जगह जगह चन्द्र-

सागरजीके प्रति '[illegible]ज्य' आदि पद लगाकर उनका महत्व बढ़ानेकी [illegible] की है, उसमें अप्रकट रूपसे श्री १०८ श्री आ[illegible] शान्तिसागरजी तथा लोहड़सा-जनोंके यहाँ [illegible] लेनेवाले श्री मुनि वीरसागरजी, श्री मुनि [illegible]जी, क्षुल्लक ज्ञानसागरजी व क्षुल्लक यशोधरजीके प्रति अश्रद्धा व तिरस्कारके भाव प्रकट किये हैं। भ्रम निराकरणके बहाने, भ्रम फैलानेकी नीयतसे बैनाड़ाजीने यह बतलानेकी चेष्टा की है कि संघके केवल एक मुनिने अनजानमें किसी लोहड़सा-जनके यहाँ आहार ले लिया था। जैसा कि पहिले प्रकट किया जाचुका है, संघके चार साधुओंने लो-हड़साजनोंके यहाँ आहार लिया है तथा लोहड़सा-जनोंका एक चौका भी संघके साथमें रहा है। रही अनजानमें आहार लेनेकी बात, सो यहभी बिलकुल मिथ्या है। अनजानमें किये गये अपराधका बादमें जानकारी होनेपर प्रायश्चित्त व दण्ड दिया जाता है। क्या बैनाड़ाजी बतलावेंगे कि उपरोक्त चार साधुओं को बादमें मालूम होनेपर क्या प्रायश्चित्त दिया गया? अथवा यदि प्रायश्चित्त नहीं दिया गया तो क्या आपकी समझमें श्री १०८ श्री आचार्य शान्तिसागरजी महा-राज भी दोषी है, कि जिन्होंने दोषी व्यक्तियोंके साथ पक्षपात किया? बात यह है कि यदि आप गुरुद्रोही चन्द्रसागरजीको 'परम पूज्य' तथा निर्दोष मानते हैं तो निःसंदेह आपके मन्तव्यानुसार श्री आचार्य महा-राज व उनके संघके सब साधु दोषी हैं। सत्य यह है कि श्री आचार्य महाराज चन्द्रसागरजीको दोषी मानते हैं और उन्होंने ब्यावरमें चातुर्मासके लिये स्वीकृति देते समय यह तय कर लिया था कि अ-गर चन्द्रसागर भी वहाँ आया तो उसे अमुक प्रकार प्रायश्चित्त करना होगा।

श्री० माणिकचन्दजी बैनाड़ाने चन्द्रसागरजीकी पीठ ठोकते हुए श्री १०८ पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी महाराज व उनके संघके साधुओंके विषयमें जो घृ-णित कटाक्ष किया है, वह उनकी अक्षम्य भूल है और उद्धततापूर्ण है; इसलिये उन्हें शीघ्र इस कृत्य पर पश्चात्ताप करना चाहिये। साथ ही उन्हें अपने 'परमपूज्य' चन्द्रसागरजीको भी सलाह देना चाहिये कि वे फौरन श्री आचार्य शान्तिसागरजीके चरणोंमें जाकर गुरुविद्रोह जैसे भीषण पापका प्रायश्चित्त ग्र-हण करें तथा आयन्दा मुनिपदके विरुद्ध सामाजिक प्रपंचोंमें पड़नेसे बाज आवें। हमें पूर्ण आशा है कि क्षमाशील आचार्य महाराज उन्हें उचित प्रायश्चित्त देकर संघमें पुनः शामिल कर लेंगे।

—मिलापचन्द जैन, जयपुर।

[पृष्ठ दो से आगे]

हुआ है कि जो व्यक्ति अपने दुराचरणोंके कारण समाजकी नजरोंमें गिरे हुये थे, वे भी उपरोक्त आडम्बरके कारण धर्मात्मा कहलाने लगे हैं!

सेठ साहिबकी पहिली किश्तसे चन्द्रसागरजीके हौंसले कुछ बढ़े हैं। आजकल उनके भक्त लोग दर्शन कर उनके आगे ताज़े फल अनार, सेव आदि चढ़ाने लगे हैं। अभी उस दिन सवेरे ५ बजकर ५५ मिनिट पर, जो उनका सामायिकका समय था, चन्द्रसागरजी नसियोंजीमें पहुँचे और वहाँ श्रीमान गुलाबचन्दजी कामदारको जो प्रक्षाल कररहे थे जनेऊधारी न होनेके कारण, प्रक्षाल करनेसे रोक दिया! कामदारजी वेषपूजक नहीं, किन्तु गुणपूजक हैं तथा वि-वेकशील व सरल परिणामी हैं। जनेऊ लेनेके लिये पहिले उनपर दबाव डालागया तो उन्होंने शास्त्रकी आज्ञाके वि-रुद्ध प्रवर्तन करनेसे साफ इनकार कर दिया। इसपर जान बूझकर उन्हें ज़लील करनेके लिये चन्द्रसागरजीने यह आयो-जन किया था। अभी कई लोग इनकी धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों की ओर उपेक्षाकी दृष्टिसे देखरहे हैं। लेकिन अगर ये इस प्रकार निरधिकार चेष्टा करेंगे तो मजबूर होकर उन्हेंभी इनका उचित प्रतिकार करना पड़ेगा। —संवाददाता।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma,
at the Ajmer Printing Works,
Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ १६ अगस्त सन् १९३३ अङ्क २०

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग़ तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

"जैनजगत्" की सहायताके लिये निम्न प्रकार रकमें और प्राप्त हुई हैं:—

१००) श्री० सेठ ताराचन्दजी नवलचन्दजी जवेरी बम्बई
२५) श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बई।
१५) श्रीमती शान्तिदेवी बम्बई।
२५) गुप्तदान।

उपरोक्त दातारोंको इस उदारताके लिये अनेकानेक धन्यवाद। —प्रकाशक।

स्थानीय चर्चा।

मुनिवेषी श्रीचंद्रसागरजी आदि किसी तरह अपना वक्त गुज़ार रहे हैं। भक्त लोगोंका उत्साह भी अब ठंडा होता जारहा है। श्रीमान् रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीने एक तरहसे सदावर्तसा खोल रखा है। मुनिवेषियोंके लिये रसोई बनानेके निमित्तसे उनके यहाँ से जो चाहे घी, दूध, बूरा, आटा आदि सामग्री ले आसकता है। पानीकी फ्री सप्लाईका भी प्रबन्ध है। लेकिन इतना होते हुए भी प्रतिग्रह करने वालों की संख्यामें कोई वृद्धि नहीं हुई। शूद्रजलत्याग की गाड़ी भी अटक गई। चन्द्रसागरजीने कुछ दिन पहिले लगातार चार पाँच रोज तक लंघन किया था। कारण पूछने पर चन्द्रसागरजी खिसियाकर उत्तर देते थे—क्या तुम मेरे गुरु हो जो मुझसे ऐसा प्रश्न करते हो? लेकिन भक्त लोगों द्वारा इसका कारण यह बताया गया कि चन्द्रसागरजीने पाँच व्यक्तियों को शूद्रजलत्याग कराकर आहार लेनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी थी। दो तीन व्यक्तिओं को ढूँढ़कर मूँड़ा भी गया था। लेकिन अगर भक्तों का यह कहना ठीक है तो फिर इस बातको इस तरह गुप्त रखनेकी क्या आवश्यकता थी? अगर चन्द्रसागरजी को शूद्रजलत्यागकी गाड़ी अटक जाना इतना अखर रहा था तो उन्हें खुलेआम अपनी प्रतिज्ञाकी घोषणा करनी चाहिये थी। भक्त लोग किसी तरह किसीको झूठे सच्चे सौगन दिला दिलाकर उनके आहारका आयोजन करही डालते। वास्तवमें बात कुछ और ही थी। पिछले कई महीनों से स्थानीय तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतमें श्री० जाति-भूषण (?) गुलाबचन्दजी पाटणीके मामलेको लेकर परस्पर वैमनस्य चल रहा है। चन्द्रसागरजी की इच्छा थी कि तेरहपन्थी धड़ेका यह झगड़ा साफ़ होजाय। दोनों पक्षके अधिकांश सदस्य झगड़ा निबटा देनेको तैयार थे। परस्पर बातचीत से यह निश्चय हुवा कि जातिभूषणजी अपनी ओरसे पंचोंको बुलावा दिलवा कर पंचायती इकट्ठी करें। तदनुसार पंचायती माली भी बुलवा लिया गया, लेकिन जातिभूषणजी अपने नामसे पंचोंको बुलावा दिलवाने को राज़ी न हुए। बहुत देरतक बकवाद हुई परन्तु कुछ परिणाम नहीं

निकला। इससे खिन्न होकर चन्द्रसागरजीने लंघन शुरू किये। चार पाँच रोज भूखे रहने पर भी जब उनका हृदय न पसीजा तो वे रूठकर कैसरगंज चल दिये और एकरोज रहकर लौट आये और आखिर किसी तरह बात टालकर आहार लेलिया।

भक्त लोगोंने चन्द्रसागरजीका प्रभाव फैलानेके लिये उनके विषयमें उड़ा रक्खा है कि वे लखपती खानदानके हैं, वकालत पास हैं, मजिस्ट्रेट थे, पाँचसौ रुपया तनख्वाह पाते थे, इनको ढाईसौ रुपया पेन्शन अभीतक मिलती है जिसको ये धर्म-कार्यमें लगा देते हैं आदि। ऐसी निःसार व बेहूदी बातोंका असर मूर्खों पर भलेही हो, परन्तु कोईभी समझदार आदमी इनको कुछ महत्व नहीं दे सकता।

१६ वर्ष पहिले सन १९१७ में महाराष्ट्र खण्डेलवाल-सभाका अधिवेशन कचनेरमें हुआ था। सभापति थे स्वर्गीय पं० पन्नालालजी काशलीवाल। उस अधिवेशनमें इन्हीं चन्द्रसागरजी (तब खुशालचन्दजी पहाड़्या) ने मोसरकी लहण बाँटनेके विरोधमें प्रस्ताव पेश किया था। उसका समर्थन करते हुए नांदगाँवके श्रीमान लालचन्दजी कालाने भरी-सभामें कहाथा कि—मेरे स्वर्गीय काका तथा काकी का मैं मोसर न करके मैं १००१) रु० मोरेना पाठशालामें देता हूं। उनके इस कार्यकी श्रीमान मानिकचन्दजी बैनाड़ा आदिने सराहना की थी। इन्हीं चन्द्रसागरजीने पहिले "सत्यवादी" में मोसर आदि कई कुप्रथाओंके विरोधमें लेखभी प्रकाशित कराये हैं। परन्तु महानआश्चर्य है कि आजकल ये मोसर-प्रथाके कट्टरसमर्थक बनेहुए हैं, उसको एक आवश्यक धार्मिक-प्रथा बतलाते हैं तथा यहाँ तक प्रतिपादन करते हैं कि जिसका मोसर नहीं होता उसका सर्व-स्व नष्ट हो जाता है तथा जो नुकता कर देता है उसके यहां सब पुण्य आ गिरते हैं।

चन्द्रसागरजीकी सेवा सुश्रूषा व उनका प्रोपेगेंडा करनेके लिये ८—१० व्यक्ति वेतन पर नियुक्त किये गये हैं। शायद कलियुगी मुनियोंके लिये यह सब आडम्बर क्षम्य है। —संवाददाता

स्थानीय स्थानकवासी जैनसमाजमें भी कुछ हलचल मची हुई है। युवाचार्य श्री काशीरामजी तथा श्री हगामीलालजीने यहाँ चातुर्मास किया है। श्री हगामीलालजी, श्री नानगरामजीकी सम्प्रदायके एक-मात्र अवशिष्ट साधु हैं। साधु-सम्मेलनमें निश्चय हो चुका है कि कोई साधु एकल-विहारी न रहे तथा एकलविहारी साधुको वंदना व्यवहार न किया जाय। हगामीलालजीको और साधुओंके साथमें रक्खा गया लेकिन उन्हें वह सम्बन्ध रुचिकर न होनेके कारण वे फिर एकलविहारी हो गये। साधु-सम्मेलन में यहभी निश्चय हुवा था कि एक स्थान पर चाहे कितनेही साधुओंका चातुर्मास हो, लेकिन व्याख्यान आदि एक जगह परही होना चाहिये, तदनुसार हगामीलालजी काशीरामजीके व्याख्यानमें उपस्थित होते थे। लेकिन बादमें जब एकलविहारी होनेके कारण उन्हें उच्च-स्थान देनेसे इनकार किया गया तो उनके भक्त-श्रावकों ने सम्मेलनके प्रस्तावके विरुद्ध उनके अलग व्याख्यान करानेकी आयोजना की। इसपर काशीरामजीने सम्मेलनके प्रस्तावोंकी रक्षाके लिये अपने व्याख्यान बंद कर दिये। इधर करीब ६०-७० श्रावक हगामीलालजीके अलग व्याख्यानके प्रति असंतोष प्रकट करनेके उद्देश्यसे वहाँ गये और उन्होंने व्याख्यानके बीचमें ही भजन गाना शुरू किया। साथही बाहिरके प्रतिष्ठित नेताओं आदिको तार द्वारा परिस्थितिकी सूचना दीगई और उनसे इस सम्बन्धमें उचित व्यवस्था मांगी गई। मालूम हुवा है कि अधिकांश व्यक्तियोंकी यही सम्मति आई कि एकलविहारी साधु सम्मेलनके बाहर है तथा श्री काशीरामजी अपना व्याख्यान चालू रक्खें। बीचमें कुछ व्यक्तियोंने यहाँ परभी परस्पर समझौता करानेका प्रयत्न किया था तथा यह परस्पर निश्चित हो गया था कि चातुर्मासकी समाप्ति तक हगामीलालजीको और अवसर दिया जाय तथा उनके साथ पूर्ववत् व्यवहार जारी रक्खा जाय, चातुर्मास पश्चात वे एकलविहारी न रहेंगे। किन्तु बादमें बहुत मामूलीसी बात पर समझौता टूट गया। आजकल दोनोंके अलग अलग व्याख्यान होरहे हैं। —संवाददाता।

जैनधर्म का मर्म ।

(३२)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका स्वरूप ।

सब ज्ञानोंका मूल मतिज्ञान है। इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष, मानसिक विचार, स्मरण, तुलनात्मक ज्ञान, तर्क वितर्क, अनुमान, अनेक प्रकारकी बुद्धि आदि सभीका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव होता है। इसलिये साधारणतः मतिज्ञानका यही लक्षण किया जाता है कि 'इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान पैदा होता है वह मतिज्ञान * है।

प्रश्न—मति और श्रुतमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—मतिज्ञान स्वार्थ है, और श्रुतज्ञान परार्थ है। श्रुतज्ञान दूसरोंके विचारोंका भाषाके द्वारा होनेवाला ज्ञान † है इसलिये वह परार्थ कहलाता है। मुख्यतः शास्त्रज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—शास्त्रमें अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहा है।

उत्तर—शब्दको सुनकर अर्थका ज्ञान करना अर्थसे अर्थान्तरका ही ज्ञान है। परन्तु यह नियम नहीं है कि एक अर्थसे दूसरे अर्थका जितना ज्ञान होगा वह सब श्रुतज्ञान कहलायगा। यदि ऐसा माना जायगा तो चिन्ता (तर्क) अभिनिबोध ☸ (अनुमान) श्रुतज्ञान कहलायगा। मतिज्ञानके ३३६ भेदोंमें ऐसे बहुतसे भेद हैं जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थके ज्ञानरूप हैं, वे सब श्रुतज्ञान कहलायेंगे। परन्तु वे मतिज्ञानही * माने जाते हैं। इसलिये गोम्मटसार † आदि का लक्षण अतिव्याप्त है।

प्रचलित भाषामें जिसे हम शास्त्रज्ञान कहते हैं वही श्रुतज्ञान है: बाकी सब मतिज्ञान है। जैन शास्त्रों के निम्नलिखित वर्णनसे भी मतिश्रुतकी इस परिभाषा को स्पष्ट करते हैं।

(क) श्रुतज्ञानके जहाँभी कहीं भेद किये गये हैं, वहाँ अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट किये गये हैं। शास्त्रके भेदोंको ही श्रुतके भेद कहा गया, इससे मालूम होता है कि शास्त्रज्ञानही श्रुतज्ञान है.

(ख) जिसप्रकार श्रुतज्ञानके विषयमें सभी द्रव्योंका समावेश होता है, उसीप्रकार मतिज्ञानका

---

* इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। सर्वार्थसिद्धि १-९।

† शब्दमाकर्णयतोभाष्यमाणस्य पुस्तकादिन्यस्तं वा चक्षुषा पश्यतः घ्राणादिभिर्वा अक्षराणि उपलभमानस्य यद्विज्ञानं तत् श्रुतमुच्यते। त० टी० सिद्धसेन १-९।

☸ तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधने तु यः। कृतोऽनिन्द्रियमुक्तेनाभिनिबोधः सलक्षितः। श्लोकवार्तिक १-१३-१२२।

* एतेषाम् श्रुतादिष्वप्रवृत्तेश्च। सर्वार्थसिद्धि १-१३।

† अत्थादो अत्थंतर मुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। गो० जी० ३१५।

विषयभी बतलाया* गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि मतिज्ञानके द्वारा धर्म अधर्म आदि अमूर्तिक द्रव्यों का ज्ञान कैसे होगा ? किसीभी इन्द्रियसे हम अमूर्त्तिक पदार्थको नहीं जान सकते। यह प्रश्न प्राचीन विद्वानोंके सामनेभी खड़ा हुआ था परन्तु मतिज्ञान की ठीक परिभाषा भूलजानेसे इस प्रश्नका उनसे ठीक समाधान न हुआ। पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं—"अनिन्द्रिय नामका करण है, उससे पहिले धर्म अधर्म आदिका अवग्रह होता है, उसके बाद श्रुतज्ञान उस विषयमें प्रवृत्त होता है।"

पूज्यपादका यह उत्तर बिलकुल अस्पष्ट और टालमटूल है, क्योंकि मनके द्वारा धर्म द्रव्यका अनुभव तो होता नहीं है। हाँ, अनुमान होता है। अगर अनुमान (अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान) श्रुतज्ञान है तो धर्मका यह श्रुतज्ञान कहलाया न कि मतिज्ञान। मनके द्वारा धर्म आदिका अवग्रह किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि अकलंकदेवने धर्मादिके अवग्रहादिका उल्लेख नहीं किया; सिर्फ 'मन का व्यापार होता है' इतनाही कहा है और श्लोकवार्तिककारने इस प्रश्नसे किनारा काट लिया है।

सिद्धसेन गणी ने इस प्रश्न का समाधान दूसरी तरह किया है। वे कहते हैं कि 'पहिले श्रुतज्ञानसे धर्मद्रव्य का ज्ञान होता है। पीछे जब वह उसका ध्यान करता है तब मतिज्ञान* होता है।' इस समाधानमें उलटी गंगा बहायी गई है। अनुभव और मान्यता यह है कि पहिले मति होता है, पीछे श्रुत होता है, जबकि गणीजीने पहिले श्रुत और पीछे मतिका कथन किया है। दूसरी बात यह है कि ध्यान, किसी उपयोगकी स्थिरता है। ध्यानसे उस उपयोगकी स्थिरता सिद्ध होती है न कि उपयोगान्तरता। इसलिये ध्यानरूप होनेसे श्रुतज्ञान मतिज्ञान नहीं बनसकता। वास्तवमें वह अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान तो रहता ही है। इससे यह बात स्पष्ट है कि अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान नहीं कहते किन्तु शास्त्रज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। शास्त्रज्ञानके सिवाय बाकी अर्थ से अर्थान्तरका ज्ञान मतिज्ञान ही है। दूसरे शब्दोंमें हम मतिज्ञानीको बुद्धिमान कह सकते हैं और श्रुतज्ञानीको विद्वान कहसकते हैं। बुद्धि और विद्वत्ताके अन्तरसे मतिश्रुतके अन्तरका अंदाज लगसकता है।

प्रश्न— मतिज्ञानका क्षेत्र अगर इतना व्यापक होगा तो मति और श्रुतमें व्याप्य-व्यापक भाव हो जायगा। अर्थात् श्रुतज्ञान मतिका अंश होजायगा।

उत्तर— विशेषावश्यक भाष्यमें कहा है कि 'श्रुतज्ञान मतिज्ञानका एक विशिष्ट भेदही है, इसलिये उसे मतिज्ञानके बाद कहा है।' इस प्रकार किसी अपेक्षासे श्रुतज्ञान, मतिका विशिष्ट भेद होने परभी बुद्धि और विद्वत्ताके समान उन दोनोंमें भेद स्पष्ट है। मतिज्ञान स्वयं उत्पन्न ज्ञान है अर्थात् उसमे परोपदेशकी आवश्यकता नहीं है, जब कि श्रुतज्ञान

* मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। त० अ० १ सूत्र २६। द्रव्येषु इति बहुवचननिर्देशः सर्वेषां जीवधर्माधर्माकाश पुद्गलानां सङ्ग्रहार्थः। सर्वार्थसिद्धि।

अनिन्द्रियाख्य करणमस्ति तदालम्बनो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूपः प्रागेवोपजायते। ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते। स० सि० १-२६।

न इन्द्रियावरणक्षयोपशम ... द्व्यपेक्षं नोइन्द्रियं तेषु व्याप्रियते। त० रा० १ २६-४।

* मतिज्ञानी तावत् श्रुतज्ञानेनोपलब्धेष्वर्थेषु यदाऽक्षर परिपाटीमन्तरेण स्वभ्यस्तविद्यो द्रव्याणि ध्यायति तदा मतिज्ञान विषयः सर्वद्रव्याणि। त० भा० टी० १-२७

मइपुव्वं सुयमुत्तं न मई सुय पुव्विया विसेसोऽयं। विशेषावश्यक १०५।

मइ पुव्वं जेण सुयं तेणाईए मई, विसिट्ठो वा— मइभेओ चेव सुयं तो मइसमणंतरं भणियं। ८६।

परोपदेशसे पैदा होता है—उसमें शब्द और अर्थके संकेतकी आवश्यकता होती है।

प्रश्न— क्या मतिज्ञानमें संकेतकी आवश्यकता नहीं होती ? आँखोंसे जब हम घड़ा देखते हैं, तब 'यह घड़ा है' इस प्रकारके ज्ञानके लिये 'घड़ा' शब्द के संकेतकी आवश्यकता होती है। तब इस प्रकारके मतिज्ञानको क्या हम श्रुतज्ञान कहें ?

उत्तर— यहाँ हमें घड़ेके ज्ञानके लिये संकेत की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसके व्यवहारके लिये है। जिसको घड़ेका संकेत है, और जिसे घड़ेका संकेत नहीं है दोनोंही घड़ेका ज्ञान कर सकते हैं।

प्रश्न— जब मनुष्य पैदा होता है तब उसे किसी भाषाका संकेत नहीं होता और संकेत विना श्रुतज्ञान नहीं होता। तब किसीको श्रुतज्ञान कैसे पैदा होगा, क्योंकि संकेतके विना न तो श्रुतज्ञान होता है न श्रुतज्ञानके विना संकेत ?

उत्तर— पिछला वाक्य ठीक नहीं। क्योंकि श्रुतज्ञानके लिये संकेतकी जरूरत है परन्तु संकेतके लिये श्रुतज्ञान अनिवार्य नहीं है। संकेत श्रुतज्ञानसे भी होता है और मतिज्ञानसे भी। जब हमसे कोई कहता है कि 'इस वस्तुको घड़ा कहते हैं' तब यह संकेत श्रुतपूर्वक है। परन्तु जब कोई बालक, वचन और क्रियाके अविनाभावसे संकेतका अनुमान करता है, तब वह मतिपूर्वक संकेत कहलाता है।

प्रश्न—मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थको दूसरेसे कहनेके लिये जब हम मनही मन भाषा रूपमें परिणत करते हैं तब वह मति बना रहता है या श्रुत हो जाता है?

उत्तर— मनमें भाषारूप परिणत होनेसे अर्थात् भावाक्षर होनेसे कोई ज्ञान श्रुत नहीं कहलाता, किन्तु भाषासे पैदा होनेसे श्रुत कहलाता है। इसलिये भाषा-परिणत होने पर भी वह मति ही कहलाया।

प्रश्न—ज्ञानको भाषापरिणत करके जब हम बोलते हैं तब कौन ज्ञान कहलाता है ?

उत्तर—बोलना कोई ज्ञान नहीं है, न शब्द ज्ञान है। दूसरे प्राणीके लिये यह श्रुतज्ञानका कारण है, इसलिये हम इसे द्रव्यश्रुत कहते हैं। इसे द्रव्याक्षर अथवा व्यञ्जनाक्षरभी कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्यश्रुतका क्या अर्थ है और भावश्रुत तथा द्रव्यश्रुतमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—भावश्रुतका कारण जो शब्द, या भाषारूप संकेत, लिपि आदि द्रव्यश्रुत हैं। इनसे जो ज्ञान पैदा होता है वह भावश्रुत है। द्रव्यश्रुत कारण और भावश्रुत कार्य है।

प्रश्न—द्रव्यश्रुत, भावश्रुतका कारण है, परन्तु कार्य किसका है ?

उत्तर— द्रव्यश्रुत किसीभी ज्ञानका कार्य हो सकता है। मतिज्ञानसे किसी अर्थको जानकर जब

६ इस विषयमें भी जैनाचार्योंमें मतभेद है। तत्त्वार्थ-भाष्यके टीकाकार सिद्धसेनगणी कहते हैं कि मतिज्ञानके द्वारा किसी अर्थका प्रतिपादन नहीं होसकता क्योंकि यह ज्ञान मूक है। मतिज्ञानसे जाना हुआ अर्थ श्रुतसे ही कहा जासकता है। केवलज्ञान यद्यपि मूक है लेकिन सम्पूर्ण अर्थको जानता [illegible] है, इसलिये प्रतिपादन कर सकता है। (मत्या [illegible] न मत्या [illegible] शक्यं प्रतिपादयितुं मूक[illegible] ज्ञानानां [illegible] पुन [illegible] श्रुतज्ञानेन [illegible] प्रतिपाद्यन्ते, तस्मात् [illegible] मूकं [illegible]। केवलज्ञानं तु यद्यपि मूकं [illegible] प्रधानमिति कृत्वाऽवलम्ब्यते। त० भा० टी० १-३५) परन्तु इस मतका विरोध विशेषावश्यकमें किया गया है। मैंने भी इस मतको स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इससे ईहाअवाय आदि सभी ज्ञान श्रुत कहलाने लगेंगे। मूक होने पर भी अगर केवलज्ञानसे प्रतिपादन होसकता है तो मतिज्ञानसे भी होसकता है। 'भासापरिणामेसमेत्तओ वा सुयमजुत्तं।' विशेषावश्यक १३४। अर्थात भाषाके संकल्प मात्रसे किसी ज्ञानको श्रुत कहना ठीक नहीं है।

हम बोलते हैं तब द्रव्यश्रुत मतिज्ञानका कार्य है; जब श्रुतज्ञानसे जानकर बोलते हैं तब भावश्रुतका कार्य है।

प्रश्न—द्रव्यश्रुत, भावश्रुतका कार्यभी है और कारणभी है। ये दोनों बातें कैसे संभव हैं?

उत्तर—द्रव्यश्रुत, वक्ताके भावश्रुतका कार्य है और श्रोताके भावश्रुतका कारण है। वह एकही भावश्रुतका कार्य और कारण नहीं है।

प्रश्न—श्रुतज्ञानसे जाने हुए पदार्थ पर विशेष विचार करना और नयी खोज करना किस ज्ञानमें शामिल है?

उत्तर—यह विशेष विचार बुद्धिरूप है और बुद्धि मतिज्ञानका भेद है, इसलिये यहभी मतिज्ञान कहलाया। मतिज्ञानके भेदमें चार तरहकी बुद्धिका कथन किया जाता है। उसमें दूसरा भेद 'वैनयिकी' बुद्धिका है। यह विशेष विचार वैनयिकी बुद्धिरूप होनेसे मतिज्ञान कहलाया।

प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान भाषाजन्यज्ञान है तो वह एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियके कैसे होगा? उनके कान नहीं होते कि वे सुनें। उनके मन नहीं होता कि वे विचार करें। दूसरेके भावोंसे वे क्या लाभ उठा सकते हैं?

उत्तर—श्रुतज्ञानकी जितनी परिभाषाएं प्रचलित हैं, उन सबके सामने यह प्रश्न खड़ाहो है। श्रुतज्ञान अगर अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान माना जाय तो भी एकेन्द्रिय आदिके मन नहीं होनेसे श्रुतज्ञान कैसे होगा? इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यहभी खड़ा होता है कि अगर इनके मन न माना जाय तो इनके द्वारा सुव्यवस्थित काम कैसे होते हैं? चींटियोंका अगर ध्यानसे निरीक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि उनके मन है। वे अपना एक समूह बनाती हैं। एक चींटीको अगर कहीं कुछ खाद्य सामग्रीका पता लगता है तो वह सैकड़ों चींटियोंको बुलालाती है। एक चींटी जब दूसरी चींटियों पर अपना भाव या ज्ञातसमाचार प्रकट करती है तब उनमें कोई भाषा होना चाहिये और भाषाजन्य ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस प्रकार उनके श्रुतज्ञान स्पष्ट सिद्ध होता है। किन्तु उनके मन नहीं माना जाय तो श्रुतज्ञान कैसे होगा? मनके बिना श्रुत असम्भव है। जमीनके भीतर चींटियोंके नगर होते हैं, उनमें सड़कें होती हैं रक्षक चींटियाँ, रानी चींटी, आदिके उनमें दल होते हैं। वे विजातीय चींटियोंसे लड़ती हैं। इस प्रकार एक तरहकी संगठित समाजरचना उनमें होती है। न्यूनाधिक रूपमें अन्य कीड़ों तथा प्राणियों के विषयमें भी यही बात कही जासकती है। केवल मनके विषयमें ही यह प्रश्न नहीं है, किन्तु आज वैज्ञानिकोंने वृक्षोंमें भी पाँचों इन्द्रियां साबित की हैं। सुस्वर दुस्वर सुगंध दुर्गंधका उनके ऊपर जैसा प्रभाव पड़ता है वह यंत्रों द्वारा दिखला दियागया है। विख्यात वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्र बसुके प्रयोग इस विषयमें दर्शनीय हैं। इससे जैन शास्त्रोंमें वर्णित एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि भेदभी शङ्कनीय मालूम होने लगते हैं। परन्तु जैन शास्त्रोंके देखनेसे मालूम होता है कि वेभी इस विषयमें उदासीन नहीं हैं, वेभी इस बातसे परिचित हैं कि एकेन्द्रिय आदि जीवों पर पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका प्रभाव पड़ता है, इसलिये किसी न किसी रूपमें उनने भी एकेन्द्रिय आदि जीवोंके न्यूनाधिक रूपमें पाँचों इन्द्रियाँ और मनको स्वीकार किया है। इसलिये उनके श्रुतज्ञान भी होता है।

नंदी सूत्रकी टीकामें लिखा है:—

"जिसके तर्कवितर्क ढूंढ़ना खोजना, सोच विचार नहीं है वह असंज्ञी है। सम्मूर्छिमपंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदिको असंज्ञी समझना चाहिये। उनके उत्तरोत्तर थोड़ाथोड़ा मन होता है इसलिये वे थोड़ाथोड़ा जानते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रियोंकी अपेक्षा सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय अस्पष्ट या थोड़ा जानते हैं।

उससे कम चतुरिन्द्रिय आदि। सबसे कम एकेन्द्रिय क्योंकि उसके मनोद्रव्य प्रायः है ही नहीं। सिर्फ बहुतही थोड़ा बिलकुल अव्यक्त मन उनके पाया जाता है जिससे उनके आहारादि संज्ञाएँ होती हैं*।"

विशेषावश्यक भाष्य† में कहा है:—

"पृथ्वीकायिकादि जीवोंके जिस प्रकार द्रव्येन्द्रियके बिना भावेन्द्रिय ज्ञान होता है उसी प्रकार उनके द्रव्यश्रुतके अभावमें भावश्रुत जानना चाहिये"

"असंज्ञी जीवोंके संज्ञाएँ बहुत थोड़ी होती हैं इसलिये वे संज्ञी नहीं कहलाते। जिस प्रकार एकाध रुपया होनेसे कोई धनवान नहीं कहलाता, साधारण रूप होनेसे कोई रूपवान नहीं कहलाता उसी प्रकार साधारण संज्ञासे कोई संज्ञी नहीं कहलाता किन्तु उसके लिये विशेष संज्ञा होना चाहिये*।"

इन उद्धरणोंसे इतना तो सिद्ध होता है कि आजसे क़रीब डेढ़ हज़ार वर्ष पहिले वृक्षादिकोंके पाँचों इन्द्रियाँ और मन माना जाने लगा था। किन्तु जीवोंके एकेन्द्रिय आदि भेद उससेभी पुराने हैं। उस पुरानी परम्पराका समन्वय करनेके लिये यह मध्यम मार्ग निकाला गया कि एकेन्द्रियादि भेद द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा मानना चाहिये, भावेन्द्रियाँ तो सभीके सब होती हैं। मेरे खयालसे इसकी अपेक्षा यह समन्वय कहीं अच्छा है कि सभी जीवोंके सभी द्रव्येन्द्रियाँ और द्रव्यमन माना जाय और विशेषावश्यकके शब्दोंमें उन्हें इसलिये एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि ठहराया जाय कि उनके शेष इन्द्रियाँ बहुत अल्प परिमाणमें हैं। द्रव्येन्द्रियका बिलकुल अभाव माननेसे भावेन्द्रिय भी काम न कर सकेगी।

जो लोग समन्वय न करना चाहते हों, उन्हें यह समझना चाहिये कि प्राचीन समयमें जितने साधन थे उसके अनुसार खोज करके जीवोंके एकेन्द्रियादि भेद निश्चित किये गये, पीछे नयेनये अनुभव होनेसे उन सबको पंचेन्द्रिय माना जाने लगा। इस प्रकार एक दिशासे जैन वाङ्मयमें धीरे धीरे विकास भी होता रहा। परन्तु इस विचारधाराकी अपेक्षा समन्वयकी तरफ झुकनेका एक प्रबल कारण है। एकेन्द्रिय जीवोंके, जैनसाहित्यके प्राचीनसे प्राचीनकाल में मति और श्रुत दो ज्ञान मिलते हैं। जब कि श्रुतज्ञान मनसे ही मानागया है तब यह निश्चित है कि उनमें मनभी माना जाता होगा। अन्यथा उनके श्रुतज्ञान माननेकी कोई जरूरत नहीं थी।

* यस्य पुनर्नास्ति ईहा अपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्शः सोऽसंज्ञीतिलभ्यते। स च सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः। सहि स्वल्पस्वल्पतर मनोलब्धिसम्पन्नत्वादस्फुटमस्फुटतामर्थं जानाति। तथाहि-संज्ञि पञ्चेन्द्रियापेक्षया सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियः ततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः ततोऽस्फुटतरं द्वीन्द्रियः ततोऽप्यस्फुटतमेकेन्द्रियः तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात् केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतरं मनो द्रष्टव्यं। यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपा प्रादुर्भवन्ति। नन्दी टीका सूत्र ३९।

† जह सुहुम भाविंदिय नाणं दव्विंदियावरोहे वि। तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं। १०३। टीका में विस्तृत विवेचन है। एकेन्द्रियों पर पाँचों इन्द्रियों के विषय का प्रभाव बताया है और पाँचों ही इन्द्रियावरण का क्षयोपशम माना है। इसीप्रकार पण्णवणा सूत्र के नवमें सूत्र की टीका में वृक्षों को पंचेन्द्रिय सिद्ध किया है। और बाह्येन्द्रियों के न होने से उन्हें एकेन्द्रिय माना है। पंचेंदियो व्व बउलो नरोव्व सव्व विसयोवलम्भाओ। तहवि न भण्णइ पंचिंदिओ त्ति बज्झिन्दियाभावा॥ ततो न भावेन्द्रियाणि लौकिक व्यवहारपथावतीर्णैकेन्द्रियादिव्यपदेश निबन्धनं किन्तु द्रव्येन्द्रियाणि।

* थोवा न सोहणा विय जसा तो नाहि कीरए इहइं। करिसावणेण धणवं ण रूववं मुत्तिमेत्तेण। ५०६। जह बहु दव्वो धणवं पसत्थरूवा अ रूववं होइ महईइ सोहणा इ य तह सण्णी नाणसण्णा ए। ५०७।

खैर, इस विवेचनसे इतना तो सिद्ध है कि एकेन्द्रिय आदि सभी जीवोंके मन होता है इसलिये वे थोड़ा बहुत विचार करसकते हैं, एक दूसरेके भावोंको भी किसी न किसी रूपमें समझ सकते हैं या व्यक्त करसकते हैं। भावोंको व्यक्त करनेका या समझनेका जो माध्यम है वही भाषा है, और उससे पैदा होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस प्रकार श्रुतज्ञान सभी संसारी जीवोंके सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न—श्रुतज्ञानकी जो परिभाषा आपनेकी है वह ठीक है, परन्तु इससे श्रुतज्ञानका विषय मतिज्ञानसे कम होजायगा और श्रुतज्ञानकी विशेषता न रहेगी। श्रुतज्ञानका अलग स्थान माननेकी जरूरत भी क्या रहेगी?

उत्तर—मतिज्ञानका विषय अगर श्रुतज्ञानसे अधिक सिद्ध होजाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वास्तवमें मतिज्ञानका विषय सबसे अधिकही है। और किसी अपेक्षासे श्रुतज्ञान मतिज्ञानका भेदही है, यह बात पहिले कही जाचुकी है। श्रुतज्ञानको जो अलग स्थान रक्खा गया है उसका कारण यह है कि मनुष्य जातिका सारा विकास इसीके ऊपर अवलम्बित है। यदि पूर्वजोंसे आये हुए ज्ञानका लाभ हमें समाजके द्वारा न मिला होता तो हम सबसे अधिक बुद्धिमान होनेपर भी मूर्खसे मूर्खसे भी पीछे होते। किसी भी दिशामें जाओ उस दिशा में हमें इसके उदाहरण मिलेंगे। आज हम जिस सुन्दर रेल गाड़ीमें यात्रा करते हैं, उसको बनानेवाला ऐसी गाड़ी कभी न बना सकता, यदि उसे इससे पहिलेकी साधारण रेलगाड़ीका ज्ञान अपने पूर्वजोंसे न मिला होता। मतलब यह है कि अगर हम श्रुतज्ञानको अपने जीवनमें से निकाल दें तो हममें से प्रत्येकको अपनी उन्नतिका प्रारंभ बिलकुल पशुजीवनसे शुरू करना पड़े, और हमारे ज्ञानका लाभ आगेकी पीढ़ी न उठासके, इसलिये उसेभी वहींसे उन्नतिका प्रारम्भ करना पड़े जहाँसे हमने किया है। इस प्रकार प्राणीसमाज किसीभी तरहकी उन्नति कभी न करसके। श्रुतज्ञानने ही हमारे जीवन को इतना उन्नत बनाया है। पूर्वजोंका और अपने साथियोंके अनुभवोंका लाभ अगर हमे न मिले तो हमारी अवस्था पशुओंसे भी निम्न श्रेणीकी होजाय। इसीलिये श्रुतज्ञानका क्षेत्र भी विशाल है, उसका स्थान भी उच्च और स्वतन्त्र है। यद्यपि श्रुतज्ञान, मतिज्ञान बिना खड़ा नहीं हो सकता किन्तु श्रुतज्ञानके बिना मतिज्ञान, पशुसे अधिक उच्च नहीं बनासकता। इस प्रकार मतिश्रुत एक दूसरेसे ओतप्रोत होने पर भी स्वार्थ और परार्थकी दृष्टिसे दोनोंमे भेद है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

बड़ी धारासभामें दो बिल।

शिमलाका समाचार है कि आगामी धारासभाकी बैठकमें दो नये बिल पेश होनेवाले हैं, जो सामाजिक और धार्मिक दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक बिल कन्याओंके रक्षणके विषयमें है। इसे उपस्थित करेंगे कुँवर रघुवीरसिंहजी। इस बिलके विषयमें कुँवर रघुवीरसिंहजीका कहना है कि "कन्या विक्रयकी खराब रूढ़िने हिन्दूसमाजमें भयंकर रूप धारण किया है। फल यह हुवा है कि विधवाओंकी संख्या खूब बढ़ गई है, इसलिये इस कानूनके द्वारा निम्नलिखित दो बातें अपराध समझी जायें:—

१—वर-कन्याकी अयोग्य उमर।

२—उनको मनुष्योंके बदले बेचनेकी वस्तु समझना।"

ये दोनों बातें नीतिशास्त्रके सिद्धान्तों और हर एक समाजके रहनसहनकी प्रथाके विरुद्ध हैं। बिल की एक कलम निम्नलिखित है:—

"यदि इस बातको माननेके पर्याप्त कारण मिलें

कि मा-बापने कन्याविक्रय किया है तो पुलिसको उनकी गिरफ्तारी करने की सत्ता है।"

कहना न होगा कि इस प्रकारका क़ानून बहुत आवश्यक है। कन्याओंको पशुके समान बेचकर मनुष्यताकी हत्या करनेवाले और धृष्टतापूर्वक उस हत्याका समर्थन करनेवाले आततायिओंसे समाजको बचानेकी बहुत जरूरत है। यह क़ानून कन्याविक्रयका निषेध करके वृद्धविवाहका भी निषेध करता है। बिल की पूरी नक़ल हमारे सामने नहीं है, परन्तु इस बिल में वृद्धविवाहका स्पष्ट निषेध करनेके लिये निम्नलिखित आशयकी कलम अवश्य होना चाहिये:—

"जिस लड़कीकी उम्र अट्ठारह वर्षसे कम हो उसकी शादी किसी ऐसे वरके साथ न की जाय जिसकी उम्र लड़कीसे बीस वर्षसे अधिक हो।"

इस कलमके अनुसार चौदह वर्षकी लड़कीकी शादी अधिकसे अधिक ३४ वर्षके पुरुषके साथ होसकेगी और १८ वर्षकी लड़कीकी शादी ज्यादासे ज्यादा ३८ वर्षके पुरुषके साथ होसकेगी। इस प्रकार स्पष्टरूपसे वृद्धविवाहका निषेध होगा। वृद्धविवाह एक प्रकारका पिशाचविवाह है। इसको नेस्तनाबूद करनेकी बड़ी आवश्यकता है। वृद्धविवाहके बन्द होनेपर ही कन्याविक्रय ठीक तरहसे बन्द हो सकता है।

दूसरा बिल नग्नताके विषयमें है। इसे पेश करने वाले हैं भूपतिसिंहजी। इसके विषयमें भूपतिसिंहजी और इनके साथी एन०एस० दुधारिया कहते हैं— "१८६० का ४५ वाँ क़ानून और १८६१ का ५ वाँ क़ानून ऐसे समयमें बना था जब कि देशका लोकमत शिक्षित न था और लोग धारासभाके क़ायदा क़ानूनों में रस न लेते थे। इन क़ानूनोंको बनाते समय धर्म-गुरु साधुओंका ध्यान नहीं रक्खा गया था। बॉम्बे लॉ रिपोर्टर वाल्यूम १९ पेज ७९२ में एक नग्न मुस्लिम फ़कीरका केस दिया गया है। छोटी कचहरी के भारतीय न्यायाधीशोंने उसे निर्दोष ठहराया था और नग्न रहनेकी प्रथाको स्वीकार किया था परन्तु मुम्बईकी नई अदालतने १) रु० दण्ड किया था, क्योंकि हाईकोर्टके जज अपनी प्रथा समझ न सके थे। अब मालूम होता है कि अनेक धर्म जिनमें नग्न रहनेका निषेध नहीं है, इतनाही नहीं, किन्तु शारीरिक मोहका अन्त लानेके लिये नग्न रहना जिसमें अनिवार्य है, उनको क़ानूनके ये कठोर शब्द खटकते हैं। इसलिये इस क़ानूनमें इतना सुधार करनेकी जरूरत है जिससे साधु सन्यासियोंको नग्न रहनेमें बाधा न रहे।"

दिगम्बर जैनसमाजको तो क़ानूनके ये शब्द सबसे अधिक खटकते हैं इसलिये अगर इस प्रकारका सुधार होजावे तो इसमें सन्देह नहीं कि दिगम्बर सम्प्रदायको इससे बहुत संतोष होगा।

शारदा क़ानूनके भंग पर सज़ा।

उमरेठका समाचार है कि नड़यादके जोशी कल्याणजी दाजीभाई तथा उनकी पत्नी इच्छाबाईके पुत्र गणपतिलालका, पन्द्रह वर्षकी उमरमें, महुधाके ठा० उमाशङ्कर अमृतलालकी लड़की भानुमती (उम्र १० वर्ष) के साथ विवाह किया गया था। विवाह अहमदाबाद ज़िलेके बटवा ग्राममें छुपकर किया गया था। वहाँ के खेड़ावाल युवकसंघकी तरफसे नालिश की गई थी, तब अहमदाबादके सिटी मजिस्ट्रेटने ता० २१-७-३२ को निम्नलिखित सज़ा दी—

वरके पिता पर २५०) रु० जुर्माना।

वरकी माता पर २५०) रु० "

कन्याके पिता पर ५००) रु० "

विवाह करानेवाले ब्राह्मण पर ७५०) रु० जुर्माना और एक दिन की क़ैद।

प्रत्येक नगरमें ऐसे युवकसंघोंकी जरूरत है जो साहसपूर्वक बाल-विवाहोंको रोकनेकी चेष्टा करें।

"जैनधर्मका मर्म" पर सम्मतियाँ।

(२७)
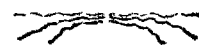
मध्यभारतसे एक दिगम्बर जैन विद्वान् लिखते हैं—

"... जैनजगत्की राह मैं बहुत उमङ्गसे देखा करता हूँ। कई महीनोंसे इसीका स्वाध्याय चल रहा है। बड़ी शान्ति मिलती है। मुझे इस पत्रसे बहुत लाभ हुआ है। हठाग्रहको छोड़कर जो "जैनधर्मका मर्म" बाँचेगा—लट्टू होजायगा। हाँ, समझनेके लिये दिमाग़, एकाग्रता और ज्ञान प्राप्तिकी लालसा चाहिये। जैनधर्मकी सङ्कीर्णताको हटाकर आपने उसके उदार स्वरूपको प्रकट किया है जो कि सार्वधर्म-राष्ट्रधर्मकी पात्रताकी पूर्ति करेगा। दिल तो चाहता है कि कोई भक्त एक हिन्दीकी मशीन लेकर आप के पास बैठ जाय और आप अपने अनुभूतविचार, धारा-प्रवाह लिखाते जायँ। सबसे बड़ा उपकार यही होगा। मेरी समझमें सब......धर्मशास्त्री न्यायतीर्थ आदि हार चुके हैं, कारण आप पहिले ही उनकी शङ्काओंका उत्तर-प्रत्युत्तर करते गये हैं ताकि उन्हें बोलनेकी जगह न रहे। आपने जैनधर्मका इतना विस्तीर्ण अध्ययन किया है कि इस समाजके विद्वानोंको आपका विद्यार्थी बनना चाहिये। आपकी कुशाग्र बुद्धिने ज्ञानदर्शनका ऐसा अच्छा निरूपण किया है कि जैसा कभी सुना नहीं गया। जहाँ कि इस समाजको आपका दीर्घकाल तक यश गाना चाहिये वहाँ वे कोसते हैं! परन्तु आप जैनधर्मकी सच्ची सेवा कर रहे हैं। इस समाजके प्रत्येक विद्वानको जैनजगत् बाँचना समझना-मनन करना चाहिये। वे बड़े हतभाग्य हैं, जो कि इसे नहीं अपनाते। आपके लेख अमूल्य रत्न हैं। भावी जनता—जो गतानुगतिक न होगी—आपको पूज्य समझेगी। जैनधर्म किसीकी बपौती नहीं—यह तो आत्म-सत्य-वस्तु धर्म है। इसीसे राष्ट्रीय होने लायक है। आप बड़ा भारी उपकार कर रहे हैं। बधाई है आपको और उन्हें जो आपकी कद्र कर रहे हैं। विजातीयविवाह, विधवाविवाहके बिना यह समाज जीवित नहीं रह सकता। वह राष्ट्रीय धर्म नहीं जो इसका विरोधी हो। मैं बारबार आपकी निर्भीकता, सरलता, सत्याभिलाषिता, उदारता, लेखनपटुता, बुद्धिप्रखरता, सुशीलता और राष्ट्रीयताको सराहता हूँ। जैनधर्मकी उत्तमताको जैसे आप प्रकट कर रहे हैं, वैसे शायद ही किसीने की हो। समय आयगा जब जैनजगत्की एक एक प्रति एक एक रुपयेमें ढूँढी न मिलेगी। वह सबसे बड़ा जिनवाणीभक्त होगा जो आपके लेखों, कविताओं, नाटकों, गल्पोंका मुद्रण कराकर प्रचार करेगा। मैं आपके प्रायः सभी विचारोंसे सहमत हूँ। यदि मैं श्रीमान होता तो इसका घाटा भर देता। मुझसे लक्ष्मी रूठी हुई है, तो भी यथाशक्ति भेजूँगा।"

(२८)

एक खंडेलवाल भाई जो कि ज्यादा शिक्षित तो नहीं मालूम होते किन्तु मुनीमी करते रहे हैं, लिखते हैं—

"जबसे हमको जैनजगत् पढ़नेको मिला है तबसे ही जैनधर्मपर दृढ़ विचार होते आरहे हैं और बारम्बार ये ही ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि जैनजगतका सर्वत्र प्रचार हो। यथानाम तथा गुणवाली कहावत जैनजगतमें भरी है। जैनजगत् यही बताता है कि सत्य है सो ही जैन है। यह बात ऐसी है कि अखिल भारतको मान्य करनी है। विशेष जैनजगतका-गुणानुवाद मैं तुच्छ बुद्धिवाला क्या करूँ? लेकिन आत्मा यह ही कहती है और ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि सब जगह जैनजगत् हो। जैसा नाम सम्पादकजीका है उसी माफ़िक आपमें गुण भरे हैं कि जैनियों में दरबार होकर आपने सब जैनियोंके लिये दरबार खोल दिया इसलिये ईश्वरसे बार बार प्रार्थना करता हूँ कि आपको ईश्वर तन्दुरुस्त रक्खे और दिन दूनी रात चौगुनी शक्ति दे, ताकि हमारे सरीखे तुच्छ बुद्धिवालोंका कल्याण हो।"

साहित्य परिचय।

नवीन चिकित्सा विज्ञान—प्रकाशक हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य ३)

जलचिकित्साके नामसे आज बहुत लोग परिचित हैं। जल चिकित्साके आविष्कारक जर्मनीके प्रसिद्ध डॉक्टर लुईकूनेकी पुस्तकका यह हिन्दी अनुवाद है। यह अपने

विषयका पूरा शास्त्र है। हिन्दीमें यह पुस्तक अनुपलब्ध होगई थी। इसे प्रकाशित कर हिन्दी जनताका बहुत उपकार किया गया है। वैद्य और डॉक्टरोंकी परेशानियोंसे बचनेके लिये प्रत्येक शिक्षितको इसका उपयोग करना चाहिये। यद्यपि कोई भी चिकित्सा मनुष्यको अमर नहीं बना सकती, फिर भी अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा यह चिकित्सा बहुत लाभप्रद और सस्ती है। हाँ, कुछ परिश्रम होता है जो कि लाभकी दृष्टिसे नगण्य है। प्रारम्भमें श्रीयुत हेमचन्दजीने एक मार्मिक प्रस्तावना लिखी है जो कि इस चिकित्साके इतिहास और उपयोगितापर प्रकाश डालती है। पुस्तक संग्रहणीय है।

मानव हृदयकी कथाएँ—अनुवादक—श्रीयुत मदनगोपालजी वकील। प्रकाशक हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य ॥।=)

फ्रांसके प्रसिद्ध कथाकार गई द मोपासाँकी कथाओंका यह दूसरा संग्रह है। पचास वर्ष पुराना होनेपर भी मनोवैज्ञानिक कथाओंके क्षेत्रमें मोपासाँका आसन अभी ज्यों का त्यों चमक रहा है। इनकी कहानियोंकी सारी शक्ति बिच्छूके डंकके समान पूँछकी नोंक पर रहती है। किसी कहानीकी पिछली कुछ लाइनें अगर आप न पढ़ें तो आप को उसमें से कुछ भी न मिलगा। प्रायः कथाओंमें ऐसा मालूम होता है कि कथा द्वारा मोपासाँ किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करना चाहते। वे बड़ी खूबीसे मनुष्यका चित्रण करके चले जाते हैं और निष्कर्ष निकालनेका काम पाठकों पर छोड़ते हैं। और कभीकभी तो वे इस प्रकार मझधारमें छोड़ देते हैं कि वे निर्दयसे मालूम होने लगते हैं। वर्णन शैलीका स्वाभाविक सौन्दर्य इनका बहुत मनोज्ञ होता है। संग्रहकी सभी कथाओंमें मोपासाँकी वर्णनशैली की छाप है। फिर भी कई कहानियाँ इतनी साधारण हैं कि उनमें इस छापके अतिरिक्त कुछ विशेषता नहीं है। हमारे खयालसे मोपासाँके विशाल संग्रहमें से और भी अच्छी कहानियाँ चुनी जा सकती थीं। यह दूसरा भाग प्रथम भागसे कुछ उतरता रहा है, फिर भी पठनीय तो है ही। छपाई सफ़ाई आदिके लिये प्रकाशकका नामही काफ़ी है।

दीक्षाधिकार द्वात्रिंशिका—लेखक, मुनि श्री न्यायविजयजी, प्रकाशक जैनयुवक संघ बड़ौदा।

मुनिश्रीके बनाये हुए बत्तीस श्लोक गुजराती अनुवाद सहित हैं। इसमें बालदीक्षाका निषेध करके उचित दीक्षाका विधान किया गया है।

Pure Thoughts—प्रकाशक बाबू अजितप्रसादजी वकील अजिताश्रम लखनऊ। आचार्य अमितगतिके ३२ श्लोक अंग्रेज़ी अनुवादसहित हैं।

पद्मनन्दि श्रावकाचार—अनुवादक—पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके उपासक संस्कार नामक छट्ठे प्रकरणका हिन्दी अनुवाद मूल श्लोकोंसहित दिया गया है।

जैन धर्मके मर्मकी उपयोगिता।

(२)

(ले०—श्री० सेठ ताराचंद नवलचंदजी जवेरी बम्बई)

जैनधर्मके मर्मकी उपयोगिताके विषयमें हमने एक लेख १६ वें अंकमें लिखा था। उसके ऊपर ब्र० शीतलप्रसादजीने १३ जुलाईके जैनमित्रमें एक नोट लिखा है। हमने अपने लेखमें बताया था कि आज मूल जैनधर्मको निःपक्ष होकर खोजनेकी ज़रूरत है और इस दिशामें लेखमालाका प्रयत्न बहुत सराहनीय है। ब्रह्मचारीजी कहते हैं कि "पं० दरबारीलालजीने अबतक चले आये जैनसिद्धान्तको अन्य रूपमें दिखलानेका प्रयत्न किया है।" परन्तु जब यह बात निश्चित है कि भगवान महावीरके पीछे पाँचसौ वर्ष तककी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है तब यह कैसे कहाजासकता है कि वर्तमानकी मान्यताएँ अबतक ठीकचली आरही हैं। अगर वे ठीक होतीं तो आज इतने सम्प्रदायभेद क्यों होते? यदि कहा जाय कि जो बात तीनों सम्प्रदायोंके विरुद्ध है वह तो न कहना

चाहिये, परन्तु यदि किसी बातमें तीनमें से दो सम्प्रदाय भूल या पक्षपात करसकते हैं, तो तीनों क्यों नहीं करसकते हैं ? जब यह बात सिद्ध है कि किसी न किसी बातमें तीनों भूल करते हैं तब बिना किसी युक्तिके यह नहीं कहा जासकता कि इतनी भूल ही करसकते हैं, और ज्यादः नहीं कर सकते। पंडितजीने सर्वज्ञताके विषयमें और ज्ञान दर्शनके विषयमें जो जैन दर्शनका परस्पर विरोध बतलाया है, उसे देखकर कौन कहेगा कि जैन ग्रंथों मे मूल बात खोज करनेके लिये जगह नहीं है ?

श्वेताम्बर शास्त्रकी जो दुहाई आपने दी है, वह व्यर्थ है क्योंकि पंडितजी श्वेताम्बर नहीं हैं, न श्वेताम्बर शास्त्रोंको वे पूर्ण प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में तो श्वेताम्बर शास्त्रोंका वैसाही मूल्य है जैसा कि दिगम्बर शास्त्रोंका।

श्वेताम्बर शास्त्रोंकी कथाओंका आपके सामने भलेही मूल्य न हो, परन्तु एक खोजी और निःपक्ष विद्वानके लिये तो वह खोजकी सामग्री अवश्य है। जो कथाएँ असंगत या युक्तिसे विरुद्ध नहीं मालूम होतीं, उन्हें सिर्फ इसलिये न मानना कि वे अपने संप्रदायके ग्रंथोंमें नहीं लिखी हैं, इस अंधश्रद्धाको क्या कहना चाहिये ? आप कुंदकुंदाचार्य, उमास्वामी, नेमिचन्द्राचार्य और अमृतचंद्राचार्य पर पूर्णश्रद्धा रखते हैं, तो इसी तरह कोई हरिभद्र, हेमचंद्र आदि पर श्रद्धा रखता है, कोई वाल्मीकि, व्यासपर श्रद्धा रखता है, और कोई नास्तिक मतपर श्रद्धा रखता है। परंतु श्रद्धा होनेसे ही कोई बात सत्य नहीं होजाती है। आजतक जैनविद्वान गर्ज गर्ज कर कहते रहे हैं कि जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है, इसमें किसीका पक्षपात नहीं है, इसकी बातोंकी हर तरह परीक्षा करलो ! आज जब उसकी निःपक्ष परीक्षा कीजाती है तब श्रद्धाके गीत गाये जाते हैं। जब श्रद्धाके गीत गाना है तो शैव, वैष्णव, शाक्त, मुसलमान, ईसाई तथा नास्तिक क्या बुरे हैं ? और किसीभी मतका या बातका सत्यासत्य कैसे जाना जासकता है ? युक्ति न मानने वाला न तो सत्यकी खोज करसकता है, न उसे दूसरेकी बातकी आलोचना करनेका अधिकार है, क्योंकि वहभी अपनी श्रद्धाके अनुसारही कहता है। पण्डितजी युक्तियोंकीही दुहाई देते हैं; किन्तु इसे आप अहंकार कहते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! एक आदमी किसी बातको युक्तिसे सिद्ध करता है और उसे सत्य मानता है, उसे आप अहंकारी कहते हैं ! परन्तु दूसरा सिर्फ इसीलिये किसीका विरोध करता है कि वह उसकी श्रद्धाके प्रतिकूल है। इसमें कौन अहंकारी है ? अहंकारी युक्तिका सेवक है या श्रद्धा का गुलाम? भगवान महावीरने तथा अन्य आचार्यों ने किसी बातको सत्य कहा तो क्या वे अहंकारी होगये ? तत्त्वज्ञानीके लिये आप शोभनीक क्या समझते हैं ? क्या वह वैनयिक मिथ्यात्वी होजावे ? क्या युक्तिविरुद्ध बोलनेवालोंको इतनाभी न समझावे कि तुम युक्तिविरुद्ध बोलते हो ? तब उन जैनाचार्योंको भी आप तत्त्वज्ञानी न मान सकेंगे जिन्हें आप महान तत्त्वज्ञानी या योगी कहते हैं। पंडितजीने सत्यके विचारसे आचार्योंकी बातों पर कुछ टीका अवश्य की है, परन्तु उनने आचार्योंके विषयमें कोई अपमानजनक शब्द नहीं कहा ? न उनने सात तत्त्वोंका या कर्मफिलोसफीका खण्डन किया है, बल्कि जहांतक मैं समझता हूं, वे इस विषयका लेखमालामें अच्छा वर्णन करेंगे।

शान्तिसागरजीको आप सर्वज्ञ नहीं मानते और शायद आपके मतानुसार पंडितपार्टीके विद्वान भी न मानते होंगे और सिर्फ अपने दलको महत्त्व देनेके लिये झूठमूठही उनको सर्वज्ञ लिखते होंगे। परन्तु अगर इसका ठीक प्रतीकार न किया जाय तो आगेकी पीढ़ीसे उन्हें सर्वज्ञ मानने लगे। और पंडितपार्टीके अनुयायियोंमें ऐसे भक्त और अन्ध-

श्रद्धालुभी पैदा होसकते हैं जो आपके ही शब्दोंमें उन्हें तत्त्वज्ञानी, योगी और सर्वज्ञ मानें, और जब उन्हें कोई युक्ति तर्कसे समझावे तो आपकेही समान श्रद्धाकी दुहाई देने लगें।

यदि आजकलके विद्वान शान्तिसागरजीको सर्वज्ञ न मानकरकेभी सर्वज्ञ लिखसकते हैं तो उस जमानेके विद्वान् इसी प्रकार भगवान् महावीरको सर्वज्ञ न मानते हुए भी सर्वज्ञ कहने लगे, इसमें क्या आश्चर्य है ?

पंडितजीने सर्वज्ञकी व्याख्या युक्तिके आधार पर लिखी है, इसको तो आप स्वीकार करतेही हैं। रहा शास्त्र, सो शास्त्रका जो स्थान है उसके अनुसार उससे समर्थनभी करायागया है। आप उन शास्त्रीय प्रमाणोंका खण्डन कीजिये जो पण्डितजीने उद्धृत किये हैं।

आप सर्वही अतिशयोंको कल्पित नहीं मानते परन्तु अतिशय कल्पित होते हैं, यह बात नकी है। इसकी एक ताजी घटना लीजिये। उज्जैनके कुम्भके मेलेसे बहुतसे साधु लौटे और उनने अतिशयोंके चमत्कार दिखलाई शुरू किये। साधु लोग बच्चोंको मिठाई और पशुओंको कुछ भोजन बांटते थे, और इसके पहिले अपने छुपे भक्तोंसे यह घोषणा कराते थे कि इस प्रांतमें बीमारी आनेवाली है। उधर बाँटे जानेवाले भोजनमें एक प्रकारका विष मिलाते थे जिससे लोगों को दस्त लगने लगते थे और कुछ पशु मरभी। तब उनके भक्तोंके द्वारा कहा जाता कि इन सद्गुरुओं की पूजा करो, होम करो, इससे बीमारी दूर होजायगी। तब उनकी पूजा होती थी, वे विष मिलाना बन्द करते थे, फिर किसीको इस प्रकार दस्त न लगते थे, खूब प्रभावना होती थी। जब दोतीन गाँवों में ऐसा हुआ, तब कुछ सुधारकोंको सन्देह हुआ और उनने पुलिससे मिलकर खानातलाशी ली। तब उनका विष वगैरह पकड़ा गया और वे गिरफ्तार किये गये। अतिशय किस प्रकार कल्पित किये जाते हैं और उसके लिये लोग कहाँतक धूर्तता करनेपर उतारू होजाते हैं, इस बातका यह एक नमूना है। चमत्कार एक तो कल्पित किये जाते हैं और अगर एकाध चमत्कार कोई सच्चाभी हो तो उसका कुछ मूल्य नहीं है—यह बात स्वामी समन्तभद्र आचार्यके कथनसे सिद्ध होती है। जैनधर्म अगर वैज्ञानिक है तब उसमें ऐसी मूढ़ताके लिये कैसे स्थान मिल सकता है ?

पुद्गलके चमत्कार आजकल प्रकट हैं परंतु इसीलिये जब चाहे जैसे चाहे अतिशय नहीं माने जासकते। खासकर वे, जो कि असंगत हैं। जैसे स्वर्गलोगके प्राणियोंका करोड़ोंकी संख्यामें आना, फिरभी महावीरके विरोधियोंका वहींपर सफल प्रचार करते रहना और परलोकके नाम परही लोगोंका झगड़ते रहना। जैन शास्त्रोंके समान चमत्कार जब बौद्ध शास्त्रोंमें भी मिलते हैं, तब उनकी निःसारता अच्छी तरह सिद्ध होती है। और जब हम सभी धर्मोंमें ऐसे चमत्कार देखते हैं तब किसपर विश्वास किया जाय और किस किसकी बात सत्य मानी जाय? इस विचार से निश्चय हो जाता है कि धर्मभक्तोंको इस प्रकारके अतिशयोंकी कल्पना करनेकी जरूरत होती थी।

अगर आज बीसवीं शताब्दीमें कोई नया आविष्कार होता है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वह ढाई हजार वर्ष पहिलेभी था। आज रेलगाड़ी दौड़ती है, इससे महावीर युगमें भी दौड़ती थी, यह नहीं कहा जासकता।

अन्तमें हम ब्रह्मचारीजीसे कहेंगे कि अगर आप को श्रद्धासे ही किसी बातको मानना है तो आप भलेही मानिये, इसपर हमें कुछ कहना नहीं है। परन्तु अगर आप युक्तिसे समीक्षा करना चाहते हैं तो फिर निष्पक्ष बनिये, और जिधर युक्ति हो उधर जानेके लिये तैयार रहिये।

हमें तो जिसकी बात जँचेगी उसीकी मानेंगे। हमतो जैनधर्मको इसीलिये मानते हैं कि वह सत्य है। अगर उसके वर्तमान रूपमें असत्यता है तो उसको दूर करनाही चाहिये। अन्यथा कोई जैनधर्मको क्यों स्वीकार करेगा ? आप लोगोंको चाहिये कि युक्तिसे समझावें। इस वैज्ञानिक युगमें कोरी श्रद्धाकी दुहाई काम नहीं देसकती, न जैनधर्म जीवित रहसकता है। यह खेद और आश्चर्यकी बात है कि युक्तियुक्त बातोंको आप साररहित कल्पना कहते हैं और कोरी अंधश्रद्धाको आप जैनागम कहते हैं ! अगर आपने अपनी बातोंको युक्तिसे सिद्ध करदिया होता और पंडितजीकी बातोंका खण्डन किया होता तो आपके आक्षेपभी ठीक थे। खैर, हमतो निःपक्ष जिज्ञासु हैं। पंडितजीकी जो बात जँची वह उनकी मानली। आप उनकी बातकी असत्यता साबित करके अपनी बातकी सत्यता साबित करदेंगे तो हम आपकी बात मानलेंगे। परन्तु श्रद्धाकी दुहाईसे तो नहीं मानसकते।

इसके अतिरिक्त एक बात और है कि कोई लेखमालाकी बातोंको माने, चाहे न माने परन्तु लेखमालाने विचारके लिये इतनी अधिक नई सामग्री दी है कि इस सामग्रीके लिहाजसे ही लेखमालाकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

अभी "जैनदर्शन" में इस विषयकी चर्चा शुरू हुई है। इस प्रकारकी चर्चाएँ निकलने दीजिये। अगर लेखमालाका सयुक्तिक विरोध होजायगा तो हमही क्या, पण्डितजीभी अपने विचारोंमें परिवर्तन करलेंगे। हमारी मंशा सिर्फ इतनी है कि किसी तरह सत्यकी प्राप्ति हो। हमें अपनी मान्यताके पक्षको छोड़कर सत्यके आगे झुकनेके लिये तैयार रहना चाहिये। जो सत्य है, कल्याणकारी है, वही हमारा धर्म है।

श्रीयुत् माणकचन्दजी बैनाड़ाके अनुचित आक्षेपोंका उत्तर।

(ले०—श्री० पं० कन्हैयालालजी जैन, सीकर)

लोहड़साजन भाइयोंके सम्बन्धमें वर्तमानमें जो आन्दोलन चलरहा है उसमें मुनि चन्द्रसागरजी प्रमुख रूपसे भाग लेरहे हैं, यह जानकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ था, क्योंकि यह कार्य मुनिपदके योग्य नहीं था। इसलिये सद्भावसे प्रेरित होकर मैंने इनको समझानेके लिये एक लेख "जैनजगत्" में प्रकाशित कराया था। मैंने आशा की थी कि समाजहितकी चिंता करनेवाले और सच्चे मुनिभक्त मेरे इस लेखका समर्थन करेंगे और श्रीमुनि महाराजको समझायेंगे, जिससे कि श्रीमुनिमहाराज इस प्रकारके कार्योंमें भाग न लें, क्योंकि उनका कर्तव्य ध्यानाध्ययनमें समय व्यतीत करनेका है। किन्तु बड़े दुःख और आश्चर्यके साथ लिखना पड़ता है कि महासभाके महामंत्री पदको अलंकृत करनेवाले श्रीमान माणकचंदजी बैनाड़ा जैसे व्यक्तिने पक्षपातके वशीभूत होकर मेरे उक्त लेखके खंडन करनेका व्यर्थ प्रयत्न किया है। हितेच्छुके गत १९ वें अंकमें यह लेख प्रकाशित हुआ है। पाठक उसे पढ़कर उसकी निःसारताका अवश्य अनुभव करेंगे। अच्छा होता यदि महामंत्रीजी महाराज उन श्री १०८ श्री मुनिराजको ही समझाते पर ऐसा करनेसे तो समाजका कल्याण होजाता जो कि आपको अभीष्ट नहीं जान पड़ता। माणकचंदजीने इस लेखमें मुझे महासभा, समाज और श्रीमुनि संघकी दृष्टिसे गिरानेकी चेष्टा की है, किन्तु इनके इस व्यर्थ प्रलापका कोईभी फल न होगा। मैं श्री १०८ श्रीआचार्य शान्तिसागरजी महाराजके संघ और खण्डेलवाल महासभाका पक्षपाती हूँ और इनकी जो मैंने सेवायें की हैं वे आपसे छिपी हुई नहीं हैं। किन्तु यह निश्चय समझिये कि जिसमें जो त्रुटि होगी, उसका पक्षपात मैं कभी न करूँगा। मैं मुनियोंका पक्षपाती हूँ किन्तु आपके समान उनके दोषोंका नहीं। महाशयजी, महासभाके रैणवाल अधिवेशनमें तो मुझसे आपनेभी यहीकहाथा (आपको याद होगा) कि मुनियोंको ऐसे झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये, चंद्रसागरजी महाराजकी यह गलती है कि वे लोहड़-

साजनोंके सम्बन्धमें इस प्रकार पक्षपात रखते हैं। हम नहीं कह सकते कि आपका दृष्टिकोण अब क्यों बदला है ? सम्भव है, इसमें कोई रहस्य हो।

श्री माणकचंदजी जनताकी दृष्टिमें अपनेको मुनिभक्त सिद्ध करना चाहते हैं, पर इस लेखमें श्रीचंद्रसागरजीके पक्षपातसे अन्धे होकर श्री१०८ आचार्य श्रीशान्तिसागर जी महाराजके उन मुनिराजोंकी प्रकारान्तरसे निंदा कर-रहे हैं, जिन्होंने मर्हान तक विचार कर श्री१०८श्री आचार्य शांतिसागरजी महाराज की आज्ञासे लोहड़साजन भाइयोंके यहाँ, डिग्गी आदि ग्रामोंमें आहार लिया है। ऐसे निष्पक्ष मुनिराजोंकी अस्पष्ट रूपसे निंदाकर क्या आप मुनिभक्त कहलानेके अधिकारी हैं ? सच्चा मुनिभक्त तो मैं हूँ जो चंद्रसागरजी महाराजको विद्वेष बढ़ानेवाले आन्दोलनमें भाग लेनेसे रोकना चाहता हूँ। आपतो मुनिभक्ति का ढोंग करते हैं। इस ढोंगसे चाहे चंद्रसागरजी आप पर प्रसन्न होजाँय पर मुनिधर्म बदनाम हुए बिना न रहेगा। पाठक माणकचंदजीके नीचे लिखे हुए दो छेदकोंको विचार पूर्वक पढ़ें, जिससे उनकी मुनिभक्तिका परिचय मिलजाय—

"जयपुरमें कुछ लोहड़साजनों के घर हैं और उन्होंने भी आहारदानकी इच्छा प्रगट की लेकिन तबतक कमेटी की भी राय न हो पाई थी। अस्तु कमेटीकी राय भी होगई मगर महासभा जबतक उस रायको पास न करले तब तक मुनिराज आहार कैसे लेवें, इसी बातके ऊपर जयपुर में साधुओंने लोहड़साजनोंके यहाँ आहार नहीं लियाथा।"

"संघ विहार करता करता डिग्गी पहुँचा। डिग्गी में भी ५—६ घर लोहड़साजनोंके हैं। सुना है कि संघके एक मुनि महाराजने उनके यहाँ आहार कर लिया। खण्डेलवाल महासभाके अन्तिम निर्णयके पहले जान बूझकर ऐसा किया हो सो तो समझमें नहीं आता, क्योंकि संघस्थ सभी साधु पूर्ण कट्टर और अनुशीलगामी हैं। श्रीचंद्रसागरजी महाराजका इस विषय पर यह वक्तव्य था कि जबतक खण्डेलवाल महासभाके जनरल अधिवेशनसे निर्णय न होजावे तबतक संदेहावस्था में मुनिराजोंको इस प्रपंचमें न पड़ना चाहिये सो वस्तुतः यह वक्तव्य अनुचित नहीं है।"

ऊपरकी पंक्तियोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है कि ये लेखक महाशय मुनियोंको भी महासभाके झगड़ोंमें डालकर मुनिसंघ और समाजकी शान्ति भंग करना चाहते हैं। ऐसेही कार्योंसे समाजकी शांति भंग होती है। श्रीमुनि संघको महासभाकी प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है—वे तो स्वयं विचारक हैं। उन्होंने जयपुर में लोहड़साजन भाइयोंके यहाँ आहार नहीं लिया, इसका कारण महासभाके निर्णयकी प्रतीक्षा करना नहीं है किंतु श्रीचंद्रसागरजी कषायवश आहार लेनेमें रोड़ा अटका रहे थे। यही कारण था कि जयपुरमें संघके मुनिराजोंका लोहड़साजनोंके यहाँ आहार न होसका। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज व इतर मुनिराजोंने यथाशक्ति श्री चंद्रसागरजी महाराजको समझानेकी चेष्टा की फिरभी श्रीमुनिमहाराजने अपनी ज़िद न छोड़ी; किंतु श्री१०८श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराजने यह अच्छी तरह निर्णय करलिया था कि इनके यहाँ आहार लेनेमें कोई हानि नहीं है। इसलिये उन्होंने श्रीचंद्रसागरजीके हठको पक्षपातपूर्ण और व्यर्थ समझकर डिग्गीमें मुनिराजोंको आहार लेनेकी इजाज़त देदी। इसलिये जयपुरमें आहार न लेनेका कारण श्री चंद्रसागरजीकी ज़िद थी। इसीलिये डिग्गीमें लोहड़साजनोंके यहाँ आहार होतेही श्रीचंद्रसागरजी एकाएक मालपुरा भाग गये।

ऊपरके छेदकोंमें जो पंक्तियाँ मोटे अक्षरोंमें हैं उनके पढ़नेसे पाठकोंको अच्छी तरह मालूम होजायगा कि लेखक मुनिराजोंका जो डिग्गीमें आहार हुआ है उसको बिना समझे बूझे आहार लेना सिद्ध करना चाहता है। महासभाकी आज्ञा कोई आगम आज्ञा नहीं है और न मुनिराजोंके लिये महासभाकी आज्ञा की आवश्यकताही है। बल्कि बात यह है कि स्वयं श्रीचंद्रसागरजी गुरुकी आज्ञा तथा महासभाके निर्णयको मान्य न करके अपनी ज़िदपर अड़ेहुए हैं।

इसके आगे आप समाजको मेरा परिचय देतेहुए लिखते हैं कि 'आप आजकल जयपुरमें ही रहते हैं, आप लोहड़साजन भाइयोंकी तरफ़से वकील बनेहुए हैं और जगह जगहसे सम्मतियाँ संग्रह कररहे हैं" आदि।

मैं लोहड़साजन भाइयोंकी तरफ़से वकील बनाहुआ हूँ इससे आपको दुःख क्यों होरहा है? मैं रुपयोंका वकील होता तो लज्जा और दुःखकी बात थी। निष्पक्ष वकील बननेका तो मुझे हर्ष है। मैंतो सत्यका पुजारी हूं, चाहे आप किसीभी नामसे उच्चारित क्यों न करें। जनाब, थोड़े असे पहले तो आपभी इन लोगोंके वकील ही थे, पर अब आपका दृष्टिकोण क्यों बदला है, मैं नहीं जानता। रैणवालके समान अब आप इनपर दयादृष्टि क्यों नहीं दिखाते? यदि सत्य बातको कहनाही वकील बनना है तो महासभाके द्वारा निर्वाचित कमेटीके सदस्य भी इनके वकीलही हैं क्योंकि उन्होंनेभी इनके पक्षमें फ़ैसला दिया है। ऐसी सत्यकी वकालत आपभी करते तो मैं बड़ा प्रसन्न होता। पर आपको ऐसी वकालत कहाँ नसीब है? मैं सम्मति संग्रह कररहा हूँ, इससे आपको दुःख क्यों होता है, समझमें नहीं आता।

श्रीचंद्रसागरजी महाराजके विरुद्ध मैंने कोई घृणित आरोप नहीं किये। आप मुझे इन झूठे लांछनो द्वारा गिराना चाहते हैं, इसे मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ। छोटे मुँह बड़ी बात वाली कहावतका आपके शब्दकोषके अनुसार जो अर्थ होता है, उसे मैं माननेके लिये तैयार नहीं हूँ। दोष कहींभी हो, उनकी समालोचना होनीही चाहिये। कूड़ा कहीं भी पड़ा हो, उसे निकाल फेंक देना चाहिये।

आपके समान मैं कूड़े और दोषोंके एकत्रित करने का पक्षपाती नहीं हूँ। जनतामें विरोध फैलानेवाले कार्यों को कोई मुनि होकरभी करे तो वह अवश्य समालोचना का पात्र है। इसीलिये श्री१०८ श्रीआचार्य शान्तिसागर जी महाराजने चंद्रसागरजीकी सम्मतिका कोई मूल्य न समझा।

जैनजगत् चाहे धार्मिक हो और चाहे अधार्मिक, वह किसी पुरुषविशेषकी सम्पत्ति नहीं है। वह निष्पक्ष भावसे सबके लेखोंको प्रकाशित करता है। पर "हितेच्छु" तो आपके घरकी चीज़ बनरहा है। जान पड़ता है वह किसी महासभाका मुखपत्र नहीं किन्तु आपका मुखपत्र है। मैं जैनजगत्का पक्षपाती नहीं हूँ, पर क्या किया जाय, आप जैसे अविचारक लोगही उसकी इज्ज़त बढ़ाने में कारण बनरहे हैं। जब हितेच्छु पक्षपातवश हमारे लेखोंको प्रकाशित नहीं करता है तब लाचार होकर जैनजगत्की शरण लेनी पड़ती है, और यहही उसके महत्व बढ़नेका कारण है।

श्री मुनि चन्द्रसागरजीके सम्बन्धमें आपने जो यह लिखा है कि "श्रीचंद्रसागरजी महाराजके जब तिल तुष मात्रभी परिग्रह नहीं, वे नग्न दिगम्बर वीतरागी साधु हैं", आदि आदि सो सब असम्बद्ध प्रलाप है। हम कब कहते हैं कि उनके तिलतुषमात्र बाह्य परिग्रह है? हमतो यहभी कहते हैं कि इस प्रकारके बाह्य परिग्रह तो एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक किसीके भी नहीं, पर मुनित्व के लिये केवल नग्नताही की आवश्यकता नहीं है, किन्तु वीतराग निष्कषायताकी ज़रूरत है। अगर श्रीचंद्रसागरजी में कषाय न होती तो एकाएक संघको छोड़ क्यों भाग जाते और परमपूज्य श्री१०८ श्रीआचार्य शान्तिसागरजी महाराजसे विद्रोह मचाकर संघसे अलग क्यों होते? आप चाहे जहांही वीतराग शब्दका प्रयोग कर उसका दुरुपयोग करते हैं।

लोहड़साजनोंके साथ श्रीचंद्रसागरजीकी क्या कषायें हैं—यह हमसे पूछनेके बजाय चन्द्रसागरजीसे ही पूछाजाता तो उचित होता। उनकी कषायोंका प्रत्यक्ष स्वयं उन्हेंही होसकता है। दूसरे लोग तो लिंगानुमान से उनका निश्चय करसकते हैं। पर यह निश्चित है कि लोहड़साजनोंके साथ उनकी ज़बरदस्त कषायें हैं, नहीं तो दर्शनार्थ गये हुए अपने भक्तोंको दबाकर लोहड़साजनों के विरुद्ध सम्मतिसंग्रह क्यों करते हैं? इस बातको सिद्ध करनेके लिये हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं। क्या आप ऐसे कृत्योंको मुनिपदके योग्य समझते हैं? यदि हमने ऐसे कृत्योंको जघन्यकृत्य लिखदिया तो क्या बेजा किया? मुझे बड़ा दुःख होता है कि मुनियोंके ऐसे कृत्यों का समर्थन करके आप उन्हें नीचेकी ओर लेजारहे हैं।

आपका यह लिखना कि "क्या वे लोग इनका कुछ दाबे बैठे हैं" निःसार प्रश्न है। यही तो आश्चर्य है कि लोहड़साजन भाई श्रीचंद्रसागरजीका कुछ दाबे नहीं

बैठे हैं, फिरभी चंद्रसागरजी उनके पीछे पड़े हुए हैं। वे आहारके सम्बन्धमें चाहे कितनीही कट्टरता क्यों न रक्खें, हमें कुछ नहीं कहना है पर उस कट्टरतामें कषायकी पुट नहीं लगी रहनी चाहिये। योग क्षेम चलानेवाली बात तो आप ठीक लिखरहे हैं, पर किससे किसका योग क्षेम चलता है, आप अपने हृदयसे पूछें। टके और सेटियोंके लोभसे जो कुछका कुछ कहने और करनेके लिये तैयार हो जाय उसके लिये शर्मकी बात है। यदि इस लज्जाका हम लोगोंको अनुभव होनेलगे तो समाजका बहुत कुछ सुधार होजाय।

जब महासभा द्वारा निर्वाचित ९ सदस्योंकी सम्मानीय कमेटीने लोहड़साजन भाइयोंके सम्बन्धमें अपनी राय देदी और रेणवाल महासभाके अधिवेशनमें लोहड़साजनोंके विरुद्ध श्रीयुत पं० पन्नालालजी सोनीके द्वारा उपस्थित किया हुआ प्रस्ताव बहुत वादविवादके पश्चात् ज्योंका त्यों वापिस लेलिया गया तब इस सम्बन्धमें कौनसी बात अनिर्णीत रहगई, जो आपके श्रीचंद्रसागरजी महाराजके लिये अवशिष्ट है ?

आप जानते हैं कि प्रस्ताव उसी अवस्थामें वापिस लिया जाता है जबकि उसके पास होनेकी बिलकुलभी संभावना नहीं रहती। प्रस्तावका वापिस लेना इस बातको ज़ाहिर करता है कि प्रस्तावक अपनी भूलको स्वीकार करता है। स्वयं प्रस्तावक द्वारा प्रस्तावका वापिस लेना अदालतोंमें पेश किये गये दावेके समान है। आप जानते हैं कि दावा पेश करना और हारजाना दोनों बराबर हैं। श्रीयुत पं० पन्नालालजी सोनीके द्वारा अत्यन्त गरमागरम बहसके बाद प्रस्तावका वापिस लेलेना लोहड़साजनोंके सम्बन्धमें अंतिम निर्णय देदेता है कि निर्वाचित कमेटीके द्वारा दियागया हुआ निर्णय बिलकुल ठीक है।

महाशय, यह विषय तो अब तयशुदा है और परम पूज्य श्री१०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराजके संघने उनके यहाँ निःसंदेह आहार लेकर इस विषयका अंतिम निर्णय करडाला है। श्रीचंद्रसागरजीने यहभी ग़लत अफवाह फैलाई है कि लोहड़साजनोंके यहाँ आहार करनेवाले मुनिराजोंको प्रायश्चित्त दियागया है; किन्तु अभी जब मैं सावणसुदी ८ को ब्यावर श्री १०८ श्रीआचार्य शान्तिसागरजी महाराजके दर्शन करनेको गया तब श्री सूँठीलालजी रेणवाल वाले, मालीलालजी मालपुरा वाले और मेरे सामने श्री१०८ श्रीकुंथसागरजी महाराजने इस बात को निर्मूल और निराधार बतलाया, बल्कि उक्त महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा कि किस बातका प्रायश्चित्त ? कोई प्रायश्चित्त नहीं हुआ है।

मैंने मेरे गत लेखमें जो बेटीव्यवहारके सम्बन्धमें लिखा है वह राग प्रलापना नहीं किंतु सत्य बात है। मैंने जोभी कुछ लिखा है साधार लिखा है, निराधार नहीं। आजतक लोहड़साजनोंका बड़साजनोंके साथ बेटीव्यवहार हुआ है, यदि यह बात सिद्ध करदी जाय तो आप क्या करनेको तैयार हैं ? मैंने इस सम्बन्धमें बहुत कुछ छानबीन की है कि सैकड़ों बड़साजनोंके साथ लोहड़साजनोंका बेटीव्यवहार हुआ है। इस संबंधमें हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं।

आपने लिखा कि लोहड़साजन और बड़साजन यह भेद कब हुआ सो इसका जवाब, श्रीमान् पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीने ख० हितेच्छु अंक १२ वर्ष १२में जो खुलासा किया है उससे समझ लीजिये।

अन्तमें हम आपको लिखदेना चाहते हैं कि हमने जो भी कुछ पहले लिखा है और अब लिखरहे हैं उसमें प्रधान हेतु हमारा धार्मिक भावही है। हम आप और महासभाको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। पर यह कितने दुःखकी बात है कि आप हमारे व्यक्तित्व पर आक्रमण करने लगे। १०८ श्रीआचार्य शान्तिसागरजी महाराजका मैं परमभक्त हूं, इसको आचार्य महाराज स्वयं जानते हैं। वे आपके इन झूठे लेख और भभकियोंसे भड़कनेवाले नहीं हैं। वे परम वीतरागी, निष्पक्ष, सिद्धान्तके पारगामी विद्वान् हैं। श्री चंद्रसागरजी महाराजसे भी मेरा कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं है। मेरी तो उनसे भी यही प्रार्थना है कि वे इन झगड़ों में न पड़कर स्वपरकल्याण करतेहुए शान्तिसे जीवन व्यतीत करें। और आपसेभी यही प्रार्थना है कि लेखबंदीके दलदलमें न फँसकर श्रीचंद्रसागरजीको समझाने का प्रयत्न करें जिससे यह विषय आगे न बढ़ने पावे।

नवकार मंत्रकी महिमा ।

(लेखक—श्रीमान् पं० बेचरदास जीवराजजी दोशी, न्याय—व्याकरणतीर्थ)

नवपदके नवकारको, करोड़ों श्लोकोंकी संख्या वाले दृष्टिवादसे भी अधिक महत्व प्राप्त है। नवकारको दृष्टिवादका सार बताया गया है। कहां नवपदका नवकार और कहां करोड़ों श्लोकों वाला दृष्टिवाद ? फिरभी ज़रा गहरे घुस कर विचारें तो मालूम होगाकि विचारकोंने नवकारको दृष्टिवादका जो सार कहा है वह उचित ही है।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ, इन चारोंमें से किसीभी वृत्तिसे जिन्होंने अपने चित्तको संस्कृत बनाया है, उनके जीवनकी उत्क्रान्ति हुए बिना नहीं रहती। सच कहा जायतो ये चारों भावनाएं धर्म-प्राप्तिका असाधारण साधन हैं।

नवकारके पाँचों पदोंका विचारपूर्वक चिंतन करनेसे प्रत्येक विचारक प्रमोद भावनाको प्राप्त कर सकता है। प्रमोद भावनाका अभ्यास करने से गुणोंकी प्राप्ति होती है और मतान्धता-द्वेष आदि दुर्गुणोंका समूल नाश हो जाता है। गुणी जनोंके प्रति प्रेम-भाव रखनेको प्रमोद भावना कहते हैं अर्थात् किसीभी देशके, किसीभी जाति के और किसीभी प्रकारके वेष और समाज या धर्मको धारण करनेवाले गुणीजनोंके प्रति प्रमोद वृत्ति रखनेकी गुणार्थीकी वृत्तिको प्रमोद भावना कहते हैं।

कहनेका आशय यह है कि गुणपूजामें देश, वेष, जात-पाँत, समाज या धर्मकी दीवाल आड़ी नहीं आ सकती तथा किसी प्रकारके बाह्य चिह्न या उम्रभी गुणपूजामें विघ्नजनक नहीं बन सकते। इसीलिये कहा है-'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'। नवकारके पाँचों पद हमें इस प्रमोद भावनाकी ओर आकर्षित करते हैं।

नवकारके पाँचों पद इस भावनाका पोषण किस प्रकार करते हैं, यह बात यहां पश्चानुपूर्वीके क्रमसे विचारें।

"नमो लोए सव्वसाहूणं" इसका शब्दार्थ 'लोक—संसारमें जो समस्त साधु हैं उन्हें नमस्कार हो'—यह है। इस पदके अक्षर अक्षरमें गुणीजनोंके प्रति प्रमोद-भाव भरा हुआ है। जिस महर्षिने इस मंत्रकी रचनाकी होगी उसके हृदयकी विशालताका थोड़ा बहुत परिचय इस पदसे प्राप्त हो सकता है। वे महर्षि कहते हैं कि—लोकमें अर्थात् जगतके किसीभी भागमें जहाँ जहाँ जो जो साधुपुरुष बसते हैं, वहां वहाँ उन सबको नमस्कार हो। इस पदमें 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' इस उक्तिका भाव भलीभाँति भरा हुआ है।

इस पदमें किसी सम्प्रदाय, किसी वेष, किसी प्रकारके क्रिया-काण्ड या अमुक गच्छ वगैरहको लेशमात्रभी स्थान नहीं दिया गया है, केवल सच्ची साधुताको ही स्थान दिया गया है। मंत्रकार साधुजनोंको ही नमस्कार करके छुट्टी नहीं पा लेते वरन् वे कहते हैं कि 'लोकमें बसनेवाले समस्त साधुजनोंको नमस्कार हो।' यही विशाल भाव आत्माकी उत्क्रान्तिका मूल है और इसी विशाल-भावनासे इस पदको समझने वाला व्यक्ति जहाँकहीं साधुता देखता है

वहीं नम्र बन जाता है। जो साधुताका प्रेमी है वह यह नहीं समझता कि यह जैनसाधु है, यह वैष्णव साधु है, यह शैव साधु है या यह रामानुजी साधु है, यह इस्लामी साधु है या यह क्रिश्चियन साधु है। वह तो जहाँ जहाँ साधुत्व का दर्शन करेगा वहीं सद्भाव-पूर्वक वर्त्तेगा। 'नमोलोए सव्वसाहूणं' पदसे ऐसी विशाल वृत्ति सूचित होती है। ऊपरके चार पदोंमें भी इसी प्रकारकी विशाल-भावना दिखाई देती है।

'नमो उवज्झायाणं' इस पदसे 'उपाध्याय मात्रको नमस्कार हो' यह सूचित होता है। उपाध्यायका प्रसिद्ध अर्थ अध्यापक होना है। अध्यापक, प्रजाको सुशिक्षित बनाता है और सुशिक्षित-प्रजा कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक करके कर्तव्यमार्गकी ओर झुकती है, अपना वास्तविक विकास कर सकती है। इस सब विकासकी साधनामें उपाध्याय अर्थात् अध्यापक खास कारण हैं, इसीलिए यहाँ उपाध्यायोंको वन्दनीय की कोटिमें गिना है। जो राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक सच्ची शिक्षा देते हैं या 'साविद्या या विमुक्तये' इस सूत्रको कभी अपनी शिक्षामें विस्मरण नहीं करते और नहीं कभी विस्मरण करेंगे, जो प्रजाको वास्तविक स्वतंत्रताकी शिक्षा देते हैं और जिनका शिक्षण-शास्त्र अहिंसा तथा सत्यके पाये पर रचा हुआ है, ऐसे शिक्षादाता यहाँ उपाध्याय शब्दसे समझने चाहिए। फिर वे शिक्षणदाता चाहे जिस देशके हों, चाहे जिस धर्मके हों, चाहे जिस जातिके हों। तात्पर्य यह है कि सच्चे शिक्षणदाताके प्रति सद्भाव बतानेके लिए देश, वेश या जातिका अड़ंगा लगाना व्यर्थ है। जहाँ जहाँ जो जो व्यक्ति अहिंसा और सत्यके आधारपर आश्रित शुद्ध शिक्षाका प्रचार करनेके लिए तत्पर है, वह सदा वंदनीय है—यही 'नमो उवज्झायाणं' पदका सार है।

आचरणके बिना शिक्षाकी कुछभी कीमत नहीं, इसलिए प्रत्येक धर्म-संस्थापक महापुरुष ने क्रिया और ज्ञान इन दोनोंको ही आत्मविकास का साधन माना है।

बिना विवेककी क्रिया जड़ताका पोषण करती है और बिना आचरणकी विद्या उद्धतता को बढ़ाती है। यही कारण है कि "श्रुत और शीलसे सम्पन्न पुरुषको सर्वाराधक कहा गया है, जबकि सिर्फ श्रुतसम्पन्न पुरुषको देश विराधक और सिर्फ शील-सम्पन्न पुरुषको देश-आराधक कहा गया है"। भगवान्के इस कथनसे आचारकी सहचरी विद्याकी ही प्रधानता प्रकट होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच आचारोंको जो अपने जीवन में उतारनेका प्रयत्न करते हैं और जो इनका आचरण कर रहे हैं, उन आचार्योंको यहाँ वंदनीय-कोटिमें रखा गया है। जो, गृहस्थके वेशमें हों या त्यागीके वेशमें हों, किसीभी सम्प्रदायके अनुयायी हों अथवा किसीभी जातिमें उत्पन्न हुए हों, पर पूर्वोक्त पंचाचारको जीवनमें उतारते हैं, और जीवनमें उतार कर प्रजाको अपना आदर्श समझाते हैं, ऐसे पंचाचार-प्रधान आचार्य पुरुष 'नमो आयरियाणं' पदसे सूचित किये गये हैं।

"जो अपनी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं, ब्रह्मचर्यकी नव वाड़ोंकी रक्षा करते हैं, जिनमें क्रोध, मान, माया और लोभकी उग्रता नहीं है, अहिंसा आदि महाव्रत, उनके संबंधी पाँच आचार एवं पांच समितियोंको जो जागृतिपूर्वक भलीभाँति पालन करते हैं तथा मन, वचन और कायकी अशुद्ध प्रवृत्तिको रोकते हैं, ऐसे छत्तीस

गुणधारी जो कोईभी व्यक्ति हैं, वही सच्चे गुरु हैं"—ऐसा जैनशास्त्र सिखाते हैं। नवकार मंत्रमें आचार्यकी जगह ऐसे गुरु ही समझने चाहिए। उल्लिखित जिस सूत्रमें गुरुके गुण दर्शाये हैं वह सूत्रभी गुणोंकी प्रधानता पर अवलम्बित है। उसमें किसी सम्प्रदाय, किसी धर्म अथवा किसी देश और वेशको स्थान नहीं है। जैसी विशालता इस सूत्रमें है वैसीही विशालता इस 'नमो-आयरियाणं' पदके शब्द-शब्दमें भरी हुई है। नवकारमंत्रके रचयिताको यदि किसी सम्प्रदाय या वेषकी प्रधानता दिखलानी होती तो वह नवकारके पाँचों पदोंके पहले जैन-शब्द या ऐसा ही कोई वेषसूचक शब्द अवश्यही रख सकते थे। पर उन समभावी और गुणपूजक महापुरुष के चित्तमें ऐसी संकुचित कल्पनाको कहाँ स्थान मिल सकता था? उपाध्याय और साधु-शब्द जिस विशाल-भावनाका सूचन करते हैं वही विशाल-भाव आचार्य-शब्दमें भी है। आचार्य शब्दका अर्थ 'आचारका आचरण करनेमें सिद्ध-हस्त' है, अतएव जो कोईभी व्यक्ति शुद्ध आचार-परायण है और प्रजामें शुद्ध आचारका प्रचार करनेके लिए अपनी शक्तिको ज़राभी नहीं छुपाता, ऐसे व्यक्तिको नमस्कार हो—यह आशय **नमो-आयरियाणं** पदसे सूचित होता है। आचार्य-पदके साथ शुद्ध आचार-पालनका संबन्ध मुख्य है और दूसरे समस्त अनुष्ठान बिलकुल गौण हैं। अतएव कितनेक लोग जो सूरिमंत्रके शुष्क जापसे आचार्य-पद पर चढ़े बैठे हैं और जिन्हें इसी कारणसे इस पदपर आरूढ़ कर दिया गया है, वे यदि आचारहीन हों तो नवकारमंत्र का यह पद उन्हें आचार्य माननेकी स्पष्ट मनाई करता है। सूरिमंत्र आदि अनुष्ठान यदि आचार-विहीन हों तो एकदम फीके हैं, यह बात कभी भूल न जाना चाहिए।

उल्लिखित स्वरूप वाले आचार्यकी अवस्था का अभ्यास करते करते मनुष्य शुद्ध-आचारमें इस प्रकार सिद्ध-हस्त हो जाता है कि शुद्ध आचार उसके लिए श्वासोच्छ्वास क्रियाकी भाँति स्वाभाविक बन जाता है। सोते और जागते प्रत्येक समय जैसे रक्त स्वयमेव संचार करता रहता है उसी प्रकार आचार्य-पदकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए व्यक्तिमें यह सब शुद्ध-आचार अपने आपही चलता रहता है। उसका सारा वर्तनही शुद्ध आचारमय बन जाता है। जो स्थिति गीतामें स्थितप्रज्ञकी बतलाई गई है वही इस आचार्यपदकी पराकाष्ठाको पहुँचेहुए मनुष्यकी है अर्थात् उसमें रागद्वेषरहितता, सर्वत्र समभाव, और चाहे जैसे भले बुरे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर निष्कंपभाव, आदि गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। इस श्रेणीके पुरुष जब देहको छोड़कर विदेह-अशरीर हो जाते हैं तब उनके शुद्ध आत्माओंको नवकारके द्वितीयपद के 'सिद्ध' शब्दसे सम्बोधन किया जाता है। इन सिद्ध आत्माओंका आदर उनकी वीतरागता पर अवलम्बित है। इस प्रकारकी सिद्ध अवस्था चाहे जिसने और चाहे जिस प्रकार प्राप्तकी हो, उन सब सिद्धोंको नमस्कारहो, यह आशय **नमो सिद्धाणं** पद सूचित करता है। जैनधर्म, बौद्धधर्म, सांख्यधर्म या और किसीभी धर्मका अनुष्ठान करके अहिंसा और सत्यकी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ आत्मा इस प्रकारकी सिद्ध अवस्थाको पहुँच सकता है। शास्त्रमें भी कहा है कि "श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो, या अन्य किसीभी धर्मका अनुयायीहो, पर जिसका आत्मा समभावसे

वासित हो वह सिद्ध अवस्थाको अवश्य प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं।" इस प्रकार **नमो सिद्धाणं** का 'सिद्ध' शब्द बहुत विशाल अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और उस अर्थका अनुसरण करके उन उन सिद्ध पुरुषोंका प्रमोद भावनाके साथ हमें आदर करना चाहिए।

जिनकी आध्यात्मिक स्थिति सिद्धोंके लगभग समान है, ऐसे देहधारी पुरुष–जो अपने प्रभावसे नवीन तीर्थकी स्थापना करके प्रजाको कल्याणके मार्गमें लेजाते हैं और शुष्क हुए धार्मिक क्रियाकाण्डमें अपने सामर्थ्यके द्वारा क्रान्ति करके जगत्को नया प्रकाश देते हैं, ऐसे युगप्रवर्तक पुरुषोंकी प्रधानता बतानेके लिए ही उनके लिए एक जुदा पद नवकारमंत्रमें रखा गया है और वह '**नमो-अरिहंताणं**' यह सर्व प्रथम-पद है। अरिहंत-शब्दका सामान्य अर्थ तो अरिहंत अर्थात् 'शत्रुको हननेवाले' होना है अर्थात् जिन शत्रुओंके कारण अनेक प्रकारके प्रपंच खड़े होते हैं, यह सारा संसार दुःख भोगता है और जिनका साम्राज्य जगत्के छोटे बड़े प्रत्येक प्राणी पर व्याप्त है, ऐसे काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग और द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं पर जिन्होंने विजय प्राप्त करली है ऐसे महापुरुष अरिहंत शब्द द्वारा कहे जाते हैं। इस प्रकारका अर्हन्तपन भी अहिंसा और सत्यके द्वारा चाहे जिस धर्मसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है। अतएव सिद्ध-शब्दकी ही भाँति विशाल-भाव इस अरिहंत-शब्दमें है और इसी दृष्टिसे इस **नमो अरिहंताणं** पदका स्मरण करना अधिक उचित है।

सिद्धोंकी अपेक्षा अरिहंतोंको प्रधान–पद दिया गया है। इसका कारण ध्यान देने योग्य है। सिद्ध और अरिहंतकी आत्मदशा लगभग एक सरीखी है किन्तु सिद्ध अशरीर होनेसे प्रवृत्तिहीन दशामें है जबकि अरिहंत देहधारी होनेके कारण अनासक्त रहते हुए लोककल्याणकी साधनामें प्रवृत्ति करते हैं, लोकको प्रवृत्ति का मार्ग बताते हैं और इससे अनेक मनुष्य सिद्ध-दशा तक जा पहुँचते हैं। इस प्रकार लोकसंग्रह की दृष्टिसे देखते हुए, सिद्ध पुरुषोंकी अपेक्षा अरिहन्त पुरुष विशेष आदरणीय हों, यह स्वाभाविक है और ऐसा होनेमें सिद्धोंकी सब प्रकार की निवृत्तिकी अपेक्षा अरिहन्तोंकी अनासक्त प्रवृत्तिही विशेष कारणभूत है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध और अरिहन्त आध्यात्मिक दृष्टिसे समान भूमिकाके हैं तथापि युगप्रवर्त्तक अरिहन्तोंको प्रथम-पदमें रखकर उनकी प्रधानता इसलिए बताई है कि वे अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करनेमें परायण होते हैं। दूसरे थोड़ेसे शब्दोंमें कहें तो अनासक्त रहकर प्रवृत्ति करना अधिकसे अधिक धर्म है, इस बातको बतानेही के लिए अरिहन्तोंको मुख्य स्थान दिया गया है। अरिहंतोंके उपासकोंको, उनकी वीतरागता और उनकी अनासक्त रूपसे की जाने वाली प्रवृत्ति की शैली, ये खास जानने योग्य बातें हैं। इनके समझ लेने परही उपासक अपना विकास कर सकता है। इसलिए स्तोत्रकार कहते हैं कि—

"त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः।"

अर्थात् अरिहन्तके स्वरूपको यथावत् जान करकेही यदि उनकी उपासनाकी जाय तभी उनके उपासक अपना विकास कर सकते हैं, अन्यथा-अर्थात् अरिहंत जिस भूमिकामें हैं उससे विपरीत भूमिकामें उन्हें मानकर उनकी उपासना करनेसे तो परिणाम भी विपरीतही आएगा

और आया भी है। हम लोगोंकी दृष्टि इतनी अधिक स्थूल है कि अरिहंतमें जिनगुणोंका संभव नहीं, उन्हेंभी उनमें आरोपण करते हुए हम नहीं झिझकते और यही कारण है कि हम देवमंदिरोंमें शृङ्गारकी भावनाको पुष्ट करते चले जाते हैं। इतनाही नहीं, बल्कि अशोकवृक्ष आदि जो सर्वथा बाहरकी वस्तुएँ हैं उन्हेंभी हम लोग अरिहंतके गुण बतानेकी धृष्टता करते हैं। ऐसी स्थूल कल्पनाके कारण वर्षों उपासना करने पर भी हम अरिहंतकी सच्ची उपासना तक नहीं पहुँच सके और यदि 'यही रफ्तार बेढंगी' चालू रही तो कौन जाने कब हम लोगोंका निस्तार होगा? अरिहंत-शब्दका ऊपर बताया हुआ विशालभाव ध्यानमें लेवें और तदनुसार प्रमोद-भावपूर्वक विशालदृष्टिसे अरिहंतकी उपासना करें तो सच-मुचही हम विकासके समीप हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार नवकारके ये पाँचों पद गुणी-जनोंके प्रति प्रमोद-भावनाके पोषक हैं। गुणी-जनोंके प्रति प्रमोद-भावना रखनेसे विवेकीजन गुणोंको प्राप्त करता ही है और गुण-प्राप्तिही चारित्र है। जितने अंशमें गुणोंकी प्राप्ति होती है उतने अंशमें संयमकी प्राप्ति होती है तथा संयम से समभाव पैदा होता है। इस प्रकार साक्षात् गिनें तो साक्षात् अन्यथा परम्परामें प्रमोद-भावना आत्मशुद्धिका असाधारण कारण है।

करोड़ों श्लोकवाले दृष्टिवादका अभ्यास करकेभी यही आत्म-विकास साधना है। जो ध्येय करोड़ों श्लोकवाले दृष्टिवादसे साधा जा सकता है वह ध्येय इस पांच-पद वाले छोटेसे नवकारके विशाल अर्थका चिन्तन करनेसे सहजही प्राप्त होजाता है। यही कारण है कि नवकारमंत्रको चौदह पूर्वका सार कहा गया है और इसीसे यह समस्त मंत्रोंमें श्रेष्ठमंत्र माना गया है। हम लोग नवकारकी जो कुछ महिमा जानते और सुनते हैं, उसका कारणभी यही है। यहाँ बताए हुए विशाल अर्थका मनन करनेसे नवकारका चिन्तन करनेवालेकी प्रमोद-भावना बढ़ेगी और प्रमोद-भावनाकी वृद्धि होनेसे वह किसी न किसी समय नवकारके किसी पदमें बैठने वालोंकी कोटिमें अवश्य आ जायगा। अतएव नवकार सर्वोत्तम मंगल है और पापमात्रका नाश करनेवाला है, ऐसा शास्त्रकारोंने बताया है।

अनु०—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ।

सम्पादकीय नोट—जैनधर्म सरीखे वैज्ञानिक और गुणपूजक निःपक्ष धर्ममेंभी कैसी साम्प्रदायिकता आगई है, यह वर्तमान संकुचित वातावरणसे समझी जासकती है। जैन शास्त्रोंसे मालूम होता है कि जिस समय जैन तीर्थकी उत्पत्तिभी नहीं हुई थी तब मरुदेवी आदिने कैवल्य प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त जैन धर्मके अनुसार गृहस्थ और अन्यलिंगी तक मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसपर भी जो लोग जैनधर्मको एक सम्प्रदायमें कैद करते हैं, वे जैनधर्मकी वर्णमालाभी नहीं जानते। जैनधर्मके अनुसार सिर्फ वे लोगही साधु नहीं हैं, जो जैन साधुके वेषमें रहते हैं; किन्तु जिनमें साधुता है, जो विश्वमात्रको कुटुम्ब समझते हैं, वे सभी साधु हैं।

नवकार मंत्रमें जिनको नमस्कार कियागया है वे किसी सम्प्रदायकी सम्पत्ति नहीं हैं, किन्तु विश्वकी विभूति हैं। इसलिये लेखक महोदयने लोकके सब साधुओंका अर्थ 'किसी सम्प्रदायके' नहीं, किन्तु सम्प्रदायातीत सभी साधु-ओंके' किया है। साथही लेखक महोदयका यहभी कहना है कि 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में 'लोए सव्व' ये दो शब्द केवल साधुओंके लियेही नहीं हैं किन्तु अरहंत सिद्ध आदि सभी परमेष्ठियोंके लिये हैं। लेखककी यह कोरी कल्पना नहीं है किन्तु बहुत प्राचीन कालसे इस प्रकारका अर्थ कियाजाता है जोकि वास्तविक है। दशभक्तिके टीकाकार श्री प्रभाचन्द्रजी भी कहते हैं कि अरहंत सिद्ध आदि सभी

के साथ 'लोए सव्व' इन शब्दोंको लगाना चाहिये। इसप्रकार णमो लोए सव्व अरहंताणं आदि सम्बन्ध लगाना ठीक है।

"पंचानामपि परमेष्ठिनां लुप्तविभक्तिकः सर्वशब्दो लोकशब्दश्च विशेषणं। ततो णमो लोए सव्व अरहंताणं इत्यादि सम्बन्धः कर्तव्यः"।

इस प्रकार 'लोए सव्व' शब्दोंको अन्त्यदीपक मान कर पाँचों परमेष्ठियोंके साथ लगाया गया है।

अगर इसका अर्थ इतना उदार न होता तो 'लोकमें सर्वसाधु' इतना लम्बापद बनानेकी कोई आवश्यकता न थी। 'लोकमें जितने साधु हों उन सबको' इस प्रकार लम्बापद बनानेका और कोई कारण सम्भव ही नहीं है, सिवाय इसके कि सम्प्रदायका मोह छोड़कर हम जगतके सभी साधुओंकी वन्दना करना चाहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि जब अरहंत, सिद्ध आदि सभीके साथ 'लोए सव्व' शब्द जोड़ना है, तब पहिलेही पदमें लोए सव्व' शब्द क्यों न डालेगये? णमो लोए सव्व अरहंताणं, ऐसा पाठ करना था। फिर 'लोए सव्व' शब्द सिद्ध वगैरहके साथभी लगाये जाते। अंतिम पदमें ही लगानेका क्या कारण है?

इसके दो कारण हैं। पहिला तो यह कि सिद्धके विषयमें कोई विशेष मतभेद नहीं है। भट्टाकलंकदेव मोक्ष के विषयको एक प्रकारसे निर्विवाद मानते हैं। उनका कहना है--

कारणं नु प्रति विप्रतिपत्तिः पाटलिपुत्रमार्ग विप्रतिपत्तिवत्। १। १। ६।

कल्पनाभेदात्तद्विप्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मविप्रमोक्षसामान्यात्। १। १। ८।

अर्थात मोक्षके कारणके विषयमें विवाद है, न कि मोक्षके विषयमें - जिस प्रकार पाटलिपुत्र नगरके मार्गमें विवाद होता है न कि नगरके विषयमें। यद्यपि मोक्षके विषयमें भी कल्पनाभेद है, फिरभी कर्मबन्धनसे छूटजाना यह मोक्षका लक्षण सबके लिये एक सरीखा है।

मतलब यह कि मुक्तात्माकी चर्चा विवादका विषय नहीं है; इसलिये मुक्त अर्थात् सिद्धोंके विषयमें 'लोए सव्व' विशेषणकी ज़रूरत नहीं है। जुदेजुदे ढंगके जैसे साधु होते हैं या होसकते हैं उस तरहके सिद्ध नहीं होते, या होसकते। इसलिये सिद्धको छोड़कर बाकी चार परमेष्ठियोंके विषयमें विचार करनेकी बात रहजाती है।

अब अगर 'अरहंताणं' के साथ 'लोए सव्व' विशेषण लगाया जावे तो उससे सिर्फ़ अरहंतोंके विषयमेंही उदार अर्थ लगसकेगा। परंतु 'साहूणं' के साथ लगानेसे चारों परमेष्ठियोंके साथ लगजाता है, क्योंकि अरहंत, आचार्य और उपाध्यायभी साधु हैं। इसीलिये तत्त्वार्थसूत्रमें निर्ग्रंथोंके जो पाँच भेद कियेगये हैं, उनमें अरहंतका भी एक भेद मानागया है।

पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रंथ स्नातका निर्ग्रंथाः।

इस सूत्रमें स्नातक (अरहंत) भी साधु मानेगये हैं। और आचार्य तथा उपाध्याय तो साधु हैं ही। इसीलिये चार मंगलोंमें आचार्य उपाध्यायको साहुमंगलमें ही शामिल रक्खा है और उनका अलग नाम नहीं लिया है। इसके टीकाकारभी स्पष्ट शब्दोंमें आचार्य उपाध्यायको साधुमें शामिल करते हैं।

"आचार्योपाध्याययोः पृथग्मंगलत्वप्रसंगाद्धन्तार इत्येतद्युक्तमितिचेन्न तयोर्निखिलकर्मोन्मूलनसमर्थध्यानपरत्वादि साधुगुणोपेतत्वेन साधुत्वंतर्भावात्। दशभक्ति।

इससे यह बात स्पष्ट होजाती है कि 'लोए सव्व' शब्द 'अरहंताणं' के बदले 'साहूणं' के साथ लगाना ठीक है।

दूसरा कारण यह है कि मोक्षमार्गकी साधना करने वाला साधु कहलाता है। साधना, द्रव्य क्षेत्रकाल भावके भेदसे अनेक तरहकी होती है, इसलिये साधुओंमें भी विविधता पाईजाती है। उन सबका संग्रह करनेके लिये 'लोए सव्व साहूणं'कहनेकी ज़रूरत है। परन्तु आचार्य उपाध्यायमें तथा अरहंतोंमें ऐसी विविधता नहीं पाई जाती। किसीभी सम्प्रदायका अरहंत,आचार्य या उपाध्याय हो,उसके कर्तव्य एक सरीखे हैं। उनमें जो थोड़ा बहुत बाहिरी भेद दिखलाई देता है वह अरहंतपन, आचार्यपन, या उपाध्यायपनका नहीं, किन्तु साधनाका अर्थात् साधुपनका है। और जहाँ लोककी सभी साधनाओंका संग्रह हुआ कि अरहंत आदि

की विषमताओंकाभी संग्रह होगया। यही कारण है कि साधु शब्दके साथ 'लोए सव्व' विशेषण लगाया गया।

मतलब यह कि अरहंतता, सिद्धता, आचार्यता और उपाध्यायता अनेक प्रकार की नहीं है जिससे उनके साथ अलग अलग स्पष्ट रूपमें 'लोए सव्व' विशेषण लगाया जाय; सिर्फ साधना विविध है,उसीके संग्रहकी आवश्यकता है, इसलिये 'लोएसव्व साहूणं' पाठ कियागया। अरहंत आदिका भेद गौण होनेसे उनके साथ यह विशेषण न लगायागया। विशेषणको अन्तर्दीपक मानकर उनकेसाथ गौण रूपसे लगायागया। गौणताका कारण संग्रहकी उपेक्षा नहीं किन्तु विविधताकी न्यूनता है।

इस शंकाके समाधानसे पाठक यह अच्छी तरह समझ गये होंगे कि नवकार मंत्र सम्प्रदायातीत गुणपूजाका द्योतक है, वह उदारसे उदार है; इसीलिये महानसे महान है।
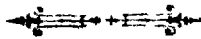
धर्म जनून त्यागो।

(लेखक—श्रीमान स्व० वा० मो० शाह)

धर्मप्रेमी हिंदी जनता धर्म जनून व धर्मपंथको त्याग कर सिर्फ कोरा मनुष्य बननेको तैयार हो जावेगी, नहींतो यह जनून ही देश और तमाम धर्मको नाश करनेवाला बन जावेगा। आज हिन्दूधर्म लोगों को (१) मारामारी व गालीगलौज (२) गुरुओंके निमित्तसे क्रिया आदि कार्यों में हर साल बिना जरूरी और अकारण करोड़ोंका होने वाला खर्चा (३) राजकीय व आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इच्छित शक्ति, निर्मल व तीव्र बुद्धिकी हानि—ये फल प्राप्त कराये हैं। तथापि अब तक लोग स्वयं विषमय वृक्षों व फलोंको छोड़ने व सुधारनेका प्रयत्न नहीं करते हैं। इनके जैसा दुर्भाग्य दूसरी किस जगह हो? पाँच वर्षकी उमर से लेकर पचास वर्षकी उमरतक एक या कई प्रकारकी मूर्तियाँ पूज कर या मूर्ति या मंदिरसे सम्बंधित धामधूममें जिन्होंने समय, शक्ति व धनका व्यय किया है, वे क्या निश्चयसे यह कह सकते हैं कि उन्होंमें अमुक गुण, ज्ञान, शक्ति प्रकट हुई या होरही है? मूर्ति नहीं मानने वाले जिन्होंने शास्त्र, गुरु व स्थानक माननेमें पचास वर्ष तक अपना समय, शक्ति व धन का व्यय किया है क्या वे बता सकते हैं कि उनमें क्या चैतन्य जगा, कितना मनुष्यत्व आया, कितनी उदारता आई? तो क्या यह दौड़ धामवाली धमाल नहीं है? जिन लोगोंको एक सालके व्यापारमें नफा नुकसानका हिसाब निकाले बिना रहा नहीं जाता, और जो लोग पाँच सात वर्ष लगातार नफा न होनेपर उस धंधेको छोड़े बिना नहीं रहते, वेही लोग, धर्मके विषयमें कोई हितसाधन न करके, उल्टा अहित हुआ है—यह प्रत्यक्ष समझ कर भी धर्मकी पूँछ छोड़नेको तय्यार नहीं होते, तो इससे क्या यह जाहिर नहीं होरहा है कि हिंदी जनताके हृदयपटल पर—चेतनशक्ति पर—भयंकर काला बिंदु लगाहुआ है? चेतनको प्रगटाने व विकासवान करनेमें जो सफल होसके, वही धर्म है; बाक़ी सब पाखंड है—मनुष्य जातिका खून चूँसनेवाली मूर्खतापूर्ण रूढियाँ हैं। जहाँ चैतन्यता प्रगट होती है वहाँ बुद्धि भी दासी बनकर आजाती है। जैन शास्त्र या वेद नहीं जानने वाले तथा गुरुकी बिना मदद प्राप्त कियेही महा ज्ञानी बन सके हैं, इस बात की सबूती सब धर्म शास्त्रोंसे मिलरही है। आजकलकी दुनियाँ के गुरु व नेता जो जो करनेको कहते हैं, वह सब ही किया जाता है तो भी जनताको मुक्ति प्राप्त नहीं होसकती। मगर एक बार जनता यह निश्चय करे कि पाँच वर्षके लिये तमाम धर्मगुरु और तमाम नेताके बिनाही अपना काम चलाया जाय तो जनताकी संकुचित बुद्धि अपने आप फैलेगी, मुक्तिकी शोधमें पूर्ण मुक्त होगी और इसके बाद स्वतंत्र बुद्धि सत्य रास्ते गति करनेकी प्रेरणा करके मुक्ति प्राप्त करने योग्य बनजावेगी। यही इस जन्म में मोक्ष है। —"जैन जागृति"।

पर्युषण पर्व ।

तब—

रचयिता—श्री० ब्र० प्रेम पखरव, मेलसा ।

सादगी समाजमें थी, सादगी रिवाज में थी,
सादगी मिजाज में थी सादगी सुहाती थी ।
वस्त्र थे सफ़ेद सादे शुद्ध करघे के बने,
चरखे के काते सूत की सफ़ाई भाती थी ॥
मोटे खिरें विरें भी पसन्द थे प्रसन्नता से,
जाते जिन मन्दिरमें शर्म न सताती थी ।
पहिनते बड़े व ग़रीब "प्रेम" प्रेम ही से,
जब कि पर्युषण मनाने को समाती थी ॥१॥
आटा चने गेहुँओं का दिन में पिसा हो शुद्ध,
उसी की बनाई खुश्क रोटियाँ सुहाती थी ।
दाल चाँवलों का साथ, सूखी शाक की न चाह,
घी की न परवाह ज़रा भी सताती थी ॥
भोजन की सादगी कहाँ लौं "प्रेम" ध्यान करे,
पेट से भी जिसकी शिकायत न आती थी ।
हलका शरीर, परमाद न सतावे नेक,
धर्म ध्यान में महान चित्तवृत्ति जाती थी ॥२॥
जेवर की चाह दाह जलती न जब उर,
सम्यक्-स्वभाव-जल सादगी सिचाती थी ।
सादा, थोड़ा जैसा रोज रोज पहिनती आई,
उसके अलावा नहीं, और गढ़वाती थीं ॥
रोकें लालसाएँ, नहीं जेवर को ललचाएँ,
ऐसी ललनाएँ पतियों को न सताती थीं ।
रहती प्रसन्नचित्त हित आत्मा का करें,
"प्रेम" से पर्युषण के भूषण सजाती थीं ॥३॥
पूजन भजन आत्मचिन्तन प्रत्येक दिन,
तत्ववार्तामें चित्त चंचल लगाती थीं ।
आगम अभ्यास में उदासी न दिखातीं कभी,
हेय उपादेय में विवेक बुद्धि लातीं थीं ॥
समता की सरिता में केल करें कूद कूद,
राग द्वेष शत्रुओं के पास नहीं जातीं थीं ।
विषयों से विरक्त साधुओं समान वृत्ति "प्रेम"
इसी से पर्युषण को सफल बनाती थीं ॥४॥
क्षमा से अत्यन्त प्रीत मार्दव महान् मीत,
आर्जव में रक्त नहीं नेक मायाचारी थे ।
सत्य में समाने शौच संयम से प्रीत ठाने,
तप त्याग में प्रधान अनुराग धारी थे ॥
परिग्रह प्रमाण, रत्न-त्रय के धनवान,
ब्रह्मचर्य व्रतवान सत्य ब्रह्मचारी थे ।
विषयभोग त्यागी अनुरागी निज आत्मा के,
समता समेत "प्रेम" पंथ के विहारी थे ।५॥
एकता के सूत्र में बँधे थे हम सब जब,
कोई नहीं फूट के विषैले फल खाते थे ।
सामाजिक रूढ़ियों की तोड़ के गुलामी सब,
उन्नतिके पथ पर क़दम बढ़ाते थे ॥
धर्म के प्रचार न हार मानते थे कभी,
कर्मवीर बन जैनी विश्व को बनाते थे ।
दान देते, ध्यान देते विधवा अनाथों पर,
ऐसा जब "प्रेम" से पर्युषण मनाते थे ॥६॥

अब—

भादों सुदी पंचमी को आने के प्रथम मित्र,
शाक-पात खीरे भुट्टे खूब खाए जाते हैं ।
कपड़े दिखावटी महीन भड़कीले लेते,
ज़ेवर जड़ाऊ भी नवीन बनवाते हैं ॥
भोजन में आजतक सादगी समाई नहीं,
षटरस व्यञ्जन ही त्यार करवाते हैं ।
खाते शौक़ से हैं खूब, खाते ही जाते हैं ऊँघ,
कैसे फिर 'प्रेम" ये पर्युषण मनाते हैं ? ॥७॥
मिलों के महीन चमकीले चरबी से सने,
किन्तु उनसे ही तन अपना सजाएँगे ।
रेशम कोसा के वस्त्र महा अपवित्र मित्र,
लेकिन उन्हीं की साड़ी नारियों को लाएँगे ॥
खद्दर पवित्र नहीं भाता है कभी भी, इन्हें,
तो भी गीत परको अहिंसा के सुनाएँगे ।

ऐसे जैनी भाई देते धर्म की दुहाई नित,
"प्रेम" को पुकार कैसे पर्व ये मनाएँगे ? ।८।।
पंचमी से दश दिन पूजन में लगा मन,
झाँझों की झनकार से जिनेन्द्र को जगाएँगे ।
बाँचने का ज्ञान नहीं बोलते अशुद्ध शब्द,
एकसाथ गला खोल जोर से चिल्लाएँगे ॥
चतुर से बन आप खूब ही लड़ाते बातें,
शास्त्र सुनने के वक्त आँखें झपकाएँगे ।
और बड़ी रात तक हाँकें गप्पें बैठ बैठ,
'प्रेम' किस भाँति ये पर्युषण मनाएँगे ? ।।९।।
करते एकाशन चिलम हुक्का बीड़ी पिएँ,
अथवा तम्बाकू पान चौके में ही खाएँगे ।
ताश शतरंज और चौपड़ का खेल खेलें,
हँसी व मजाक में भी दिल बहलाएँगे ।।
सिरमें फुलेल डाल कँघी से सम्हालें बाल,
दर्पण में मुँहको देख देख हर्षाएँगे ।
ऐसे राग रंग में अनंग भी उतंग होवे,
'प्रेम" कैसे ऐसे मे पर्युषण मनाएँगे ? ।।१०।।
लड़ते हैं खूब, न सहनशील बनते हैं,
किन्तु क्षमा धर्म के अनोखे गीत गाएँगे ।
मार्दव की माला फेरें अभिमान नहीं गेरें,
माया की मरोर मे सरलता भुलाएँगे ।।
सत्य, शौच मानें नहीं संयम पिछानें नहीं,
झूठ बोल विषयों में मनको लगाएँगे ।
तप त्याग छोड़ा औ अकिंचन से मुख मोड़ा,
ब्रह्मचर्य धर्म का न "प्रेम" पन्थ पाएगे ।।११।।

सूचना ।

कातंत्र व्याकरणकी बृहत्संस्कृत टीका पं० दुर्गसिंह रचित कलाप व्याकरण जोकि कलकत्ता संस्कृत असोसिएशनकी तीर्थ परीक्षामें है, अप्राप्य है । यदि उक्त ग्रंथ कहींसे मिलसकता हो तो मुझे शीघ्र सूचित किया जाय । मैं उनका अतीव आभारी होऊंगा । मुझे इस पुस्तककी अतीव आवश्यकता है । —हरकचन्द सेठी विशारद

हैडपण्डित अग्रवाल मिडिल स्कूल अजमेर ।

मन्दिरोंके सुप्रबन्धके लिये आयोजना ।

धर्म प्रेमी भाइयोंसे नम्र निवेदन ।

श्रीमान् महोदय !

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषदके सहारनपुर अधिवेशनमें अनेक स्थानों पर जैन मन्दिरोंके कुप्रबन्ध, वहाँके ध्रौव्य फण्ड व जायदादकी अरक्षित दशा व अनुचित उपयोग तथा सरस्वती भण्डारोंकी शोचनीय अवस्था पर विचार करते हुए निम्न लिखित प्रस्ताव पास हुआ था:—

"भारतवर्षके दिगम्बर जैनमन्दिरोंके भण्डारोंकी सुरक्षता व सद्व्यय करानेके लिये एक दिगम्बर जैनमन्दिर भण्डाररक्षक कमेटी नियत कीजावे । उसके सभासद् अधिकसे अधिक ५१ और कमसे कम ११ रहें ।"

इस कमेटीके मन्त्री रायबहादुर साहु जुगमन्दरदास जी व उपमन्त्री साहु श्रेयांसप्रसादजी नजीबाबाद निर्वाचित किये गये । कमेटीको अधिकार दिया गया कि वह अपने मेम्बर बढ़ाले और नियम बनालेवे ।

यह कार्य कितने महत्वका है और कितना आवश्यक है, इसको प्रत्येक जैनी अच्छी तरह अनुभव कररहा है । उचित व्यवस्था न होनेके कारण हर स्थान पर हर पंचायतमें कैसे कैसे वितण्डावाद और कलह खड़े होजाते हैं । यह केवल इस बातसे भी समझा जाता है कि जैनियोंके महान पर्व 'अनन्त चौदश' को 'कलह चौदश' के नामसे बहुधा पुकारा जाता है । क्या यह हमारे लिये लज्जाकी बात नहीं है ? प्रत्येक स्थानकी पञ्चायतका कर्तव्य होना चाहिये कि वह अपने यहाँ मन्दिरोंके सुप्रबन्धके लिये कमेटी या पञ्चायत, यदि पहिलेसे न हो तो, शीघ्र बनावें, और इन मन्दिरपञ्चायतोंको इस परिषद् "मन्दिर-भंडार रक्षक कमेटी" से सम्बन्धित करें, और अपने यहाँके पाकशुदा हिसाब किताबका चिट्ठा जाँचके लिये प्रतिवर्ष भेजें । और अगर कहीं विशेष शिकायत किसीभी भाई को हो तो वहभी आनी चाहिये ताकि डेपुटेशन द्वारा अथवा लिखापढ़ीसे या जिस प्रकारभी सम्भव हो उसको दूर करनेका प्रयत्न किया जावे !

इस कमेटीका कार्य बड़ा विस्तृत और कठिन है। केवल उस हालतमें सफलताकी आशा होसकती है जब कि प्रत्येक स्थानके निःस्वार्थ, निर्भीक, ज़िम्मेदार तथा प्रतिष्ठित सज्जन इसमें सहयोग दें। अतएव प्रत्येक स्थान के कर्तव्यपरायण भाइयोंसे प्रार्थना है कि वह अपना नाम इस कमेटीकी सहायताके लिये शीघ्रसे शीघ्र भेजें और इसके अतिरिक्त अपने स्थानके मन्दिरोंके प्रबन्धके विषय में निम्न सूचनाएँ भेजनेकी कृपा करें:—

१—आपके नगरमें कितने जैनमन्दिर हैं?

२—प्रबन्ध,पञ्चायत या कमेटी द्वारा होता है अथवा व्यक्ति-विशेष द्वारा? प्रबन्ध करनेवाले सज्जनोंके नाम (पता सहित) आने चाहिये।

३—ध्रौव्यफण्ड या जायदाद् कितनी है और उसका प्रबन्ध किस प्रकार है?

४—प्रत्येक वर्ष हिसाब किताबका चिट्ठा बनाकर पञ्चायत के सन्मुख सुनाया जाता है या नहीं?

५—उपकरण आदिकी उचित देखभाल कीजाती है या नहीं?

६—पूजन प्रक्षाल आदि नियमित रूपसे होती है या नहीं?

७—सरस्वती भण्डार की क्या दशा है?

८—क्या और कोई विशेष शिकायत है?

यदि आप चाहते हैं कि हमारे मन्दिरोंका प्रबन्ध सुचारु रूपसे हो, देवद्रव्यकी व्यवस्था भली प्रकार हो, पूजन प्रक्षालनादि नियमित रूपसे होती रहे, कुप्रबन्धके कारण आपसमें कलहका बीजारोपण न हो, तो आइये और इस पवित्र और महान् कार्यको शीघ्रसे शीघ्र सफल बनानेमें पूर्णतया सहयोग दीजिये। भवदीयः—

मजीदाबाद—(यू०पी०)   श्रीयांसप्रसाद उपमन्त्री.

नोट—अधिकांश मन्दिरोंका प्रबन्ध अत्यन्त अव्यवस्थित व असन्तोषजनक है। हर्ष है कि इसओर परिषद का ध्यान आकर्षित हुआ है। लेकिन हमें आशा नहीं कि परिषद्को इस कार्यमें आसानीसे सफलता मिलसके। प्रायः कई स्थानोंपर मन्दिरोंका प्रबन्ध ऐसे व्यक्तियोंके हाथमें है, जो मन्दिरोंको अपनी मौरूसी जागीर समझे हुए हैं। श्रावकगण आँख मींचकर मन्दिरोंमें द्रव्य व उपकरण चढ़ाते हैं; उसका अधिकांश उन पदार्थीशोंके उदरमें पहुँचता है तथा उनकी प्रभुताको बढ़ाता है। हम लोग मन्दिरोंमें चढ़ावा चढ़ाकर ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझलेते हैं—इस बातके देखनेकी चिन्ता नहीं करते कि उसका किस प्रकार उपयोग होता है। अगर कभी कोई व्यक्ति साहस करके हिसाब आदिके विषयमें पूछता है तो उसे फ़ौरन यह कहकर कि—तुम कलके आये हुए हो, तुम्हें इस मामलेमें हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार नहीं है, हमारे बापदादाओंने यह मन्दिर बनवाया है, इसका प्रबन्ध हमेशा हमारे घरानेवालोंके ही हाथमें रहा है, आदि, उसका मुँह बंद कर दिया जाता है। और तो और कलशाभिषेक तकके लिये अपने मौरूसी हक़की दुहाई दीजाती है। पंचायतोंमें परस्पर मनोमालिन्यका एक खास कारण मंदिर भंडारका कुप्रबंध होता है। स्थानीय नये धड़ेकी पंचायतमें तो बात यहाँतक बढ़गई है कि अदालतबाज़ी तककी नौबत आ गई है और मन्दिरके प्रबन्धके लिये अदालतकी ओरसे डिस्ट्रिक्ट नाज़िरको अस्थायी रिसीवर नियत कियागया है। अतः ऐसी परिस्थितिमें मन्दिरोंका सुप्रबन्ध होना अत्यन्त कठिन है। लेकिन इससे परिषद् व उसकी सबकमेटीके सदस्योंको निराश होनेकी आवश्यकता नहीं। ऐसा कोई कार्य नहीं जो दृढ़ निश्चय व सङ्गठनसे सफलतापूर्वक प्रतिपादन नहीं किया जासके। परिषद्का उद्देश सराहनीय है, और समाजको इस कार्यमें उसके साथ पूर्ण रूपसे सहयोग करना चाहिये।   —प्रकाशक।

दुराग्रहकी पराकाष्ठा।

देहलीके सुप्रसिद्ध दैनिकपत्र 'अर्जुन' व 'हिंदुस्थान टाइम्स' में उनके संवाददाताओंने व्यावरस्थित श्रीशांतिसागरसंघके सम्बन्धमें जो समाचार प्रकाशित कराये हैं, वे जैनसमाजके लिये अत्यन्त लज्जाजनक हैं। जबकि प्राचीन कालमें ऋषि मुनि, चांडाल तकको धर्मका उपदेश देकर उन्हें अणुव्रत धारण कराते थे, आज ये कलिकाल सर्वज्ञ व आचार्य माली, रैगर आदिको धर्मका उपदेश देनेमेंभी धर्मका घात समझते हैं! भगवानके समवसरणमें मनुष्यमात्रको स्थान मिलता था परन्तु इन लोगोंके स्थान पर से सच्छूद्रों तकको धक्का देकर उकेलदिया जाता है और कहाजाता है कि—तुम्हारी छाया मात्रसे हमारे मुनि अपवित्र होजायेंगे, आगे फिर कभी आये तो जूतोंसे तुम्हारी पूजा कीजावेगी। इन लोगोंकी दृष्टिमें कांग्रेससे भाग लेना भी धर्मविरुद्ध है। अभी कुछ दिन पहिले इन्होंने दो जैन युवकोंको, जिन्होंने पिछले राजनैतिक आंदोलनमें सक्रियभाग दिया था, प्रायश्चित्तके तौरपर मूँछें व सिर मुँडवाने तथा उपवास करनेको मजबूर किया तथा आगे कांग्रेस आंदोलनमें भाग न लेनेकी उन्हें प्रतिज्ञा दिलवाई। ये लोग आजन्म शूद्रजलत्याग करनेवालोंके हाथका ही आहार लेते हैं तथा अपने दुराग्रह वश १०—१२ वर्षके बच्चों तकको शूद्रजलत्याग करादेते हैं; किंतु इन्हें कन्या बेचनेवालोंके यहाँ आहार लेते शर्म नहीं मालूम होती! श्रीशान्तिसागर संघके गणधर क्षुल्लकवेषी ज्ञानसागरजी बिना जनेऊवाले

श्रावकको भी छूनेमें पाप समझते हैं। यह दुराग्रहकी पराकाष्ठा है। धर्मकी विडम्बना है। ये लोग नहीं समझते कि उनकी ऐसी हरकतोंसे जैनधर्म व समाजकी कितनी अप्रभावना होरही है।

यहभी प्रकाशित हुवा है कि ब्यावरके श्री० जेठमलजी चौधरीने मुनियों (?) के लिये आहार बनानेके वास्ते एक श्रावकको नौकर रखा था, जो बादमें मालूम हुवा कि कुछ अर्से पहिले एक जैनसाधु था और अब उस वेषको छोड़ कर नौकरी करनेलगा है। चूँकि इन लोगोंने जेठमलजीके यहाँ उस व्यक्तिके हाथका बना हुआ आहार लिया था, अतः इस पापके प्रायश्चित्तके लिये उन्होंने उपवास किये और सुनाजाता है कि श्री० जेठमलजी प्रायश्चित्त स्वरूप मुनि बननेका इरादा कर रहे हैं! रिक्त स्थानकी पूर्ति तो होनीही चाहिये! समझमें नहीं आया कि उस श्रावकसे ऐसा कौनसा अनर्थ होगया जिसके कारण उसको नौकर रखनेवाले तथा उसके हाथका बना आहार लेनेवालोंको प्रायश्चित्तकी आवश्यकता हुई? निःसन्देह वह उन मुनिवेषियोंसे अच्छा है जो सब प्रकार अयोग्य होते हुएभी मुनिपद धारण किये हुए हैं और अपने पेटके लिये पवित्र मुनिपद की हँसी करारहे हैं। पहिले वह परावलंबी था; आज वह स्वावलम्बी है, स्वतंत्र है। पहिले बड़े बड़े श्रीमान् उसके चरणोंमें अपना मस्तक रगड़ते थे तथा उसकी पगचम्पीकर अपनेको धन्य समझते थे; लेकिन उस समय उसकी आत्मा गिरी हुई थी, वह उसके साथ मायाचार करता था। अब उसे अपने निर्वाहके लिये परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु वह मायाचारके पापसे बचा हुआ है। उसने अपनी दुर्बलता स्वीकार करली परन्तु साधुवेषको कलंकित नहीं किया। यदि वह चाहता तो सुर्यसागर आदि मुनिवेषियोंकी तरह पुजता रहता, मौज उड़ाता रहता, परन्तु इससे उसकी आत्माका पतन होता। उसने नकली वेषको छोड़कर मेहनत मजदूरीसे प्राप्त रूखेसूखे भोजनमें सन्तोष किया। उसे केवल इस कारण पापी बताना पाप है।—प्र०

ब्र० प्रेमसागरजीके साथ दुर्व्यवहार—

ब्र० प्रेमसागरजीका चातुर्मास भेलसामें हुवा है। आप एक समझदार, विवेकशील, व भद्रपरिणामी सज्जन हैं। नवयुवकों पर आपके भाषणोंका विशेष प्रभाव पड़ता है। अभी उस दिन उन्होंने जैनधर्मकी उदारता प्रतिपादन करते हुए यह प्रमाणित किया कि विनैकावार भाईभी भगवान्के दर्शनके लिये मंदिर में जासकते हैं, उनको दर्शन करनेसे रोकना पाप है। इस पर कुछ दकियानूसी भाई बिगड़ खड़े हुए और कहने लगेकि अगर ऐसी बातें करोगे तो खोपड़ी गंजी करदी जावेगी। बेचारोंको मालूम नहींकि मिथ्या जाति-अभिमान जैनसमाजकोही नहीं किन्तु समस्त हिन्दू-समाजको खोपड़ी गंजा कर रहा है और अगर यह जाति मदांधता ऐसीही बनी रही तो खोपड़ीका सलामत रहना भी मुश्किल है।—प्र०

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१ सितम्बर सन् १९३३

वर्ष ८ अङ्क २१

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

स्थानीय चर्चा।

यह भली भाँति प्रकट हो चुका है कि डिग्गीमें श्री शांतिसागरजीकी अनुमतिसे उनके संघके कतिपय साधुओंने लोहड़साजनोंके यहाँ आहार लिया था जिससे खिसियाकर चंद्रसागरजी व श्रुतसागरजी उस संघको छोड़कर अलग होगये व उसी समयसे वे अलग विचरण कर रहे हैं। स्थितिपालक दलका मुखपत्र जैनगजट भी इस सम्बन्धमें चन्द्रसागरजी पर कटाक्ष कर चुका है। अफसोस है कि खण्डेलवाल-हितेच्छु सम्पादक प्रभृति कतिपय अन्धभक्त [illegible] सुप्रकट सत्य पर भी पर्दा डालना चाहते हैं [illegible] झूठमूठ यह प्रकट कर रहे हैं शांतिसागरजीने विशेष धर्मप्रचारार्थ उनको इस चातुर्मासमें भिन्न रहनेकी आज्ञा दी है, क्योंकि यह प्रान्त बहुत बड़ा है। प्रथम तो चन्द्रसागरजी चौमासेके प्रारम्भसे नहीं किन्तु उसके दो मास पूर्वसे संघसे अलग विचर रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि ब्यावरमें शान्तिसागर संघमें एक संघ और आमिला है। अगर प्रान्त बड़ा होने के कारण चन्द्रसागरजी व श्रुतसागरजी संघसे अलग किये गये थे तो फिर बादमें पद्मसागरजी तथा छाणी संघको अपने साथमें शामिल क्यों किया गया? अगर इन दो व्यक्तियोंको अलग स्थानमें ठहरानेका अभिप्राय यह था कि जनताको विशेष लाभ पहुँचे, तो फिर ब्यावरमें १०—१२ साधु एक जगह इकट्ठे क्यों रहे? उनको भी दो दो करके ५—६ स्थानों पर अलग ठहराया जा सकता था। क्या शास्त्रीजी इसका उत्तर देंगे? चन्द्रसागरजीके सम्बन्धमें अबतक अनेक आक्षेप किये गये लेकिन शास्त्रीजी उनका खुलासा करनेके बजाय केवल २०—२५ श्रोताओंकी उपस्थितिको सैकड़ों और चार पाँचसौ दर्शकोंकी उपस्थितिको हजारों बताकर जनताको भुलावा दे रहे हैं।

प्राइवेट तौर पर कईबार आग्रह करने पर भी जब कुँवर भागचन्दजी काबूमें न आये और शूद्र-जलत्याग नहीं किये तो चन्द्रसागरजीने दूसरी पॉलिसी खेली। पर्युषण पर्वमें एक रोज दोपहरको शास्त्र सभामें आपने फिर उन्हें छेड़ा और उनके

इनकार करनेपर तेज होकर बोले कि–तुम्हारे कहने से हमने यहाँ चातुर्मास किया है। अब तुमही शूद्र-जलत्याग नहीं कर हमारे साथ धोखा कर रहे हो! जो शख्स धोखा करता है वह श्रावक नही कहला सकता। इधर चारों ओर से भक्त लोग भी दबाने लगे। आखिर मजबूर होकर उन्हें शूद्रजलका त्याग करना पड़ा।

चन्द्रसागरजी यद्यपि यहाँ बहुत सम्हले हुए हैं, तथापि उनकी उद्दण्ड प्रकृति यदाकदा जोर मार कर व्यक्त हो ही जाती है। पर्युषण पर्वमें कई जनेऊ-रहित श्रावकोंने पूजन, प्रक्षाल व कलशाभिषेक किये परन्तु चन्द्रसागरजी चुपचाप यह सब देखते रहे—उन्हें चूँ करनेका भी साहस न हुवा। लेकिन पर्युषण पर्वकी समाप्तिके बाद डिग्गी बाजारके चैत्यालयमें कुछ जनेऊरहित श्रावकोंको पूजा करते देखा तो आप विचलित होगये और उनके गलेमें जबरन जनेऊ डलवादी। मुनिवेषका लिहाजकर वे उस समय कुछ न बोले किन्तु शामको जनेऊ उतार कर खूँटी पर टाँग दीगई। भक्त लोग कहा करते हैं कि मुनि महाराज किसी पर दबाव देकर शूद्रजलत्याग या जनेऊधारण नहीं कराते। इन घटनाओंके सम्बन्धमें वे क्या कहेंगे? ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं व होती रहती हैं।

चन्द्रसागरजी अपने आपको श्री जिनवाणीसे भी उच्च समझते हैं। शास्त्रजीके विराजमान करते समय खड़े होकर उनके प्रति आदर सूचित नहीं करते। मन्दिरमें आप तख्त लगवाकर ऊँचे आसन पर बैठतेही हैं। अफसोस इस बातको देखकर होता है कि शुद्धाम्नायके मुख्य स्तम्भ स्वर्गीय श्रीमान राय-बहादुर सेठ मूलचन्दजीके पौत्र श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी अपनी आँखो यह हीनाचार चुपचाप देखते रहते हैं!

पर्युषण पर्वमें तेरहपन्थीधड़ेके मन्दिरमें खासी चहल पहल रही। एक श्रावकसे चन्द्रसागरजीने शूद्रजलत्यागके लिये कहा तो वह बोला—पहिले आप कृपया यह समझा दीजिये कि शूद्रका लक्षण क्या है? यदि आप मद्य, मांस, मधुके सेवन करने वालेको शूद्र बताते हैं तो मधुका सेवन तो अजैन ब्राह्मण व वैश्यादि भी करते हैं। तथा क्षत्रिय भी मद्य मांस मधुका सेवन करते हैं। साथही इसके आप शूद्रजलका त्याग कराकर टोंटीका जल पीने की परवानगी दे देते हैं सो टोंटीका जल आप किस प्रकार शुद्ध बताते हैं? इसके अतिरिक्त श्री भगवती आराधनामें भोगोपभोग परिमाण व्रतकी चर्चा करते हुए अनुपसेव्य पदार्थोंमें अस्पृश्य शूद्रका लाया जल तथा शूद्रका बनाया भोजनका उल्लेख किया गया है, जिससे साफ जाहिर होता है कि दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक स्पृश्य शूद्रके हाथका जल पी सकता है। चन्द्रसागरजी इन प्रश्नोंका कोई समाधानकारक उत्तर न देसके। उनको इसप्रकार निरुत्तर होते देख अन्ध-भक्तोंने होहल्ला मचाना शुरू किया। कुछ लोग भगवती-आराधनाके उपरोक्त उद्धरणका विपरीत अर्थ बताने लगे खैर, किसी तरह उस वक्त सभा विसर्जन हुई। शामको इस सम्बन्धमें श्रीमान पं० बनारसीदासजी शास्त्रीसे पूछा गया। पहिले तो वे गोलमाल करने लगे किन्तु बादमें उन्होंने स्वीकार किया कि श्री भगवती आराधनाके उक्त उल्लेखका सही अर्थ यही है कि दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक स्पृश्य शूद्रके हाथका जल पी सकता है।

इसी प्रकार जनेऊ के सम्बन्ध में भी खूब चर्चा रही। श्री सुदृष्टि तरंगिणीमें लिखा है कि—"विज्ञानता, क्षमावान, अदत्त-त्याग, अष्टमूल-गुणधारक, लोभ रहित, शुभाचारी, समितिधर, शीलवान और त्याग गुण, इन नवगुणों सहित जो भव्य होय सो जनेऊ राखै। अर इन गुण बिना जो जनेऊ राखै तो परम्परा तैं धर्मका लोपक होय; ताकौं पापकारका करनहारा

(शेष पृष्ठ २७ पर देखो)

वर्ष ८ | जैनजगत् | अंक २१

भाद्रपद शुक्ला १२ — ता० १ सितम्बर

वीर संवत २४५९ — सन् १९३३ ई०

जैनधर्म का मर्म ।

(३३)

मतिज्ञानके भेद ।

मतिज्ञानके भेद जो वर्तमानमें प्रचलित हैं, उनका विकास कब, कैसे हुआ इसका पता लगाना यद्यपि कठिन है, तोभी इतना अवश्य कहा जासकता है कि भगवान महावीरने मतिज्ञानके प्रचलित भेद नहीं कहे थे। ये भेद प्राचीन होनेपर भी भगवान महावीरके पीछेके हैं। यह बात आगेकी आलोचनासे मालूम हो जायगी। यहां मैं पहिले वर्तमानकी मान्यताओंका उल्लेख करता हूं; पीछे आलोचना की जायगी।

१—मतिज्ञानके दो भेद हैं—श्रुत निश्रित और अश्रुतनिश्रित * ।

श्रुतज्ञानसे जिसकी बुद्धि संस्कृत हुई है, उसको श्रुतकी आलोचनाकी अपेक्षाके विना जो मतिज्ञान पैदा होता है वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है। और जो शास्त्रसंस्कारके विना स्वाभाविक ज्ञान होता है वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान † है।

२—श्रुतनिश्रितके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

३—इन्द्रिय और मनके निमित्तसे दर्शनके बाद जो प्रथम ज्ञान होता है वह अवग्रह ‡ है। जैसे, यह मनुष्य है।

४—अवग्रहके बाद विशेष इच्छारूप जो ज्ञान है वह ईहा § है। जैसे, यह पुरुष मालूम होता है। अवग्रहके बाद संशय होता है जैसे, यह स्त्री है या पुरुष ? इस संशयको दूर करके ईहा होता है जिसमें संशयकी तरह अनिश्चित दशा नहीं होती, ज्ञान एक तरफको झुकता है। संशय और ईहामें यह अन्तर माना जाता है।

* आभिणिबोहिय नाणं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा—सुयनिस्सियं असुयनिस्सियं च—नंदी सूत्र । २६ ।

† पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं । तं निस्सिय मियरं पुण अणिस्सियं मइच उक्कं तं । विशेषावश्यक १६९ ।

‡ विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । त० राजवार्तिक १-१५-१ । विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । २-७ प्रमाणनयतत्त्वालोक ।

§ अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा । यथा पुरुष इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषैराकांक्षणमीहा । त० रा० १-१५-२ । अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा । प्र० न० त० । अवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तरमनुष्यत्वादि जाति विशेष लक्षणः तस्य विशेषः कर्णाटलाटादिभेदस्तस्याकांक्षणमभविनश्यता प्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहा इत्यभिधीयते । रत्नाकरावतारिका २-८ ।

५—विशेष चिन्होंसे उसका ठीकठीक निर्णय करना अवाय * है।

६—जानेहुए अर्थका विस्मरण न होना धारणा † है।

७—अवग्रहके दो भेद हैं, व्यञ्जनावग्रह ‡ और अर्थावग्रह। दर्शनके बाद जो अव्यक्तग्रहण होता है, वह व्यञ्जनावग्रह है। उसके बाद जो व्यक्तग्रहण होता है वह अर्थावग्रह है।

८—चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, क्योंकि ये दोनों इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थका स्पर्श किये विनाही पदार्थको जानती हैं।

९—व्यञ्जनावग्रह चार इन्द्रियोंसे होता है, इसलिये उसके चार भेद हैं। अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मनसे होता है इसलिये उसके छः भेद हैं। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणाके भी छः छः भेद हैं। इस प्रकार मतिज्ञानके कुल (४ + ६ + ६ + ६ + ६=२८) अट्ठाईस भेद हैं।

१०—विषयके भेदसे इन सब भेदोंके बारह बारह भेद हैं इसलिये मतिज्ञानके कुल ३३६ (२८× १२=३३६) भेद होते हैं। बारह भेद निम्नलिखित हैं—बहु एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव।

बहु=बहुत पदार्थोंका ज्ञान एक=एक पदार्थका ज्ञान। बहुविध=बहुत तरहके पदार्थोंका ज्ञान। एकविध=एक तरहके पदार्थोंका ज्ञान। क्षिप्र=शीघ्र ज्ञान। अक्षिप्र=देरीसे होनेवाला ज्ञान। अनिसृत ‖=एक अंशको निकला हुआ देखकर पूर्ण अंशका ज्ञान या समान पदार्थको देखकर दूसरे पदार्थका ज्ञान। जैसे —पानीके ऊपर सूँड देखकर पानीके भीतर प्रविष्ट हाथीका ज्ञान अथवा मुखको देखकर चन्द्रका ज्ञान। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इसीके भीतर हैं। निसृत=पूरा निकलजाने पर उस पदार्थका ज्ञान। अनुक्त *=विना कहे अर्थात् थोड़ा कहेजाने पर पूरी बातका ज्ञान। उक्त=पूरी बात कही जानेपर पदार्थका ज्ञान। ध्रुव=एक सरीखा ग्रहण होते रहना। अध्रुव=न्यूनाधिक ग्रहण होना।

११—बारह भेदोंमें बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, ये छः भेद उच्च श्रेणीके हैं और बाकी छः निम्न श्रेणीके हैं।

१२—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान हैं ‡।

१३—अश्रुत निश्रित मतिज्ञानके चार भेद हैं। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी। (ये चार भेद दिगम्बरसाम्प्रदाय प्रचलित नहीं हैं, लेकिन बुद्धियोंको मतिज्ञान माननेका उल्लेख दिगम्बर शास्त्रों में भी मिलता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि आदिको मतिज्ञान कहा है)।

* विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येन अवगमनमवायः। दाक्षिणात्योऽयं युवा गौरः इति वा। त० राजवार्तिक १-१५-३ ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः। प्र० न० त० २-९।

† निर्ज्ञातार्थाविस्मृतिर्धारणा। १-१५-४ त० रा०।

‡ व्यक्तग्रहणं अर्थावग्रहः अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। त० रा० १-१८ २। सुसमत्तादिसूक्ष्मावबोधसहितपुरुषवत्। सिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थटीका १-१८।

‖ एकदेसदंसणादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा। सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई। ३१२। पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदण गवय गहणे वा। वत्थंतर चंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे। ३१३। गोम्मटसार जीवकांड। एवं अनुमानस्मृतिप्रत्यभिज्ञानसंज्ञानि चत्वारि मतिज्ञानानि अनिसृतार्थविषयाणि केवलपरोक्षाणि एकदेशतोऽपि वैशद्याभावात्, शेषाणि ‥ बह्वाद्यर्थावग्रहाणि मतिज्ञानानि सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाणि। गो० जी० टीका।

* अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः त० रा० १ १६-१०।

‡ मतिःस्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यर्थः के पुनस्ते प्रतिभा बुद्ध्युपलब्ध्यादयः। त० रा० १-१३-१।

उपदेश आदिके विना किसी विषयमें नई सूझ करानेवाली बुद्धि औत्पत्तिकी * बुद्धि है। नन्दीसूत्रमें औत्पत्तिकी बुद्धिके २६ उदाहरण दिये हैं, जो बहुत मनोरंजक हैं। यहाँ एक छोटासा उदाहरण दिया जाता है। एक पुरुषकी दो विधवा स्त्रियोंमें पुत्रके विषयमें झगड़ा हुआ। दोनोंही कहती थीं कि यह मेरा पुत्र है। न्यायाधीशने आज्ञा दी कि पुत्रके दो टुकड़े किये जाँय और दोनोंको एकएक टुकड़ा दिया जाय। जो नकली माता थी वह तो इस न्यायसे संतुष्ट होगई, परन्तु जो असली माता थी उसका प्रेम उमड़ पड़ा। वह बोली—यह मेरा पुत्र नहीं है, पूरा पुत्र दूसरीको दिया जाय। इस प्रकार असली माताका पता लगगया। न्यायाधीशकी यहाँ औत्पत्तिकी बुद्धि है। श्रेणिकचरित्र आदिमें अभयकुमारकी बुद्धिकी जो उदाहरणमाला दीगई है, वह सब औत्पत्तिकी बुद्धिका उदाहरण है।

विनय† अर्थात् शास्त्र या शिक्षण। शास्त्रीय ज्ञानसे जो बुद्धिका असाधारण विकास होता है और उसपर जो विशेष विचार होता है, वह वैनयिकी बुद्धि है।

दो विद्यार्थियोंको एकसा शिक्षण देनेपर भी एक विद्याके रहस्यको अधिक समझता है और दूसरा उतना नहीं समझता। यह वैनयिकी बुद्धिका अन्तर है।

शिल्पादिके अभ्याससे जो बुद्धिका विकास होता है वह कार्मिकी अथवा कर्मजा * बुद्धि है।

उमरके बढ़नेसे अर्थात् अनुभवके बढ़नेसे जो बुद्धिका विकास होता है, वह पारिणामिकी † बुद्धि है।

मतभेद और आलोचना।

मैं कहचुका हूँ कि मतिज्ञानका यह वर्णन शताब्दियोंके विकासका फल है। भगवान महावीरके समयमें यह इतना या ऐसा नहीं था। इस विषयमें अनेक जैनाचार्योंके अनेक मत हैं तथा बहुतसी मान्यताएँ अनुचितभी मालूम होती हैं।

मतिज्ञानके श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित भेदोंका स्वरूप निश्चित नहीं है। अवग्रह आदि श्रुतनिश्रितके भेद औत्पत्तिकी आदि बुद्धिमें भी पाये जाते हैं। बुद्धियोंके द्वारा जब ज्ञान होता है तब वह अवग्रहादिरूप ही होता है। ऐसी हालतमें अवग्रहादिको बुद्धियोंसे अलग भेद क्यों मानना चाहिये? नन्दीके टीकाकारने इस प्रश्नको उठाया है। वे कहते हैं ‡—

"औत्पत्तिकी आदि बुद्धिभी अवग्रहादि रूप है। फिर दोनोंमें विशेषता क्या है? इसका उत्तर यह है कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धियोंमें शास्त्रोंका अनुसरण नहीं होता। यही इन दोनोंमें भेद है।"

परन्तु यहाँ प्रश्न तो यह है कि अवग्रहादि भेद जब श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रितमें पाये जाते हैं तब वे सिर्फ श्रुतनिश्रितके ही भेद क्यों माने जायँ? वास्तवमें अवग्रहादिकको श्रुतनिश्रित या अश्रुतनिश्रितके मूलभेद नहीं मानना चाहिये।

---

* उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यास कर्मपरिशीलनादिकम् प्रयोजन कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी। ननुसर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथमुच्यते उत्पत्तिरेवप्रयोजनमस्याः इति उच्यते, क्षयोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः ततो नासौभेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति। अथ च बुद्ध्यन्तराद्भेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं तत्रव्यपदेशान्तरनिमित्तं अत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा। नन्दीसूत्र टीका। पुव्वं अदिट्ठमस्सुअमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था। अव्वाहय फलजोगा बुद्धी उप्पत्तिया नाम। नन्दी २६।

† भरनित्थरणसमत्था तिवग्ग सुत्तत्थ गहियपेयाला। उभओ लोग फलवई विणयसमुत्था हवइ बुद्धी।

* उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंग परिघोलण विसाला। साहुक्कार फलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी। नन्दी २६।

† अणुमाणहेउ दिट्ठंतसाहिआ वयविवाग परिणामा। हिअनिस्सेअस-फलवई बुद्धी परिणामिआ नाम। नन्दी० २६।

‡ औत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव तत्कोनयोर्विशेषः? उच्यते, अवग्रहादि रूपमेव पर शास्त्रानुसारमन्तरेणोत्पद्यते इतिभेदेनोपन्यस्तं। नन्दी टीका २६।

इधर औत्पत्तिकी आदिको अश्रुतनिश्रित कहा है परन्तु वैनयिकीमें स्पष्टही श्रुतनिश्रितता है। नन्दी के टीकाकार * इस विषयमें कहते हैं—

"यद्यपि श्रुताभ्यासके विना वैनयिकी बुद्धि नहीं होसकती परन्तु इसमें श्रुतका अवलम्बन थोड़ा है इसलिये इसे अश्रुतनिश्रितमें शामिल किया है।'

इसके अतिरिक्त यहभी एक विचारकी बात है कि अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाको श्रुतनिश्रित कहने का कारण क्या है ? इनके साथ श्रुतका ऐसा कौनसा सम्बन्ध है जो अश्रुतनिश्रित के साथ नहीं है। कीड़ी आदिकोभी अवग्रह आदि ज्ञान होता है। उनमें श्रुतसंस्कार क्या है ? और नन्दी सूत्र आदिमें जो अश्रुतनिश्रित के उदाहरण दिये गये हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं है जिसमें पूर्व श्रुतसंस्कार नहो।

अगर यह कहा जाय कि ईहामें विशेषनिर्णय करनेके लिये विशेष शब्दव्यवहारकी आवश्यकता होती है वह शब्दव्यवहार श्रुतसंस्कारके विना नहीं होसकता इसलिये इसे श्रुतनिश्रित कहा है; परन्तु यह कहनाभी ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि इससेभी ज्याद: शब्दव्यवहार तो अश्रुतनिश्रितमें करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अवग्रह तो विना शब्दव्यवहारके भी होता है। तब अवग्रह को श्रुतनिश्रित क्यों कहना चाहिये ?

श्रुतनिश्रित अश्रुतनिश्रितके वर्तमान भेदोंमें कुछ न कुछ गड़बड़ी जरूर रहगई है या आगई है। मालूम होता है कि इसीसे आचार्य उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थाधिगममें इन भेदोंका बिलकुल उल्लेख नहीं किया न तत्त्वार्थके टीकाकारों ने किया है।

फिरभी मतिज्ञानके श्रुतनिश्रित और अश्रुत निश्रित भेदोंका निषेध नहीं किया जाता है। सिर्फ उनके लक्षण आदि विचारणीय हैं। अवग्रह, ईहा आदि को श्रुतनिश्रितके भेद मानना ठीक नहीं है। दोनोंकी परिभाषाएँ निम्नलिखित करना चाहिये। श्रुतज्ञानसे किसी बातको जानकर उसपर विशेष विचार करना श्रुतनिश्रित और बाकी इन्द्रिय अनिन्द्रियसे पैदा होने वाला स्वार्थज्ञान अश्रुतनिश्रित है। वैनयिकी बुद्धिको श्रुतनिश्रितमेंही शामिल करना चाहिये।

(ख) अवग्रहादिके विषयमेंभी जैन शास्त्रोंमे बहुत से मतभेद पाये जाते हैं। विशेषावश्यक भाष्यकारने अन्य जैनाचार्योंके द्वारा बताये हुए अवग्रहादिके लक्षणोंका खण्डन किया है। पहिले जो मैंने अवग्रह का लक्षण लिखा है वह दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार है और श्वेताम्बर सम्प्रदायके नैयायिकोंने भी उपर्युक्त लक्षणको माना है। परन्तु विशेषावश्यककार का उसके विरोधमें निम्नलिखित वक्तव्य है:—

(१) अवग्रहमें विशेषका ग्रहण नहीं होता किन्तु सामान्य मात्रका ग्रहण होता है। इसलिये 'यह मनुष्य है' इस प्रकारके ज्ञानको अवग्रह नहीं कहसकते। वास्तवमें यह अपाय है। इसके पहिले जो अर्थ सामान्यका ज्ञान है वह अवग्रह है।

(२) यदि अवग्रहमें विशेष ग्रहण होगा तो उसके पहिले हमें ईहाज्ञान मानना पड़ेगा॥। सामा-

* नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयोऽवग्रहमभिप्रेताः ततो वैनयिक्याः त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं ततोऽश्रुतनिश्रितत्वं नोपपद्यते, नहि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं सम्भवति। अत्रोच्यते—इह प्रायोवृत्तिमाश्रित्याश्रुतनिश्रितत्वमुक्तं, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोषः। नंदी टीका। २६।

॥ किं सद्दो किमसद्दोत्तऽणीहिए सद्द एव किह गुत्तं। अह पुव्वमीहिऊणं सद्दोत्ति मयं तई पुव्वं। २५७। किंसं पुव्वं गहिअंजमीहओ सद्द एव विण्णाणं अह पुव्वं सामण्णं जमोहमाणस्स सद्दोत्ति। २५८। अत्थोग्गहओ पुव्वं होयव्वं तस्स गहण कालेणं। पुव्वं चतस्स वंजणकालो सो अत्थ परिसुण्णो। २५९। जइ सद्दोत्ति न गहिअं न उ जाणइ जंक एस सद्दोत्ति। तम गुत्तं सामण्णे गहिए मग्गिज्जइ विसेसो। २६०।

न्यज्ञानसे विशेषज्ञान होनेमें बीचमें ईहा होना आवश्यक है। परन्तु अवग्रहके पहिले ईहा असंभव है। उसके पहिले तो व्यञ्जनावग्रह रहता है।

(३) शास्त्रमें अवग्रह एक समयका कहा* है और वह अवक्तव्य, सामान्यमात्रग्राही और नाम जात्यादिकी कल्पना§ रहित है। तब उसमें मनुष्य आदिकी कल्पना कैसे होसकती है? अवग्रह तो एक ही समयका है जबकि मनुष्य शब्द बोलनेमें असंख्य समय लगजाते हैं।

(४) अवग्रहको विशेषग्राही माननेसे अवग्रह अनियत विशेषग्राही होजायगा। किसी मनुष्यको ऐसा अवग्रह होगा कि 'यह कोई लम्बा पदार्थ है;' किसीको ऐसा अवग्रह होगा कि 'यह मनुष्य है' किसीको होगा कि 'यह स्त्री है' आदि।

विशेषावश्यक भाष्यकी २७०-२७१-२७२वीं गाथाओंमें दस दोष दिये गये हैं; जिनमेंसे मुख्य मुख्य मैंने ऊपर दिये हैं।

भाष्यकारके इस वक्तव्यमें कुछ युक्ति होनेपर भी दूसरे जैनाचार्योंकी तरफसे भी आपत्ति उठाई जासकती है।

(१) यदि अवग्रह बिलकुल निर्विकल्प है तो उसमें और दर्शनोपयोगमें क्या अन्तर रहजाता है?

(२) बिलकुल निर्विकल्प अवग्रहके बहु, बहुविध आदि बारह भेद कैसे होसकते हैं? और जब अवग्रहका काल सिर्फ एक समयका है, तब उसमें क्षिप्र, अक्षिप्र भेद कैसे आसकते हैं?

यहाँ भाष्यकारने अर्थावग्रहके दो भेद किये हैं एक नैश्चयिक, दूसरा व्यावहारिक। उनका कहना है कि 'जो एक समयवर्ती नैश्चयिक अवग्रह है उसमें बहु आदि बारह भेद नहीं होसकते किन्तु व्यावहारिक अवग्रहमें होसकते हैं।' परन्तु भाष्यकारकी यह युक्ति बहुत कमजोर है व्यावहारिक अवग्रह तो वास्तवमें अपाय नामका तीसरा ज्ञान है, इसलिये वास्तवमें व्यावहारिक अवग्रहके बारह भेद अपायके बारह भेद हुए। वास्तवमें अवग्रह तो भेदरहित ही रहा इतनाही नहीं, किन्तु जब उसमें इतनाभी विशेष भान नहीं होता कि यह रूप या रस है, तब इन्द्रियोंके भेदसे उसके छः भेदभी नहीं बनसकते हैं। इसलिये वर्तमानमें दर्शनोपयोग जिस स्थान पर है उस स्थान पर अर्थावग्रह आजायगा। तब इसके पहिले दर्शनोपयोगकी मान्यता न रहसकेगी।

इसके अतिरिक्त व्यञ्जनावग्रहका भी एक प्रश्न है कि व्यञ्जनावग्रहका स्थान क्या होगा?

अवग्रहके दो भाग हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। अर्थावग्रहके पहिले व्यञ्जनावग्रह मानाजाता है। इसमें पदार्थका अव्यक्तग्रहण होता है। परन्तु जैनाचार्योंमें इस विषयमें भी बहुत मतभेद है। यह बात सर्वमान्य है कि व्यञ्जनावग्रह अर्थावग्रहके पहिले होता है और सिर्फ चारही इन्द्रियोंसे होता है। सर्वार्थसिद्धिकारने एक उदाहरणमें इस बात को इस तरह स्पष्ट किया है—

जैसे किसी मिट्टीके नये बर्तनपर पानीकी एक बूँद डालो तो वह तुरंत सूखजाती है, परन्तु एकके बाद दूसरी बूँद डालनेपर धीरेधीरे बर्तन गीला होने लगता है। इसी प्रकार शब्दादिकभी इंद्रियोंसे प्रारम्भमें व्यक्त नहीं होते परन्तु धीरेधीरे व्यक्त होते हैं। व्यक्त होना अर्थावग्रह है और अव्यक्त रहना व्यञ्जनावग्रह* है।

* उग्गहे इक्कसमइए, अन्तो मुहुत्तिआ ईहा अंतोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। नन्दी-सूत्र ३४।

§ अव्वत्तमणिद्देसं सामण्णं कप्पणारहियं। २६२। वि०भा०

* यथा जलकण द्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवोमार्द्रीभवति स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते. एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति पुनः पुनरवग्रहे सतिव्यक्तीभवन्ति। सर्वार्थसिद्धि १-१८। राजवार्तिकमें भी ऐसाही कथन है।

विशेषावश्यकमें इस वक्तव्यके खण्डनमें कहा गया है कि 'सर्वविषयी और सर्वविषय व्यक्ताव्यक्त होते हैं, इसलिये किसीको व्यक्त कहना या किसीको अव्यक्त कहना ठीक नहीं। साथही नन्दीसूत्रके अनुसार चक्षु और मनसे भी अव्यक्तग्रहण हो सकता है * इसलिये व्यञ्जनावग्रह छः इन्द्रियोंसे मानना पड़ेगा; परन्तु यह आगमके विरुद्ध है।

विशेषावश्यक टीकाका यह वक्तव्य अनुभव और युक्तिके विरुद्ध मालूम होता है। सर्वार्थसिद्धि के वक्तव्यका समर्थन नन्दीसूत्रके वक्तव्यसे भी होता है। वहां पर 'सोतेहुए मनुष्यको बारबार जगाने' में व्यञ्जनावग्रह बतलाया है और सर्वार्थसिद्धिकी तरह मिट्टीके बर्तनका भी उदाहरण † दिया है। नन्दीसूत्रका वक्तव्य इतना स्पष्ट है कि भाष्यकारने जो नन्दीसूत्रके अर्थ बदलनेकी चेष्टा की है वह व्यर्थही गई है। नन्दीसूत्रमें * यह बात स्पष्ट है कि व्यञ्जनावग्रहमें अव्यक्त रसका ग्रहण होता है जब कि अर्थावग्रहमें रसका ग्रहण होता है।

वर्तमान मान्यताओंके अनुसार व्यञ्जनावग्रह का लक्षण ऊपर दिया है। विशेषावश्यकमें उसका समन्वय नहीं होता इसलिये व्यञ्जनावग्रहका स्वरूप भी दूसराही है। वे कहते ‡ हैं —

"जिस प्रकार दीपकसे घड़ा प्रगट होता है उसी प्रकार जिसके द्वारा अर्थ प्रगट हो उसे व्यञ्जन कहते हैं। उपकरण इन्द्रिय और शब्दादि परिणत पुद्गलोंका सम्बन्ध व्यञ्जन है। इन्द्रिय, अर्थ और इन्द्रियार्थसंयोग तीनोंही व्यञ्जन कहलाते हैं। इनका ग्रहण करना व्यञ्जनावग्रह है। यद्यपि व्यञ्जनावग्रह में ज्ञानका अनुभव नहीं होता परन्तु तोभी वह ज्ञान का कारण होनेसे ज्ञान कहलाता है। उस समय ज्ञान बहुत थोड़ा है इसलिये वह अव्यक्त है, बहिरोंकी तरह अज्ञान नहीं है।"

व्यञ्जनावग्रहका इसी प्रकारका विवेचन जरा स्पष्टताके साथ सिद्धसेनगणीने तत्त्वार्थभाष्यकी टीकामें किया है। वे कहते हैं—

"जिस समय स्पर्शन आदि उपकरण इन्द्रियां

* नन्दीसूत्रमें व्यञ्जनावग्रहके चार भेदही माने हैं। शब्दके व्यञ्जनावग्रहका निरूपण करते समय अव्यक्त शब्द ग्रहण को व्यञ्जनावग्रह कहा है। परन्तु आश्चर्य है कि उसने रूप का भी अव्यक्तग्रहण बतलाया है, जब कि नेत्रोंसे व्यञ्जनावग्रह नहीं माना जाता। 'से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा तेण रूवत्ति उग्गहिए ··· आदि।

† पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहानामए केई पुरिसं कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुगा अमुग त्ति, तत्थ चोअगे पन्नवगं एवं वयासी —किं एगसमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति दुसमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति संखिज्ज समय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति असंखिज्जसमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति। एवं वदंतं चोअगं पण्णवए एवं वयासी नो एगसमय पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति ··· असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति। मल्लगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेक्कं उदगबिंदु पक्खेविज्जा से नट्ठे अण्णेवि पक्खित्ते सेवि नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदग बिंदू जेणं तं मल्लगं रावेहि इत्ति, होही जे ··· ठाहिति, ··· भरिहिति ···पवाहेहिति एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरिअं होइ ताहे 'हुं' ति करेइ। नन्दीसूत्र ३५।

* से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसत्ति उग्गहिए। ३५। नन्दीसूत्रके टीकाकार मलयगिरि ने विशेषावश्यक का अनुकरण करके नन्दीसूत्र के अर्थ बदलनेकी चेष्टा की है, परन्तु वह अनुचित है।

‡ वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तं च। उवगरणिंदियसद्दाइपरिणयद्दव्वसम्बन्धो। १९४। अण्णाणं सो बहिराइणंव तक्कालमणुवलम्भाओ। न, स इंते तत्तं चिय उवलंभाओ तओ नाणं। १९५। तक्कालम्मिवि तत्थत्थि तणुं ति तो तमव्वत्तं। बहिराईणं पुण सो अन्नाणं तदुभयाभावा। १९६।

का स्पर्शादि आकार परिणत पुद्गलोंके साथ संबंध होता है और 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता किन्तु सोतेहुए या उन्मत्त पुरुषकी तरह पुरुष सूक्ष्म ज्ञानवाला होता है, उस समय स्पर्शन आदि इन्द्रिय शक्तियोंसे मिलेहुए पुद्गलोंसे जितनी विज्ञानशक्ति प्रगट होती है वह–व्यञ्जन (पुद्गलराशि) का ग्राहक व्यञ्जनावग्रह* कहलाता है।

व्यञ्जनावग्रहका यह विवेचन सत्यके समीप पहुँच जाने परभी अस्पष्ट है इन्द्रिय, अर्थ और संयोग ये तीनोंही व्यञ्जन† कहे गये हैं परन्तु व्यञ्जनावग्रहमें इन्द्रियग्रहण कैसे होसकता है ? अर्थावग्रहमें भी विशेष अर्थका ग्रहण नहीं होता तब व्यञ्जनावग्रहमें अर्थ ग्रहण कैसे आ जायगा ? और संयोगका ज्ञान तो संयोगियोंके ज्ञानके विना हो नहीं सकता, इसलिये यहाँ संयोगका ग्रहण कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि व्यञ्जनका अर्थ अव्यक्त है तब प्रश्न यह होता है कि व्यञ्जनका अर्थ अव्यक्त क्यों हुआ ? व्यञ्जन का अर्थ तो 'प्रगट होना' या 'प्रगट होनेका साधन' है सर्वार्थसिद्धि§ आदिमें भी व्यञ्जनका अर्थ अव्यक्त किया है इसलिये वहभी शंकास्पद है। इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रश्न है कि वह अव्यक्तता किसकी और कैसी ? विशेषावश्यकके मतानुसार तो अर्थावग्रहमें इतना विषयभी नहीं होता कि यह रूप है या शब्द, तब अर्थावग्रह भी अव्यक्त कहलाया। ऐसी हालतमें व्यञ्जनावग्रहकी अव्यक्तताका क्या रूप होगा ? अथवा क्या केवल सामान्य, किसी प्रत्यक्ष का विषय होसकता* है ? हमको इतना भी न मालूम हो कि यह कानका विषय है या नाकका, फिर भी ज्ञान हो यह कैसे सम्भव है ? मतलब यह कि अर्थावग्रहको सामान्य मात्र ग्राही माननेसे व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप कुछ समझमें नहीं आता और अर्थावग्रह भी ज्ञानरूप नहीं रहता और न इन दोनोंके अनेक भेद बन सकते हैं।

मतलब यह है कि नन्दीसूत्र और सर्वार्थसिद्धि आदिमें जो मिट्टीके घड़ेका दृष्टान्त देकर व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप कहा है, वह ठीक है, परन्तु उसके कारण का उल्लेख नहीं हुआ। विशेषावश्यक में कारणका उल्लेख कुछ ठीक करके भी स्वरूप बिगड़ गया है। इसके अतिरिक्त कारणके विवेचनमें भी शंकाएँ हैं। वास्तवमें व्यञ्जनावग्रहकी गुत्थी ज्यों ज्यों सुलझाई जाती है, त्यों त्यों उलझती जाती है। इस विषयमें एक प्रश्नमालाखड़ीकी जाय इसकी अपेक्षा पहिले कुछ बातोंका निर्णय करलेना अच्छा है। पहिले उपकरणेन्द्रियका स्वरूप कहा जाता है।

"इन्द्रियोंके दो भेद हैं, भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। भावेन्द्रिय तो कर्मका क्षयोपशम और आत्मा का परिणाम है। द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं–निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है और इन्द्रियाकार पुद्गल परमाणुओंकी रचना बाह्य-निर्वृत्ति है। निर्वृत्तिका जो उपकार करे वह उपकरण है। जैसे आँखमें दालके बराबर जो छोटा गटा है उसके चारों तरफ़ जो काला गटा और सफ़ेद गटा है वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार

* यदापकरणेन्द्रियस्य स्पर्शनादेः पुद्गलैः स्पर्शाद्याकार परिणतैः सम्बन्ध उपजातो भवति न च किमप्येतदिति वृहणाति किन्त्वव्यक्तविज्ञानोऽसौ सुप्तमत्तादि सूक्ष्मावबोधसहित पुरुषवत् इति तदा तैः पुद्गलैः स्पर्शनाद्युपकरणेन्द्रियसंश्लिष्टस्पर्शाद्याकार परिणतपुद्गलराशेर्व्यञ्जनाख्यस्य ग्राहिकाऽवग्रह इतिभण्यते। १-१८।

† व्यञ्जनशब्देनोपकरणेन्द्रियं शब्दादि परिणतं वा द्रव्यं तयोःसम्बन्धो वा गृह्यते। नन्दी टीका (मलयगिरि) ३५।

§ व्यञ्जनं अव्यक्तं। सर्वार्थसिद्धि १-१८। त० राजवार्तिक ११८।

* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।

अन्य इन्द्रियोंमें भी समझना चाहिये"। यह सर्वार्थसिद्धिका * कथन है जो कि दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वमान्य है।

"अंगोपांग नामकर्मसे बनाये हुए इन्द्रियद्वार, कर्म-विशेषसे संस्कृत शरीर प्रदेश, निर्वृत्ति है और उसका अनुपघात या अनुग्रह करनेवाले उपकारी † हैं।"

उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ भाष्यका यह वक्तव्य सर्वार्थसिद्धिके अनुकूल है परन्तु भाष्यके टीकाकार सिद्धसेनगणीने जो इनका अर्थ किया है वह सर्वार्थसिद्धिके विरुद्ध है। सर्वार्थसिद्धिकार जिसे बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं उसे ये आभ्यंतर निर्वृत्ति ‡ कहते हैं और सर्वार्थसिद्धिकार जिसे बाह्योपकरण कहते हैं उसे भाष्य टीकाकार बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं और स्पर्शन इन्द्रियमें बाह्य आभ्यन्तरका प्रायः निषेध करते हैं। उपकरणके विषयमें उनका कहना है कि "निर्वृत्ति में जो ग्रहण करनेकी शक्ति है वह उपकरण है। निर्वृत्ति और उपकरणका क्षेत्र एकही है। आगममें उपकरणके बाह्य आभ्यन्तर भेद नहीं किये गये हैं यह किसी आचार्यकाही सम्प्रदाय मालूम होता है निर्वृत्तिको इसलिये पहिले कहाकि पहिले निर्वृत्ति होती है; पीछे उपकरण होता है जैसे पहिले शस्त्र होता है पीछे शक्ति आती है"।

इन दोनों मतोंमें सर्वार्थसिद्धिका मतही ठीक मालूम होता है। क्योंकि निर्वृत्ति और उपकरण दोनोंही द्रव्येन्द्रिय हैं इसलिये इनको शक्तिरूप कहना उचित नहीं। अगर उपकरणको शक्तिरूप कहा जाता है तो लब्धिरूप भावेन्द्रियको क्या कहा जायगा? दूसरी बात यह है कि उपकरण शब्दका जैसा अर्थ है उसके अनुसार किसी वस्तुकी शक्तिको उपकरण कहना उचित नहीं मालूम होता। तीसरी बात यह है कि पहिले उपकरण और अर्थके संयोगको उपकरण कहा गया है। अगर उपकरण कोई शक्ति है तो उसके साथ किसी अर्थका संयोग नहीं हो सकता। संयोग किसी द्रव्यके साथ कहा जा सकता है, न कि शक्तिके साथ। अगर कहाभी जाय तो जिसकी वह शक्ति है उसके साथही संयोग कहा जायगा, न कि शक्तिके साथ। ऐसी हालतमें व्यञ्जन

---

* उत्सेधांगुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत चक्षुरादीन्द्रिय संस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरं वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रिय व्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेष पुद्गलप्रचयः सा बाह्यानिर्वृत्तिः। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यंतरं कृष्णशुक्लमण्डलम्। बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि।—सर्वार्थसिद्धि २—१७।

† निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि, कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः निर्माणनामाङ्गोपाङ्ग प्रत्ययामूलगुण निर्वर्तनेत्यर्थः। उपकरण बाह्यमाभ्यंतरं च निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति। उ० तत्त्वार्थभाष्य—२—१७।

‡ शष्कुल्यादिरूपा बहिरुपलभ्यमानाकारा निर्वृत्तिरेका, अपरा तु अभ्यन्तरनिर्वृत्तिः, ... कार्येन्द्रियसंख्येयभेदत्वात् ... निर्वृत्तिः कश्चित्प्रायः। ... बाह्या पुनर्निर्वृत्तिरनेकाकार ... यथा मनुष्यस्य श्रोत्रभ्रूसमं नेत्रयोरुभय पार्श्वतः, अश्वस्य मस्तके नेत्रयोरुपरिष्टात् ... इत्यादि भेदाद्बहुविधाकाराः।

* तथाऽन्याविषयग्रहणशक्त्युपघाते खड्गस्येव धारा छेदनसमर्था तच्छक्तिरूपमिन्द्रियान्तर निर्वृत्तौ सत्यपि ... पघातैर्विषयं न गृह्णाति तस्मान्निर्वृत्तेः श्रवणादिसंज्ञके द्रव्येन्द्रिये तद्भावात्मनोऽनुपघातानुग्रहाभ्यां यदुपकारि तदुपकरणेन्द्रियं भवति, तच्च बाहिर्वर्ति अन्तर्वर्ति च निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियापेक्षयाऽस्यापि द्वैविध्यभावेयते। यत्र निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियं तत्रोपकरणेन्द्रियमपि न भिन्नदेशवर्ति तस्येति कथयति तस्याः स्वविषयग्रहणशक्तेर्निर्वृत्तिसमव्यवर्तितो ...।

·· आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणोऽन्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदायः। एवमेतदुभयं द्रव्येन्द्रियमभिधीयते तद्भावेऽप्यग्रहणात्—उपकरणस्यापि निमित्तत्वात्। निर्वृत्तेरादौ अभिधा ... प्रतिपादनार्थं तदभावेऽनुपकरण सद्भावात् शस्त्र शक्तिवत्।

का लक्षण करते समय उपकरण और अर्थका संयोग कहनेकी अपेक्षा निर्वृत्ति और अर्थका संयोग कहना उचित होगा। इसलिये सर्वार्थसिद्धिमें कही गई उपकरणकी परिभाषा ठीक मानना पड़ती है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

गर्भवती विधवा।

उस दिन बम्बईमें एक ब्राह्मण विधवाकी मौत हो गई, और उसकी लाश जलानेके लिये सोनापुर (बम्बईका स्मशान) लेजायी गई। जलानेकी तैयारी हो ही रही थी कि पुलिसने आकर लाशको कब्जे कर लिया, और जलानेके बदले जाँचके लिये भेज दिया।

बात यह थी कि यह विधवा गर्भवती थी। इसमें गर्भपात कराया गया था। किसी सम्बन्धीने यह खबर पुलिस को दी और पुलिसने लाश जब्त की। मामला अभी चलरहा है, किन्तु अभी यह पता नहीं लगा है कि मौत किस तरह हुई। किन्तु इस बातकी पूरी सम्भावनाकी जाती है कि उसकी मौतमें कुछ रहस्य अवश्य है। कुलकी प्रतिष्ठाको बचानेके लिये या तो उसका बलिदान किया गया है या उसने बलिदान दिया है। जो कुछ हो, परन्तु अहिंसाके मूर्तिमान अवतार इन उच्चवर्णी हिन्दुओं मे कुलप्रतिष्ठाकी वेदीपर बड़ी नृशंसतासे ऐसे बलिदान होते रहते हैं, परन्तु इन घोर पापोंसे इनका धर्म जरा भी नहीं डूबता, जब कि विधवाविवाहके नाम मात्रसे क्षणभर भी न ठहर कर तुरन्तही डूब जाता है। परन्तु जो धर्म अबलाओंके खूनसे इस तरह अपनेको तर कर रहा है, उस हत्यारे धर्मको अगर डूबना है तो क्यों नहीं जल्दी डूब जाता? ऐसे धर्म को डुबा देना ही सच्चा धर्म है।

जातिव्यवस्थाकी वेदी पर।

पायधुनी (मुंबई) की मुहम्मद बिल्डिंगमें एक खोजा कुटुम्ब रहता है, उसमें पच्चीस वर्षकी एक कुमारी मरगई; और कब्रस्तानमें दफ़ना दी गई। परन्तु दूसरे दिन उसी मकानके पास गटरमें एक नवजात शिशुकी लाश मिली। बस! इस घटनाने सब भन्डाफोड़ कर दिया। पुलिसने क़ब्रस्तानमें जाकर लाशको उखाड़ा, उसकी जाँच हुई। मालूम हुआ कि लड़कीके गर्भ रहगया था, इससे मा बापको बड़ी चिन्ता थी। जब बच्चा पैदा हुआ कि कुल-कलंकसे बचनेके लिये लड़कीकी माने उस नवजात शिशुको खिड़कीमें से फेंक दिया और किसी तरह यह लड़की भी मर जाय इस विचारसे प्रसवके बाद उसकी बिलकुल सम्हाल नहीं की। खून बहता रहा, हवा लगती रही और इस तरह वह मरगई। अब लड़कीके मा बाप पर मुक़द्दमा चल रहा है।

खोजा लोग पुराने हिन्दू हैं और मुसलमान हो जाने पर भी इनने अपनी जाति बना रक्खी है। सम्भवतः जातिके इस संकुचित क्षेत्रने लड़कीके लिये योग्य वर प्राप्त न करने दिया, और वह पच्चीस वर्ष की उमर तक अविवाहित रही। परन्तु उसका एक युवकसे प्रेम होगया। दुर्भाग्यसे वह खोजा न था (किन्तु मुम्बईमें फैली हुई किंवदन्तीके अनुसार सम्भवतः कोई पारसी था)। उसके सम्बन्धसे गर्भ रह गया। यहां तक समस्या ऐसी न थी कि हल न हो सके। जिस युवकके साथ उसका प्रेम हो गया था उसके साथ उसकी शादी कर देनी थी। पुराने ज़माने में भारतमें भी ऐसा होता रहा है। मोक्षगामी पांडवों और धनुर्धर कर्णकी माता कुन्ती भी विवाहके पहिले इसी प्रकार प्रेममें फँस गई थी। परन्तु इसके लिये उसे अपनी जान न खोना पड़ी। वह भारतविख्यात ऐतिहासिक राजमाता बनी। परन्तु हायरे! जाति-

पाँतिके पाप ! तूने ऐसा न करने दिया । तूने ही उसे पचीस वर्ष तक अविवाहित रक्खा और तूने ही उसका और उसके शिशुका बलिदान लिया । तूनेही माँ बापको अपनी संतानका—अपने जिगरके टुकड़े का—खून बहानेको लाचार किया । और अब तो माँ बापपर भी खूनका मुकद्दमा चल रहा है । इस प्रकार उस वंशका पूरा नाश ही समझना चाहिये । जातिपाँतिका पाप कितना बड़ा पाप है और कितने बड़े पापोंको पैदा करने वाला है, इसका यह ताजा उदाहरण है । जैनधर्मके अनुसार यह मिथ्यात्व है, पाँच पापोंसे भी बड़ा पाप है, इसलिये उसका फल इतना भयंकर हो, इसमें क्या आश्चर्य है !

सनातनीका बेटा।

मुम्बईके एक लक्षाधिपति सनातनीका पुत्र इंजीनियरीका विशेष अभ्यास करनेके लिये विलायत गया । मैंचेस्टरके पास उसका एक सुन्दरी कुमारीसे परिचय हुआ । परिचय प्रेममें और प्रेम विवाहमें परिणत होगया । सनातनी बापने जब अपने सनातन धर्मकी इस प्रकार प्रतिक्रिया देखी तो उसे बहुत क्रोध आया । उसने पुत्रको लिख दिया कि तुमको अब मुझसे एक भी पैसा नहीं मिल सकता । इससे विवाहित दम्पति आर्थिक कष्टमें पड़गये । अब अंग्रेज युवतिकी परीक्षाका समय आगया । उसने धनके लिये विवाह किया था या प्रेमके लिये, इसका निर्णय इस अवसरपर हो सकता था । युवति अभी तक पास हुई है । धनका प्रलोभन नष्ट हो जाने पर भी उसके प्रेममें कुछ फरक नहीं आया है । इतना ही नहीं, बल्कि उसने हिन्दूधर्म भी स्वीकार कर लिया है । उसने वहींके एक हिन्दू लेक्चररसे कहा है कि—"कुछ भी हो, मुझे इसकी पर्वाह नहीं है । मैं सुखी हूँ, और अपने पतिको सुखी करनेका प्रयास करती हूँ ।"

भारत और यूरोपकी संस्कृतिमें इतना अन्तर है कि इन दो जातियोंमें सफल विवाह जरा मुश्किल से होते हैं । परन्तु ऐसे विवाह हों और वे सफल हों, इस बातकी मनुष्यताकी विजयके लिये अत्यन्त आवश्यकता है । जब तक मनुष्यके भीतर जातीयता और राष्ट्रीयताकी संकुचितता और उसका दुरभिमान है, तब तक मनुष्यमें मनुष्यताकी पूर्त्ति नहीं हो सकती ।

भारतीय स्त्रियोंकी प्रगति ।

गत जुलाई मासमें चिकागो (अमेरिका) में विश्वभरकी स्त्रियोंकी कांग्रेस हुई थी । इस स्त्री-कांग्रेसमें भारतीय प्रतिनिधिकी हैसियतसे श्रीमती मुदुलक्ष्मी रेड्डीने यहाँकी स्त्रीप्रगतिके विषयमें एक विस्तृत भाषण दिया था। उसके कुछ भागका सारांश यहाँ दिया जाता है:—

"......पिछले दस वर्षमें स्त्रियोंने बड़े वेगसे उन्नति की है । पाश्चात्य स्त्रियोंको अपने अधिकारों के लिये खूब लड़ाई तक लड़ना पड़ी है और जेलमें भी जाना पड़ा है जब कि भारतीय स्त्रियोंको माँगने के साथही अधिकार मिलगये हैं। सन १९१७में श्रीमती एनाबीसेन्ट और श्रीमती सरोजनी नायडूने भारत मन्त्री मि० मांटेगुसे भेंटकर नये सुधारोंमें पुरुषोंके समान स्त्रियोंको अधिकार मिलनेकी माँग की थी । स्त्रियोंकी इस माँगका प्रांतिक महासभा, समितियाँ, परिषदों और मुस्लिम मण्डलों तकसे समर्थन हुआ था । फिरभी सरकारने स्त्रियोंको मताधिकार न दिया और भारतीय व्यवस्थापकसभाओं पर यह बात छोड़दी । परन्तु व्यवस्थापकसभाओंकी स्थापनाके बादही सभी प्रांतोंके भारतीय मेम्बरोंने स्त्रियोंको वे अधिकार देदिये । उसी समय त्रावणकोरकी धारासभामें स्त्रीमेम्बरकी नियुक्ति हुई थी, और उसे एक विभागका प्रधान बनाया गया था । मद्रास प्रान्तकी व्यवस्थापक सभामें स्त्री मेम्बरकी नियुक्ति हुई थी और उसे डिप्टीप्रमुखका पद दिया गया

था। जगत्के किसी देशने स्त्रियोंको ऐसा मान इतनी जल्दी नहीं दिया। दो स्त्रियाँ राष्ट्रीय महासभाके अध्यक्षपदको सुशोभित करचुकी हैं। एक स्त्री प्रान्तिकसभाकी सर्वानुमतसे प्रमुख चुनी जाचुकी है। मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास, आदिमें स्त्रियाँ आनरेरी मजिस्ट्रेट, म्युनिसिपल सभ्य, यूनिवर्सिटी की सिनेट और सिन्डिकेटकी सभ्य आदि पदोंपर काम करती हैं। जीवनके हरएक क्षेत्रमें स्त्रियोंका मार्ग खुला है और उसमें कुमारियोंकी अपेक्षा विवाहिताएँ अधिक पसंद कीजाती हैं। हमारे देशमें पुरुष, स्त्रियोंकी प्रगतिका विरोध नहीं करते, सार्वजनिक जीवनमें उनका स्वागत करते हैं। हमारे देश की स्त्रियोंने राष्ट्रीय युद्धमें पूरा भाग लिया है, और सैकड़ों स्त्रियोंने असह्य कष्ट सहे हैं, और जेल गई हैं। सरकारकी तरफ़से अवश्यही कुछ विघ्न हैं। महात्मा गाँधीजी स्त्रियोंकी समानताके हिमायती हैं इसलिये प्रत्येक जाति और धर्मकी स्त्रियाँ महात्माजीकी भक्त हैं। उन्हींकी आज्ञाके अनुसार हजारों स्त्रियाँ घरबार और बालकोंको छोड़कर क़ैदमें पड़ी हैं, लाठियोंकी मार सही है, पर्दा छोड़कर व्याख्यान देने आई हैं, खादीकी फेरी लगाई है, शराबकी दूकानोंपर पिकेटिंग किया है, अस्पृश्यता निवारणके काममें आगे आई है।"

इसके बाद इस महिलाने राष्ट्रीय आन्दोलन का, भारतके गौरवका तथा भारतकी अहिंसाप्रियता तथा विश्वमैत्रीका वर्णन करके जगत्का ध्यान भारत की तरफ़ खींचा है।

भारतके पुरुषोंकी उदारताकी गुणगाथा सुनकर मिस मेयोके देशकी स्त्रियाँ अवश्यही चकित हुई होंगी। उन्हें यहाँके सड़ातनपंथियोंका ध्यानभी न आया होगा, और गुलामोंकी क्षुद्र मनोवृत्तियों से भी क्षुद्र मनोवृत्तिवाली स्त्रियोंका भी ध्यान न आया होगा। स्त्रियोंके मार्गमें भारतमें पुरुषोंकी तरफ़से इतनी बाधाएँ उपस्थित नहीं की जाती हैं जितनी स्त्रियोंकी तरफ़से कीजाती हैं। इनेगिने सुधारकोंके कारण विदेशोंमें भारतकी गुणगाथा इस रूपमें गायी जासकती है। यदि हमारे सभी भाइयों को सामाजिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ होता तो भारत का स्त्रीसमाज विदेशी स्त्रीसमाजकी दृष्टिमें कितना सौभाग्यशाली न माना गया होता !

मुनि जयसागरजीकी वीरता।

पण्डित दलके कोषके अनुसार 'महात्मा', 'विश्ववन्द्य', 'कलिकालसर्वज्ञ' वही कहलाता है जो पंडित दलकी हाँमें हाँ मिलावे। इसीके अनुसार शान्तिसागर, मुनीन्द्रसागर वग़ैरह मुनिवेषी समाजमें खूब पुज चुके हैं, पुजरहे हैं। दुर्भाग्यसे जयसागरजीकी जैनगजट वालोंसे न बनी और उनने लहाणका विरोध किया। तबसे मुनि जयसागरजीकी जैन गजटमें खूब निन्दा होने लगी। और अब तक 'मुनिनिंदक' कहलानेका जो गौरव जैनजगत्को ही प्राप्त था, उसे छीननेकी जैनगजटने भी कोशिश की। ख़ैर !

सौभाग्य या दुर्भाग्यवश प्रकृतिने परीक्षाका दिन दिखाया। भड़ौंचमें मुनीन्द्रसागर पर सरकारी अंकुश लगा। बेचारा दस्तख़त वग़ैरह करके किसी तरह जान बचाकर गुजरातसे भागा। भ्रष्टाचारी रूपमें इसकी प्रसिद्धि तो थी ही। लोगोंने यह समझ कर संतोष किया कि यह तो भ्रष्टाचारी था ही, इसलिये भागा है।

अब शान्तिसागरजीकी बारी आई। दिल्लीमें इनपर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। परन्तु ये वीर तपस्वी कलिकालसर्वज्ञ(!) भी कायरतामें मुनीन्द्रसागर से कम न रहे। चुपचाप इनने सरकारी प्रतिबन्ध के आगे सिर झुकादिया और दिगम्बर सम्प्रदायकी नाक कटाई। पंडित दलका सर्वज्ञ इतना कायर है, इस बातसे पंडित दलकी भी नाक नीची हुई। परंतु

अपने बचावका अमोघ अस्त्र तो उसके पासमें ही था जो सदा काममें लाया जाता है। झूठ बोलनेकी कलामें पंडितदल कितना होशियार है, यह तो नहीं कहा जासकता: परन्तु यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि श्वासोच्छ्वासके समान झूठ बोलना उसके जीवनके लिये आवश्यक है। खैर साहिब, दिल्लीके प्रतिबन्धकी बात छिपायी गई। टाइम्स आदि अंग्रेजी पत्रोंको झूठा कहागया, परन्तु अन्तमें बात छिप न सकी। पंडित दलके मुखियोंको भी कहना पड़ा कि दिल्लीमें शान्तिसागरके विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाया गया है। इससे यह बात अच्छी तरह साबित होगई कि शान्तिसागरने कायरताका परिचय दिया है और समाजके गौरवका तथा अपने घोर तपस्वीपनके विरदका बलि चढ़ाकर किसी तरह अपनी जान बचाई है। इन घटनाओंने पंडित पार्टी के सफ़ेदोंका अच्छी तरह भण्डाफोड़ करदिया है।

तीसरा प्रतिबन्ध मुनि जयसागरजीके ऊपर निज़ाम हैदराबादमें लगाया गया। पंडित पार्टीको जयसागरजीसे चिढ़ थी ही। उनको वह सुधारक कह चुकी थी और भरपूर निंदा करचुकी थी, इसलिये वह जयसागरजीका पक्ष क्यों लेने लगी? उसे तो यह चिन्ता थी कि कहीं जयसागरजीने बाज़ी मार ली तो शान्तिसागरजी आदिकी रहीसही भी पूँछ जायगी। बस, जैन गज़टने फर्मान निकाला कि जयसागरजीको हैदराबादसे बीच चौमासेमें ही कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिये। मुनिधर्मकी रक्षाका दम्भ करने वालोंका यह घोर अधःपतन था। इस फर्मान के लिये समाजने चारों तरफसे धिक्कारकी वर्षा की। सुना है कि ऐसाही संदेश शान्तिसागरजीने भी भेजा था। अगर इस बातमें थोड़ा भी सत्य है तो शान्तिसागरजीके लिये यह बड़े शर्मकी बात है। अपनी कायरताको छुपानेके लिये और दूसरोंको आगे न बढ़ने देनेके लिये यह बहुत नीच चेष्टा है। खैर!

उधर मुनि जयसागरजी किसीकी पर्वाह न करते हुए जान पर खेलगये। उनने तब तकके लिये उपवास ठान लिये जबतक यह प्रतिबन्ध दूर न होजाय। जयसागरजीको ग्यारह उपवास करना पड़े। अन्तमें जयसागरजीकी विजय हुई।

हैदराबादसे श्री प्रेमका ता० २१का समाचार है कि—"जैन मुनिश्री जयसागरजी महाराजके सामने लगाया गया अंकुश निज़ामकी सरकारने बिना किसी शर्तके खींचलिया है। इस निर्णयको राजा सर किशनप्रसाद बहादुरकी तरफसे सम्मति मिली है। मुनि महाराज बेगम बाज़ारके मन्दिरके दर्शनके लिये रवाना होचुके हैं।"

मुनि जयसागरजीने अपने बलिदानसे जैनसमाजका मुख उज्ज्वल किया है और सिद्ध किया है कि पंडितोंके गीत गानेसे जनेऊ और शूद्रजलत्याग का प्रचार करके मनुष्यताकी हत्या करनेसे, कोई विश्ववंद्य या महात्मा नहीं बनता। आधुनिक युगमें तो ऐसा आदर्श धर्मका, समाजका, और राष्ट्रका घोर शत्रु है। सच्चा महात्मा बननेके लिये विश्वप्रेमकी, उदारताकी और जानपर खेलनेकी ज़रूरत है।

महिलाओंकी माँग।

लन्दनमें २९ जुलाईको संयुक्त सिलेक्ट कमेटी की 'सी' उपसमितिके सामने अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन और भारतीय महिला-संघकी ओर से राजकुमारी अमृत कुवर और श्रीमती हमीदअली ने माँगें पेश की कि स्त्रियोंको पुरुषोंके समानही अधिकार होना चाहिये।

२१ वर्षकी अवस्थासे अधिक शिक्षित स्त्रियों तथा पुरुषोंको वोट देनेका अधिकार होना चाहिये। साम्प्रदायिक निर्वाचनपद्धति देशकी उन्नतिके लिये बहुत घातक है। भारतकी सब स्त्रियाँ संयुक्त-निर्वाचनके पक्षमें हैं। वे प्रधान मन्त्रीके साम्प्रदा-

ब्रह्मचर्य, व्यभिचार और विवाह-संस्था।

नग्न सत्य।

(लेखक—श्रीयुत हेमचन्द्रजी मोदी बम्बई।)

'जैनजगत्' में एक लेख लिखा था। ब्रह्मचर्य और व्यभिचार—नग्न सत्य।

उक्त लेखको पढ़कर मित्रोंने जुदी जुदी परस्पर भिन्न सम्मतियाँ दीं। हरएक की सम्मति दूसरेसे जुदी थी। उनकी विभिन्न सम्मतियोंमें उनके दिलका रहस्य था। "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी" का करिश्मा था। सत्यको जो जिस दृष्टिसे देखे उसे वह वैसा ही दीखता है। सत्य है ही अनेकान्तरूप। मित्रोंकी मतविभिन्नताको ही मैंने अपनी सत्यताकी कसौटीरूप समझा। इस कसौटी परही मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में वह लेख सत्यके कितने अधिक निकट था।

सभ्यताके शापसे लोग नग्नतासे घृणा करने लगे हैं—उसे देख आँखें भी सिकोड़ते हैं। कुर्सी और टेबले तक अब लोगोंको नंगी बुरी लगने लगी हैं, तो फिर सत्य यदि नग्न बुरा लगे तो आश्चर्य क्या है? माया—झूठके घूँघटमें ढके हुए पर्दानशीन सत्यको—कथा, कहानियों, पुराणोंको सभी पसंद करते हैं और मनहीमन कल्पनाके मिथ्यासागरमें रसके घूँट पी पीकर सुनते और पढ़ते हैं; परन्तु बेपर्दे, शुद्ध, पारमार्थिक, नग्न सत्यके उपासक, सच्चे आशिक—पति अपनी माशूकको—सत्यको, नग्न किये बगैर, पुराणोंको फाड़ सिद्धान्त-ग्रंथोंका अध्ययन किये बगैर, नहीं मानते।

खैर: कुछ मित्रोंने मुँह बिगाड़ कहा—"छि:—लेख बहुत गन्दा है, कुरुचिवर्धक है, बुरे विचार लानेवाला है। सत्य है तो क्या हुआ? फाड़ फेंकने लायक है। जैनजगत् में ऐसा लेख क्यों निकाला गया?"

समझता था कि जैन लोग नग्नताके उपासक हैं। वे अवश्य इस नग्न सत्यको दाद देंगे। यह आशा कुछ सफल अवश्य हुई और जैनजगतके संपादकजीने उस लेखको दाद दी। हाँ, वह लेख कुछ अधूरा रह गया था जिसके लिये उन्हें संकेत करना पड़ा। अब इस लेखमें उसकी पूर्ति करदी गई है।

आम तौरसे लोगोंका खयाल है कि विवाह करना ब्रह्मचर्यका—जिसे कि वे गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य कहते हैं—सहायक है। परन्तु यह मान्यता बिलकुल गलत है। ब्रह्मचर्यमें और विवाहमें परस्पर कोई सम्बंध नहीं है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का जन्म जिस भावना, जिस आदर्शको लेकर हुआ उस भावना और उस आदर्शकी विवाहमें गंधमात्र भी नहीं है।

पाठकोंके जीमें हमारी बात तब तक न बैठेगी जब तक कि वे ठीक ठीक यह न समझ लेंगे कि वास्तवमें ब्रह्मचर्य क्या है? व्यभिचार है? और मानवसमाजमें विवाह के मूलमें कौनसी मनोवृत्ति काम करती है? इसलिये पहले हम इन विषयोंके सम्बन्धमें जानने योग्य बातें कहते हैं।

'ब्रह्मचर्य' शब्द समास है जिसमें दो शब्द हैं—'ब्रह्म' और 'चर्य'। 'ब्रह्म' का अर्थ होता है बृंहण, प्रसरण,

---

यिक निर्णयको पसंद नहीं करती; क्योंकि इससे महिला-समाजमें भी साम्प्रदायिताका विष फैल जानेकी आशंका है।

महिला-समिति और महिला-संघकी ओरसे श्रीमती पी० के० सेन और श्रीमती एल० मुकर्जीकी गवाहियां हुईं। उन्होंनेभी उपरोक्त माँगें पेश कीं।

दुर्भाग्यसे इस समय भारतमें साम्प्रदायिकता की संकुचित भावनाका इतना प्रबल वेग आरहा है जिससे भारत तबाह होरहा है। साम्प्रदायिकअभिमान और अविश्वाससे कलह और ईर्षाका राज्य होगया है। इस अवसर पर भारतकी महिलाओं की यह सम्मिलित आवाज़ बहुत आशाजनक है। राजनैतिक स्वार्थके कारण कोई इस आवाज़का मूल्य करे या न करे, परन्तु एक दिन यह आवाज़ भारतमें सुदिन दिखायगी। भारतके आधे अंगकी आवाज़की बहुत दिन उपेक्षा नहीं की जासकती।

विकास, या उन्नतिशील आत्मा। कहा भी है—'बृहत्वाद् बृंहणत्वाद्रात्मैव ब्रह्मेति गीयते'। 'चर्य' का अर्थ होता है आचरण या क्रिया। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—शक्तियाँ ही आत्माके लक्षण हैं। वास्तवमें इन शक्तियोंसे भिन्न आत्मा कोई वस्तु नहीं है। इन शक्तियोंका आचरण करना अथवा ऐसा आचरण करना, जिससे कि ये शक्तियाँ प्राप्त हों और दिनोंदिन बढ़ती जायँ, ब्रह्मचर्य कहाता है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है शक्ति-सम्पादन, शक्ति-संरक्षण और शक्तिका नियमन। शक्तिकी प्रेरणा मनुष्यकी अन्तरात्माकी आवाज़ है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं शक्तिशाली बनूं। इसी भावनाका नाम ब्रह्मचर्यकी भावना है। इसी साधनाका नाम ब्रह्मचर्य है और इसी सिद्धिका नाम मुक्ति है, मोक्ष है। अपने आपमें शक्तिका अनुभव करना, अपने अधिकारका अनुभव करना, अपनी सत्ताका अनुभव करना, यही सबसे बड़ा और एकमात्र सुख है। इस सुखकी पूर्ण-सिद्धि ही मुक्ति है, मोक्ष है।

बहुतसे लोग ब्रह्मचर्यका अर्थ त्याग समझते हैं, परन्तु वे भूलते हैं। ब्रह्मचर्यका त्याग प्रवृत्तिरूप है, निवृत्तिरूप नहीं है। वह भोगकी प्रतिक्रिया है। जिस प्रकार पेट भरने पर भोजनसे निवृत्ति होती है और उसके प्रति त्यागभाव होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारीकी निवृत्ति भी होती है। जिस प्रकार गेंद दीवालपर टक्कर खा फिर लौट पड़ती है, उसी प्रकार यह त्याग नैसर्गिक और भीतरसे स्फुरित होता है। भगवान् महावीर तथा अन्य तीर्थंकर जीवन्मुक्त होने के बादभी कैसी गहरी प्रवृत्तिमें फँसे रहे, इसका उनके धर्म-प्रचारसे ही अनुमान हो सकता है। अकलंक, समंतभद्र, सिद्धसेन आदि अपने समयके दिग्गज आचार्य कितनी घोर प्रवृत्तियोंमें फँसे रहे होंगे, यह उनके ग्रन्थोंसे अनुमान किया जा सकता है। यह देखकर हम कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्मचारी होनेका मतलब ओज-बल-हीन नपुंसक, आलू-बैंगनपर्यन्त निवृत्तिपरायण, हरामकी रोटी तोड़ने वाले साधुड़ा होना है।

किसीभी ऐंजिनके बॉयलरमें (वह पात्र जिसमें भाफ़ इकट्ठी होती है) यदि भाफ़ इकट्ठी की जायगी तो वह या तो उस बॉयलरको फाड़ डालेगी या कोई न कोई काम अवश्य करेगी। वह निकम्मी बनी बैठ न सकेगी। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यके द्वारा संग्रह की गई शक्ति चुपचाप प्रवृत्ति-हीन नहीं बैठ सकती। या तो वह मैथुनादि के द्वारा खर्च होगी और या अन्य आत्मोन्नतिकारक उपयोगोंमें लगाई जाकर काम देगी। ब्रह्मचर्य इसलिए उग्र प्रवृत्तिका मार्ग है, क्रियाशीलताका मार्ग है, कर्मण्यताका मार्ग है। सच्चा ब्रह्मचारी कभी निवृत्तिकी ओर प्रेम नहीं दिखायगा।

ब्रह्मचर्यसे विपरीत या उल्टा व्यभिचार कहाता है। व्यभिचारका अर्थ है निर्बलता, कमज़ोरी। जैसे जैसे विज्ञान उन्नति करता जाता है, वैसे वैसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि संसारमें यदि कोई पाप है तो वह निर्बलता ही है। निर्बलता ही व्यभिचार है, निर्बलता ही असत्यवाद है, निर्बलताही चोरी है। जननेन्द्रियकी निर्बलता—नपुंसकता के कारणही मनुष्य व्यभिचार करता है, मनकी, दिमागकी और दिलकी कमज़ोरीके कारण ही मनुष्य झूठ बोलता है, हत्या करता है, चोरी करता है और आध्यात्मिक निर्बलता के कारणही मनुष्य दुनियाँके सभी दुष्कर्म करता है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून (प्लेटो) का कहना है कि "दुर्जनता और दुर्बलता, पापीपन और कुरूपता एक दूसरेसे इतने अधिक निकट होते हैं कि देखनेसे डर लगता है।"

जिसे हम सांसारिक दृष्टिसे व्यभिचार कहते हैं, वह और कुछ नहीं है सिर्फ़ चोरी है। सबके सामने प्रकटरूप से मिठाई खानेमें और सबसे छिपकर डरकर मिठाई खाने में पाप सिर्फ़ छिपानेका है, न कि मिठाई खानेका। इसी प्रकार मैथुन प्रकटरूपसे संसारके जानते हुए करना और दुनियाँसे छिपकर डरकर करना, इन दोनोंमें पाप सिर्फ़ छिपकर करनेका है—क्योंकि मैथुनतो सभी गृहस्थ करते हैं; उसमें कोई पाप नहीं समझा जाता। फिरभी दुनियाँ क्यों एकको चोरी कह नाममात्रका दण्ड करती है और दूसरेको व्यभिचार कह पापके आसमान पर चढ़ा देती है? भूखा भिखमंगा आदमी यदि चोरी करता है तो वह दयाका पात्र समझा जाता है, परन्तु एक बाल-विधवा या कुमारी कन्या, अथवा वैसीही और कोई स्त्री यदि किसी अन्य पुरुषसे मैथुन कर लेती है तो बेचारीपर ग़ज़ब

की मार पड़ती है। उसके लिये सम्मानपूर्वक जीवित रहना मुश्किल होजाता है। यह घोर अन्याय नहीं तो क्या है? व्यभिचारकी यह व्याख्या अवश्यही गलत है और सदोष है। हम भूलसे चोरीको व्यभिचार समझ रहे हैं। जिसे हम व्यभिचार समझते हैं, वह व्यभिचार नहीं है; वह सिर्फ़ चोरी है।

तो फिर व्यवहारमें किसे व्यभिचार कहना? हम कह चुके हैं कि दुर्बलता, निस्तेजता, निर्वीर्यता ही वास्तवमें सबसे बड़ा पाप और व्यभिचारका कार्य और कारण दोनोंही है। व्यवहारमें हमें उन सब कार्योंकी व्यभिचारमें गिनती करना पड़ेगी जिनसे हमारी शक्तिकी, हमारे तेजकी और हमारे वीर्यकी वृथा हानि उठानी पड़ती है। चाहे स्वस्त्री हो, चाहे परस्त्री, जहाँ अनावश्यक तौरपर अपने शरीर, अपने मन, अपने तेज, अपनी आत्माकी बलि देकर मैथुन या और ऐसा ही कोई कर्म किया जायगा वह व्यभिचार होगा। इसमें बाल बराबरभी सन्देहको गुञ्जाइश नहीं है।

धर्म अन्तरात्माकी आवाज़ है। धर्म कहता है, मनुष्यकी अन्तरात्मा चिल्ला चिल्ला कर कहती है कि जब तक दुनियाँमें तुम्हारे जानते हुए एकभी आदमी या जानवर भूखों मर रहा है, तबतक तुम्हे मालपूए खाने और भरपेट भोजन करनेका कोई अधिकार नहीं है। जबतक दुनियाँमें एक आदमीभी वस्त्रोंके बगैर सर्दीमें ठिठुरता है तबतक तुम्हें वस्त्र पहिनकर मौज करनेका कोई अधिकार नहीं है। भगवान महावीर और उनके शिष्य नग्न इसलिए नहीं रहते थे कि उन्हें वस्त्र पहिननेको नहीं मिलते थे, या मोक्षके द्वारपर वस्त्रवालोंको घुसनेके लिए मनाई लिखी हुई है, परन्तु वे इसलिए नग्न रहते थे कि वे अपने सामने हज़ारों दरिद्रोंको बिना वस्त्र—नग्न—ठिठुरते देखते थे और उनकी अन्तरात्मा इतने आदमियोंको नग्न देखते हुए वस्त्र पहिनना स्वीकार नहीं करती थी। भगवान् महावीर भूखे रहकर उपवास आदि इसलिए नहीं करते थे कि उन्हें खानेको नहीं मिलताथा या भूखे मरनेसेही मोक्ष होता है परन्तु जिन हज़ारों आदमियोंको रोज़ खानेभरको भी नहीं मिलता उनका दुःख उनकी अन्तरात्मा को डंक मारता था। दान-धर्म इसीलिए है कि उसके द्वारा सम्पत्तिका कुछ रूपमें बटवारा होता है और भूखोंको भोजन तथा नंगोंको वस्त्र मिलता है। आजकल दुनियाँमें आर्थिक मन्दी होने का कारण यही है कि दान देनेकी प्राचीन-प्रथा उठ गई है और सपत्ति इनेगिने आदमियोंके पास इकट्ठी होकर रहगई है। वर्तमान सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षाके लिए या तो दानकी प्राचीन-प्रथा फिरसे शुरू करनी पड़ेगी या रूसके समान पूँजीवाद और पूँजीपतियोंका क़ानूनन नाश करना पड़ेगा।

जो बात नग्नता और उपवासके सम्बन्धमें सत्य है वही बात स्त्री-पुरुषोंकी वैषयिक ज़रूरतोंके सम्बन्धमें भी सत्य है। यदि एकभी स्त्री या पुरुष समाजमें ऐसा है जिसकी वैषयिक आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती और इस कारण वह दुःखी रहता है तो वह कभी भी समाजको शांतिसे न रहने देगा। जबतक एकभी ऐसा व्यक्ति मौजूद है जो मैथुनके लिये तरसता है, तब तक हम तुमको कोई अधिकार नहीं है कि भोगविलासका जीवन बितायें। हम लोगोंकी आदत होगई है कि जितना महत्त्व हम भोजन और वस्त्रको देते हैं उतना महत्त्व हम मैथुन को नहीं देते। यद्यपि यह सत्य है कि भोजन-वस्त्रके समान हमें मैथुनकी हरघड़ी आवश्यकता नहीं होती, फिरभी जितनी उग्रता और जितने विस्तारसे यह आवश्यकता अनुभूत होती है उतनी उग्रता और उतने विस्तारसे और कोईभी आवश्यकता अनुभूत नहीं होती है। इस कारण मैथुनका महत्त्व किसी प्रकारभी आहार और वस्त्रसे कम नहीं है, बल्कि अधिक ही है। जिस प्रकार बिना आहार और वस्त्रके मनुष्य स्वस्थ और जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना मैथुनकी आवश्यकता पूरी हुए मनुष्य आमतौरसे न स्वस्थही रह सकता है और न अधिक दिन जीवित रह सकता है। स्त्रियोंमें हिस्टीरिया (योषापस्मार), उन्माद तथा पुरुषोंमें मृगी, पागलपन आदिरोग ८० से ९० फी सैकड़ा तक मैथुनेच्छा पूरी न हो सकने या अधूरी पूरी होनेके कारण होते हैं। अधूरी इच्छा पूरी होना बिल-कुल न होनेकी अपेक्षाभी ख़राब है और बीमारियोंका घर है। मानवसमाजकी ५० से ६० प्रतिशत बीमारियोंका मूल कारण अतृप्त और अर्धतृप्त कामवासनाही है *। लोगोंमें

* Sexual excitement not brought to its natural climax, the reaction

जो आजकल अतिशय कामुकता फैल रही है और उसके कारण असंख्य रोग पैदा होरहे हैं इसकाभी प्रधान कारण अर्धतृप्त कामवासना ही है। ५० फीसदीसे अधिक पुरुष मैथुनके समय स्त्रीके पहलेही द्रवित हो जाते हैं।

इन बातोंपर विचार करनेसे यह ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगा कि मनुष्यकी कामवासनासे खिलवाड़ करना कितना भयंकर है। मनुष्यकी संपूर्ण सभ्यता और उन्नति इस कामवासनाकी नींवपर ही अवस्थित है। कामवासना के विद्रोहसे बढ़कर समाजकी संस्कृति और सभ्यताके लिए और कोई भयकी बात नहीं हो सकती ॐ।

बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देशके और समाजके बड़े बड़े पंच और मुखिया कहे जानेवाले व्यक्ति अबभी इस बातको नहीं समझते और मानवीय कामवासनासे खिलवाड़ करनेसे बाज नहीं आते। वे अभीतक मूर्खोंके स्वर्गमें विचरते हैं–यह नहीं समझते कि जबकि वे भोगविलासमें मस्त रहते हैं तब उनके घरकी विधवा लड़की या विधवा बहू क्या अनुभव करती होगी? वे अबभी समझते हैं कि विधवाश्रम या स्त्रियोंके पांजरापोल (पशुशालायें) खोलकर वे बड़ा परोपकारका काम करते हैं।

जिन्होंने इतिहास, अन्तर्दृष्टि पूर्वक पढ़ा है वे जानते है कि प्राचीन यूनान, रोम, तुर्क, ईरान आदि सभ्यताओंका पतन उन जातियोंमे कामवासनाके विद्रोह मचानेके कारणही हुआ था। भारतवर्षको भी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिके नष्ट होनेका कारण यही था। हमारे पिछले लेखमें दिये उद्धरणोंसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजकुलोंमे और आमजनतामें कितना अधिक व्यभिचारका प्रचार होगया था। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहलाने वाले क्षत्रियोंकी गद्दियों पर न जाने खुद राजाकी ही संतान बैठती थी या

---

leaves the woman in a very disagreeable condition.⋯⋯ may lead to general nervous disturbances causing hysteria, madness......fifty to sixty percent of the human ailments can be, directly or indirectly traced to this condition.———Dr. Kolischer, quoted by Dr. Havelock Ellis from American Journal of Obstetrics.
(Psychology of Sex Pp. 209 Vol III)

Women are specially liable to suffer from privations of sexual intercourse. Chlorosis, hysteria, nymphomania and simple mania are curable by intercourse.

Dr. Haller M. D.

General atrophy, anemia, neuralgia, and hysteria, irregular menstruation, leucorrhea, atrophy of sexual organs, frequency of Myoma are often due to lack of sufficient sexual intercourse.

Dr. Albert & *Playfair*
in System of Gynaecology
--Etiology of Diseases and
Female Genital Organs Pp. 141.

The structure of civilization, built largely upon sacrifices of sexul impulses for common good, is insecure, for the sexual impulses are with difficulty controlled; a rebellion of sexual impulses, may occur at any time against the diversion of their energy. Society can concieve of no more powerful menace to its culture than would arise from the liberation of the sexual impulses and a return of them to their *original goal*.—*Prof. Sigmand Freud* from "Introductory Lectures on Psycho Analyses" Pp. 17—18.

राजमहलोंमें नौकरी करनेवाली नीच-जातियोंकी। यही हाल भारतवर्षमें मौर्य, गुप्त, आंध्र, गुलाम, लोधी, तुग़लक, मुग़ल और मरहठा साम्राज्योंका भी हुआ।

हम अबभी सावधान नहीं हो रहे हैं। हमारी वर्तमान पतित-दशाका कारण हमारे समाजके भीतरकी सड़न है। पर्देके भीतर व्यभिचारका बाज़ार गरम होरहा है। हममें से क़रीब क़रीब प्रत्येक आदमी समझता है कि वाह! हमारे सरीखी सती साध्वी स्त्री किसीकी है ही नहीं, परन्तु क़रीब क़रीब प्रत्येक दूसरा व्यक्ति जानता है कि वास्तवमें वह कैसी है। सब जानते हैं कि फ़लानेके घरमें कैसा गोटाला है, परन्तु वह स्वयं बेहोशीकी नींद सो रहा है।

इस पतित अवस्थासे निकलने और फिरसे उन्नतिके शिखर पर पहुँचनेका बस एकही मार्ग है, और वह है—ब्रह्मचर्यका मार्ग, संयमका मार्ग। ब्रह्मचर्यका अर्थ है, कामवासनाको नियमित करना अर्थात् न तो उसे अधिक बढ़नेही देना और न उसे इतना दबानाही कि वह एक दमसे विद्रोह ही करदे। हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाने इस वासनाको एक तरफ़तो इतना अधिक दबा दिया गया है कि वह विद्रोह करनेपर उतारू होगई है; और दूसरी तरफ़ इतनी अधिक छूट दी गई है कि हम दिनपर दिन अधिकाधिक नपुंसक हुए जाते हैं। हमारी वर्तमान सामाजिक दुर्दशाका कारण इस वासनाका विद्रोह ही है। हम यदि चाहते हैं कि हम समाजमें सच्चे ब्रह्मचर्यका प्रचार करें तो हमारा कर्त्तव्य होगा कि कामवासनाके इस अप्राकृतिक नियंत्रणको कुछ ढीला करें, जनताको, दम लेनेका कुछ अवकाश देवें।

हम विवाह-संस्थाके विरोधी नहीं हैं, फिरभी हम यह कहना चाहते हैं कि जिस हालतमें वह मौजूद है, उस हालतमें वह व्यभिचारकी पोषक है, और इस कथनके सख्त विरोधी हैं कि विवाह ब्रह्मचर्यकी सहायक-संस्था है।

गाड़ीवान जब देखता है कि बैल, गायोंको देखकर कामोत्सुक होकर ऊधम मचाते हैं, और गाड़ीको ठीक तौरसे नहीं चलाते तब वह उन्हें बधिया या नपुंसक कर देता है। इसी प्रकार समाज जब देखता है कि उसके नौजवान छोकड़े इधर उधर ऊधम मचाते फिरते हैं तब वह उनका विवाह करके, उन्हें मानो बधिया बना देता है। विवाह कर देना नामर्द बना देनेका सबसे उत्तम उपाय है। अब उनका वीर्य इतना अधिक खर्च हो जाता है कि वह और कामके लिए बचताही नहीं है। अब समाजकी बैलगाड़ी बराबर ठीक चालसे चलेगी।

क्या वास्तवमें ऐसेही नामर्द लोगोंके भरोसेही हम अपने देशको उन्नतिके शिखरपर चढ़ाने चले हैं? क्या यही गृहस्थोंका ब्रह्मचर्याणुव्रत है? यदि यह ब्रह्मचर्य है तो बिल्कुल नामर्द व्यक्ति आदर्श ब्रह्मचारी है। बधिया बैल गुलामी कर सकते हैं, बधिया जवानभी गुलामी कर सकते हैं, पर लगामको तोड़ नहीं सकते, बे लगाम नहीं हो सकते, आज़ाद नहीं हो सकते स्वाधीन नहीं हो सकते। बैलोंको भलेही हम अपने स्वार्थके खातिर गुलाम बनाना पसंद कर सकते हैं परन्तु अपने देशके नवयुवकोंको गुलाम बनाना हम कभी पसंद न करेंगे। दिखावटी सामाजिक शान्तिके लिए हमें अपने नवयुवकोंको नपुंसक नहीं बनाना है। समाजके नपुंसक पंच-लोगोंकी इसमें गहरी चाल है। अपनी नपुंसकताको छिपानेका यह एक पर्दा है। प्रकृतिके इस नियमको कि "वीर व्यक्ति ही सुन्दरीके योग्य है" Only brave deserves the fair पलटकर "केवल धनवान् नामर्दही सुन्दरीके योग्य है" कर देनेका षड्यंत्र है। इस युगका जाग्रत नवयुवक-समाज अपने इस जन्मसिद्ध अधिकारके अपहरणको कभी स्वीकार नहीं करेगा।

विवाह-प्रथाका जन्म सुभीतेके विचारसे हुआ है, ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए नहीं। सभ्यताके विकाससे जब मानव जातिमें कामवासनाकी वृद्धि हुई और सुभीतेसे जबतब अनुकूल सहचारिणीके न मिलनेसे तकलीफ़ होने लगी तब विवाहप्रथाका जन्म हुआ। हम अपने पिछले लेखमें महाभारतका उद्धरण देकर बताही चुके हैं कि महाभारतके कुछ वर्ष पहले ही विवाह-संस्थाकी नींव श्वेतकेतुने डाली थी। आजकलभी बहुतसी असभ्य जातियोंमें विवाहादि उत्सवोंमें स्त्री-पुरुष छूटसे बिना किसी बंधनके मैथुन करते

हैं *। मार्केसन नामक जातिमें तो विवाहके दिन दुलहिन दूल्हेकी जाँघपर सिर रखकर लेट जाती है और आमंत्रित पाहुने इकहरी कतार बाँधकर नाचते गाते हुए आते हैं और एक एक करके सब दुलहिनसे मैथुन करते हैं। दुलहिन कभी कभी इतनी थक जाती है कि विवाहके बाद कई दिनोंतक उसे बिस्तर सेने पड़ते हैं †।

इस प्रकारकी प्रथा पहले थोड़ी बहुत सभी देशोंमें थी और घटते घटते अब यह विवाहादिके अवसरपर अश्लील हँसी दिल्लगी और गाली-गलौज़के रूपमें रहगई है। विवाहादिके अवसरोंपर आजभी अनेक व्यभिचारलीलाएँ घटजाती हैं। विवाहका जन्म किसी क़दर किसी सीमाके भीतरभी ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए हुआ होता तो विवाहकी इन अश्लील रीति-रस्मोंका कोई अर्थही नहीं था।

दुर्भाग्यसे हम निर्जीव शान्तिके उपासक होगये हैं परन्तु मृत्युसे बढ़कर शांति और किसीभी अवस्थामें नहीं होती इस कारण सबको ज़हर खाकर मृत्युकी आराधना न करने लगना चाहिए। समाजमें असंतोषकी आग लगानेकी ज़रूरत है, घर-घरमें अशान्ति का बीज बोनेकी ज़रूरत है, शांतिका ठंडा पानी सींचनेकी ज़रूरत नहीं है। सात्विक अशांति और असंतोषही उन्नतिकी प्रथम-सीढ़ी है। यदि हम वर्तमान परिस्थितिसे असंतुष्ट नहीं होंगे तो आगे बढ़नेकी कभी कोशिश नहीं करेंगे। अशांति, असंतोष, क्षोभही समाजका और व्यक्तिका जीवन है, शांति ही मृत्यु है। संसार समुद्रको क्षुब्ध करके, मथके, असंतुष्ट करकेही देवों और दानवोंके द्वारा अमृत निकाला गया था, यह सत्य किसे नहीं मालूम? जीवन-संग्राम जितनाभी कठिन होगा, हमारे पुरुषार्थमें; बलमें बुद्धिमें उतनीही वृद्धि होगी। हमारे देशकी, हमारे समाजकी उतनीही उन्नति होगी। भारतवर्षकी सामाजिक मृत शांतिनेही भारतवर्षको नपुंसक और पराधीन बना दिया है। आजकल जब हम अन्य देशोंकी परिस्थितिसे अपने यहाँकी परिस्थितिकी तुलना करते हैं तब हम अवाक् हो जाते हैं। हम देखते हैं कि वहाँ ज़रा ज़रासी छोटी छोटी बातोंसे बड़ी बड़ी क्रांतियाँ हो जाती हैं, हज़ारों आदमियोंके खून होजाते हैं, तब वहाँसे बड़ी अपमानकी, लज्जाकी वारदात होजाने परभी हमारे देशके नवयुवकोंका खून नहीं उबलता। अनादिकालसे "ज़र, ज़मीन और जोरू" ही अशांति और झगड़ेके मूल कारण रहे हैं। इसी झगड़ेने ही मनुष्यकी सभ्यताकी उत्पत्ति की है और इसी झगड़ेनेही मनुष्यका इतना विकास किया है। जहाँपर यह झगड़ा कायम है, वह देश, वह समाज अबभी दिनपर दिन उन्नति कर रहा है, और जहाँ यह झगड़ा शांत हो गया है वहाँ उन्नति रुक गई है। हमें यदि अपने समाज और देशकी उन्नति करना है तो हमें चाहिए कि ज़र, ज़मीन जोरूके झगड़े फिरसे शुरू करवादें। पुराने ज़मानेमें जोरूके लिए स्वयंवर होते थे, धन और ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये लड़ाइएँ होती थीं, हज़ारोंकी हत्याएँ और मृत्युएँ होती थीं। उनसे समाजमें जीवन क़ायम था। अब वह जीवन नहीं रहा है। अब सर्वत्र मृत्युकी परछाँई है। नवयुवकोंको कह देना चाहिए कि हमें ऐसी मृत शांति नहीं चाहिए। वर्तमान विवाहने जोरूके झगड़ोंको बिलकुल शांत कर दिये हैं। हमें विवाहकी पुनर्रचना ऐसी भित्ति-पर करनी चाहिए कि हज़ारोंमें लड़झगड़ कर योग्यतम व्यक्तिही योग्यतम कन्याको वरे और पुरुषोंमें परस्पर स्पर्धा हो, जिससे उनमें पुरुषत्वकी वृद्धि हो।

स्वयं विवाहकी प्रथा बुरी नहीं है और न हम आमूल विवाह-पद्धतिके विरोधीही हैं। सभी समाजोंमें विवाहकी पद्धति किसी न किसी रूपमें मौजूद है। पशुओं और जानवरोंमेंभी हम एक प्रकारकी विशेष-प्रथाको देखते हैं जिसे हम विवाहका नाम दे सकते हैं। यह प्रथा एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक नियमके अधीन है। पूँजीके दूषित

* It is verry usual among all of the tribes to allow considerable license during the performances of certain of their ceremonies including marriage when a large number of natives are gathered together. On such occassions all of the ordinary marital rules are set aside for the time being.—Northern Tribes of Central Australia (Studies into the Psychology of Sex Vol III Appendix)

† Among the Marquesans at the marriage of a woman she lies with her head at the bridegroom's knees and all the male guests come in a single file, singing and dancing, and have connection with the woman. The bride is some times so exhausted that she has to spend several days in bed.—Psychology of Sex Pp. 642 Vol III.

प्रभावके कारण वह नपुंसकताको छिपानेकी आड़ नहीं बनी है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसी वैज्ञानिक पद्धति पर अपनी विवाह-संस्थाकी पुनर्घटना करें।

कुत्तेको यदि हम एकदफे भी रोटी देते हैं तो जब जब हम उसके पाससे निकलते हैं, तब तब वह हमारे मुखकी ओर देख पूँछ हिला, भावोंके द्वारा अपना प्रेम प्रकट करता है और अपना मुँह अपनीही जीभसे चाँट मानों कहता है कि हमें और भी रोटी खानेदो। उसकी भक्तिका मानों पार नहीं रहता। यही बात न्यूनाधिक परिमाणमें मनुष्यादि जानवरोंमें भी होती है। जिससे जिसकी जितनी भी अधिक किसी वासनाकी सिद्धि होती है, उससे उतनी ही अधिक प्रीति हो जाती है। कामवासना सब वासनाओं में प्रधान और अन्य सब वासनाओंकी जननी है। इसलिए कामवासनाकी जिस किसी निमित्त से पूर्त्ति होती है उस निमित्तभूत स्त्री या पुरुषसे अथवा अन्य किसी वस्तुसे प्रीति हो जाती है। स्त्री और पुरुषकी प्रीति तो इस प्रकार की होती है, यहतो स्पष्टही है, परन्तु इतनाही नहीं मनोविज्ञानके आचार्योंका तो यहाँतक कथन है कि माता और पुत्रकी प्रीतिभी मूलसे कामुक ही होती है। शिशु जब माताका स्तनपान करता है तब उससे माताको एक प्रकार के वैषयिक उत्तेजना और तज्जनित सुखकी अनुभूति होती है जो कि बच्चेके प्रति प्रेमका प्रधान कारण होता है। कुत्ती, बिल्ली, सुअरनी आदि जानवर स्तनपान करानेके पहले अपने कई बच्चोंको खाजाती हैं, परन्तु स्तनपान करानेके बाद इस सुखकी उत्पत्तिके कारण उन्हें अपने बच्चोंसे प्रेम हो जाता है और वे उन्हें नहीं खातीं ॐ।

सांसारिक प्रेम विषयजन्यही होता है ॐ। पुरुष जिस किसी स्त्रीको एक दफेभी पूर्ण संतोष देदेता है वह स्त्री स्वभावसे ही उस पुरुषकी गुलाम हो जाती है। जब किसी स्नेहविह्वला माताको अपने प्रिय पुत्रका स्मरण हो आता है या वह पुत्र अचानक बहुत दिनोंमें दर्शन देता है तो माताके स्तनोंमें एक प्रकारके स्पंदनका अनुभव होता है—कभी कभी दूध तक झरने लगता है। यह उसी स्तनपानजन्य विषयसुखकी स्मृतिकी आवर्तक्रिया (Reflex action) है जो कि उसे बचपनमें दूध पिलानेसे अनुभूत होता था। पुरुषको जिस प्रकार केवल जननेन्द्रिय या उसके एक हिस्सेमें विषयजन्य सुखके स्पंदनकी अनुभूति होती है, उस प्रकार स्त्रीको नहीं होती। स्त्रीको तो अंग अंगमें—प्रत्येक नाड़ि या मज्जातन्तुओंके केन्द्र (Nervous Centre) में उसी प्रकारके स्पंदन फड़कन या सुखकी अनुभूति होती है †। जो पुरुष स्त्रीके अंग अंगमें, हरएक नाड़िकेन्द्रमें इस सुखकी—इस फड़कनकी अनुभूति कराके उन स्थानोंकी खुजलीसी मिटा सकता है वह पुरुष स्त्रीको सबसे अधिक प्रिय होता है। हैवेलॉकएलिस महोदय अपने महान ग्रंथमें ऐसी वेश्याओं के उदाहरण देते हैं जिन्होंने अपनी ज़िन्दगीमें सिर्फ़ एक ही पुरुषसे संयोग करने पर असली विषयसुखकी अनुभूति की और दरिद्र अवस्थामें होनेपर भी वे सबकुछ छोड़ उसकी गुलाम होगई और उससे उन्होंने विवाह करलिया। उनमेंसे एक इस प्रकार है—"एक मिसेज़ ऐम० को जो कि अपनी १५ वर्षकी उम्रसे वेश्याका धन्धा करती थी, अपनी उम्रके ३३ वें वर्षतक विषयजन्य सुखकी सच्ची अनुभूति नहीं हुई और न कभी उन्हें अपने संपूर्ण शरीर

* Act of suckling tends to produce in women volumptuous sexual emotions. Cows, while being milked show signs of sexual excitement. A woman's breasts offer themselves to the lover's lips with a bit less intimate attraction than her mouth. On her side such contact is instinctively desired. The woman craves to place her lover in the place of the child and experiences sensation in which these two supreme objects of her desire are deliciously mingled, The love for child is always a result of this volumpuous sensation. Some ladies desire to be pregnant for this purpose only. Bitches, cats and sows often eat their young ones after birth but never do so after they suckle them once.—Studies into the Psychology of Sex Vol II Neurotic zones.

ॐ प्रत्यक्षा लोकतः सिद्धा या प्रीतिर्विषयात्मिका।
प्रधानफलवत्वात्सा तदर्थाश्चेतरा अपि॥
श्लोक ६-२-२ वात्स्यायन कामसूत्र।

† Sexual pleasure of men is intensive, of women extensive. Simbaldus Pp 24?.

Women possess a minor degree of sensibility in sexual region and the pleasure is felt not only in there as in the case of men but throughout the nervous system. —O Adler Pp 196
(Psychology of Sex Vol III)

में कामके आवेगकी ही अनुभूति हुई। इसके बाद उसे अचानक एक ऐसा पुरुष मिला जो कि उसके योग्य था। अत्यंत दरिद्रावस्था होनेपरभी उसने अपना धंधा छोड़ उस पुरुषसे शादी करली।"* इससे मालूम पड़ सकता है कि स्त्रीको पूर्ण सन्तुष्ट करना कितना कठिन है। महीनेमें एकदफे-यहाँतक कि वर्षमें एकदफे और कभी कभी ज़िंदगी में एक दफे मैथुन करकेभी स्त्रीको संपूर्ण संतुष्ट करनेसे वह स्त्री तनमन धन सबकुछ अर्पित कर गुलाम हो जाती है। वह सुख, वह आनन्द इतना अप्रतिम होता है कि वह स्त्री अपनी सारी ज़िन्दगी उसकी यादमें तथा स्मरण कर करके उसका आंशिक अनुभव कर करके निकाल देती है और किसी दूसरे पुरुषका कभी चिन्तवन भी नहीं करती। इसके विपरीत जो पुरुष नित्य मैथुन करके अपनी शक्ति का ह्रास करते हैं वे अपनी स्त्रीको कभी संतुष्ट न कर सकनेके कारण उसकी नित्य बढ़ती हुई घृणाके पात्र होते हैं। यदि ऐसी स्त्रियाँ किसी अन्य पुरुषसे सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तो अवश्यही धर्म करती है। असली धर्म सामाजिक-धर्मके समान कोई नपुंसकोंका बनाई हुई चीज़ नहीं है। वह तो प्राकृतिक नियम है।

विवाह वही सच्चा है, प्राकृतिक है, ईश्वरीय है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। ऐसा जिसका ब्याह हुआ है, वह जोड़ा धन्य है। और सब विवाह झूट हैं मिथ्या हैं, अक्षरम्लेच्छ ब्राह्मण पंडितोंकी आजीविकाके साधन हैं, तथा नपुंसक पंचोंकी नपुंसकताको छिपानेके पर्दे हैं। उसके लिए ब्रह्मचर्य पालना, शीलव्रत पालना, एकपति-व्रत या एकपत्नीव्रत पालना तथा भौतिकप्रेमसे धीरे धीरे आध्यात्मिक प्रेम अनुभव करना आत्माको पहिचानना, आत्मानुभूति प्राप्त करना तथा अंतमें मोक्ष प्राप्त करना,

* A woman, now Mrs M., who has been a prostitute since the age or 15 never exserienced sexual pleasure and a found a man who suited her. She abandoned her profession in spite of exlerene poverty.

—Psychology of Sex Vol. III Pp. 206.

एकदम सरल है, लीलामात्र है, खेल है। मेरे मित्रो, यदि तुम्हारा विवाह ऐसा नहीं हुआ है तो पुरुषार्थ संपादन करो, ब्रह्मचर्यका पालन करो और अंतमें ऐसे विवाहकी अनुभूति करो। ऐसे विवाहकी प्राप्तिका एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य ही है।

मैं कह ही चुका हूँ कि ब्रह्मचर्यका अर्थ है, शक्तिसंपादन, शक्तिसंरक्षण और शक्तिका नियमन। मेरे प्यारे मित्रो, शक्ति प्राप्त करो, बलवान् हो, मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक शक्तियोंके स्वामी बनो।

यह संसार शक्तिशालियों—ब्रह्मचारियोंके लिएही है; निःसत्त्व व्यभिचारियोंके लिए नहीं। जो शक्तिशाली हैं वेही जीवित रह सकते हैं, दुर्बलोंको जीनेका कोई अधिकार नहीं है। जीवित रहनेका अधिकार उनसे प्रकृतिने छीन लिया है। ऐसे लोगोंके लिए जीवनसंग्राम साक्षात मृत्युरूप है। ये लोग पृथ्वीके भार हैं। जो देश, जो जातियाँ शक्तिशालिनी हैं, वे संसारका साम्राज्य भोगेंगी और जो निःसत्त्व हैं वे पड़ी पड़ी परमेश्वरी शक्तिका अपमान करनेका फल भोगेंगी और नामशेष हो जायँगी। भूतप्रेत शैतान निर्बलोंकोही सताते हैं। इसी प्रकार कर्म-भाग्य या दैवभी दुर्बलकोही सताते हैं। शक्तिके आगे संचितकर्म राख बन उड़जाते हैं, कोई फल नहीं देते। सैंकड़ों वर्षोंसे अंग्रेज आदि यूरोपियन जातियाँ क्या कुछ कम पाप कर रही हैं? हजारों इंडियनोंको और हिन्दुस्तानियोंको इन्होंने खेलमें जान गोलियोंसे उड़ा दिया है। परन्तु शक्तिके आगे उन सब पापकर्मोंकी राख बन उड़गई। महावीर स्वामी जब दरअसलमें महान् 'महावीर' हुए, शक्तिशाली हुए तब उनकी शक्तिकी अग्निमें सब पूर्व संचित-कर्म राख बन उड़ गये। इस पृथ्वी-पटल परसे मनुष्योंकी असंख्य जातियाँ शक्तिहीनताके कारण नष्ट हो चुकी हैं।

संसारके सारे सुखभोग, ज्ञानविज्ञान, आदि ब्रह्मचारियोंके लिए, शक्तिशालियोंके लिएही हैं अशक्तोंके लिए वे सब हलाहल विष हैं। हमारे प्राचीनशास्त्रोंमें अवर्णनीय निधियाँ हैं परन्तु उन्होंने हम अशक्त हिन्दुस्तानियोंको औरभी अशक्त और नपुंसक बना दिया है। तलवार बलवान्की रक्षा करती है परन्तु निर्बलको मारही डालती है। पर्वतकी ठंडी हवा बलवान्को औरभी अधिक

बलवान् बनाती है परन्तु निर्बलका सत्यानाश कर देती है। ज्ञानका चरम लक्ष्य शक्ति है; स्वयं ज्ञान अनिष्ट है, विष है, कैदखाना है। शक्तिही ज्ञान और दर्शनको सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन बनाती है।

ब्रह्मचर्यका-शक्तिका मार्ग स्वर्गका मार्ग है, मोक्षका मार्ग है। उसके द्वारपर प्रदीप्त अक्षरोंमें लिखा है "जो शक्तिहीन है वह भीतर न आवे।" प्यारे पाठको ब्रह्मचारी बन अंदर प्रवेश करो।
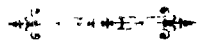
अन्ध-श्रद्धाके मदमें।

ता० ७ अगस्तके 'जैनगजट' में "जैनजगत्" के १८वें अंकमें छपे हुए "सूर्यसागर संघ (?) समाचार" शीर्षक लेखका डरपोक-प्रतिवाद, भिण्डके कतिपय, अपनेको पंच (?) कहनेवालोंकी तरफसे प्रगट हुआ है।

जब मनुष्यताका परिवर्तन अंधविश्वासमें हो जाता है तो मनुष्य मनुष्य नहीं बना रहसकता। धर्मान्धता अंधविश्वासकी जननी है, और अंधविश्वास साम्प्रदायिकताका पिता। जब मनुष्य पर इन तीनों (धर्मान्धता, अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता) का एक साथ प्रभाव जमता है, तब उसकी दशा ठीक एक सन्निपातरोगग्रसित रोगीकी सी होजाती है। उसको उस रोगीकी तरह भान नहीं रहता कि मैं क्या कहता हूं, क्या करता हूँ। ऐसा मनुष्य एक निष्पक्ष, या एक वैद्यके निकट, क्षमाका ही पात्र होता है। अतः हम उन पंच बननेवालो के मदोन्मत्त प्रलापका कुछ बुरा नहीं मानते, कारण वे धर्मान्ध हैं इसलिये उनमें अंधविश्वास आदि भरेहुए होते हैं। ऐसे मनुष्य कभी सत्य, असत्यका निर्णय नहीं करसकते अपितु सत्य पर पर्दा डालना ही उनका धर्म होता है।

जैनजगत्में छपे हुए सूर्यसागर संघके समाचार उतनेही सत्य हैं जितनी कि दूधकी सफेदी, सोनेका पीलापन। इसीलिये हम सारी समाजको चेतावनी देते हैं, कि जिसको उक्त बातें भ्रम मालूम हों, वे एक दफे भिण्ड आकर इसका नग्नरूप देखें और निर्णय करें। अंधविश्वासी पंच (?) उनका इसीलिये विरोध करते हैं कि उनकी दृष्टिमें ऐसा करना धर्म है, अथवा उपगूहनत्व है।

अब इन नक़ली पंचोंको यहभी मालूम होजाना चाहिये, कि यदि अस्पृश्यतानिवारण और निष्पक्षता पाप है तो फिर क्यों आप लोग सूर्यसागरजी को अपना गुरु मानते हैं? क्योंकि यह छिपा नहीं है कि सूर्यसागरजी अस्पृश्यतानिवारणके पक्षपाती हैं। उन्होंने खुले मुँह यह कहा है कि "अछूत मंदिरमें दर्शन करसकता है, मेरे दर्शन करसकता है" और यदि "भंगीभी आहार विधिसे हमको दानदे तो हम उसके यहाँभी आहार करसकते हैं"। इतनाही नहीं वे तो खुरई-सागर प्रांतस्थ किसी ग्राममें विधवाविवाह होनेवाले कुछ घरोंमें आहारभी लेचुके हैं।

सूर्यसागरजीमें यद्यपि ये सब बातें है किन्तु कुछ बुराइयाँभी हैं, और वेही बुराइयाँ उनके संघ को 'तीन' तेरह करनेमें सहायक हुई हैं।

यद्यपि अब कोईभी यह नहीं कहसकता कि संघमें झगड़ा नहीं हुआ, तथापि फिरभी यदि अंध-श्रद्धालु लोग 'नाहीं' की ही रट लगावें तो यह दूसरा भी सबूत देखे।

भिण्डमें जब इनका चातुर्मास निश्चित होगया और अलग अलग स्थानों पर ठहरभी गये, तो एक दिन क्षुल्लकवेषी महेन्द्रसागर चर्याको नहीं निकला। यह बात महाराज (?) को मालूम हुई। वे दूसरे दिन उसके स्थान पर उसे समझाने आये, उसे बहुतेरा समझाया, व्यंग किए, बुरा भला कहा, क्रोधित भी हुए, पर जब क्षुल्लक चुप ही रहा, तो महाराज ने साफ कहदिया कि समाजको अख्तियार है कि इसे कपड़े पहनाकर निकालदे। बीच बीचमें पहिले झगड़े की बातेंभी होती जाती थीं। फिर उन्होंने (सूर्यसा-

गरने) दूसरे मुनिवेषियों (धर्मसागर, अजितसागर) से कहा कि हम तुमको अब साथमें तो नहीं रख सकते, परन्तु संघका नाम बदनाम होता है इसलिये अगर हमारी आज्ञा मानो, तो तुम्हें प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा। जब उन्होंने (धर्म, अजितने) मंजूर किया, तो बोले-नियमसे तुम्हें दीक्षा-छेद दूँगा। इसपर मुनि (?) धर्मसागर बहुत बिगड़े, जमीन पर हाथ पटककर वह बोले-"हमको प्रायचित देवा, और तुम न लेवा" "मौ में यही तो कीन्ह" आदि। यद्यपि यह क्रोध था, परन्तु अंधश्रद्धालुओं द्वारा "उनकी आवाजही ऐसी है" कहकर छिपा दिया गया। यथानन्तर मुनि (?) सूर्यसागर उठकर चले गये।

इन सब बातोंसे तंग आकर, लोगोंके समझाने परभी नहीं मानने पर यदि सूर्यसागरजीने ये शब्द कहही दिये कि "भगवान महावीरने स्वप्न में दर्शन देकर कहा आदि" तो क्या आश्चर्य हुआ? जिसको कि छिपा देनेकी कोशिश करनेमें अंधभक्त एड़ी चोटी का पसीना एक कररहे हैं। एक त्यागी कहे जानेवाले ब्रह्मचारीका तो यहाँ तक कहना है कि "वह शख्स जिसने 'जैनजगत्' में लेख छपाया है, नियमसे छह माहमें कोढ़ी होजायगा।" यह महाशय समाजके गोमुख व्याघ्र हैं। एक विधवा बाईका सतीत्व नष्ट कर गर्भ पैदा करचुके हैं। तबसे आजतक बराबर सुबह शाम समाजकी छातीपर मूँग दलरहे हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इतना बड़ा पाप करने परभी उनको कुष्ट न हुआ! इतना तो हमें मालूम है कि इस पापका प्रायश्चित्त वह शिखरजी मेलामें शांतिसागर (दक्षिण) से लेचुके हैं। पर वह विधवा बाई आज पिसाई, कुटाई करके अपना जीवन निर्वाह करती फिरती है! और ये लड्डू उड़ाते हैं!! यह है अंध भक्तोंकी लीला!!!

सुबह चर्याके वक्त दातार लोगोंका आडम्बर देखतेही बनता है, जोकि मुनियोंके लिये होता है। प्रत्येक दातार के दरवाजेपर सुबह १५, १५ लोटे सब तरहके, दसदस रंगोंकी मालायें चारचार कटोरियाँ, पुस्तकें, थालियाँ शोशे आदि रखकर नियमोंकी पूर्ति कराई जाती है। अंधश्रद्धालुओं पर इन आडम्बरोंसे अतिशयकी बड़ी भारी छाप बैठजाती है। कोई जाप जपने बैठता है, तो कोई हाथ बाँधे खड़ा रहता है, इसीलिये कि महाराजका आहार होजावे।

संघमें दो ब्रह्मचारी हैं, जिनमें एक ब्रह्मचारी प्यारे लाल प्रमेहरोगसे बुरी तरह ग्रसित है! सभा मंडपमें जहाँ औरतें बैठती हैं, दिनभर अपनी जगह में पर्दे टाँगे पड़े रहते हैं। बहाना सिरदर्दका है, रोज वैद्यों को नब्ज दिखाते हैं-दवा माँगते हैं किन्तु कुछ फ़ायदा नहीं होता

इन लोगों की ऐसी अनेक लीलाएँ हैं। पाठक, इन्हें ही पढ़ कर अंदाजा लगालें।

अब हमें कुछ अपने आप पंच बनकर जैनगजट में छपाने वालों से भी कहना है।

जैन समाचारपत्रों के आप कौन हैं? अथवा उनपर आपका क्या प्रतिबंध है? शायद आपको यह डर लगा हुआ है कि हमारे झूंठे प्रतिवाद का जवाब न छपे-इसलिये ही ऐसा चाहते हैं कि भिन्ड के कोई समाचार पंचोंकी सही बिना न छपे!

इन पंच महोदयकी बाबत हम सिवा इसके और कुछ नहीं कहना चाहते कि—अव्वल तो ये समाजमें कोई व्यक्तित्वही नहीं रखते हैं, दूसरे इनमें का प्रत्येक पंच समाजके निर्माल्य पैसे को नरम माल समझ कर उसे हड़पने में सिद्धहस्त है!!

सूर्यसागरजी तथा समाज से हम यही प्रार्थना करेंगे कि यह विचारयुग है। यद्यपि जैन समाज के लिये यह लेख कड़वी दवा है, पन्तु रोग कड़वी दवा से ही शांत होता है-इसलिये इस लेख को उन्हें अपने लिये 'कड़वी दवा' समझ कर तुरंत पी लेना चाहिये। और भविष्यके लिये जो कोईभी कार्य करें,

विचार कसौटी पर कसके तब करना चाहिये—यदि वह अपना और साथ ही समाज का परोपकार चाहते हैं तो। अन्यथा–अंधश्रद्धा उन्हें उनके मार्ग से हटाकर बहुत दूर लेजाकर पटक देगी। सोचिये ! समझिये, विचार करिये !!

—"सत्यवादी।"

भेलसा जैनसमाज, और मैं।

लेखक—श्रीमान् ब्र० प्रेमसागरजी पञ्चरत्न—भेलसा।

भेलसा जैनसमाजके नवयुवकमण्डलने मुझे अत्यन्त आग्रहपूर्वक चौमासेके लिये बुलवाया था। मंडलके सभापति पं० लखमीचन्द्रके चार पत्र मेरे पास झाँसी पहुँचे थे, तथा एक तारभी रीठी मेरी गैरहाजरीमें पहुँचा था। इस कारणसे मैं सागर, कटनीके निमंत्रणको अस्वीकारता दे तथा झाँसी वालोंके आग्रहको न स्वीकार करता हुआ भेलसा आगया। दो तीन दिनके बाद मंडलके मेम्बरोंने निम्न प्रकारका प्रोग्राम मेरे भाषणके लिये बनाया—प्रत्येक बुधवारको माधोगंजके मन्दिरमें और प्रत्येक इतवारको सिटीके मन्दिरमें सभा होवे तथा स्त्रियोंकी सभा प्रत्येक शुक्रवारको होवे। प्रोग्राममें यह लिखागया कि, सिटीके मन्दिरमे जो सभाहो उस में लहुरीसेनोंको बुलावा न दिया जावे क्योंकि उस मन्दिरके मुखिया लोग उनको क़तई नहीं आने देते। इसपर मैंने कहा कि है तो यह अनुचित, परन्तु आप प्रोग्राममें न लिखें–बुलावा दें या न दें। उस समय मैंने यही सोचा था कि भाषणमें अपने भाइयों को इसपर समझा दूँगा।

प्रोग्रामके अनुसार सिटीके मन्दिरमें एक सभा में तो बहुतही शान्ति रही, क्योंकि भाषण वर्षातके कर्त्तव्य पर था। उसमें ६ कर्मोंपर काफ़ी प्रकाश डालागया था। परन्तु दूसरी सभामें अशान्तिने पदार्पण करलिया। उसका एक कारण यह था कि मेरा उस दिनका भाषण 'रूढ़ियोंके प्रदर्शन' पर था। उसमें सामाजिक रूढ़ियोंका चित्र खींचते हुए मैंने कहा कि "समाजकी संख्या घटानेमें और धर्मको एक छोटेसे दायरेमें रखनेमें हमारी धर्मकी ठेकेदारी अधिक हिस्सेमें सहायक होरही है। हम अन्य मतावलम्बियोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना और उन्हें मन्दिरमें आने देना अथवा जिनेन्द्रदर्शन करनेदेना तो दूर रहा, परन्तु हम अपनेही जैन भाइयोंको जो हमारे द्वारा बहिष्कृत होचुके हैं उन्हें श्रीमन्दिरजीमें नहीं आने देते ! यह कितने दुःखकी बात है ! इसी कारणसे आज हमारे सामने एक लहुरीसेनोंका फ़िरका तैयार होगया है। परन्तु हम को इसकी चिन्ता कहाँ ? फिरभी हम लहुरीसेनोंको अपना भाई नहीं समझते—उन्हें कहीं कहींके भाई जिनेन्द्र पूजन करनेको, पुंज चढ़ानेको और गन्धोदक लेनेको तथा मन्दिरजीमें बैठकर शास्त्र स्वाध्याय करनेको रोकते हैं, और कहीं–कहीके भाई तो जिनेन्द्र दर्शनार्थभी मन्दिरजीमें ही नहीं आने देते !"

उक्त भाषणको सुनकर श्रीकुन्दनलालजी हुड़क परे बोले—"आपने गत इतवारकी सभामे कैसा भाषण दिया था और आज कैसा दिया। अब आयन्दा ऐसा भाषण नहीं देना"। इनके अलावा इनके पक्षके लोग आपेसे बाहर होगये और मंडल को मनमानी सुनाई, तथा लाठियोंसे खबर लेनेको कहा और मुझे अपशब्द कहे। उनकी सभ्यताका प्रदर्शन जैनजगत् अङ्क २०में भी होचुका है। उक्त प्रकारका दुर्व्यवहार होनेसे तथा "लहुरीसैनोंको मन्दिरजी में आनेकी मनाईका आदेश सुनकर और मुझे भाषण देनेको रोकसे मैंने सिटीके मंदिर में जाना ठीक न समझा और निश्चय करलिया कि "जबतक सिटीके मन्दिरमें लहुरीसैनोंको आनेकी आज्ञा न मिलेगी तबतक मैं वहाँ नहीं जाऊँगा।

मण्डलने भी इसे स्वीकार किया और श्री सेठ राजमलजी बड़जात्याकी सलाहसे छोटे मन्दिरजीमें सभा भरानेका निश्चय करलिया गया क्योंकि छोटा मन्दिर जोकि खंडेलवालोंका है, उसमें और माधोगंजके नवीन मन्दिरमें तथा शहरके और दो मंदिरों में लहुरीसैनोंको मन्दिरजीमें जानेकी कोई रोकटोक नहीं है। यह निश्चय होते हुए भी मंडलने एक इतवारको और भी वहाँ सभा की। मै नहीं गया था।

सुनते हैं कि अधिकारियोंने सिटीके मंदिरके बाहर दर्वाजे पर एक नोटिस लगादिया है जिसमें लहुरीसेनोंको मन्दिरमें प्रवेशके व्याख्यानोंकी मनाईका हुक्म है।

अधिकारी लोग अपने मनकी बातें करनेमें और असभ्य शब्दोंके प्रयोगमें बड़ेही पटु हैं। आज हीकी बात है कि काशीरामजी मुनीम सिटीके मंदिर में दर्शनार्थ गये। वे अपने कोटकी जेबमें "जैनजगत्" लिये थे। उसे भैयालालजीने निकाललिया, और पढ़ने लगे; परन्तु जहाँ उन्होंने "प्रेमसागरके साथ दुर्व्यवहार" पढ़ा कि धर्मके ठेकेदार आपेसे बाहर होगये और लगे मनमानी बकने। उसके लेखक को कटु शब्द सुनाये गये और मुझे मनमानी मीठी मीठी सुनाई गई तथा यह कहा गया कि—"अपनी जातिवालोंकी, परवारोंकी रोटियाँ मिष्ट नहीं लगतीं, मारवाड़ियोंकी रोटियाँ मीठीमीठी लगती हैं।"

समझे पाठक! धर्मके ठेकेदारोंकी कषायपूर्ण बातें! और शौच अंगके दिन! बात दर असल यह है कि जबसे मैं यहाँपर आया हूँ, परवारों और गोलालारोंके यहाँही भोजनोंको जाता था, क्योंकि उनका निमन्त्रण आता था। परन्तु अब बात यह हुई कि श्रीसेठ राजमलजीने मुझे निमंत्रण दिया कि पर्वके दिनोंमें हमारे यहाँही भोजन किया करो। मैंने स्वीकार किया। आज श्रीमन्नूलालजी परवारके यहाँही भोजन करनेको गया था। फिर सिटी मन्दिरके मुखियोंने या धर्मके ठेकेदारोंने ऐसी बात क्यों कही? बात सिर्फ यह है कि सेठजी सच्चे सुधारक हैं—उन्हींके प्रयत्नसे सिटीके छोटे मंदिरजीमें और माधोगंजके नवीन मन्दिरजीमें लहुरीसैनोंका आना बहाल हुआ है। धर्मके ठेकेदारोंका समझना है कि सेठजीही इस प्रयत्नमें हैं, और वही मुझे उकसा रहे हैं।

हा! कितने क्षुद्र विचार हैं? सेठजी मुझे क्या बहकावेंगे? मुझे तो भगवान महावीरके सिद्धान्तने बहिकायाहै। उसमें मैंने पाया है कि 'धर्म किसी एक का नहीं होता, सबका होता है। मंदिरपर सबका अधिकार है, उसमें आनेसे हम किसी अपने भाई को नहीं रोक सकते।" मैं उनसे पूछता हूँ कि—"क्या उन मालियोंसे लहुरीसैन नीचे दर्जेके हैं जिनसे आप मंदिरका सारा काम कराते हैं यहाँतक कि वे वेदीसे चढ़ी सामग्री उठाकर लेजाते हैं। तथा क्या उन मुसलमान-आदि जातियोंसे लहुरीसेन नीच हैं जो कभी कभी मंदिरजी में हारमोनियम बजाने और तबला ठनकानेको बुलाएजाते हैं? और और क्या उन मोचियोंसे भी लहुरीसेन खराब हैं जो मंदिरजी में रंग भरते हैं और चतेवरी करते हैं?

"जो विधर्मी हैं, धर्म की निन्दा करनेवाले हैं, उनके लिए तो मंदिर खुलामा और अपने भाइयोंको बंद! वाहरी धर्मकी ठेकेदारी!"

मैं मारवाड़ियों की रोटियाँ खाता हूँ, मानो उनका दास होगया! आपको यह अखर गया। क्यों न अखरे? मैं आपके मंदिरको अपवित्र करनेकी कोशिश कररहा हूँ न? लेकिन आपको समझना चाहिए कि मैं आपकी रोटियों का भूखा हूँ और न मारवाड़ियोंकी रोटियों का भूखाहूँ। मैं भूखाहूँ प्रेम का। जो प्रेमसे मुझे बुलावेगा, मैं उसीकी रोटियाँ स्वीकार करूँगा। परन्तु वे रोटियाँ सेवाकी, गिड़गिड़ानेकी और हाँमें हाँ, मिलानेकी न होंगी। मुझे आप पहि-

चाने मैं स्वतंत्रताका उपासक हूँ। मुझे जैसी रीटियाँ आप समझ रहे हैं, वैसी कभी न आवेंगी।

एक बात और आपसे कहूँगा। वह यह कि— यह जमाना सुधारका है, और परिवर्तनका है। यदि आप उसका अनादर करेंगे तो आपको बहुत पीछे रहजाना पड़ेगा।

हमारे धर्मके ठेकेदार भाई कहते हैं कि-"अगर लहुरीसैनोंको मंदिर खुलासा करदिया गया तो वे लोग सिरपर चढ़ेंगे, क़ायदेसे नहीं बैठेंगे,—बराबरीसे बैठेंगे, शास्त्रकी बिछाई पर बैठेंगे, इत्यादि बातें करके उनको जिनदर्शनसे वंचित रखना चाहते हैं! वाहरे उथलेहृदय! तू खूब दोनोंको तड़पाता है!

अन्तमें मैं यहीं कहूँगा कि मंदिरोंके मुखिया लोग दूरदर्शी बनें।

(पृष्ठ २ से आगे)

कहिये।" "इन गुण बिना यज्ञोपवीत राखै तो परभवको दूषित करै। प्रायश्चित्तका धारक सत्पुरुष ब्रह्मचर्यका धारी, तिन करि निंद्य होय। दुख पावै, जैसे मन्त्रका जाननहारा सर्प राखै तो निर्दोष है; बिना मन्त्र जाने सर्प राखै तो दुखी होय। ऐसे कहे गुण प्रमाण यज्ञोपवीत राखै तो सुख उपजावै; नाहीं दुख उपजावै।" इस सम्बन्ध में उपरोक्त गुणोंका विस्तृत विवेचन करते हुए जनेऊधारी श्रावकके लिये १७ विशेष नियम व २१ गुणोंका विधान किया गया है। एक रोज़ शास्त्र सभामें चन्द्रसागरजीने कहा कि जो परस्त्रीसेवन त्यागी हों वे अपने हाथ ऊँचे करें तो केवल इने गिने हाथ दिखाई दिये। शूद्रजलत्यागी व जनेऊधारी बगलें झाँकने लगे। चर्चा करते हुए श्रीमान पं० बनारसीदासजीने स्पष्ट घोषित किया कि सप्तव्यसन त्यागी व व्रती श्रावकही जनेऊ धारणकर शोभा पासकते हैं।

एकबार प्रसंगवश पं० बनारसीदासजीने चंद्रसागरजीके समक्ष बड़े साहस व दृढ़ताके साथ घोषित किया कि मुनियोंको वनमेंही रहना चाहिये, उन्हें बस्तीमें नहीं रहना चाहिये तथा नसियाँ जहाँ चन्द्रसागरजी आदिठहरे हुए हैं वन नहीं है किन्तु बस्ती ही है और इसकारण वह मुनिके लिये वर्जित है।

कुछ अर्से पहिले मुनिवेषी ज्ञानसागरजीने यहाँ के एक प्रतिष्ठित (?) कुलकी स्त्रीको परपुरुषसेवनके त्याग करनेको कहा तो उसने हाथ जोड़कर अर्जकी कि—महाराज, ज्यादा तो मैं निभा नहीं सकती, बारह महीनेके लिये परपुरुषसेवनके त्यागका नियम लेती हूँ! किन्तु उसी महिलाने बिना किसी झिझकके फ़ौरन आजन्म शूद्रजलत्यागका नियम ले लिया! इससे उसका दामन धुलकर पाक हो गया है। और अब बड़े बड़े टकापंथी पंडित व त्यागी उसकी धार्मिकताके गीत गारहे हैं। धर्मके इस अनोखे आडम्बरसे अपने छोटे भाईकी विधवा पत्नीको स्वपत्नी समान समझनेवाले दुराचारी भी धर्मात्मा समझे जाने लगे हैं। मुमुक्षु श्रावकोंको चाहिये कि वे वेषमोहजनित मिथ्यात्वसे बचें तथा शास्त्रवचनों पर विचारकर विवेकशील बनें।

—संवाददाता।

समाचार संग्रह।

—लखनऊकी खबर है कि गत छः महीनोंमें लखनऊ ज़िले से ७५ लड़कियाँ व युवतियाँ चोरी गईं।

—बम्बई लेजिसलेटिव कौंसिलके प्रेसीडेन्ट यह प्रस्ताव पेश करने वाले हैं कि छोटे छोटे लड़के बिना माँ-बापकी आज्ञाके संन्यासी न बनें।

—प्रयागका समाचार है कि एक २८ वर्षकी युवती और १० वर्षकी बालिका नदीमें स्नान करने गई, पर लौटकर न आई। औरतके बदन पर क़रीब १०००) का गहना था। पुलिस जाँचकर रही है।

—शिमलामें एक यूरोपियन मि० चैलकाक्सने धर्म परिवर्त्तन किया है। अब आप मुसलमान धर्म मान रहे हैं।

—साबरमती आश्रममें ३ यूरोपियन महिला हैं जिन्होंने हरिजन-सेवाका काम करनेका दृढ़ संकल्प किया है।

—झालावाड़ नरेशने अपने राज्यान्तर्गत सभी मन्दिर हरिजनोंके लिए खोल दिये।

आगरामें धर्मप्रभावना—सुप्रसिद्ध स्थानकवासी जैन मुनि श्री कविवर नानचंद्रजी महाराजके उपदेशोंसे आगरामें जैनधर्मकी अनुपम प्रभावना हो रही है। गत संवत्सरीके दिन मानपाड़ाके जैन उपाश्रयका द्वार, बिना जातिपाँति व धर्मके भेदभावके, मनुष्यमात्रके लिये खोल दिया गया। मुसलमानों—खास कर कसाइयोंको—उस रोज विशेषरूपसे आमंत्रित किया गया था। श्री नानचंद्रजी महाराजने अहिंसा धर्म पर बहुत मार्मिक उपदेश दिया, जिसका श्रोतागण पर अच्छा प्रभाव पड़ा। कसाइयोंने प्रत्येक संवत्सरीके दिन हत्या न करने तथा दूकानें बन्द रखनेकी प्रतिज्ञा ली। एक मुस्लिम भाईने शिकार खेलने व मांस खानेका आजन्म त्याग किया। जीवदया प्रचार आदि कार्योंके लिये ७००) का चन्दा भी हुवा। ता० १९ अगस्तको आपका व्याख्यान मेस्टन हॉल आगरा कॉलेजमें शिक्षित समुदायके समक्ष हुवा। विषय था—" जैन दृष्टिमें अस्पृश्यता "। आपने विद्वत्तापूर्वक जैनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए प्रमाणित किया कि जैनधर्ममें अछूतपनको कोई स्थान नहीं है। जो लोग जैनधर्म को एक रूढ़िपोषक व दकियानूस धर्म समझते थे, वे आपके इस मार्मिक विवेचनको सुनकर चकित हो गये। ता० २७ अगस्तको श्री राधास्वामी सम्प्रदायके प्रमुख श्री साहबजी महाराजके निमन्त्रणसे दयालबागमें आपका " जैनधर्मका आदर्श " विषय पर अत्यन्त महत्वशाली व रोचक व्याख्यान हुवा। पाँच हजारसे अधिक समुदायने एकत्रित हो भाषण श्रवण किया। श्री मुनिजीने प्रतिपादन किया कि जैनधर्ममें पुरुषों व स्त्रियों को समान अधिकार हैं। जैनधर्ममें न जाति पाँतिको स्थान है, न अस्पृश्यता को। मानव समाजकी विशाल इमारत सदाचारकी नींव पर अवस्थित है। खेद है कि वर्तमान कालमें इस महान सत्यको भुला दिया गया है, जिसके कारण जनताको अनेकानेक झगड़ोंका सामना करना पड़ता है। —सम्वाददाता।

कलिकाल सर्वज्ञका विचित्र विधान!

"णमोकार मंत्रका जाप करना आर्तध्यान है!"

भादवा सुदी ११ को दोपहरकी शास्त्रसभामें ध्यानके प्रसंगमें क्षुल्लकवेषी ज्ञानसागरजीने प्रश्न किया कि—णमोकार मन्त्रका जाप करना कौनसा ध्यान है? उत्तरमें एक मुनिवेषी महाशयने फरमाया कि—आर्तध्यान है। इस उत्तरसे जनतामें काफी हलचल मचगई। वक्ता पंडितजी भी बड़ी असमंजसमें पड़गये। इधर पड़े तो कुवा उधर पड़े तो खाई। आखिर उन्होंने भी पेटको प्रणाम कर मुनिवेषीजी की हाँ में हाँ मिलाई। श्रोताओंमें बहुत हलचल होने पर सिद्धान्तशास्त्रसे निरे अनभिज्ञ, कलिकाल सर्वज्ञ श्री शांतिसागरजी की दिव्यध्वनि हुई—णमोकार मन्त्रका जाप करना निदान नामक आर्तध्यान है! भोले भक्त सुनकर चुप रह गये। आचार्य वचनोंमें किस प्रकार शंका करते? अस्तु। श्री उमास्वामि महाराजने श्री तत्वार्थ सूत्रमें लिखा है—निःशल्यो व्रती। अतः व्रती बननेके लिये श्रावकको निदानादि शल्य छोड़ना आवश्यक है। और चूँकि शांतिसागरजी आदिने णमोकार मन्त्रके जापको निदान आर्तध्यान बतलाया है अतः उनके मन्तव्यानुसार प्रत्येक श्रावकको व्रती बननेके लिये णमोकार [illegible] के जापका भी त्याग करना चाहिये! आशा है ब्यावर वाले अंधभक्त शीघ्र आचार्य(?) चरणोंके सन्निकट शूद्रजलत्यागके समान णमोकार [illegible] जापका भी आजन्म त्यागकर व्रती बनेंगे और स्वर्गवासकी सनद हासिल करेंगे! ऐसा [illegible] मौका बार बार नहीं आता! —[illegible] श्रोता

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

वर्ष ८ १६ सितम्बर तथा

१ अक्टूबर सन् १९३३ अङ्क २२, २३

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्री हरिभद्र सूरि।

सम्पादक—मा० द० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई

प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

श्री० प्रोफेसर घासीरामजी जैन एम० एस सी० एफ०पी०एस० (लंदन) ग्वालियरने पाँच रुपये तथा श्री० धीमालालजी सुगनचन्दजी सेठी नसीराबादने पाँच रुपये जैनजगतकी सहायतार्थ प्रदान किये हैं। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। —प्रकाशक।

स्थानीय चर्चा।

जैनमुनि शान्तिके मूर्तिमान अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है कि जैन मुनियोंके समक्ष परस्पर विरोधी जीवभी अपना जन्मगत वैर भूल जाते हैं और प्रेमपूर्वक व्यवहार करने लगते हैं। लेकिन कतिपय कलियुगी मुनियोंका ऐसा पगफेरा देखा-गया है कि जहाँ कहीं वे जाते हैं, कलहाग्नि प्रज्वलित करते हैं। पाठकों को मालूम होगा कि गत वर्ष श्री शान्तिसागरसंघकी कृपासे जयपुरमें भीषण विद्वेषाग्नि फैली थी। दुर्भाग्यसे वह साल भर हो जानेपर भी अभीतक शान्त नहीं हुई है।

करीब दस सालसे अजमेरमें दिगम्बर जैनियों में पारस्परिक वैमनस्य चल रहा है। इसका मुख्य कारण है श्रीमान रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी द्वारा श्री जैन औषधालय, दिगम्बर जैन व्यापारिक पाठशाला व दिगम्बर जैन विद्यालय भगडारके फंडों की रकमोंका रोका जाना। सेठ साहिबके पास उक्त फंड, जो कुल मिलाकर चालीस हजारके करीब होगा, बहैसियत बैंकरके जमा हैं, लेकिन अफसोस है कि वे उक्त संस्थाओंके उपयोगके लिये भी फण्डोंका ब्याज तक नहीं देते! कतिपय भक्तोंने आशा दिलाई थी कि श्री चन्द्रसागरजी इस झगड़ेको निबटा देनेके लिये प्रयत्न कररहे हैं और उनके चरण प्रताप से अजमेरमें पूर्ण शान्ति स्थापित हो जायगी। अफसोस है कि आजकल उनकी हरकतें ऐसी हो रही हैं कि पुराना झगड़ा दूर होनेके बजाय उनके चरण प्रतापसे नये झगड़े खड़े हो जानेकी आशंका है।

चन्द्रसागरजीकी दृष्टिमें जैनत्वका लक्षण है—जनेऊ धारण करना व शूद्रजलका त्याग करना। उनका यह उपदेश यहीं तक सीमित रहता तबभी कोई चिन्ताकी बात नहीं थी। जो लोग चन्द्रसागरजी को तीर्थकरोंसे भी महान समझें वे शास्त्र वचनों की अवहेलना कर उनके उपदेशके अनुसार प्रवर्तन करें। लेकिन चन्द्रसागरजी इससे आगे बढ़कर यह भी कहते हैं कि जो जनेऊ धारण नहीं करता वह शूद्र है तथा जिन पूजाका अधिकारी नहीं है। वे

इस प्रयत्नमें हैं कि सब पंचायतोंमें मेरा आदेश चले और सर्वत्र ऐसा नियम बना दिया जाय कि जिसमें केवल जनेऊधारी ही पूजा प्रक्षाल करसकें—बिना जनेऊवालोंको पूजा करनेसे जबरन रोका जाय। जो लोग सरल परिणामी हैं, हेयोपादेयका विवेक रखते हैं तथा शास्त्रोंमें ज्ञानपूर्वक श्रद्धा रखते हैं, वे सत्यके खातिर विरुद्धपरिणतिवालों द्वारा शूद्र कहलाना बर्दाश्त कर सकते हैं तथा और तरह से निरादर, अपमान आदि भी सह सकते हैं, लेकिन वे जिनपूजाके अधिकारके अपहरणको किसी प्रकार भी बर्दाश्त नहीं कर सकते—उस अधिकारकी रक्षा के लिये वे प्राणपणसे प्रयत्न करेंगे।

मिती आसोज बदी ७ को श्री सूवालालजी गँगवाल के चैत्यालय (शान्तिपुरा) में उत्सव था। वहाँ कई बिना जनेऊवाले व्यक्ति नियम रूपसे पूजा करते हैं अतः वे उस रोजभी पूजा करनेके अभिप्रायसे सामग्री लेकर वहाँ गये। लेकिन चन्द्रसागरजीके भक्तोंकी इच्छा उपद्रव करनेकी थी इसलिये वे भी टोली बनाकर पूजा करनेके लिये पहुँचे। वे बिना जनेऊवालोंको पूजा करनेसे जबरन रोकना चाहते थे। आखिर अशांति न होने देनेकी मंशासे सूवालालजीने घोषित किया कि यह मेरा निजी चैत्यालय है; आज पूजा अभिषेक आदि मैं स्वयं ही करूँगा। इस स्वत्वाधिकारके बलसे वे और सब जनेऊवालों तथा बिना जनेऊवालों को पूजा करनेसे रोक सके लेकिन अपने भतीजे श्री० चिरंजीलालजीको नहीं रोक सके। श्रीयुत चिरंजीलालजी पापभीरु व संयमशील व्यक्ति हैं। पहिले उनने जनेऊग्रहण की थी, परन्तु बादमें शास्त्राज्ञा मालूम होनेपर उसे छोड़दी। इसकारण भक्तलोग चिरंजीलालजीसे खासतौर पर चिढ़े हुए थे। उनका पूजा करना उन्हें बहुत अखराः अतः एक भक्तने पौन घंटेबाद जानबूझकर उन्हें पूजा करते हुएको जाकर छूलिया। धुले कपड़े जो अलग रखे हुए थे, उन्हें उन लोगोंने पहिलेही छूकर अशुद्ध कर दिया था। चिरंजीलालजी से अधूरीपूजा कराकर भक्तलोगोंने कितना महान पुण्य सम्पादन किया, यह वे लोग ही जानें।

इसके बाद मिती आसोज सुदी १ से ५ तक गोधोंकी नसियाँ में पूजनविधान तथा कलशाभिषेक उत्सव हुआ। पंचमीको रथयात्रा भी निकली। सम्पूर्ण उत्सव बड़े समारोहसे हुआ। बिना जनेऊवालों ने निर्विघ्न पूजा कलशाभिषेक आदि किये। चन्द्रसागरजीने भूलकर भी उन दिनों नसियाँ में पैर नहीं रखा। इसी तरह आसोज सुदी ८ से छोटे धड़ेकी नसियाँ में उत्सव हुआ। गोधोंकी नसियाँकी तरह यहाँ भी जनेऊवालों तथा बिना जनेऊवालों सभीने शान्तिपूर्वक पूजाकी तथा उत्साह सहित उत्सवमें भाग लिया। चन्द्रसागरजी तथा उनकी भक्तमंडलीकी यहाँपर भी कुछ न चलसकी।

बात यह है कि, जनेऊ व शूद्रजल त्यागका जैनधर्ममें क्या स्थान है, यह शास्त्रीय प्रश्न है। अगर कतिपय आधुनिक आचार्य मुनि आदि इसके पक्षमें हैं तो प्राचीन शास्त्र व अनेकानेक विद्वान इसके विपक्षमें हैं। अतः इसप्रश्नका विद्वानों द्वारा निर्णय कराए बिनाही उद्दंडतापूर्वक अपने मन्तव्योंका जबरन प्रचार करना बड़ा हानिकारक होगा। श्री चन्दनमलजी जैनने ता० २० सितम्बरको "श्री मुनि चंद्रसागरजी महाराजसे प्रश्न" शीर्षक पर्चा प्रकाशित कर इस सम्बन्धमें २५ प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। ये प्रश्न केवल चन्द्रसागरजीसे ही नहीं, किन्तु श्री शान्तिसागरजी से भी सम्बन्ध रखते हैं। ये सब लोग परम ज्ञानवान बताये जाते हैं। कई पंडित व सेठ लोग इनके अनुयायी हैं। भक्तों को चाहिये कि चन्द्रसागरजीसे अथवा वे असमर्थ हों तो किसी अन्य मुनि या पंडितसे इन प्रश्नोंका उत्तर प्राप्तकर प्रकाशित करें।

सारांश यह है कि अजमेरकी भक्त मण्डलीको समझदारीसे काम लेना चाहिये। चन्द्रसागरजी केवल कुछ दिनके लिये यहाँ हैं, लेकिन जनेऊवाले और बिना जनेऊवाले सब यहीं रहेंगे। अगर चन्द्रसागरजीके बहकानेमें विवेकको हाथसे खो बैठे तो उसका परिणाम चिरकाल तक यहाँ वालोंको भुगतना पड़ेगा। जयपुरके उदाहरणसे नसीहत लेना चाहिये। अजमेर जैनसमाज वैसेही पारस्परिक मनोमालिन्यके कारण काफी बदनाम है तथा बहुत क्षति उठा चुका है। अगर हो सके तो यह कोशिश कीजिये कि वर्तमान वैमनस्य दूर हो जाय और परस्पर प्रेमका संचार हो। —संवाददाता।

जैनधर्म का मर्म ।

(२४)

यहाँ तकके विवेचनसे इतना सिद्ध होता है कि अन्य विषयोंके समान इस विषयमें भी जैनाचार्योंमें खूब मतभेद है, और आचार्योंने अपनी इच्छाके अनुसार जोड़तोड़ किया है; साथही इस समस्याको पूर्णरूपसे सुलझानेमें भी वे असफल रहे हैं। किस ग्रंथके विवेचनमें क्या त्रुटि है, यहाँ संक्षेपमें इसका वर्णन किया जाता है।

विशेषावश्यक भाष्य—के अनुसार अगर अवग्रहका विवेचन मानाजाय तो (१) अर्थावग्रह सिर्फ सामान्यको विषय करनेवाला सिद्ध होता है। परन्तु किसीभी ज्ञानका विषय सिर्फ सामान्य नहीं माना जाता। (२) अर्थावग्रहके बहु आदि भेद न बन सकेंगे। (३) व्यञ्जनावग्रहका विषय क्या है यह मालूम नहीं होता—या तो वह अर्थावग्रहसे अधिक विषयी (विशेष विषयी) बनजाता है या ज्ञानात्मक ही नहीं रहता। (४) उपकरणको शक्तिरूप माननेसे उसका अर्थके साथ संयोग सिद्ध नहीं होता।

नंदीसूत्र टीका—में विशेषावश्यकका ही अनुकरण है, इसलिये उसमेंभी उपर्युक्त दोष हैं।

तत्त्वार्थभाष्य टीका—में भी विशेषावश्यकका अनुकरण है, परन्तु अवग्रहके विषयमें रूप रस आदि सामान्य रूपसे विषय माने हैं। अर्थात् अवग्रहमें रूप तो मालूम होता है, परन्तु कौन रूप है यह नहीं मालूम होता*। इससे उपर्युक्त दोषोंमें से सिर्फ १ और ३ नम्बरके दोष रहजाते हैं।

तत्त्वार्थभाष्य—की व्याख्या अगर विशेषावश्यकका अनुकरण करके न कीजाय तो उपकरणेन्द्रियकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धि सरीखी होजाती है। इससे चौथा दोषभी निकल जाता है।

नंदीसूत्र—की व्याख्याभी अगर विशेषावश्यकके अनुकरणमें न कीजाय तो तत्त्वार्थभाष्यके समान उसमेंभी तीन दोष नहीं रहते। परन्तु उसमें एक नई शंका है। नंदीसूत्रमें अव्यक्तको व्यञ्जनावग्रह सिद्ध करनेमें स्वप्नका भी व्यञ्जनावग्रह बनाया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

सर्वार्थसिद्धि—के अनुसार अवग्रहकी व्याख्यामें उपर्युक्त चारों दोष नहीं रहते; परन्तु वे

---

* यदा हि सामान्येन स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शसामान्यमात्रं गृहीतमनिर्देश्यादिरूपं तत उत्तरं स्पर्शभेदविचारणा ईहाभिधीयते। १-१५। परन्तु 'अर्थस्य' इस सूत्रकी व्याख्यामें इनने अवग्रहके विषयको नामादि कल्पनारहित कहा है और ईहामें स्पर्शके भेदपर विचार नहीं करते। किन्तु यह स्पर्श है या अस्पर्श ऐसा विचार करते हैं। ये परस्परविरुद्ध उदाहरण इनकी अनिश्चित मतिके सूचक मालूम होते हैं।

व्यञ्जनका अर्थ उपकरण इन्द्रिय न करके "अव्यक्त" अर्थ करते हैं। यह अर्थ अनेक दृष्टियोंसे अनुचित है।

पहिली बात तो यह है कि व्यञ्जनका अर्थ 'प्रगट होना या प्रगट होनेका कारण' ही होता है न कि अव्यक्त। दूसरी बात यह है कि 'व्यञ्जनस्याव ग्रहः' यह सूत्र 'अर्थस्य' इस सूत्रका अपवाद है। यदि 'अर्थस्य' इस सूत्रमें 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'व्यक्त' किया होता तो 'व्यञ्जन' शब्दका अर्थ 'अव्यक्त' कहना उचित कहलाता; परन्तु सर्वार्थसिद्धिकार 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'गुणी' करते हैं और 'इन्द्रियोंसे गुणका सन्निकर्ष होता है' इस मतका खण्डन करते हैं। तब क्या व्यञ्जनमें गुणी नहीं होता? क्या वह सिर्फ गुणका होता है? यदि नहीं तो, इस सूत्रमें अपवाद विधि क्या आई? इन कारणों से व्यञ्जनका अर्थ ठीक नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी ग्रंथकारोंने कुछ न कुछ त्रुटि रक्खी है और एक त्रुटि तो ऐसी है जो सभीमें एक सरीखी है। सभीने चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं माना, परन्तु इसका ठीक ठीक कारण कोई नहीं बता पाता है। यद्यपि सभी ग्रंथकार एक स्वरसे बतलाते हैं कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् अर्थ सम्पर्कके बिनाही अर्थ को जानते हैं, परन्तु यह कारण ठीक नहीं मालूम होता। अर्थके सम्पर्कका व्यञ्जनके साथ क्या संबंध है? जिस प्रकार प्राप्यकारीमें अर्थ और व्यञ्जन अवग्रह होते हैं, उस प्रकार अप्राप्यकारीमें क्यों नहीं? व्यञ्जन (उपकरण) तो दोनों जगह है। यदि कहा जाय कि 'उसका संयोग नहीं है' तो वह व्यक्त क्यों होजाता है? जहाँ अव्यक्तकोभी जगह नहीं है, वहाँ व्यक्तको जगह कैसे मिल सकती है? जिस प्रकार सुप्तावस्थामें दस बार बुलाने पर प्रारंभ में नव बार तक व्यञ्जनावग्रह है, उसी प्रकार किसी को दस बार कोई वस्तु दिखाने पर प्रथम नव बार तक व्यञ्जनावग्रह क्यों न माना जाना चाहिये? सोतेमें आँखोंके खुलजाने पर या स्त्यानगृद्धि निद्रामें आँखें खुलजाने पर रूपका व्यञ्जनावग्रह क्यों न माना जाय? यदि कहा जाय कि 'कानमें धीरे धीरे शब्द भरते रहते हैं और जब वे पूरे भरजाते हैं तब सुनाई देता है, तो यह कहनाभी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द गन्ध आदि कान नाकमें भरके नहीं रहजाते किन्तु तुरन्त नष्ट होजाते हैं। दूसरी बात यह है कि सुप्तावस्थामें कानमें या नाकमें कम शब्द या कम गन्ध जाते हों ऐसा नियम नहीं है। अधिक शब्द जाने परभी सुप्तावस्थामें व्यञ्जनावग्रह होता है और जागृत अवस्थामें उसी मनुष्यको थोड़े और मन्द शब्दोंसे भी अर्थावग्रह होता है। इससे प्राप्यकारिता अप्राप्यकारिता व्यञ्जन और अर्थ अवग्रहके भेदको नहीं बता सकती।

दूसरी बात यह है कि चक्षुको अप्राप्यकारी माननाभी भूल है। प्रायः सभी जैन नैयायिकोंने चक्षुको अप्राप्यकारी माना है, और किरणोंका निषेध किया है। उनकी युक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) चक्षुके ऊपर विषयका प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे तलवारको देखनेसे आँख नहीं कटती, अग्निको देखनेसे आँख नहीं जलती आदि।

(२) यदि चक्षु प्राप्यकारी हो तो वह आँखके अंजनको या अञ्जन शलाकाको क्यों नहीं देखती?

(३) प्राप्यकारी हो तो निकट दूरके पदार्थ एक साथ न दिखाई दें। एकही साथमें शाखा और चन्द्रमा का ज्ञानभी न हो। न बड़े बड़े पर्वत आदिका ज्ञान हो।

(४) आँखोंसे किरणोंका निकलना मानना अनुचित है। आँखोंमें किरणें सिद्ध ही नहीं हो सकतीं।

(५) निकटका पदार्थ दिखाई देता है, दूरका नहीं दिखाई देता इत्यादि बातोंमें कर्मका क्षयोपशम कारण है।

आज वैज्ञानिक युगकी कृपासे इस बात को साधारण विद्यार्थीभी समझता है कि आँख से कोई

पदार्थ क्यों दिखाई देता है। उपर्युक्त मत भ्रमयुक्त है, साथही जो नेत्रों से किरणें निकलना मानते हैं उनका कहनाभी भ्रमयुक्त है। वास्तवमें पदार्थकी किरणें निकलती हैं, और वे आँखपर पड़ती हैं। इससे हमें पदार्थका ज्ञान होता है। ऊपर की युक्तियाँ निःसार हैं। उनका उत्तर निम्नप्रकार है।

(१) तलवारको देखते समय आँखोंपर तलवारकी किरणें पड़ती हैं, नकि तलवार। काटनेका काम तलवारका है, जलानेका काम अग्निका है,न कि उसकी किरणों का। किरणोंका भी कुछ न कुछ असर पड़ता है। हरे रंग का आँखों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है ज्यादः चमकदार और लाल रंगका खराब प्रभाव पड़ता है। चंचल किरणोंका भी बुरा प्रभाव पड़ता है; ज्यादः सिनेमा देखनेसे, ट्राम बस आदिमें बैठकर पढ़नेसे आँखें जल्दी खराब होती हैं। यह किरणोंका प्रभाव है।

(२) फोकस ठीक न मिलनेसे अञ्जन शलाका आदि दिखाई नहीं पड़ती।

(३) निकट या दूरके दो पदार्थोंकी किरणें जब आँख पर पड़ती हैं तब उसमें दोनों पदार्थ दिखाई देते हैं।

(४) आँखोंमे किरणें न निकलनेकी बात ठीक है।

(५) क्षयोपशम तो एक शक्ति देता है, उसे हम लब्धि कहते हैं। देखनेकी लब्धि तो सदा रहती है। कोई पदार्थ सामने लाने पर दिखाई देता है, प्रकाशसे प्रगट होता है, इसका कारण क्या है ? इसका उत्तर जैनचार्यों के पास नहीं है। दर्पण में प्रतिबिम्ब बताते हैं और उसे छाया कहते हैं; परन्तु किरणोंके निमित्तके बिना छाया कैसे होगी ? इत्यादि प्रश्नोंके विषयमें भी वे मौन हैं। जैनाचार्योंने प्राचीन मतका खण्डन तो जरूर ठीक किया है परन्तु वे अपनी बात कुछ नहीं कहसके हैं। पदार्थकी किरणोंका आँखपर पड़नेकी बात माननेसे सब बातें ठीक होजाती हैं।

प्रश्न—वर्तमान सिद्धान्तके अनुसार अँधेरेमें दूरका चमकदार पदार्थ क्यों दिखाई देता है और दूसरे क्यों नहीं दिखाई देते ?

उत्तर—चमकदार पदार्थमें स्वयं किरणें होती हैं इसलिये उसकी किरणें आँखपर पड़ती हैं। इससे उसका ज्ञान होता है। दूसरे पदार्थोंमें किरणें नहीं होती हैं, इसलिये वे दिखाई नहीं देते। जब सूर्यका उदय होता है तब उसकी किरणें उस पदार्थपर पड़ती हैं, फिर लौटकर आँखपर पड़ती हैं इससे हमें वह पदार्थ दिखाई देता है। पारदर्शक पदार्थपर पड़ीहुई किरणें लौटकर आँखपर नहीं पड़तीं या पूरी नहीं लौटतीं, इसलिये वह ठीक नहीं दिखाई देता।

यह बात बहुप्रचलित होनेसे यहाँ पर नहीं लिखी जाती। सार यह है कि जैनियों ने आँखको जिसप्रकार अप्राप्यकारी माना है, वह वैसी नहीं है।

इसप्रकार किसीभी जैनाचार्यके मतानुसार अवग्रहके भेदों का ठीक विवेचन नहीं होसकता है। अगर हम इस समस्याको हल करना चाहें तो हमें थोड़ी थोड़ी अनेक जैनाचार्योंकी बातें ग्रहण कर उनपर स्वतंत्र विचार करना पड़ेगा। यहाँ निम्न लिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

(१) दर्शनकी वर्तमान परिभाषा ठीक नहीं है। पहिले जो मैंने 'आत्मग्रहण दर्शन है' ऐसी परिभाषा लिखी है, वह स्वीकार करना चाहिये।

(२) अर्थावग्रहमें रूप रस गन्ध स्पर्श या शब्द का सामान्य ज्ञान मानना चाहिये। विशेषावश्यककी तरह रूप अरूपसे परे न मानना चाहिये।

(३) विशेषावश्यक आदिमें जो व्यञ्जनावग्रहका स्वरूप लिखा है वह ठीक है,परन्तु उपकरणका लक्षण सर्वार्थसिद्धि आदिके अनुसार मानना उचित है।

(४) चक्षु और मनको जैनाचार्योंने जिस प्रकार अप्राप्यकारी माना है उस प्रकार अप्राप्य-

कारी वे नहीं हैं, किन्तु अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनमें कुछ विषमता अवश्य है।

जब हम किसी पदार्थको छूकर उसके स्पर्शका ज्ञान करते हैं तब उसमें अनेक क्रियाएँ होती हैं। पहिले उसके स्पर्शका प्रभाव हमारी उपकरणेन्द्रिय पर पड़ता है, बादमें निर्वृत्ति इन्द्रिय पर पड़ता है। अभीतक ज्ञान नहीं हुआ है। पीछे भावेन्द्रियके द्वारा लब्धि इन्द्रियका संवेदन होता है। यह दर्शन है। पीछे उपकरणका संवेदन होता है। यह व्यञ्जनावग्रह है। पीछे पदार्थके स्पर्श सामान्यका ज्ञान होता है। यह अर्थावग्रह है। बादमें ईहादिक होते हैं।

इन्द्रियोंके चारों तरफ़ पतला आवरण रहता है। कोईभी बाहिरी पदार्थ पहिले उसीपर प्रभाव डालता है। जब ज्ञानोपयोग इतना कमजोर या क्षणिक होता है कि वह उपकरणके ऊपर पड़े हुए प्रभावके सिवाय अर्थकी कल्पना नहीं करता तब वह व्यञ्जन (उपकरणको) ग्रहण करनेवाला होनेसे व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। जब अर्थकी कल्पना करलेता है तब अर्थावग्रह कहलाने लगता है।

चक्षु इन्द्रियके उपकरणकी रचना दूसरे ढंगकी है। चक्षुका उपकरण, चक्षुके ऊपर नहीं किन्तु उसके दायेंबायें होता है। जो बाह्योपकरण (पलक वगैरह) हैं वे देखते समय हटजाते हैं, इसलिये पदार्थकी किरणें उपकरण पर न पड़कर निर्वृत्तिपर सीधी पड़ती हैं इसलिये वहाँ उपकरण (व्यञ्जन) के जानने की आवश्यकता नहीं है। इसीसे उसके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। यही बात मनके विषयमें है। इस विषयमें औरभी विचार करनेकी आवश्यकता है। सम्भव है व्यञ्जनावग्रहके ठीक स्वरूपको सिद्ध करनेका कोई अन्यमार्ग निकले अथवा व्यञ्जनावग्रहका मानना ही अनावश्यक सिद्ध हो। यहाँ तो मैंने त्रुटियोंको दूर करके यथाशक्ति समन्वयकी चेष्टा की है।

ग—ईहाके विषयमें भी जैनाचार्योंमें मतभेद रहा है। पुराने लोग ईहा और संशयमें कुछ अन्तर नहीं मानते थे परन्तु पीछेके आचार्योंने सोचाकि 'संशय तो मिथ्याज्ञान है इसलिये उसको सम्यग्ज्ञानके भेदों में न डालना चाहिये' * इससे ईहा और संशयमें भेद माना जाने लगा। ईहाका स्थान संशय और अवायके बीचमें होगया। ईहा संशयनाशक माना जाने लगा।

सर्वार्थसिद्धिमें जो ईहाका उदाहरण दिया है वह बिलकुल संशयके समान है। वे कहते हैं कि 'यह सफ़ेद वस्तु बकपंक्ति है या पताका है, इस प्रकारका ज्ञान ईहा है † ।' इसके बाद वे संशय और ईहाका अन्तरभी नहीं बताते। परन्तु पीछेके आचार्य इस बातका ठीक निर्णय करसके हैं। उनने ईहा और संशयमें स्पष्ट भेद बतलाया है § और इसीलिये आजकल सर्वार्थसिद्धिके वक्तव्यका अर्थ खींच-तानकर वर्तमान मान्यताके अनुरूप किया जाता है। पूज्यपाद ने संशयके समान जो उदाहरण दिया है उसके विषयमें कहा जाने लगा है कि वे दो उदाहरण हैं। परन्तु (१) जब अवग्रह अवाय और धारणामें एकएकही उदाहरण उनने दिया है तब ईहामें ही दो उदाहरण क्यों दिये? (२) दो उदाहरणोंके लिये दो वाक्य बनाना चाहिये परन्तु यहाँ एकही वाक्य क्यों रहा? (३) उनने संशय और ईहाका भेद क्यों न बताया? (१४) 'बलाकया भवितव्यम्' इस प्रकारका स्पष्ट निर्देश क्यों न किया? (१५)प्रश्नार्थक 'किं' अव्ययका प्रयोग क्यों किया जो कि यहाँ संशय-सूचकही है।

* ईहा संसयमेत्तकेई, न तयं तओ जमन्नाणं। मइनाणंसो चेहा कहमन्नाणं तई जुत्तं। १८२ विशेषा०

† अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा यथा शुक्लं रूपं किं बलाका पताकेति १-१२।

§ ननु ईहायानिर्णयविरोधित्वात्संशयप्रसङ्गः इति तन्न, किं कारण? अर्थादानात् अवगृह्यार्थं तद्विशेषलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। संशयः पुनर्नार्थविशेषालम्बनः। १-१४-११ संशयपूर्वकत्वाच्च। १-१४-१२। राजवार्तिक।

इन पाँच कारणोंसे मानना पड़ता है कि सर्वार्थसिद्धिकार उन्हीं आचार्योंकी परम्परामें थे, जो ईहा और संशयको एक मानते थे। परन्तु यह मान्यता ठीक न थी। अन्य आचार्योंने इसका ठीक सुधार किया है।

घ—अवायके विषयमें भी जैनाचार्योंमें बहुत मतभेद है। पहिला मतभेद तो नामपर ही है। कोई इसे अवाय कहता है, कोई अपाय कहता है। 'अपाय' का प्राकृतरूप 'अवाय' होता है। सम्भव है प्राकृतके 'अवाय' रूपको संस्कृतका समझ लिया गया हो क्योंकि संस्कृतमें 'अव' और 'अप' दोनों ही उपसर्ग हैं। अथवा यह भी संभव है कि संस्कृतमें ही यह 'अवाय' हो परन्तु कुछ लोगोंने इसे प्राकृत का रूप समझकर संस्कृतमें अपाय बनालिया हो। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'अपाय' पाठ बहुत प्रचलित है और दिगम्बरोंमें 'अवाय'। परन्तु दिगम्बराचार्य अकलंकदेव दोनोंका समन्वय बड़ी खूबीसे * करते हैं। उनका कहना है कि "दोनों पाठ ठीक हैं। संशयमें दो कोटियाँ थीं, अवायमें एक कोटि बिलकुल दूर हो जाती है जबकि दूसरी कोटि पूरी तरह गृहीत हो जाती है। पहिलीके अनुसार अपाय नाम ठीक है दूसरीके अनुसार अवाय नाम ठीक है। अपाय अर्थात् दूर होना, नष्ट होना आदि। अवाय अर्थात् गृहण होना।" खैर, यह तो नाममात्रका मतभेद हुआ। इसके स्वरूपमें भी मतभेद है।

विशेषावश्यककारने ‡ अपायके विषयका मतभेद इस प्रकार बतलाया है—"कोई कोई आचार्य दो कोटियोंमें से असत्य-कोटिको दूर करनेको अपाय कहते हैं और सत्यकोटिके ग्रहण करनेको धारणा कहते हैं। (अकलंकदेवने जो अपाय और अवायमें अर्थभेद बतलाया है उसको ये अपाय और धारणा कहते हैं।) परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि किसीको अन्वय (विधि) मुखसे निश्चय हो, किसीको निषेध मुखसे निश्चय हो, किसीको उभय-मुखसे निश्चय हो इसमें कुछ अन्तर नहीं है। अगर इनको स्वतन्त्र जुदा जुदा ज्ञान माना जायगा तो धारणाके स्थानपर एक नया ज्ञान मानना पड़ेगा। इस प्रकार पाँच ज्ञान हो जायँगे। अथवा अगर धारणाको मानोगे तो तीन ही ज्ञान रहजायँगे।"

इससे मालूम होता है कि एक प्राचीनमत ऐसा भी था जो धारणाको अलग भेद नहीं मानना चाहता था। परन्तु धारणाका नाम प्रचलित जरूर था इसलिये वह उसे अपायके अन्तर्गत करना चाहता था। आजकल जिस अर्थमें धारणाका प्रयोग होता है उसका वह निषेधक था। यह प्राचीनमत तथ्यशून्य नहीं है। धारणाको मानना ठीक नहीं मालूम होता, यह बात आगेके वक्तव्यसे मालूम होजायगी।

ङ—धारणाके स्वरूपमें भी बहुत विवाद है। पिछला मत यह है कि 'अवायज्ञानकी दृढ़तम-

*किमयमपाय उतावाय इति उभयथा न दोषोऽन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात्। यदा न दाक्षिणात्योऽयमित्यपायं त्यागं करोति तदौदीच्य इत्यवायोधिगमोऽर्थगृहीतः। यदावौदीच्य इत्यवायं करोति तदा न दाक्षिणात्योऽयमित्यपायोऽर्थगृहीतः। १-१४-१३। राजवार्तिक।

‡केइ तयण्णविसेसावणयणमेत्तं अवायमिच्छंति सब्भूयत्थविसेसावधारणं धारणं बेंति। १८५। कासइ तयण्ण बइरेगमेत्तओऽन्नगमणं भवेभूए। सब्भूयसमण्णयओ तदुभयओ कासइ न दोसो। १८६। सव्वो वि यसोऽवायो भेये वा होंति पंचवत्थूणि। आहेवंचिय च उहा मई तिहा अवहा होई। १८७।

† स एव दृढ़तमावस्थापन्नो धारणा। प्रमाण नय तत्वालोक २-१०। दृढ़तमावस्थापन्नो हि अवायः स्वापदौकितात्मशक्तिविशेषरूपसंस्कार द्वारेण कालान्तरे स्मरणं कर्तुं पर्याप्नोति। रत्नाकरावतारिका। विद्यानन्दी नेभी प्रमाणपरीक्षामें धारणा ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। 'तदेतच्चतुष्टयमपि अक्षव्यापारापेक्षं मनोऽपेक्षं च…तत एवइन्द्रियप्रत्यक्षं देशतोविशदं अविसंवादकं प्रतिपत्तव्यं।' मतलब यह कि जैन नैयायिकोंका मत है कि अवायके

अवस्था—जो संस्कार पैदा कर सके—धारणा है। यह *मतभी ठीक नहीं है परन्तु अन्य सब मतोंकी अपेक्षा* कुछ ठीक है।

इस मतसे जो प्राचीनमत है वह स्मृतिको या स्मृतिके कारणको * धारणा कहता है। इस मतके अनुसार संस्कारभी धारणा कहलाता है, और तीसरा प्राचीनमत तीनोंको धारणा कहता है। इस मतके अनुसार अवायकी दृढ़तम अवस्थाभी धारणा है संस्कार भी धारणा है और स्मृतिभी धारणा है। §

स्मृतिको धारणा माननेसे, धारणा सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भीतर शामिल नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति, सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप नहीं है। इससे विद्यानन्दीके वक्तव्यसे विरोध होता है।

कोई किसी एकको या दोको या तीनोंको धारणा माने परन्तु ये तीनों मत ठीक नहीं हैं। इनमें सबसे अधिक आपत्तिजनक मत, संस्कारको धारणा मानना है। वास्तवमें संस्कारको ज्ञानसे भिन्न एक स्वतन्त्र गुण मानना चाहिये, जैसाकि वैशेषिक † दर्शनमें माना जाता है।

प्रत्येक-ज्ञान लब्धि और उपयोग, इस प्रकार दो प्रकारका होता है। किसीभी ज्ञानका भेद उपयोग के भेदसे माना जाता है। उपयोगके भेदसे लब्धिके भेदकी कल्पनाकी जाती है। अगर हम संस्कारको ज्ञान मानेंगे तो उसका लब्धिरूप क्या और उपयोग क्या? इसका निर्णय न होगा।

प्रश्न—संस्कारकी जो न्यूनाधिक शक्ति या उस शक्तिको पैदा करनेवाला क्षयोपशम है, वह लब्धि है, और उससे उत्पन्न संस्कार उपयोग है।

उत्तर—अगर संस्कारको उपयोग मानाजायगा तो एक ज्ञानका संस्कार जबतक रहेगा तबतक दूसरा ज्ञान पैदा न हो सकेगा क्योंकि पूर्व उपयोगके विनाश के बिना नया उपयोग पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथमें दो उपयोग नहीं होते। इसलिये दो ज्ञानों के संस्कारभी एक साथ न रहेंगे। तबतो किसी प्राणीको कभीभी दो वस्तुओंका स्मरण न होगा।

प्रश्न—अगर संस्कारको लब्धिरूप ज्ञान मानें और स्मरणको उपयोगरूप ज्ञान मानें तो क्या हानि है?

उत्तर—यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि संस्कार किसी न किसी उपयोगका फल है। परन्तु लब्धि किसी उपयोगसे पैदा नहीं होती। वह उपयोग का कारण है न कि कार्य। संस्कार अगर लब्धिरूप होता तो उसके लिये किसी उपयोगकी आवश्यकता न होती। संस्कारमें उपयोगकी अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं आ सकती, इससे हम उसे नया ज्ञान भी नहीं मान सकते।

प्रश्न—संस्कार पूर्व उपयोगका भलेही फलहो परंतु वह स्मृतिका कारण है, इसलिये हम उसे स्मृतिके लिये लब्धिरूप मानें तो क्या हानि है?

उत्तर—मैं कह चुका हूँ कि लब्धि किसी ज्ञानोपयोग से पैदा नहीं होती, इसलिये संस्कारको लब्धि नहीं कहा जासकता। यदि ज्ञानका कारण होनेसे कोई लब्धि कहलाता है तो अवग्रह ईहाके लिये लब्धि होगा, ईहा अवायके लिये, अवाय धारणाके

अनन्तर होनेवाली ज्ञानकी एक उपयोगात्मक अवस्थाही धारणा है। संस्कार धारणा नहीं, धारणाका फल है। प्रभाचन्द्रतो स्पष्टही धारणाको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं—"संस्कारः सांव्यवहारिक प्रत्यक्षभेदो धारणा"—प्रमेय कमल मार्तण्ड। तृतीय परिच्छेद।

* कालान्तरे अविस्मरणकारणं धारणा। सर्वार्थसिद्धि १–१५। निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा। स एवायमित्यविस्मरणं यतोभवति सा धारणा। त० राजवार्तिक। १–१५–४।

§ तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो। कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ। विशेषावश्यक। २९५।

† भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः। कारिकावली १६०।

लिये, धारणा स्मृतिके लिये, स्मृति प्रत्यभिज्ञानके लिये लब्धिरूप होंगे। इसलिये ज्ञानका कारण होने से किसीको लब्धिरूप कहना ठीक नहीं।

दूसरी बात यह है कि लब्धि सामान्य शक्ति है। उसमें किसी विशेष पदार्थका आकार नहीं होता। जैसे—आँखोंसे देखनेकी शक्तिमें घटपट आदि विशेष पदार्थका आकार नहीं रहता किन्तु उसके उपयोगमें रहता है। संस्कारमें घटपट आदि विशेष पदार्थका आकार रहता है, इसलिये उसे लब्धि नहीं कहा जा सकता।

तीसरी बात यह है कि जब किसी आत्मामें संस्कार थोड़ा पड़ता है और किसीमें ज्याद: पड़ता है तब इसका कारण क्या कहा जायगा? जिस प्रकार अन्य ज्ञानोंकी न्यूनाधिकता उनकी लब्धिकी न्यूनाधिकतासे पैदा होती है, उसीप्रकार संस्कारकी न्यूनाधिकताभी किसी लब्धिकी न्यूनाधिकताको बतलाती है। अगर संस्कार स्वयं लब्धिरूप होतातो उसे किसी दूसरी लब्धिकी आवश्यकता क्यों होती? अगर लब्धिके लिये लब्धिकी कल्पना की जायगी तो अनवस्थादोष होगा।

इन तीन कारणोंसे संस्कारको लब्धि मानना अनुचित है। जब संस्कार, उपयोग रूपभी नहीं है और लब्धिरूपभी नहीं है तब उसे ज्ञानसे भिन्नगुण मानना उचित है। एक बात औरभी विचारणीय है।

धारणा मतिज्ञान है और वह अवायके बाद होता है। परन्तु अगर किसी मनुष्यको किसी विषयमें संदेह पैदा हुआ, पीछे उसका ईहा और अवाय न होपाया तो क्या उसको संदेहका संस्कार न होगा? क्या हमें सन्देहका स्मरण नहीं होता? यदि सन्देह का भी संस्कार होता है, ईहाका भी संस्कार होता है अवायकाभी संस्कार होता है, श्रुतज्ञानका भी संस्कार होता है (क्योंकि श्रुतज्ञानसे जाने हुए पदार्थका हमें स्मरण होता है) अवधिआदिका भी संस्कार होता है, तब संस्कार अवायके अनन्तर होनेवाला मतिज्ञान कैसे माना जासकता है? इतनाही नहीं, उसे ज्ञानही कैसे कहा जासकता है? क्योंकि वह किसीभी ज्ञानरूप नहीं ठहरता। अवग्रहकी धारणा ईहाकी धारणा आदि प्रयोगोंसे वह ज्ञानका सम्बन्धी कोई भिन्नगुण ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—संस्कारको अगर पृथक्गुण माना जायगा तो न्यूनाधिक संस्कारका कारण ज्ञानावरण कर्म न हो सकेगा। तब उसका कारण क्या होगा?

उत्तर—जबहम कोई पत्थर फेंकते हैं तब किसी के हाथका पत्थर दसगज जाता है, और किसीका ५० गज जाता है, और किसीका सौगज जाता है। इसका कारण पत्थरमें पैदा होनेवाला वेग है जो हाथकी शक्तिसे उत्पन्न हुआ है। वेग और हाथकी शक्तिमें कार्यकारणभाव है और जुदीजुदी वस्तुएँ हैं। इसी प्रकार जो उपयोग जितना तीव्र है उसका संस्कारभी उतनाही अधिक स्थायी है। उपयोग और संस्कारमें कार्यकारणभाव है, परन्तु दोनों एक नहीं है।

प्रश्न—किसीका उपयोग तीव्र होकरके भी शीघ्र नष्ट होजाता है; किसीका मन्द होकरके भी बहुत स्थायी रहता है। बालक किसीपर खूब प्रसन्न होता है और उसे देखकर नाचने लगता है, परन्तु जल्दी भूलजाता है। साधारण मनुष्य भी ऐसे देखे जाते हैं, जब कि अन्य मनुष्य बहुत दिन तक स्मरण रखते हैं।

उत्तर—पत्थरका टुकड़ा थोड़ी शक्तिसे जितनी दूर जासकता है, रुईका ढेर उससे कम वजन होकरभी और उससे कईगुणी शक्तिका उपयोग करने परभी उतनी दूर नहीं जाता। इसका कारण यह है कि रुईका ढेर वायुको इतना नहीं काट सकता जितना पत्थरका टुकड़ा। वायुके घर्षणसे

जिसप्रकार पत्थर आदिका वेग क्षीण होता जाता हैं, उसी प्रकार संस्कारभी अन्य उपयोगोंसे क्षीण होता रहता है। बालकके वर्तमान संस्कार जितने प्रबल होते हैं उसको क्षीण करनेवाले दूसरे संस्कार भी प्रबल होते हैं, जो पहिले संस्कारको नष्ट करते हैं। मतलब यह कि उपयोगकी तीव्रता, संस्कारोंका संघर्षण आदि पर किसी संस्कारकी स्थायिता निर्भर है। वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे स्थायी अस्थायी नहीं होता। ज्ञानावरणका उसके साथ परम्परा सम्बन्ध है, साक्षात् नहीं।

तीसरी बात यह है कि संस्कार अगर ज्ञानरूप होता तो चारित्रका संस्कार न होना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञानकी वासना बनी रहती है, उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंकी (चारित्रके विकारोंकी) भी वासना बनी रहती है।

प्रश्न—कषायका संस्कारभी ज्ञानका ही संस्कार है। किसी अनिष्ट घटनासे हमें किसीपर क्रोध होता है। जबतक उस घटनाका स्मरण बना रहता है तबतक क्रोध बना रहता है। क्रोधकी वासना ज्ञानकी वासनासे जुदी नहीं है।

उत्तर—किसी बाल रोगीको डॉक्टर नस्तर लगाता है। रोगी डाक्टर पर क्रोध करता है, उसे मारनेकी चेष्टा करता है, गालियाँभी देता है। परन्तु जब उसे आराम होजाता है, तो उसका क्रोध चला जाता, है बल्कि उसे प्रेम या भक्ति पैदा होजाती है। यहाँ उसे नस्तर लगानेकी घटनाके ज्ञानका संस्कार तो है, परन्तु कषायका संस्कार नहीं है। यदि दोनों ही संस्कार एक होते तो एकके होनेपर दूसराभी होना चाहिये था। मतलब यह कि संस्कार ज्ञानका भी होता है, चारित्रका भी होता है, गतिका भी होता है, बन्धका भी होता है। इसप्रकार संस्कार एक गुण है, जोकि जड़ और चेतन सभी पदार्थोंमें पाया जाता है। ज्ञानके संस्कारको हम भावना, कषायके संस्कारको वासना, गतिके संस्कारको वेग, और बन्धके संस्कारको स्थितिस्थापक कहते हैं। एक बेंतको हम हाथसे झुकाते हैं। जबतक वह हाथसे पकड़ा हुआ रहता है तबतक झुका रहता है। छोड़नेपर फिर ज्योंका त्यों होजाता है। यह बन्धका संस्कार स्थितिस्थापक कहलाता है।

प्रश्न—संस्कार अगर स्वतंत्र गुण है तो उसको न्यूनाधिक करनेवाला कर्म कौन है?

उत्तर—संस्कारका घातक कोई कर्म नहीं है। जो संस्कार जिस गुणका होता है, उस गुणके घातक कर्मका उसपर प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न—ज्ञान, स्वयं एक गुण है। उसमें संस्कार नामका दूसरा गुण कैसे रहसकता है? गुणमें गुण नहीं रहसकता।

उत्तर—संस्कार ज्ञानका होता है, ज्ञानमें नहीं होता। होता तो वह आत्मामें ही है। अगुरुलघुत्व गुण गुणोंको बिखरने नहीं देता, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह गुणोंमें रहता है। वह द्रव्य में ही रहकर दूसरे गुणोंपर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार संस्कारभी आत्मामें रहकर ज्ञानगुणों पर प्रभाव डालता है। अथवा जिस प्रकार वैभाविक गुण एक स्वतन्त्र गुण है, जिसके निमित्तसे सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र आदिमें विभाव परिणति होती है, परन्तु उसका आधार ज्ञानादि गुण नहीं है, किन्तु द्रव्य है; इसी प्रकार संस्कार है।

मालूम होता है कि पीछेके जैन नैयायिकोंनेभी संस्कारको एक स्वतन्त्र गुण मानलिया है। रत्नाकरावतारिका* में संस्कारका अर्थ आत्मशक्तिविशेष किया गया है। यदि उन्हें संस्कारको ज्ञानरूप मानना मंजूर होता तो वे संस्कारको ज्ञानविशेष

*संस्कारस्यात्मशक्तिविशेषस्य। रत्नाकरावतारिका। ३-३।

कहते, आत्मशक्तिविशेष न कहते। इन सब कारणोंसे संस्कारको धारणा मानना अनुचित है।

स्मृतिको धारणा माननाभी अनुचित है। क्योंकि, धारणा तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, यह मैं पहिले कहचुका हूँ। दूसरी बात यह है कि स्मृतिको परोक्ष मानकरके भी अगर उसे यहाँ शामिल किया जाय तो प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिको भी यहाँ शामिल करना पड़ेगा। अगर कहा जाय कि तर्कतो ईहा मतिज्ञान* है तो यहभी ठीक नहीं. क्योंकि तर्कके पहिले स्मृतिकी आवश्यकता होती है, इसलिये स्मृतिका स्थान ईहाके पहिले होगा, जबकि धारणा ईहाके बाद होती है।

इस विवेचनसे जैन नैयायिकोंके मतका भी खण्डन होजाता है। वे अवायके बाद ज्ञानकी दृढ़तम अवस्थाको धारणा कहते हैं, जिससे कि संस्कार पैदा होता है; परन्तु जब यह सिद्ध होचुका है कि संस्कार तो अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि सभी ज्ञानोंका पड़ता है, तब अवायके बाद दृढ़तम अवस्थावाले धारणा ज्ञानको पृथक् माननेकी क्या जरूरत है? मतलब यह है कि तीन प्रकारमें से किसीभी प्रकारको धारणा मानो, परन्तु वह ज्ञानका कोई स्वतन्त्र भेद सिद्ध नहीं होता है। इसलिये अवग्रह, ईहा और अवाय ये तीन भेद माननाही उचित है।

च—बहु बहुविध आदिके विषयमें जैनाचार्योंमें बहुत मतभेद है और ३३६ भेद करनेका ढंगभी अनुचित है। पहिले मैं इनके नाम और लक्षणोंके भेदोंको लेता हूँ। अनिःसृत, निःसृत, उक्त, अनुक्तके विषयमें बहुत मतभेद है। कोई इनकी परिभाषाको बदलता है तो कोई इनके बदलेमें दूसरे भेद बतलाता है। सब मतभेदोंका पता निम्नलिखित तालिकासे मालूम होगा।

* ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थभाष्य। १-१५।

प्रथममत	द्वितीयमत	तृतीयमत	चतुर्थमत
१ अनिःसृत	निःसृत	अनिश्रित	अनिश्रित
२ निःसृत	अनिःसृत	निश्रित	निश्रित
३ उक्त	उक्त	असंदिग्ध	उक्त
४ अनुक्त	अनुक्त	संदिग्ध	अनुक्त

प्रथम मतके अनुसार इन चारोंका अर्थ पहिले लिखा गया है।

दूसरे मतमें अनिःसृतकी जगह निःसृत किया गया है परन्तु यह सिर्फ क्रमका परिवर्तन नहीं है किन्तु अर्थका परिवर्तन* भी है। दूसरे मतके अनुसार निःसृत उसे कहते हैं जिसमें विशेषभेदका भी ज्ञान हो। शब्द सुनकर यह भी जानना कि यह मयूरका है या कुरटका, यह निःसृत कहलाता है। परन्तु इस प्रकारका विशेष निर्णय तो अवाय कहलाता है, और निःसृतका तो अवग्रह ईहाभी होता है. तब यह परिभाषा कैसे ठीक होसकती है?

तीसरे मतमें लिंगसे—चिन्हसे किसी वस्तुका ज्ञान निश्रित है और लिंग बिना किसी वस्तुका ज्ञान अनिश्रित है। असंदिग्धका अर्थ है. संशयादि रहित और संदिग्धका अर्थ है, विशेषमें संदेह सहित। यदि संदेहसहितको संदिग्ध मानाजाय तो उसका अवग्रह कैसे होगा? अथवा अवग्रह ईहा अपाय तो निश्रितज्ञानके भेद हैं, इन्हें अनिश्रित † रूप कैसे कहा जासकता है?

* अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इतिपाठः त एवं वर्णयन्ति-श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुरटस्य वा इति कश्चित्प्रतिपद्यते अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य इति। सर्वार्थसिद्धि १-१६।

† तत्त्वार्थमें असंदिग्ध और संदिग्ध पाठ है, और विशेषावश्यकमें निश्रित और अनिश्रित पाठ है। यहाँ शब्दभेद ही है, अर्थ नहीं, इसलिये इसे पाँचवाँ मत नहीं कहसकते।

चतुर्थ मत के विषयमें सिद्धसेनगणी§ कहते हैं कि उक्त और अनुक्त ये विषय सिर्फ कान के विषय हैं। अनुक्तका अर्थ अनक्षरात्मक शब्द है। सिर्फ कानका विषय होनेसे अन्य आचार्योंने इसको लिया ही नहीं है और इसके बदलेमें निश्चित अनिश्चित भेद माने हैं।

अकलंकदेवने उक्त और अनुक्तको भी आँख आदि सभी इन्द्रियोंका विषय सिद्ध करनेकी कोशिश की है, परन्तु वह असफल रही है।

ध्रुव और अध्रुवकी परिभाषाभी मतभेदसे खाली नहीं है।

सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं—'निरन्तर यथार्थ ग्रहण ध्रुव है †।' यहाँ पर यथार्थ ग्रहण व्यर्थ है। यथार्थग्रहण तो सभी भेदोंमें है। राजवार्त्तिकमें अकलंकदेव यथार्थ ग्रहणको ‡ ध्रुव कहते हैं। इसमें भी इसी प्रकारकी व्यर्थताका दोष है। परन्तु वे पंद्रहवें वार्तिककी व्याख्या* में निरन्तर ग्रहणको ध्रुव कहते हैं और बारबार न्यूनाधिक ग्रहणको अध्रुव कहते हैं। इसप्रकार धीरे धीरे ग्रहण करने का नाम अध्रुव ग्रहण हुआ परन्तु यह अक्षिप्रसे कुछ विशेषता नहीं रखता। सिद्धसेनगणी† कहते हैं कि इन्द्रिय अर्थ और उपयोग के रहनेपर भी कभी ग्रहण होना कभी न होना अध्रुव है और सदा होना ध्रुव है। यदि यह कहाजाय तोभी ठीक नहीं। क्योंकि जिससमय ग्रहण न होगा उस समय उसे अवग्रह ही कैसे कहा जायगा? खैर, ध्रुव-अध्रुवकी परिभाषा कुछभी हो परन्तु वह निश्चित नहीं है।

यहाँ एक बात यहभी विचारणीय है कि सर्वार्थसिद्धिके अनुसार बहु बहुविध आदि सभी विशेषण† 'अर्थ' के बतलाये गये हैं इसीलिये वे ध्रुवका अवग्रह, अध्रुवका अवग्रह, कहते हैं। परन्तु यहाँ जो व्याख्याएँ की जाती हैं वे क्रियाविशेषण § बना देती हैं। क्षिप्र और अक्षिप्रको तो सभी क्रियाविशेषण कहते हैं। यह कहाँ तक उचित है, यह भी विचारणीय है।

इस प्रकार अनेक तरहकी गड़बड़ी इस विषय में है, जिससे मालूम होता है कि मूलमें बह्वादिका विवेचन था ही नहीं। सूत्र साहित्यमें यह कदाचित् मिलेभी तो समझना चाहिये कि पीछे से मिलाया गया है। नन्दीसूत्रमें मुझे ये विशेषण नहीं मिले।

मतिज्ञानके ३३६ भेद करनाभी उचित नहीं है। किसीभी वस्तुके भेद ऐसे करना चाहिये जो एक

---

§ उक्तमवगृह्णाति इत्ययं विकल्पः श्रोत्रावग्रह विषय एव न सर्वव्यापीति।......अनुक्तस्तूक्तादन्यः.........शब्द एव अनक्षरात्मकोऽभिधीयते...। अव्याप्तिदोषभीत्या चापरैरिमं विकल्पं प्रोजाय अयं विकल्प उपन्यस्तः निश्रितमवगृह्णाति। त० भा० टीका १—१६।

† ध्रुवं निरन्तरं यथार्थग्रहणम्। १—१६।

‡ ध्रुवं यथार्थग्रहणात्। १—१६—११।

* यथाप्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव शब्दमवगृह्णाति। नोनं नाभ्यधिकं। पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्त श्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदाविर्भावात् पौनः पुनिकं प्रकृष्टावकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशम परिणामत्वाच्चाध्रुवमवगृह्णाति। १-१६-१५।

† सतीन्द्रिये सतिचोपयोगे सति च विषयसम्बन्धे कदाचित् विषयं तथा परिच्छिनत्ति कदाचिन्न इत्येदध्रुवमवगृह्णाति। १-१६।

† अवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारः बह्वादीनिपुनर्विशेषणानि कस्येत्याद-अर्थस्य। १-१६।

§ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार ध्रुव का अर्थ स्थिर करते हैं और अध्रुवका चञ्चल करते हैं। पहिले अर्थमें उनने ज्ञान विशेषण कहा है परन्तु इस अर्थमें ध्रुव अध्रुव अर्थके विशेषण बनते हैं परन्तु यह मत दूसरे आचार्योंसे नहीं मिलता। ध्रुवमवस्थितं इदं च ज्ञान विशेषणम् अध्रुवमनवस्थितं यथाभिव्रभाजन अलं। अथवा ध्रुवः स्थिरः पर्वतादिः अध्रुवः अस्थिरो विद्युदादिः। १-६।

दूसरेसे न मिलते हों। एक भेद अगर दूसरे भेदमें मिले तो वह वर्गीकरण उचित नहीं कहला सकता। प्राणियोंके मनुष्य, पशु, पक्षी स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बालक, युवा, वृद्ध, इस प्रकार नवभेद करना अनुचित है, क्योंकि इसमें स्त्री पुरुषादि भेद मनुष्यादि भेदोंमें चलेजाते हैं। बहु आदि भेदोंमें भी यही गड़बड़ी है। बहु, बहुविध, एक, एकविध ये चार भेद क्षिप्रभी होसकते हैं और अक्षिप्रभी होसकते हैं, इस लिये इनको चार न कहकर आठ कहना चाहिये। इसी प्रकार ये आठ निःसृतभी होसकते हैं, अनिःसृतभी होसकते हैं। इसलिये सोलह भेद होंगे। इसीप्रकार इनको उक्त, अनुक्त और ध्रुव, अध्रुवसे भी गुणा करना चाहिये। मतलब यह कि पहिले तो भेदोंकी परिभाषा और मान्यताही ठीक नहीं है, अगर होभी तो उनका गुणा करके प्रभेद निकालनेका ढंग अच्छा नहीं है। सम्भवतः इस गड़बड़ीका इतिहास इस प्रकार है—

१—मूलमें बहु, बहुविध आदि भेद थे ही नहीं।

२—किसी आचार्यने मतिज्ञानकी विविधता समझानेके लिये बहु बहुविध आदिको उदाहरणके रूपमें लिखा, वर्गीकरणके लिये नहीं।

३—इसके बाद किसी आचार्यने मतिज्ञानके २८ भेदोंको बारहसे गुणा करके ३३६ भेद करदिये। उनने यह न सोचा कि सबके साथ इनका गुणा करने से भेदोंकी संगति होगी या न होगी।

४—पीछे जब उक्त अनुक्त आदिका सब इंद्रियों से सम्बन्ध न बैठा, ध्रुव और धारणामें गड़बड़ी होने लगी तब आचार्योंने इनकी परिभाषा बदलना शुरू किया। लेकिन मूलही ठीक नहीं था, इसलिये सुधार न होसका।

५—भगवान् महावीरके समयमें मतिज्ञानके इन्द्रिय अनिन्द्रियके निमित्तसे दो भेद या छः भेद प्रचलित थे। बाक़ी भेद पीछेकी रचना है।

६—मतिज्ञानके मतभेदोंका यहीं अन्त नहीं होजाता किन्तु ज़रा ज़रासी बातोंमें इतना मतभेद है कि उनका कुछ निर्णयही नहीं होता। तत्त्वार्थमें मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोधको अनर्थान्तर कहा गया है। राजवार्तिककार* कहते हैं कि ये पाँच शब्द इन्द्र, शक्र, पुरन्दरकी तरह पर्यायवाची हैं। सर्वार्थसिद्धिकार अभेद कहकर भी समभिरूढ़नयकी अपेक्षा भेद मानते हैं। राजवार्तिककार प्रश्नोत्तर करते हैं कि 'मति क्या है ? जो स्मृति है। स्मृति ‡ क्या है ? जो मति है।' सर्वार्थसिद्धिकार अभेदकी मात्रा इतनी अधिक नहीं बढ़ाते। परन्तु ये दोनोंही आचार्य पाँचोंका जुदाजुदा स्वरूप नहीं बतापाते। सिर्फ व्याकरणकी व्युत्पत्ति बताकर एक तरहसे बातको टाल कर चले जाते हैं †।

श्लोकवार्तिककार अवग्रहादिको मति, § प्रत्यभिज्ञानको संज्ञा, तर्कको चिन्ता, और स्वार्थानुमानको अभिनिबोध कहते हैं। इसलिये इनकी दृष्टिमें मति सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलायी और स्मृत्यादिपरोक्ष। लघीयस्त्रयके टीकाकार ⚹ अभयचन्द्रभी यही बात

* यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दभेदेऽपिनार्थभेदः तथा मत्यादिशब्दभेदेऽपि अर्थाभेदः। १-१३-४।

‡ का मतिः ? या स्मृतिरिति। का स्मृतिः ? या मतिरिति। १—१३—१०

† मननं मतिः स्मरणं स्मृतिः। संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता अभिनिबोधनं अभिनिबोधः। १-१३

§ मतिः अवग्रहादिरूपा। १-१३-२। संज्ञायाः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपायाः। १-१३-१०। सम्बन्धोवस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः। चेष्टार्थतस्तवस्तत्र चिंता स्यादर्थभासिनी॥ १-१३-८५ तत्साध्याभिमुखो बोधनियतः साधने तु यः। कृतोऽनिंद्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः १—१३—१२२।

⚹ मतिः मतिसंज्ञं ज्ञानं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमाद्यं कारणमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा। तर्कः चिन्ता अभितो-देशकालान्तर व्याप्त्या निबोधो—निर्णयः लिंगादुत्पन्नात्लिंगधीरनुमानमित्यर्थः।

कहते हैं। वे मतिको प्रत्यक्ष और स्मृति संज्ञा-चिन्ता अभिनिबोध और श्रुतको परोक्ष कहते हैं।

इन दोनों मतोंका गोम्मटसारके टीकाकारसे कुछ विरोध आता है। वे अवग्रहादिके भेदोंके जो अनिसृत भेद है उसमें चिन्ता अनुमान आदिको शामिल करते हैं, यह बात मैं कह चुका हूँ। इस दृष्टिसे मतिके भीतरही अनुमानादि आजाते है।

तत्त्वार्थ भाष्यके टीकाकार सिद्धसेनगणी * दो मत बताते है। मति अर्थात इन्द्रिय मनके निमित्तसे उत्पन्न वर्तमान-मात्रग्राही। संज्ञा=एकत्वप्रत्यभिज्ञान। चिन्ता=आगामी अमुक वस्तु इस प्रकार बनेगी या मिलेगी इस प्रकारका ज्ञान। आभिनिबोधिक=अभिमुख निश्चित ज्ञान।

दूसरा मत यह है कि—ये सब पर्याय-शब्द हैं। स्मृति=भूतकालको विषय करनेवाली, संज्ञा=वर्तमान विषयवाली। चिन्ता=भविष्य विषयवाली। ये तीनों मिलकर त्रिकाल-विषयी आभिनिबोधिक ज्ञान है।

यहाँ इन मतभेदोंकी आलोचना करनेकी जरूरत नहीं है। मतिज्ञानके इस विस्तृत विवेचनमें (मतभेद और उत्तरोत्तर विकासमय विवेचनसे) पाठक निम्नलिखित बातें अच्छी तरह समझ गये होंगे।

दूसरे दर्शनोंका जिस प्रकार क्रमक्रमसे विकास हुआ है उसीप्रकार जैनदर्शनका भी हुआ है। वह किसी सर्वज्ञका कहा हुआ नहीं है।

* येयं मतिः सैव मतिज्ञानं। मतिज्ञानं नाम यदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं वर्तमानकाल विषयपरिच्छेदि। तैरेव इन्द्रियैरनुभूतमर्थं पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पूर्वाह्ने इति संज्ञाज्ञानं। चिन्ताज्ञानमागामिवस्तुनं एवं निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नेति। आभिनिबोधिकम् अभिमुखो निश्चितो यः विषयपरिच्छेदः। ' लोके स्मृतिज्ञानं अतीतार्थविषयपरिच्छेदि सिद्धम्। संज्ञाज्ञानं वर्तमानार्थग्राहि, चिन्ताज्ञानमागामिकालविषयम्। ....आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव त्रिकालविषयस्यैते पर्यायाः। १—१३।

दूसरे दर्शनोंके समान जैनदर्शनमें भी परस्पर विरोध है। पौर्वापर्य्याविरुद्धता बतलाना अन्धश्रद्धा के सिवाय कुछ नहीं है।

आचार्य कुछ लोकोत्तर ज्ञानी न थे। वे आज कलके विद्वानोंके समानही विद्वान थे। यह भ्रम है कि उनसे बड़ा विद्वान अब हो नहीं सकता, या होता नहीं है।

आज श्रद्धाके भरोसे जैनदर्शन और जैनधर्म प्राप्त नहीं हो सकता, निष्पक्ष आलोचना करके तर्क के बलपरही हमें जैनधर्म प्राप्त करना चाहिये।

परम्पराएँ पुरानी होकरके भी भगवान महावीर के पीछे की हैं। कौन परम्परा उस समयकी है और कौन नहीं है, यह कहना कठिन है, इसलिये निःसंकोच भावसे युक्तिविरुद्ध और अविश्वसनीय परम्पराको अलग करदेना चाहिये।

पुरानेपनके गीत गाकर हम भक्ति बतला सकते हैं परन्तु जैनत्व या सत्य प्राप्त नहीं कर सकते।

लेखमालाके आगामी विवेचनोंसे भी इन बातों का समर्थन होगा।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

जैन कालेज।

जैन कालेजकी चर्चा समाजमें ठीक ठीक चलरही है। इस चर्चामें भी दलबन्दी हैं। अभी तक जान बूझकर हमने मौन रक्खा था, परन्तु बहुतसे मित्रोंका आग्रह होनेसे इस विषय पर कुछ लिखना पड़ता है।

एक दल जैन कालेजके खोलनेका सख्त विरोधी है, क्योंकि उसके मतसे इससे निकलने वाले विद्यार्थी विजातीयविवाहके पोषक होंगे। विचारोंके उदार होंगे सुधारक होंगे। जैनगजट आदि पत्रोंने कालेजके विरोधके लिये ही इन हेतुओंका प्रयोग किया है

परन्तु वास्तवमें ये कॉलेजकी आवश्यकताके समर्थक ही हैं। इनके विरोधका सार इतनाही है कि कॉलेज सुधारक विचारवालोंकी संस्था होगी इसलिये वह नहीं होना चाहिये। जो विरोध दलबन्दीके लिहाज से किया जाता है, उसका कुछ मूल्य नहीं है।

कॉलेजकी योजनाके विरोधमें एक पतली आवाज "वीर" पत्रकी है जो कि वीरके १७-१८-१९ वें अंकोंमें प्रकाशित हुई है। परन्तु यह विरोध कॉलेज का नहीं किन्तु कॉलेज योजना की अतीत घटनाओं का है। 'वीर' के सम्पादक जी को संदेह है कि ऐसा न हो कि कॉलेज तो न खुले किन्तु जो कुछ रुपया आवे उससे फिर कोई महाविद्यालय सरीखी संस्था खड़ी करदी जावे और समाज धोखा खावे। 'वीर' सम्पादक की यह शंका निर्मूल नहीं है। पहिले ऐसा होचुका है, और आगे भी ऐसा न होगा, यह नहीं कहा जासकता। हम यहां स्वतंत्ररूपसे जैन कॉलेज के हानि-लाभ पर विचार करते हैं।

जैन कॉलेजका सबसे बड़ा लाभ यही है कि हम सिर उठाकर यह कह सकेंगे कि हमारा भी कॉलेज है। हमारे खयालमें इसके सिवाय और कुछ विशेष लाभ समझमें नहीं आता।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि 'इससे धार्मिक विद्वान पैदा होंगे'। परन्तु हमें इसकी आशा नहीं है। जैन हाईस्कूलोंके अनुभवसे इसका पता लगाया जासकता है। जब तक यूनिवर्सिटीमें अपना धार्मिककोर्स एम० ए० तक नियत नहीं किया जाता तब तक कॉलेजके विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षण देना न देना बराबर है। यूनिवर्सिटीकी परीक्षामें पास हो जाने पर और धार्मिक परीक्षामें फेल होने पर आप उस विद्यार्थीको आगे बढ़नेसे रोक नहीं सकते। अगर रोकेंगे तो विद्यार्थी दूसरे कॉलेजमें चले जावेंगे। तब धार्मिक विद्वान कैसे निकल सकते हैं? जब तक जैन यूनिवर्सिटी न हो तब तक जैन कॉलेजकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। हाँ, अगर यह कहाजाय कि धीरे धीरे वह कॉलेज यूनिवर्सिटी के रूपमें परिणत हो जायगा, परन्तु इसकी भी आशा बहुत कम है। आर्यसमाजियोंके बहुतसे कॉलेज और हाईस्कूल हैं, उनका शिक्षाबल, संगठन, कर्तृत्व और जनसंख्या भी बहुत है, फिर भी अभी तक उनकी यूनिवर्सिटी नहीं हो पायी। तब जैन यूनिवर्सिटीकी आशा तो आशा ही है।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि जिसप्रकार अलीगढ़ यूनिवर्सिटीने मुसलमानोंको उन्नत बनाया है उसीप्रकार जैनियोंको भी कॉलेज उन्नत बनाएगा। परन्तु इस आत्मघातक मनोवृत्तिसे जैन समाजकी जब तक रक्षा हो तभी तक अच्छा है। पिछले दस वर्षमें हिन्दू-मुसलमानोंमें जो झगड़े हुए हैं, वे अशिक्षितोंकी उद्दंडताके फल नहीं हैं, किन्तु शिक्षितोंकी नीचताके फल हैं। इस वैमनस्यने भारतके राजनैतिक जीवनको कमर ही तोड़दी है। अगर यह कमर न टूटी होती तो इस समय भारतने बहुत कुछ पाया होता। साम्प्रदायिकभाववाले शिक्षितोंको पैदा करना साँपको पंख लगाना है। अशिक्षितोंमें साम्प्रदायिकता होती है परन्तु उनमें शक्ति नहीं होती, इसलिये वह विशेष नुकसान नहीं पहुँचाती। शिक्षितों में जब साम्प्रदायिकता आजाती है तब वह देशका और समाजका नाश करकेही छोड़ती है। मैं राजनैतिक-चर्चामें नहीं जाना चाहता परन्तु इतना फिरभी कहता हूँ कि मुसलमानोंकी उन्नति राष्ट्रद्रोहका फल है। इस सूत्रपर लम्बाचौड़ा भाष्य लिखा जा सकता है। खैर, लेकिन जैनलोग तो इस प्रकारका विद्रोह भी नहीं कर सकते, और अगर करें भी तो उनको आर्थिक-क्षेत्रमें वर्तमान स्थानसे भी भ्रष्ट होना पड़ेगा। कौंसिलों और सरकारी नौकरियोंमें हिन्दू-मुसलमानोंकी सीटोंका पक्षपातपूर्ण बटवारा करनेसे हिंदू-मुसलमान लड़ सकते हैं और उनके लड़नेसे राज-

नैतिक आन्दोलन मृतकप्राय हो सकते हैं, परन्तु जैनियोंके लिये ऐसा बटवारा नहीं किया जासकता और न वे हिन्दू-मुसलमानोंकी तरह जैनाजैनमें विभक्त होकर लड़ सकते हैं, न उनके लड़नेसे राज-नैतिक आन्दोलन मिट सकता है। हाँ, इस भिड़न्त से जैनियोंका व्यापारिक-क्षेत्रमें जो स्थान है वह जरूर छिन जायगा। साम्प्रदायिक क्षुद्र-भावनासे हम अपना नाश कर सकते हैं, भारतमाताकी छातीमें खञ्जर नहीं तो सुई चुभा सकते हैं, परन्तु कल्याण किसीका नहीं कर सकते। जैनत्व, मनुष्यत्व और राष्ट्रीयताके खयालसेही नहीं किन्तु पॉलिसीके खयाल से भी हमें अलीगढ़ यूनिवर्सिटीका अनुकरण करने वाली मनोवृत्तिका त्याग करना चाहिये।

उपयोगिताके विषयमें एक छोटीसी बात और है। मानलो जैन यूनिवर्सिटी बनगई। परन्तु सार्व-जनिक क्षेत्रमें उसके ग्रेज्युएटोंका मूल्य कितना होगा? सरकारी यूनिवर्सिटियोंमें भी इस बातका विचार किया जाता है कि किस यूनिवर्सिटीकी डिग्रीका कितना मूल्य है। आज जबकि छोटी छोटी नौकरीके लिये अर्जियोंके पुलन्दे पहुँचते हैं, तब उनके भीतर जैन यूनिवर्सिटीके ग्रेज्युएटकी अर्जीका क्या मूल्य होगा? अगर मूल्य न होगातो जैनयूनिवर्सिटीमें जैनविद्यार्थी क्यों पढ़ेंगे? हिन्दू-यूनिवर्सिटी सरीखे विश्व-विख्यात यूनिवर्सिटीके साम्हने जब यह समस्या रहती है जिसके पीछे पचीसकरोड़ हिन्दुओंका समाज है, तब जैनियों का तो क्या कहना? इसके अतिरिक्त साइन्स आदि विषयोंको अर्थाभावके कारण हम रख नहीं सकते-सिर्फ तीनचार मामूली विषय रख सकते हैं, परन्तु जैनविद्यार्थियोंको दूसरी लाइनोंमें अधिक संख्यामें भेजनेकी जरूरत है। इस प्रकार जब यूनिवर्सिटीके होनेपरभी हम विशेष लाभ नहीं उठा सकते तब एक साधारण कालेजकी उपयोगिता एक पाठशालासे अधिक नहीं है।

कहा जाता है कि उसमें एक संस्कृत-विभागभी रहेगा। हमारे खयालसे यह निरर्थक है। संस्कृत पाठशालाओंसे आजकल इतने संस्कृतज्ञ निकलते हैं कि वे बेकारीके मारे, मारे मारे फिरते हैं। इस-लिये इन पाठशालाओंको बन्द कर देनेकी जरूरत है। कॉलिजके लायक पैसा मिलनाही मुश्किल है, फिर संस्कृत-विभागभी उसमें अपना हिस्सा लगावेतो कालेजको बहुत ज्यादः ऊनोदर तप करना पड़ेगा।

ऊपरकी बातोंपर विचार करनेसे यह बात अच्छी तरह मालूम होती है कि कॉलेजकी योजनासे धर्मके विद्वान-ग्रेज्युएट निकलेंगे—यह आशा निरर्थक है। इसकेलिये किसी दूसरी योजना पर विचार करना चाहिये।

इस विषयकी योजना यहाँ (मुंबईमें) महावीर-विद्यालयमें चलरही है। इस योजनाके अनुसार न्याय, व्याकरण और अर्धमागधीका उच्च शिक्षण दिया जाता है। योजनाका यह तीसरा वर्ष है। इन दो वर्षों में जैन-न्याय प्रथमामें ३२ और मध्यमामें १५ विद्यार्थी पास हुए हैं। दो वर्षमें १०-१२ न्यायतीर्थ बी० ए० के साथ हो जाँयगे। आगे प्रतिवर्ष होते रहेंगे। इसके अतिरिक्त क़रीब ६० विद्यार्थी अर्धमागधीका शिक्षण लेते हैं। अर्धमागधीका कोर्स मुंबई यूनिवर्सिटीके अनुसार रक्खा गया है। इसमें प्रायः जैनधर्मके ग्रंथ हैं। ये विद्यार्थीभी प्राकृत और धर्मशास्त्रके ज्ञाता हो जायँगे। इस योजनाके भीतर मेरे पास इस समय न्यायतीर्थमें ११, मध्यमामें ११, प्रथमामें ५, बी० ए० मागधीमें २, इन्टर मागधीमें ११, और करीब ४५ विद्यार्थी प्रीवियसमें हैं। न्यायतीर्थ, मध्यमा और प्रथमामें क्रमसे १०), ७) और ५) रु० मासिक स्कॉ-लरशिप दी जाती है। जो विद्यार्थी वार्षिक या छः माही परीक्षामें फेल होते हैं, उनको छः माहकी स्कॉ-लरशिप नहीं दी जाती और जिस महीनेमें तीन दिनसे अधिक किसी विद्यार्थीकी अनुपस्थिति रहती है उसकी

एक मासकी स्कॉलरशिप काटली जाती है । इस योजनामें क़रीब ७००) मासिक खर्च होता है, और क़रीब १०० विद्यार्थी शिक्षण लेते हैं। यह योजना कहाँतक सफल होगी यहतो भविष्य बताएगा, परन्तु कॉलेजके स्थान पर इस योजना परभी विचार किया जा सकता है। अगर किसी केन्द्रस्थान पर एक विशाल छात्रालय बनाया जाय जिसमें क़रीब १०० विद्यार्थी हों और उनको १५) से २५) रु० मासिक स्कॉलर्शिप दीजाय और भोजनखर्च विद्यार्थीसे लिया जायतो २०००) मासिक खर्चसे ही क़रीब १०० विद्यार्थियोंको अंग्रेज़ी और धर्मका उच्च-शिक्षण दिया जा सकता है। उच्च-श्रेणीके और परिश्रमी दो विद्वानों को रखदेनेसे अच्छी तरह काम चल सकेगा, और किसीभी लाइनका अंग्रेजी विद्यार्थी इस योजनासे लाभ ले सकेगा। हमारे ख़यालसे कॉलेजकी अपेक्षा यह योजना अधिक सफल होगी। फिरभी अगर कॉलेजकाही आग्रह होतो उसके लिये निम्नलिखित सूचनाएं उपयोगी होंगी।

१—कॉलेज ऐसी जगह बनाया जाय जहाँ दूसरा कॉलेज न हो, जिससे जैनेतर लोगभी कॉलेजका उपयोग करें। वह प्रान्त ऐसा होना चाहिये जहाँ जैनियों की संख्याभी अधिक हो, जैसे कारंजा है। मेरे ख़याल से कारंजामें कोई कॉलेज नहीं है। जैनसमाजकी तरफ़से अभी मेट्रिक तकका स्कूल है। यहाँ जैनियोंकी संख्याभी अधिक हैं। यहतो एक उदाहरण है, परन्तु ऐसाही कोई स्थान ढूँढ़ना चाहिये। सागरमें जैनियों की बस्ती ठीक है, स्थानभी अच्छा है, संस्कृत-शिक्षण का उच्च-प्रबन्ध है। जिस नगरमें एक यूनिवर्सिटी है वहाँ कालेज खोलनेसे भविष्यमें जैनकॉलेजको यूनिवर्सिटी बनानेमें बाधा आसकती है तथा यूनिवर्सिटी कॉलेजके साम्हने जैनकॉलेजका उपयोगभी बहुत कम विद्यार्थी करेंगे।

२—जिन संस्कृतसंस्थाओंकी आर्थिक-स्थिति अच्छी नहीं है उनको तोड़कर इसी कॉलेजमें मिला देना चाहिये। इन्दौर और सहारनपुरके संस्कृत-विद्यालय भलेही न टूटे परन्तु बाक़ीके सब संस्कृत-विद्यालयोंको इस कॉलेजमें मिलादेना चाहिये। इससे कॉलेजके साथका संस्कृत विभाग अच्छा हो जायगा।

३—जिस यूनिवर्सिटीसे कॉलेजका सम्बन्ध किया जाय उसमें संस्कृतके बदले जैनधर्मका कोर्स अवश्य रखवाना चाहिये, अन्यथा धर्म-शिक्षणका कुछभी फल न होगा। अगर धार्मिक-विषयके रूपमें यूनिवर्सिटी जैनग्रंथ न ले तो प्राकृतभाषाके रूपमें उस विषयको रखना चाहिये। प्राकृतभाषाके उच्च-ज्ञानके लिये जैनसाहित्य पढ़नाही पड़ता है। मुंबई यूनिवर्सिटीमें प्राकृतभाषाके नामपर जैनसाहित्यही पढ़ाया जाता है। ऐम० ए० में जो जैनेतर काव्यग्रन्थ हैं वे काव्यज्ञानकी दृष्टिसे उपयोगी हैं तथा जैनसाहित्यके साम्हने बहुत थोड़े हैं। परन्तु इस योजनाके अनुसार श्वेताम्बर साहित्य लेना अनिवार्य होजाता है। लेकिन इससे लाभही है। एक जैन-ग्रेज्युएटके लिये दोनों शाखाओंका ज्ञान बहुत आवश्यक है। फिरभी अगर यूनिवर्सिटी जैनकोर्स लेनेको तैयार न होतो जैनकॉलेज खोलना व्यर्थ है। तबतो स्कालर्शिप-फंड की योजनाको ही अपनाना चाहिये।

४—पैसा देनेवालोंको यह न सोचना चाहिये कि हमारेही नगरमें कॉलेज होतो हम पैसा देंगे, अन्यथा न देंगे। स्थानका निर्णय लाभालाभकी दृष्टिसे करना चाहिये नकि पैसा देनेवालोंके आग्रहसे। देहली शहर अगर नयी पुरानी लाख-पचासहजारकी रक़म दे ही दे तो देहलीमें ही कालेजकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होजाती।

५—कॉलेज सरीखी संस्था—जिसकोकि भविष्यमें यूनिवर्सिटी बनानेका विचार किया जाता है—केवल दिगम्बर सम्प्रदायकी हो तो वह विशालरूप धारण नहीं कर सकतो। इसकेलिये तो दिगम्बर और

श्वेताम्बर दोनोंको मिलकर काम करना चाहिये, और ऐसेही लोगोंको इस कामके लिये आगे आना चाहिये जिनमें उदारता हो। धार्मिक पाठ्यक्रम दोनों सम्प्रदायों का वैकल्पिक रूपमें रक्खा जा सकता है। विद्यार्थी अगर दूसरे सम्प्रदायका शिक्षण न लेंगेतो परस्पर सहवाससे उदार तो बनेंगे। उनमें बन्धु-भावतो जाग्रत होगा। इससे कॉलेजकी आर्थिक स्थितिभी ठीक हो जायगी।

इन सूचनाओंके अनुसार कार्य किया जायतो कॉलेज किसी तरह खड़ा हो सकता है, और सम्भवतः कुछ लाभभी हो सकता है। फिरभी कालेज खड़ा करनेकी अपेक्षा किसीदूसरी योजना परही विचार करना उचित होगा।

अकलंक और तारा।

सर्वज्ञकी चर्चामें मुझे अकलंक आदि पूर्वाचार्योंके वाक्योंकी आलोचना करना पड़ी है। इसलिये पंडित अजितकुमारजीने मुझे कृतघ्न सिद्ध करनेकी कोशिश की थी, जिसका उत्तर मैंने जगत्के १८वें अंकमें दिया था, और कहा था कि अकलंकदेव हमें पिता और नेताकी तरह पूज्य हैं; परन्तु हमें सपूत बननेके लिये उनसे आगे बढ़ना चाहिये। इसके उत्तरमें पं० अजितकुमारजी कहते हैं कि सपूतका अर्थ सड़पूत, सड़ा हुआ पूत होता है। इसप्रकार मुझे सड़ और सड़ा हुआ कहकर जो गालीप्रदान किया गया है इसके लिये धन्यवाद है। आप लोगों से और कुछ आशा करना निरर्थक है।

अकलंक आदि आचार्योंकी महत्ता बताते हुए मैंने कहा था कि "किसीने किसीका गर्व खर्व किया है, इसीलिये अगर हम अपनी बुद्धि बेंचदें तो हमें वैनयिक मिथ्यात्वी होना पड़ेगा। सभी सम्प्रदायके विद्वानोंने दूसरोंका गर्व खर्व किया है। तारादेवीकी कल्पित और बेहूदी कथामें कुछ तथ्य नहीं है। हो तो, उससे महत्व क्या है? यहां किसी देवीको नहीं, देवको हराना है।" इन शब्दोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि तारादेवीको मैंने एक स्त्री कहा है। ऐतिहासिक घटनाओंमें देव देवीका अर्थ मनुष्य —पुरुष, स्त्री से अधिक नहीं होता। इसलिये किसी स्त्रीको हरानेसे किसीका गुणगान कुछ महत्व नहीं रखता। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं प्राचीन विद्वानोंका महत्व कम करना चाहता हूँ, किन्तु इतना ही है कि ऐसी देवदेवियोंकी कल्पित और बेहूदी घटनाओं पर उनका महत्व अवलम्बित नहीं है। देवदेवियोंकी कल्पितताको बतानेवाले इस वाक्यके उत्तरमें जैनदर्शन-सम्पादक लिखते हैं—"बम्बईके तारदेव सरीखे पवित्र वायुमंडलमें रात दिन रहते हुए यदि देवी देव होते रहें तो कोई आश्चर्य नहीं। तारदेवका यह पुराना प्रभाव है। उस बातको आप न पचा सके, साफ़ साफ़ कह गये यही एक आश्चर्य है! खैर पचाते भी कब तक?"

क्या बात मैं नहीं पचा सका और क्या कह गया और यहां कैसे देवी देव होते रहते हैं—इन सब बातोंका रहस्य मेरी समझमें बिलकुल नहीं आया। किसी पुराने रहस्यपूर्ण अनुभवके बिना ऐसी बातोंका मर्म समझमें नहीं आता। परन्तु मुझे वह अनुभव नहीं है। खैर, जैनदर्शन किस सभ्यतासे तत्वचर्चा करता है और करेगा इसका यह भी एक नमूना है। ऐसी बातोंका उत्तर न देना ही सबसे बड़ा उत्तर है। हाँ, तात्विक आक्षेपोंके उत्तर देनेमें उपेक्षा नहीं की जासकती।

अकलंक और तारा देवीकी कहानी दिगम्बर सम्प्रदाय और दिगम्बराचार्योंका अपमान करनेवाली तथा जैनधर्मको लजानेवाली एक बेहूदी मिथ्या कल्पना है।

अकलंकदेवके जीवनका परिचय अकलंक की किसी रचनासे नहीं मिलता। आराधना कथाकोष जो ब्रह्मचारी नेमिदत्तका बनाया हुआ है, उसमें अकलंककी कथा है जो कि अकलंक देव के आठसौ वर्ष पीछेकी बनी है। अकलंक देवके और भी अर्वाचीन कथानक हैं जो कि परस्परविरुद्ध हैं। कोई कथाकार अकलंक को पुरुषोत्तम मंत्री और पद्मावतीका पुत्र कहता है; कोई जिनदास (जैन ब्राह्मण) और जिनमतीका पुत्र कहता है। ये नाम परस्परविरुद्ध तो हैं ही, साथ ही इनके नाम भी अकलंकके प्रान्तसे मेल नहीं खाते। इससे अधिक प्रामाणिक नाम तो तत्वार्थ राजवर्त्तिकमें हैं। उसमें उन्हें लघुहव्व नृपतिका पुत्र बतलाया है। कोई कथाकार कहता है कि रानी मदनसुन्दरीका रथ रुकवाया गया था इसलिये अकलंकने शास्त्रार्थ किया था; जब कि दूसरा कथाकार कहता है कि उस समय सभी सम्प्रदायके आचार्य बौद्धोंसे दुःखी हो रहे थे इसलिये वीर शैव सम्प्रदायके आचार्यके अनुरोधसे अकलंकने शैव बनकर बौद्धों से शास्त्रार्थ किया था, और हारनेवालोंको कोल्हूमें पिलवादेनेकी शर्त रक्खी गई थी, आदि। इस प्रकार पारस्परिक विरोधसे ये कथाएं प्रामाणिक नहीं कही जासकतीं। तथा अकलंक देवसे सैकड़ों वर्ष (कमसे कम छः सौ वर्ष) पीछेकी होनेसे इनकी अप्रामाणिकता और भी निश्चित होजाती है।

इन कथाओंमें निकलंकका एक महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आश्चर्य है कि कथाओंके सिवाय और कहीं निकलंकका नाम तक नहीं आता। यदि निकलंकने अकलंकके लिये इस प्रकार जीवनोत्सर्ग किया होता तो क्या यह सम्भव था कि अकलंक उस आत्मोत्सर्गी भाईका कहीं नाम तक न लेते? निकलंककी कथाको मानना अकलंकको घोर कृतघ्न सिद्ध करना है।

जिस समयकी यह घटना है, उसके पहिलेही बौद्धधर्म अशोक और कनिष्क आदिके सत्प्रयत्नों से भारत, लंका, वर्मा, चीन, तिब्बत आदि देशों में व्यापक होचुका था। आज कलके मिशनरियोंके समान इन सब देशोंमें बौद्धधर्म और बौद्धसाहित्यका प्रचार होचुका था। उस समय बौद्धधर्मको पढ़नेके लिये इसप्रकार प्रच्छन्न वेष लेना पड़े और किसी भारतीयको बौद्धधर्म पढ़ लेनेसे प्राणोंसे हाथ धोना पड़े, यह बात किसी तरह नहीं जँचती। बौद्ध लोग ब्राह्मणोंकी तरह जातिपाँतिभी न मानते थे जिसका उन्हें कुछ विचार हो। वे आम तौरपर अपनी विद्या का प्रचार करते थे, इसलिये अकलंकको इतना जोखम उठानेकी बात सम्भव नहीं है। सिर्फ़ बौद्धोंकी क्रूरता और नीचता बतलानेके लिये यह भाग कल्पित किया गया है।

अब ज़रा इस कथाके बेहूदेपन और दिगम्बर सम्प्रदायके विरोधीपनपर विचार कीजिये। कथाकार महाशय एक भट्टारकके शिष्य हैं जो कि प्राचीन दिगम्बर मुनियोंकी अवहेलना करना चाहते हैं, और भट्टारकपंथको प्राचीनसे प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं तथा शासन देवोंकी पूजा करानेके लिये तथा यन्त्रमन्त्रोंका महत्व बतलानेके लिये शासन देवोंकी करामात बताना चाहते हैं और सिद्ध करना चाहते हैं कि शासनदेवोंकी सहायताके बिना आचार्य कुछ नहीं कर सकते—शासनदेवोंके सामहने आचार्य बच्चे हैं।

जब संघश्रीने मदनसुन्दरीका रथ रुकवादिया तब वह जैन मुनियोंके पास गई, और बोली कि—इसके साथ शास्त्रार्थ करनेमें कोई समर्थ है?

मुनि बोले—मान्यखेट नगरमें है। रानी बोली-वाह! सर्प तो सिर पर और वैद्य सौ योजन दूर!

इसप्रकार इस कथामें यहाँपर जैनमुनियोंको इसीलिये घसीटा गया है कि पाठकोंको दिगम्बर जैन मुनियोंकी अकिञ्चित्करता मालूम हो।

अकलंक एक महान आचार्य थे, और कथाकारके अनुसार भी वे शिष्यमण्डली सहित विहार करते हुए एक उपवनमें ठहरे थे। रानी ने चन्दन कर्पूर और नाना वस्त्रोंसे उनकी पूजा की। भट्टारकोंको छोड़कर किसी दिगम्बर मुनि की इस तरह (वस्त्रादिकोंसे) पूजा नहीं की जासकती। कथाकार चाहता है कि पाठक समझें कि पुराने आचार्य भी भट्टारकोंकी तरह वस्त्रादि धारण करते थे।

अकलंक पहिले दिन तो संघश्री को जीत लेते हैं परन्तु पीछे छः महीना तक नहीं जीत-पाते। शास्त्रार्थके पहिले अकलंकने कहा था कि 'यह बेचारा संघश्री तो क्या है, परन्तु मेरे साथ तो स्वयं बुद्ध भी शास्त्रार्थ * नहीं करता।' बुद्धके साथ शास्त्रार्थका दम भरने वाला तारा-देवीसे छः महीने तक न जीता, यह कितना भद्दा चित्रण है!

अकलंक चितातुर होगये। तब रात्रिमें चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंकसे बोली †—"अकलंक! तू बुद्धिमान है, जैनधर्मका मर्म जानता है, तेरे साथ कोई भी मनुष्य शास्त्रार्थ नहीं कर सकता। किन्तु तेरे साथ तारादेवी वाद कर रही है। अब तू सबेरे उठकर पहिली बात को फिर उलटकर पूछ! उसका मानभंग हो जायगा।" चक्रेश्वरीने जो चालाकी बताई, सिखाये हुए पूतकी तरह अकलंकने उसका अनुकरण किया और संघश्री का वह घड़ा पैरसे फोड़ डाला जिसमें उसने तारादेवीकी स्थापनाकी थी।

पाठक अच्छी तरह समझ सकेंगे कि यह सारा चित्रण चक्रेश्वरीकी महत्ता बतलानेके लिये है। पशुबलके कार्यमें देवियाँ सहायता करें तो कल्पना कुछ ठीक कही जासकती है। परन्तु शास्त्रार्थमें भी अगर देवियाँ सहायता करें तो आचार्य न हुए काठके पुतले ही हुए। यदि ऐसाही था तो इतने बड़े विद्वानकी क्या आवश्यकता थी? इसमें अकलंकका क्या महत्व रहा?

दूसरी बात यह है कि बौद्ध धर्म तो एक मिथ्याधर्म कहलाया और जैनधर्म एक सच्चा धर्म कहलाया, जिसके रक्षक इन्द्रादिक सभी देव हैं। परन्तु यहाँ पर जैनधर्मकी अधिष्ठात्री देवीके साम्हने बौद्धधर्मकी अधिष्ठात्री देवी कैसे खड़ी हो सकती है? चक्रेश्वरीने ही तारा-देवीको एक लात क्यों न लगाई, जिससे वह भागी भागी फिरती और अकलंकको इसप्रकार चालाकीसे काम न लेना पड़ता?

तीसरी बात यह है कि इस शास्त्रार्थमें न तो जैनधर्मके सत्यकी विजय हुई है, न अकलंकके पांडित्यकी विजय हुई है। तारादेवी एक बात दो बार नहीं बोल सकती थी, और अकलंकने चक्रेश्वरीके सिखानेसे दो बार बुलवानेकी ज़िद की, क्या इसीसे जैनधर्मकी सचाई सिद्ध होगई और अकलंक का पांडित्य सिद्ध होगया? साँच को आँच कहाँ? अकलंककी विजय तो इसमें थी कि कोई देवी नहीं, महादेवी आजाती, परन्तु

---

* कियन्मात्रो वराकोऽयं संघश्री यन्मया समम्। वादं कर्तुं समर्थो न सुगतोऽपि मदोद्धतः। आ० क०

† अहो धीमन्! जिनेन्द्रोक्तसार तत्त्वविदांवर! अकलङ्क त्वयासार्धं वादं कर्तुं न भूतले॥ समर्थो वर्तते-ऽसौ किन्तु वादं त्वया समम्। करोति तारिका देवी दि-नमेकान्ति धीधन्!॥ अतः प्रातः समुत्थाय पूर्वोक्तवस्तु पृच्छ। [illegible] पृच्छतां तस्या मानभङ्गो भविष्यति।

अकलंक उससे बाज़ी मार लेजाते। तारादेवीने सिर्फ़ तर्क वितर्क ही किया था परन्तु उसके तर्क को अकलंक छः महीने तक न कठ पाये, यह कितनी लज्जाकी बात है! अगर तारादेवी दूसरी बार बोल सकती तो अकलंक यह नक़ली विजयभी प्राप्त न कर पाते।

कथाकारको जैनधर्मके और अकलंक देव के इस अपमानसे कुछभी मतलब नहीं है। वह तो जैनधर्म और जैनाचार्योंको कुचलते हुए उनकी छाती परसे शासन देवोंकी गाड़ी दौड़ाये चला जाता है। उसकी दृष्टिमें शासनदेवोंके बिना परमेष्ठियोंका ज्ञान बल भी बेकाम है। वास्तवमें जो लोग अकलंकके महत्वके लिये और जैनधर्म की प्रभावनाके लिये ऐसी मूर्खतापूर्ण कथाओंपर विश्वास करते हैं, उनकी बुद्धि दयनीय है।

यहभी एक विचारणीय बात है कि मूल बौद्ध धर्ममें तारादेवीका क्या कोई स्थान है? बुद्ध के समयमें और इसके कई सौवर्ष बाद तक बौद्धधर्ममें तारा आदि किसी देवी देवताका पता न था। सम्राट् कनिष्कके बाद जब महायान सम्प्रदाय ज़ोर पर आया तब महायानियों ने ब्राह्मणोंकी नक़ल करके अपने भगवानका ठाठबाट बढ़ानेके लिये तारा प्रज्ञा पारमिता विजया आदि देवियोंकी कल्पनाकी। इस इतिहाससे मालूम होता है कि तारा कोई देवी नहीं है किन्तु महायानियोंके द्वारा की हुई एक कल्पना है। ऐसी कल्पित चीज़ घड़ेमें बैठकर अकलंकसे शास्त्रार्थ करे, यह उत्कट अन्धश्रद्धा का नमूना है। जो लोग इसप्रकार देवी देवता भूत पिशाच आदि की गप्पोंपर विश्वास करते हैं और इन्हें ऐतिहासिक घटना कहना चाहते हैं उनके साहसको अद्भुत दुःसाहसही कहना चाहिये।

इस विवेचनसे पाठक समझे होंगे कि तारा देवीके मानमर्दनकी यह कथा जैनधर्म तथा अकलंकका अपमान करनेवाली, मूल दिगम्बर जैनधर्म पर कुठाराघात करनेवाली और ऐतिहासिक क्षेत्र में हँसी करानेवाली है।

तारा देवीकी यह कथा जब बिलकुल बेहूदी और असत्य है तब क्या यह सम्भव है कि अकलंक ने स्वयं इस कथाका उल्लेख किया हो? जिसे अकलंकस्तोत्र कहा जाता है वह अकलंक का बनाया है या नाटककारके समान दूसरोंने ये श्लोक उनकी प्रशंसाके लिये बनाये हैं, यह विचारणीय है। हाँ, तारादेवीकी घटनाका उल्लेख करनेवाला श्लोक चन्द्रगिरिके शेलालेखों में मल्लिषेणप्रशस्तिमें मिलता है। इससे ये श्लोक किसी दूसरे आचार्यकी रचना मालूम होते हैं। परन्तु अभी मैं श्लोकोंकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकताका विचार छोड़ कर वास्तविक अर्थ परही विचार करता हूँ।

इसी शिलालेखमें आगे २३ वाँ श्लोक है जिसमें अकलंकके मुखसे कहलाया गया है कि "मैंने अहंकारके वशसे नहीं, किन्तु लोगोंको कुमार्गसे बचानेकी करुणासे बौद्धोंको जीतकर सुगत (बुद्ध) को पैरसे फोड़ डाला।" (बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः)।

यहाँ यह प्रश्न होसकता है कि उस समय वहां पर क्या महात्मा बुद्ध मौजूद थे? और क्या वेभी घड़ेमें बैठे थे जिन्हें अकलंक ने पैरसे फोड़ दिया? बुद्धका समय अकलंकसे क़रीब १३०० वर्ष पहिले है। इसलिये उससमय बुद्धका होना सम्भव नहीं है। तब बुद्धको ठोकर मारनेकी बात कैसी? इस प्रश्नका उत्तर एक बच्चाभी दे सकता है कि ठोकर बुद्धको नहीं, बुद्ध मूर्तिको

मारी गई होगी। इसीप्रकार तारादेवीके घड़े को जो लात मारी गई वह तारादेवीको नहीं किन्तु तारादेवीकी मूर्तिको मारी गई थी। कथाकार भी इस बातको कहता है कि संघश्रीने शास्त्रार्थके प्रारम्भमें बुद्धदेव और तारादेवीकी पूजाकी थी (इत्युक्त्वाऽन्तः पटंदत्त्वा बुद्धदेवार्चनं तथा । तद्देव्याश्चार्चनं कृत्वा चक्रे कुम्भावतारणम् ।) जब बौद्ध हार गये तब वह बुद्ध और ताराकी हार कही गई। स्थापना निक्षेप की इस घटनाको भावनिक्षेप रूपमें लगाकर कथाकारने शासनदेवीका शास्त्र रच दिया। उन्हें इसकी ज़रा भी पर्वाह नहीं रही कि शासन देवीकी कल्पनाके लिये बौद्धोंकी शासन देवीकी सिद्धि होती है, जैनधर्मकी सत्यता कलंकित होती है और सबसे बुरी बात तो यह है कि अकलंकदेवकी विद्वत्ता और महत्ताका बलिदान होता है। इसीलिये कथाको मैंने बेहूदी और कल्पित कहा था। इस पर जैनदर्शन के सम्पादक कहते हैं:—

"आपने जो श्री अकलंक देव और तारादेवी के शास्त्रार्थकी कथाको बेहूदी कथा बतलाकर जो अपने मुख और हाथोंको अपवित्र किया है, कृतज्ञताके नातेसे आपको उसका सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त लेना चाहिये। ···आपके वे दिव्य नेत्र भी प्रशंसनीय हैं जिन्होंने इस घटनाको असत्य रूपमें देखा।"

मैंने किन दिव्य नेत्रोंसे इस घटनाकी परीक्षा की है और अकलंकके व्यक्तित्वकी रक्षाके लिये किसका कहना प्रायश्चित्त योग्य है, इसका परिचय मेरे विस्तृत वक्तव्यसे पाठकोंको मिलगया है। निःपक्ष सत्य चर्चामें जब युक्तियोंका ख़ज़ाना खाली होजाता है तब लोग इसीप्रकार उत्तेजित होकर कृतघ्नता आदिकी दुहाई देने लगते हैं। कृतज्ञके क्या कर्तव्य हैं, इसका विवेचन मैं पहिले लेखमें ही करचुका हूँ।

एक जगह जैनदर्शन-सम्पादकने लिखा है—"आपका जैनधर्मका मर्म वैसीही भ्रान्त कल्पना का फल है जैसे ग्रामोफ़ोन बजना देखकर बच्चा ग्रामोफ़ोनके भीतर किसी मनुष्य की कल्पना करता है।"

अपनेसे विरुद्ध मत वालोंको बालक कहने लगना साधारण बात है। परन्तु ऐसे उदाहरण दोनों पक्षोंके लिये एकही समान लागू हो सकते हैं। उपमा कोई तर्क नहीं है कि उसका खंडन किया जाय, परन्तु इस वार्तालापमें आपकी उपमा आपको ही बहुत ठीक लागू होती है। घड़ेमें देवीकी स्थापना करके संघश्री शास्त्रार्थ करता है। मैं कहता हूँ वह शास्त्रार्थ संघश्री करता है। आप कहते हैं—"नहीं! शास्त्रार्थ तारा देवी करती है जो कि घड़ेमें बैठी है"। बालक फ़ोनोग्राफ़में आदमीकी कल्पना करता है और आप घड़ेमें देवीकी कल्पना करते हैं। अब सोचिये कि बालककी कल्पनामें और आपकी कल्पनामें क्या अन्तर है? हाँ, बालक जो काम भोलेपन से करता है, वही आप अन्धश्रद्धा से करते हैं।

विजातीय विवाहकी चर्चामें आप मेरे लेखों को अब भी युक्तिशून्य समझते हैं (यद्यपि आप मेरे पक्षमें आगये हैं), आप चुप हुए इस का कारण घरू झंझट आदि बतलाते हैं। शायद वे सब झंझटें तब तक रहीं जब तककि (चार वर्ष तक) आपके विचार मेरे पक्षमें परिवर्तित न हो गये। आपका यह खुलासा इतना अच्छा ज़रूर है जो कि मेरा समर्थन करसके। ख़ैर।

मैंने वर्तमान आन्दोलनमें निःपक्षता बत-

लानेके लिये ही आपको सूचना की थी, विजातीय विवाहकी विजयदुन्दुभि बजानेके लिये नहीं। मैं आशा करता हूँ कि विजातीय विवाहके विषयमें जिसप्रकार आपके विचार अपने आप तीनचार वर्षबाद बदले उसी प्रकार इस विषय में भी बदलेंगे। सम्भव है इस काललब्धिको पकनेमें कुछ अधिक समय लगे। कृतज्ञताका सौन्दर्य स्वेच्छापूर्वक व्यक्त होनेमें है और यह बहुत दुर्लभ है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि पंचेन्द्रिय होना वैसा ही दुर्लभ है जैसे गुणोंमें कृतज्ञता मिलना दुर्लभ है। (पंचेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या—सर्वार्थसिद्धि ६—७) आपकी काललब्धिकी बात सुनकर मुझे पूज्यपादके उक्त वाक्यका स्मरण होआया। किसका पक्ष जायगा या किसका रहेगा, इसकी चिन्ता न करके अगर हम निःपक्ष विचारक, सत्यवादी और सभ्यभाषी बनें तो अपना और समाजका बहुत कुछ कल्याण कर सकते हैं।

ब्रह्मचारीजीसे।

ब्र० शीतलप्रसादजीके आक्षेपोंका उत्तर प्रायः दिया जा चुका है। जीवराशिके विषयमें दशमलवका जो उनने उदाहरण दिया था उसका उत्तर १९ वें अंक में दिया गया है। उसपर ब्रह्मचारीजीका कर्तव्यथा कि वे उसका खंडन करते, या मेरी बातको स्वीकार करते, और अगर दोमें से कुछ नहीं हो सकताथा तो चुप रहते। परन्तु आपने एक चौथा रास्ता पकड़ा। आपने मुझे गणित सीखनेकी शिक्षा देनेकी कृपाकी है। ब्रह्मचारीजी जानते हैं अथवा उन्हें जानना चाहिये कि मैं जीवनभर विद्यार्थी रहा हूँ और रहूँगा। इसलिये आपकी बात अगर समझमें न आयगीतो किसी गणितज्ञका सहारा लूँगा। परन्तु आपकी ये सब बातें तो तभी सुन्दर मालूम हो सकती हैं जब आप मेरी बातका खण्डन करदें। आप कहते हैं कि 'दृष्टान्तकी सब बातें दार्ष्टान्तिकमें नहीं मिलतीं' परन्तु जिस बातके लिये उदाहरण है, उसका तो विचार करना पड़ता है। दशमलवका उदाहरण आपने अनन्तताके लिये दिया है। परन्तु जीव-राशिकी अनन्ततामें जो बाधक कारण है, वह दशमलवमें नहीं है। जिस विषयमें उदाहरण है उसी विषयमें जब बाधक मौजूद है तबभी यदि आप विषम दृष्टान्त न मानेंगे तब तो जगत्में कहींभी विषम-दृष्टान्त न मिलेगा, क्योंकि सत्ता सामान्यकी दृष्टिसे सब समान है इसलिये जिस चाहे बातके लिये जो चाहे उदाहरण देते जाओ! कौन रोकता है? खैर, इस विषयमें ब्रह्मचारीजी या और कोई सज्जन जब कुछ तर्कसे लिखेंगे तब इसकी पुनरालोचना की जायगी।

ब्रह्मचारीजीके आक्षेपोंके कुछ अंक मेरे पाससे गुम गये हैं। स्मरण-शक्तिके आधारपर ही उनके बाक़ी आक्षेपोंका उत्तर देना पड़ता है।

किसी जगह ब्रह्मचारीजीने लिखा हैकि बुद्ध अपने जीवनमें पहिले दिगम्बर-मुनि रहे थे। इस भूलका निराकरण बाबू कामताप्रसादजीके आक्षेपोंके उत्तरमें अच्छीतरह किया है। सातवें अंकका 'विरोधी मित्रों से' शीर्षक लेख देखिये।

अब आपके एक आक्षेपका स्मरण और होता है। जब मैंने केशी-गौतम सम्वादपर चर्चाकी थी, और कहाथा कि "दिगम्बर सम्प्रदायमें कमलके आकारका मन माना जाता है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वांगव्यापी।", इसपर आपने कहाथा कि "यह बात ठीक नहीं है। मैंने एक श्वेताम्बर मुनिसे पूछाथा और उनने कहाथा कि श्वेताम्बर भी दिगम्बरों के समान कमलाकार मन मानते हैं।"

आपने किस श्वेताम्बर-मुनिसे पूछाथा सो आप जानें। परन्तु जिस श्वेताम्बर-मुनिने यह उत्तर दिया

है उसको श्वेताम्बर शास्त्रों का ठीक ज्ञान नहीं है, यह बात निम्नलिखित उद्धरणोंसे सिद्ध होजायगी।

"मनसः शरीरव्यापिनः······"। (मन शरीर व्यापी है) —रत्नाकरावतारिका अ० १, सूत्र० २।

"मनः पर्याप्तिर्नामकरणविशेषः तेन करणविशेषेण सर्वात्मविशेषवर्तिना······"। तत्त्वार्थकी सिद्धसेनगणिकृत टीका। २-११

"तत्र च द्रव्यमनः स्वकाय परिमाणम्"।—त० सि० ग० टीका २-२२।

"तत्राद्यं स्वकाय परिमाणम् द्रव्यमनः"। त० सि० ग० टीका० २-१७।

विशेषावश्यक आदि अनेक ग्रन्थोंमें शरीरव्यापी द्रव्यमनका उल्लेख मिलता है।

ब्रह्मचारीजीके आक्षेपोंका उत्तर दियागया। आगे जो और आक्षेप किये जाँयगे, उनकाभी यथावसर उत्तर दिया जायगा। जिन मित्रोंके आक्षेपोंके उत्तर बाक़ी हैं उनका समाधानभी शीघ्र किया जायगा। उत्तर देनेके लिये निम्नलिखित आक्षेप मेरे ध्यानमें हैं।

१—भव्यत्व और अनन्तताके विषयमें ब्यावरके एक भाईके दो लेख।

२—बैरिस्टर चम्पतरायजीका अलंकार विषयक आक्षेप।

३—पं० भगवानदासजीकी लम्बी लेखमाला। लेखमालाका दृष्टिबिंदु न समझकर वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिको छोड़कर एक श्रद्धालुके उद्गार सरीखा यह खंडन है। अभी यह अधूरी है और बहुत दिनसे निकली नहीं है। निकलेगी तो पूरीपर अथवा अधूरीपर ही एक सरसरी नजर डालकर संक्षिप्त आलोचना करदी जायगी।

४—मित्रवर बाबू कामताप्रसादजीके लेखोंका जो खूब विस्तारसे मैंने समाधान कियाथा, उसके उत्तरमें मित्रवरने फिर कुछ लिखा है। अभीतक सिर्फ़ दो लेख निकले हैं, पीछे वह रुकगई है। जितना अंश निकलेगा उतनेका उत्तर यथावसर देदिया जायगा।

५—जैनदर्शनमें जो 'जैनधर्मका मर्म और पं० दरबारीलालजी' शीर्षक-लेखमाला शुरू हुई है उसका ज्योंही एक अंश (सर्वज्ञताका) पूरा होगा त्योंही उसका उत्तर मैं लिखूँगा। इस प्रकार जो जो अंश पूरा होता जायगा उस उसकी आलोचना करता जाऊँगा।

औरभी किसी भाईको कुछ शंकाहो अथवा किसीका कोई आक्षेप मेरे ध्यानसे बाहर होगया हो तो उसकी सूचना देनेकी कृपा करें।

एक जैन-विदुषी।

कुमारी राजूबाई रावजी उमड़ी (बीजापुर) ने जैनस्त्रीसमाजमें असाधारण प्रगतिकी है। इनने पहिलेतो इन्टर-साइंस पास किया। बादमें कृषिविज्ञान पढ़नेके लिये इच्छा प्रगटकी। परन्तु कृषिविज्ञानके क्षेत्रमें स्त्रियाँ अयोग्य समझी जाती हैं, इसलिये राजूबाईको भी साफ़ मना कर दिया। परन्तु राजूबाई इस तरह माननेवाली बाई नहीं है। वह स्त्रियोंके अधिकारोंके लिये लड़ी और अंतमें शिक्षा विभागके अधिकारियोंको सम्मति देनी पड़ी। पूनामें तीन वर्ष शिक्षण लेकर B. Ag. पास किया और सबमें पहिला नम्बर प्राप्त करके बतादिया कि कृषिविज्ञानमें भी स्त्रियाँ पुरुषोंसे पीछे नहीं रह सकतीं बल्कि बाज़ी मार सकती हैं। पीछे कुछ दिन बड़ौदा सरकारके यहाँ काम किया परन्तु इतनी शिक्षासे राजूबाईको संतोष नहीं हुआ। इनकी इच्छा इस विषय के उच्च-शिक्षणके लिये अमेरिका जानेकी थी। प्रयत्न करने पर इन्हें वहाँसे सौ डॉलर (क़रीब ३००) रु०) प्रतिमासके हिसाबसे स्कालरशिप मिलने लगी। वहाँ जाकर इनने ऐम० ए० पास किया, और अब बड़ौदा सरकारके आग्रहसे तम्बाकूके विषयका विशेष अध्ययन कररहीं हैं। चारपाँच मासमें शिक्षण पूरा हो जायगा।

यह बाई जैनजगत्के परम-प्रशंसक और भक्त श्रीयुत् माणिकचन्द मियाँचन्दजी गाँधीकी नातिन (भानजीकी लड़की) है। वर्तमानमें राजूबाईके कुटुम्बके ये ही संरक्षक हैं और इन्हींके कठोर-प्रयत्न से राजूबाईने इतनी उन्नतिकी है। अभी इस बाईकी उमर सिर्फ २६ वर्षकी है। वास्तवमें इस बाईने शिक्षा के क्षेत्रमें जैन-स्त्रीसमाजका मुख उज्ज्वल किया है।
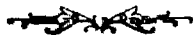
उपनयन संस्कारकी निस्सारता।

[ले०–श्री० प्रोफ़ेसर घासीरामजी जैन M.Sc. F.P.S. (London)]

मनु महाराजने जिन सोलह संस्कारोंका उल्लेख अपने ग्रन्थमें किया है, उन्हीं संस्कारोंका लगभग मिलता जुलता वर्णन आदिपुराणमें पाया जाता है। हिन्दुओंके गृह्यसूत्रोंमें जिन आह्वनीय, गार्हपत्य एवम् दक्षिणेय तीन प्रकारकी अग्नियोंका पूजन विधान है उन्हीं नामोंसे जिनसेनाचार्य्यने अग्निपूजनका विधान किया है। इन बातोंको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्मके संकटके दिनोंमें जिनसेनाचार्य्यने यह सब बातें हिन्दू-धर्मसे लीं। इसकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि जिनसेनाचार्य्य लगभग उसी समय हुए जबकि शंकराचार्य्य दक्षिणमें जैनियोंके विरुद्ध अग्नि प्रज्वलित कर रहे थे। जिनसेनाचार्य्यका काल ईसाकी नवीं शताब्दि माना जाता है और दक्षिण देश में ही इनका जन्म हुआ था। उस समयकी धार्मिक स्थितिका वर्णन करते हुए डॉक्टर ईश्वरीप्रसाद अपने भारतवर्षके इतिहासमें लिखते हैं–"पुराणोंमें बहुतसी कथाएँ हैं जिनसे ७वीं और ८ वीं शताब्दियों की सामाजिक दशाका पता लगता है–एक पाश्चात्य विद्वानका मत है कि पुराण ७०० ई० तक बने थे। ...... हर्षकी मृत्युके बाद सातवीं और आठवीं शताब्दी में ...... ब्राह्मणोंने अपना प्रमुत्व फिर स्थापित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया ...... नवीं शताब्दीके शुरू में धार्मिक संशोधनका काम श्री शङ्कराचार्य्यने आरम्भ किया और वेदान्तका उपदेश किया"। ऐसी दशामें यह बिलकुल स्पष्ट होजाता है कि उस समय जैनियोंमें उपनयनादि संस्कार न होनेके कारण और शक्तिहीन और अल्पसंख्यामें होनेके कारण वे शूद्रों की संज्ञामें गिन लिए गए हों। इस असुविधाको दूर करनेकी भावनासे प्रेरित होकर सम्भवतः श्रीजिन-सेनाचार्य्यने आपद्धर्म जानकर इन संस्कारोंको जैनधर्ममें समावेश करादिया। और यह कोई बुरी बातभी नहीं–यदि वास्तवमें कोई सिद्धान्त अच्छा है तो ग्रहणीय है, चाहे किसी धर्मका हो, क्योंकि "परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय"। किन्तु आधुनिक समयमें कोई कोई संस्कार इतने निःस्सार होगए हैं कि उनका दिग्दर्शन कराते हुए श्री रमेश-नन्दनसहायजी ऐम० ए० बी० एल, "वीणा" के भाद्रपद अङ्कमें लिखते हैं-"उपनयन संस्कार आजभी भारतवर्षमें प्रायः सर्वत्र मनाया जाता है, परन्तु अब इसकी निःसारता पर तरस आता है। अनुकरणका भद्दापन अत्यन्त खटकता है। जनेऊ धारण करनेके अतिरिक्त अब उपनयनका दूसरा कुछ मतलबही नहीं समझा जाता ...... भारतवर्षके आध्यात्मिक अधःपतनका इसके द्वारा कितना सुन्दर चित्र खींचा जा सकता है। आज उच्च-वर्णके लोग जनेऊ धारण करना अपना स्वत्व समझते हैं–उसके लिए सर तक फोड़ने फोड़ानेको तय्यार रहते हैं। परन्तु उसकी समस्त महत्ता तो जाती रही है। अब केवल तीन लड़ीके धागोंका झगड़ा रहगया है। अधिकारीहो चाहे न हो, द्विजातियोंके लिए उसे धारण करना आवश्यक है। कितना अन्तर है! एक समय वह था जब बिना पूज्य बने किसीको यज्ञोपवीत धारण करने का साहस न था–और एक समय यह है जब यज्ञोपवीत धारण करलेने से ही लोग अपनेको

पूज्य मान बैठे हैं! उपनिषद (कौषीतकी २. ७. सतपथ-ब्राह्मण २. ४. २) इस बातकी साक्षी देते हैं कि पुरातनकालमें ब्राह्मणों तकमें भी जनेऊ पहननेकी प्रथा न थी—वे उसे यज्ञ समारोहके अवसरपरही पहनतेथे। पहले महत्व था असलियतका; अब महत्व है दिखलावेका!"

इसमें कोई संदेह नहींकि आजकलके समयमें ऐरेगैरे नत्थूखैरे सभी जनेऊधारी होगए हैं तो अब न तो वह जैनत्वका चिन्ह रहा, न व्रतधारीका, न रत्नत्रयका, जैसा कि हमारी मुनि-मण्डली हठवश स्थान स्थान पर ढिंढोरा पीटती फिर रही है।
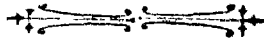
मंदिरके मुखियों से—

(रचयिता—श्रीमान् ब्र० प्रेम पञ्चरत्न—मेलसा।

कहाँ है मंदिर का भण्डार ?
मंदिर के मुखिया बनकर के, बने पंच सरदार।
रोकड़ सारी मिली आप को, मंदिर की सरकार!
बनाया दिल को बड़ा उदार!
कुछ दिन तो हिसाब समझाकर, किया सत्यसे प्यार।
फिर ललचाया चित्त उसीपर, लेगए साफ डकार!
यही है पक्का मायाचार!
यदि पंचोंने कहा कभी यह—'देदो आप हिसाब"
तबतो आप तमक कर बोले-"किसकी है यह ताब?
हमारा है, मंदिर भण्डार!"
'तुम हिसाबके लेने वाले होते कौन जनाब?
हम मंदिरके-मालिक मुखिया, लेंगे आप हिसाब?
हुआ था कब ऐसा इक़रार?"
"कल बनियाँ थे, आज सेठ बनने का भरते चाव।
जाओ तुम से बहु देखे हैं, बतलाओ मत ताव!
व्यर्थ की मत छेड़ो तक़रार।"
सुन मुखियों की बात, पंच सब होजाते भय-भीत।
कारण, वे सब दबे हुए हैं, गाते उनके गीत।
इसी से हुआ साफ भण्डार।
कुछ क़र्जी होते हैं उनके, कुछ हों रिश्तेदार।
कुछ मंदिरके रुपया लेकर, बनते ताबेदार।
कहो फिर कैसे होय सुधार?
"मुखियो! कुछतो अपने मनमें करलो सोच-विचार।
क्यों परभव के लिए पापका, भरते हो भण्डार?
सत्यके बनलो नातेदार।
इस प्रकार से समझाते हैं, लेखक लेक्चरार।
किन्तु नहीं वह जरा तोड़ते, अपनी हठका तार!
यही मिथ्या अभिमान अपार।
\+ × + + × +
लेख लिखो, भाषण भी देलो, करलो यत्न हजार।
"प्रेम" संगठन शक्ति बिना, क्यों कर पाओ उद्धार?
हृदयका यही सत्य उद्गार।
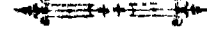
कृत्रिम-मनुष्य—

किसी अंग्रेज वैज्ञानिकने अथक परिश्रम करके एक मशीन बनाई है, जो हूबहू आदमीकी शक्लकी है और कामभी क़रीब क़रीब आदमीकी ही तरह करती है। यह ठीक मनुष्य-भाषामें बोलती है, गाती है, बातचीत करती है, सीटी बजाती है और अखबार पढ़कर हँसतीभी है। इसके निर्माणमें लगभग ७० हजार रुपये लगे हैं।

चिड़ियोंका होटल—

होटलके जरिये शौक़ीन बाबुओंको बहुत आराम मिला करता है;इसलिये बाबूगिरीकी तरक्क़ीके साथ साथ होटलोंकी भी बढ़ती होरही है। यहतो हुआ आदमियोंके लिये, लेकिन अब कुछ चिड़ियोंको भी होटलोंमें रहनेका शौक़ चर्राया है। कहते हैं, इंगलैंड के एक समुद्रतटवर्ती होटलके सुपरिन्टेन्डेन्टने खास चिड़ियोंके लिये एक होटल बनवाया है, जिसके ४८ कमरे चिड़ियोंने किराये पर लेलिये हैं।

विचित्र वैवाहिक-प्रणालियाँ ।

(ले०—प्रो० डा० सर्वानन्दसिंहजी)

मानवसमाजके विकासके प्रातःकालमें मौन तथा अज्ञान था । ज्यों ज्यों उसपर विकासकी ज्योति पड़ती गई, त्यों त्यों उसकी प्रतिभा चमकती गई । जिन जिन वस्तुओंका अभाव खटकता गया उन उनका आविष्कार वह करता गया । यद्यपि विकासके प्रातःकालमें मनुष्य मौन तथा अज्ञान थे, तो भी उनमें कामशक्ति की भावनाका उद्रेक हुआ करता था और पशुपक्षियों की तरह वे अपनी कामवासनाकी पूर्ति कर लिया करते थे । सन्तानवृद्धिके खयालसे वे ऐसा नहीं करते थे, बल्कि प्रकृतिकी प्रेरणासे । तत्कालीन मनुष्योंका ज्ञान परिमित था, इसलिये उनमें भाई बहिन तथा पिता पुत्रके भावका उदय होना अभी दूरकी कौड़ी था । जब कभी प्रकृतिकी प्रेरणासे उनमें कामशक्ति उद्दीप्त होती थी, तब भाई बहिन पिता पुत्री या जिस किसीसे भी अपनी कामनाएँ पूरी कर लेते थे ।

जो हो; पर तत्कालीन प्रणयसम्बन्धका आभास आज भी हमें दुनियाँकी कुछ जातियोंमें, किसी न किसी रूपमें मिल रहा है, जो बड़ा ही विचित्र तथा कौतूहलवर्द्धक है । इन्हींके जो भाई सभ्य बन गये हैं, वे आकाशकी सैर करते हैं: और ये बेचारे अपनी आदिम सभ्यता तथा अपने प्राचीनतम इतिहासका तम्बूताने आजभी दुनियाँके जङ्गलोंकी खाक छान रहे हैं । आज हम इन्हीं, भिन्न भिन्न देशोंमें रहनेवाली कुछ आदिम असभ्य जातियोंके वैवाहिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे ।

मानव समाजकी प्राचीन दशापर विचार करने पर पता चलता है कि तत्कालीन मानवजीवन संग्राममय होता था । बिना युद्धके स्त्री ग्रहण करना एक दम असम्भव था । आजभी कुछ असभ्य जातियोंमें ऐसी प्रथाका प्रचलन* देखा जाता है । चिपेवायान (Chippewayan) और टास्की (Toski) जातियोंमें बिना युद्ध किये, स्त्री ग्रहण करना आसान नहीं है । जितने प्रतिद्वन्द्वी दूल्हे विवाहइच्छासे कन्याके पास जाते हैं उन लोगोंमें पहले घमासान युद्ध होता है । कन्या खड़ी होकर इस महाभारतको देखती रहती है, एवम् जो वर विजय प्राप्त करता है, उसीसे अपनी शादीका प्रस्ताव मंजूर करती है । आस्ट्रेलियाकी कई जातियोंमें इसी तरहकी प्रथाका प्रचलन देखा जाता है । और तो और, चिपेवायनों की भाषामें विवाहके भावको व्यक्त करनेका कोई शब्द ही नहीं है ।

ब्रोटसाहबने अपने भ्रमण वृत्तान्तमें लिखा है—आरावाक (Arawak) जातिके लोग, पशु पक्षियोंकी तरह अपनी सन्तान वृद्धि करते हैं । इनमे वैवाहिक बन्धन कुछ भी नहीं है । केलीफोर्नियाकी रहनेवाली कुछ जातियाँ भी ऐसी ही हैं । वेद्दा जातिमें स्त्रीपुरुषका संयोग कुछ समयके लिये ही होता है । ये भी चौपाये जानवरोंकी तरह अपनी वंशवृद्धि करते हैं ।

पानुचिज्ञ (Panuchese) तथा काली (Cali) जातिके लोगोंमें बहन, भतीजी तथा भानजीसे भी प्रणयसम्बन्ध हुआ करता है । भाई सगेसे अपनी बहनसे तथा चचा अपनी भतीजी, मामा अपनी भानजीसे विवाह करलेते है । ऐसीही उन लोगोंमें प्राचीन सामाजिक पद्धतिका प्रचलन है । पेरू प्रदेश तथा पालिनेशियाकी जातियोंकी भी हालत ऐसी ही है । और तो और स्वयम् राजाभी अपनी बहनसे विवाह करता है । इन लोगोंमे पात्र—कुपात्रका विचार नहीं किया जाता । कादियाक और करेन जातियों मे भी ऐसा ही सामाजिक नियम है । अफ्रीकाके

* बुंदेलखण्ड प्रान्तके जैनियोंमें पड़गाहना दस्तूर इसी युद्धकी नकल है । (—सम्पादक जैनजगत्)

गनजल्स तथा गाबून अन्तरीपके राजवंश अपनी कन्याओं तकसे संभोग करते तथा उन्हें ही अपनी रानी भी बना डालते हैं। अगर राजाकी मृत्यु हो जाती है, तो रानी अपने ज्येष्ठ पुत्रसे ही अपना विवाह कर लेती है। वह पुत्र ही उस राज्यका उत्तराधिकारी बनता है। ऐसे भाई बहन, पिता पुत्री तथा माँ बेटेके वैवाहिक सम्बन्धके औरभी कुछ उदाहरण पेश किये जा सकते हैं।

केलीफ़ोर्नियाकी परकुई (Percue) जातिके लोगोंमें, जो स्त्रीसंभोगकी प्रथा है वह बड़ीही जघन्य, हास्यास्पद तथा घृणित है। इस जातिके लोग अनेक स्त्रियोंके स्वामी होते हैं। ये इन स्त्रियोंके साथ अप्राकृतिक मैथुनमें भी संलग्न होते हैं। अगर स्त्रियाँ आपसमें लड़ती झगड़ती है तो तुरंत उन्हें घरसे निकाल दिया जाता है। तास्मेनियन तथा टुपिस जाति के लोगभी महज मामूलीसी बातोंपर स्त्रियोंको त्याग देते हैं। ये लोगभी कई स्त्रियाँ रखते हैं; पर परकुई जातिकी तरह घृणित कर्ममें संलग्न नहीं होते।

न्यू गिनीनिवासियोंमें विवाहकरनेकी प्रथा बड़ी ही सहज है। कन्या अपने हाथोंसे वरको पान तथा तम्बाकू देती है और वर उसे लेलेता है। पान तम्बाकू ग्रहण करलेनेसे ही वर कन्या विवाहके सूत्रमें बँध जाते हैं। इन्हींकी तरह नावागो (Navago) जाति की भी वैवाहिकप्रथा सरल है। वर और कन्या आपसमें आमने सामने एक स्थानपर बैठा दिये जाते हैं। अनन्तर फलोंसे भरा एक टोकरा वर कन्याके बीच रख देते हैं, तथा वर और कन्या उसीमें एक ही साथ फल खाना शुरू† कर देते हैं। फल खा लेने पर वर कन्या प्रणयसूत्रमें आबद्ध हो जाते हैं।

कनियागा, चिवचा तथा पेरूवी जातियोंका विवाह सम्बन्धतो कुछ औरभी विचित्रता लिये हुए है। इन जातियोंमें कौमार व्यभिचार का खूब प्रचलन है। कन्याएँ जबतक वैवाहिकसूत्रमें आबद्ध नहीं होजातीं, तबतक जिस किसीसे भी व्यभिचार कर सकती हैं। पर विवाह होजानेपर ऐसा नहीं होसकता। विवाह होजाने पर स्त्रियाँ अपने सतीत्वधर्मका पालन किसी न किसी रूपमें अवश्य करती हैं। यद्यपि इनके सामाजिक नियम उपर्युक्त विवरण जैसेही हैं, फिरभी यह अनुमान नहीं किया जा सकताकि किस हदतक इनकी स्त्रियाँ अपने सतीत्वका पालन करती हैं। पेरूवियोंके सम्बन्धमें पी० पिजोराने लिखा है कि इस जातिकी स्त्रियाँ अपने पतिकी विशेष अनुवर्तिनी होती हैं. परन्तु विवाह होनेके पूर्व ये जिस किसीसे भी अपनी इच्छानुसार संभोगक्रियामें प्रवृत्त होसकती हैं। इसके लिये कुछ सामाजिक नियम नहीं है, तथा समाज इनके इस घृणित व्यापारको नीची निगाहसे भी नहीं देखता। लेकिन जब स्त्रियाँ समाज द्वारा वैवाहिक शृङ्खलाकी कड़ियोंमें जकड़दी जाती हैं, तब ऐसे जघन्य आचरणसे हजारों कोस दूर रहती हैं।

मनुष्योंकी आदिम अवस्थामें बहुपति करनेकी प्रथा स्त्रियोंमें प्रचलित थी। इस सम्बन्धमें मैकलेनन कहता है कि मनुष्यकी आदिम-अवस्थामें सदा लड़ाई झगड़ हुआ करतेथे, साधारणसी बातोंपर उस समय के लोग आपसमें, जंग छेड़ देनेमें तनिकभी नहीं हिचकते थे। उस समय रणबांकुड़ोंकोही अधिकार प्राप्त होतेथे। इस कारण वे अपनी पुत्रियोंको जन्मतेही मारडालते थे, तथा पुत्रोंको बड़े चावसे पालते थे। इस कारण समाजमें कन्याओंका अभाव बुरी तरह खटकने लगा। आगे इसका नतीजा यह निकला कि जबर्दस्ती कन्याओंको पकड़कर लोग विवाह*

† बुन्देलखण्ड प्रान्तमें भी वर कन्याको एक थालीमें खिलाया जाता है। परन्तु अब स्त्रियोंका स्थान नीचा हो जानेसे पहिले वर भोजन कर लेता है, पीछे कन्या भोजन करती है। अब यह प्रथा कन्याको उच्छिष्ट भोजन कराती है। (—सम्पादक जैनजगत्)

* राक्षस और पैशाच विवाह उसी ज़मानेके हैं।—सं०

करने लगे। इसी समयसे असगोत्र-विवाह तथा बहुपति करनेकी प्रथा चल निकली। स्त्रियोंमें अधिक पति रखनेकी प्रथा आजभी भिन्नभिन्न देशोंकी भिन्न भिन्न जातियोंमें पायी जाती है। अमेरिकाकी अवारू और स्पेडर जातियोंकी स्त्रियाँ अधिक पुरुषोंको अपना पति बनाती हैं। केरिबवान्सी तथा ऐसक्यूमो की स्त्रियाँभी अधिक पुरुषोंसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित करती हैं। एलिटियान कनारी तथा लानसिरोटरकी स्त्रियोंमेंभी इस प्रथाका प्रचालन देखा जाता है। इनके यहाँ समाजद्वारा निश्चित तिथिपर ही पति अपनी स्त्रीके साथ सहवास कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। एकके चार पति होनेके कारण पत्तका हिसाब रक्खा जाता है—एक पत्त तक एकही पति उससे सहवास कर सकता है, दूसरा नहीं। दूसरे पत्तमें दूसरा एवम् इसी हिसाबसे सब पति ठीक अपनी निश्चित तिथिपरही स्त्री सहवास करेंगे। त्रिवाङ्कोर के हजाम वैद्य तथा अमृपट्टन जातियोंमें यह प्रथा प्रचलित है। तिब्बतमें तो यह प्रथा जोरों पर है। इन बहुपतियोंसे उत्पन्न हुई सन्तानें आपसमें बाँट ली जाती हैं। जैसा लड़का जेठेभाईके हिस्सेमें पड़ता है एवम् छोटा लड़का छोटे भाईके हिस्सेमें पड़ता है। इसी तरह क्रमागत छोटाई बड़ाईके हिसाबसे संतान का बटवारा होता है। हाँ, बहुपतित्वको प्रथा विशेष कर सहोदर भाइयोंमें ही पायी जाती है मूजो-जाति की वैवाहिक प्रणालीभी बड़ी विचित्र है। जब लड़को के आपसे विवाहका प्रस्ताव होता है तब वरभी कन्या को देखनेके निमित्त कन्याके घरपर जाता है। इस समय वरको लगातार तीन दिनोंतक कन्याको सन्तुष्ट करना पड़ता है इस सन्तुष्टीकरणमें वरको बड़ी बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं। इन तीन दिनोंमें न जाने अपनी भावी पत्नीसे, वरको कितने मुक्के तथा घूँसे खाने पड़ते हैं। तीन दिनोंतक घूँसे मुक्केसे वरका सम्मान करलेनेके अनन्तर कन्या अपने हाथों तैयार किये हुए खाद्य पदार्थोंका वरको भोजन कराती है! भोजन कर लेनेके बाद वर-कन्या प्रणयसूत्रमें आबद्ध होजाते हैं। इसके अलावा इनमें और कोई दूसरा वैवाहिक नियम प्रचलित नहीं है। सिनाई निवासी अरबोंकी कन्याएँभी विवाहके अवसर पर (यद्यपि वर पहिलेका परिचित तथा अविवाहित अवस्थाका प्रणयीही क्यों न हो) अपने कुटुम्बियोंके सामने वरको दांतोंसे काटतीं, ढेले चलातीं तथा मुक्के घूँसेका भी प्रहार करती हैं। कभी कभीतो इतनी भयंकर आवाजसे गला फाड़कर चिल्लाती हैं कि अगर सभ्य-संसारका आदमी वहाँ मौजूद हो, तो बिना डरे नहीं रह सकता। जो कन्याएँ जितना अधिक ऐसा आचरण करती हैं, वे उतनीही अधिक लज्जावती समझी जाती हैं।

आर्के नियनों तथा कामस्कट्काकी वैवाहिक प्रणालीभी मूजो और सिनाईवासी अरबोंकी वैवाहिक प्रणालीका ही परिवर्त्तित रूप जान पड़ती है। कन्याएँ तो नहीं; पर कन्यापत्तकी स्त्रियाँ तलवार और गदा धारणकर कन्याको चारों ओरसे घेरलेती हैं। उस समय कन्याका घर एक खासी रणस्थलीके रूपमें परिणत होजाता है। हथियार खूनखराबीके खयालसे धारण नहीं किये जाते, बल्कि वरको धोखा देनेके लिये। इन जातियोंकी वैवाहिक रीतियोंका यह एक प्रधान अंग है। इसी तरहकी औरभी कितनी ही जातियोंका अस्तित्व दुनियाँके कोने कोनेमें पाया जाता है। क्या इन असभ्य जातियोंकी वर्तमान विचित्र वैवाहिक प्रणालियोंसे मानव समाजके आदिम पुरुषोंके ज्ञानका पता नहीं चलता?

['गंगा' से उद्धृत]

नोट— हमारे यहाँ जुदीजुदी जातियोंमें जो जुदे जुदे बेहूदे रिवाज पाये जाते हैं, जिनकी आवश्यकता का आज कुछभी अनुभव नहीं होता, उनका मूल ढूँढनेके लिये, जंगलीप्रथाओंका यह वर्णन बहुत

धर्म किये बेड़ा पार।

(ले०—जैनकवि ज्योतिप्रसादजी जैन, सं० जैनप्रदीप)

देखनेमें आता है कि प्रत्येक संसारी मनुष्य धर्म करने और पुण्य कमानेकी इच्छा प्रकट करता है परन्तु यह अवश्य कह देता है कि—"साहब, क्या धर्म करें और किस प्रकार पुण्य कमावें? न तो हमारे पास धन दौलत है, और न खाने कमानेसे इतना समय ही मिलता है कि जो धर्म कर सकें या पुण्य कमा सकें"। अर्थात् इन मनुष्योंका ऐसा खयाल है कि धर्म या तो धनवानोंसे होसकता है या होसकता है उन निठल्ले लोगोंसे कि जिनको दुनियाँमें कोई काम नहीं है। परन्तु यह खयाल ठीक नहीं है और न धर्मके विषयमें मानने योग्य ही है। जिस अभिप्रायसे ऐसा कहा जाता है उन बातोंसे तो धर्मका कुछभी सम्बन्ध नहीं है। देखो भाई, एक मनुष्य करोड़पति है, वह चार-पाँच लाख रुपया लगाकर एक विशाल मन्दिर बनवाता है, प्रतिष्ठा कराता है और बिरादरी के लोगोंको भाँति भाँति के स्वादिष्ट भोजन खिलाता है। परन्तु अपने कारोबारमें झूठ बोलता है, बेईमानी करता है और ग़रीब लोगोंको सता सताकर पैसा छीनता है! क्या वह करोड़पति मनुष्य धर्म करता है? नहीं, कदापि नहीं। एक हाकिम लोगोंपर जोर ज़बर्दस्ती करके रिश्वत लेता है और न्यायका खून करके अन्याय करता है, परन्तु वर्षमें एकबार रथोत्सव करा देता है या १००)-२००) रु० का सामान देव मन्दिरोंमें चढ़ा देता है। परन्तु, यहभी धर्म नहीं है। एक और मनुष्य दूसरोंकी देखादेखी मान कषायके वशीभूत होकर दस-पाँच हज़ार रुपया उधार लेकर पूजा-प्रभावना कराता है-मेला लगवाता है, नाटक थियेटर कराता है, या लकड़ीके हाथी, घोड़े बनवाता है, परन्तु उधारकी रक़म देते समय धनीको आँखें दिखलाता है, इनकार करता है और देनेके लिये झूठे बहाने बनाता है! तब क्या यह धर्म कहा जायगा? नहीं, हर्गिज़ नहीं। यहतो सब अधर्म है। इसमें तो मान-कषायका भूत घुसा बैठा है। यहाँतो धर्मकी झलक तकभी नहीं है। और लीजिये। एक आदमी सुबहसे शामतक पाँच छः घन्टे देवमन्दिरमें गुज़ारता है, देव-पूजन करता है; गाता है; नाचता है और भाँति-भाँतिके हावभाव दर्शाता है अर्थात् जो कुछभी करता है वह सब धर्मके नाम पर, परन्तु घरपर आकर भूखे शेरकी तरहसे घरके लोगोंपर टूट पड़ता है, किसीको गालियाँ देता है, किसीको मार मारता है और किसीको बुरा भला कहता है! तब कहना पड़ेगा कि धर्मसे यहभी कोसों दूर है। एक दूकानदार सुबहही उठता है गंगाजीमें जाकर स्नान करता है और बहुतसे फलफूल लेकर ठाकुरजी पर चढ़ाता है; परन्तु दूकानपर बैठते ही सेरमें पौनसेर तोलता है, और खरे मालमें खोटा मिलाकर देता है। तब यहाँभी धर्म नहीं है। एक आदमी मुनिभक्तिके वश होकर सात तारोंका डोरा गलेमें डाल लेता है और अपने हाथके सिवाय दुनियाँ भरके हाथका पानी पीना छोड़ देता है और बड़े बड़े स्वादिष्ट और गरिष्ठ भोजनोंमें अपने गुरुओंके पेटका

उपयोगी होसकता है। साथही जो लोग रीतिरिवाजों के लिये बाप-दादोंके गान गाते हैं उनको समझना चाहिये कि बाप-दादोंका अंध-अनुकरण, कितना मूढ़तापूर्ण और वीभत्स है! मामा और फूआकी लड़कीसे शादी करनातो जैनपुराणोंकी साधारण घटना है, जबकि आज मामा-फूआकी लड़की और सगी-बहिनमें कुछ अन्तर नहीं समझा जाता। परन्तु कुछ जैन-जातियोंमें अबभी ऐसा होता है। मैंने "जैनधर्म और विधवा-विवाह" शीर्षक लेखमालामें भी इस प्रकारके रिवाजोंकी एक लिस्ट दीथी। हम अपनी रूढ़ियोंका जँगलीपन जितनी जल्दी समझें उतनाही अच्छा है। —सम्पादक।

गड्ढा भरता है; परन्तु नलका पानी पीता है, अन्याय का अन्न खाता है, व्यभिचार सेवन करता है, मादक-वस्तुऐं काममें लाता है, सट्टा (जुवा) लगाता है, फाटका खेलता है, झूठ बोलता है अर्थात् दुनियाँ भरके बुरेसे बुरे काम करता है। अतः यहभी धर्मके नामपर अधर्म करता है और दुनियाँको ठगता है। इसलिये कहना पड़ेगाकि ऐसा करनेवाले मान-कषायका पोषण करते हैं, दुनियाँकी आँखोंमे धूल झोंकते हैं और अपने पापोंपर पर्दा डालनेके लिये धर्मका ढोंग बनाते हैं। इन लोगोंके पासतो धर्म क्या, उसकी झलकमात्रभी नहीं है। सच पूछोतो इनसे वे लोग कहीं अच्छे हैं कि जो धर्मका नामभी नहीं जानते और न ऐसी मायाचारी करके अपनेको धर्मात्मा ही प्रकट करते हैं। जो लोग निठल्ले हैं, आलसी हैं, वे कुछभी नहीं करते, हाँ धर्मका ढोंग बनानेमें सिद्धहस्त हैं, अतः कपड़े उतार कर त्यागी बनगये, गुरूपनेका स्वांग बना बैठे, घरसे भागकर मूँड मुँडालिया और बाबाजी बनगये। समयतो इनपर काफी है: दिनरातके २४ घन्टे करतेही क्या हैं? अच्छे से अच्छे भोजन कर लिये और आँखें मीचकर उदर देवतापर हाथ फेरलिया या किसीको डाँट दिया। परस्परमें लड़ लिये। किसीकी निन्दा करली। निर्लज्ज बनकर और स्त्रियोंमें बैठकर बातें बनाली। अर्थात् जिस प्रकार बना अपने उदर-देवताकी पूजाका प्रबंध करलिया। फिर क्या ये धर्म कर रहे हैं? नहीं, ये भी अधर्मके ही मार्गपर चल रहे हैं। धर्मके लिये धनकी, समयकी या किसीभी सांसारिक-सामानकी आवश्यकता नहीं है। कहा जाता है कि किसी धनवान सेठने अपने पुरोहितकी सम्मति से धर्म करने और पुण्य कमानेके लिये एक यज्ञ रचाया, खूब दिल खोलकर रुपया लगाया, साधु सन्तों और ब्राह्मण लोगोंको तरमाल खिलाये, और दान-दक्षिणा दी। फिर क्या था? यश छागया, वाहवाह होगई। सेठजी बड़े प्रसन्न हुये, और होतेभी क्यों न? जबकि देशभर में नाम होगया। इस नामके मतवालेने इस पुण्यकी इच्छाको लेकर छः यज्ञ और करडाले। जो यज्ञ किये, वह एकसे एक बढ़कर। जो जमापूँजी पहलेथी, सब खर्च करदी। स्वयं कोरे बाबाजी बनबैठे। दो-चार महीने बरतन भाँडे बेचकर गुजारा किया, और समयको बिताया परन्तु कहाँतक? जब भूखे मरने लगे तब चिन्ता हुई। उधर घरसे सेठानीका तकाजा हुआ कि कुछ कमाओ घरभर भूखा मरने लगा है, परन्तु कमावें कैसे? कौड़ी पल्ले नहीं और बिना कौड़ीके आदमी कौड़ीका नहीं लाचार होकर एक यज्ञका बेचना निश्चित किया, और यही सोचाकि धर्मकी पूँजीका भागीदार किसी को बनायें, तब काम चलेगा। यह निश्चय करके और कुछ खानादाना लेकर चल निकले। एक शहरके निकट पहुँच कर देखते क्या हैं कि एक वृक्षके नीचे एक कुतियाने बच्चे दिये हैं, परन्तु जंगलमें कुछ खाना न मिलने से मारे भूखके तड़प रही है और चाहती है कि अपने बच्चोंको खाकर भूखकी ज्वालाको शान्त करूँ। वह बच्चेको मुँहमें उठानाही चाहती थी कि सेठजी इसके भावोंको ताड़गये और करुणाके मारे पिघल उठे। अपने पासका खाना खोलकर कुतियाके आगे धर दिया—कुतियाने खूब खाया, और कृतज्ञता प्रकटकी। सेठसाहब इस महती दयाका पालन करके शहरमें पहुँचे, किसी भाग्यवानके घर जाकर उससे प्रार्थनाकी कि महाराज मैंने सात यज्ञ किये हैं, उनमेंसे एक बेचना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने एकएक यज्ञमें लाख लाखरुपया खर्च किया है परन्तु निर्धनताके कारण कुछ कममें भी देनेके लिये तैयार हूँ। सुननेवाले ने (जिसने कुतियाको खाना खिलानेका दृश्य अपनी आँखोंसे देखाथा) कहाकि-भाई तुम्हारे उन सात यज्ञोंको हम किसी भावमें लेनेके लिये तैयार नहीं हैं, वे तो एक फूटी कौड़ीको भी महँगे हैं परन्तु आजका यज्ञ लेनेके लिये तैयार हैं, मुँहमाँगे दाम दे सकते हैं। सेठ

हैरान कि यह क्या कहरहे हैं ? यदि मैं यज्ञ रचाने योग्य होतातो पहले यज्ञही क्यों बेचता ? पूछनेसे पता चला कि वे सात यज्ञ नामवरीके लिये किये गये थे सो वह खूब अच्छी तरहसे होगई; अब उनमें रह क्या गया ? आज जो कुतियाको दयाभावसे प्रेरित होकर भोजन कराया है और उसके बच्चोंका प्राण बचाया है यह धार्मिक–यज्ञ है। यह सुनकर सेठकी आँखे खुलीं, बोला–यदि महाराज ऐसी बात है तो मैं आजका यज्ञ कदापि नहीं बेचूँगा।

बात सही हो या न हो, परन्तु अभिप्राय सही है। धर्म रुपये पैसेसे ही नहीं किया जाता। और न धर्म के लिये किसी विशेष समयकी ही आवश्यकता है। धर्म तो आत्माके सत्य स्वभावका नाम है। आत्मा का जो सत्य स्वभाव है, वही उसका धर्म है। उससे काम लो, धर्म पल गया; आत्माके स्वभावका घात करोगे, धर्मका घात होजायगा। आत्माका स्वभाव विचारसे जाना जाता है। विचार इसकी कसौटी है। और विचार पैदा होता है ज्ञानसे। बस, ज्ञानकी प्राप्ति करो, धर्म होगा, और धर्मसे सुख मिलेगा।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब दुर्गुण हैं, आत्माके विकार हैं; इनको दूर करो। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहादि ये पाप हैं, इनसे अपने को बचाओ। राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात, ये सब दोष हैं, इनसे सम्बन्ध तोड़ो। बस, धर्म होगया। जो आत्माका सत्य स्वभाव (धर्म) है उसकी प्राप्तिका नाम ही धर्म है। अब बतलाओ कि धर्मपालनमें कौनसे छप्पन नौटकेकी आवश्यकता है ? धर्ममें धन की जरूरत नहीं है। धन चाहता है अधर्म कार्योंमें। क्रोध करोगे, कष्ट उठाओगे। छल करोगे, पकड़े जाओगे। लालचके वशीभूत होकर अन्याय करोगे, तो धर दिये जाओगे। झूठ बोलना, चोरी करना, धरोहर मारना, यह सब अधर्म है। हिंसाका फल आदि से अन्त तक विषैला है। इच्छाओंका बढ़ाना दुःख रूप है। राग द्वेष दोनों संसारमें घुमानेके चक्र हैं। इन सबमें किसी न किसी प्रकार धनकी आवश्यकता है। लेकिन धर्म पालनमें धन नहीं चाहता, एक कौड़ी का भी खर्च नहीं है। सत्य बोलो, शीलसंयम पालो, दयाधारी बनो, क्षमा, मार्दव आदि गुणोंको धारण करो, सब जीवोंको अपने समान जानो, विश्वप्रेमी बनो, सबके हितकी भावना भावो, इन बातोंमें धर्म होगा। पुण्यकी प्राप्ति होगी। परन्तु खर्च एक कौड़ी का भी नहीं। कहो, कैसा अच्छा सौदा है ? खर्च न करनेमें धर्म, और खर्च करनेमें अधर्म। धर्म पालनमें धनके न होनेका या समय न मिलनेका बहाना करना व्यर्थ है और सर्वथा असत्य है। धर्म और पदार्थ है और नाम कर्म और वस्तु है। यदि आप को नामके लिये धर्म करना है तो कीजिये। जिस प्रकार विवाह कार्योंमें लाखों रुपये लगाते हो वैसे ही इसमें भी सही। यह भी एक सांसारिक कार्य समझ लीजिये। और यदि वास्तवमें धर्म करना है तो धनकी क्या आवश्यकता ? घर बैठे धर्म कर सकते हो और अपने कारोबारमें लगे धर्म कर सकते हो। धर्म कोई परवस्तु नहीं है, वह तो आत्माका स्वयं स्वभाव है जो कि उसके अन्दर सदैव मौजूद है। आँखें खोलो, दिखाई देगा और धर्म देवताके दर्शन होंगे।

यदि आज पानी ठंड न पहुँचाकर जलाने लग जाय या अग्नि जलानेकी बजाय ठंड पहुँचाने लग जाय तो फिर उनको पानी और आग कैसे कहा जायगा ? वहाँ तो धर्म ही नहीं रहा। जब पानीमें आग की गर्मी आ जाती है तब सब कोई कहने लगते हैं यह तो आग बन रहा है, जलाये डालता है। परन्तु गर्मी दूर होनेपर वह अपने असली स्वभावमें आ जाता है जो कि उसका धर्म है। यहाँ स्वभावके अर्थ आदत या व्यसन (लत) न लगा लेना, यह सब तो मनका विकार है। स्वभाव आत्मिक गुण है; उस गुण

को पहचाननेकी आवश्यकता है, उसपर चलनेकी आवश्यकता है। जहाँ उसपर चले और धर्मात्मा बने।

भाई पढ़ने वालो, यह कहना तो एक बड़ी भारी भूल है कि तुम्हारी इच्छा धर्म करनेकी नहीं है। तुम धर्म करना तो अवश्य चाहते हो, परन्तु धर्म से बेखबर हो; धर्म चीज क्या है और वह कैसे किया जा सकता है, इस बातका पता नहीं है। अपनी मिथ्या बुद्धिसे धर्मका लक्षण विपरीत समझ रहे हो। सांपको रस्सी या रस्सीको साँप समझ लेना बड़ी भारी भूल है। तुम्हारा धर्म रीति रिवाजोंके रूपमें आगया है; तभी तो उसके लिये धनकी जरूरत पड़ गई है। परन्तु याद रक्खो, रीति रिवाजोंसे धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। रीति रिवाज संसारमें फँसाने के गोरखधन्धे हैं और धर्म संसारसागरसे पार करनेके लिये नौका है। हृदयरूपी शीशेपर विकाररूपी धूल जमी हुई है, तभी तो धर्मका चित्र साफ दिखाई नहीं देता। मनके विकारभावोंको दूर कीजिये, धर्म दिखाई देगा। धर्म स्वाधीनताका पाठ पढ़ाता है, धर्म शान्ति देता है और धर्म संसारी आत्माको शुद्ध करके परमात्मा बना देता है। यदि धर्मके लिये धन दौलतका प्रश्न उठाकर टका कमानेके जञ्जालमें फँस गये तब धर्म कहाँ और सुख शान्ति कहाँ? फिर तो व्याकुलतामें ही समय व्यतीत करना होगा। धर्मके लिये न धन दौलतकी आवश्यकता है और न किसी अन्य वस्तुकी। धर्मके लिये तो केवल विषय कषायों को दमन करने की, इन्द्रियोंको जीतने की, विकारभाव दूर करने की और भेदविज्ञानको समझ लेने की आवश्यकता है। जिसने ऐसा कर लिया, बस वही धर्मात्मा है। वह हजारों मन्दिर बनाने वालों, प्रतिष्ठा करानेवालों और संघ चलानेवालोंसे उत्तम है, नामधारी साधुओं और मुनिराजोंसे उत्कृष्ट है। साधु मुनि दूसरोंकी निन्दा करते हैं, लड़ाई झगड़ा करते हैं नाम कमानेपर मरे मिटते हैं और संसारसे विरक्त होकर भी संसारी कामोंमें फँसे जाते हैं। फिर उनमें धर्म कहाँ? जहाँ कषाय है, मायाचारी है, इन्द्रियोंकी लोलुपता है, वहाँ तो धर्मका सर्वथा लोप है। भरतचक्री घरमें रहते हुये भी वैरागी थे, और छः खंडका राज्य करते हुये भी पूर्ण त्यागी थे। उन्होंने क्षण मात्रमें सब कुछ पा लिया। धर्म तो परिग्रहके त्यागमें है। अतः धर्मके इच्छुक भाइयो, सबसे पहले धर्मका स्वरूप समझो और फिर धर्मका पालन करो। यह बात सर्वथा सत्य है कि धर्म किये बेड़ापार, अर्थात् जो धर्म करेगा वह संसारसागरसे अवश्य ही पार हो जायगा।
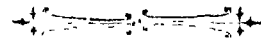
ब्यावर समाचार।

एक भीषण दुर्घटना!

गतांकमें श्री शान्तिसागर संघके सम्बन्धमें जो समाचार प्रकट हुए थे, उनको पढ़कर मुनिवेषियोंमें तथा भक्तमण्डलीमें बड़ी खलबली मची। श्री शान्तिसागरजीने सत्याग्रह करनेकी ठानी। धमकी दीगई कि या तो संवाददाताका पता लगाकर उसको उचित दण्ड दो, वरना मैं अन्नजलत्याग करता हूँ। जैन मुनियोंकी महिमामें हम लोग भक्तिपूर्वक यह पाठ पढ़ा करते हैं:—

जे काच कंचन सम गिने, अरि मित्र एक स्वरूप।
निंदा बड़ाई सारसी, वनखंड शहर अनूप॥

अतः कलिकालसर्वज्ञ (?) महाराजका संवाददाताके प्रति इतना रोष व क्षोभ स्पष्टही लज्जाजनक मालूम होता था लेकिन इसकी उनको क्या चिंता थी? बड़ी आरजू मिन्नतके बाद आचार्यजीने संवाददाताका पता लगानेके लिये चार रोजकी मुहलत दी अर्थात यह निश्चय हुआ कि चार रोजकी अवधिके भीतर अगर संवाददाताका पता न लगसका तो पाँचवे रोज अन्नजलका त्याग करदिया जावेगा।

संवाददाताका नाम मालूम करने के लिये बहुत कोशिश की गई लेकिन नियत अवधिका चौगुना समय निकल जानेपर भी अभीतक भक्तलोग इसमें सफल नहीं हुए हैं। महाव्रती महोदय भी अपनी प्रतिज्ञा को भूले बैठे हैं और आहार ग्रहण कररहे हैं। मालूम होता है कि अन्नजलत्यागकी धमकी देने से उनका यह अभिप्राय था कि किसी तरह संवाददाताका नाम मालूम कर उसे जातिबहिष्कृत कराया जाय तथा यदि वह श्रीमान रायबहादुर सेठ चम्पालालजी के यहाँ अथवा किसी जैनसंस्थामें मुलाज़िम हो तो उसे वहाँ से निकलवा दिया जाय और इस तरह अन्याचारके द्वारा अपने विरोधियोंके हृदयों पर अपना आतंक जमाया जाय। खैर।

इसी अवसरपर यहाँ एक भीषण दुर्घटना हुई। श्रीमान रायबहादुर सेठ चम्पालालजी की नसियाँ में से क़रीब पाँच सेर वज़न चाँदीकी एक प्रतिमा चोरी गई। उस दिन दोपहरके समय कई स्त्रियोंने मिलकर मुनिविषयोंकी पूजाका आयोजन किया था। शायद इसी सिलसिलेमें चौकीदारोंकी कुछ असावधानताके कारण किसी दुष्टको मौका मिल गया। इस घटनासे सबके हृदयोंपर बड़ी चोट पहुँची। प्रतिमाजीका पतालगानेके लिये श्रीमान रायबहादुर सेठ चम्पालालजी व उनके सुपुत्र स्वयंही पूर्णरूपसे प्रयत्न कर रहे थे. इधर मुनि लोगोंके यह कहनेपर कि हमारे चौमासेके अवसरपर इस प्रकारकी घटना होजाना हमारी बदनामीकी बात है, इसलिये खोजका काम द्विगुणित उत्साहसे किया गया। कहा जाता है कि चोरको गिरफ्तार करने वालेके लिये ५००) रु० के इनामकी घोषणा की गई थी। यहभी आश्वासन दिया गया कि शीघ्र सफलता मिलनेपर इनाम की मात्रा और भी बढ़ाई जासकती है। तीन रोज़तक बराबर मोटरें इधर उधर दौड़ती रहीं, लेकिन कुछ पता न लगा। सन्देहमें श्रीयुत मोतीलालजी गँवका (दिगम्बर जैनखंडेलवाल) को गिरफ्तार किया गया; श्री मोतीलालजीके बड़े भाई श्रीयुत किस्तूरचन्दजी गँवकाका कहना है कि—"१६ ता०की शामको जब मैं थानेपर गया तो वहाँ श्री० रायबहादुर सेठ चम्पालालजीके सुपुत्र श्रीमान सुन्दरलालजी, राजमलजी बाकलीवाल तथा मुनीम श्यामलालजी मौजूद थे। मैंने अपने भाईके बारेमें दर्याफ्त किया, तो कहदिया गया कि वह यहाँपर नहीं है लेकिन उसी समय उसके चीखने चिल्लानेकी आवाज़ आई। मैंने सुन्दरलालजी आदिसे कहा कि तुम जैनी होकर मेरे भाईको बिना कसूर क्यों निर्दयतापूर्वक पिटवा रहे हो? इसपर वे कुछ न बोले और मोटरमें बैठकर चल दिये। रात को पुलिस-इन्सपेक्टरकी निगरानीमें मेरा भाई घर पर लाया गया और तलाशी ली गई। प्रातःकाल वे उसे फिर घरपर लाये, उस समयभी वह बुरी तरह रोरहा था। ऊपर लेजाकर उसे हंटरोंसे पीटा गया।" कुछही देर बाद मोतीलालजी एकाएक तिमंज़िलेसे नीचे चौकमें गिर पड़े, जिसके कारण भेजा फट जानेसे उनकी मृत्यु होगई। श्रीयुत किस्तूरचन्दजीने लाशकी डॉक्टरी जाँच करवाई थी। सुना गया है कि मृतव्यक्ति की गुदामें क़रीब तीन तोले पिसी हुई मिर्चें पाई गई तथा शरीरपर मरनेसे पूर्व पीटे जानेके चिन्ह पाये गये। इस भीषण दुर्घटनासे जैनियोंमें ही नहीं किन्तु ब्यावर शहरभरमें तहलका मच गया। फ़ौरन सब बाज़ार बन्द होगये। कहा जाता है कि ब्यावरमें ऐसी हड़ताल पहिले कभी नहीं हुई। जनतामें बड़ी उत्तेजना फैल रहीथी। कमिश्नर व पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट महोदयको तार दिये गये। श्रीमान तहसीलदार साहब व अन्य अधिकारियोंने मृत-व्यक्तिके कुटुम्बियों व जनताके भावोंके प्रति सहानुभूति दिखलाकर व लोगोंको समझा बुझाकर शांत किया। श्रीमान कमिश्नर महोदयने पूरी दिलचस्पी लेकर इस मामले में छानबीन की, जिसके फलस्वरूप पुलिस कर्मचारी

श्री नसरुल्लाखाँ, रघुनाथसिंह व काजी मुअस्लिल कर दियेगये हैं और पिछले दो व्यक्ति तथा अल्लाबेली पाँच हजारकी जमानतपर रिहा किये गये हैं। अब शीघ्रही इन पर श्री असिस्टेंट कमिश्नर महोदयके इजलासमें मुकदमा चलनेवाला है। मामला विचाराधीन होनेके कारण इस विषयमें अभी विशेष नहीं लिखा जासकता।

भोले भक्त कहतेथे कि–ब्यावरमें चौथा काल बरत रहा है। जैनधर्मकी बड़ी प्रभावना होरही है, आदि। इन दिनों यहाँ मुनिवेषियोंकी व दिगम्बर जैनियोंकी जो किरकिरी हुई है व होरही है, वह वर्णनातीत है। चारों तरफ सरावगियों पर धिक्कारें पड़ती हैं। लोग मुँहपर यह कहते नहीं हिचकते कि सरावगियोंने एक निर्जीव-मूर्तिके लिये एक सजीव मूर्तिको मरवाडाला। जनेऊधारियों! तिलकधारियो! हरी सब्जी (शाक तरकारी) जल, वायु आदिके अगोचर जीवोंकी रक्षा करनेका दम भरने वाले पाखण्डियों! एक बाईस बरसके हट्टेकट्टे जवानको निर्दयतापूर्वक पिटवाकर हत्या कराते समय तुम्हारा दयाधर्म कहाँ चला गयाथा? एकरोजएक बड़ा जनसमूह श्रीमान रायबहादुर सेठ चम्पालालजीके मकान पर पहुँचा और उनको बुरी तरह धिक्कारा। बादमें वह नसियाँ गया जहाँ मुनिमंडली ठहरी हुई है। अनिष्टकी आशंकासे दरवाजे बंद कर दिये गये, लेकिन लोग बाहिरसे ही चिल्लाते रहे। कुछ उद्दंड लोगोंने चिकें जलादीं, पेशाब करदिया तथा जिस प्रकार जी में आया, मुनिमण्डलीके तथा दिगम्बर जैनियोंके प्रति अपनी घृणा प्रकट की। यह कैसी प्रभावना है! क्या चौथेकालका यही स्वरूप है?

मूर्तिका पता लगानेके लिये भक्तमण्डलीने रमल फैंकनेवालों, 'मावल्याँ महाराज' आदि कुदेवों वगैरह की सहायता ली थी और इस तरह अपने श्रद्धानका परिचय दिया था। सुना जाता है कि कलिकाल-सर्वज्ञके केवलज्ञानमें झलका थाकि मोतीलाल राँवका दोषी है; लेकिन वहभी मिथ्याज्ञान प्रमाणित हुवा। आजकल मूर्तिका पता लगानेके लिये जाप, अनुष्ठान आदि द्वारा जैनशासन-देवोंकी पूजा अर्चनाकी जा रही है।

विश्वस्तसूत्रसे मालूम हुवा है कि गत रक्षाबंधनके अवसरपर एक क्षुल्लक महाशयने एक महिलासे राखी बंधवाकर, उसे एक रिस्टवॉच भेंटमें दीथी। कुछ दिन चलनेके बाद जब वह खराब होगई तो मरम्मतके लिये उन्हीं क्षुल्लक महाशयके पास वापिस आई। तब भेद खुला। उपगूहन अंगके नामपर बात दबादी गई।

मच्छरोंकी बाधासे बचानेके लिये मुनि-महाराजों के लिये मसहरियाँ बनवाई गई थीं तथा आचार्य महाराजके लिये मसहरी लगाना शुरूभी करदिया गयाथा। कुछ लोगोंने इसपर आपत्तिकी। बात बढ़ जानेके कारण अब खुल्लमखुल्ला मसहरी नहीं लगाई जाती–लुकाछिपाकर उपयोग किया जाता है। मच्छरोंको भगानेके लिये मुनि लोगोंके कमरों में धुआँभी किया जाता है।

ब्यावर दिगम्बर जैनसमाजका बहुभाग यद्यपि गतानुगतिक व धनसत्ता वशवर्ती है तथापि वह एकदम मूढ़ नहीं है। कई लोगोंमें विवेकबुद्धि है लेकिन नैतिक साहसके अभाव व मानसिक दुर्बलताके कारण वे प्रायः कठपुतलीकी तरह आचरण कर रहे हैं। एक बातमें उनने अवश्यही सद्विवेकका परिचय दिया। लोकलाजके कारण अथवा और किसी कारणसे उन्होंने मुनिवेषियोंकी इतनी सेवासुश्रूषाकी कि जितनी उनको पहिले कभी नसीब नहीं हुई होगी—अच्छे अच्छे घरानेके व्यक्ति हरवक्त उनकी सेवामें लगे रहते हैं, दिनरात उनके हाथ पाँव दबाते रहते हैं, जरा सा पसीना आतेही अंगोछेसे पोंछते रहते हैं, मच्छर को जिस्म पर बैठने तक नहीं देते, इत्र व सुगंधित तेलसे मालिश करते रहते हैं–लेकिन यह सब बर्दाश्त करते हुए भी उन्होंने ब्यावरमें गोबरपंथका प्रचार न होने दिया, चर्चासागर-सूर्यप्रकाश-त्रिवर्णाचार आदि

बसनोंमें ही बँधे रहे, मुनिवेषियोंको उन्हें खोलकर धूप देनेका भी साहस न हुवा। —संवाददाता।

विविध विषय।

नकली साध्वियों का बहिष्कार—श्री स्थानकवासी जैन कान्फरेन्सके प्रमुख श्रीमान हेमचन्द भाई रामजी अन्य सदस्यों के साथ राजपूतानाका दौरा करते हुए ता० १४ सितम्बर को किशनगढ़ पहुँचे। साधु-साध्वियोंके दर्शन करते हुए सब बख्शीके स्थानकपर गये, जहाँ दो साध्वियाँ बहुत दिनोंसे रहती आरही हैं। वहाँ एक मकान में ताला लगा देखकर उन्हें आश्चर्य हुवा। चाबियें माँगनेपर उन्होंने देनेसे इनकार किया तो ताला तोड़ा गया। मकानमें गृहस्थोंका सामान जेवर कपड़े इत्यादि पाये गये! सभापति महोदयने उक्त सामान को पंचायत के सुपुर्द कर दिया और उक्त साध्वियोंके मुँहपरसे मुँहपत्ती हटवा कर उन्हें स्थानकके बाहिर निकाल दिया। सभापति महोदयके इस सत्साहसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। सच्चे जैनसाधुओंके महत्वकी रक्षाके लिये नकली साधु साध्वियोंके बहिष्कारकी पूर्ण आवश्यकता है।

६१ दिनका उपवास—स्थानकवासी जैन साधु श्री भगवानदासजीने आषाढ़ सुदी १४ से ६१ दिन का उपवास प्रारम्भ किया और आसोज बदी १ को निर्विघ्न समाप्त किया। बीचमें कभी कभी केवल गर्म जल ग्रहण करते थे। इसके उपलक्षमें पारणेके दिन स्थानीय धानमण्डीका कारोबार बन्द रक्खा गया था।

जैन मुनिका सम्मान—ता० १० सितम्बर को आगरा आर्यसमाजने स्थानकवासी जैन मुनि श्री कविवर नानचन्द्रजी महाराज को अपने यहाँ आमन्त्रित कर "साम्प्रदायिकतासे हानियाँ और उसको दूर करनेके साधन" विषयपर उनका भाषण कराया। मुनिश्रीने श्रोताओंको साम्प्रदायिकताके संकुचित भावोंको त्यागने तथा मनुष्यमात्रको अपने भाईके समान माननेका अनुरोध किया।

नुकता (मोसर) करनेपर राजदंड—इन्दौर राज्यमें नुकता (मोसर) के सम्बन्धमें क़ानून बना हुवा है। वहाँके श्रीयुत बद्रीलाल रघुनाथ ब्राह्मणने उक्त क़ानूनका उल्लंघन कर अपने पिताका नुकता किया था जिसपर उसे १०१) जुर्माना या एक दिन के कारावासका दण्ड दिया गया।

पर्युषण पर्व में बाल बनवाने का दंड—जाति बहिष्कार—जैनमित्रमें प्रकट हुवा है कि धारकी पंचायतने वहाँके श्रीमान फतेलालजी गोपीलालजी जैनके कुटुम्बका इस कारण जाति व्यवहार बंद कर दिया कि उन्होंने पर्युषण पर्वके दिनोंमें बाल बनवाये थे। इसपर, मालूम होता है, वहाँपर दो दल होगये और श्री फतेलालजी, गोपीलालजीके साथ ३६ परिवार रहे। दूसरे दलने इन ३६ परिवारोंके साथ भी सम्बन्ध विच्छेद कर दिया है। यदि उक्त समाचार सत्य है तो धार-पंचायतकी मनोवृत्तिको समझना एकदम असम्भव है। इस बीसवीं सदीमें ऐसा अन्धेर तो कहीं जंगली जातियोंमें भी नहीं होता।

भारत दिगम्बर जैनपरिषद्का दसवाँ वार्षिक अधिवेशन—इटारसी में ता० २९, ३० दिसम्बरको होना निश्चित हुवा है। स्वागतकारिणी कमेटीका संगठन होगया है। सभापतिके चुनावके लिये प्रयत्न किया जारहा है। मध्य-प्रान्तमें परिषद्का यह पहिला अधिवेशन होगा। समाजसेवी बन्धुओंको अधिवेशनमें पधारनेके लिये अभीसे निश्चय कर लेना चाहिये।

—सुन्दरलाल जैनवैद्य, स्वागत मंत्री।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N 352.

१६ अक्टूबर सन् १९३३

वर्ष ८ अङ्क २४

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

विद्यार्थियों व संस्थाओं से २॥) मात्र।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः"॥—श्रीहरिभद्र सूरि।

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्तिस्वीकार—जैनजगत्की सहायतार्थ निम्नप्रकार द्रव्य प्राप्त हुआ है जिसके लिये हम दातारोंके आभारी हैं—

१०) श्रीमान ला० प्रभुदयालजी जैन भिण्ड।

२॥) ,, ला० रघुवरदयालजी गबेलिया भिण्ड।

५०) गुप्त दान।

जैनजगत्के १८ वें अङ्कमें पत्रकी आर्थिक अवस्था की ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया गया था। इस पर जगतके प्रेमी पाठकोंने उदारतापूर्वक जो सहायता प्रदानकी है, वह कुल मिलाकर २६७॥) है। इस अङ्क के साथ यह वर्ष समाप्त होता है। इस समय पत्रपर करीब चारसौ रुपया कर्ज़ है। आशा है पाठकगण इस ओर लक्ष देंगे और इस कर्जको चुकता करा देनेके लिये शीघ्र अपनी उदारता प्रदर्शित करेंगे, जिससे पत्र ऋणमुक्त होकर नये वर्षमें पदार्पण कर सके। —प्रकाशक।

लोहड़साजन चर्चा—इस सम्बंधमें पिछले अंकों में सीकर निवासी श्रीमान पं० कन्हैयालालजी व अन्य विद्वानोंके लेख प्रकट हुए हैं। इनके विरोधमें खण्डेलवाल महासभाके महामन्त्री श्रीमान् माणिकचन्दजी बैनाड़ाके लेख खण्डेलवालजैनहितेच्छुमें प्रकाशित हुए हैं। बैनाड़ा जीके आक्षेपोंके उत्तरमें श्रीमान पं० कन्हैयालालजीने एक विस्तृत लेख हमारे पास भेजा है जिसे हम जानबूझ कर प्रकाशित नहीं कर रहे हैं। श्रीमान पं० कन्हैयालालजी आदिका मुद्दा यह है कि लोहड़साजन दस्सा नहीं हैं, उनके साथ बड़साजनोंका कच्ची पक्की रोटी व्यवहार प्रायः सर्वत्र तथा कई प्रान्तोंमें बेटी व्यवहार भी चालू है, अतः उनका अभिप्राय यह है कि लोहड़साजनोंका बड़साजनों के साथ सर्वत्र बेटीव्यवहार होना चाहिये। इधर बैनाड़ाजी लोहड़साजनोंको दस्सा समझते हैं, वे बड़साजनों व लोहड़साजनोंके पारस्परिक बेटीव्यवहारको स्वीकार नहीं करते, कच्ची रोटीव्यवहारसे भी इनकार करते हैं और इसलिये वे तथा उनके हिमायती मुनिवेषी चन्द्रसागरजी लोगोंसे इसी आशयकी सम्मतियाँ प्राप्तकर प्रकाशित कर रहे हैं। हमारे ख्यालसे इस प्रश्नका निर्णय वादविवादसे नहीं किन्तु वस्तुस्थितिसे होगा। हमें हर्ष है कि श्रीमान् पं० कन्हैयालालजी आदि भी इसको स्वीकार करते हैं और इसलिये वे एक बृहत सूची तैयार कर रहे हैं जिससे यह प्रमाणित होगा कि किन किन बड़साजनोंका सम्बन्ध किन किन लोहड़साजनोंके साथ हुआ है, तथा बादमें ऐसे परस्पर सम्बन्धित बड़साजनोंका सम्बन्ध किन किन बड़साजनोंके साथ हुआ है व पिछला सम्बन्ध चालू रहा है। हमें विश्वस्त रूपसे मालूम हुवा है कि डेढ़ सौसे अधिक ऐसे उदाहरण सप्रमाण एकत्र किये जा चुके हैं। इस बृहत् समुदायमें श्रीमान रावराजा सरसेठ हुकमचन्दजी, राय बहादुर सेठ टीकमचन्दजी, श्रीमान चन्दालालजी बैद

अलीगढ़, पं० श्रीलालजी पाटणी अलीगढ़, बा० बृजभूषण शरणजी वकील मथुरा, पं० पन्नालालजी बाकलीवाल सुजानगढ़, हीरालालजी पन्नालाले देहली, डा० गुलाबचन्दजी पाटणी अजमेर, आदि कई महानुभावोंका समावेश बताया जाता है। हमारे ख्यालसे उक्तसूचीको और अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है; जितनी तैयार होगई है वह शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करदी जानी चाहिये। अगर उसमें उल्लिखित सम्बन्ध सत्य होंगे तो वह विरोधियोंके समस्त आक्षेपोंका मुँहतोड़ उत्तर होगा और उसके पश्चात् उन्हें तथा उनके मुनिवेषी हिमायतीको भी चूँ करने तकका साहस न होगा। —प्रकाशक।

स्थानीयचर्चा—करीब एक महीना हुआ, अजमेर निवासी श्री० चन्दनमलजी जैनने श्री मुनिवेषी चन्द्रसागरजी व उनके भक्तोंसे खुले रूपमें पचास प्रश्न पूछे थे। अफ़सोस है कि अभी तक मुनिजी या उनकी भक्तमण्डलीमें से किसीका भी हौंसला प्रश्नोंका उत्तर देनेका नहीं हुवा है। चन्द्रसागरजीका शास्त्रज्ञान कितना अगाध है, यह इसीसे समझा जा सकता है। सुना था कि एक और महाशय चन्द्रसागरजी व उनके भक्तोंके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उपस्थित करना चाहते हैं। मेरे ख्यालसे वह व्यर्थ ही होगा। शूद्रजलत्याग, व जनेऊका आधार शास्त्रपर नहीं, किन्तु कतिपय पण्डितों व मुनिवेषियों—जो उन पण्डितोंके हाथोंमें कठपुतली बने हुए हैं—के दुराग्रहपर अवस्थित है। मनमें सब लोग भली भाँति समझे हुए हैं कि इनसे चारित्रमें कोई वृद्धि नहीं होती है, लेकिन मानके शिखरपर आरूढ़ व्यक्तियोंके लिये प्रकट रूपमें सत्यकी प्राप्ति असम्भव है। मुनियोंको खुश करने के लिये भक्त लोग आजन्म शूद्रजलत्याग करनेका उपक्रम करते हैं, परन्तु पहिले मन्दिरमें जाकर प्रतिमाजीकी साक्षीमें यह प्रतिज्ञा कर आते हैं कि मुनिजीके समक्ष ली हुई प्रतिज्ञाकी अवधि केवल उनके यहाँ निवास करने तककी समझी जाय। कितना मायाचार है!

चन्द्रसागरजीकी व्यवहारकुशलता(?) का नमूना भी लीजिये। स्थानीय तेरहपंथी धड़ेमें श्रीमान् डा० गुलाबचन्दजी पाटणीके मामलेको लेकर पिछले कई महीनोंसे दलबन्दी चली आरही थी। एक दलका कहना था कि डा० गुलाबचन्दजीको अपने धड़ेमें रहना है तो वे अपना न्योता अलग लिखवावें, वे अपने भाई मोतीलालजीके न्योतेमें बिरादरीमें नहीं आ सकते; अगर वे अपने भाई के न्योतेमें आवेंगे तो हम उस कार्यमें शरीक नहीं होंगे। दूसरा दल पाटनीजीके पक्षमें था और उसको डाक्टर साहिबके अपने भाईके न्योतेमें आने जानेमें कोई ऐतराज़ नहीं था। आखिर इस झगड़ेको निपटानेके लिये दोनों दलोंकी ओरसे मुनिवेषी चन्द्रसागरजी सरपंच मुकर्रर हुए! मुनिवेषी सरपंचकी भक्तमण्डलीमें दोनों दलके व्यक्ति थे। अगर वे मोतीलालजीका न्योता क़ायम रखते तो दूसरे दलके भक्त नाराज़ होते और अगर डाक्टरसाहिबके नामसे नया न्योता लिखवानेका फ़ैसला देते तो सेठ टीकमचन्दजी प्रभृति भक्तमण्डली खिसियाती। इसलिये उन्होंने दोनों दलोंको खुश करनेके लिये फ़ैसला दिया कि—पंचायतीमें 'मोतीलाल गुलाबचन्द' के नामसे न्योता लिखा जाय! अजमेर प्रान्तभरकी किसी महाजन पंचायतमें आजतक पंचायती न्योते में दो नाम नहीं लिखे गये। दोनों दल खिसिया रहे थे परन्तु लाचार थे। बिना सोचे समझे एक मुनिवेषीको सरपंच बनाने का और क्या परिणाम निकलता? मेरे ख़यालसे इस फ़ैसलेके कारण पाटनीजीके साथ बहुत अनुचित बर्ताव हुवा है। ऐसे पंचायती झगड़े योंही उठा करते हैं और कुछ समय तक चलते रहकर बादमें योंही "जाजम नीचे" दबादिये जाते हैं। कुछ अर्से बाद लोग उस बातको भूल जाते हैं और सब व्यवहार पूर्ववत् चलने लगता है। लेकिन इस फ़ैसलेके अनुसार न्योतेमें डबल नाम लिखनेकी विचित्र बात हमेशा लोगोंकी नज़रोंमें बनी रहेगी और वह पाटनीजीके झगड़ेकी स्मृतिको अमिट बनाये रखेगी।

आशा की जाती है कि चातुर्मास समाप्त होनेके पश्चात् श्री शान्तिसागरसंघ यहाँ आवेगा। उसके ठहरानेके लिये श्री रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजीकी नसियोंमें खूब तय्यारियाँकी जा रही हैं। कोठरियाँ साफ़ कराई गई हैं; पीपल कटवाया गया है। मिती मगसर बदी ३ से सेठजीकी नसियाँ में पूजनविधान होगा। अजमेरमें खण्डेलवाल महासभाका अधिवेशन करानेके लिये सेठ साहबको दबाया जारहा है। —संवाददाता।

जैनधर्म का मर्म ।

(३५)

श्रुतज्ञानके भेद ।

श्रुतज्ञानके भेद अनेक तरहसे किये जाते हैं । निम्नलिखित चौदह भेद श्रुतज्ञानके चौदह भेद नहीं हैं किन्तु सात तरहसे दो दो भेद * हैं, जो कि विषयको स्पष्ट करनेके लिये किये गये हैं । १ अक्षर-श्रुत, २ अनक्षरश्रुत । ३ संज्ञिश्रुत, ४ असंज्ञिश्रुत । ५ सम्यक् श्रुत, ६ मिथ्याश्रुत । ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत । ९ सपर्यवसित, १० अपर्यवसित । ११ गमिक, १२ अगमिक । १३ अङ्गप्रविष्ट, १४ अनङ्गप्रविष्ट † ।

अक्षरश्रुत--अक्षरसे उत्पन्न ज्ञान अक्षरश्रुत है । उपचारसे अक्षरको भी श्रुत कहते हैं, इसलिये अक्षर के तीन भेद माने जाते हैं ‡ । संज्ञाक्षर=नागरी आदि लिपियोंमें अक्षरका आकार । व्यञ्जनाक्षर=अक्षरका उच्चारण । लब्ध्यक्षर=ज्ञानरूप अक्षर=भावश्रुत ।

अनक्षरश्रुत--स्वर व्यञ्जनादि अक्षररहित ध्वनिमात्र * (खाँसना छींकना आदि) से पैदा होनेवाला ज्ञान अनक्षरश्रुत है । टीकाकारका मत है कि हाथ वगैरहके इशारेसे श्रुतज्ञान न मानना चाहिये † । परन्तु हाथ वगैरहके इशारेसे जब भावप्रदर्शन होता है तब उसे श्रुतज्ञान तो मानना ही पड़ता है । श्रुतज्ञानको अक्षर या अनक्षरश्रुतमें शामिल करना जरूरी है, इसलिये उसे अनक्षरश्रुतमें शामिल करना चाहिये । न्यायग्रन्थोंमें हाथ आदिके इशारेसे पैदा होनेवाले ज्ञानको भी आगम कहा है । और उसमें अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुतको शामिल ‡ किया है ।

संज्ञिश्रुत--संज्ञाके तीन भेद हैं । दीर्घकालिकी--जिसमें भूत भविष्यका लम्बा विचार किया जाता है वह दीर्घकालिकी संज्ञा है । इसीसे जीव संज्ञी कहलाता है । जो देहपालन आदिके लिये आहारादिकमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है वह हेतुवादोपदेशिकी ।

---

* ननु अक्षर श्रुतानक्षर श्रुतरूप [illegible] भेदद्वये शेषाः [illegible] भवन्ति तत्किमर्थं तेषां भेदोपन्यासः ? उच्यते इह अव्युत्पन्नमतीना विशेषावगम सम्पादनाय महात्मना शास्त्रारम्भ प्रयासो न चाक्षर श्रुतानक्षरश्रुतरूपभेदद्वयोपन्यासमात्राद् व्युत्पन्नमनयः शेष-भेदानवगन्तुमीशते, ततोऽव्युत्पन्नमपि विनेयजनानुग्रहाय शेष-भेदोपन्यास इति । नन्दी टीका ३७ ।

† नन्दीसूत्र ३७ । अक्खर सन्नी सम्म साइयं खलु सप-ज्जवसिअं च । गमिअं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ।। कर्म विपाक । प्रथम ६ । ‡ —नन्दी ३८ ।

* ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासिअं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं । आवश्यकसूत्र १९ ।

† यच्छ्रूयते तच्छ्रुतमित्युच्यते न च करादिचेष्टा श्रूयते ततो न तत्र द्रव्य श्रुतत्वप्रसङ्गः ।। नन्दी टीका ३८ ।।

‡ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः । आदि शब्देन हस्तसंज्ञादिपरिग्रहः । अनेनाक्षर श्रुतमनक्षर श्रुत च [illegible] गृहीतं भवति ।। प्रमेयकमलमार्तण्ड ४ परि० ।।

आत्मकल्याणकारी उपदेशसे जो संज्ञा होती है वह दृष्टिवादोपदेशिकी है। वास्तवमें यही संज्ञिश्रुत है।

असंज्ञिश्रुत—असंज्ञी जीवोंका जो श्रुत होता है वह *असंज्ञिश्रुत कहलाता है।*

सम्यक्श्रुत—सच्चे उपदेशसे उत्पन्न ज्ञान सम्यक् श्रुत है।

मिथ्याश्रुत—मिथ्या उपदेशसे उत्पन्न ज्ञान मिथ्याश्रुत है।

जैन ग्रन्थोंमें, जैनग्रन्थोंको सम्यक् श्रुत कहा है और जैनेतर ग्रन्थोंको मिथ्याश्रुत कहा है। परन्तु सम्यक्का अर्थ किसी सम्प्रदायरूप करना ठीक नहीं है। सत्य कहीं भी हो वह सम्यक् श्रुत है, चाहे जैन ग्रन्थ हो या जैनेतर।

सादि, अनादि, सान्त (सपर्यवसित) अनन्त ये भेद सामान्य—विशेषकी अपेक्षासे हैं। सामान्य अपेक्षासे अनादि अनन्त है और विशेष अपेक्षासे सादि सान्त है।

गमिकश्रुत—एक वाक्य जब कुछ विशेषताके साथ बार बार आता है तब गमिकश्रुत कहलाता है और इससे भिन्न अगामिक कहलाता है। अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्टका विस्तृत विवेचन आगे किया जाता है।

इन सात प्रकारके भेदोंमें अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यभेद ही अधिक प्रसिद्ध और विशेष उपयोगी हैं। मैं पहिले कह चुका हूँ कि दूसरोंके अभिप्रायका ज्ञान श्रुत है इसलिये केवल धर्मशास्त्र ही श्रुत नहीं कहलाता किन्तु प्रत्येक शास्त्र श्रुत है। गणित इतिहास आदि सभी शास्त्र श्रुत हैं। परन्तु यहाँ जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यभेद किये गये हैं, वे सब जैनधर्मशास्त्रकी अपेक्षासे हैं।

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य

तीर्थंकर भगवानके वचनोंके आधार पर उनके मुख्यशिष्यों (गणधरों) द्वारा जो ग्रन्थरचना की जाती है, वह अंगप्रविष्ट * श्रुत कहलाता है। उसके बाद अंगप्रविष्टके आधार पर जो अन्य आचार्यों के द्वारा ग्रन्थ रचना की जाती है वह अंगबाह्यश्रुत है। मतलब यह कि अंगप्रविष्ट मौलिक शास्त्र है और अंगबाह्य उसके आधार पर बना हुआ है। अंगप्रविष्ट प्रत्यक्षदर्शीके वचनोंका संग्रह कहा जाता है, वह अनुभवमूलक है, जब कि अंगबाह्य परोक्षदर्शियोंकी रचना है।

जैनग्रंथोंके जिस प्रकार अङ्गप्रविष्ट, अंगबाह्य भेद किये गये हैं उसी प्रकार प्रत्येक शास्त्रके किये जासकते हैं। महात्मा बुद्धके उपदेशोंके संग्रहको हम अंगप्रविष्ट और उस सम्प्रदायके अन्य धर्मग्रंथों को अंगबाह्य कहसकते हैं। इसीप्रकार वैदिक धर्ममें वेद, अंगप्रविष्ट, बाकी अंगबाह्य। ईसाइयोंमें बाइबिल अंगप्रविष्ट, बाकी अंगबाह्य। मुसलमानोंमें कुरान, अंगप्रविष्ट, बाकी अंगबाह्य। इसी प्रकार अन्य संप्रदायोंके शास्त्रोंको भी समझना चाहिये।

लौकिक शास्त्रोंमें भी ये भेद लगाये जासकते हैं। जिसने स्वयं किसी वस्तुका आविष्कार किया है उसके वचन अंगप्रविष्ट हैं और उसके ग्रंथोंके आधारपर लिखने वालोंके वचन अंगबाह्य हैं। मतलब यह कि किसीभी विषयके मूल ग्रंथोंको अंगप्रविष्ट और उत्तरग्रंथोंको अंगबाह्य कहसकते हैं। सामान्य

---

* यत् भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिः तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचन प्रतिष्ठापन फलस्य तीर्थङ्कर नामकर्मणो नुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिः उत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैः दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्ट वाङ्मति बुद्धिशक्तिभिराचार्यैः काल संहननायुर्दोषादल्प शक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तं तदङ्गबाह्यम् ॥ तत्वार्थभाष्य (उमास्वाति) १—२०॥ अंगप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेद बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त गणधरानुस्मृतग्रन्थरचनं ॥१—२०—१२॥ आरातीयाचार्य कृतांगार्थ प्रत्यासन्नरूपमंगबाह्य ॥ १—२० १३ त० राजवार्तिक॥

श्रुतके समान अंगप्रविष्ट अंगबाह्यके भी सम्यक् और मिथ्या दो भेद हैं।

जैनियोंका अंगप्रविष्ट साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, और ऊपर जो मैंने अंगप्रविष्टकी व्याख्या की है उसके अनुसार तो वह भगवान् महावीरके शब्दोंके साथही विलीन होगया है। उस समयके धर्मप्रवर्त्तक पुस्तक नहीं लिखते थे और लेखनके साधन इतने कम थे कि उस समय किसीके उपदेशों का लिखना कठिन था। मालूम होता है कि उस समय तालपत्रका उपयोग करनाभी लोग न जानते थे, या बहुत कम जानते थे। ब्राह्मी आदि लिपियाँ तो उस समय अवश्य प्रचलित थीं, परन्तु वे शायद ईंटों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों आदि परही काम मे आती थीं। अगर लिखना इतना दुर्लभ न होता तो कोई कारण नहीं था कि जैनसाहित्य महावीरके समयमें ही न लिखा जाता। श्रेणिक और कुणिक सरीखे महाराजा जैनधर्मको लिपिबद्ध न कराते, यह आश्चर्यही कहलाता। शास्त्रोंको जो श्रुतिस्मृति कहा जाता है उससेभी मालूम होता है कि उस समयमें शास्त्र सुने जाते थे और स्मरणमें रक्खे जाते थे। लिखने पढ़नेका व्यवहार नहीं होता था। जैनियोंने भी शास्त्र का नाम 'श्रुत' ही रक्खा है, 'लिखित' नहीं रक्खा।

खैर, यह तो एक ऐतिहासिक समस्या है; परन्तु इतनी बात तो निश्चित है कि भगवान महावीरके उपदेशोंका कोई लिखितरूप उपलब्ध नहीं है और न उनका लिखितरूप कभी होसका। उनके शिष्योंने जो उनके व्याख्यानोंका संग्रह किया वह भी उनके शब्दोंका ज्योंका त्यों संग्रह नहीं था। उसमें भाव भगवान महावीरके थे और भाषा उनके शिष्योंकी थी। इतनाही नहीं, उनके शिष्योंने विषय को खूब बढ़ाया है। मैं द्वितीय अध्यायमें कहचुका हूँ कि जैन शास्त्रोंके अनुसार भगवान् महावीरने तो त्रिपदी (उत्पादव्ययध्रौव्य) का उपदेश दिया था; उस परसे गणधरोंने द्वादशांगकी रचना की। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि भगवान् महावीरका उपदेश स्याद्वाद पर मुख्यरूपमें होता था जिसके आधार पर उनके शिष्य लम्बा चौड़ा शास्त्र बना डालते थे, अथवा कुछ न कुछ विस्तार अवश्य करते थे।

अंगप्रविष्ट साहित्य भगवान महावीरके शब्दों में होनेके बदले उनके शिष्योंके शब्दोंमें होनेसे उसमें अनेक अतिशयोक्तियोंको स्थान मिला। प्रभावनाके लिये अनेक कल्पित घटनाओं और कथाओं और वर्णनोंको स्थान दिया गया। कवित्वका परिचय देने के लिये भी उसमें अनेक बातोंका समावेश हुआ।

जबतक भगवान महावीर जीवित थे तबतक तो पूर्ण द्वादशांगकी रचना हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि जीवनके अंत तक भगवान् महावीर क्या क्या विशेष बातें कहेंगे, यह पहिलेसे कौन जानता था। महावीर निर्वाणके बाद जब संघनायकका पद सुधर्मा स्वामीको मिला तब उनने पूर्ण श्रुतका संग्रह अपनी भाषामें किया। इसकोभी अपनी भाषा देने वाले जम्बू स्वामी हैं। वर्तमानके सूत्र प्रायः सुधर्मा और जम्बूकुमारके वार्तालापके रूपमें उपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि इन शास्त्रोंको एकदिन जम्बू स्वामीने अपने और सुधर्मा स्वामीके प्रश्नोत्तरके रूपमें बनाया था। परन्तु यह परिवर्तन यहीं समाप्त नहीं होता है किन्तु जम्बू स्वामीके आगेकी पीढ़ी उसे अपने शब्दोंमे ले लेती है। उस समय सूत्रोंमें रहा तो सुधर्मा जम्बूका ही प्रश्नोत्तर है परंतु उसमें सुधर्मा और जम्बूको जो नाम लेकर आर्य विशेषण * ल-

* अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजम्बू नामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोर तवस्सी घोर बम्भचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ समवायांगसूत्र ॥

गाया गया है, तथा घोर तपस्वी आदि कहकर जो उनकी खूब प्रशंसा कीगई है उससे साफ मालूम होता है कि ये किसी तीसरे व्यक्तिके वचन हैं। सुधर्मा और जम्बू न तो अपनी प्रशंसा अपने मुँहसे करसकते हैं और न अपने लिये अन्य पुरुषका उपयोग कर सकते हैं। इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरा व्यक्ति ही इन शब्दोंका उपयोग करसकता है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इन्होंने तीन वाचनाओंमें से प्रथम वाचना दी थी इसलिये सूत्रोंकी भाषा भद्रबाहुकी भाषा थी, यह कहनेमें ज़राभी आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार जब सूत्र पीढ़ी दर पीढ़ी बदलते रहे तो उनमें नई नई बातेंभी मिलती रहीं। यहाँ तक कि उनमें राजाओंके वैभवोंका वर्णन, आयुर्वेद, स्त्रीपुरुषोंकी कलाएँ, गणित शास्त्र आदिभी शामिल हुए। परन्तु इन विषयोंका मुनियोंके ऊपर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि पिछले चार पूर्वोंका पठनपाठन भद्रबाहुने सदाके लिये बन्द करदिया, और ये पूर्व भद्रबाहुके साथ विलीन होगये।

सूत्रोंका परिवर्तन भद्रबाहु पर जाकरही समाप्त नहीं हुआ किंतु आज जो सूत्रोंकी भाषा उपलब्ध है उसपर से साफ कहा जासकता है कि यह पुरानी भाषा नहीं है। आचारांगकी प्राकृतसे अन्य सूत्रों की प्राकृत बहुत कुछ जुदी पड़जाती है, इससे मालूम होता है कि जैनसूत्रोंका [illegible] तार या व्यञ्जनाचारोंमें नहीं आई किन्तु भावश्रुतमें आई है। अर्थात सुधर्मा स्वामीने जम्बूस्वामीको जो उपदेश दिया उसे जम्बूस्वामीने शब्दशः सुरक्षित नहीं रक्खा किन्तु उस बातको समझलिया, और फिर अपनी भाषामें अपने शिष्योंको समझाया। इस परिवर्तनसे अनेक अलंकार, अतिशयोक्तियाँ, उदाहरण आदि नये आगये। इतनाही नहीं, किन्तु ज्यों ज्यों विद्याका विकास होतागया, परिस्थितियाँ बदलती गईं त्यों त्यों उनका असरभी शास्त्रोंपर पड़ता गया। वैदिक ब्राह्मणोंने वेदको जिस तरह सुरक्षित रक्खा उस तरह जैन श्रमणोंने नहीं रक्खा। वेदको सुरक्षित रखनेके कठोर नियम और घोर प्रयत्न वास्तवमें आश्चर्यजनक है। हज़ारों ब्राह्मण बाल्यावस्थासे इसी कामके ऊपर नियुक्त रक्खे गये और शब्दोंका परिवर्तन तो क्या किन्तु उदात्त अनुदात्त स्वरित उच्चारणोंका भी परिवर्तन न होनेदिया। जो ऐसा भूलसे भी करते थे उनको बहुत पापी कहागया है। पाठप्रणालीके अनेक भेदोंसे जो वेदको सुरक्षित रखनेकी चेष्टा कीगई है वह आश्चर्यजनक है। साधारण पाठप्रणालीको "निर्भुजसंहिता" कहते हैं जैसे "अग्निमीळे पुरोहितम्* यज्ञस्यदेवमृत्विजं" इस पाठको संधिच्छेद करके विरामपूर्वक जब पढ़ते हैं तब वह 'पद संहिता" कहलाती है। जैसे अग्निम्, ईळे, पुरः हितम्' इत्यादि। 'क्रमसंहिता'में आगे पीछेके शब्दोंको साँकलकी तरह जोड़ा जाता है और दुहराया जाता है। जैसे 'अग्निं ईळे ईळे पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजम्'। जटापाठमें यह आम्रेडन और बढ़जाता है। जैसे "अग्नि ईळे, ईळे अग्निम, अग्निं ईळे, ईळे पुरोहितम, पुरोहितम ईळे, ईळे पुरोहितम, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम, पुरोहितम यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देव यज्ञस्य, यज्ञस्यदेवं, देवं ऋत्विजम, ऋत्विजम देवं, देवं ऋत्विजम्।" घनपाठ माला शिखा आदि अनेक पाठ विचित्र हैं। यह सब परिश्रम इसलिये था कि वेदमें प्रक्षिप्त अंश न मिलने पावे। फिर भी कालभेद देशभेद व्यक्तिभेद और उच्चारणभेदसे वेदके अनेक पाठभेद हुए हैं, और इस क्रम से प्रत्येक संहिता अनेक शाखाओंमें विभक्त हुई है। सामवेदकी तो हज़ार शाखाएँ कही जाती हैं, जब कि अन्य वेदोंकी भी दर्जनों शाखाएँ हैं। इतना

*ऋग्वेद अष्टक १, मण्डल १, अध्याय १, अनुवाक १ सूक्त १ पद्य प्रथम।

प्रयत्न करने परभी अगर वेद अक्षुण्ण नहीं रहसका, तब जैनसाहित्य कितना अक्षुण्ण न हुआ होगा, इसकी कल्पना अच्छी तरह की जासकती है।

जैनधर्मशास्त्रको 'सूत्र' कहते हैं। यह शब्दभी जैन साहित्यके मौलिकरूप पर प्रकाश डालता है। किसी विस्तृत विवेचनको सूचनाके रूपमें संक्षेपमें कहना सूत्र कहलाता है। दिगम्बर और श्वेताम्बरों ने जैनधर्मशास्त्रको जितना विस्तृत माना है उसे स्वीकार करते हुए उनको सूत्र कहना उचित नहीं मालूम होता। कहा जासकता है कि प्राकृतके 'सुत्त' शब्दका संस्कृतरूप 'सूत्र' बनानेकी उपेक्षा 'सूक्त' क्यों न बनाया जाय? जैसे वेदोंमें 'सूक्त' माने जाते हैं उसी प्रकार इधर अंग पूर्वोमें 'सूक्त' कहे जाँय। सम्भव है भगवान महावीरके समयमें 'सूक्त' के स्थानमें ही 'सुत्त' शब्दका प्रयोग किया गया हो, परन्तु किसी जैन लेखकने जैनसाहित्यको सूक्त नहीं कहा, सभी उसे सूत्र कहते हैं। तब प्रश्न होता है कि इन विशालकाय वर्णनोंको—जिनमें पुनरुक्ति आदि का छूटसे उपयोग हुआ है—सूत्र कैसे कहा जाय?

इस प्रश्नका एकही समुचित उत्तर यह है कि जैन वाङ्मय पहिले सूत्रही था। भगवान् महावीर ने सूत्ररूपमें ही उपदेश दिया था (और सम्भव है कि उसका प्राचीन संग्रहभी सूत्रमें ही हुआ हो) और बादमें फिर वह बढ़ायागया। जिन सूत्रोंका वह बढ़ाया हुआ रूप था वहभी सूत्र कहलाया। और बादमें तो अङ्गबाह्य साहित्यभी सूत्र कहलाने लगा है।

शास्त्रोंमें यह कथन मिलता है कि द्वादशांगकी रचना अन्तर्मुहूर्तमें कीगई थी, उसका पाठभी अन्तर्मुहूर्तमें होसकता है। यह अतिशयोक्ति नहीं है किन्तु वास्तविक बात है। मूलसूत्र इतनाही था कि वह अन्तर्मुहूर्त (करीब पौन घंटा) में पढ़ा जासके। पीछे उसका कलेवर बढ़ा और बढ़ा उसी समय, जब कि महावीरके शिष्य जीवित थे।

श्वेताम्बरोंका जो सूत्र साहित्य उपलब्ध है वह क़रीब डेढ़ हज़ार वर्षसे ज्योंका त्यों चला आरहा है; इसलिये यह निःसंकोच कहा जासकता है कि पिछले डेढ़ हज़ार वर्षसे उसके ऊपर समयका प्रभाव नहीं पड़ा। इसलिये उसमें खोजकी सामग्री बहुत है। परन्तु उसके पहिलेके हज़ार वर्षोंमें उसके ऊपरभी समयका प्रभाव पड़ा है। वह प्राचीन साहित्यको छोड़कर बिलकुल नये ढंगसे नहीं बनायागया, इसलिये उसमें कुछ मौलिकरूप अवश्य बना हुआ है। परन्तु जब गणधरोंके समयमें ही वह पर्याप्त विकृत होगया था तब इसका विकृत होना अनिवार्य है।

दिगम्बरोंने मौलिक साहित्यके खंडहरका भी त्याग करदिया और उसके पत्थर लेकर उनने दूसरी जगह नई इमारत बनाई फल यह हुआ कि इमारत कुछ सुन्दर बनी परन्तु प्राचीन खोजके लिये बहुत कम कामकी रही। औरभी एक दुर्भाग्य यह हुआ कि उनकी सारी रचना एकही समय नहीं हुई, किन्तु धीरेधीरे होती रही और समग्र साहित्यकी पूर्ति नवमी दसवीं शताब्दी तक होपाई है। फल यह हुआ कि छठी सातवीं शताब्दीके बाद कुमारिल शंकर आदिके द्वारा जो धार्मिक क्रान्ति कीगई, उसका पूरा असर उसके ऊपर पड़ा, और वह अत्यन्त विकृत होगया। जिनसेन आदि समर्थ आचार्योंको उसी प्रवाहमें बहकर जैन साहित्यको विकृत बनाना पड़ा है। दिगम्बर आचार्योंके ऊपर ही इस क्रान्तिके प्रवाहका असर पड़ा हो, सो बात नहीं है किन्तु श्वेताम्बर आचार्योंके ऊपरभी उसका उतनाही प्रभाव पड़ा जितना कि दिगम्बरों पर।

खैर, विकार सबमें आया है, पूर्ण प्रामाणिक कोई नहीं है, चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर हो। शाखाओं और उपशाखाओंसे वृक्षका अनुमान किया जासकता है परन्तु उसमें समग्र वृक्ष दिखलाई नहीं देसकता। एक स्वरसे समग्र जैनाचार्य भी

इस बातको स्वीकार करते हैं कि श्रुत विच्छिन्न हो-गया है। ऐतिहासिक निरीक्षण करनेसे भी यह बात सिद्ध होती है कि आज महावीरके वचन उपलब्ध नहीं होते, और शास्त्रोंमे सैकड़ों वर्षों तक परिवर्तन (न्यूनाधिकता) होता रहा है। ऐसी अवस्थामें एक महान् प्रश्न खड़ा होता है कि श्रुतनिर्णय कैसे किया जाय और वर्तमान शास्त्रोंका क्या उपयोग है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। हमें शास्त्रोंको मजिस्ट्रेट नहीं, गवाह (साक्षी) बनाना चाहिये, उनकी जाँच करना चाहिये, और जो बात परीक्षामें ठीक उतरे वही मानना चाहिये और बाक़ीको विकार समझकर छोड़देना चाहिये। आचार्य समन्तभद्रने शास्त्रका एक बहुत अच्छा लक्षण बतलाया है। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारमेंभी यह श्लोक पायाजाता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट विरुद्धकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ घट्टनम् ॥

अर्थ—जो आप्त (सत्यवादी) का कहा हुआ हो, (२) जिसका कोई उल्लंघन न करसकता हो, (३) जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध न हो, (४) तत्त्वका उपदेश करनेवाला हो, (५) सबका हित करनेवाला हो, (६) कुमार्गका निषेधक हो, वह शास्त्र है।

परन्तु आज संसारमें इतने तरहके सत्य-असत्य शास्त्र हैं और वे सब अपना सम्बन्ध ईश्वर या किसी ऐसेही महान व्यक्तिसे बताते हैं कि श्रद्धासे काम लेनेवाला व्यक्ति कुछभी निर्णय नहीं करसकता। किस शास्त्रका बनानेवाला आप्त था इसके निर्णयका कोई साधन आज उपलब्ध नहीं है।

प्रश्न—उसके वचनोंकी सचाईसे हम उसके सत्यवादीपनको जान सकते हैं।

उत्तर—इससे दोनोंमें से एकका भी निर्णय न होगा। क्योंकि वक्ताकी सचाईसे हमें उसके वचनोंकी सचाईका ज्ञान होगा और वचनोंकी सचाईसे वक्ताकी सचाईका ज्ञान होगा। यह तो अन्योन्याश्रय दोष कहलाया।

प्रश्न—किसीके दस बीस वचनोंकी सचाईसे हम उसकी सब बातोंकी सचाईको मानलेंगे।

उत्तर—दस बीस बातोंकी सचाईके लिये हमें उसकी परीक्षा तो करनाही पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि थोड़ी बहुत बातोंकी सचाई तो सभी शास्त्रों में मिलती है, तब अमुक शास्त्रको ही आप्तोक्त कैसे कहसकते हैं ? तीसरी बात यह है कि अगर दस बीस बातोंकी सचाईसे उसकी सब बातोंकी सचाई का निर्णय कियाजाय तो उसकी कुछ बातोंके मिथ्यापनसे उनकी सब बातोंको मिथ्या क्यों न समझा जाय ? उदाहरणार्थ अगर जैन शास्त्रका भूगोल वर्णन वर्तमान भूगोलसे खंडित होजाता है तो इस से जैनशास्त्र और इसी प्रकार मिथ्या भूगोल मानने वाले अन्य शास्त्र मिथ्या क्यों न माने जायँ ?

प्रश्न—भूगोल आदि विषय प्रक्षिप्त मानलें तो ?

उत्तर—तो कौनसा भाग प्रक्षिप्त है और कौनसा भाग प्रक्षिप्त नहीं है, इसका निर्णय कौन करेगा ?

प्रश्न—जो भाग प्रमाणविरुद्ध है, वह प्रक्षिप्त है।

उत्तर—जब प्रमाणोंके आधार पर ही प्रक्षिप्त अक्षिप्तका निर्णय करना है, तब श्रद्धाको स्थान कहाँ रहा ? निर्णय तो तर्कके ही हाथमें पहुँचा।

प्रश्न—इस प्रकार कोरे तर्कवादके प्रबल तूफ़ानों से तो आप शास्त्रोंको बर्बाद ही कर देंगे, प्राचीन आचार्योंके प्रयत्नों पर पानी फेर देंगे। फिर शास्त्र की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? और श्रुतज्ञानके लिये स्थान ही क्या रहेगा ?

उत्तर—यदि परीक्षा करना कोरा तर्कवाद है तब तो संसारमें अन्धश्रद्धालुओंका ही राज्य होना चाहिये। जैनाचार्योंने जब ईश्वर सरीखे विश्व-विख्यात और बहुजनसम्मत जगत्कर्ता आत्माके

अस्तित्वसे इनकार किया उस समय उनने कोरे तर्कवादके प्रबल तूफ़ान ही तो चलाये हैं। कमजोर मनुष्योंकी यह आदत होती है कि जब तक वे अपने पक्षको तर्कसिद्ध समझते हैं तब तक वे तर्क की दुहाई देते हैं और परीक्षा विवेक आदिके गीत गाते हैं किन्तु जब वे अपने पक्षको तर्कके सामने टिकता हुआ नहीं पाते तब श्रद्धाके गीत गाते हैं और परीक्षकोंको कोरा तर्कवादी कहकर नाक मुँह सिकोड़ते हैं। ये लोग सत्यके भक्त नहीं, अन्धश्रद्धा के भक्त हैं। ये लोग सच्चे जैन नहीं कहला सकते।

परीक्षा करनेमे शास्त्रकी आवश्यकता न रहेगी यह समझना भूल है। किसी नयी बातकी खोज करनेकी अपेक्षा उसकी परीक्षा अत्यन्त सरल है। घड़ी बनाना कठिन है, किन्तु उसकी जाँच करना—यह ठीक चलती है या नहीं आदि—इतना कठिन नहीं है। शास्त्रोंसे हमें यह महान लाभ है कि हमें सैकड़ों नयी बातें मिलती हैं, उनकी परीक्षा करके हम उनमेंसे सत्य और कल्याणकारी बातोंको अपना सकते हैं। अगर शास्त्र न हों तो हम किस की परीक्षा करें और नयी नयी बातों की कहाँ तक कल्पना करें? साक्षीकी बात प्रमाण नहीं मानली जाती परन्तु वह निरुपयोगी नहीं है। इसी प्रकार शास्त्रकी बात भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती परन्तु वह निरुपयोगी नहीं है।

प्रश्न—शास्त्रोंकी परीक्षा तो हम तब करें जब हम शास्त्रकारोंसे अधिक बुद्धिमान हों।

उत्तर—यदि ऐसा विचार किया जायगा तब तो हमें किसी भी धर्मको अपनानेका उचित अधिकार न मिल सकेगा। जो जो मनुष्य अपनेको जैन कहते हैं और जैनधर्मको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्या वे अन्यधर्मोंके प्रवर्तकों और आचार्योंसे अवश्य अधिक बुद्धिवाले हैं? इसी प्रकारके प्रश्न अन्य धर्मावलम्बियोंसे भी किये जा सकते हैं? ऐसी हालतमें प्रायः कोई मनुष्य परीक्षक बनकर किसी धर्म को ग्रहण न कर सकेगा। ऐसी हालत में जैनधर्मके प्रचारका प्रयत्न भी निरर्थक ही कहना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आजकल भी आचार्योंसे अधिक बुद्धिमान मनुष्य हो सकते हैं जो उनकी परीक्षा कर सकें। आचार्य हमारे पूर्वज होनेसे सम्मानास्पद हैं; परन्तु इसीलिये हम उनकी अपेक्षा मूर्ख हैं, यह नहीं कहा जा सकता। तीसरी बात यह है कि परीक्षा करनेके लिये हमें उनसे बड़ा ज्ञानी होना आवश्यक नहीं है। हम गायन न जानते हुए भी अच्छे बुरे गायनकी परीक्षा कर सकते है, रसोई बनाना न जानने पर भी उसकी परीक्षा कर सकते हैं, चिकित्सा न कर सकने पर भी चिकित्सा ठीक हुई या नहीं हुई—इसकी जाँच कर सकते हैं, व्याख्यान न दे सकने पर भी व्याख्यानकी परीक्षा कर सकते है, लेख न लिख सकने पर भी लेखकी परीक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस विवेचनसे यह बात समझमें आजाती है कि शास्त्रकी परीक्षा सरल है और उसकी परीक्षाके बिना शास्त्र-अशास्त्रका निर्णय सिर्फ आप्तोपज्ञतासे नहीं किया जासकता। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने शास्त्रका निर्णय करनेके लिये और बहुतसे विशेषण डाले हैं।

दूसरा विशेषण "अनुल्लंघ्य"—अर्थात् जिसका कोई उल्लंघन न कर सके, अथवा जिसका उल्लंघन करना उचित न हो—है। जब हम कहते हैं कि अग्निको कोई छू नहीं सकता तब उसका यह अर्थ नहीं है कि उसका छूना असम्भव है। उसका छूना है तो सम्भव, परन्तु उसके साथ हाथ जल जायगा यह निश्चित है। इसी प्रकार शास्त्र वही है जिसके उल्लंघन करनेसे हमारा हाथ जलजाय अर्थात् हम दुःखी होजायँ। धर्म, कल्याणका मार्ग है। अगर

हम धर्मका पालन नहीं करेंगे तो, उसका अच्छा फल न होगा। इसलिये कहा जाता है कि धर्मका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। जिस शास्त्रमें उस धर्मका प्रतिपादन है वह भी धर्मकी तरह अनुलंघ्य कहलाया।

तीसरा विशेषण यह है कि वह प्रत्यक्ष अनुमानके विरुद्ध न हो। इसका अर्थ यह है कि वह असत्य न हो। अगर असत्य मालूम हो तो हमें निःसंकोच उसका त्याग कर देना चाहिये। मतलब यह कि परीक्षा करना आवश्यक है।

तत्वोपदेशकृत अर्थात् सार वस्तुका उपदेश करने वाला। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, उसीके लिये वह सतत प्रयत्न करता है परन्तु अज्ञानके कारण ठीक प्रयत्न नहीं करता। उसे ठीक प्रयत्न बताने वाला शास्त्र है। तत्व=सार=सुख=कल्याण आदिका एक ही अर्थ है। जो सुखी बननेका उपदेश दे वह, शास्त्र।

सार्व अर्थात् सबके लिये हितकारी। सबका अर्थ क्या है और सर्वहित क्या है, यह बात प्रथम अध्यायमें विस्तारसे बतायी गई है। बहुतसे प्रयत्न हमें अपने लिये सुखकर मालूम होते हैं परन्तु वे दूसरोंका भारी अनर्थ करते हैं। ऐसे कार्य अन्तमें हमें भी दुःखी करते हैं। इसका भी विवेचन प्रथम अध्यायमें हुआ है। इसलिये शास्त्र सबके कल्याण का उपदेश देनेवाला होना चाहिये।

कापथघट्टन अर्थात् कुमार्गका निषेध करने वाला। सत्य और असत्यका जिसमें एकसा महत्व हो वह शास्त्र नहीं कहला सकता। शास्त्र, सत्यका समर्थक और असत्यका विरोधी होगा।

जिसमें ये विशेषण हों, वही आप्तका कहा हुआ है, वही शास्त्र है। जिसमें इनमेंसे एक भी विशेषण कम होगा वह आप्तका कहा हुआ नहीं कहा जा सकता। फिर भले ही वह किसीके भी नामसे बना हो। प्रत्येक सम्प्रदायके शास्त्रोंको हमें इसी कसौटी पर कसना चाहिये, और जो सत्य हो, कल्याणकारी हो, उसीको शास्त्र मानना चाहिये। किसी संप्रदायके ग्रन्थोंको विवेकहीन होकर शास्त्र मानना या अशास्त्र मानना मूढ़ता है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

अपवित्र मन्दिर।

संसारके तापसे तपे हुए मनुष्योंको थोड़ी देरके लिये शान्ति मिले, वे पाप-पंकका थोड़ा बहुत प्रक्षालन करें, इसके लिये धर्म-स्थानोंका—मन्दिरोंका निर्माण किया जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश दिगंबर जैन समाजके मन्दिर अपवित्रताके घर बनते जाते हैं, वे नरकके समान कलह क्रूरता और नीचताके धाम बनते जारहे हैं! यह सब होता है धर्मके नाम पर, धर्मात्मा कहलाने वालोंकी करतूतों से।

अभी कुछ महीने हुए फलटनमें रक्ताभिषेक हुआ था। अभिषेकके लिये अभिषेक करते समय जैनी ऐसे लड़े कि एक बार नारकी भी लज्जित हो जायें। जिसके हाथमें जो आया वही मारा, जो मिला उसीको मारा। इस मैदानमें क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभीने अपना नारकीपन दिखलाया। दूधसे अभिषेक करनेके बदले खूनसे अभिषेक हुआ। वह तो भाग्य समझिये कि राज्यने मन्दिरको कुछ समय के लिये अपने अधिकारमें कर लिया और सबको निकाल बाहर किया, तब कहीं वह काण्ड समाप्त हुआ। यह है हमारे अहिंसाके केन्द्रस्थानोंकी दुर्दशा और इसीको हमारे कई मित्र प्रभावना कहते हैं!

इस वर्ष बम्बईके पर्युषणमें भी नारकी दृश्य दिखलाई दिये। कुछ धनोन्मत्तों और अधिकारोन्मत्तों ने खूब ही ताण्डव किया, यहाँ तक कि दो प्रतिष्ठित सज्जनोंको पुलिस के हवाले करानेकी भी

धृष्टता की और पुलिस चौकीपर उन प्रतिष्ठित सज्जनोंको हाजिर भी होना पड़ा! पुलिस द्वारा मंदिर पर पहरा लगवायागया—सिर्फ इसलिये कि जिससे लोगोंपर कुछ लोगोंकी धाक जमे! इन सब घटनाओं ने पर्युषणपर्वमें यहाँ नरकका दृश्य दिखला दिया।

पर्युषणके बाद एक दिन श्री माणिकचंद मियाँचन्दजी * गाँधी जो कि एक बहुत शान्त और वृद्ध सज्जन थे, उनको सिर्फ इसलिये गालियाँ दी गईं कि वे उदार विचारके थे—यहाँ तक कि उनको लात मार कर निकालनेकी तैयारी बताई गई। उनने तो सिर झुकाकर विनयका परिचय दिया जब कि धर्मके ठेकेदारोंने नीचताका ही परिचय दिया। यह है वीतराग भगवानके मन्दिरोंकी महिमा।

ब्यावरके समाचार तो पाठक गतांकमें पढ़ ही चुके हैं, जहा एक बाईस वर्षके हट्टे कट्टे जवानका बलिदान हुआ है। इन सब घटनाओंको पढ़कर यह खेदके साथ कहना पड़ता है कि आज वीतराग भगवानके मन्दिर कहाँ हैं? जहाँ शेर और बकरी एक घाट पानी पीते थे, वहाँ 'श्वानवन घुर्घुरायते' के दृश्य नजर आते हैं। स्थान तो जड़ वस्तु है। वह सज्जनो के संसर्गसे ही पवित्र होता है। अगर कोई स्थान सज्जनोंके संसर्गसे पवित्र होता है तो दुर्जनोंके संसर्ग से अपवित्रभी होता है। आज कल हमारे मन्दिरों में दुर्जनोंका इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि मन्दिर, मन्दिरही नहीं रहे हैं—वे अपवित्र स्थान बन गये हैं। उनको पवित्र बनानेकी आवश्यकता है।

फूट का बीज।

शान्तिसागरदलकी काली करतूतोंसे जैन समाजका बच्चा बच्चा परिचित है। मुनियोंका काम आत्मकल्याण के साथ समाजसेवा करना, प्रेम बढ़ाना और शान्ति स्थापित करना है; परन्तु यह दल जहाँ जाता है, वहाँ जब तक फूट न फैलादे, सिर फुटौवलका नारकी दृश्य न दिखला दे, कुछ खून खराबी न करादे, तब तक इसे चैन नहीं पड़ती—इसके पेटकी रोटी नहीं पचती। दक्षिणसे बिहार करनेके बाद इस संघका इतिहास फूट, झगड़े, सौत, घृणा, मूढ़ता आदिके ताण्डवका इतिहास है। अभी आनन्दपुर कालूके एक भाईका पत्र हमारे सामने है। उस पत्रसे मालूम होता है कि यह दल कितना खतरनाक है। यह समझना मुश्किल है कि इसका ताण्डव किस सदुद्देश्यको लेकर होता है। खैर, यहाँ हम उस पत्रका मुख्य अंश उद्धृत करते हैं। इससे पाठक समझ सकेंगे कि इन कलहमूर्ति नारदों से समाजका कितना सत्यानाश हो रहा है—

"हमारे यहाँ श्वेतांबर व दिगंबर दोनों संप्रदाय के घर हैं। कईसमय आपसमें घनिष्ठ प्रेम था, किन्तु मुनिधर्मके कलंकावतार श्री शान्तिसागरसंघका ब्यावर, बर, निम्बाज होते हुए आनन्दपुर कालू (मारवाड़) में आना हुआ। दोनों संप्रदायवाले स्वागत में शामिल रहे। मगर उन पाखंडी पंथपोषकोंने व्याख्यानमें श्वे० जैनमतका खण्डन किया और कहा कि इनके गुरु कुपात्र हैं, उनको दान मत दो, वन्दना मत करो, तुम यज्ञोपवीत धारण करो, शूद्रोंके छुए जलका त्याग करो, वरना नरक चले जाओगे। भोले और अज्ञानी बहुतसे उसके बहकावटमें आकर वचनानुसार सौगन्ध लेलिये तो भी श्वेताम्बर जैन धर्मानुयायी उसके आदत की तासीर मान मौन रहे क्योंकि इन्होंकी पोपलीला आपके जैनजगत पाक्षिक पत्रसे अच्छी तरहसे जानते थे। इस प्रकार जैन समाज की दुरवस्था देखकर उसका पारा और भी विशेष चढ़ गया जिससे आम जनतामें ऐसा जहर उगला कि श्वेतांबर जैनमत झूठा है व दिगंबर जैनसे

---

* खेद है कि इनकी, पेटमें दर्द होनेसे मृत्यु होगई। आप बहुत ही कर्मठ और निःस्वार्थसेवी थे और वृद्ध होने पर भी जवानोंका सा हृदय रखते थे।

निकला हुआ अत्यन्त हिंसक मत है, क्योंकि इसके माननीय भगवती-सूत्रके १५ वे शतकमें भगवान महावीरने मुर्गे, कबूतर, और बिल्लीका मांस खाया, ऐसा लिखा है। अस्तु, यह श्रवण कर श्वेताम्बर जैनियोंके अग्रगण्य सिंगवी समर्थमलजी जीवराजजी और पटवा मूलचन्दजी आदि सज्जनोंने व्याख्यान मे खड़े होकर कहाकि-महाराज! क्या महावीर आपका व हमारा अलग अलग है जिससे ऐसे अनार्य वचनों द्वारा उन परम पवित्र आत्माके ऊपर आक्षेप लगाते हो? यह मुनिधर्मसे विरुद्ध और कलह-वर्द्धक बर्ताव करते हो? हमारे भगवतीसूत्रसे आप नितान्त अपरिचित मालूम होते हो। अगर ज्ञाता होते तो ऐसा आप नहीं फरमाते। यह सुनकर क्षुल्लक ज्ञानसागर क्रोधसे लाल पीले होकर यद्वा तद्वा बकते हुए अन्दर चले चले गये। फलतः दोनों समाजोंमें जो चिरस्थायी प्रेमनद बह रहा था वह एक दम शुष्क होगया। श्वेताम्बर जैन समाज इस विषय में शास्त्रार्थ करवाना चाहते थे क्योंकि यहाँ चातुर्मास प्रवर्तक मुनि श्री धैर्यमलजी महाराज स्थाने ४ से पधारने वाले थे, मगर दूर विराजते थे। मुनि श्री यह सूचना होते ही शीघ्रतासे पधारे किन्तु प्रपंची संघ तो एक दम विहार करके ब्यावर चला गया। मगर जो कलहका पौधा लगाकर चल बसा उसने विशालरूप धारण कर लिया है। ऐसे संगठनके युगमें कैसे कैसे कलहमूर्ति उत्पन्न होकर जैन समाजकी नींव खोखली कर रहे हैं!"

'नग्न सत्य' के विषयमें।

जैनजगत्के अठारहवें अङ्कमें श्रीयुत् हेमचन्द्रजी का 'व्यभिचार और ब्रह्मचर्य-नग्नसत्य' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था। लेखमें विचारणीय नयी सामग्री पर्याप्त थी, इसलिये उस लेखको जैनजगत्में स्थान दिया गया, परन्तु सम्पादकीय टिप्पणीमें स्पष्ट रूपमें उस लेखसे असहमति प्रकट की गई थी, और खास खास अंशोंका विरोधभी करदिया गया था। उस नोटको पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि 'पाठकोंके लिये जैनजगत्का यह संदेश है' परन्तु जैनदर्शनने अपने चौथे-पाँचवें अंकमें उस लेखका विरोध किया है। विरोध करनेका किसीको भी अधिकार है परन्तु यह सरासर धोखेबाजी है कि उस लेखको जैनजगत्का संदेश कहा जाय। जैनदर्शनके लेखकने उसकी सारी जिम्मेदारी जैनजगत् पर डाली है। उनके निम्नलिखित वाक्य इस बातके सूचक हैं—

'जो बात जैनजगत्को सूझती है, वह किसीके मस्तिष्कमें नहीं आसकती'।

'जैनजगत्ने जो ब्रह्मचर्यका स्वरूप प्रकट किया है'

'जैनजगत् मोदीजीके लेखद्वारा स्त्रियोंके अप्राकृतिक मैथुनविधिका विधान करते हुए लिखता है।"

'कामी युवकोंको जैनजगत् तथा मोदीजीका कृतज्ञ होना चाहिये।

इस प्रकार और भी वाक्य हैं, जहाँ मौके बे मौके जैन जगत् को घसीटा गया है। जब कि संपादकने कई तरहसे उस लेखपर अपना विरोध जाहिर किया था तब भी उसके ऊपर आक्षेप करना सिर्फ इस बातको साबित करता है कि जैनदर्शनके लेखकको उस लेखके विरोधकी इतनी चिन्ता नहीं है जितनी जैनजगत्को बदनाम करनेकी। इसीलिये मैंने जो उस लेखका विरोध किया था उसका इशारा भी नहीं किया गया। इससे जैनजगत् बदनाम तो न होगा परन्तु बदनाम करने वालोंकी हीन मनोवृत्तिका परिचय अवश्य मिल जायगा।

पाठक पूछ सकते हैं कि फिर इस प्रकार का लेख प्रकाशित ही क्यों किया गया? इसके उत्तर मे मेरा कहना यह है:—

पहिली बात जैनजगत्की नीति है। वह अपने पाठकोंको यथाशक्ति अँधेरेमें नहीं रखना चाहता। जैनजगत्की नीति विधवाविवाहके समर्थनमें होने पर भी उसके विरोधमें लेख छापे गये हैं। जो लेख पाठकोंको कुछ विचारकी सामग्री दे सके, वह पक्ष का हो या विपक्ष का, स्थान रहने पर उसे स्थान देना उचित है।

भाई हेमचन्द्रजीके लेखमें पाठकोंको विचारणीय सामग्री बहुत है। हिन्दी पत्रोंमें इस ढंगकी ऐसी चर्चाएँ बहुत निकला करती हैं। इतना ही नहीं किन्तु भारतके विख्यात कवियोंकी रचनाएँ भी इस ढंग पर हुई हैं। माइकल मधुसूदनदत्त तथा मैथलीशरण आदि कवियोंकी मौलिक अमौलिक रचनाएँ इस ढंग पर हैं। इसलिये किसी चित्रकी दूसरी बाजू दिखलाना अनुचित न था

समाजशास्त्रके परिचयके लिये तथा उनपर स्वतन्त्र विचार करनेके लिये और इतिहासके शुभाशुभ फलको समझनेके लिये दृष्टिको विशाल और सहिष्णु बनानेकी ज़रूरत है, हमारी सामाजिक पद्धतियाँ किस प्रकार बनीं उनका पूर्वरूप कैसा था, वह कैसे बदला और क्यों बदला, बहुत सी प्राचीन पद्धतियाँ हानिकारक थीं या नहीं, और उनको हमने हानिकार समझकरके छोड़ा है या नहीं, आज भी कौन कौन पद्धतियाँ हानिकर हैं, ग्रंथकारों पर राजाओंका शक्तिशालियोंका श्रीमानोंका तथा लोकरुचिका प्रभाव पड़ा कि नहीं, और उसमें बुरे प्रभावको भी स्थान मिला कि नहीं, आदि सैकड़ों प्रश्न ऐसे हैं जिनका अध्ययन और मनन करनेकी ज़रूरत है। और जब तक ऐसी सामग्री न मिले तब तक जो पाठक सामाजिक इतिहाससे परिचित नहीं हैं वे कैसे विचार कर सकते हैं? यही कारण है कि हेमचन्द्रजीके लेखसे सहमत न होकरके भी मैंने वह लेख जैनजगत्में निकाला। खैर।

जैनदर्शनके लेखकने अगर इस लेखके वक्तव्य का सयुक्तिक खण्डन किया होता तो यह काम प्रशंसनीय होता। परन्तु उनने उसका खण्डन न करके जो व्यक्तिगत आक्रमण किया है वह किसी भी सभ्य पत्रकारको लांछित करने वाला है। हेमचन्द्रजीके विचार अनुचित हो सकते हैं, परन्तु इसीलिये किसी आदमीको दुराचारी साबित करने की चेष्टा करना सर्वथा निन्दनीय है। राजाओंके अन्तःपुरका तथा वेश्याओं और रानियोंका नखशिख वर्णन करनेवाले अनेक जैनाचार्योंके चरित्रों पर तब तो मनमाना आक्रमण किया जा सकेगा। श्रुतज्ञान, प्रतिभा, और कल्पनाके बलसे मनुष्य कितना वर्णन कर सकता है, जैन पंडित क्या इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते? किसी स्वतन्त्र विचारकके चरित्र पर स्वतन्त्र विचारकताके कारण आक्रमण करना जैन समाजमें ही संभव है। सार्वजनिक विशाल क्षेत्रोंमें इस प्रकारकी क्षुद्रतासे मनुष्य मुँह दिखलाने लायक़ भी नहीं रहता। अगर भाई हेमचन्द्रके ये विचार दुराचारके अनुभवके फल होते तो हेमचन्द्रजी उस पर पर्दा डालनेके लिये मन्दिरों में भक्तोंके आगे खड़े होते, विधवाविवाहके विरोध के लिये स्टेज पर नाचते होते। दुराचारीकी हिम्मत इस प्रकार स्वतन्त्र आलोचना करनेकी नहीं होती।

जो लोग यह समझते हैं कि हमारे पूर्वजोंमें व्यभिचारी पापी आदि थे ही नहीं और इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री जैनग्रन्थोंमे ही भरी है, उन्हें कूपमंडूकके सिवाय और क्या कहा जा सकता है? दुर्भाग्यसे हमारे जैनबन्धु प्रथमानुयोगको इतिहास समझते हैं जब कि वह धर्मशास्त्र है। जैनियोंके कथासाहित्य की धर्मशास्त्रता दूसरोंकी अपेक्षा कहीं बहुत बढ़ी चढ़ी है, इसलिये दूसरोंकी अपेक्षा उसकी ऐतिहासिकता बहुत घट गई है। फिर भी जैन शास्त्रोंमें दुराचारियोंके एक दो नहीं, दर्जनो

कथानक भरे पड़े हैं। परन्तु इनसे हमें इतना ही समझना चाहिये कि पहिलेकी सामाजिक दशा कैसी थी। वे घटनाएँ आदर्श नहीं हैं। बहुत सी बातें आज कलकी दृष्टिसे बिलकुल हीन हैं, परन्तु एक दिन हमारे पूर्वजोंकी दृष्टिमें वे अच्छी थीं। बहिनको पत्नी बनाना, आज घोरसे घोर पाप समझा जाता है परन्तु हमारे पूर्वज (भोगभूमिज) उसे अच्छा समझते थे। पीछे मामाकी लड़की लेनेका रिवाज हुआ परन्तु आज हम उसे भी पाप समझते हैं। कामशास्त्रमें जो ऐतिहासिक समाजपरिचय मिलता है उस पर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। वह स्वाभाविक ही नहीं है बल्कि अनिवार्य है। एक पुरुष सैकड़ों स्त्रियोंके साथ शादी करे, तो उन स्त्रियोंको पतिके दर्शनों तकको तरसना ही पड़ेगा और इसका स्वाभाविक परिणाम होगा व्यभिचार वृद्धि। पहिले ज़मानेमें यह परिणाम आया था इसीलिये अन्तःपुरकी रक्षाके लिये कंचुकी नियुक्त किये जाते थे। कंचुकीका पद ही इस बातको बतलाता है कि स्त्रियोंको सती बनाये रखनेके लिये उन्हें जेलका जीवन दिया जाता था। इन सब बातोंसे हम समझ सकते हैं कि बहुविवाहकी प्रथा बुरी है, उसका हमें त्याग करना चाहिये तथा किया भी है। ऊपरकी घटनाएँ इसलिये नहीं हैं कि लोग उन्हें आदर्श बनावें किन्तु इसलिये है कि बाप दादोंके गीत गानेवाले कुछ शिक्षा लें और समाजकी चिकित्सा करनेवाले चिकित्सा करते समय इन बातों पर विचार करें।

इतिहास लिखनेवालोंने ऐसी घटनाएँ नहीं लिखीं यह समझना भूल है। जिनका इतिहास वंशोंके पढ़ानेके इतिहासमें समाप्त होजाता है वे ही ऐसी बातें कह सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इतिहासकी अधिकांश पुस्तकें राजनैतिक घटनाओंको मुख्यता देती रही हैं, सामाजिक इतिहासका निर्माण कम हुआ है, परन्तु इसीलिये उसका अभाव नहीं कहा जासकता।

इतिहासमें जैन अजैनका पक्षपात नहीं होता। जैन समाज भी इसी देशमें रही है। सगी बहिनसे विवाहका और मामाकी लड़कीसे शादीका विधान जैन शास्त्रोंमें पद पद पर है। जिस ज़मानेमें जहाँ समाज ही भ्रष्ट था उस ज़मानेमें वहाँ जैन भी वैसे थे इस कथनमें बुराई क्या है? आज दक्षिणमें डेढ़ लाख दिगम्बर जैनियोंमें तलाक़का रिवाज है और हज़ारों स्त्रियाँ ऐसी हैं जिनने एक पतिको छोड़कर अन्य पति किया है। क्या इस सत्य घटनाके लिखनेसे जैन महिला समाज कलंकित होता है?

ऐतिहासिक दृष्टिसे, जैन पुराणोंने कृष्णके विषय में जो कुछ लिखा है वह महाभारतकी अपेक्षा बहुत कम प्रामाणिक है। महाभारतकार अगर कृष्णकी स्त्रियोंको व्यभिचारिणी बनाते हैं तो इससे कृष्ण कलंकित नहीं होते। होते हों तो इसका दोष महाभारतकार पर है। किन्तु बहुविवाहकी प्रथा कलंकित होती है। फिर कृष्णको जैनियोंने कौन आसमान पर चढ़ा दिया है? आखिर कृष्णको नरक ही तो भेजा है? जैनियोंकी दृष्टिमें कृष्ण अगर ऐसे ही धर्मात्मा थे कि उनकी किसी भी तरहसे निन्दा करना पाप है तो जैनशास्त्रोंमें उनके नरक जानेका उल्लेख क्यों हुआ?

'रावण अगर नीच होता तो सीताका सतीत्व कैसे बचता' यह प्रश्न उपयुक्त ही है किन्तु जैनशास्त्रों ने इसका बड़ा ही अच्छा उत्तर दिया है। उनने रावणको बहुत धर्मात्मा और तत्वज्ञ चित्रित किया है। इससे सीताजीका सतीत्व सुरक्षित रहा है। परन्तु मानलो कि सीताजीके शरीर पर रावण बलात्कार कर जाता तो क्या इससे सीताजी सतियोंकी शिरोमणि न रहतीं? यदि हाँ, तब तो कहना चाहिये कि सतीत्व आत्माका धर्म नहीं किन्तु चमड़ा और मांसका धर्म है।

जैनदर्शनके लेखक व्यभिचारकी सत्य घटनाओंके नामसे चौंकते हैं, और व्यभिचारके दुष्फल जाननेके लिये भी उसका नाम नहीं लेना चाहते; परन्तु कसाईखानेके ठेकेदारोंकी और शराबके ठेकेदारोंकी वकालत करते हुए जरा भी लज्जित नहीं होते। यदि जैनदर्शनकी शैलीसे ही इस पर लिखा जाय तो कहा जा सकता है कि:—

"देखिये, कैसी दयालुता है! शराब पिलापिला कर धर्मका प्रचार किया जाता है! पशुओंकी हत्या करके उनके रक्त मांससे जैनधर्मकी रक्षाकी जाती है! जैनदर्शनका उदय जैनदर्शनकी रक्षाके लिये नहीं किन्तु कसाईखानों और शराबकी दूकानोंके प्रचारके लिये हुआ है आदि".

परन्तु मुझे समाजको भड़का कर नहीं, किन्तु वास्तविक घटनाओंपर स्वतन्त्र बुद्धिसे विचार करनेका मौका देकर सत्यका प्रचार करना है और अप्रियसे अप्रिय, कठोरसे कठोर सत्य समाजके सामने रख देना है। मैं समाजसे यह नहीं कहता कि अमुक आदमी मेरा विरोधी है इसलिये, अथवा अमुक सिद्धान्त नहीं मानता इसलिये उससे घृणा करो! मैं तो सत्यके लिये लड़ना चाहता हूँ, किसीकी झूठी बदनामी नहीं करना चाहता। जैनदर्शनके सञ्चालक एकबार नहीं हजारबार बदनामीकी चेष्टा करके देखलें कि इससे साँचको आँच नहीं आ सकती।

भाई हेमचन्द्रजीको श्रीमानोंके नाममात्रसे ही जैसी चिढ़ है, ठीक उसके विपरीत जैनदर्शनके संपादकको श्रीमानोंकी अन्धभक्ति है। श्रीमान लोग अगर कसाईखानोंका ठेका लें तो इन्हें उनकी वकालत करना है और शराबखानेका ठेका लें तो उनके गीत गाना है। यदि लोग आज विद्याको इस तरह धनके पैरोंसे कुचलवाते हैं तो पहिले जमानेमें नहीं कुचलवाते थे यह नहीं कहा जा सकता।

इधर हेमचन्द्रजीको सत्यको अनावश्यक अप्रिय शब्दोंमें रखनेका कुछ अभ्याससा है। इसीलिये अनेक स्थानोंपर उनने श्रीमानोंको ऐसी फटकारसी बतलायी है जो अनुचित होगई है।

क्या श्रीमानोंमें, क्या विद्वानोंमें, क्या बलवानोंमें, क्या गरीबोंमें, निर्बलोंमें, मूर्खोंमें, सभीमें सब श्रेणीके मनुष्य हैं। जहाँ भी असंयमका प्रवेश हुआ कि श्री, विद्या और बलके निमित्तसे स्वार्थका नग्नताण्डव होने लगता है।

हेमचन्द्रजीके लेखमें जो जो बातें हमें अनुचित जँची थीं उनका विरोध हमने कर दिया था। ऐतिहासिक घटनाओंके ऊपर हेमचन्द्रजीने जो टीकाकी है वह जुदे जुदे लोगोंकी दृष्टिसे जुदे जुदे ढंग की है; परन्तु जो ऐतिहासिक चित्रण है, वह सत्य है और विचारकी चीज है। अन्तमें हेमचन्द्रजीके लेखके विषयमें हमारी तीन बातोंपर पाठक ध्यानदें:—

१—लेखकी ऐतिहासिक घटनाओंको सत्य समझकर उनपर स्वतन्त्र विचार करें। यह न सोचें कि लेखकने इसका क्या निष्कर्ष निकाला है?

२—पूर्वजोंके गीत गाना छोड़दें! यह देखें कि आजकलसे खराब रिवाज उनमें थे जिनको हमने छोड़ दिया है। किसी सामाजिक परिवर्तनकी जाँचमें पूर्वजोंका सामाजिक जीवन कसौटीका काम नहीं दे सकता।

३—हेमचन्द्रजीका लेख जैनजगतका सन्देश नहीं है। सम्पादककी दृष्टिमें वह लेख ऐसा तालाब है जिसमें कीचड़, शैवाल, और मछलियोंके साथ बहुत सा पानी है जो कि सम्पादकीय नोटरूपी छन्नेसे छानकर पिया जा सकता है।

जैनधर्म और छूआछूत।

"समराइच्चकहा" श्री हरिभद्रसूरिका बनाया हुआ प्राकृत साहित्यका एक चमकता हुआ रत्न है। इस वर्ष यह मुम्बई यूनिवर्सिटीके इन्टरके कोर्समें है। प्रौढ़ता में यह जीवन्धर चम्पूसे भी कुछ चढ़ता है। करीब डेढ़ ह-

ज़ार वर्ष पुरानी रचना होनेसे यह पिछले समयके दुष्प्रभावोंसे बचा हुआ है। उस दिन विद्यार्थियोंको यह ग्रंथ पढ़ा रहा था तो उसके भीतर आई हुई एक कथाने मुझे चकित कर दिया। उससे मालूम होता है कि छूआछूतके विषयमें जैनधर्मका क्या संदेश है, किसीको अछूत ठहराना जैनधर्मके अनुसार कितना बड़ा पाप है!

गान्धारपुर नगरमें चार मुनि चौमासेके लिये पधारे। उन्हें वहाँ केवलज्ञान पैदा हुआ। चौमासेके अन्तिम दिन राजा विजयसेनने मुनिराजसे पूछा-भगवन्! मेरा परम मित्र मरगया है। उसके वियोगसे मैं इतना दुःखी हो गया हूँ कि सबकुछ जानते हुए भी उसके वियोगसे मुझे शान्ति नहीं मिलती। कृपया बतलाइये कि मेरा मित्र मर कर कहाँ गया है?

केवली ने कहा—इसी नगरमें 'ऊसदिन्न' नाम का एक धोबी रहता है; उसके यहाँ मधुपिङ्गा नामकी एक कुत्ती रहती है, उसके गर्भसे वह कुत्ता हुआ है। इस समय वह कठोर रस्सीसे बँधा हुआ है, भूखसे उसका शरीर म्लान होगया है। कपड़े धोनेके कुंडके पास एक गधा है; उसके खुरोंके डरसे वह बहुत कष्टका अनुभव कर रहा है।

राजाने वह कुत्ता मँगवाया। कीड़ोंसे उसका शरीर भिनभिना रहा था। खुजलीसे जगह जगह उसका चमड़ा सड गया था। राजाने फिर केवलीसे पूछा—भगवन्! यह किस पापका परिणाम भोग रहा है?

केवली ने कहा—जातिमदका (जाइमय अणियस्स)।

राजा ने पूछा—भगवन्! इसने क्या अभिमान किया था?

केवली—एक बार वसन्तोत्सव था। नगर के लोग अपनी अपनी मण्डलियाँ बनाकर गाते हुए वनक्रीड़ाको गये थे। जिस मण्डलीमें तुम्हारा मित्र था उसके पास ऊसदिन्न धोबीकी मंडली आगई। इससे तुम्हारे मित्र (विभावसु) को जातिमदसे क्रोध आगया। उसने ऊसदिन्नको कारागारमें भिजवा दिया। पीछेसे नागरिकोंने छुड़वाया। इसी जातिमदके पापसे वह कुत्ता हुआ है।

विजयसेन—भगवन्! कब तक उसे इस पापका फल भोगना पड़ेगा?

केवली—कुत्ताकी पर्याय छोड़कर वह ऊसदिन्नके घरमें गधा होगा। बहुत दुःख उठाकर मरेगा और पास में रहनेवाले 'माइदिन्न' चांडालकी स्त्रीके गर्भसे नपुन्सक होगा। वह बड़ा कुरूप और अभागी होगा। एक दिन उसे सिंह खा जायगा। तब वह मरकर उसी चांडालिनी के गर्भसे लड़की होगा। बाल्यावस्थामें ही उसे सर्प काट खायगा। तब वह ऊसदिन्न धोबीकी पत्नीके गर्भसे नपुंसक होगा। उसका शरीर बहुत छोटा (वामन) होगा और वह जन्मसे अन्धा होगा। सभी उसका अपमान करेंगे। एक बार आगमें वह जल जायगा। मरकर उसी धोबी की दासीकी लड़की होगा। उसे एक मस्त हाथी मार डालेगा। तब वह उसी धोबीकी लड़की होगा और एक कंगालके साथ उसका विवाह होगा और प्रसूतिके समय उसका मरण होगा। तब वह उसी धोबीका पुत्र होगा। उसे धोबीका एक शत्रु अकेला पाकर नदीमें डुबा देगा। जातिमदके पापका इस प्रकार दुष्फल भोगना पड़ेगा।

जैनशास्त्रोंकी यह बहुत प्राचीन कथा है। इससे मालूम होता है कि जातिमद और छूताछूतका घमण्ड जैन धर्मकी दृष्टिमें कितना हेय है। प्रथमानुयोगकी कथाएँ ऐतिहासिक दृष्टिसे नहीं लिखी जाती हैं, इसलिये उनमें कल्पनाकी ही बहुलता रहती है परन्तु इसीलिये धार्मिक दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता बढ़जाती है। इतिहास धार्मिक दृष्टिसे नज़ीरका काम नहीं दे सकता, परन्तु प्रथमानुयोग देसकता है, क्योंकि वह शिक्षा देनेके लिये कल्पित किया जाता है। विभावसुके जातिमदका फल जितना भयंकर इस कथामें बतलाया गया है उससे मालूम होता है कि जैनधर्म छूताछूतके ढोंगका कितना विरोधी है। छूआछूतको माननेवाले अगर जैनी हैं तो इस कहानीको पढ़कर उसी प्रकार काँप जाना चाहिये जिस प्रकार एक चोर दूसरे चोर को सज़ा पाते देखकर काँप जाता है।

"जैनधर्मका मर्म" पर सम्मतियाँ।

(६९)

श्रीमान बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता अपने पत्र में लिखते हैं:—

"......पण्डितजीके लेख वास्तवमें बड़े महत्वके हैं और उनपर विचार करनेके लिये गम्भीर ज्ञानकी आवश्यकता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि उनपर झट कोई रुष्ट होजाय या झट सहमत होजाय। इनमें कई प्रश्न ऐसे हैं जो संसारमें अनेक विद्वानोंने उठाये हैं, पर जैन समाजने उनका उत्तर देना उचित नहीं समझा है। यदि इस प्रकारके प्रश्न हम हल नहीं कर सकते हैं तो हमारी विद्वत्ता किसी कामकी चीज़ नहीं है। जैन विद्वानोंको उचित था कि पं० दरबारीलालजी पर न बिगड़कर उन के प्रश्नोंका उत्तर देते। थोड़ी देरके लिये यह समझलेते कि किसी जैनेतर विद्वानने ये प्रश्न उठाये हैं। उनका बिगड़ना ही इस बातको पुष्ट करता है कि पंडितजीके प्रश्नोंका उत्तर उनके पास नहीं है। पण्डितजीके अनेक लेखोंसे मैं सहमत हूँ और कई विषय ऐसे हैं जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ यह कहिये कि मैं इतना समझदार नहीं हूँ कि उनकी यथार्थताको समझ सकूँ। दूसरी बात यह है कि वर्तमान जैन सिद्धान्त हमें जैनाचार्योंसे प्राप्त हुआ है। अस्तु। किसी आचाय पर तो हमें निर्भर करना होगा, विशेषकर श्री कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्रादि आचार्योंने जैनदर्शनको कसौटी पर कस कर ही रक्खा है और जहाँ तक मेरा ज्ञान है उनमें परस्पर मतभेद भी नहीं पाया जाता है।

जैनपत्रोंमें जैनजगत्को ही मैं पूर्ण पढ़ता हूँ और उसके आनेमें विलम्ब होने पर बड़ी बेचैनी होती है। जैनजगत्में सबसे बड़ी और प्रशंसनीय बात यह है कि वह असभ्यतापूर्ण व्यवहारसे दूर रहता है। यह दुर्गुण अन्य जैनपत्रोंमें सामान्यतः पाया जाता है।

जो लोग जैनेतर विद्वानोंसे मिलते रहते हैं, उनके सामने ऐसे ऐसे प्रश्न अनेक बार उठते रहते हैं किन्तु उनका उत्तर देना कठिन होजाता है। इसलिये जैन संसार में जैनजगत् सरीखे पत्रकी अति आवश्यकता है जो वर्तमानके संसारको जैनसिद्धान्त समझा सके। आजकलके जैनी शास्त्रसभामें बैठकर चुपचाप शास्त्र सुन लेना धर्म समझते हैं—भले ही उनको कुछ समझ पड़े या नहीं—और यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे तो श्रोतागण विचलित हो उठते हैं और कहने लगते हैं कि प्रश्न करके हमारा समय नष्ट न करो, हमें तो शास्त्र सुन लेने दो। वक्ता भी इस नीतिसे प्रसन्न रहते हैं। इस आदतको हटानेका सूत्रपात जैनजगत्ने कर दिया है और लोग प्रत्येक बात को समझनेका प्रयत्न करने लगे हैं। एक गत अंकमें एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक वृक्षादिके सम्बन्धमें बड़ा ही सुन्दर शङ्का समाधान किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् श्री जगदीशचन्द्र बोसने वृक्षोंमें कई बातें ऐसी बताई हैं जो हमारे समझे हुए जैनधर्मके विपरीत पड़ती थीं। इस सम्बन्धमें विद्वानोंसे भी मैंने प्रश्न किये थे पर उन्होंने यह कहकर ही टाल दिया कि यह सब बोस महाशयकी कल्पना है, यह कदापि नहीं हो सकता इत्यादि। इसमें दोष उन पण्डितोंका नहीं है क्योंकि उन्होंने जैन सिद्धान्तको पढ़ा है, मनन नहीं किया है। जैनजगत्के उस लेखको पढ़नेके बाद वह प्रश्न जैन दृष्टिसे ही हल होजाता है और मुझे वह ठीक मालूम होता है। संक्षेपमें यह कहना है कि जैनजगत्के लेखोंपर विद्वानोंको पूर्ण विचार करना चाहिये और जहाँ शङ्का हो उसका समाधान कर लेना उचित है। जैनजगत् दीर्घायु हो, यही मेरी भावना है।"

साहित्य परिचय।

पट्टावली समुच्चयः—सम्पादक मुनि दर्शनविजयजी। प्रकाशचित्री चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला वीरमगाम (गुजरात) मूल्य १॥)

भगवान महावीरसे लेकर आचार्योंकी परम्पराकी जो पट्टावलियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें पाई जाती हैं, उन में तेरह पट्टावलियोंका यह संग्रह है। पट्टावलियाँ संस्कृत और प्राकृतमें हैं, इनका सार हिन्दीमें नहीं

दिया गया है, फिर भी संस्कृत न जानने वाले भी थोड़ा बहुत काम निकाल ही सकते हैं। इस प्रकारकी सब पट्टावलियोंका छप जाना आवश्यक है। मुनिजीका यह प्रयत्न स्तुत्य है, इतिहासज्ञोंके लिये यह बहुत सुविधाका कार्य है। हाँ इन सब पट्टावलियोंपर एक विवेचना—मय प्रस्तावना हिन्दीमें होना चाहिये जिसमें इन पट्टावलियोंका मतभेद तथा अन्यमतोंसे तुलना कीजाय। यह अभी पहिला ही भाग है। आशा है किसी अन्य भाग में यह कार्य किया जायगा। छपाई सफ़ाई उत्तम है।

समराइच्चकहा—सम्पादक ऐम० सी० मोदी ऐम० ए०, ऐल-ऐल० बी०। प्रकाशक गुर्जरग्रन्थरत्न कार्यालय गांधी रोड अहमदाबाद। मू० २)

श्री हरिभद्रसूरि विरचित समराइच्चकहाके इसमें दो भव हैं। प्रौढ़ ग्रन्थ है। मुम्बई यूनिवर्सिटीकी इन्टर कक्षा में रक्खा गया है। सम्पादकने ५२ पृष्ठका एक Introduction लिखा है। कठिन वाक्योंकी संस्कृत टिप्पणियाँ हैं। पीछे इंग्लिशमें नोट्स और Glossary है। अगर ऐसी पुस्तकोंमें अनुवाद भी रहा करे तो और भी अच्छा हो। कॉलेजके विद्यार्थी शब्दकोषकी अपेक्षा अनुवादका विशेष उपयोग करते हैं। अगर नोटोंमें कुछ कठिन शब्दोंके अर्थ और लिखदिये जायँतो Glossary की आवश्यकता न रहेगी। अनुवादमें कुछ कठिनता और विस्तार तो है परन्तु उसकी आवश्यकता है। और हाँ, नोटोंमें कुछ व्याकरणकी विशेष बातोंका परिचय भी दिया जाना चाहिये। उदाहरणार्थ 'वन्द्र' शब्द है। प्राकृतमें संयुक्ताक्षरके 'र्' का लोप हो जाता है, सिर्फ़ 'वन्द्र' शब्द इसका अपवाद है (सर्वत्र लवरामवन्द्रे — हेम० व्या० ८-२-७९) ऐसी बातोंका उल्लेख नोटोंमें करना चाहिये। टिप्पणियोंकी प्रथा बहुत अच्छी है। इससे संस्कृतज्ञोंको बहुत सुभीता है। पुस्तक उपयोगी है। छपाई सफ़ाई आदि भी ठीक है।

निर्ग्रन्थप्रवचन—संग्राहक और अनुवादक प्रसिद्ध वक्ता मुनि चौथमलजी; प्रकाशक जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति रतलाम।

जैनसूत्रग्रंथोंके नीतिपूर्ण उपदेशप्रद पद्योंका यह सुन्दर संग्रह है। प्रत्येक पद्य अन्वय, अर्थ और भावार्थ सहित है जिससे हरएक श्रेणीके पाठक उससे लाभ उठा सकें। पीछे मूलपाठ भी है, जहाँ उन पद्योंका स्थान बता दिया गया है। इस प्रकार यह उपयोगी संग्रह हुआ है। संग्रह, गीताकी तरह अठारह अध्यायोंमें बाँटा गया है और नक़ल को पूरा करनेके लिये जगह जगह 'भगवानुवाच' भी लिखा गया है। परन्तु संग्रहका यह ढंग ठीक नहीं हुआ। गीतामें एक श्लोकका दूसरे श्लोकसे और एक अध्यायका दूसरे अध्यायसे जैसा सम्बन्ध चला गया है वैसा इसमें नहीं है। दूसरी बात यह है कि वार्तालापमें दो पात्र आपसमें बोलते हैं परन्तु इसमें न तो वार्तालाप की उत्थानिका है, न बीचबीचमें जहाँ प्रकरण बदलता है वहाँ 'गौतम उवाच' लिखा है। हमारे ख़यालसे अध्यायों की और 'उवाच' की चिन्ता न करके एक एक विषयका एक एक अध्याय बनाया जाता और उसी नामसे उस अध्यायको लिखा जाता जैसे ज्ञानाध्याय, कर्माध्याय आदि; जिन विषयोंमें एक एक दो दो गाथाएँ ही उपलब्ध होतीं उन सबका एक प्रकीर्णकाध्याय बनाया जाता तो बेहतर था। इस आवृत्तिमें अध्यायोंकी विषयसूची न होनेसे किसी बातका ढूँढना कठिन है। पुस्तकका मूल्य कुछ भी नहीं रक्खा गया है और सिर्फ़ २५० प्रतियाँ ही छपाई गई हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ख़ास ख़ास विद्वानों और मुनिराजोंको पुस्तकें भेंटमें देदी जायँगी कोई बिना जान पहिचानका स्वाध्यायप्रेमी अगर पुस्तक चाहेगा तो न मिलेगी। यह प्रचारमें बाधा है। इससे तो यह ठीक है कि इसकी क़ीमत बाजारू भावसे २) होने पर भी ॥) क़ीमत रक्खी जाती; फिर जिनको भेंटमें देना है उन्हें भले ही भेंटमें दीजाय किन्तु अपरिचित ॥) ख़र्च करके ख़रीद सकें। और कमसे कम एक हज़ार प्रतियाँ ज़रूर निकलवाना चाहिये। ख़ैर, इन सब बातोंसे पुस्तककी उपयोगिता नष्ट नहीं होती। स्वाध्याय प्रेमियोंके बहुत काम की चीज़ है। हाँ, कहीं कहीं प्रूफ़की गड़बड़ी हुई है जैसे सौवें पृष्ठपर 'मुहाजीवी और मुहादाई' की परिभाषा ही बदल गई है, जब कि अन्वयार्थमें ठीक है। परन्तु ऐसी गल्तियाँ अधिक नहीं हैं।

वीरवन्दना—प्रकाशक जैनमित्रमण्डल देहली। मूल्य =)

देहलीके सुप्रसिद्ध वीरजयन्तिके उत्सवपर जो कविताएँ पढ़ी गई थीं, उनका यह संग्रह है। पठनीय है।

प्रतीकेशव; धन्यकुमार—इन दोनों ट्रेक्टोंके संपादक पं० विद्याकुमारजी न्यायतीर्थ तथा पं० राजमलजी लोढा हैं। प्रकाशक, जैनधर्मप्रचारक मण्डल अजमेर। मूल्य प्रत्येकका एक आना। विषय नामसे प्रकट है पौराणिक पात्रोंके चरित्र सरल भाषामें लिखे गये हैं।

रिपोर्ट जैनमित्रमण्डल—देहलीके इस मंडलकी सन् ३१ से ३३ तककी रिपोर्ट है।

वार्षिक विवरण—दिगम्बर जैन विद्यार्थी सहायककोष इन्दौरका यह पाँचवाँ वार्षिक विवरण है। यह संस्था विद्यार्थियोंकी सहायताके लिये बहुत अच्छा काम कर रही है।

इसके अतिरिक्त वैश्यसुधारक मंडल कोटाके ट्रेक्ट भी मिले हैं, जो मद्यपाननिषेध, तम्बाकूनिषेध आदि पर हैं। साधारण जनतामें बाँटनेके लिये बहुत उपयोगी हैं। प्रचारार्थ मूल्य १) फ़ी सैकड़ा।
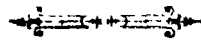
विरोधी मित्रोंसे।

(१२)

जैनमित्रमें पंडित बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने दो लेख जीवकी अनन्तता और भव्याभव्यकी चर्चापर लिखेथे। मेरा मत यह है कि भव्य और अभव्यभेद युक्तिसंगत नहीं है, तथा छः महीना आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष माननेसे एक दिन संसार खाली होजायगा, परन्तु खाली हो नहीं सकता (इसका भी सकारण विवेचन कियाथा) इससे मोक्ष-मार्गका निरोध मानना पड़ेगा, आदि। चर्चा बहुत सूक्ष्म है, परन्तु यथाशक्ति सरल बनानेकी कोशिश की जायगी।

आक्षेप (३२)—जितना काल अभीतक व्यतीत हो चुका है, वहभी अनन्त है और फिरभी भव्य जीवोंकी सत्ता इस समय मौजूद है। तब भविष्यके अनन्तकालमें इनका अन्त कैसे होगा ?

समाधान—इससे समस्या हल नहीं होती बल्कि और जटिल हो जाती है क्योंकि इससे संदेह होता है कि जीव मोक्ष जाते हैं कि नहीं, अथवा जाकरके भी लौटते हैं, अन्यथा अनन्तकालमें संसारी जीवराशि समाप्त क्यों नहीं होगई ? मतलब यह कि जिस बातके निर्णयके लिये यह चर्चा है उसेही दृष्टान्त नहीं बना सकते। साध्य, दृष्टान्त नही बनता।

प्रश्न—भविष्यकालके समय सदा व्यतीत होते जाते हैं, फिरभी उनका अन्त नहीं आता क्योंकि वे अक्षयानन्त हैं। भव्यराशि या जीवराशिभी अक्षयानन्त है, इसलिये उसका कभी अन्त नहीं हो सकता।

उत्तर—'भव्यराशिका क्षय न होसकना' और 'उसका अक्षयानन्त होना' एकही बात है इसलिये इन पर्यायवाची शब्दोंमें हम एकको साध्य और दूसरेको साधन नहीं बना सकते। यहतो ऐसाही है जैसे कोई कहे कि "यह मनुष्य है, क्योंकि आदमी है।" अथवा अगर किसी अपेक्षासे इन दोनोंके अर्थमें कुछ अन्तर कल्पित करलिया जायतो भी जबतक कालकी तरह भव्य-राशिको किसी प्रमाणसे 'अक्षयानन्त' सिद्ध न किया जाय तबतक हेतु असिद्ध ही रहेगा। किसीभी तर्कसे जिसका अन्त सिद्ध न होसके उसे अक्षयानन्त कहते हैं अथवा जिसका अन्त माननेमें वस्तुकी सत्ताही नष्ट होजाय उसे अक्षयानन्त कहते हैं। जैसे क्षेत्र अक्षयानन्त है, क्योंकि क्षेत्रके अन्त की हम किसी तर्कसे कल्पना भी नहीं करसकते। जहाँ भी हम क्षेत्रकी सीमा मानेंगे उसके बाद भी क्षेत्र रहेगा, भले ही उसमें कोई वस्तु हो या न हो। अगर उसके बाद हम क्षेत्र न मानेंगे तो पहिले भी क्षेत्र कैसे कह सकेंगे ? इसीप्रकार कालभी अक्षयानन्त है, क्योंकि कालका अन्त मानने पर कालका नाश मानना पड़ेगा। परन्तु जगत्की कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती, उसका रूपान्तर होता है। इसलिये कालका नाश माननेपर हमें उसका रूपान्तर बताना पड़ेगा। जहाँ रूपान्तर आया कि कालही सिद्ध होजायगा, अथवा कालकी सत्तासे सदाको इन्कार करना पड़ेगा। अगर कालको वस्तुपर्यायरूप माना जाय तो कालका अन्त अर्थात् वस्तुपर्यायका अन्त है। इससे भी सत्का विनाश कहना पड़ा जोकि असंभव है।

मतलब यह कि हम किसी भी तर्कसे क्षेत्रकालके अन्तकी कल्पना नहीं कर सकते। अक्षयानन्तके और भी उदाहरण हैं जैसे 'एक' राशिको आधा आधा करते जाओतो इसका कभी अन्त नहीं आवेगा, क्योंकि आधा आधा करके हम एक को शून्यमें परिणत नहीं करसकते। क्योंकि जहाँ भी हम आधे अंशको शून्य मानेंगे उससेपहिले का भेद शून्यका दुगुना कहलावेगा परन्तु शून्यको दुगुना करो चाहे चौगुना करो वह शून्यही रहेगा; इसलिये अन्त में 'एक' भी शून्य होजायगा। इसलिये एकके अर्धच्छेदों को हम अक्षयानन्त कहसकते हैं, परन्तु भव्य या जीव राशिको हम अक्षयानन्त नहीं कहसकते। क्योंकि अगर सब जीव मोक्ष चले जाँय तो इससे जीवोंकी सत्ताका नाश नही होता। जब जीवराशि अक्षयानन्त नहीं है तब कालसे उसकी तुलना करना व्यर्थ है। वंशीधरजीने जीवराशिको कालकी तरह अक्षयानन्त मानकरके अपने वक्तव्यकी इमारत खड़ी की है, परन्तु जीवराशिको काल की तरह अक्षयानन्त सिद्ध करनेकी कोशिश नहीं की। इसलिये अश्वमित्रकी शंका ज्यों की त्यों खड़ी रहती है जिसका कि मैंने समर्थन किया था।

हाँ, कालद्रव्यकी अक्षयानन्तता दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कही जाती है कि पर्यायें प्रति समय नवीन पैदा होती हैं इसलिये उनकी परम्पराका कभी अन्त नहीं आ सकता क्योंकि एक पर्यायके नाश होनेपर दूसरी पर्यायका आना अनिवार्य है तब अन्त कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें वंशीधरजीका कहना है कि "पर्यायें पैदा नहीं होतीं किन्तु वे द्रव्यमें प्रतिसमय बनी रहती हैं। अर्थात् कल परसोंका पर्यायेंभी आजही द्रव्यमें पायी जाती हैं।" इसके द्वारा उनने जीवराशि या भव्यराशि के समान कालराशिको सिद्ध करनेकी कोशिशकी है, जिससे कालराशिके समान जीवराशिभी अक्षयानन्त सिद्ध होजावे। परन्तु पहिलेतो यह समानता सिद्ध नहीं होती। अगर सिद्ध होभी जाय तो वह समानता अक्षयानन्तताको सिद्ध नहीं कर सकती। वंशीधरजीके वक्तव्यका सार यह है—

"द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोंका पिंड है। द्रव्यकी जितनी पर्यायें हो सकती हैं वे चाहे भूतहों या वर्तमान अथवा भविष्य हों, द्रव्यमें एकही साथ रहती अवश्य हैं। हाँ, भूत पर्यायें भूत रूपसे, भविष्य पर्यायें भविष्य रूपसे रहती हैं।"

"यदि वर्तमान पर्यायके साथ द्रव्यमें भूत और भविष्य पर्यायोंका सर्वथा अभाव माना जाय तो वह अभाव तुच्छाभावरूपही होगा जिससे उसकी उत्पत्ति कभी न होगी, न कभी ज्ञान होगा। वह आकाशके फूलकी तरह हो जायगा।"

"द्रव्यक्षेत्र कालभावमें जो भाव है, वह इन्हीं त्रैकालिक पर्यायोंका नाम है। द्रव्यमें अगर भविष्य पर्याय होगी तो वह वर्तमानरूप धारण कर सकेगी, न होगी तो वर्तमानरूप धारण कौन करेगा? क्योंकि असतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, न सतका विनाश हो सकता है।"

"इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं करता, नहींतो जीव, पुद्गल क्यों नहीं हो जाता?"

ये सब तर्क इसलिये उपस्थित किये गये है जिससे जीवराशिके समान कालराशिभी वर्तमानमें सिद्ध होजाय; और फिर कहा जाय कि 'कालराशि वर्तमान होकर भी जब कभी नष्ट नहीं हो सकती तब जीवराशि वर्तमान होकरके भी कैसे नष्ट होगी? यहाँ इन सब तर्कोंकी आलोचना की जाती है।

अगर भूत-भविष्यकी पर्यायें वर्तमानमें मानी जाँय तो कहना चाहिये कि कोयलेकी अवस्थाके समयमें लकड़ी की अवस्था और राख (भस्म) की अवस्था है। अर्थात् जिस समय कोयला है, उस समय लकड़ी भी है और राख भी है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिस समय कोयला दिखलाई देता है उस समय लकड़ी और भस्म क्यों नहीं दिखलाई देतीं? अगर कहा जाय कि 'लकड़ी और भस्म पर्याय भूत और भविष्य हैं इसलिये दिखलाई नही देतीं' परन्तु पर्याय भूतहो या भविष्य, जब वह उस समय द्रव्यमें है तो दिखलाई अवश्य देना चाहिये। भलेही जैसे वर्तमान पर्याय वर्तमानरूपमें दिखलाई देती है उसी तरह भूत पर्याय भूतरूपमें दिखलाई दे, भविष्य पर्याय भविष्यरूप में दिखलाई दे। जब यह किसीभी रूपमें हमें दिखलाई नहीं देती तब हम कैसे कहें कि वह किसीभी रूपमें उस

समय है। जब भूत होने परभी वह द्रव्यमें बनी रहती है तब उसके दिखलाई न देनेका कारण क्या है? और भूतता का अर्थ क्या है? यहतो कहा नहीं जासकता कि 'लकड़ी और भस्म पर्यायें सूक्ष्म हैं या अचाक्षुष हैं', क्योंकि वे पर्यायें अपने समयमें दिखलाई देती थीं।

किसी पर्यायको भूत रूपमें 'है' कहना ऐसाही है जैसे किसी मरे हुए मनुष्यको मुर्दारूपमें ज़िन्दा कहना। मुर्दारूपमें ज़िन्दा है, इसका अर्थ यही है कि वह इस समय ज़िन्दा नहीं है। अथवा जैसे कोई कहे कि 'खर-विषाण अभावरूपमें है' इसका स्पष्ट अर्थ यही होगा कि 'खरविषाण नहीं है।' इसी प्रकार पर्यायोंको भूतरूपमें 'हैं' बतलानेका अर्थ यही हुआ कि वे वर्तमानमें नहीं हैं। किसी वाक्यमें 'है' लगानेसे ही वह किसीके अस्तित्वका साधक नहीं हो जाता।

अगर कहा जाय कि पर्यायें भूत और भविष्यमें अ-व्यक्त रहती हैं और वर्तमानमें व्यक्त होजाती हैं तब प्रश्न उठता है कि भूतभविष्यमें अव्यक्त होनेका कारण क्या है? कोई भी दृश्य वस्तु तभी अव्यक्त होती है जब कि उसके टुकड़े बिखर कर इतने छोटे छोटेहोजाते हैं कि वे दिखलाई न देसकें, अथवा उसके ऊपर आवरण पड़ जाय अथवा वह नष्ट होजाय। और कोई चौथा मार्ग अव्यक्त होनेका नहीं है। दूरपनभी इन्हींमें शामिल होजाता है। कोयलेकी अवस्थामें राख अव्यक्त है इसका कोई यह कारण नहीं कह सकता कि कोयलेकी अवस्थामें परमाणु बिखरे हुए हैं और राखकी अवस्थामें मिलकर स्थूल होजायँगे। अगर ऐसा सम्भवभी हो तोभी सदा एकही अवस्था दिखलाई देना चाहिये जो दोनोंमें स्थूल हो। कभी लकड़ी कभी राख कभी कोयला दिखलाई न देना चाहिये। अगर आवरण को अव्यक्तताका कारण माना जाय तब वह आवरण दिखलाई देना चाहिये। किसी वस्तुको जब हम कपड़ेसे ढँक देते हैं तब वह चीज़ भलेही दिखलाई न दे परन्तु उसका आवरण जो कपड़ा है वह तो दिखलाई देता है। इसी तरह भूत भविष्य पर्यायें जो वर्तमानमें मौजूद हैं वे अगर दिखलाई नहीं देतीं तो उनका कोई आवरण तो दिखलाई देना चाहिये जिससे वे ढँकी हैं। इसलिये उनका नाश मानना ही उचित है। कुछ और बाधाएँ भी देखिये।

किसी एक गुणकी एक समयमें एकही पर्याय होसकती है। जैन शास्त्र एक गुणकी एक समयमें दो अवस्थाओंका निषेध करते हैं। इसलिये एक समयमें एक गुणकी अनन्त पर्यायें कैसे रहसकती हैं? अगर रहती हैं तो उन सबकी एक ही पर्याय कहलाई।

पर्यायें क्रमभावी होती हैं और गुण सहभावी। अगर प्रत्येक पर्याय अनादिसे अनन्त कालतक रहने लगे तो वह भी सहभावी होजाय। फिर गुण और पर्यायमें जो सहभावी क्रमभावीका भेद है, वह कैसे बनेगा?

द्रव्य अनन्तकालमें अनन्तरूप धारण करता है, उनको अनन्त पर्याय कहते हैं जो कि अपने अपने समयमें ही रहती हैं। परन्तु आप जब अनन्त रूपोंको (पर्यायोंको) प्रति समय मानने लगे और कहने लगे कि 'उन पर्यायोंका वर्तमान रूप व्यक्त है और बाक़ी रूप व्यक्ततर, व्यक्ततम आदि तब इसका अर्थ यह हुआ कि एक पर्यायके भी अ-नन्तकालकी दृष्टिसे अनन्तरूप हैं। ऐसी हालतमें एक प-र्यायके अनन्तरूपोंको भी उस पर्यायमें प्रति समय मा-नना पड़ेगा, अन्यथा पर्यायके रूपोंमें उत्पाद, विनाश मा-नना पड़ेगा। परन्तु जब आप पर्यायका उत्पाद विनाश नहीं मानते तब उसके रूपोंका उत्पाद विनाश कैसे मान सकते हैं? इस प्रकार पर्यायका प्रत्येक रूप भी अनन्त-काल स्थायी कहलाया। तब उस पर्यायके रूपमें भी अनन्त-कालके अनन्तरूप मानना पड़े। इस तरह यह अप्रामा-णिक अनवस्था होगई। साथ ही पर्यायोंके अनन्तरूप माननेसे पर्यायमें पर्याय मानना पड़ी परन्तु गुणमें गुण और पर्यायमें पर्याय नहीं हो सकती, न यह कोई मा-नता है।

अनन्तकालकी दृष्टिसे प्रत्येक पर्यायमें अन्तरूप मानने से प्रत्येक पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त कहलायी। किसी पर्यायका (आपके मतसे) अव्यक्तसे व्यक्त होजाना उत्पाद, व्यक्तसे अव्यक्त होजाना व्यय और पर्यायरूपमें क़ायम रहना ध्रौव्य है। इसलिये प्रत्येक पर्याय द्रव्य कह-लाने लगी। इसलिये द्रव्यमें पर्यायें नहीं, द्रव्यमें द्रव्य

मानना पड़ा। मतलब यह है कि त्रैकालिक पर्यायोंका एक साथ अस्तित्व माननेसे द्रव्यगुणपर्यायका पृथक् पृथक् स्वरूप, उत्पादव्यय आदिकी व्यवस्था, प्रागभाव प्रध्वंसाभाव आदिका विवेचन, यह सब नष्ट होजाता है। यह जैनशास्त्र अन्यशास्त्र तथा युक्ति और अनुभवके विरुद्ध है।

भूतभविष्यकी पर्यायोंका अभाव तुच्छाभाव नहीं माना जाता, किन्तु पर्युदास पक्ष लेकर प्रागभाव और प्रध्वंसाभावरूप माना जाता है। इसलिये उसे आकाश के फूलकी तरह नहीं कह सकते। यह प्रश्न आपके पक्षमें भी खड़ा है। हम द्रव्यकी पर्यायोंका उत्पाद विनाश मानते हैं; आप पर्यायोंकी पर्यायों (उसके विविधरूपों) का उत्पाद व्यय मानते हैं। पर्यायोंके भूतभविष्य विविध रूप यदि तुच्छाभावरूप नहीं है तो द्रव्यकी भूतभविष्य-पर्यायें भी तुच्छाभावरूप नहीं हैं।

'भूतभविष्यकी पर्यायें वर्तमानमें न होंगी तो उनका ज्ञान न होगा' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता—यह बात मैंने केवलज्ञानके प्रकरण में सिद्धकी है। परोक्षज्ञान तो प्रत्यक्षके आधारपर खड़ी कीगई कल्पना है। वह भूत और भविष्य पदार्थोंकी की जासकती है। दूसरी बात यह है कि भूत भविष्य पर्यायें आपके विचारसे वर्तमानमें अव्यक्त हैं। जब वे अव्यक्त हैं तो उनका ज्ञान क्यों होता है? और यदि अव्यक्त रहने पर उनका ज्ञान हो सकता है तो नष्ट होनेपर भी क्यों नहीं हो सकता? अथवा वे अव्यक्त कैसे रहीं?

त्रैकालिक पर्यायोंको भाव कहते हैं परन्तु सब पर्यायोंको मिलाकर एक भाव नहीं बनता। अन्यथा त्रैकालिक पर्यायें सदा रहनेसे जुदे जुदे द्रव्यादिचतुष्टयकी कल्पना ही न होगी।

सतका विनाश नहीं होता; असतका उत्पाद नहीं होता, यह बात सर्वथा नहीं है, किन्तु द्रव्यार्थिक नयसे अर्थात् द्रव्यदृष्टि से है। अन्यथा आपके पक्षमें भी यह दोष है। देखिये, वर्तमान पर्याय व्यक्त है और जब वह भूत हुई तब अव्यक्त होगई। इसप्रकार यहाँ पर्यायकी व्यक्तावस्थाका नाश और अव्यक्तावस्थाका उत्पाद हुआ कि नहीं? यदि हुआ तो आपने भी व्यक्तावस्थाका नाश माना परन्तु सत्का विनाश तो होता नहीं है, तब व्यक्तावस्थाका नाश कैसे होगा? यदि व्यक्तावस्थाका नाश नहीं हुआ तब कहना चाहिये कि भूत होजानेपर भी उस पर्यायकी व्यक्तावस्था बनी रही; तब वह भूत कैसे कहलाई? आदि। इसलिये स्याद्वादका शरण लेना अनिवार्य है। सत्का विनाश नहीं होता आदि नियम द्रव्य दृष्टिसे ही लगाना चाहिये।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप क्यों नहीं होजाता, इसका कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्यके गुण जुदे जुदे हैं। पर्याय का अस्तित्व गुणोंसे भिन्न नहीं है, इसलिये जब एकका गुण दूसरे द्रव्यमें नहीं जाता तब पर्याय कैसे चली जायगी? गुणको छोड़कर पर्याय रह नहीं सकती। जैनशास्त्रोंके शब्दोंमें अगुरुलघुत्व गुण इसीलिये है कि वह एक द्रव्यका परिणमन दूसरे रूप न करदे। अगर कहा जाय कि जीवके गुण पुद्गलमें नहीं हैं इसलिये पुद्गल जीवरूप परिणमन न करे परन्तु एक पुद्गल, दूसरे पुद्गलरूप परिणमन क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि एक पुद्गलके गुण भी दूसरे पुद्गलमें नहीं हैं। प्रत्येक पुद्गलके गुणभी जुदे जुदे हैं। उनमें समानता हो सकती है, परन्तु एकता नहीं। एकबात यहभी है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन करजाय तो इसका अर्थ यह होगा कि पहिला द्रव्य नष्ट होगया और दूसरा द्रव्य नया पैदा हुआ। परन्तु सत्का नाश, असत्का उत्पाद नहीं होता इसलिये द्रव्यान्तररूप परिणमन नहीं होसकता।

इस विवेचनसे यह अच्छी तरह सिद्ध होजाता है कि त्रैकालिक पर्यायें द्रव्यमें प्रति समय नहीं रहतीं जिससे कालराशि और भव्यराशिकी समानता मालूम हो। दूसरी बात यह है कि कालराशि भव्यराशिके समान वर्तमानरूप सिद्ध भी होजाय तो भी अक्षयानन्ततापर इस बातका कुछ असर नहीं पड़ता। आकाश प्रदेशराशि वर्तमान होकरके भी अक्षयानन्त है। कोई राशि अक्षयानन्त कब कही जा सकती है, इसका विवेचन पहिले किया गया है।

किसी तर्कसिद्ध बातको लिखकर मैं यथाशक्ति शास्त्रों का साक्ष्य भी दिया करता हूँ. जिससे श्रद्धालु भाई भी

निराकुलतासे विचार करें। इसलिये मैंने अपने मतके समर्थनमें गोम्मटसारको साक्षी बनाया था। जो भाई परीक्षा-प्रधानी हैं उनको इस साक्षीका उपयोग बहुत थोड़ा है या नहीं है। जो साक्षी मैंने उपस्थित किया वह अगर ठीक न हो तो इससे इतना ही सिद्ध होगा कि जैनशास्त्रों से मेरे इस वक्तव्यका समर्थन नहीं हुआ। परन्तु जैन शास्त्रोंसे समर्थन न होनेसे मेरा पक्ष खण्डित न हो जायगा। इसलिये उपर्युक्त तर्कपूर्ण विवेचनपर ही निर्भर रहना चाहिए। परन्तु श्रद्धालु भाइयोंके सन्तोषके लिये गोम्मटसारकी गवाही की भी जाँचकी जाती है।

मैंने उद्धरण देकर बतलाया था कि "जैनशास्त्रोंमें काल को जीवोंसे अनन्तानन्त गुणा बतलाया है। जैन शास्त्रोंके अनुसार प्रति असंख्य समयोंमें एक जीव मोक्ष जाता है इसलिये जीवराशिसे असंख्यगुणे समयोंमें सब जीव मुक्त होजायँगे। संसार, जीवशून्य हो जायगा और अनन्तकाल फिर भी बचा रहेगा।"

इसके उत्तरमें वंशीधरजीने जो लिखा है उसका सार यह है कि—"काल राशि वास्तवमें भव्योंसे असंख्यगुणी ही है परन्तु प्रत्येक समय अपनी अतीत अनागत अवस्थाओंकी दृष्टिसे अनन्तरूप है, इसलिये कालराशि जीवोंसे अनन्तगुणी बतलाई गई है; वास्तवमें असंख्यगुणी ही है।"

वंशीधरजीके इस वक्तव्यकी आलोचना इस तरह होगी।

—अगर प्रत्येक समय अनन्तरूप है तो वर्तमान समय भी अनन्तरूप कहलाया। इसलिये जहाँ आचार्यों ने कालराशि को जीवोंसे अनन्तगुणा बताया है, वहाँ उन्हें वर्तमानकालके समय भी अनन्तानन्त बतलाना चाहिये। यदि वर्तमानकालका प्रमाण एक ही समय बताया गया अर्थात् उसकी त्रैकालिक अवस्थाओंका विचार नहीं किया गया तो सर्वकालराशिके समय भी जीवसे असंख्य गुणे ही बताना चाहिये; उसे अनन्तानन्तगुणे क्यों बताया गया?

—समय, कालकी एक पर्याय है। यदि एक समय भी अनन्तसमय होने लगे तो अनवस्था आदि वे सभी दोष यहाँ उपस्थित होंगे जो कि एक पर्यायको अनन्तरूप माननेमें ऊपर बताये गये हैं।

—इतनी कल्पना करके भी कालराशिका वह प्रमाण नहीं आसकता जो जैनशास्त्रोंमें बताया है। वंशीधरजी के कथनानुसार कालराशि भव्यराशिसे असंख्यगुणी है इसलिये त्रैकालिकसमय इतने ही हुए। अब यदि एक एक समयको त्रैकालिक समय बराबर मान लिया जाय तो इसमें सिर्फ़ एक वर्ग (असंख्यगुणितभव्य × असंख्यगुणितभव्य = काल) करना पड़ेगा। परन्तु जैनाचार्योंने जीवराशिके बाद अनन्तानन्त वर्गस्थान सिर्फ़ पुद्गलराशि के बतलाये हैं अर्थात् जीवराशिको हम जीवराशिसे गुणा करें फिर उसमें वर्ग जीवराशिका गुणा करें इस प्रकार अनन्तानन्त बार करें तब पुद्गलराशि होगी। फिर पुद्गल में पुद्गलका गुणा भी अनन्तानन्त बार करना पड़ेगा तब कालराशि आवेगी। इसलिये भव्यराशिको दो चार बार असंख्यका गुणा करके दो चार बार अनन्तका गुणा करनेपर भी क्या होता है? उससे बतलाई हुई कालराशि तो क्या परन्तु एक जीवके साथ लगे हुए पुद्गलोंकी राशि भी पूरी न होगी। प्रत्येक संसारी आत्माके साथ अनंतानन्त कर्म परमाणु लगे रहते हैं और एक एक कर्म परमाणुके साथ जीवोंसे भी अनंतगुणे विस्रसोपचय परमाणु लगे रहते हैं। इससे पुद्गलराशिकी महत्ता मालूम होजाती है, तब कालराशिका तो कहनाही क्या है? भव्यराशिका दस पाँच बारका वर्ग कालराशिके एक अंशको भी नहीं पासकता। इसलिये भव्यराशिके क्षय होनेकी आशंका हर तरह युक्तिसंगत है।

भव्य अभव्यकी चर्चा भी इसी प्रश्नपर अवलम्बित है। मेरा कहना कि है जीवोंके भव्य अभव्य भेद पारिणमिक (जैसे माने जाते हैं) मानना ठीक नहीं; अभव्यताका कोई कारण नहीं है, आदि। इस पर वंशीधरजी का कहना है कि—

आक्षेप (३३)—शक्तिरूपसे केवलज्ञानादि सबमें है किन्तु जिसमें केवलज्ञानके प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य है; जिसमें नहीं है वह अभव्य है... द्रव्यक्षेत्रकाल भावका भविष्यरूपमें रहना योग्यता है। द्रव्यक्षेत्रकालभावका वर्तमान होजाना प्रकटता है।

समाधान—यहाँ योग्यताका जुदा ही अर्थ किया गया है। परन्तु इस बातका पहिले ही खण्डन किया जाचुका है कि भविष्यकी पर्यायें या त्रैकालिक पर्यायें एक साथ नहीं रहतीं, जिसपर यह इमारत खड़ी कीगई है। वंशीधरजीने भव्य; अभव्य की परिभाषा इस तरह की है। जिस जीवके शुद्ध सम्यगदर्शनादि पर्याय भविष्यरूप है वह भव्य जिसके भविष्यरूप नहीं है वह अभव्य। परन्तु इस प्रकारकी परिभाषा बनानेसे भव्य अभव्यका भेद युक्तिसंगत नहीं होजाता। "जैनशास्त्रोंमें भव्य और अभव्यका भेद किस प्रकार माना है"—यह समस्या नहीं है। समस्या यह है कि वह कैसे सिद्ध हो सकता है। यह कहना कि उनकी भविष्य पर्यायें अकर्मरूप नहीं हैं उनमें भाव नहीं होते, भाव न होनेसे द्रव्यक्षेत्रकाल भी नहीं बनता आदि प्रतिज्ञावाक्य हैं, जब आवश्यकता हेतु की है। ३२ वें आक्षेपके समाधानमें इस आक्षेपका भी समाधान होजाता है। स्पष्टताके लिये कुछ प्रश्न रक्खे जाते हैं जिससे इस समस्याकी जटिलताको पाठक समझ सकें।

१—जब सभी जीवोंकी शुद्ध परिणति एक सरीखी है तब अभव्य जीवोंकी अयोग्यताका कारण क्या है? क्या बिना किसी परनिमित्तके जीवोंमें कोई विषमता हो सकती है, और क्या परनिमित्तसे उत्पन्न भाव पारिणामिक कहा जा सकता है?

२—किसी पर्यायका भविष्यरूपमें होना ही उसकी योग्यता है। योग्यताकी यह परिभाषा किस कोष या ग्रंथमें पायी जाती है?

३—'सक्को जंबूदीवंपलट्टइ' इत्यादि गाथाओंमें इंद्र की वीर्यसम्बन्धी योग्यता बतलाई जाती है। परन्तु भविष्यमें इंद्र जम्बूद्वीपको लौटा देगा, यह होनेवाला नहीं है; तब यहाँ योग्यता कैसेमानी जाय? एक मनुष्य संहनन आदिके निमित्तसे सातवें नरक जानेकी योग्यता रखता है परन्तु निमित्त मिलनेसे वह मोक्ष चला गया। यहाँ भविष्यरूपमें नारकीपन उसमें नहीं है, परन्तु योग्यता तो है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ योग्यता है किन्तु भविष्यरूपमें वह अवस्था नहीं है।

४—जो भव्यजीव अनन्तकालमें भी मोक्ष न जायँगे उनके भविष्यरूपमें सम्यग्दर्शनादि हैं, यह कैसे कहा जासकता है? इसलिये उनमें योग्यता कैसे मानी जावे? और वे भव्य भी कैसे कहे जावें?

५—योग्यता यदि भविष्य पर्यायरूप है तो उसके साथ 'प्रकट होनेकी' यह विशेषण कैसे लगाया जासकता है? प्रकटका अर्थ आपने वर्तमानरूप होना कहा है। परन्तु वर्तमान होनेवाला भविष्य और वर्तमान न होनेवाला भविष्य, इसप्रकार भविष्यके क्या दो भेद कहे जासकते हैं? यदि नहीं, तो प्रकट होनेकी योग्यताका क्या अर्थ है? आपकी परिभाषाके अनुसार क्या अप्रकट होनेकी भी योग्यता होसकती है?

६—वर्तमान शक्ति पर योग्यताको निर्भर न माननेसे भविष्यपर्याय जितनी दूर होगी योग्यता उतनी ही कम मानना पड़ेगी। तब एक ऐसा निगोदिया जीव जो मनुष्य जन्म लेकर पचीस पचास वर्षोंमें ही मोक्ष जानेवाला है, उसकी योग्यता उस अरिहन्तसे भी अधिक कहलाई जो एक कोटिपूर्व (कुछ कम) बाद मोक्ष जाने वाला है। परन्तु योग्यताका यह अर्थ कहीं भी नहीं देखा गया।

खैर, इस प्रकारके बहुतसे प्रश्न उठाये जासकते हैं। हम ऊपर सिद्ध करचुके हैं कि भविष्यरूपसे पर्यायें वर्तमानमें नहीं रहतीं। ऐसी अवस्थामें कोई वर्तमानमें भव्य या अभव्य कैसे कहला सकेगा?

लेखमालामें अर्थमित्रकी शंकामें भव्य अभव्यकी चर्चा गौणरूपमें आई थी। अगर किसी तरह यह भव्य अभव्य व्यवस्था सिद्ध भी होजाती तो भी विश्वके अन्त होनेकी समस्या ज्योंकी त्यों खड़ी रहती।
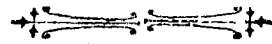
इस्लाम धर्मके बानी कौन थे?

दिगम्बर सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध आचार्य श्री देवसेन जीने अपने दर्शनसारमें जहाँ अन्य मतों की उत्पत्तिके विषयमें लिखा है वहाँ एक अज्ञान मतका भी वर्णन किया है। यह वर्णन दर्शनसारकी गाथा २० से २१ तक है।

अज्ञानमतके सिद्धान्त ।

उस मतके सिद्धान्त वहाँ इसप्रकार लिखे हैं:—

(१) अज्ञानसे मोक्ष होता है, अर्थात मुक्तिके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है।

(२) जीवोंका पुनर्जन्म नहीं होता।

(३) जीवोंका बनानेवाला परमात्मा है, अर्थात् जीव नित्य नहीं हैं।

(४) मूर्तिपूजा नहीं मानता।

(५) वर्णभेद नहीं मानता।

और भी हिंसा आदिको मानता है, इत्यादि।

इस मतके प्रवर्तकका नाम वहाँ लिखा है—मस्करि पूर्ण।

उपरोक्त सब सिद्धान्त मुसलमानी धर्म से बिलकुल मिलते हैं। इन्हीं देवसेनाचार्यका बनाया हुआ एक ग्रंथ भावसंग्रह है। उसमें इस मस्करि पूर्ण (मंखलिपूर्ण) का कुछ विशेष वर्णन लिखा है जो इस प्रकार है:—

पार्श्वनाथजीके तीर्थमें एक मस्करिपूर्ण मुनि हुये। वीर भगवान अर्थात् महावीर भगवान्के समोसरण सभा से जब वह बिना उपदेश सुने ही लौट आया तो उसने बाहर आकर कहा कि मैं ११ अंगोंका ज्ञाता हूँ तो भी दिव्यध्वनि न हुई परन्तु जो मनुष्य जिनकथित तीर्थ को नहीं मानता उसके अर्थात् इंद्रभूति ब्राह्मणके आनेसे वाणी खिरी है, इससे ज्ञात होता है कि मोक्षके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, इत्यादि। देखो गाथा १७६ से १७९ तक।

एक संस्कृतका भी भावसंग्रह है जिसके बनानेवाले पं० वामदेवजी जैन हैं। उन्होंने प्रथम प्राकृत भावसंग्रह का ही उलथा किया है परन्तु फिर भी यह लिखनेकी कृपा नहीं की। उस संस्कृतके भावसंग्रहसे उपरोक्त लेख और भी स्पष्ट होजाता है। उपरोक्त प्रमाणोंसे मस्करि पूर्णके विषयमें इतनी बातें स्पष्ट हैं:—

(१) यह मस्करिपूर्ण श्री पार्श्वनाथजीके भक्तोंमें था और फिर यह भगवान महावीर स्वामीका शिष्य हो गया।

(२) यह बड़ा भारी विद्वान् अपने आपको कहता था परन्तु महावीरजी इसको अयोग्य समझते थे। इसी-लिये इसके रहनेपर भी भगवानकी वाणी नहीं खिरी और गौतम (इन्द्रभूति) के आनेसे वाणी खिरी।

(३) उसी अपमानसे चिढ़कर वह सभासे उठ गया और अज्ञानमतका प्रचार करने लगा, जिसके सिद्धान्त पहले कहे जा चुके हैं।

एक पुस्तक दर्शनसारकी वचनिका है। इसके कर्ता पं० शिवलालजी हैं। यह माघ सुदी १०सं० १६३३वि० में बनी है। इस पुस्तकमें मस्करिपूर्णको मुसलमानी धर्मका मूल प्रवर्तक माना है, तथा वहाँ यह भी लिखा है कि मस्करिपूर्णके चार शिष्य थे जिन्होंने इसके मतका प्रचार किया; उनमेंसे एक शिष्यका नाम मुमण्ड भी था। इसने इस अज्ञानमतका प्रचार पश्चिममें किया था। उपरोक्त सब प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्तानुसार मुसलमानी धर्मका प्रवर्तक मस्करिपूर्ण था जो कि आजसेअनुमान २५०० वर्ष पहले श्रीभगवान महावीरजीके शिष्योंमेंसे था जो कि महावीरजीसे चिढ़कर ही सभासे उठ आया था और जिसने अपना नया मत अर्थात् मुसलमानी मत चलाया था। एक पुस्तक शासनदेवता—पूजनचर्चा है। यह पुस्तक सन् १९२३ ई० में शोलापुरके सच्चिदानन्द प्रेसमें छपी है। इसके पृ० ४८ पर एक लेख प० पन्नालालजी गोधा इंदौर निवासीका है जिसमें उन्होंने मुसलमानी धर्मका प्रवर्तकका नाम मस्सकपूर लिखा है और लिखा है कि यह मस्सकपूर महावीरजीके मौसीके बेटे भाई थे। यह मस्सकपूर और मस्करिपूर्ण एक ही व्यक्ति हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। इन पन्नालालजी गोधाके लेखोंका उत्तर जैनसमाजके कई बड़े बड़े विद्वानों ने दिया है जिनमें एक अजितकुमारजी शास्त्री भी हैं। लेखकोंने पं० पन्नालालजीकी अन्य बातोंका तो उत्तर दिया है परन्तु इस विषयमें मौनं सम्मतिलक्षणंका परिचय दिया है। क्या अन्य जैन विद्वान् इस ऐतिहासिक विषयपर सप्रमाण प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे ?

भवदीय—

स्वामी कर्म्मानन्द, आर्यसमाज पानीपत।

सम्पादकीय टिप्पणी:—इस लेखमें आये हुए उद्धरणोंको समयाभावसे मैं मूलस्थानोंसे मिलान नहीं

कर सका हूँ। अज्ञानमतमें मूर्तिपूजा नहीं मानी जाती, यह बात विचारणीय है। ऐसे लेखोंके नीचे गाथा आदि मूलके उद्धरण रहा करें तो अच्छा। ख़ैर।

जैन आचार्योंको, खासकर दिगम्बराचार्योंको मस्करी और पूर्णके विषयमें बहुत कम जानकारी थी। मस्करी और पूर्ण ये दोनों जुदे जुदे व्यक्ति हैं जो कि 'मंखलि गोसाल' और 'पूरणकाश्यप' नामोंसे विख्यात हैं। इन दोनोंका अलग-अलग रूपमें वर्णन अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, संयुक्तनिकाय, मज्झिमनिकाय, आदि बौद्धग्रन्थोंमें अनेक जगह पाया जाता है।

हरएक सम्प्रदाय अपनेको प्राचीन सिद्ध करनेके नशे में रहा है और दूसरे सम्प्रदायोंको अपने सम्प्रदायके किसी भ्रष्ट साधुसे प्रचलित सिद्ध करनेकी कोशिश करता रहा है। जैनाचार्योंने भी इसी नीतिसे काम लिया और मस्करी तथा पूर्णको इसी प्रकार भ्रष्ट बतलाया।

मुसलमानी मतसे इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मस्करी और पूर्णकाश्यपका समय इस्लामकी उत्पत्तिसे करीब सवा हज़ार वर्ष पहिले है और उधर मुहम्मद साहबका स्थान इतिहासमें बिलकुल स्पष्ट है।

दर्शनसारमें जो अज्ञानमतका परिचय है वह किसी एक मतका परिचय नहीं किन्तु अनेक मतोंका परिचय है। अज्ञानमतोंकी संख्या जैनशास्त्रानुसार ६७ है। उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ उनने दी हैं। दर्शनकारके समयमें मुसलमान मत पैदा होगया था, परन्तु भारतमें उसकी आवाज़ नहीं आई थी इससे दर्शनकारका वक्तव्य मुसलमानोंको लक्ष्यमें लेकर नहीं किन्तु आजीवक आदि सम्प्रदायोंको लक्ष्यमें लेकर है।

पं० शिवलालजीने तो अपनी वचनिकामें अपने अज्ञानका ही खासा परिचय दिया है। उन्हें 'मस्करि' का कुछ पता न था और इनके समयमें मुसलमान भारतीय प्रजा बनचुके थे इसलिये इन्हें चिन्ता हुई कि इन्हें भ्रष्ट जैनोंकी सन्तान सिद्ध करना ज़रूरी है। मस्करी नाम भी कुछ अद्भुत सा है इसलिये उनने एक विचित्र कल्पना करली। ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टिसे इन बातोंका कुछ मूल्य नहीं है। जैन शास्त्र मुसलमान धर्मकी उत्पत्ति मस्करीसे नहीं मानते।

मुखियोंके अत्याचार।

रचयिता—श्री०ब्र० प्रेमसागरजी पञ्चरत्न, रैपुरा निवासी।

सुनो मुखियों के अत्याचार !
सबसे पहिले जिन मन्दिरके, बन जाते सरकार।
रख लेते हैं बड़ी खुशी से, मन्दिर का भण्डार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
उसी रुपये से करते हैं, अपने घर का व्यापार !
लाभ उठाते खूब, मुफ्त के बनते साहूकार !
सुनो मुखियों के अत्याचार !
भाई-भतीजे घर कुटुम्ब के, अथवा रिश्तेदार।
उनको मन्दिरजी का रुपया, देते आप उधार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
अगर जातिका कोई निर्धन, आकर करे पुकार।
उसके लिये शीघ्र मुखियाजी, कर देते इन्कार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
कुछ दिन खाता बही दिखाकर, देते साफ़ हिसाब।
उसके बाद मौनव्रत लेते, देते नहीं जवाब॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
चाहे पंच आँख दिखलावें, चाहे कहें हज़ार।
देते नहीं हिसाब, इसीसे, होजाती तक़रार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
दबे-चपे पंचों ने दिल के, दाबे सभी विचार।
कौन लड़े? को सिर फुड़वावे? रहे मौनव्रत धार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
किसी पञ्च की एक न मानी, मुखियाजीने बात।
मन्दिर का भण्डार करारा, हड़प गए सरकार॥
सुनो मुखियों के अत्याचार !
"मन्दिरजी हमने बनवाया, हम उसके सरदार।
सोलह आने हक़ हमारा, किसका है अधिकार॥
हमी हैं उसके ठेकेदार !"
"जब मंदिर बनवाया हमने, फिर किसका भण्डार।
तुम हो कौन, हिसाब मांगते, करते हो तकरार?
बड़े आए बनकर सरदार !"

"मिथ्यावादियोंसे सावधान।"

यह सर्व प्रसिद्ध है कि ब्यावरकी धार्मिक जनताके तीव्र पुण्योदयसे प्रातःस्मरणीय शान्तिके सिन्धु पूज्यपाद आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (दक्षिण) संघका तथा क्षुल्लकवकका चातुर्मास ब्यावर शहरमें हुआ है। जबसे इन तपोधनोंका चातुर्मास यहाँ प्रारम्भ हुआ, आनन्द छा रहा है, और लोगोंमें धर्मकी उमंगें उमड़ रही हैं। तभीसे कुछ लोगोंके हृदयमें चूहे लोटने लगे हैं, और नितान्त असत्य बातें समय समयपर समाचारपत्रों में प्रकाशित करते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि दुर्जन सज्जनोंकी उन्नति देखकर स्वभावतः जला करते हैं। वर्षाऋतुमें सम्पूर्ण वनस्पतिको हरी भरी लहलहाती हुई देखकर बेचारा जवासा दूसरोंकी उन्नति न देख सकनेके कारण कुढ़ कुढ़कर सूख जाता है।

यही उदाहरण १ सितम्बर के जैनजगत् के अंक में "कलिकाल सर्वज्ञका विचित्र विधान", "णमोकार मन्त्र का जाप करना आर्तध्यान है" शीर्षक लेखके लेखकने चरितार्थ किया है। लेखककी सफ़ेद झूठका पता इसीसे चल जाता है कि उसने अपना नाम छिपाकर 'एक श्रोता' नाम दिया है। यदि यह सच्चा होता तो अपना नाम क्यों छिपाता? लेकिन सच्चा हो जब ना? चोरके पैर कहाँ तक ठहर सकते? कोई भी जैन व्यक्ति शुद्धभावनासे किए गये णमोकार मन्त्रके जापको आर्तध्यान नहीं कह सकता। तब क्या धर्म और वैराग्यकी मूर्ति आचार्य महाराज कभी ऐसा कह सकते हैं?

वास्तवमें बात यह थी—मध्याह्नकी शास्त्रसभामें किसीने प्रश्न किया कि विषयवासनाका पोषण करनेके लिये धन आदिकी प्राप्तिकी इच्छासे यदि कोई णमोकार मन्त्रका जाप करे तो वह कौनसा ध्यान होगा?

वक्ता महोदयने तथा पूज्यपाद आचार्य महाराजने उत्तर दिया कि दूसरोंको हानि पहुँचाने अर्थात् मारण उच्चाटन आदि दुष्ट भावनासे णमोकार मन्त्र का जाप करना रौद्रध्यान तथा विषयपोषणके अर्थ धनादिकी प्राप्ति की इच्छासे उक्त मन्त्रका जाप करना निदान नामका आर्तध्यान है एवं पारमार्थिक दृष्टिसे शुभभावना पूर्वक मंत्रराज णमोकार मन्त्रका जाप करना धर्म ध्यान है, क्योंकि भावनाके भेदसे ध्यानमें भेद हो जाता है, इत्यादि। ऐसा स्पष्ट उत्तर सुनकर सभा अत्यन्त प्रसन्न हुई जिसमें अनेक विद्वान् श्रीमान् और धीमान् उपस्थित थे। लेकिन आर्तध्यान वा रौद्रध्यानमें संलग्न रहनेवाले व्यक्तिके चित्त में गया हुआ शुद्ध तत्त्व भी आर्त व रौद्रध्यानके रूपमें परिणत होजाता है, तभी तो लेखकको आर्तध्यान ही बना रहा। बात ठीक भी है। सूर्यकी किरणें संसारकी समस्त वस्तुओंको प्रकाश देती हैं, लेकिन उल्लूके बच्चेको वही धवलभास्कर किरणें अन्धकारमय प्रतीत होती हैं। क्या यह दोष सूर्यका है?

हम पुनः उस लेखक को चेलैंज देते हैं कि उसमें कुछ भी सत्यता है तो वह अपनी नपुंसकताको त्यागकर अपने असली रूपमें प्रगट हो सत्यासत्यका निर्णय करे। नहीं तो ऐसे धोखेबाज़ोंके असत्य प्रलापपर जनता कभी विश्वास नहीं कर सकती। जो सूर्यपर धूल फेंकता है उसीका मुख मलीन होता है, यह जगत् प्रसिद्ध है।

समाजके धार्मिक सज्जनोंको सचेत रहना चाहिये कि ऐसे मिथ्यावादी असत्यका नग्नताण्डव नृत्यकर पूज्य धर्मप्रवर्तकोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं क्योंकि ऐसा किए बिना इनकी दुष्टभावना सिद्ध होना नितान्त असंभव हो गया है।

हमने यह लेख केवल धर्मभावनासे प्रेरित होकर सत्य-मार्ग दिखलानेके लिये लिखा है, दूसरोंका चित्त दुखानेके लिये नहीं। —मानमल बाकलीवाल, ब्यावर।

नोट—उपरोक्त नोट यद्यपि मानमलजी बाकलीवाल के नामसे भेजा गया है, परन्तु मालूम हुआ है कि वास्तव में वह ब्यावर महाविद्यालयके एक अध्यापक श्रीमान् पं० रमानाथजी न्यायतीर्थका लिखा हुआ है। पण्डित लोगोंने स्वार्थसाधुताके कारण अपना महत्त्व बिल्कुल खो दिया है और अब वे इतने नगण्य होगये हैं कि अपनी बात प्रकट करनेके लिये उन्हें अपना व्यक्तित्व छिपाकर दूसरोंका नाम उधार लेना पड़ता है। यह नोट मानमलजीके नामसे ही प्रायः सभी जैनपत्रोंमें प्रकाशित कराया गया है। इससे पाठक समझ सकेंगे कि पण्डित लोग मुनिवेषियोंको पुजानेके लिये कितना मिथ्या प्रोपेगैंडा रचते हैं। पण्डितजी लिखते हैं कि—"लेखककी सफ़ेद झूठका पता इसीसे चल जाता है कि उसने अपना नाम छिपाकर 'एक श्रोता' नाम दिया है। यदि वह सच्चा होता तो अपना नाम क्यों छिपाता? लेकिन सच्चा हो जब ना? चोरके पैर कहाँ तक ठहर सकते हैं?" संवाददाताने तो अपना केवल नाम ही छिपाया था किन्तु पण्डितजीने

तो नामके साथ साथ व्यक्तित्व भी छिपाया है और अपने आपको दूसरेके रूपमें प्रकट किया है। अतः उपरोक्त वक्तव्य स्वयं पंडितजीपर ही अच्छीतरह लागू होता है। आगे चलकर आप लिखते हैं—"हम पुनः उस लेखकको चैलेंज देते हैं कि उसमें कुछ भी सत्यता है तो वह अपनी नपुंसकताको त्यागकर अपने असली रूपमें प्रकट हो।" यह पण्डितजीकी मर्दानगीका जौहर है! आश्चर्य है कि जो लोग स्वयं काँचके मकानोंमें रहते हैं वे दूसरों पर पत्थर फेंकते हैं और स्वयं मिथ्यावादी होते हुए, दुनियाँको मिथ्यावादियोंसे सावधान करनेकी हिमाकत करते हैं!

शान्तिसागरजी कैसे है, व सुधारक लोग उनपर किस वजहसे आक्षेप करते हैं, इसका प्रस्तुत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सुधारकोंको बिना वजह वक्त बे वक्त कोसते रहना यह पण्डितोंका नित्यनियम सा हो गया है। ऊपर दिये गये नोटसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ब्यावरमें पर्युषण पर्वमें इस विषयकी चर्चा छिड़ी अवश्य थी। अगर पण्डितजी असली प्रश्न व शान्तिसागरजी तथा वक्ता महोदयका उत्तर शब्दशः देनेकी कृपा करते तो पाठकोंको विचार करनेके लिये कुछ सामग्री मिलती। यह न कर पण्डितजीने जो व्यर्थ वितण्डावाद किया है, वह बिलकुल निःसार है और उस सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। —प्रका०।

ब्यावर समाचर—पिछले अङ्कमें श्री रायबहादुर सेठ चम्पालालजी रामस्वरूपजीकी नसियाँ में से चाँदीकी एक प्रतिमाके चोरी जानेके समाचार पढ़ चुके हैं। उसके बाद ब्यावरके पञ्चायती मन्दिरमेंसे एक सर्वधातुकी प्रतिमा चोरी गई। सौभाग्यसे वह चार पाँच रोज़ बाद पासके एक मकानमें घासमें दबी हुई मिलगई। आश्चर्य है कि चाँदी की प्रतिमाकी तलाशके लिये जितनी तत्परता दिखलाई थी, उसका शतांशभी सर्वधातुकी प्रतिमाके लिये नहीं दिखलाया गया! शायद उन लोगोंकी भक्तिकी मात्रा प्रतिमाकी क़ीमत पर निर्भर है। ख़ैर!

श्रीमान असिस्टेन्ट कमिश्नर महोदयके इजलासमें श्रीयुत रघुनाथसिंह, क़ाज़ी व अहलाबेली पर मुक़दमा चालू होगया है। दफ़ा ३३० व ३०४ ताज़ि रात हिन्द लगाई गई है। ता० १७ अक्टूबरको इस्तग़ासेकी ओरसे स्वर्गीय मोतीलालजी रांवकाके भाई श्रीयुत किस्तूरचन्दजी रांवकाके बयान हुए। दूसरी पेशी ता० ८ नवम्बरको होगी। मुक़दमा अजमेरमें चलरहा है।

ता० १३ अक्टूबरको ब्यावरके कुछ जैनयुवकोंने श्रीमान रायबहादुर सेठ चम्पालालजीके सुपुत्र श्रीयुत पन्नालालजीके नेतृत्वमें सुखानन्द-मनोरमा नाटक खेला। श्री शान्तिसागरसंघके कतिपय ब्रह्मचारीभी नेत्रसफल करनेके लिये पहुँचे थे। प्रबन्ध इतना ख़राब था कि आध घंटेके भीतर खेल बन्द करदेना पड़ा। दूसरे दिन फिर खेल कियागया लेकिन उस रोज़का प्रबन्धभी सन्तोषजनक नहीं कहा जासकता। सुखानन्द—मनोरमा नाटकका मुख्यध्येय है शील धर्मकी अनुमोदना; परन्तु जिस ढंगसे यह नाटक ब्यावरमें खेला गया उसे देखते हुए मण्डली काध्येय कुशील प्रचार कहा जाय तो अनुचित न होगा। मूलनाटकमें जो उपयोगी व शिक्षाप्रद अंश था वह हटा दिया गया और कई ऐसे ऐसे बेहूदे, भद्दे व अश्लील गाने शामिल कर दिये गये जिनको कोई सभ्य मण्डली अपने स्टेज परसे गाया जाना गवारा नहीं करसकती। अजमेरसे एक ईसाई युवकको इन गानोंके लिये ख़ासतौरसे बुलाया गया था! गानेके साथ साथ वह नाचताभी था और इतने बेहूदे व कुरुचिपोषक कटाक्ष करता था कि जिससे देखनेवालोंको भी लज्जा मालूम होती थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन गानों व नाचका मूल नाटकसे कोई सम्बंध नहीं था और वे ज़बर्दस्ती ठूँसे गये थे। ब्यावर की साधारण जैन जनताके हृदयपर धनसत्ताकी इतनी गहरी छाप है किवह युवकों व युवतियोंको इसप्रकार कुशीलकी राहपर देखकर भी चूँ नहीं करती, किन्तु अफ़सोस तो यह है कि मुनिमण्डली परभी धनसत्ताका आतंक जमा हुआहै और वहभी इस सम्बन्धमें मौन धारण किये हुए है!

मुनिमण्डलीको अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर क़ायम करनेकी फ़िक्र है और इसलिये उसने सेठजीपर किसी तरह दबाव देकर महासभा व शास्त्रिपरिषद्के अधिवेशनोंके लिये निमन्त्रण भिजवा दिया है। मिती मगसर बदी ७ से ११ तक अब इन सभाओंके नाटक होंगे। श्रीमान सेठ रावजी सखारामजी दोशी शास्त्रिपरिषद्के सभापति चुनेगये हैं।

—सम्वाददाता

निवेदन।

वर्ष समाप्तिके कारण आगामी अंक १ नवम्बरके बजाय १६ नवम्बरको प्रकाशित होगा। पत्र ठीक समयपर नियमित रूपसे प्रकाशित होने लगे, इसके लिये प्रयत्न किया जारहा है। यथासम्भव पाठकोंको आगे इस सम्बन्धमें शिकायतका मौका नहीं दिया जावेगा। —प्रकाशक।

Printed by Pt Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.